आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास

॥ श्रीः ॥

जयकृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थमाला

१

आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

ए. एम. एस., एम. ए. (संस्कृत-हिन्दी), साहित्याचार्य
वरिष्ठ प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, द्रव्यगुणविभाग,
अध्यक्ष, चिकित्सा-इतिहास परिषद्
भूतपूर्व निदेशक, स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२

गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

टेलीफोन : ६३३५४ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बो० जवाहर नगर

दिल्ली–११०००७ फोन : २२१६१७

द्वितीय संस्करण १९८१

मूल्य रु० ५०–००

अन्य प्राप्तिस्थान

१. चौखम्भा संस्कृत संस्थान

पो० बाक्स नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

फोन : ६५८८९

२. चौखम्भा विश्वभारती

पोस्ट बाक्स नं० १३९

चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी

फोन : ६५४४४

३. चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

गोकुल भवन, के. ३७/१०९ गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

फोन : ६३३५४

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

JAIKRISHNADAS AYURVEDA SERIES
NO. 1

ĀYURVEDA KĀ VAIJÑĀNIKA ITIHĀSA

(SCIENTIFIC HISTORY OF ĀYURVEDA)

Prof. P. V. SHARMA
A. M. S., M. A. (Sanskrit-Hindi), Sāhityāchārya
Senior Professor & Head, Department of Dravya-guṇa,
President, Society for History of Medicine,
Formerly Director, Postgraduate Institute of Indian Medicine,
Banaras Hindu University, Varanasi.

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
VARANASI DELHI

Publishers :

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Telephone : 63354 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar
DELHI-110007 Phone : 221617

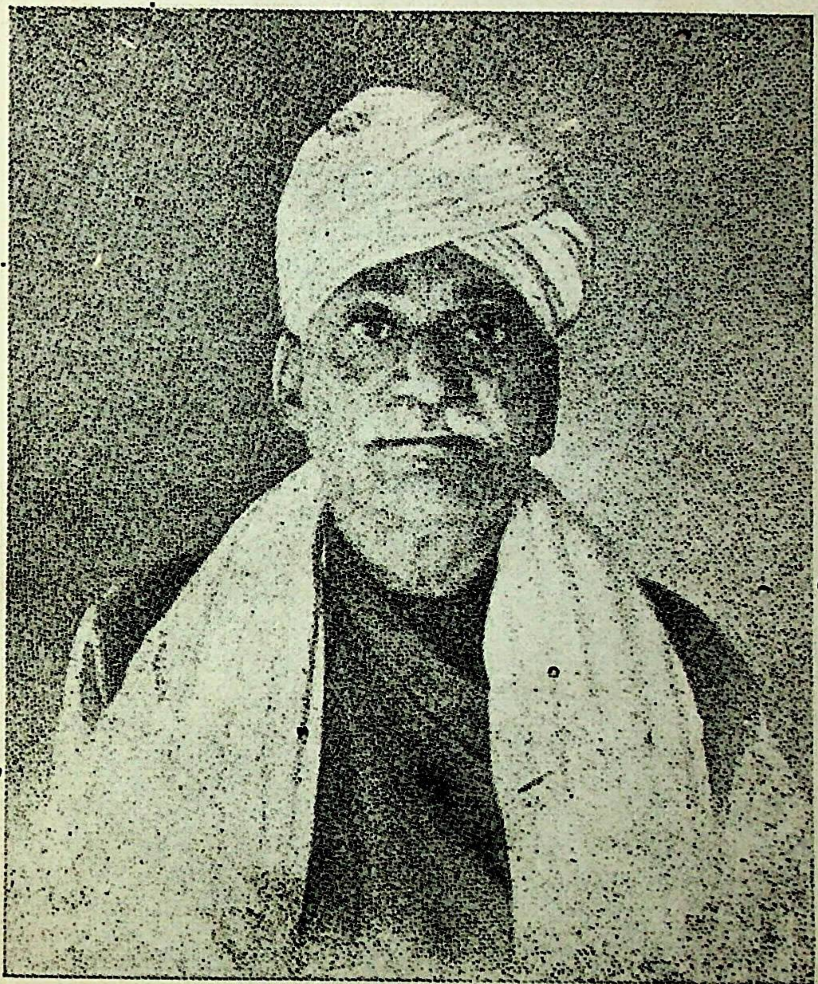
Second Edition 1981
Price : Rs. 50-00

Also can be had from

1. **CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN**
Post Box No. 139
K. 37/116, Jadau Bhawan
Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Phone : 65889

2. **CHAUKHAMBHA VISVABHARATI**
Post Box No. 139
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221001
Phone : 65444

3. **CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY**
K. 37/109, Gokul Bhawan
Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Phone : 63354



वैद्यभूषण पं० रामावतार मिश्र

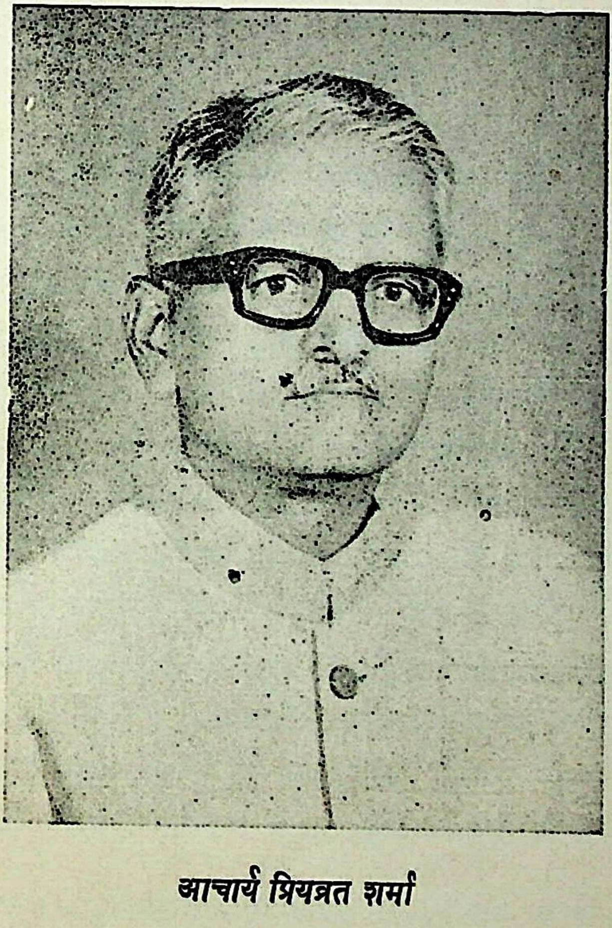
(श्रावण शुक्ल ८, स० १९३६—आषाढ शुक्ल ३, सं० २००[illegible])

आयुर्वेद के संस्मरणीय इतिहास-पुरुष !

पूज्य पितृवर !

सुमन यह इतिहास का
जो गहन वन में पा सका ।
अर्पित तुम्हारे युग-समर्चित
चरण पर श्रद्धासहित ॥

—प्रियव्रत



आचार्य प्रियव्रत शर्मा

प्राक्कथन

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सापद्धति तथा भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। वेदों से आयुर्वेद का अवतरण हुआ है और इसे अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है। आज से प्रायः दो हजार वष पूर्व भारतवर्ष में आत्रेय, अग्निवेश और धन्वन्तरि जैसे महान् चिकित्सकों की परम्परा चल रही थी और काय-चिकित्सकों तथा शल्यचिकित्सकों के अलग-अलग पीठ स्थापित थे। चिकित्सा-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विनिश्चय के लिये इस काल में अपने देश में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सम्मेलन भी होते रहते थे, जिसमें पश्चिम एशिया तथा मध्य एशिया के अनेक प्रतिनिधि भाग लेते थे। उस काल में चिकित्सा-शास्त्र का इस देश में जो अभूतपूर्व विकास हुआ वह निश्चय ही हमारे गौरवशाली अतीत का प्रतीक है परन्तु दुःख की बात यह हुई कि मध्य काल में इस क्षेत्र में कार्य करने वाले अन्य देशों के चिकित्सकों के साथ हम सम्पर्क नहीं रख सके जिससे बहुत अंशों में हमारे कार्य से इन विकासशील चिकित्सा-वैज्ञानिकों की अज्ञानता ही रही और हमारी उपलब्धियों का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया।

विभिन्न चिकित्सापद्धतियों की कार्यप्रणाली में चाहे जो भी अन्तर हो परन्तु सब का मुख्य उद्देश्य मानव के स्वास्थ्य तथा कल्याण की कामना ही है। स्वस्थ मानव उत्तम स्वास्थ्य की कामना करता है और रोगी रोगमुक्ति चाहता है। उसका लगाव किसी एक चिकित्सापद्धति से नहीं रहता। चिकित्सकों को पीड़ित मानवता के सफल उपचार के लिए मिल कर कदम बढ़ाना चाहिये।

आयुर्वेद के सिद्धान्त चिकित्साविदों की संभाषापरिषदों द्वारा निर्णीत हैं जहाँ पक्ष-विपक्षसम्बन्धी समस्त तर्कों को रखने का सभी को अवसर दिया गया था।

"नात्मार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति" का उद्देश्य भी महान् था और "कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः" की नीति भी दूरदृष्टिपूर्ण थी। इन्हीं कारणताओं ने आयुर्वेद की भित्ति को स्थिर किया और आज भी करोड़ों की संख्या में अनेक देशों के नागरिक आयुर्वेद का लाभ उठा रहे हैं।

हर्ष का विषय है कि स्वतन्त्र भारत में आयुर्वेद के पुनरुत्थान के प्रयत्नों में प्रगति हो रही है और शिक्षा, अनुसन्धान, चिकित्सा तथा ग्रन्थलेखन प्रभृति सभी दिशाओं में कार्य हो रहा है

प्राच्य विद्याओं की विख्यात नगरी वाराणसी के विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय में आयुर्वेद के वरिष्ठ प्राध्यापक श्रीप्रियव्रत शर्मा द्वारा लिखित "आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास" का अवलोकन कर प्रसन्नता हुई। वस्तुतः आयुर्वेद का इतिहास भारत के चिकित्साशास्त्र का इतिहास है और विभिन्न पद्धतियों के बीच की कूपमण्डूकता से ऊपर उठ कर इतिहास को स्थिर करना चाहिये। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर रचित यह ग्रन्थ निश्चय ही चिकित्साशास्त्र के इतिहास-लेखन में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जायेगा और इससे चिकित्साशास्त्र के इतिहास के तथ्यात्मक विश्लेषण में सहायता मिलेगी।

आशा है, प्राच्य तथा अर्वाचीन दोनों ही वर्गों के चिकित्सा-इतिहासविद् इसका समुचित लाभ उठायेंगे।

कर्णसिंह
स्वास्थ्य एवं परिवारनियोजन मन्त्री
भारत

श्रावणी पूर्णिमा
२१ अगस्त, १९७५
नई दिल्ली

द्वितीय संस्करण की

भूमिका

१९७५ में धन्वन्तरित्रयोदशी के पावन पर्व पर इस ग्रन्थ का विमोचन भारतीय विद्याओं के आकर महामनीषी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के करकमलों द्वारा हुआ था। ठीक छः वर्ष बाद इसका द्वितीय संस्करण आविर्भूत हो रहा है। प्रथम संस्करण प्रकाशित होते ही देखते-देखते समाप्त हो गया और शेष अवधि पाठकों के लिए प्रतीक्षा के ही दिन रही। प्रयत्न करने पर भी इसके पुनः प्रकाशन में विलम्ब हुआ इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

कालचक्र अनवरत चलता रहता है अतः कोई भी इतिहास का ग्रन्थ जब तक लोक के सम्मुख आता है तब तक यह आगे निकल जाता है, फलतः वह ग्रन्थ पीछे पड़ जाता है। इस दृष्टि से यह दावा करना दुःसाहस है कि अमुक ग्रन्थ वर्तमान के अग्रतम क्षण को पकड़ सका है। यह तभी संभव है जब काल स्थिर हो जाय, तब शायद न लेखक रहेगा और न उसकी कृति। विगत छः वर्षों में आयुर्वेद के क्षेत्र में अनेक घटनायें ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय हुई हैं। ग्रन्थ का आद्योपान्त परिमार्जन कर यह प्रयत्न किया गया है कि इसे अधिकाधिक अद्यतन रूप दिया जाय और इसके लिए उपर्युक्त घटनाओं का यथास्थान समावेश किया गया है।

इस काल में एक विचित्र प्रवृत्ति यह देखने में आई कि राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न चिकित्सापद्धतियाँ एक दूसरे से दूर हटती गई, देशी चिकित्सापद्धतियों की केन्द्रीय अनुसन्धान-परिषद् चार में विभक्त हो गई जब कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन पद्धतियों के जिज्ञासु एवं हितैषी विद्वानों ने एक साधारण मञ्च की स्थापना की। देशी चिकित्सापद्धतियों की ओर विश्व-स्वास्थ्य-संघटन के आकर्षित होने के कारण भारत में आयुर्वेद की राजकीय मर्यादा में प्रोन्नति हुई। अनेक राज्यों में देशी चिकित्सा के चिकित्साधिकारियों का वेतनमान आधुनिक चिकित्सा के चिकित्साधिकारियों के समकक्ष हो गया है।

इस बीच आयुर्वेद-जगत् के अनेक महत्पुरुषों का देहावसान हो जाने के कारण समाज पर आघात पहुँचा। इनमें उल्लेखनीय हैं प्राणजीवन मानेकचन्द मेहता, ह्र० द्वारकानाथ और ठा० बलवन्त सिंह। इस आघात से हम संभले भी नहीं कि २० मई १९८० को वैद्यरत्न पं० शिवशर्मा हमसे बिछुड़ गये। आज सभी सम्मेलन,

परिषद्ें और राजकीय शिष्टमण्डल उनके अभाव में फीके लगते हैं। उनकी उदात्तता, तेजस्विता एवं आयुर्वेद के प्रति समर्पितता चिरकाल तक स्मरणीय रहेगी। जिस प्रकार इनका अस्तित्व उसी प्रकार इनका अभाव भी इतिहास की गति को प्रभावित किये बिना नहीं रहेगा।

मैं सभी छात्रों, अध्यापकों तथा मनीषियों का आभारी हूँ जिन्होंने इस नवोदित ग्रन्थ को हृदय से लगाया। आशा है, उनकी यह सदाशयता एवं सहानुभूति निरन्तर बनी रहेगी।

प्रकाशक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस कठिन समय में ग्रन्थ का पुनः संस्करण प्रकाशित कर पाठकों की प्रतीक्षा का अन्त किया। पं० कपिलदेव गिरि जी भी धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने तत्परता से प्रूफ-संशोधन का कार्य किया।

धन्वन्तरित्रयोदशी
सं० २०३८ — प्रियव्रत शर्मा
२५ अक्टूबर १९८१

भूमिका

कुछ विद्वानों का आरोप है कि भारत में ऐतिहासिक अध्ययन का वातावरण नहीं रहा और भारतीय आचार्यों ने इतिहास को समुचित महत्व नहीं दिया किन्तु यह तथ्य से विपरीत है। भारतीय वाङ्मय में इतिहास-पुराण को पंचम वेद माना गया है। यही सिद्ध करता है कि इस विषय को वेदों जैसी महत्ता एवं प्रामाणिकता प्राप्त थी।

प्राचीन काल में उपबृंहण की परंपरा भी स्वीकृत थी। ज्ञान निरन्तर प्रगतिशील होता है और समय समय पर उपबृंहित होकर युगानुरूप बनता चलता है। इस प्रकार वह प्राचीन होते हुए भी नवीन बना रहता है। उपबृंहण का यह कार्य इतिहास और पुराणों से होता था—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'। इतिहास और पुराण के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींचना कठिन है तथापि इतिहास अस्तित्व-परंपरा का धारावाहिक सरल चित्र है जबकि पुराण इस चित्र को तूलिका से विविध रंगों में रंग कर प्रस्तुत करता है।

इतिहास और पुराण केवल गंभीर अध्ययन-चिन्तन के ही विषय न थे अपितु लोकजीवन के अंगभूत थे। चरक ने आतुरालय के संदर्भ में इतिहास-पुराण के ज्ञाताओं के सहयोग की चर्चा की है।[2]

इतिहास और इतिहाह

इतिहास जबकि स्मृतिसंमत अस्तित्व-परंपरा का बोधक है, इतिहाह ज्ञान-परम्परा का द्योतक है जो श्रुतिपथ से प्रवाहित होती हैं। आयुर्वेद की संहिताओं में 'इति ह स्माह भगवानात्रेयः' 'यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः' आदि से 'इतिहास' का ही अभिप्राय है। यह सत्य है कि ज्ञान की धारा जब प्रवाहित होती है तब लोग उसी में अवगाहन करने लगते हैं और यह भूल जाते हैं कि यह कहाँ से और किस मार्ग से आई है। भारत में इसी कारण श्रुति प्रधान हो गई और स्मृतियाँ उसकी अनुगामिनी 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'। इसके विपरीत, राजनीतिक इतिहास में व्यक्तियों का महत्व ही आवश्यकता से अधिक उभरता है और विचारों का

---

१. स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छन्दोग्य उपनिषद्, ७।१।२

२. तथा गीतवादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलान्—च० सू० १५।७

अनुशासन गौण पड़ जाता है। संभवतः यही ऐकान्तिक स्थिति पाश्चात्य मनीषियों को भ्रान्त करने में कारणभूत रही। वस्तुतः इतिहास और इतिहाह दोनों का समुचित समन्वय आदर्श इतिहास का स्वरूप प्रस्तुत कर सकता है। और स्पष्ट शब्दों में, इतिहास केवल व्यक्तियों का जीवन या उनका कालोल्लेख नहीं है अपितु इनकी पृष्ठभूमि में वर्त्तमान प्रेरक विचारों के विकास की शृंखला का अन्वेषण एवं विशदीकरण भी है। मनुष्य ज्ञान के समुद्र में उतराता रहता है और इसी को वह समय समय पर अपनी रचनाओं में प्रतिविम्बित करता है। अतः वैचारिक विकासक्रम का अध्ययन ही इतिहास के अध्ययन का समुचित मार्ग है।

इतिहास के साधन

अतीत पर कोई प्रामाणिक विवरण देने के पूर्व उसका सही सही ज्ञान होना आवश्यक है। इसके लिए अनेक साधन उपयोग में लाये जाते हैं। इनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :—

१. वाङ्मय—प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थों के सहारे तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ऋग्वेद से वैदिक संस्कृति का ज्ञान प्राप्त हुआ। वाणभट्ट की रचनाओं से सम्राट् हर्षवर्धन के विषय में महत्व पूर्ण जानकारी मिली। पाण्डुलिपियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। बावर पाण्डुलिपि का महत्व तो सर्वविदित है ही।

२. शिलालेख—प्राचीन राजाओं ने अपने उपदेश शिलाओं पर लिखवाये यथा अशोक के धर्मलेख। राजाओं ने इसी प्रकार कवियों से अपनी प्रशस्ति लिखवाई। अशोक के धर्मलेखों से ही उसके द्वारा स्थापित आतुरालयों तथा पशुचिकित्सालयों का ज्ञान होता है।

३. दानपत्र—राजा अपने अधिकारियों तथा सेवकों को दानपत्र के द्वारा भूमि आदि का दान करते थे। इसमें दाता तथा ग्रहीता आदि का पूरा विवरण होता था, इससे इतिहास की प्रामाणिक सामग्री वनती है।

४. मुद्रा— राजाओं के सिक्के उनके कालनिर्धारण तथा संस्कृति आदि के निरूपण में सहायक होते हैं।

५. उत्खनन—पुरातत्वज्ञों द्वारा संपन्न उत्खनन कार्य के द्वारा समय समय पर जो सामग्री प्रकाश में आई है उसने इतिहास को नया प्रकाश दिया है। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से सिन्धुघाटी सभ्यता का सजीव चित्र प्राप्त हुआ। इसी प्रकार प्राचीन विश्वविद्यालयों के संबन्ध में जानकारी प्राप्त हुई।

६. यात्राविवरण—समय समय पर विदेशों से यात्री आकर जो तत्कालीन विवरण देते हैं उससे भी इतिहास को एक आधार मिलता है यद्यपि अनेक बार यह शत-प्रतिशत सही नहीं होता।

आयुर्वेद के सम्बन्ध में वाङ्मय सर्वप्रमुख स्रोत है। कुछ लेखकों ने अपनी रचनाओं में तो अपने परिचय, काल आदि के विषय में जानकारी दी है किन्तु जिन रचनाओं में ऐसी सूचना नहीं है इनके भी आद्योपान्त अध्ययन से महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं। शिलालेखों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। वैद्य राजाओं के साथ संबद्ध रहे हैं जिन्हें राज्य की ओर से आजीविका के लिए भूमि आदि भी दी जाती रही है। दानपत्रों से ऐसी जानकारी मिल सकती है। जहाँ तक उत्खनन का संबंध है, इससे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आये हैं। नालन्दा विश्वविद्यालय में निकला भट्ठीघर धातुविद्या (रसशास्त्र) के प्रशिक्षण का संकेत देता है। पाटलिपुत्र (कुम्रहार) की खुदाई से निकले 'आरोग्यविहार' से भी तत्कालीन आतुरालय का ज्ञान होता है। यात्राविवरणों का महत्व तो स्पष्ट ही है। मेगास्थनीज, फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिग, अलबरुनी, इब्नबतूता, बर्नियर आदि विदेशी यात्रियों के विवरण ने आयुर्वेदीय इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इन यात्राविवरणों के अतिरिक्त राजाओं द्वारा स्वतः रखे गये रोजनामचा (दैनन्दिनी) तथा उनके पार्षदों द्वारा संकलित विवरण भी अतीव महत्वपूर्ण हैं। इस संबन्ध में तुग़लकनामा, आईन-ए-अकबरी, जहाँगीरनामा आदि प्रसिद्ध हैं।

सार्वभौम प्रभाव

अन्य देशों में जब चिकित्सापद्धतियाँ जादू-टोने तक सीमित थीं भारत वैज्ञानिक चिकित्सा के धरातल पर खड़ा हो चुका था। सिद्धान्तों के साथ साथ अनेक उपयोगी औषधद्रव्यों का अन्वेषण एवं प्रयोग होने लगा था। अनेक दर्शनों का भी विकास हो चुका था। मेरी तो मान्यता है कि आयुर्वेद प्रत्यक्षसिद्ध शास्त्र होने के कारण एक ओर वेद की प्रामाणिकता का साधन बना तो दूसरी ओर विविध दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना में भी सहायक हुआ। दर्शन और विज्ञान का यह समन्वित उत्कर्ष तत्कालीन विश्व में एक अद्भुत उपलब्धि थी जिसने सारे संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। सुमेर, बाबुल और असुरों की पद्धतियाँ तो आयुर्वेद से प्रभावित थीं ही, यूनानी चिकित्सा के महान प्रवर्त्तक हिप्पोक्रेटिस, पाइथेगोरस आदि ने भी आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का ही आधार लेकर अपने विचार प्रस्तुत किये जो भले ही पाश्चात्य जगत् के लिए नवीन और विस्मयजनक हों किन्तु भारत के लिए उनमें कोई नवीनता नहीं। मध्यकाल में जब पाश्चात्य जगत् सुप्तप्राय था, पुनः अरबों

के माध्यम से यह ज्ञान उन्हें नये रूप में उपलब्ध हुआ। हकीमी चिकित्सा आयुर्वेद और यूनानी के मिलने से विकसित हुई जिसमें आयुर्वेद का योगदान अधिक है। देशभेद से इसमें थोड़ा रूपान्तर अवश्य हुआ। चीन के साथ तो भारत का प्राचीन सम्पर्क रहा ही, दक्षिणपूर्व एशिया एवं सुदूरपूर्व में जो चिकित्सापद्धतियाँ चल रही हैं वह मूलतः आयुर्वेदीय ही हैं। यही स्थिति तिब्बत और नेपाल की है। इस प्रकार जब साम्राज्य के विजेता परस्पर द्वेषान्ध या धर्मान्ध होकर युद्ध कर रहे थे, आयुर्वेद शान्ति एवं प्रेम के द्वारा सारे विश्व में अपना सन्देश प्रसारित कर रहा था।

शाश्वत धारा

अनादि काल से आयुर्वेद की शाश्वत धारा प्रवाहित हो रही है। समय-समय पर नये स्रोतों को अन्तर्भुक्त कर यह उपबृंहित होती और युगानुरूप रूप धारण करती रही है। यही कारण है कि अद्यावधि इसकी उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं आया। प्राचीन और नवीन का सामञ्जस्य भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। इसका स्पष्ट उद्घोष गुप्तकाल में महाकवि कालिदास ने 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्' के द्वारा किया। सांस्कृतिक पुनरुत्थान और मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा का जो समारंभ गुप्तकाल में हुआ उसकी झांकी हमें गुप्तकालीन वाग्भट की रचनाओं (अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय) में मिलती है। आयुर्वेद वस्तुतः स्वर्ग से पृथ्वी पर इसी काल में उतरा, देवताओं के स्थान पर मानव भिषक् ने बागडोर संभाली। किन्तु दुर्भाग्यवश यह उद्घोष चिरस्थायी न रह सका। विदेशी आततायियों के आक्रमण और प्रभुत्व के कारण यह सांस्कृतिक अंकुर विनष्ट हो गया। विद्वज्जन पुनः अपनी प्रज्ञा का बल खोकर आप्तोपदेश का सहारा लेने लगे जिससे स्वतन्त्र चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध हो गया। पाश्चात्य मनीषी एक-एक कर हस्तंगत ज्ञान-वराटिका को फेंकते चले गये, उससे सन्तुष्ट न हुए किन्तु हमने जो उपदेश का शंख प्राप्त किया उसे आज तक बजाते चले आ रहे हैं। यही पूर्व और पश्चिम की धारणा में अन्तर है। पश्चिम अतीत की ओर देखता है किन्तु इसमें आसक्त नहीं होता उसकी दृष्टि भविष्य की ओर उन्मुख होती है जबकि पूर्व अतीत में ही निमग्न रहना चाहता है, भविष्य की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। एक दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जायगा। लगभग २५०० वर्ष पूर्व पाश्चात्य जगत् भी भूतों और दोषों के सिद्धान्त में आस्था रखता था किन्तु धीरे-धीरे वैचारिक क्रान्ति के कारण यह सिद्धान्त उनके हाथ से छूट गया किन्तु भारतीय आयुर्वेद आज भी उसे उसी दृष्टि से देखता है। भले ही कुछ नवीन द्रव्य समाविष्ट हुये हों किन्तु सैद्धान्तिक स्तर में कोई परिवर्तन नहीं आया।

महाप्राण आयुर्वेद

फिर भी अपने आप में यह विस्मय का विषय है कि जब विश्व की सभी प्राचीन चिकित्सापद्धतियाँ समाप्तप्राय हो गईं आयुर्वेद आज भी हजारों वर्ष पुरानी नींव पर खड़ा ८० प्रतिशत भारतीय जनता की सेवा कर रहा है। अनुसन्धायकों के लिए भी यह गवेषणा का विषय है कि आयुर्वेद की इस महाप्राणता का रहस्य क्या है ? बीच बीच में भयानक तूफान आये, इसे दफना देने की कोशिश की गई किन्तु यह ऐसा वज्र निकला कि मरने को तैयार ही नहीं। हिन्दू राजाओं ने इसे संरक्षण दिया तो मुगल बादशाहों ने भी इसे अपना कर गुणग्राहिता का परिचय दिया। अंगरेजों ने भी इसे निरर्थक समझ नष्ट करने की योजना बनाई किन्तु उन्हींके मनीषी दूतों ने इसका गुणगान प्रारम्भ कर दिया और क्रमशः इसने प्रसार प्रारम्भ किया जो अब तक चला आ रहा हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वैद्यों की नैतिक विजय का कारण रहा आयुर्वेद का वैज्ञानिक उत्कर्ष और उस पर आधारित इनका चिकित्साकौशल। अद्भुत चिकित्साकौशल के कारण वैद्यों को सर्वत्र और सर्वदा सम्मान मिला। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि आयुर्वेद को राजकीय प्रश्रय दिलाने में वैद्यों का वैयक्तिक प्रभाव सदा आगे रहा है। भारत सरकार का सर्वोच्च चिकित्साधिकारी जेनरल पार्डी ल्युकिस कलकत्ता के कविराज विययरत्न सेन से अत्यन्त प्रभावित था जिसके फलस्वरूप उसने आयुर्वेद की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। विभिन्न प्रदेशों में भी ऐसा ही हुआ।

निरन्तर प्रगति

लोकसेवा पर वैद्यों का ध्यान बराबर रहा अतएव निरन्तर उसे समुन्नत करने की चेष्टा रखते आये। अनुभवों के द्वारा जो नया योग सफल प्रमाणित होता उसे ग्रन्थ में निबद्ध कर प्रकाशित करते। विदेशियों के माध्यम से भी यदि कोई नया द्रव्य या उपचार मिलता तो उसे अपना लेते। अहिफेन, चोपचीनी आदि का समावेश ऐसे ही हुआ। इसलिए राजनीतिक स्थिति चाहे जो भी हो, आयुर्वेद के क्षेत्र में सर्जनात्मक कार्य निरन्तर होता रहा। ऐसा कोई भी काल नहीं दीखता जब यह कार्य अवरुद्ध हुआ हो। परंपरा में जो नवीन तथ्य स्वीकृत होते वे ग्रन्थ में निबद्ध हो जाते। इस प्रकार समय समय पर नवीन ग्रन्थ प्रकाश में आते रहे।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में तो यह प्रवृत्ति बनी रही किन्तु आगे चल कर प्रतिक्रियावाद ने जोर पकड़ा। परिणाम यह हुआ कि कुछ लोग पीछे की ओर भागने लगे और कुछ लोग आगे की ओर। इसी रस्साकशी या विवर्त्त में अभी आयुर्वेद पड़ा है। आर्ष प्रवृत्ति सदा प्रगति की पक्षपातिनी रही है। इतिहास के अध्ययन से

शिक्षा लेनी चाहिए। अतीत को देखकर भविष्य का निर्माण करना चाहिए। आर्ष प्रवृत्तियों का आकलन कर वर्त्तमान को उचित दिशा देना इतिहास के अध्ययन का मौलिक उद्देश्य है। इस दृष्टि से आयुर्वेद के क्षेत्र में इतिहास के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है।

पूर्ववर्त्ती रचनायें

१९ वीं शती के अन्त तक आयुर्वेद की सैद्धान्तिक विशिष्टताओं एवं चिकित्सा-चमत्कारों ने पाश्चात्य जगत् का ध्यान पूरी तरह अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। फलतः अनेक ऐसे मनीषियों ने आयुर्वेद पर ग्रन्थ लिखे जो भावात्मक अधिक थे, विवरणात्मक या विवेचनात्मक कम; अतः उन्हें इतिहास की कोटि में रखना उचित नहीं होगा। फिर भी कुछ विद्वानों ने गंभीरता से इस क्षेत्र में अनुसंधानात्मक कार्य किया जिनमें कार्डियर, जॉली और हार्नले के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इसी काल में गोंडल के महाराजा श्री भगवत सिंह जी का 'हिस्ट्री आफ आर्यन मेडिकल साइन्स' विदेश से ही छपा। इस शती की भारतीय रचनाओं में गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्यायकृत 'हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन' सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इसकी योजना विशाल थी किन्तु तीन ही खण्ड प्रकाशित होकर रह गये, आगे का काम अधूरा रह गया। कुटुम्बिया का 'ऐन्शिएण्ट इण्डियन मेडिसिन' बाद में आया जिसमें विषयक्रम से वस्तु-व्यवस्था की गई किन्तु मूल स्रोतों की छानबीन न होने के कारण वैज्ञानिक रूप नहीं उभर सका। अत्रिदेव के ग्रन्थ 'आयुर्वेद का बृहत् इतिहास' का कलेवर तो अवश्य बृहत् है किन्तु वैज्ञानिक विवेचन का धरातल उतना ऊँचा और गहरा नहीं। इसके अतिरिक्त, मूल तकनीकी प्रवृत्तियों के विवेचन से अधिक राजनीतिक पृष्ठभूमि पर बल दिया गया है जिससे मूल उद्देश्य अन्तर्हित हो जाता है। फिर भी अब तक ये तीन रचनायें आयुर्वेदीय इतिहास के अध्येताओं के लिए अनिवार्य संबल रहे हैं। इधर, डॉ० प्राण-जीवन मानेकचन्द मेहता, डॉ० डी. वी. सुब्बारेड्डी, प्रभाकर चट्टोपाध्याय, अपर्णा चट्टोपाध्याय, ज्योतिर्मित्र तथा राजेन्द्र प्रकाश भटनागर के अनेक महत्वपूर्ण लेख विभिन्न पत्रों में प्रकाशित हुये हैं। इनसे भी आयुर्वेदीय इतिहास के विविध पक्षों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषतायें

१. मूल स्रोतों की छानबीन कर प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा वैचारिक विकासक्रम का शृंखलाबद्ध उद्घाटन इतिहास का प्रमुख कार्य है। वस्तुतः इतिहास के अध्ययन का वैज्ञानिक स्वरूप भी यही है। प्रस्तुत ग्रन्थ में यही पद्धति अपनाई गई है अतएव इसे

'वैज्ञानिक इतिहास' की संज्ञा दी गई है। केवल तथ्यों को भर देने से और उनका काल अंकित कर देने से इतिहास नहीं बनता।

व्यक्तियों और उनकी रचनाओं की सूची कालसहित देना यही अब तक के अधिकांश इतिहास-ग्रन्थों की इयत्ता रही है। अधिक से अधिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य का निर्देश यत्र तत्र किया गया है। किन्तु इतिहास की चरितार्थता प्रवृत्तियों के विश्लेषण में ही है जो व्यक्ति और उसके माध्यम से समाज और युग को एक नवीन अर्थ प्रदान करता है। अतएव अधिक से अधिक सामग्रियों की खोज कर इसमें उनका विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। वाङ्मय के क्षेत्र में अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का भी यथाशक्य उपयोग किया गया है क्योंकि अभी तक आयुर्वेद का प्रकाशित वाङ्मय अत्यन्त स्वल्प है अतः केवल उसके आधार पर सच्चा इतिहास नहीं बन सकता।

२. इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता है रूढिमुक्त विचारोत्तेजक दृष्टिकोण। कहीं कहीं कुछ ऐसे प्रश्न उठाये गये हैं जो कुछ विद्वानों को आपत्तिजनक प्रतीत हो सकते हैं किन्तु ये बातें पूर्वपक्ष के रूप में उठाई गई हैं जिनसे सत्य को उद्घाटित करने में सहायता मिल सके। उदाहरणार्थ, शवच्छेद के संबन्ध में मैंने कुछ नवीन तर्क दिये हैं उन पर आग्रहरहित होकर मनीषियों को विचार करना चाहिये। ऐसे ही विचारोत्तेजक तर्क अन्य स्थलों में भी मिलेंगे। मेरी मान्यता रही है कि भारतीय परम्परा में आप्तोपदेश के कठोर बन्धन ने मध्य काल में स्वतन्त्र चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। अतः प्रस्तुत कृति का उद्देश्य आर्ष परीक्षा-प्रक्रिया (द्विविधा हि परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च—चरक) एवं उस पर आधारित स्वतन्त्र चिन्तन-पद्धति को प्रेरित करना भी है।

३. आयुर्वेद-इतिहास के संबन्ध में सर्वग्राही कोई ग्रन्थ इधर प्रकाश में नहीं आया। अत्रिदेव का ग्रन्थ १९६० में प्रकाशित हुआ था। इन विगत पन्द्रह वर्षों में अनेक घटनायें हुईं जिन्होंने आयुर्वेद का कायापलट कर दिया। इन घटनाओं में प्रमुख हैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज की देहान्तरप्राप्ति और पुनः स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान की स्थापना, भारत सरकार में आयुर्वेद सलाहकार की नियुक्ति, केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसंधान परिषद् की स्थापना, स्वायत्त संस्थाओं के रूप में केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी अनुसंधान परिषद् तथा केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् की स्थापना, राष्ट्रीय चिकित्सापद्धतियों में आयुर्वेद की मान्यता, राज्यों में स्वतन्त्र आयुर्वेद निदेशालयों की स्थापना, विश्वविद्यालयों में स्वतन्त्र आयुर्वेदसंकाय के अन्तर्गत आयुर्वेद के शिक्षण की व्यवस्था आदि। इस अवधि में प्रभूत वाङ्मय का भी सृजन हुआ। अनुसंधान के क्षेत्र में भी हुए कार्यों के विवरण

प्रकाशित हुये । अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियां भी संपादित होकर प्रकाश में आई । इन सबसे आयुर्वेद के कलेवर का विस्तार तो हुआ ही, उसके वातावरण में एक नये उल्लास का संचार भी हुआ । इतिहास में इन सब का आकलन आवश्यक था । अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में १९७५ जून तक जो तथ्य दृष्टिगत हुये उनका यथासंभव उपयोग कर इसे अद्यतन बनाने की चेष्टा की गई है । कुछ विशिष्ट समकालीन व्यक्तियों के जीवन पर भी प्रकाश इसलिए डाला गया है कि भावी पीढी को उससे मार्गदर्शन मिल सके ।

४. अब तक के इतिहास-ग्रन्थों की शैली कालक्रम से लिखने की रही है किन्तु इसमें मैंने दूसरी पद्धति अपनाई है । विषयानुसार वस्तु को व्यवस्थित किया गया है जिससे प्रवृत्तियों के विवेचन में सरलता हो और विषय के विकासक्रम का अध्ययन भी स्पष्ट रूप से हो सके ।

५. द्रव्यगुण के प्रकरण में अनेक द्रव्यों का तथा कायचिकित्सा-प्रकरण में अनेक रोगों का इतिवृत्त भी दिया गया है क्योंकि वाङ्मय मात्र का उल्लेख कर देने से इनका इतिहास नहीं बनता । पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में इनकी चर्चा नहीं है ।

६. आयुर्वेदीय इतिहास को सजीव बनाने में एक कठिनाई यह भी है कि पुरातात्त्विक या वैयक्तिक चित्रों का प्रायः अभाव है । चरक, सुश्रुत की बात छोड़ें, एक शती पूर्व के विद्वानों के चित्र भी उपलब्ध नहीं होते । अकबर और जहाँगीर के चित्र तो मिलते हैं किन्तु उनके समकालीन भावमिश्र का कोई चित्र नहीं मिलता । इतिहास में इनका भी महत्व है । अतएव मैंने यथासम्भव कुछ चित्र इसमें दिये हैं यद्यपि यह उद्देश्य की दृष्टि से नगण्य हैं तथापि शिलान्यासवत् इसका महत्व है जिससे भावी लेखकों को प्रेरणा मिलेगी ।

कालविभाग

उत्तरगुप्त काल (७ वीं शती) तक प्राचीन काल माना है । ८ वीं शती से मध्यकाल का प्रारंभ माना गया है । इस काल में अरबवासियों का भारत से संपर्क महत्त्वपूर्ण घटना है । बाद में अफगान और मुगलों ने कब्जा जमाया । आधुनिक काल का प्रारंभ कब से माना जाय इस पर मतभेद है । कुछ लोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से, कुछ लोग भारत पर विक्टोरिया का शासन होने से और कुछ लोग कलकत्ता में मेडिकल कालेज की स्थापना से मानते हैं किन्तु मैंने १६ वीं शती से आधुनिक काल का प्रारंभ माना है जब यूरोपवासियों का इस देश से संपर्क हुआ । १५ वीं शती के अन्त में पुर्त्तगाली सामुद्रिक भारत में पैर रख चुके थे और १६ वीं शती में डच, फ्रेंच और ब्रिटिश भी आ गये । इन लोगों के साथ अनेक

रोग और उपचार इस देश में प्रविष्ट हुये। डाक्टर भी आये जिनका प्रवेश राजघरानों और रईसों में हुआ जिसे भारत में आधुनिक चिकित्सापद्धति का शिलान्यास कह सकते हैं। अतः इसी प्रवृत्ति को विभाजक रेखा मान कर मैंने भावमिश्र (१६ वीं-शती) को आधुनिक काल में रखा है।

धन्यवाद ज्ञापन

किसी भी शास्त्र का इतिहास लिखना अत्यन्त दुरूह एवं कठिन कार्य है। बिना अनेक विद्वानों की सहायता से इसकी पूर्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वभावतः इस ग्रन्थ की रचना में भी अनेक पूर्ववर्त्ती कृतियों का उपयोग किया गया है; देश-विदेश के इन सभी मनीषियों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस महायज्ञ में मेरे अनेक मित्रों एवं सहयोगियों ने भी हाथ बँटाया है। समय समय पर उनके साथ विचार-विमर्श में अनेक नये तथ्यों का स्फुरण हुआ है। इन सभी के के प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। अनेक ग्रन्थों, शोधपत्रों एवं लेखों का उपयोग इस ग्रन्थ में मैंने किया है जिनका यथास्थल उल्लेख किया गया है। इन सभी के लेखकों के प्रति मैं आभार ज्ञापित करता हूँ। भारत सरकार में स्वास्थ्य एवं परिवारनियोजन के कृतविद्य एवं मनीषी मन्त्री डॉ० कर्णसिंह का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मेरा अनुरोध त्वरित स्वीकृत कर प्राक्कथन लिखा है। मेरे सहयोगी एवं शिष्य डॉ० महेशचन्द्र पाण्डेय ने परिश्रमपूर्वक ग्रन्थ की अनुक्रमणिका बनाई है इसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि ज्ञानयज्ञ में उनकी रुचि ऐसी ही जाग्रत रहेगी। पुस्तकालय के श्रीविश्वनाथ झा और कार्यालय के श्री देवनन्दन मिश्र तथा श्रीमहाराजनारायण सिंह ने भी सक्रिय सहयोग दिया है। अन्य भी जिन विद्वानों एवं मित्रों ने इस कार्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दिया है वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। चित्रों के संबन्ध में अनुमति के लिए संबद्ध अधिकारियों को धन्यवाद देता हूँ जिनका उल्लेख यथास्थल किया गया है। अन्त में, चौखम्भा ओरियन्टालिया के अधिकारियों के प्रति शुभाकांक्षा व्यक्त करता हूँ जिन्होंने ऐसे कठिन समय में पुस्तक को सुन्दर रूप में प्रकाशित किया।

क्षमायाचना

ग्रन्थ में सावधानी रखने पर भी मुद्रणसंबन्धी अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं। इनमें कुछ स्थूल अशुद्धियों का निर्देश ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट तथा शुद्धिपत्र में कर दिया गया है; पाठक उसे अवश्य देखें। अन्य अशुद्धियों का परिमार्जन विद्वज्जन स्वतः कर लेंगे, ऐसा विश्वास है। जहाँ तक वैचारिक त्रुटियों का प्रश्न है, उनके लिए लेखक

उत्तरदायी है और वह इनके संबन्ध में मनीषियों की आलोचना एवं सुझावों का हृदय से स्वागत करेगा ।

वर्त्तमान लेखकों की कृतियों का यथासंभव समावेश इस ग्रन्थ में करने का प्रयत्न किया गया है । फिर भी यदि कोई छूट गई हों या किन्हीं विद्वान का नाम रह गया हो तो उसके लिए क्षमा करेंगे ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
२ अक्टूबर, १९७५

प्रियव्रत शर्मा

विषयावलि

पञ्चम अध्याय—द्रव्यगुण एवं रसशास्त्र

षष्ठ अध्याय—अन्य अङ्ग

सप्तम अध्याय—शिक्षण, अनुसन्धान, पत्र-पत्रिकायें

चित्र-सूची

संकेत-निर्देश

अग्नि०	अग्निपुराण
अथर्व०	अथर्ववेद
अनु०	अनुशासनपर्व
अ० प०	अथर्वपरिशिष्ट
अर्थ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र
अ० सं०	अष्टांगसंग्रह
अ० हृ०	अष्टांगहृदय
आ० गृ०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आ० प०	आदिपर्व
आप० श्रौ०	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आफ्रेक्ट०	Aufrecht's Catalogus Catalogus Catalogorum
आ० श्रौ०	आश्वलायन श्रौतसूत्र
इं०	इन्द्रियस्थान
ईशावास्य०	ईशावास्योनिषद्
उ०	उत्तरतन्त्र
ऋ०	ऋग्वेद
एन० सी० सी०	Raghavan's New Catalogus Catalogorum
ए० सो० क०	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क०	कल्पस्थान
कण्डोल०	A. D. Candolle's Origin of Cultivated Plants.
का० पू०	कादम्बरी, पूर्वभाग
काश्यप०	काश्यपसंहिता
का० श्रौ०	कात्यायन श्रौतसूत्र
का० हि० वि०	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

के० आ० प०	Descriptive Catalogue of Sanskrit Medical Manuscripts, C. C. R. I. M. & H., New Delhi.
के० प०	केशवद्धपति
कौ० उ०	कौषीतकी उपनिषद्
कौ० ब्रा०	कौषीतकी ब्राह्मण
कौ० सू०	कौशिकसूत्र
खि०	खिलस्थान
गो० ब्रा०	गोपथब्राह्मण
चि०	चिकित्सास्थान
च०	चरकसंहिता
चक्र०	चक्रपाणि
चि० क०	चिकित्साकलिका
छा०	छान्दोग्य उपनिषद्
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
जै० गृ०	जैमिनीय गृह्यसूत्र
जै० ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
तै०	तैत्तिरीय संहिता
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
दरभंगा	दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय
नि०	निदानस्थान
पां०	पाण्डुलिपि
पा० म०	पातञ्जल महाभाष्य
पी० जी० आई०	स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
प्रश्न०	प्रश्नोपनिषद्
बर्नियर०	बर्नियर का यात्रा-विवरण (अं०)
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृह० उ०	बृहदारण्य उपनिषद्
बौ० ध०	बौधायन धर्मसूत्र
बौ० श्रौ०	बौधायन श्रौतसूत्र

भागवत	श्रीमद्भागवत
भाव०	भावप्रकाश
म० भा०	महाभारत
भेल०	भेलसंहिता
मा० नि०	माधव निदान
मार्कण्डेय०	मार्कण्डेयपुराण
मुण्डक०	मुण्डकोपनिषद्
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
र० र० स०	रसरत्नसमुच्चय
रघु०	रघुवंश
राघवन	New Catalogus Catalogorum
रा० ल० मि०	R. L. Mitra's Notices of Sanskrit Manuscripts,
रेवती०	रेवतीकल्पाध्याय
व० द०	वनौषधिदर्पण
वाट०	George Watt's Dictionary of the Economic Products of India.
वायु०	वायुपुराण
वि०	विमानस्थान
विष्णु०	विष्णुपुराण
वृ० मा०	वृन्दमाधव
श०	शतपथ ब्राह्मण
शंकर	शांकर भाष्य
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शा०	शारीर स्थान
शार्ङ्ग०	शार्ङ्गधरसंहिता
शौ०	अथर्ववेद (शौनकीय शाखा)
श्वे०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
स० भ०	सरस्वती भवन, वाराणसी
सा०	सायणभाष्य
सि०	सिद्धिस्थान
सिंहजी०	भगवतसिंह जी कृत हिस्ट्री आफ आर्यन मेडिकल साइन्स

सु०	सुश्रुतसंहिता
सू०	सूत्रस्थान
A. B. O. R. I.	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
A. S. C	Asiatic Society, Calcutta.
B. M. J.	British Medical Journal.
B. O. R. I.	Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
B. O. R.	Bihar and Orissa Research Society, Patna.
B. O. R. S.	Bihar & Orissa Research Society, Patna.
C. S. C.	Calcutta Samskrit College.
G. L. N.	Nepal Raj Library, Kathmandu.
G. O. M,	Government Oriental Manuscripts Library, Madras.
I. A.	Indian Antiquary.
I. C. M. R.	Indian Council of Medical Research.
I. D. R. A.	Indian Drug Research Association.
I. H. Q,	Indian Historical Quarterly.
I. J. H. M.	Indian Journal of History of Medicine
I. J. H. S,	Indian Jounal of History of Science.
J. B. O. R. S.	Journal of Bihar and Orissa Research Society.
J. O. I. B.	Journal of Oriental Institute, Baroda.
J. R. I. M.	Journal of Research in Indian Medicine.
MJK.	श्री रणवीर पुस्तकालय, जम्मू ।

अनादि आयुर्वेद

आयुर्वेदावतरण

चरक ने आयुर्वेद को अनादि एवं शाश्वत कहा है क्योंकि जब से 'आयु' (जीवन) का प्रारम्भ हुआ और जब से जीव को ज्ञान हुआ तभी से आयुर्वेद की सत्ता प्रारम्भ होती है।[1] सुश्रुत ने यहाँ तक कहा कि ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की[2] जिससे प्रजा उत्पन्न होने पर इसका उपयोग कर सके। इससे भी आयुर्वेद का अनादित्व सिद्ध होता है। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव बताया है तथा यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद की लक्षश्लोकमयी संहिता का निर्माण किया। यह सब भी सृष्टिकाल से ही आयुर्वेद के अस्तित्व की सूचना देते हैं।

चरक के कथनानुसार ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया; प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने और उनसे इन्द्र ने उस ज्ञान को ग्रहण किया।[3] दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार तथा इन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति थे या केवल मिथकीय इस संबन्ध में अनेक विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं किन्तु जो भी हो, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि संभवतः इन्द्र की परम्परा तक वह देवलोक तक ही सीमित था; उसका रूप प्रागैतिहासिक था। प्रायः भारतीय परम्परा में विद्याओं का स्रोत ब्रह्मा से प्रारम्भ कर इन्द्र तक क्रमशः माना जाता है। इन्द्र के द्वारा इस ज्ञान का प्रसार जब भूमण्डल में हुआ तब से इतिहास की श्रृङ्खला का प्रारम्भ माना जा सकता है।

---

१. सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च—च. सू. ३०।२५

२. इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः—सु. सू. १।२

३. ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः। जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः॥
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्। ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागतः॥
च. सू. १। ४–५

विविध रोगों से आक्रान्त सभी वर्गों के प्राणियों के कष्टमय जीवन से दुःखी होकर दयालु महर्षियों ने हिमवत् पार्श्व में सभा की जिसमें यह निर्णय लिया गया कि इन्द्र से इस ज्ञान को प्राप्त किया जाय। इस दुष्कर कार्य के लिए भरद्वाज स्वेच्छया नियुक्त हुये और वहां जाकर इन्द्र से कहा कि भूलोक में भयंकर व्याधियां उत्पन्न हुई है इनके शमन का उपाय बतलायें। इस पर इन्द्र ने भरद्वाज को सूत्ररूप में ब्रह्म-परम्परा से प्रवाहित शाश्वत, त्रिसूत्र तथा स्वस्थातुरपरायण आयुर्वेद का उपदेश किया। भरद्वाज ने यह ज्ञान आत्रेय आदि महर्षियों को किया। आत्रेय ने पुनः अपने छः शिष्यों—अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि—को दिया जिन्होंने अपनी-अपनी संहितायें बनाई। इनमें अग्निवेश-संहिता सर्वप्रथम बनी। ये संहितायें ऋषि-परिषद् द्वारा अनुमोदित होने पर लोक में प्रचलित हुई।[1] इस आख्यान से तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१. आत्रेय के काल में अनेक भयंकर व्याधियाँ फैली थीं जिनका कोई उपचार उस समय तक ज्ञात न था जिससे सुधीसमाज चिंतित था।

२. आयुर्वेद का क्रमबद्ध विचार उसी समय से आरम्भ हुआ किन्तु वह सूत्ररूप में था, विकसित नहीं था।

३. त्रिस्कन्ध आयुर्वेद के विचार लिपिबद्ध होकर संहिताओं के रूप में निबद्ध हुये। इस प्रकार की संहिताओं में अग्निवेशसंहिता का स्थान प्रथम था।

चरकसंहिता के एक अन्य स्थल पर भरद्वाज का नाम नहीं है। आत्रेय आदि महर्षियों ने इन्द्र से साक्षात् ज्ञान प्राप्त किया।[2] इस अंश को अधिक प्रामाणिक मानते हैं क्योंकि भरद्वाज का कोई उल्लेख इसके बाद नहीं आता और न इनकी कोई शिष्य-परम्परा का ही उल्लेख है। संभवतः भरद्वाजवाला प्रसङ्ग प्रतिसंस्कर्त्ता द्वारा बाद में जोड़ा गया हो।

सुश्रुतसंहिता में भी आयुर्वेदावतरण का ऐसा ही क्रम वर्णित है केवल आत्रेय के स्थान पर धन्वन्तरि का नाम आया है। इन्द्र से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर अपने शिष्यों सुश्रुतप्रभृति को इससे शिक्षित किया।[3]

---

१. च. सू. ११६–३४

२. हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवशिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवाम- देवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः—च. चि. ११४।३

३. 'अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरि- मौपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतय ऊचुः'—प्रभृति- ग्रहणान्निमिकाङ्कायनगार्ग्यगालवाः—डल्हण
ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनावश्विभ्यामिन्द्र इन्द्रादहं मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः'—सु. सू. ११३; १६

कश्यपसंहिता (वि० १।१०) में भी प्रायः इसी प्रकार का आख्यान है। इसके अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की। उनसे क्रमशः यह ज्ञान दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार और इन्द्र को प्राप्त हुआ। कश्यप, वशिष्ठ, अत्रि और भृगु इन चार ऋषियों ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया और पुनः अपने पुत्रों और शिष्यों को दिया।

अष्टांगसंग्रह (सू. १।६–९) में भरद्वाज का दूसरे रूप में उल्लेख है। वहां आत्रेय पुनर्वसु को नेता बनाकर धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप, आदि महर्षि तथा आलवायन आदि महात्मा इन्द्र के पास गये और उनसे आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।

अष्टांगहृदय (सू. १।३–४) के अनुसार ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण कर प्रजापति को दिया, प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को, अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को, इन्द्र ने आत्रेय आदि मुनियों को तथा इन मुनियों ने अग्निवेश आदि शिष्यों को शिक्षित किया जिन्होंने पृथक्-पृथक् अनेक तन्त्रों की रचना की।

भावप्रकाश (पूर्व० १।१७) में आत्रेयप्रमुख मुनियों का इन्द्र के द्वारा अध्यापन कहा गया है। आत्रेय ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर अग्निवेश आदि शिष्यों को दिया। इन्द्र के पास भरद्वाज के गमन और आयुर्वेदशिक्षण की बात भी आई है जिससे भरद्वाज स्वयं दीर्घायु हुये और अन्य ऋषियों को दीर्घायु बनाया। आत्रेय के शिष्य अग्निवेश आदि मुनियों के तन्त्रों को संकलित तथा प्रतिसंस्कृत कर चरक के द्वारा चरकसंहिता के निर्माण का भी आख्यानात्मक वर्णन है। इसी प्रकार धन्वन्तरि और सुश्रुत के प्रादुर्भाव का विवरण दिया गया है। इस प्रकार भावमिश्र ने प्राचीन तथ्यों को एकत्रित कर पौराणिक शैली में उन्हें उपस्थित किया है।

चरकसंहिता तथा सुश्रुतसंहिता में वर्णित आयुर्वेदावतरण के क्रम क्रमशः आत्रेय-संप्रदाय तथा धान्वन्तर—संप्रदाय कहलाते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण (अ. १६) में एक और संप्रदाय का उल्लेख है जिसे भास्कर-संप्रदाय कह सकते हैं। इसके अनुसार प्रजापति ने चारों वेदों को देखकर आयुर्वेद का पञ्चम वेद बनाया और उसे भास्कर को दिया। भास्कर ने उस आधार पर अपनी स्वतन्त्र संहिता (भास्करसंहिता) का निर्माण किया और आयुर्वेद का ज्ञान अपने १६ शिष्यों में वितरित किया जिन्होंने पुनः अपनी-अपनी संहितायें बनाई।[1] इन शिष्यों तथा उनकी रचनाओं का विवरण इस प्रकार है—

---

१. ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः।
विचिन्त्य तेषामर्थञ्चैवायुर्वेदं चकार स॥
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः।
स्वतन्त्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकार सः॥

१. धन्वन्तरि—चिकित्सातत्वविज्ञान
२. दिवोदास—चिकित्सादर्पण
३. काशिराज—चिकित्साकौमुदी
४. अश्विनीकुमार—चिकित्सासारतंत्र
५. नकुल—वैद्यकसर्वस्व
६. सहदेव—व्याधिसिंधुविमर्दन
७. यम—ज्ञानार्णव
८. च्यवन—जीवदान
९. जनक—वैद्यसन्देहभंजन
१०. बुध—सर्वसार
११. जाबाल—तन्त्रसार
१२. जाजलि—वेदांगसार
१३. पैल—निदान
१४. कवथ—सर्वधर
१५. अगस्त्य—द्वैधनिर्णय

आयुर्वेद-परम्परा

- ब्रह्मा
  - प्रजापति
    - अश्विनीकुमार
      - इन्द्र
        - अत्रि
          - आत्रेय पुनर्वसु
            - अग्निवेशप्रभृति (आत्रेयसंप्रदाय)
        - धन्वन्तरि
          - सुश्रुतप्रभृति (धन्वन्तर संप्रदाय)
    - भास्कर
      - धन्वन्तरि प्रभृति (भास्कर संप्रदाय)

इन विभिन्न आख्यानों से स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद (जीवनरक्षा-सम्बन्धी ज्ञान) अनादि एवं परम्पराप्राप्त है। इस परम्पराप्राप्त ज्ञान को समय-समय पर आचार्यों ने लिपिवद्ध कर संहिताओं एवं अन्य ग्रन्थों की रचना की जिनमें इस बात का निर्देश कर दिया कि परम्पराप्राप्त ज्ञान को ही मैं अपने ग्रंथ में निबद्ध कर रहा हूँ। संहिताओं में 'इति ह स्माह भगवानात्रेयः' 'यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः' यथोचु रात्रेयादयो महर्षयः' आदि वचन जो अध्यायों के प्रारम्भ में आते हैं उनका अभिप्राय यही है। इसे 'इतिहास' शब्द के संदर्भ में 'इतिहाह' कह सकते हैं। इतिहास जब कि परम्परागत अस्तित्व का द्योतक है, इतिहाह परम्परागत ज्ञान का बोधक है। परम्पराप्राप्त ज्ञान मौलिक प्रमाण माना जाता है जिसे 'आप्तोपदेश' की संज्ञा दी गई

है किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि यह ज्ञान स्थावर है तथा उसी रूप में प्रवाहित होता रहा है। जिस प्रकार गङ्गा प्रारम्भ में स्वल्प धारा के रूप में प्रकट होकर क्रमशः अन्य स्रोतों के मिलने से उपबृंहित हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान-गङ्गा का भी उपबृंहण होता रहता है। मौलिक ज्ञान (वेद) को इतिहास और पुराण से उपबृंहित करने का उपदेश है (इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्)। इस उपबृंहण की स्वाभाविक प्रक्रिया से भारतीय वाङ्मय विकसित होता रहा है। आयुर्वेद का परम्परा प्राप्त ज्ञान भी समय-समय पर उपबृंहित होकर विकसित होता रहा है जिससे इसके विशाल वाङ्मय का प्रादुर्भाव संभव हो सका।[1]

अष्टांगविभाग

यद्यपि वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद के सभी अङ्गों के विषय उपलब्ध होते हैं तथापि उनका स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि अष्टांग-विभाजन बाद में हुआ। आयुर्वेदिक संहिताओं में जो यह लिखा है कि मनुष्यों के अल्पायु तथा अल्पमेधस्त्व का विचार कर आयुर्वेद को आठ अङ्गों में विभक्त कर दिया इससे भी यही पता चलता है कि यह कार्य बाद में हुआ। पुराणों में यह निर्देश है कि द्वापर में अङ्गों का विभाजन हुआ और धन्वन्तरि आयुर्वेद के अष्टाङ्गों का विभाग करेंगे।[2] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल (इन्द्र) के बाद यह कार्य हुआ। संभवतः चरकसंहिता में इसका आरंभिक रूप आया जो बाद में और परिस्कृत होता गया।

भास्करश्च स्वशिष्येभ्य आयुर्वेदं स्वसंहिताम्।
प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्ततः॥

१. वासुदेवशरण अग्रवालः मत्स्यपुराणानुशीलन

२. आयुर्वेदविकल्पश्च अंगानि ज्योतिषस्य च।
अर्थशास्त्रविकल्पश्च हेतुशासनविकल्पनम्॥
स्मृतिशास्त्रप्रभेदाश्च प्रस्थानानि पृथक्-पृथक्।
द्वापरेष्वभिवर्तन्ते मतिभेदास्तथा नृणाम्॥ —वायु. ४०।२३
वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म—भागवत २।७।३६
आयुर्वेदश्च सकलस्त्वष्टांगो यो मया ततः—मार्कण्डेय. ५५।५३
काशिराजगोत्रेऽवतीर्य त्वमष्टधा सम्यगायुर्वेदं करिष्यसि—विष्णु. ४।८।७।११
वायुपुराण (५४।२२) में उल्लेख है कि भरद्वाज ने आयुर्वेद का अष्टांगविभाग कर शिष्यों को दिया:—
आयुर्वेदं भरद्वाजश्चकार सभिषक्क्रियम्।
तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्॥

वैदिककालीन आयुर्वेद

वैदिक वाङ्मय

संप्रति वैदिक वाङ्मय का पूर्णरूप उपलब्ध नहीं है। वैदिक वाङ्मय वटवृक्ष के समान विशाल है और समस्त ज्ञान-विज्ञान को अन्तर्भूत किये हैं। यह वाङ्मय सामान्यतः संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और वेदांग इन चार खण्डों में विभक्त है। संहिताओं की अनेक शाखायें हैं और प्रत्येक शाखा की अपनी विशिष्ट परम्परा है। इन शाखाओं के विशिष्ट ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् हैं। चरणव्यूह में इनका विस्तार से विवरण है। चिकित्साशास्त्र का उपजीव्य मुख्यतः अथर्ववेद है जिसकी ९ शाखायें हैं—पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य। इनमें अनेक पतंजलि के काल (दूसरी शती ई० पू०) तक उपलब्ध थीं ऐसा महाभाष्य के बचनों से प्रमाणित होता है।[1] संप्रति शौनकीय तथा पैप्पलाद शाखायें उपलब्ध हैं। अथर्ववेद के पांच कल्पसूत्र हैं:—कौशिक, वैतान, नक्षत्रकल्प, आंगिरसकल्प तथा शान्तिकल्प। इसका ब्राह्मण गोपथब्राह्मण तथा उपनिषद् प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य हैं। अथर्ववेद का महत्व इसी से प्रतिपादित है कि इसे ब्रह्मवेद की संज्ञा दी गई। यहां तक कहा गया है कि जो ब्रह्मवेद में उपनीत है वह सब वेदों में उपनीत है और जो इसमें उपनीत नहीं है वह सभी में अनुपनीत है। अन्य वेदों का अध्ययन कर जो अथर्ववेद का अध्ययन करना चाहे उसे पुनः उपनयन कराना होगा।[2] ब्रह्म शब्द यहां ज्ञानविज्ञानपरक हैं और वेद के सभी प्रयोजनों की सिद्धि इसके द्वारा होती है। व्यावहारिक उपादेयता के कारण यह समाज में भी प्रतिष्ठित हुआ और अथर्ववेद के ज्ञाता राजकाज में अपेक्षित होने लगे। गुरु पुरोहित और मन्त्री अथर्वविद् होने चाहिए ऐसा उल्लेख मिलता है।[3]

आयुर्वेद का विशेष सम्बन्ध अथर्ववेद से स्थापित किया जाता है। इसका कारण यह है कि इसमें रोगों की चिकित्सा का अन्य संहिताओं की अपेक्षा विस्तार से किया

---

१. उद्गान् मौदपैप्पलादम्—पा० म० २।४।३, ४।१।१, ४।२।६६

२. यो वै ब्रह्मवेदेषूपनीतः स सर्ववेदेषूपनीतः, यो वै ब्रह्मवेदेष्वनुपनीतः स सर्ववेदेष्वनुपनीतः॥ अन्य वेदे द्विजो यो ब्रह्मवेदमधीतुकामः स पुनरुपनेयः। देवाश्च ऋषयश्च ब्रह्माणमूचुः, को नो (स्तौ) ज्येष्ठः, क उपनेता, क आचार्यः, को ब्रह्मत्वं चेति। तान् ब्रह्माऽब्रवीत्—अथर्वा वा ज्येष्ठोऽथर्वोपनेताऽथर्वाऽचार्योऽथर्वा ब्रह्मत्वं चेति॥—चरणव्यूह

३. यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः। निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धेत निरुपद्रवम्॥ तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम्। दानसंमानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्॥ अ० प० ४।६।१, २

गया है और भेषज के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति का भी विधान है जो वस्तुतः ब्रह्मपद ही है। इससे भी अथर्ववेद का ब्रह्मवेदत्व सिद्ध होता है।[1]

अथर्ववेद, भृग्वङ्गिरस तथा अथर्वाङ्गिरस के रूप में प्रसिद्ध रहा है।

अथर्वाङ्गिरस की उत्पत्ति का आख्यान गोपथ-ब्राह्मण में अत्यन्त स्पष्ट रूप में मिलता है।[2] अश्विनौ के समान यह युग्म भी चिकित्सा की दो प्रचलित पद्धतियों का संकेत करता है। अथर्वन् मुख्यतः दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करते थे और आंगिरस अङ्गों के रस से सम्बन्ध रखने के कारण युक्तिव्यपाश्रय से सम्बद्ध थे। ऐसी भी मान्यता है कि अथर्व शान्तिक पौष्टिक आदि सौम्य कर्म करते थे जब कि आंगिरस घोर कर्मों में प्रवृत्त थे। व्यवहार में वस्तुतः वे क्रमशः सोम और अग्नितत्व का प्रतिनिधित्व करते थे।

वेदांग ६ हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। कल्पसूत्रों में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, पितृमेधसूत्र, तथा शुल्वसूत्र इस प्रकार विभक्त विस्तृत वाङ्मय उपलब्ध है। ऋग्वेद यजु, साम और अथर्व इन वेदों के धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्यवेद और आयुर्वेद उपवेद हैं।

आयुर्वेद

आयुर्वेद उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। कुछ लोग इसे ऋग्वेद का तथा अधिकांश अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में जिन विद्याओं का निर्देश है उनमें आयुर्वेद का नाम नहीं है। चरणव्यूह (३८) तथा प्रस्थानभेद (४) में आयुर्वेद शब्द प्रयुक्त हुआ है और वह ऋग्वेद का उपवेद माना गया है। चरक, सुश्रुत, काश्यप आदि आयुर्वेदीय संहितायें आयुर्वेद का संबन्ध अथर्ववेद से मानती है। समस्त ज्ञान का आदि स्रोत वेद है। आयुर्वेद वेद का ही अंग है अतः प्रत्यक्ष-मूलक शास्त्र होने के कारण इसके आधार पर वेद का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है।

वैदिक वाङ्मय का काल

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अभिलेख है। इसके काल के संबन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं, कुछ इसे बहुत आगे तथा कुछ बहुत पीछे ले जाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष के आधार पर इसके कालनिर्णय का प्रयास किया है। कृत्तिका नक्षत्र के आधार पर शतपथब्राह्मण

---

१. यद्भेषजं तद् अमृतं यद् अमृतं तद् ब्रह्म—गो० ब्रा० १।३।४
औषध के द्वारा ब्रह्मपद की प्राप्ति का ही चरम उत्कर्ष रसेश्वरदर्शन में हुआ।

२. एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः। येऽङ्गिरसः स रसः, येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्। यद् भेषजं तद् अमृतम्। यद् अमृतं तद् ब्रह्म।—गो० ब्रा० १।३।४

का काल ४००० वर्ष पूर्व (ई० पू० २०००) निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार मृगशिरा तथा पुनर्वसु के नक्षत्र के आधार पर ऋग्वेद का काल (ई० पू० ४००० या ६०००) रक्खा जाता है।

ऐसी मान्यता है कि भगवान् बुद्ध के आविर्भाव (६ ठी शती ई० पू०) तक वैदिक वाङ्मय अपना पूर्णरूप ले चुका था।[1]

अथर्ववेद के काल के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग इसे अन्तिम संहिता मानते हैं और कुछ लोग इसे प्राचीनतम मानते हैं क्योंकि ऋग्वेद में भी अथर्वा का अग्नि के आविष्कारक के रूप में निर्देश उपलब्ध है।[2] अथर्ववेद अथर्वाङ्गिरस के नाम से अतिप्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् के मधुविद्या-प्रकरण (२।५) में अश्विनीकुमार दध्यङ् आथर्वण से शिक्षा प्राप्त करते देखे जाते हैं। अश्विनीकुमारों के चिकित्सा तथा अन्य क्षेत्रों में चमत्कार के अनेक प्रसंग ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आथर्वण संप्रदाय उसके पूर्व से प्रतिष्ठित था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्वाङ्गिरस का ही पूर्णरूप अश्विनौ में प्रतिफलित हुआ और वे भिषग्विद्या के प्रतीक बने।

अथर्ववेद लोकपरम्परा में आदि काल से प्रचलित था जिसे आगे चल कर अपनी उपादेयता के कारण समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से अथर्व-वेदीय सामग्री ऋग्वेद के समकालीन ही है।[3]

मनीषियों की ऐसी धारणा है कि अथर्ववेद के अन्तिम दो (१९ वां और २० वां) काण्ड प्रक्षिप्त हैं जो बाद में जोड़े गये हैं।[4] जो भी हो, अथर्ववेद ने काल

---

१. Winternitz : History of Ancient Indian Literature, Vol, I,

२. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः —ऋ० ६।१६।१३

३. 'As for the Atharvaveda it seems to be a specialised collection of certain items and incidents in the folklore of the age of which the culture lore was collected in the three other Samhitas'. 'Normally speaking, we should hold that the material of the Athervaveda is as old as that of the Rgveda'.
—B. K. Sirkar : the Positive Background of Hindu Sociology, BK, I, Ch. V.

४. Whitney : Atharvaveda (Eng. Tr.), Introduction, page cxli.
Griffith : „ „ Preface, page viii.
अथर्ववेद प्रातिशाख्य में इन काण्डों का उल्लेख भी नहीं है।

क्रम से अपनी उपादेयता के कारण समाज तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

कश्यप इसे अथर्ववेद से उत्पन्न होने पर भी पञ्चम वेद के रूप में सभी वेदों का उपजीव्य मानते हैं[1] इसका रहस्य भी यही है।

कुछ विद्वान पुराणों के आधार पर अथर्ववेद का काल १५०० ई० पू० निर्धारित करते हैं। परीक्षित का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। विष्णुपुराण (४।२४।३२) के अनुसार परीक्षित के जन्म तथा मगधसम्राट् नन्द के बीच की अवधि १०१५ वर्षों की है। भागवतपुराण (१२।११।२६) के अनुसार यह १११५ वर्षों की और वायु, मत्स्य तथा ब्रह्माण्डपुराणों के अनुसार १०५० वर्षों की है। इस प्रकार परीक्षित का काल लगभग १५०० ई० पू० ठहरता है।[2]

वेदों में आयुर्वेद

वेदों में रुद्र, अग्नि, वरुण, इन्द्र, मरुत् आदि दैव्य भिषक् कहे गये हैं किन्तु सर्वाधिक प्रसिद्धि अश्विनीकुमारों को है जो 'देवानां भिषजौ' के रूप में स्वीकृत हैं। इनके चमत्कार जो ऋग्वेद में वर्णित हैं उनसे अनुमान किया जा सकता है कि उस काल में आयुर्विद्या की स्थिति अत्यन्त उन्नत थी। अश्विनीकुमार आरोग्य, दीर्घायु, शक्ति, प्रजा, वनस्पति तथा समृद्धि के प्रदाता कहे गये हैं। वे सभी प्रकार की ओषधियों के ज्ञाता थे। आथर्वण दधीची से उन्होंने मधुविद्या और प्रवर्ग्यविद्या की शिक्षा प्राप्त की जिससे वे मधुविद्याविशारद हुये। उदाहरणार्थ, उनके कुछ चमत्कारों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है जिससे तत्कालीन स्थिति का संकेत मिलता है:

कायचिकित्सा

१. जल में डूबे हुए रेभ को बाहर निकाल कर स्वस्थ बनाया।

२. वन्दन को कैद से छुड़ा कर पुनर्युवा बनाया।

---

१. कं च वेदं श्रयति ? अथर्ववेदमित्याह,···सर्वान् वेदानित्येके, पद्यगद्यकथ्यगेयविद्याश्रयादिति; न चैतदेवं, आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः। तद्यथा—दक्षिणे पाणौ चतसृणामंगुलीनामंगुष्ठ आधिपत्यं कुरुते, न च नाम ताभिः सह समतां गच्छति, एकस्मिंश्च पाणौ भवति, एवमेवायमृग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेद इति।

—वि० १।१०

२. Filliozat :—the Classical Doctrine of Indian Medicine, p. 83–84.

३. अन्तक को गढ़े से निकाल कर स्वस्थ बनाया ।
४. पज्रकुलोत्पन्न कक्षीवान् को पुनर्युवा बनाया ।
५. वृद्ध कलि को पुनर्युवा कर उसकी सुन्दरी पत्नी के उपयुक्त बनाया ।
६. वर्स ऋषि को मदात्यय से बचाया ।
७. राजा पथर्व को शक्तिशाली और विजयी बनाया ।
८. वृद्ध च्यवन को पुनर्युवा तथा दीर्घायु बनाया ।
९. वध्रिमती का वन्ध्यात्व दूर कर हिरण्यहस्त नामक पुत्र दिया ।
१०. जहनु की प्रजा को शक्तिमान् , दीर्घायु तथा सन्ततिवान् बनाया ।
११. दुर्बल तथा अशक्त राजा वश को एक ही दिन में युद्ध करने योग्य बनाया ।
१२. राजा कक्षीवान् की कन्या घोषा जो कुष्ठ से जर्जर थी उसे नीरोग कर सुन्दर रूप तथा पति दिया ।
१३. श्राव का कुष्ठ दूर कर उसे पुनर्युवा बनाया ।
१४. राजा मान को पुत्र दिया ।
१५. उचथ्य के पुत्र दीर्घतमा के दौर्बल्य एवं अन्धत्व को दूर कर दीर्घायुष्य प्रदान किया ।
१६. सहदेव—पुत्र सोमक को दीर्घायु बनाया ।
१७. भरद्वाज को बचाया ।
१८. वामदेव को माता के गर्भ से निकाला ।
१९. वृहस्पति के पुत्र शंयु की परिचर्या की ।
२०. सोम के राजयक्ष्मा को दूर किया !

इसके अतिरिक्त, वे गर्भ का पोषण करते हैं जिससे गर्भपात नहीं होने पाता । कष्टप्रसव में सहायता कर सुखपूर्वक प्रसव कराते हैं ।

शल्यकर्म

१. अत्रि के कठिन अग्निदग्ध की चिकित्सा कर उन्हें युवा बनाया ।
२. अन्ध कण्व को आँखें दी ।
३. परावृक् ऋषि अन्धे और लँगड़े थे । उनके रोगों का निवारण किया ।
४. राजा खेल की कन्या विशाला की टाँग टूट गई थी । उसे लोहे की टाँग देकर युद्ध के योग्य बनाया ।
५. शम्बर के साथ युद्ध में अतिथिग्व, कशोजुव तथा महादिवोदास की रक्षा की ।
६. वेन के पुत्र पृथि घोड़े पर से गिर गया था, उसे बचाया ।
७. युद्ध में शर्याति की रक्षा की ।
८. युद्ध में कृशानु को बचाया ।

९. दधीची के शिर को हटा कर वहाँ घोड़े का शिर प्रत्यारोपित किया और पुनः उसे हटा कर उनका शिर लगाया।

१०. ऋज्राश्व अन्धे हो गये थे, उन्हें अच्छी आँखें दीं।

११. नृशद् के पुत्र का बाधिर्य दूर किया।

१२. श्याव घायल हो गया था, उसे ठीक कर दीर्घायु बनाया।

१३. सोमरि की युद्ध में रक्षा की।

१४. शरीर के टूटे अंगों का संधान किया।

१५. ऋषि श्रोण के जानुसंधिगत दौर्बल्य का निवारण किया।

१६. कक्षीवान् के अन्धत्व एवं बाधिर्य को दूर किया।

१७. यज्ञ के कटे शिर को जोड़ा।

१८. पूषन् के टूटे दाँतों को ठीक किया।

१९. भग के विदीर्ण नेत्रों को ठीक किया।

२०. इन्द्र के स्तम्भ की चिकित्सा की।

अश्विनौ अंग-प्रत्यारोपण तथा संजीवनी विद्या में कुशल थे। इसके अतिरिक्त, वे पशुचिकित्सा में भी दक्ष थे। गौ के वन्ध्यात्व को दूर कर उसे सन्तान तथा प्रभूत स्तन्य दिया।

अश्विनौ के प्रतीक की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। आयुर्वेदीय दृष्टि से ये आदर्श भिषक् के प्रतीक हैं जिनका युग्म रूप शल्य एवं चिकित्सासंप्रदायों का अथवा विज्ञान के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का प्रतिनिधित्व करता है। अश्विनौ पक्षी के दो पंखों के समान कहे गये हैं; ज्ञान (सिद्धान्त) एवं कर्म (व्यवहार) भी आयुर्वेद के दो पक्ष कहे गये हैं। इनमें एक भी त्रुटित हो तो गति नहीं हो सकती। अतएव भिषक् को उभयज्ञ होने का उपदेश किया गया है।[1]

अश्विनौ के अतिरिक्त, इन्द्र के चिकित्सा-चमत्कार के प्रसंग ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होते हैं। यथा अपाला के चर्मरोग तथा उसके पिता के खालित्य रोग का निवारण, अंध परावृज को दृष्टिदान, आदि पंगु श्रोण को गतिदान।

राजयक्ष्म, ग्राहि, पृष्ठ्यामय, हृद्रोग आदि रोगों का भी उल्लेख है तथा इस प्रसंग में शरीरांग-प्रत्यंगों का निर्देश मिलता है। विभिन्न अंगों के रोगों का नाश करने का भी उल्लेख है। (१०।१६४) प्रसूतिसंबन्धी ज्ञान भी स्पष्ट था (१०।१६२।१-४)।

ओषधियों के संबन्ध में ऋग्वेद का ओषधिसूक्त (१०।४७।१-२३) महत्त्वपूर्ण है। इसमें ओषधियों के स्वरूप, स्थान, वर्गीकरण तथा उनके कर्मों एवं प्रयोगों का स्पष्ट उल्लेख है। यह भी उल्लेख है कि किस प्रकार ओषधियाँ लेने के बाद अंग-अंग,

---

१. उभयज्ञो हि भिषक् राजार्हो भवति— सु० सू० ३।४५

पर्व-पर्व में फैलकर अपना कर्म करती हैं। आभ्यन्तर प्रयोग के साथ साथ ओषधियों का मणिधारण (हाथ में बाँधना) भी किया जाता था। ओषधियों के प्रयोग में युक्तिव्यपाश्रय तथा दैवव्यपाश्रय दोनों तथ्य सन्निहित थे। भिषक् ओषधियों का ज्ञाता होता था जिनके द्वारा वह राक्षसों का नाश तथा रोगों का निवारण करता था, वह रक्षोहा तथा अमीवचातन दोनों था।[1] रोगों के समवायिकारण (दोष) तथा निमित्तकारण (क्रिमि) और दोषप्रत्यनीक तथा व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा का स्पष्ट संकेत है।[2] त्रिदोषवाद का भी संकेत 'त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती' (१।३४।६) तथा 'इन्द्र त्रिधातु शरणं' (४।७।२८) इन मंत्रों में है। पशुचिकित्सा, सूर्यचिकित्सा, जलचिकित्सा, अग्निचिकित्सा, तथा वायुचिकित्सा का भी उल्लेख ऋग्वेद में उपलब्ध है।

यजुर्वेद

शुक्ल यजुर्वेद में ओषधियों की प्रशस्ति मिलती है तथा उनके द्वारा बलास, अर्श, श्वयथु, श्लीपद, हृद्रोग, कुष्ठ आदि रोगों के निवारण का उल्लेख मिलता है। पशुओं तथा मनुष्यों के शरीरांगों का भी उल्लेख है।[3] तैत्तिरीय संहिता (२।१।१।१, २।४।१४।५) में दृष्टिप्राप्ति तथा यक्ष्मा और उन्माद के निवारण के लिए मंत्र आये हैं, राजयक्ष्मा तथा जायान्य रोगों का भी वर्णन मिलता है। त्रिदोषवाद का स्पष्ट संकेत मिलता हैं।[4]

अथर्ववेद

अथर्ववेद में आयुर्वेदसंबन्धी विषय विस्तार से मिलते हैं इसी कारण अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद से आयुर्वेद का संबन्ध जोड़ा जाता हैं। ऋग्वेद में जो तथ्य सूत्ररूप से संकेतित हैं उनका विशदीकरण अथर्ववेद में हुआ है। विषयक्रम से इन पर विचार करना उपयुक्त होगा।

मौलिक सिद्धान्त

आयुर्वेद का मौलिक सिद्धान्त त्रिदोष है जिस पर उसके सभी अंग आधारित हैं। इसके अतिरिक्त, शरीरक्रिया तथा द्रव्यगुण के संबन्ध में भी आयुर्वेद की मौलिक

---

१. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः।
(ऋ० १०।९७।६)
कुछ ओषधियाँ भी रक्षोहा और अमीवचातन दोनों थी यथा पूतद्रु (८।२।२८)

२. साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया॥ (ऋ० १०।९७।१३)

३. १२।७५–१०१; १९।८१–९३, २०।५–९, २५।१–९ इत्यादि

४. यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्'–१९।८५
चाषान् पित्तेन—२५।७

विधारधारा है। ये सव पुनः पञ्चभूतवाद पर अवलंवित हैं। वेद सभी ज्ञान का आदिस्रोत है अतः इन सिद्धान्तों का मूल भी वहीं प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद में इन सिद्धान्तों का अत्यन्त सूक्ष्म रूप से उल्लेख है। कालक्रम से आयुर्वेद के सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि का भी विकास हुआ जिसका निदर्शन अथर्ववेद में हुआ है।

त्रिदोषवाद

'य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे (१।२४।१) इस मंत्र में जीवनीय व्यापार (ओज) के संचालक तीन द्रव्यों का स्पष्ट उल्लेख है। सायणाचार्य ने 'त्रेधा' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'वातपित्तश्लेष्मलक्षणदोषत्रयकारिदेवतात्मना'।

'इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥ २०।८३।१

यह ऋग्वेद का मंत्र है। इस मन्त्र में भी त्रिधातु (वातपित्तकफ) का स्पष्ट उल्लेख है।

योअभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्। (१।१२।३)

मंत्र की भी व्याख्या त्रिदोषपरक की जाती है। 'अभ्र' शब्द से कफ तथा 'शुष्म' शब्द से पित्त का ग्रहण किया जाता है। इसमें वनस्पतियों के त्रिदोषनाशकत्व की चर्चा है।

नव प्राणान् नवभिः संमिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसा वेष्टितानि ॥

इस मंत्र में भी हरित (स्वर्ण), रजत तथा अयस के द्वारा क्रमशः पित्त, कफ और वात का संकेत हैं जिनके प्राकृत रहने से प्राणों का धारण होता है तथा पुरुष शतायु एवं दीर्घायु होता है। इससे पुनः इन दोषों के पृथक् तीन-तीन विभागों का संकेत मिलता है जो आगे चल कर पाँच-पाँच हो गये।

"त्रयःपोषास्त्रिवृतिं श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन"—५।२८।३

इस मंत्र में भी यही भाव ध्वनित होता है।

सुश्रुतसंहिता के एक प्रसिद्ध श्लोक (सू० २१।८) में सोम, सूर्य और वात के प्रतिनिधि शरीरस्थ कफ, पित्त और वात कहे गये हैं। ऐसा संकेत निम्नांकित मंत्रों में मिलता है :—

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे शं तपति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्रमेष्ठाः ॥ ८।१।५

यहाँ 'आपः' शब्द 'चन्द्रमा' के बदले जलीय कफ का बोधक है।

'यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातः' (१०।७।१२) में स्पष्टतः इन तीनों का एकत्र उल्लेख है।

पृथक् पृथक् दोषों का भी स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। वात के पाँचों

प्रकारों का नाम आया है।[1] पित्त का 'पित्त' तथा 'मायु' शब्द से निर्देश है।[2] 'बलास' शब्द जो परवर्ती ग्रन्थों में कफ का पर्याय है, वेदों में संभवतः कफ, आम और दौर्बल्यजनक आमज या कफप्रकोपजन्य विकार का बोधक है।

वातविकार के लिए 'वातीकृत' या 'वातीकार' शब्द प्रयुक्त हुये हैं। पिप्पली वातीकृतभेषजी (६।१०९।३) तथा विषाणका वातीकृतनाशनी (६।४४।३) कही गई है। इसी प्रकार बलासनाशनी ओषधियों का उल्लेख है (८।७।१०) व्रीहि और यव 'अबलास' कहे गये हैं—'शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः' (८।२।१८)। 'अश्लेष्माणो अधारयन्' (३।९।२) में 'श्लेष्मा' शब्द से कफ का ग्रहण किया गया है। सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'श्लेष्मोपलक्षितत्रिदोषदूषितशरीररहिताः।'

पाचन एवं धातुव्यापार

अग्नि की स्थिति जड़चेतन सभी पदार्थों में बतलायी गई है :—

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः॥ १२।१।१९

शरीरस्थ अग्नि को 'वैश्वानर' 'विश्वंभर' 'विश्वशंभू' आदि शब्दों से कहा गया है (७।८३।१-४ आदि) सायणाचार्य ने व्याख्या में इन्हें निम्नांकित रूप में स्पष्ट किया है :—'एष परमात्मा अग्निः ननु वैश्वानरात्मना पोषको भोक्ता खलु'

'विश्वान् जन्तून् अरः प्रतिगतः प्रविष्ट इति विश्वानरः तेन जन्यमानः अग्निः वैश्वानरः'

'विश्वं सर्वं प्राणिजातं बिभर्त्ति अनुप्रविश्य अशितपीतादिकिपचनेन पोषयतीति विश्वंभरो जाठराग्निः'

निम्नांकित मंत्रों में भी पाचन व्यापार का स्पष्ट उल्लेख है :—

'अग्निः पचन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान्' १२।३।२४

यदन्नमद्म्यमृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्॥[3] ६।७१।३

---

१. इस संबन्ध में २।१६।१; ६।४१।२; ११।८।२६ मंत्र देखें।

२. तस्य त्वं पित्तमासिथ—१।२४।१; अग्ने पित्तमपामसि—१८।३।५
त्रीन् घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः—९।१।८

३. और देखें श्रीमद्भगवद्गीता में :—
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १५।१४
'वैश्वानर उदरस्थः अग्निः भूत्वा' अयं अग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते' (बृह० उ० ५।९।१) इत्यादिश्रुतेः—शांकरभाष्य

पुरुष के अन्तिम धातु रेतस् या शुक्र तो स्पष्ट ही था जो सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक था—'पुंसि वै रेतो भवति, तत् स्त्रियामनुषिच्यते। तद् वै पुत्रस्य वेदनम्' (६।११।२)। सभी धातुओं का सारभाग ओज भी स्पष्टतः ज्ञात था जिसके कारण शरीर में बल होता है। जिस प्रकार पुष्पों का सार मधु है उसी प्रकार शरीरस्थ धातुओं का सार ओज है जो जीवन का धारक है :—

'ओजः प्रथमजं ह्येतत्' १।३५।२

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥[1]
यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम्॥ ६।१।१६-१७

अन्न में पाचन द्वारा उद्भूत रस तथा अन्तिम धातु शुक्र के बीच में अन्य धातुओं की श्रृंखला भी व्यवस्थित हुई। 'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः' (२०।६२।६) में 'सप्त सिन्धु' सप्त धातुओं का प्रतीक माना जा सकता है। सिरागत रक्त (१।१७।१) तथा रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि (४।१२।१-७; १०।९।१८; ११।८।११) का पृथक् भी स्पष्ट निर्देश है।

शरीर रचना

शरीर के अंगप्रत्यंगों का उल्लेख अनेक संदर्भों में किया गया है। रोगाधिष्ठान के रूप में अक्षि, नासिका, कर्ण, छुबुक, शीर्षन्, मस्तिष्क, जिह्वा, ग्रीवा, उष्णिहा, कीकसा, अनुक्य, अंस, बाहु, हृदय, क्लोम, हलीक्ष्ण, पार्श्व, मतस्ना, प्लीहा, यक्न, आन्त्र, गुदा, वनिष्ठु, उदर, कुक्षि, प्लाशि, नाभि, उरु, अष्ठीवत्, पार्ष्णि, प्रपद, भसद्, श्रोणि, अस्थि, मज्ज, स्नाव, धमनी, पाणि, अंगुलि, नख, लोम, पर्व, त्वचा प्रभृति का उल्लेख है (२।३३।१-७)। गुल्फ, जानु, जंघा, कफोड, पृष्टी, पेशनी, प्रतिष्ठा, उच्छ्लङ्ख, ककाटिका तथा स्रोतों का भी निर्देश है[2] (१०।२।१-८)। धमनियों और सिराओं का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है :—

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥
शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।
अस्थुरिन्मध्यमाः इमाः साकमन्ता अरंसत॥ १।१७।१-३
इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम्॥ ७।३६।२

---

१. तुलना करें :—'भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संभ्रियते मधु।
एवमोजः स्वकर्मभ्यो गुणैः संभ्रियते नृणाम्॥' च० सू० १७।७७

२. इसके अतिरिक्त, देखें १०।९।१५-२४; ११।८।११-१७

हृदय का वर्णन निम्नांकित रूप में मिलता है :—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत्तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ।। १०।८।४३

मूत्रनिर्माण से संबद्ध अंगों का वर्णन निम्नांकित मन्त्र से स्पष्ट है :—

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् बस्तावधि संश्रुतम् ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ।। १।३।६

रोग

अथर्ववेद में रोग दो प्रकार के कहे गये हैं शपथ्य और वरुण्य ।[१] इनमें एक आहारादिनिमित्त तथा दूसरा शापादिजन्य है। केशवपद्धति में भी व्याधियाँ दो प्रकार की बतलाई गई हैं—आहारनिमित्त तथा अन्यजन्मपापनिमित्त। निज तथा आगन्तु रोगों का भी क्रमशः रोग एवं आस्राव शब्द से अभिधान है। रोग दोष-प्रकोपजन्य विकार है तथा आस्राव (रक्तस्राव आदि) अभिघात आदि से व्यथापूर्व उत्पन्न होता है। 'रोग' और 'आस्राव' शब्दों का साथ साथ प्रयोग महत्वपूर्ण है।[२]

अधिष्ठानभेद से रोगों का उल्लेख ऊपर किया गया है। इसके अतिरिक्त, कास, हृद्द्योत, हरिमा, किलास, चेत्रिय, कुष्ठ, हृदयामय, बलास, पर्वभेद, गंडमाला, अपचित, विद्रधि, विसल्यक, जायान्य, दुर्नाम, मूत्राघात, वातीकार, वालजि, उन्माद, राजयक्ष्मा, उदरदार, ऊरुघात, अश्मरी, अर्बुद, छर्दि, मदमूर्च्छा, क्लैव्य आदि रोगों का उल्लेख है।[3]

तक्मन् (संभवतः विषमज्वर) का वर्णन विस्तार से किया गया है। यह बाह्लीक, गंधार, मुञ्जवान्, महावृषः, अंग तथा मगध प्रदेशों में अधिक होता था तथा वहाँ जाने वाले लोग इससे संक्रान्त होते थे। बलास इसका भाई तथा कासिका इसकी बहन कही गई है। बलास कफ, आम तथा तज्जन्य रोगविशेष का वाचक है। सन्तत, तृतीयक, अन्येद्युष्क, शीताभिप्राय-उष्णाभिप्राय; ग्रैष्मिक, वार्षिक, शारद आदि विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है। (५।२२।१–४)

क्रिमि

क्रिमियों का विस्तृत वर्णन अथर्ववेद में मिलता है। इनका वर्गीकरण दृष्ट-अदृष्ट; वर्णभेद से, आकृतिभेद तथा अधिष्ठानभेद से किया गया है। क्रिमिनाशन के प्रसंग में

१. मुञ्चन्तु मां शपथ्यादथो वरुण्यादुत—शौ० ६।९८।२

२. एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्—शौ० १।२।४
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्—शौ० २।३।४

३. इस प्रसंग में ९।८।१–२२; ११।३।३९–५०; ७।७६।४–५; ७।७४।१–४, ६,१२७।१; ६।१४।१–३; ५।४।१–१०; ११।२।३; १।२२।१–४; १।२३।२४ प्रभृति मन्त्र द्रष्टव्य हैं।

क्रिमिपरिवार (राजा, माता, भ्राता, स्वसा) तथा वेश-परिवेश का उल्लेख किया गया है। बीजरूप (Cyst) सूक्ष्म एवं दुर्लक्ष्य क्रिमियों को क्षुल्लक कहा गया है। क्रिमि के ककुद्, शीर्ष, श्रृङ्ग, कुषुम्भ आदि अंगों का भी निर्देश है। बालकों में क्रिमिरोग विशेष रूप से मिलता था। अतएव कुमार के क्रिमियों का विशिष्ट उल्लेख है :— 'कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि' (५।२३।२)। इस सम्बन्ध में २।३१।१-५; २।३२।१-६; ४।३७।१-१२; ५।२३।१-१३ मन्त्र अवलोकनीय हैं। सूर्य दृष्ट एवं अदृष्ट क्रिमियों का नाश करते हैं (५।२३।६)। इसके अतिरिक्त, अग्नि (१।२८।१) भी क्रिमिघ्न है। क्रिमियों की चिकित्सा की परंपरा अत्यन्त प्राचीन थी जिसका उल्लेख निम्नांकित मन्त्रों में हुआ है :—

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ ४।३७।१
अत्रिवद् क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ५।२३।१०

रक्षस्, पिशाच आदि शब्द अदृष्ट सूक्ष्म क्रिमियों के लिए प्रयुक्त हुये हैं। अग्नि रक्षोघ्न माना गया है। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि स्त्रियों के श्रोणि में शूल उत्पन्न करने वाले राक्षसों का नाश करे—'स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय' (८।६।१३)। स्पष्टतः यह सूतिकारोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं का निर्देश है।

क्रिमिघ्न औषधियों में अजश्रृंगी, गुग्गुलु, पीला, नलदी, औक्षगंधि, प्रमन्दनी अश्वत्थ, महावृक्ष, आदि प्रमुख कही गई हैं (४।३७।३-४)।

चिकित्साविधियाँ

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा यह भ्रम फैलाया गया है कि आयुर्वेद का प्रारंभिक रूप केवल जादू-टोने का था। यह सही है कि आधिदैविक दृष्टिकोण से विभिन्न देवताओं की प्रार्थना रोग-निवारण के लिए की गई है किन्तु मात्र यही प्राचीन चिकित्सा नहीं थी। दैवव्यपाश्रय के अतिरिक्त, ओषधियों के द्वारा युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा भी होती थी। औषधियों का आभ्यन्तर प्रयोग के अतिरिक्त बाह्य प्रयोग भी होता था। ओषधियों के मणि का धारण भी किया जाता था।

आहारादिनिमित्त में युक्तिव्यपाश्रय तथा शापादिनिमित्त में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा होती थी। केशव ने लिखा है कि आहारनिमित्त व्याधि की चिकित्सा आयुर्वेदीय विधियों से तथा अन्यजन्मपापनिमित्त रोगों में अथर्ववेदोक्त चिकित्सा की जाती है :—

'तत्र द्विविधा व्याधयः, आहारनिमित्ता अन्यजन्मपापनिमित्ताश्च। तत्राहार-

निमित्तेषु चरकबाहटसुश्रुतेषु······व्याध्युपशमनं भवति । अशुभनिमित्तेषु अथर्ववेदविहितेषु शान्तिकेषु व्याध्युपशमनं भवति—के. प.

देखें—अथर्ववेदभाष्य (होशियारपुर), भाग १, पृ० ३२

कौशिकसूत्र में अनेक उपचारों का वर्णन है यथा वातिक तक्म रोग में मांसमेदः पान, वातपित्तज में तैलपान, श्लैष्मिक में मधुपान; वातरोगों में घृत का नस्य, हृद्रोग और कामला में हरिद्रौदन भोजन, श्वेतकुष्ठ में कण्डे से रगड़कर भृङ्गराज, हरिद्रा, इन्द्रवारुणी और नीलिका के पुष्प पीसकर लेप, क्षतज रक्तस्राव में लाक्षोदक-सेक, राजयक्ष्म-कुष्ठ-शिरोरोग-सर्वांगवेदना में नवनीतमिश्रित कुष्ठ का लेप, शस्त्रा-घात में लाक्षाश्रृत दुग्धपान, गंडमाला में शंख घिसकर लेप, जलौका से रक्तस्राव, मूत्रपुरीषरोध में हरीतकी आदि भेदनीय द्रव्यों का प्रयोग, मूत्ररोध में शिश्न में लोहशलाकाप्रवेशन आदि ।

इसके अतिरिक्त, यान्त्रिक उपायों का अवलम्बन भी होता था यथा मूत्राघात में शलाका से मूत्र निकालते थे (१।३।१-९)। अनेक शल्यक्रियाओं का भी प्रयोग होता था यथा अपची में शलाका द्वारा वेधन (७।७८।१-२); प्रसवविकार में योनिभेदन (१।११।१-६) आदि । सूर्यकिरणों के द्वारा क्रिमिनिवारण (२।३२।१-६), हृद्रोग, कामलापाण्डु आदि रोगों का निवारण (१।२२।१–४); जलचिकित्सा (६।९२।३) तथा वायुचिकित्सा का भी वर्णन है । सत्त्वावजय का भी तत्कालीन चिकित्सा में प्रमुख स्थान था । धैर्य, सान्त्वना आदि के द्वारा रोगी के मनोबल को ऊँचा रखते थे जिससे रोग के निवारण में सुविधा होती थी । इस सम्बन्ध में निम्नांकित मन्त्र अवलोकनीय हैं—

मा बिभेर्नमरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ।। ५।३०।८
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेमं शतशारदाय ।। २०।६१।७
सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः—८।२।२४

अर्थात्—'डरो मत' तुम मरोगे नहीं, मैं तुम्हें नीरोग कर दूंगा ।

ईर्ष्या, क्रोध आदि मनोविकारों को शान्त करने का उपाय भी विहित है । इसमें मन्युशमन कहा गया है (६।४२।१–३; ६।४३।१–३); ईर्ष्याभेषज (७।४६।१; ६।१८।१–३; ७।४५।१–२) का भी वर्णन है ।

प्रसूति

स्त्री-प्रजननांगों में योनि, गवीनिका आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है । 'गवीनिके'

इस द्विवचनान्त शब्द से गर्भाशयसंबद्ध डिम्बनलिकाओं (Fallopian tubes) का बोध होता है। गर्भाधान से इनका सम्बन्ध बतलाया गया है :—

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्याः नार्याः गवीन्योः।
पुमांसं प्रथमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ ५।२५।१०

मूत्रवह नलिकाओं के लिए भी 'गवीनी' शब्द व्यवहृत हुआ है :—

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधि संश्रितम् (१।३।१)

सुखप्रसव के लिए अनेक मन्त्र आये हैं। (१।११।१–६)

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाऽवजरायु पद्यताम् ॥ १।११।५

इस मन्त्र में गर्भाशयभेदन के द्वारा प्रसव का संकेत मिलता है। गर्भाधान के सम्बन्ध में भी अनेक मन्त्र हैं (५।२५।१–१३; ६।८१।१–३)। गर्भदोषनिवारण के लिए ८।६।१–२६ मन्त्र द्रष्टव्य हैं। इनमें गर्भपात तथा गर्भ एवं गर्भिणी को आक्रान्त करने वाले अनेक जीवाणुओं के निराकरण की चर्चा है। गर्भदृहंण के लिए ६।१७।१–४ मन्त्र हैं।

विषविज्ञान

अथर्ववेद में विषों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्रिमियों और दोषों के अतिरिक्त विष भी रोगों के उत्पादक कारण है। अतः निर्विषीकरण के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। अन्न के निर्विषीकरण का निम्नांकित मन्त्र देखें :—

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ ८।२।१६

इसके अतिरिक्त ८।७।१०, ६।१००।१–३, ७।५६।१–८, ४।६।१–८, ४।७।१–७, विशेषतः सर्पविषनाशन के लिए ५।१३।१–११, ६।१२।१–३, ७।८८।१, १०।४।१–२६ मंत्र अवलोकनीय हैं। स्थावर एवं जांगम विषों का विस्तृत वर्णन मिलता है। निम्नांकित मंत्र से ज्ञात होता है कि विषविद्या अत्यन्त प्राचीन तथा परम्परागत थी :—

यद् ब्रह्मभिर्यद् ऋषिभिर्यद् देवैः विदितं पुरा।
यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ ६।१२।२

अपामार्ग, तौदी, घृताची, वरण आदि ओषधियाँ विषघ्न कही गई हैं।

शल्यशालाक्य

अपचीवेधन, (७।७४।१–२), गर्भाशयभेदन (१।११।५), विद्रधि (६।१२७।१), रक्तस्रावनिवृत्ति के लिए धमनीबन्धन (१।१७।१–३), व्रणचिकित्सा (२।३।१–६) आदि का वर्णन अथर्ववेद में मिलता है किन्तु अपेक्षाकृत इसका उल्लेख कम है।

सम्भव है, अथर्ववेदीय परम्परा चिकित्साप्रधान हो और शल्यप्रधान परम्परा के तत्कालीन ग्रन्थ अधुना उपलब्ध नहीं हैं।

यह भी सम्भव है कि ऋग्वेद काल में देवासुरसंग्राम के कारण शल्यतन्त्र की आवश्यकता अधिक होने से उसका रूप विकसित हुआ हो जो बाद में धीरे-धीरे शान्तिकाल में कम हो गया।

'वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि' (२९।३७।६) में इन्द्र के वृषणों के प्रत्यारोपण का प्रसंग ध्वनित होता है। इसी प्रकार निम्नांकित मन्त्र में संधानीय कर्म का संकेत मिलता है :—

यथा नकुलो विच्छिन्नो संदधात्यहिं पुनः।
एवा कायस्य विच्छिन्नं संधेहि वीर्यावति ॥ (६।१३६।५)

६।१६।१–४ में अक्षिरोगभेषज का वर्णन है। अन्धत्व के निवारण के लिए निम्नांकित मन्त्र है :—

यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ६।८।४

अञ्जन का विधान भी है जिससे नेत्र मधु के समान स्वच्छ हो जाते हैं :—

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम्।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ ७।३०।१
अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥ ७।३६।१

आञ्जनमणि (४।९।१) चक्षुष्य एवं नेत्ररोगघ्न कहा गया है।

भूतविद्या

अथर्ववेद भूतविद्या का आकरग्रन्थ है। इसमें विविध भूतों, पिशाचों और राक्षसों का वर्णन एवं उनके निराकरण के विविध उपाय मिलते हैं। आगे चल कर तन्त्रविद्या के विकास में यह पृष्ठभूमि बड़ी सहायक सिद्ध हुई। कृत्या एवं कृत्यानाशन उपायों का भी वर्णन है। अन्य उपायों के अतिरिक्त, ओषधियों का मणिधारण भी इसके लिए विहित है। दशवृक्ष, पृश्निपर्णी, अपामार्ग, जंगिड, शतवार, कुष्ठ तथा आञ्जनमणि का प्रयोग रक्षोघ्न कहा गया है। अग्नि और सूर्य रक्षोघ्न कहे गये हैं। राक्षस क्रव्याद, रक्तपायी तथा मनोहन तीन प्रकार के होते हैं। इनका उपसर्ग अन्न, क्षीर, मन्थ, जल, शय्यासन आदि के द्वारा होता है (५।२९।१–१५)। जनपदोद्ध्वंस का भी संकेत मिलता है जिसमें गाँव के गाँव साफ हो जाते हैं।[1]

1. यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥ ४।३६।८

रसायन

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति (१०।८।३२)

यह संसार विधाता का काव्य है जो अजर-अमर है। ऐसी स्थिति में यह इच्छा होना स्वाभाविक है कि क्या मनुष्य भी अजर-अमर हो सकता है? इसी प्रश्न के समाधान में आयुर्वेद के 'रसायन' अंग का विकास हुआ। मनुष्य अमर नहीं हो सकता क्योंकि वह मरणधर्मा है किन्तु उसे अजर, नीरोग एवं दीर्घायु बनाया जा सकता है। यही 'रसायन' का उद्देश्य है—रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधि-नाशनम्।

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३।३१।१

इसके अतिरिक्त, निम्नांकित मन्त्रों में रसायन का भाव स्फुट हुआ है :—

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वांग ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥ २०।९६।१०
अपलिता केशा अशोणा दन्ता वहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः। १९।६०।२

नीरोग एवं शक्तिशाली रहकर हम दीर्घायु हों यही भावना इससे व्यक्त होती है। जीवन्ती, सहमाना, दर्भ, शतवार आदि प्रमुख रसायन ओषधियाँ हैं। इनके सेवन से पुरुष जरदष्टि हो जाता है—'प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा' (५।३०।५)। इस सम्बन्ध में दीर्घायुष्य प्रकरण के मंत्र द्रष्टव्य हैं।

वाजीकरण

कामशक्ति को बढ़ाने तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए वाजीकरण का उपयोग चिरकाल से चला आ रहा है। वृषरोगशमन के मंत्र (५।१६।१—११) अवलोकनीय हैं। शेपहर्षणी ओषधि का प्रयोग वाजीकरण के लिए विहित है (४।४।१—८)। शिश्नवृद्धि का भी विचार किया गया है। निम्नांकित मंत्र देखें :—

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ४।४।८
यावदंगीनं पारस्वतं हास्तिनं गादर्भं च यत्।
यावदश्वस्य च वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ६।७२।३
येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६।१०१।२

इसके विपरीत क्लीबकरण का भी विधान है (६।१३८।१—५)। शुक्रवह नाड़ियों

का भेदन कर निर्वीर्य बनाने का भी उल्लेख है जो आधुनिक Vasectmy का आद्य रूप है :—

> से ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम् ।
> ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ६।१३८।४

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी आयुर्वेद की प्रचुर सामग्री मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण में ओषधियों के रोगनिवारकत्व (३।४०), अञ्जन से नेत्ररोगनिवारण (१।३), वरुणकोप से जलोदर रोग की उत्पत्ति (हरिश्चन्द्रोपाख्यान) आदि। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में भी अनेक संदर्भ मिलते हैं। गोपथब्राह्मण में यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख है कि ऋतुसंधियों में रोग होते हैं और ऋतुसंधियों में ही यज्ञ किये जाते हैं।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में मधुविद्याप्रसंग (५।१७), हृदयनाडीवर्णन (८।११६), आहार का रसमल-विवेचन (६।५), पामारोग (४।१।८), दीर्घायुष्य (३।१६), बृहदारण्यक उपनिषद् में शरीरांगों का वर्णन (२।४।११), हृदयवर्णन (२।१।१९, ४।२।३, ४।३।२०), नेत्ररचना (२।२।३) इत्यादि विषय उपलब्ध होते हैं। कल्पसूत्रों में भी प्रभूत सामग्री मिलती है।

ओषधि-विज्ञान

वैदिक काल में लोक का जीवन वनस्पतिमय था। वन्य प्रदेशों में तो वनस्पतियों वाहुल्य था ही, ग्रामीण क्षेत्रों में भी उनकी अधिकता थी। इस कारण मनुष्य अपनी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति उसी के माध्यम से करता था। दन्तधावन से लेकर आहार तक तथा शय्या से लेकर रथ तक सभी में वनस्पति का ही प्रयोग था। वस्त्र एवं आच्छादन भी इन्हीं से प्राप्त होते थे। स्नान, अनुलेपन, अंगराग, तैल आदि भी इन्हीं से बनते थे। स्त्रियाँ अपने शृङ्गार-प्रसाधन में इनका उपयोग करती थीं तो पुरुष अपना शर-साधन इससे करते थे। गृहनिर्माण में वनस्पतियों का प्रभूत उपयोग था तो गृह के नाना उपकरण, पात्र आदि इन्हीं से बनते थे। लेखनकार्य में भी पेड़ों की महीन छाल का कागज के रूप में तथा अनेक रंजक वनस्पतियों के रस का स्याही के रूप में प्रयोग होता था।

यज्ञों में वनस्पतियों का विशेष उपयोग था। यज्ञशाला के निर्माण से लेकर यज्ञ की परिधि, यूप तथा विविध पात्र तक में विभिन्न वनस्पतियों का व्यवहार था। सोम तो यज्ञों में एक प्रधान द्रव्य था ही जिसके कारण इसे

---

१. भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यते। ऋतुसंधिषु वै व्याधयो जायन्ते। ३।१।१९

ओषधिराज का विशेषण प्राप्त हुआ है। इसके अभाव में प्रतिनिधिभूत अन्य द्रव्यों का भी प्रचलन था।

इन प्राकृत प्रयोजनों के अतिरिक्त विकार के निवारण के लिए भी वनस्पतियों का प्रयोग होता था। यज्ञ के लिए निर्दिष्ट अजा, अश्व आदि पशुओं के रुग्ण होने पर उनकी चिकित्सा करनी पड़ती थी जिसमें इन द्रव्यों का उपयोग होता था क्योंकि रुग्ण पशु का याग में प्रयोग निषिद्ध था। मनुष्य स्वयं अपने रोगों के निराकरण के लिए इनका प्रयोग करता था। इस प्रकार वैदिककालीन मानव के योगदान में वनस्पतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय में ओषधि-वनस्पतियों की स्तुति में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद का ओषधि सूक्त तो प्रसिद्ध है ही, अथर्ववेद में भी ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ मन्त्रद्रष्टा महर्षि वनस्पतियों की स्तुति करते नहीं अघाते। वनस्पतियों का लोक-जीवन में महत्त्वपूर्ण होने के कारण अनेक स्थानों एवं जनपदों के नाम वनस्पति के आधार पर प्रचलित हुये यथा वरणावती, मुंजवान्, कारस्कर, शिग्रु आदि।

वैदिक मानव ने प्रकृति के साहचर्य से वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया। सभ्यता के विकास के साथ जैसे-जैसे उसकी आवश्यकतायें उभरने लगीं वैसे-वैसे वनस्पतियों के प्रयोग का क्षेत्र विस्तृत होता गया। इस कार्य में सर्वाधिक सहायता उसे पशुओं से मिली। पशु-पक्षी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन वनस्पतियों का उपयोग करते थे उनका प्रयोग मनुष्य ने अपने लिए भी करना प्रारम्भ किया। पशुओं की प्रयोगशाला में वह अनेक वनस्पतियों का अनुसन्धान कर उन्हें प्रकाश में लाने में सफल हुआ[१]। यद्यपि उस समय आज के समान तकनीकी यन्त्र-उपकरण नहीं थे तथापि सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति (दिव्य दृष्टि) के बल से उन्होंने सब कुछ सिद्ध किया। इस ज्ञान-साधना में पशु-पक्षियों के घनिष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण योगदान होने के कारण ही हम देखते हैं कि अनेक ओषधियों के नाम पशु-पक्षियों पर ही आधारित हैं।

ओषधियों का वर्गीकरण

वैदिक वाङ्मय में ओषधियों का वर्गीकरण विस्तृत रूप में मिलता है।

---

१. वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्या अवसे हुवे॥
याः सुपर्णा आंगिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः॥
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे।
यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः॥ शौ. ८।७।२३-२५

जिससे उनके स्वरूप तथा गुणकर्म पर पूरा प्रकाश पड़ता है।[1] प्राचीन महर्षियों ने वर्ण, पत्र, पुष्प, फल, कांड आदि अवयवों, अन्य रचनात्मक विशेषताओं, उद्भव-स्थानों तथा गुणकर्म का सूक्ष्म निरीक्षण कर उनके आधार पर वनस्पतियों को विभिन्न वर्गों में स्थापित किया है। सामान्यतः स्वरूप के अनुसार औद्भिद द्रव्य वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा ओषधि इन चार वर्गों में विभाजित किये गये हैं। चरकसंहिता में भी ऐसा ही वर्गीकरण उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में 'वानस्पत्य' शब्द नहीं मिलता, इसके स्थान पर वनिन् शब्द प्रयुक्त हुआ है। सायण ने इसका अर्थ

---

१. इस सम्बन्ध में देखें ऋग्वेद का ओषधिसूक्त (१०।९७।१-२३) तथा अथर्ववेद के सम्बद्ध स्थल (८।७।१-८, ११।६।१६-१७) विशेषतः निम्नांकित मन्त्र :—

या फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंचन्त्वंहसः॥ ऋ० १०।९७।१५
ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरी वीरुधः पारयिष्णवः॥ ऋ० १०।९७।३
या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि॥ शौ० ८।७।१
प्रस्तृणतीः स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरावदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयाम ते।
वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः॥ शौ० ८।७।४
पुष्पवती प्रसूमतीः फलिनीरफला उत।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये॥ शौ० ८।७।२६
या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे॥ शौ० ८।७।१७
आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवी मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥ शौ० ११।४।१६
न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत। शौ० १९।४४।६
अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः। व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः॥ शौ० ८।७।९
वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥ शौ० ८।८।१४
अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः॥ शौ० ११।६।१
वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः॥ शौ० ११।९।२४
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च।
वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानु व्यचलन्॥ शौ० १५।६।२

पलाश आदि वृक्ष किया है। अथर्ववेद में उपर्युक्त चारों विभाग स्पष्ट रूप से मिलते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में ओषधि, वनस्पति और वानस्पत्य शब्द मिलते हैं किन्तु ऋग्वेद का 'वनिन्' शब्द नहीं मिलता तथा वीरुध् भी नहीं है। 'वृक्ष' शब्द मिलता है। इसी प्रकार उपनिषदों में 'ओषधि' और 'वनस्पति' तो मिलते हैं किन्तु 'वानस्पत्य' और 'वीरुध्' नहीं हैं। 'वृक्ष' का प्रयोग हुआ है। सामान्य रूप से छोटे पौधों के लिए 'ओषधि' तथा बड़े वृक्षों के लिए 'वनस्पति' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ-काल से होता रहा है तथा इनका युग्म रूप 'ओषधि-वनस्पति' समस्त वानस्पतिक जगत् का बोधक रहा है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से वनस्पतियों के यही दो विभाग रहे होंगे जो आगे चलकर पुनः दो-दो में विभक्त होकर चार हो गये होंगे। ओषधि का ही गुल्म, लता आदि विशिष्ट संस्थान का बोध कराने के लिए वीरुध् एक वर्ग हो गया। उसी प्रकार वनस्पति का एक विभाग वानस्पत्य हो गया जो अपेक्षाकृत छोटे वृक्षों का बोधक है।

वनस्पतियों का नामकरण

वनस्पतियों के नाम अत्यन्त प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। निरुक्त में इन संज्ञाओं की निरुक्ति देकर उनका आधार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः आदिम मानव ने इन वनस्पतियों को जो नाम दे दिया वही प्रचलित हो गया होगा। सम्भव है, ऐसा करते समय उसके स्वरूप और कर्म का ध्यान रक्खा हो किन्तु अनेक संज्ञायें रूढ़ भी हुईं। जो यौगिक थीं वह भी कालान्तर में रूढिग्रस्त हो गईं। विद्वानों की मान्यता है कि वनस्पतियों के नामकरण पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव भी कम न था। प्राचीन सभ्यताओं ने स्वभावतः परवर्त्ती सभ्यताओं को प्रभावित किया। भारतीय वनस्पतियों के अनेक नाम असीरयन नामों से मिलते-जुलते हैं।[2] किसने किसको प्रभावित किया यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है किन्तु अतिप्राचीन काल में भारत से इन देशों का सम्पर्क था और भारतीय सभ्यता से ये सभ्यतायें प्रभावित थीं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि ओषधियों के नाम भी उनके व्यवहार के साथ-साथ वहां भारत से ही गये।[3]

---

१. तमोषधीश्च वनिनश्च—ऋ० ७।४।५
ओषधिवनस्पतयः—शौ० ४।१५।३ (सा०)
ओषधियों को लोम तथा वनस्पतियों को केश कहा गया है।—बृ० ३।२।१३
य ओषधीषु वो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ श्वे० २।१७
ओषधीषु शाल्यादिषु वनस्पतिष्वश्वत्थादिषु—शंकर

२. R. G. Harshe : Sivakosa, Introduction, page XLIX–LII

३. Nothing was known about synchronism of civilizations in

वैदिक काल में जो नाम मिलते हैं उनमें कुछ तो ज्यों के त्यों अब तक चले आ रहे हैं यथा उदुम्बर, अश्वत्थ आदि। कुछ नाम ऐसे हैं जो कालक्रम से परिवर्त्तित हो गये यथा गुल्गुलु-गुग्गुलु, कार्ष्मर्य-काश्मर्य आदि। तीसरी कोटि में ऐसे नाम हैं जो आगे चल कर लुप्त हो गये और उनके स्थान पर नये नाम प्रचलित हुये यथा जङ्गिड, खलकुल आदि।

अनेक शब्द जो आजकल वनस्पतियों के नाम में प्रयुक्त हो रहे हैं वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं किन्तु अन्य अर्थ में यथा द्रवन्ती, (ऋ० ५।४१।१८), ज्योतिष्मती (ऋ० १।४६।६), त्रिवृत् (ऋ० १।१४०।२), विश्वभेषज (ऋ० १०।६०।१२, १०।१३७।३), इसी प्रकार आथर्वण शान्तिकल्प में अमृता, ब्राह्मी, गायत्री, ऐन्द्री, अपराजिता, अभया महाशान्तियों का उल्लेख है जिनके आधार पर आगे चलकर संभवतः तत्तद् ओषधियों की संज्ञायें निर्धारित हुईं। 'अतस' शब्द ऋग्वेद में काष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त है जिससे अतसी शब्द बना। अरणी शब्द अग्नि-मन्थन के काष्ठ की संज्ञा थी जो बाद में एक ओषधि का नाम हुआ। करंज और अरलु ऋग्वेद में राक्षसों के नाम हैं जो बाद में वनस्पतियों के नाम हुये। इसी प्रकार 'कृतव्यधनी', 'कृतवेधन' हुआ और घृताची लाक्षा का पर्याय बना। 'जीवन्ती' को

---

sumer and India till recent times. The discoveries of Mohenjo-Daro and Harappa opened new vistas into the field of oriental research. we known now that India was well known in sumer. Between Mohenjo Daro and Sumer "a Close trade connection is proved by the fact that seals of exactly the same type as those found in India have also been found in Babylonia" Hall and Haddon have already advanced the opinion that the people of sumer probably came from India. In fact the migration of the sumerians from India seems to be implied by Genesis and confirmed by Berosus. A Babylonian chronicle mentions the name of Andubar as of an Indian who taught astronomy to the early inhabitants of mesopotamia. The Indian tradition about trade relations between India and sumer is recorded in the Baberu Jataka. We cannot doubt at present about the frequent interocourse existing between both countries from very ancient times. ReV. H. Heres, S. J., the kingdom of Magan, B. C. Law volume I, page 546-547.

अथर्ववेद में ओषधित्व प्राप्त हुआ। 'रास्ना' शब्द जो रशना (मेखला) के अर्थ में प्रयुक्त होता था बाद में ओषधिविशेष का वाचक बना। 'इट' ऋग्वेद (१०।१७१।१) में एक ऋषि का नाम है जो वनस्पतिविशेष का भी बोधक है। महावला अथर्वपरिशिष्ट (७१।१७।७) में देवताविशेष का बोधक है जो बाद में ओषधिविशेष में रूढ़ हुई। इसी प्रकार मुचकुन्द एक महामुनि थे (खि० २।१।७) जो कालान्तर में एक वृक्ष हुये।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पशुपक्षियों से ओषधियों के ज्ञान में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है अतः स्वाभाविक ही था कि उनके नामकरण में भी इनका योगदान हो। निम्नांकित उदाहरण इस सम्बन्ध में पर्याप्त होंगे—

१. वाराही	६. हंसपदी
२. नाकुली	७. मृगादनी
३. सर्पगन्धा	८. अजश्रृंगी
४. गन्धर्वहस्त	९. मेषश्रृंगी
५. काकमाची	१०. अश्ववार

वैदिक औषधियों के नामकरण का आधार भी वैज्ञानिक है :—जिसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं :—

१—स्वरूप—अणु, आण्डीक, तीक्ष्णश्रृंगी, नितत्नी, न्यग्रोध, पुनर्नवा, विषाणका।

२—अवयव—

पर्ण—उत्तानपर्णा, चित्रपर्णी, पर्ण, पृश्निपर्णी, बाणपर्णी, सहस्रपर्णी, स्रेकपर्ण, हिरण्यपर्ण।

फल—फलवती।

पुष्प—हिरण्यपुष्पी, विषपुष्प, शंखपुष्पी।

कन्द—कान्दाविष।

३—उद्भवस्थान—क्याम्बू, शीतिका, मण्डूकी, वर्षाह्वू।

४—गुण—

रूप—अर्जुन, असिक्नी, पीतदारु।

रस—अर्जुन, मधुक, मधुला, रसा।

गन्ध—अश्मगन्धा, औक्षगन्धि, पूतिरज्जु, सर्पसुगन्धा, सुगन्धितेजन।

५—कर्म—सामान्य-अपामार्ग, अमला, उदोजस, ऊर्जयन्ती, सहमाना, जीवला, त्रायमाणा, रोहिणी, विकंकत।

विशिष्ट—केशदंहणी, केशवर्धनी, क्लीबकरणी, मशकजंभनी, सुभंगकरणी, संवननी, शेषहर्षणी, सरूपंकरणी।

रोगमूलक—ईर्ष्याभेषज, किलासभेषज, क्षेत्रियनाशिनी, विषदूषणी, हरितभेषज, वलासभेषज।

६—प्रशस्तिमूलक—पूतद्रु, भद्र, अर्क।

वनस्पति के अवयव

वनस्पति के विभिन्न अवयव यथा काण्ड, शुंग, पर्व, पत्र, पुष्प, फल और मूल का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है। प्राचीन महर्षियों ने अपुष्पा तथा सपुष्पा और अफला तथा फलिनी औषधियों का विभाजन अत्यन्त सूक्ष्मता से किया था। पत्र की विशिष्ट रचना, आकृति आदि पर भी उनका ध्यान गया था। फल तथा मूल की प्रधानता के अनुसार क्रमशः फलिनी तथा मूलिनी ओषधियों का भी निर्धारण हुआ था। शृंगाकार फल को देखकर 'तीक्ष्णशृंगी' आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ। फल के लिए पिप्पल शब्द प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है और सपिप्पला ओषधियों की प्रशस्ति की गई है।

अथर्ववेद में (८।७।१२) सुन्दर शैली में सभी अवयवों का उल्लेख है। पयस्वतीरोषधयः से ओषधियों के क्षीर का संकेत होता है। शतपथब्राह्मण (१०।३।३।३) में अर्क के प्रसंग में विभिन्न अवयवों का निर्देश किया गया है यथा पर्ण, पुष्प, कोशी, समुद्र, धाना, अष्ठीला, मूल। मूल के सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा है कि ओषधियों के अग्रभाग यद्यपि शुष्क हो जाते हैं तथापि उनके मूल आर्द्र रहते हैं।

न केवल वाह्य रचना का अपि तु आभ्यन्तर रचना का भी वर्णन उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३।६।१-६) में पुरुष के अवयवों एवं धातुओं के समानान्तर वनस्पतियों तथा वृक्षों की रचना का वर्णन निम्नांकित मिलता है:—

पुरुष	वनस्पति
१. लोम	१. पर्ण (Leaves and hairs)
२. त्वक्	२. बहिरुत्पाटिका (Ectoderm)
३. रक्त	३. निर्यास (Latex)
४. मांस	४. शकर (Mesoderm)
५. स्नायु	५. किनाट (Endoderm)
६. अस्थि	६. आभ्यन्तरकाष्ठ (Heart Wood)
७. मज्जा	७. मज्जा (Pith)

तना काट देने पर मूल से पुनः प्ररोह निकलते हैं किन्तु मूल काट देने पर

वृक्ष का पुनरुद्भव नहीं होता। बीज से उत्पन्न होने वाले वृक्षों को 'धानारुह' कहा गया है। बाह्य त्वक् से वनस्पतियों की रक्षा होती है।[१]

वनस्पतियों का उद्भव एवं विकास

अथर्ववेद में कहा गया है कि वनस्पतियों का पिता अन्तरिक्ष तथा माता पृथ्वी हैं और इसके मूल समुद्र में रहते हैं।[२] इससे अन्तरिक्ष में फैलनेवाली (दिव्य ओषधियाँ), पृथ्वी पर होनेवाली तथा समुद्री वनस्पतियों का संकेत होता है। पृथ्वी पर होनेवाली वनस्पतियों के भी दो वर्ग हो गये—एक पर्वतीय प्रदेश में होनेवाली दूसरी समतल भूमि में होनेवाली[३]। अथर्ववेद में एक स्थल पर इन्हें क्रमशः पर्वतीय और बाह्य कहा गया है[४]। त्रिककुद् पर्वत पर अंजन की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसी प्रकार विष की उत्पत्ति भी पर्वत पर कही गई है[५]। वातबहुल (जांगल) प्रदेश में होनेवाली वनस्पतियों का भी उल्लेख है[६]। जल में होनेवाली वनस्पतियों का भी निर्देश है जो शैवाल से आवृत रहती है[७]। ऋग्वेद के ओषधिसूक्त में ठीक

---

१. मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव।
मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासाम् ॥ —शौ० ८।७।१२
यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्त्यार्द्राण्येव मूलानि भवन्ति—श० ११।३।१४
ओषध्यो मूलिन्यः —श० २।३।१।१०
द्वय्यो वा ओषधयः पुष्पेभ्योऽन्याः फलं गृहणन्ति, मूलेभ्योऽन्याः
—तै० ब्रा० ३।८।१७।४,

एतद्वै तासां समृद्धं रूपं यत् पुष्पवत्यः सुपिप्पलाः—श० ६।४।४।१७
तेजो ह वा एतद् वनस्पतीनां यद् बाह्या शकलः, तस्माद् यदा बाह्यशकल-मपतक्ष्णुवन्त्यथ शुष्यति। —श० ३।७।१।८

२. यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव—शौ० ८।७।२

३. या रोहन्त्यांगिरसीः पर्वतेषु च।
ता नः पयस्वतीः शिवाः ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥—शौ० ८।७।१७

४. देवाञ्जन त्रैककुद परि मा पाहि विश्वतः।
न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥—शौ० १९।४४।६

५. सर्वे ते वध्रयः कृताः वध्रिर्विषगिरिः कृतः।—शौ० ४।६।७
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम्।—शौ० ४।६।८

६. देखें विभीतक—ऋ० १०।३४।१

७. अवकोल्वा उदकात्मान ओषधयः। व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृंग्यः ॥
—शौ० ८।७।९

ही कहा है कि ओषधियों के सैकड़ों उद्भवस्थान है[1]। इनमें भूमि सर्वोत्तम मानी गई है।[2]

वनस्पतियों का विकास मुख्यतः जल और अग्नि इन दो तत्त्वों से होता है। अग्नीषोमीय सिद्धान्त के अनुसार जीवजगत् के संचालक ये ही दो प्रमुख तत्त्व हैं[3]। इन्हीं के आधार पर ओषधियां सौम्य और आग्नेय कही गई हैं। शीत और उष्ण वीर्य का निर्धारण भी आगे चलकर इसी आधार पर हुआ। जल पोषक तत्त्व का प्रतीक है जो अग्नि के द्वारा रूपान्तरित होकर वनस्पति-शरीर को विकसित करता है।

पयस्वतीरोषधयः (शौ० १८।३।५६) ओषधियों के सौम्य स्वरूप का संकेत करता है। शतपथब्राह्मण में अनेक स्थलों पर ओषधियों में जल की स्थिति का निर्देश हुआ है[4]। इसी प्रकार वनस्पतियों में अग्नि की स्थिति का भी उल्लेख है।[5]

वनस्पतियों के विकास का सुन्दर वर्णं उपनिषदों में मिलता है[6]।

वनस्पतियों में चेतना की उपस्थिति का भी निर्देश उपलब्ध होता है[7]।

---

१. शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।—ऋ० १०।९७।२

२. इमा या स्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समुजग्रभम्॥—शौ० ६।२१।१

३. शौ० ३।१३।५, राजानौ वा एतौ देवतानां यद् अग्निषोमौ।
—तै० २।६।२।१, २, शौ० ६।५४।२

४. आपो हि एतासां रसः—श० १।२।२।२, ३।६।१।७,
ओषधयो वा अपामोद्म यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो जायन्ते—७।५।२।४७, सौम्या ओषधयः—१२।१।१।२, अपां रसाः ओषधिभिः सचन्ताम्—शौ० ४।१५।२

५. य आ विवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्
—शौ० ३।२१।१,
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः॥—शौ० १२।१।१९, १९३।२
अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु—शौ० ५।२४।२

६. बृ० ३।२।१३, एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः, अपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः—छा० उ० १।१।२, तै० उ० २।१।१,

७. ऋ० १०।९७।२१, शौ० ११।६।१०
शिरीषोऽधः, स्वपिति, सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति—पा० म० ३।१।७

वनस्पतियों का उपयोग

शतपथब्राह्मण में जो यह कहा कि वनस्पतियाँ न होतीं तो यज्ञ कैसे होते वह नितान्त अर्थपूर्ण है। जैसा कि पहले कहा गया है, शाला के निर्माण से लेकर मनुष्य को आहार एवं औषध तथा विभिन्न उपकरणों एवं पात्रों[1] के लिए वनस्पतियों का ही सहारा लेना पड़ता था। यज्ञ में यूप, परिधि, दण्ड आदि तथा स्मय, स्रुक्, स्रुव आदि उपकरण वनस्पतियों से बनते थे तथा इनके लिए विशिष्ट वनस्पति निर्धारित थे। उदुम्बर की चार सामग्रियाँ होती थीं जिन्हें चतुरौदुम्बर कहते हैं[2] यथा स्रुव चमस, इध्म और उपमन्थनी। स्रुवा विकंकत की बनती थी। उपनयन में दण्ड वर्णानुसार विभिन्न वृक्षों के लिये जाते थे। यज्ञ में उपयोगी वृक्षों में बिल्व, खदिर, पलाश, रोहीतक, उदुम्बर, काश्मर्य, रज्जुदाल, सुगन्धितेजन आदि प्रमुख हैं। कृषि के उपकरण भी वनस्पतियों से ही बनते थे। हल का फाल खदिर से बनता था[3]।

औषधीय प्रयोग

आहार तथा अन्य लौकिक उपयोग के अतिरिक्त ओषधि-वनस्पति का औषधरूप में प्रयोग महत्त्वपूर्ण था। जबसे मनुष्य ने शरीर धारण किया, रोगों का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से इस विघ्न के निराकरण के लिए औषध का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। यह स्वाभाविक ही था कि वन्य प्रदेश में रहने वाले महर्षियों का ध्यान अपने वातावरण में वर्तमान वनस्पतिजगत् की ओर आकृष्ट होता जिससे पशुपक्षी भी रुग्णावस्था में लाभ उठाते थे।

पाश्चात्य मनीषियों की ऐसी धारणा है कि वैदिक काल में केवल अन्धविश्वास के आधार पर जादू-टोने के रूप में ही ओषधियों का व्यवहार था उनका कोई वैज्ञानिक प्रयोग नहीं था किन्तु यह तथ्य के विपरीत है। वेदों में आयुर्वेद के मौलिक तत्त्व निहित हैं और चिकित्सा का आधार भी सूत्ररूप में निर्दिष्ट है। विशेषतः अथर्ववेद के काल तक तो यह बहुत कुछ रूप धारण कर चुका था। त्रिदोष के स्वरूप भी निर्धारित हो रहे थे जिनके द्वारा शरीर के प्राकृत एवं वैकृत प्रक्रियाओं की व्याख्या की जा रही थी। वैश्वानर अग्नि, वायु तथा जल के मानवशरीरस्थ कार्य का भी अध्ययन हो रहा था। शरीरान्तर्गत अग्नियों के कार्य के अतिरिक्त अग्नि के

---

१. बौधायन धर्मसूत्र (१।८।३०-३४) में तीन प्रकार के पात्रों का उल्लेख है—दारव, वैणव और फलमय।

२. चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुवः औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्यौ उपमन्थन्यौ।—बृ० ६।३।१३

३. शौ० १०।६।८

रक्षोघ्न स्वरूप की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इतना होते हुये भी मनुष्य दैवी शक्तियों के प्रति भी विश्वास बनाये था। इस प्रकार रोगनिवारण के लिए वह दोनों प्रकार के उपाय काम में लाता था, ओषधियों के द्वारा दोषों का शमन करता था तथा साथ-साथ राक्षसों का भी विनाश करता था। तत्कालीन भिषक् रक्षोहा तथा अमीवचातन दोनों था। यही दोनों परम्परायें आगे चलकर क्रमशः दैवव्यपाश्रय एवं युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा कहलाईं।

अथर्ववेद में अनेक ओषधियों का प्रयोग रूपसाधर्म्य (Doctrine of Signature) के आधार पर हुआ है यथा हरिद्रा का कामला में, लाक्षा का रक्तस्राव में आदि किन्तु यह प्रयोग परम्परा से भी परिपुष्ट हुआ होगा इसमें कोई सन्देह नहीं। परम्परा में प्रयुक्त ओषधियों को ही शास्त्र में समय-समय पर निबद्ध किया गया है। मन्त्रों का तात्पर्य यह नहीं है कि केवल मन्त्र पढ़ने से ही रोगी अच्छे हो जाते थे प्रत्युत ओषधि-सेवन के साथ मन्त्र पढ़ने से उसकी शक्ति बढ़ जाती थी और रोगी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता था। उदाहरण के लिए कामला में हरिद्रोदन का (शौ० १।२२) तथा श्वित्र में नीली आदि का (शौ० १।२३) प्रयोग। इस संबंध में कौशिकसूत्र का भैषज्यप्रकरण अवलोकनीय है। जिन वृक्षों के मणि के धारण का विधान है वह भी प्रतीकमात्र है। उसका अर्थ यह है कि वह द्रव्य परम्परा में तत्तद् रोग के लिए औषधरूप में व्यवहृत था।

ओषधियों के खनने के समय तथा प्रयोग के समय मन्त्रोच्चार होता था।[1] अथर्ववेद में एक बड़ा ही रोचक प्रसंग है कि कैरातिका कुमारी ओषधि खनती है और युवा भिषक् आकर उसका विनियोग करता है।[2] ओषधि-खनन के बाद भूमि के क्षत के शीघ्र रोहण के लिए प्रार्थना की जाती है।[3]

ओषधियों की संख्या हजारों में थी और उसके जानकार भी बहुत थे। ज्ञानपूर्वक

---

१. इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥—शौ० ३।१८।१
और देखें—शौ० ६।१३७।१, ७।३८।१
२. कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु॥
आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः।
स वै स्वजस्य जम्भनः उभयोर्वृश्चिकस्य च॥—शौ० १०।४।१४–१५
३. यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥—शौ० १२।१।३५

ओषधियों का जो प्रयोग करता था वही योग्य भिषक् माना जाता था।[१] इसके बाद भी बहुत-सी ओषधियाँ अज्ञात रह जाती थीं।[२]

प्रयोगभेद से ओषधियाँ चार प्रकार की मानते थे—आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मनुष्यजा। शान्ति-पौष्टिक कर्मों में उपयुक्त ओषधियाँ आथर्वणी कहलाती थीं। उच्चाटन, मारण आदि घोर कृत्यों में प्रयुक्त ओषधियाँ आंगिरसी थीं। देवों के समान अजर-अमर बनाने वाले रसायन आदि औषध-प्रयोग दैवी तथा सामान्यतः रोग-निवारण के लिए प्रयुक्त मनुष्यजा कहलाती थी।[3]

कुछ भारतीय विद्वानों की भी धारणा है कि अथर्ववेद में जादू-टोना (Charm system) था और कौशिकसूत्र से औषधप्रयोग (Drug system) प्रारंभ हुआ।[४] यह यथार्थ नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अथर्ववेद-काल में युक्ति-व्यपाश्रय चिकित्सा प्रचलित थी।

द्रव्यगुण के मौलिक सिद्धान्त

'या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥' शौ० ६।९६।१

'शतविचक्षणाः' शब्द की व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है—'शतदर्शनाः

---

१. अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन्।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः॥
देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि॥
यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः॥—शौ० २।९।५
यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामधि॥—शौ० ८।७।२६
ओषधयः सं वदन्ते सोमेन राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि।—ऋ० १०।९७।२२

२. याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम्॥
सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि॥—शौ० ८।७।१८-१९

३. आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥—शौ० ११।४।१६

४. Karambelkar : The AtharvaVeda and the Ayurveda, pp 51-59.

रसवीर्यविपाकेन नानाविधज्ञानोपेता इत्यर्थः।' इससे ओषधिगत रसवीर्यविपाक आदि विशिष्ट गुणों का संकेत मिलता है। 'यो वः शिवतमो रसः' (शौ० १।५।२) तथा 'अपां रसः ओषधीभिः सचन्ताम्' (शौ० ४।१५।२) से रस आप्य है इसका निर्देश होता है। 'अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि' (शौ० १।३५।३) में स्पष्टतः ओषधिगत कार्यकारिणी शक्ति को वीर्य कहा गया है (वीर्याणि उपकारजननसामर्थ्यानि–सायण) 'शीतह्रदा हि वो भुवोऽग्निस्कृणोतु भेषजम्' (शौ० ६।१०६।३) में शीतवीर्य तथा उष्णवीर्य का संकेत है। 'नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः (शौ०१२।१।२) तथा 'वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत्' (शौ० ६।३२।२) में अनेकविध वीर्य का उल्लेख है। ओषधियों में अग्नि और रुद्र का निवास बतलाया गया है जो उनकी कार्यकारिणी शक्ति का मूल है।[1]

कर्म

निम्नांकित कर्मों में ओषधियों के प्रयोग मुख्यतः मिलते हैं :—

१. मूत्रजनन (शौ० १।३।१-९), कौ० सू० २५।१० (प्रमेहण)
२. गर्भप्रसावन (शौ० १।११।१-६)
३. गर्भाधान (शौ० ५।२५।१-१३, ६।८१।१-३, ६।१८।१-४, ३।२३।६
४. गर्भदोषनिवारण (शौ० ८।६।१-२६)
५. वाजीकरण (शौ० ४।४।१-८, ६।१०१।२, ६।७२।३, जै० ब्रा० १।१६१, १६९, ३।१५१, २९९।
६. विषघ्न (शौ० ४।६।१-८, ४।७।१-७, ६।१००।१-३, ७।५६।१-८, ८।७।१०
७. सर्पविषनिवारण (शौ० ५।१३।१-११, ७।८८।१, ६।१२।१-३, १०।४।१-२६
८. रक्षोघ्न—(शौ० ५।२९।१-५)
९. केशवर्धन (शौ० ६।२१।३) ६।१३७।१-३।
१०. केशदृंहण (शौ० ६।१३।१-३, ६।२१।३)
११. वशीकरण (शौ० १।१३९।१-५)
१२. मशकजम्भन (शौ० ७।५६।२)
१३. क्रिमिनाशन (शौ० ४।३७।१-१२, २।३२।१-६, ५।२३।१-१३)
१४. कासहर (शौ० ६।१०५।१-३)
१५. मेधाजनन (शौ० ६।१०८।१-५, कौ० सू० १०।१, ५७।३१)

---

१. ये अग्नयो अप्स्वन्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ शौ० ३।२१।१
यो अग्नौ रुद्रो योऽप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥ शौ० ७।८७।१

१६. क्लीबकरण (शौ० ६।१३८।१-५)
१७. सौभाग्यवर्धन (शौ० ६।१३९।१५)
१८. रसायन (शौ० ४।५।४, ३।११।१-८, १९।६०।१-२)
१९. निद्राजनन (शौ० ४।५।१-७)
२०. कृत्यादूषणी (शौ० ८।७।१०)
२१. बल्य (शौ० १९।४६।१-७)
२२. दीपन (शौ० ४।१२।१-३)
२३. रोहण, सन्धान (शौ० ४।१२।१-७)
२४. श्लेष्मश्लेषण—शा० आ० २।१, ६।१२)
२५. स्वस्वर्णकर—या० शि० ३६ ।

प्रयोग

मुख्यतः निम्नांकित रोगों में ओषधियों के प्रयोग मिलते हैं :—

१. पर्वशूल (शौ० १।१२।२)
२. शिरोरोग (शौ० १।१२।३)
३. कास (शौ० १।१२।३)
४. हृद्योत (शौ० १।२२।१)
५. हृदयामय (शौ० ५।३०।९)
६. हरिमा (शौ० १।२२।१)
७. किलास (शौ० १।२३।१-४, १।२४।२)
८. पलित (शौ० १।२३।१-२)
९. तक्मन्[1] (शौ० १।२५।१-४, ५।४।१-१०, ५।२२।१-१४, ७।१२३।१-२)
१०. क्षेत्रियरोग[2] (शौ० २।८।१५, ३।७।१-७, ४।१८।१-८)
११. कुष्ठ (शौ० ५।४।१-१०)
१२. अंगज्वर (शौ० ५।३०।९)
१३. अक्षिरोग (शौ० ६।१९।१-४)
१४. रक्तस्राव (शौ० १।१७।१-३)
१५. जलोदर (शौ० ९।८।११)

---

१. यह हरित रोग का जनक माना गया है—हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्धि तक्मन्—(शौ० १।२५।२)

२. क्षेत्रे परक्षेत्रे पुत्रपौत्रादिशरीरे चिकित्स्यः क्षयकुष्ठादिदोषदूषितपितृमात्रादिशरीरावयवेभ्यः आगतः क्षयकुष्ठापस्मारादिरोगः क्षेत्रिय इत्युच्यते क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (पा० ५।२।९२) इति शब्दो निपात्यते ।—सा०

१६. वातीकृत (शौ० ६।४४।३, ९।८।२०) (वातीकार)
१७. अपची (शौ० ६।८३।१-३, ७।७४।१-४, ७।७६।१-६)
१८. क्षिप्त (शौ० ६।८३।१-३, ७।७४।१-४, ७।७६।१-६)
१९. विद्रध (शौ० ६।१२७।१)
२०. बलास[१] (शौ० ६।१२७।१, ५।२२।१२, ६।१४।१-३, ६।१२७।१, ८।७।१०, १९।३४।९-१०)
२१. विसल्पक (शौ० ६।१२७।१)
२२. लोहितरोग (शौ० ६।१२७।१)
२३. कुनख[२] (शौ० ७।६५।३)
२४. क्रिमिरोग (शौ० २।३२।१-६, ४।३७।१-१२, ५।२३।१-१३)
२५. जायान्य[३] (शौ० ७।८०।३-४, ७.८१।१)
२६. राजयक्ष्मा (शौ० ३।११।१)
२७. अश्मरी (शौ० ११।७।४)
२८. उन्माद (शौ० ६।१११०।१-४)

इसके अतिरिक्त, विभिन्न अवयवों के अनेक विकार निर्दिष्ट हैं[४] जिनमें औषधियों का प्रयोग होता था।

भिषक् एवं भैषज्यकल्पना

कर्मकुशल एवं शुचि वैद्य ही अपने कर्म में सफल हो सकता है अतः ऐसे ही वैद्य को अथर्ववेद में 'भिषक्तम' (श्रेष्ठ चिकित्सक) कहा गया है।[५] वैद्य अपनी औषध स्वतः ही बनाता था।[६] औषधियों का क्रय-विक्रय होता था। संभवतः बाहरी देशों से भी औषधियों का आवागमन था। उत्तम भूमि से भेषजसंग्रहण का भी निर्देश है।[७]

---

१. बलं शरीरम् अस्यति क्षिपतीति बलासः कासश्वासादिः (सा०)
२. श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत् सहासिम।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ शौ० ७।६५।३
३. निरन्तरजायासंभोगेन जायमानः क्षयरोगः—सा०
४. ऋ० १०।१६३।१-६, शौ० २०।९६।१७-२३, ९।८।१-२२
५. यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः॥ शौ० २।९।५
६. त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता—शौ० ५।२९।१
७. इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम्॥ ६।२१।१

वेदोक्त ओषधियाँ

ऋग्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१. अक्ष
२. अतसी
३. अवध्नती
४. अरट्ठु
५. अश्वत्थ
६. अश्वावती
७. आञ्जन
८. आयती
९. आलक
१०. उत्तानपर्णा
११. उदोजस
१२. उर्वारुक
१३. उलप
१४. ऊर्जयन्ती
१५. काकम्बीर
१६. किंशुक
१७. कुशर
१८. क्याम्बू
१९. खदिर
२०. घृताची
२१. जलाषभेषज
२२. तेजन
२३. त्रायमाणा
२४. दर्भ
२५. दूर्वा
२६. नड
२७. परायती
२८. पर्ण
२९. पाकदूर्वा
३०. पाकवलि
३१. पाठा
३२. पिप्पल
३३. पिंषती
३४. पुष्कर
३५. वल्वज
३६. बिभीतक
३७. बिल्व
३८. भङ्गा
३९. मधुला
४०. मुञ्ज
४१. यव
४२. यवस
४३. रोपणका
४४. लाचा
४५. लिबुजा
४६. लोध
४७. वंश
४८. विश्वभेषजी
४९. वीरण
५०. वेणु
५१. वेतस
५२. शर
५३. शल्मलि
५४. शाकवलि
५५. शात्
५६. शिग्रु
५७. शिंशपा
५८. शिलाची
५९. शीतिका
६०. शीपाल
६१. सैर्य
६२. सोम
६३. सोमावती
६४. स्पन्दन
६५. स्वधिति
६६. हिरण्यपर्ण
६७. ह्लादिका

यजुर्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१. अपामार्ग
२. अर्क
३. अर्जुन
४. अलाबू
५. अवका
६. अश्वत्थ
७. अश्ववार
८. अश्वावती
९. आञ्जन
१०. आम्ब
११. इक्षु
१२. उदुम्बर
१३. उदोजस
१४. उपवाका
१५. करीर
१६. कर्कन्धु
१७. कार्ष्मर्य
१८. कुवल

१९. कुश	३९. न्यग्रोध	६०. यवस
२०. कृष्णल	४०. पर्ण	६१. यवाष
२१. क्रमुक	४१. पीतुदारु	६२. रोहितक
२२. खदिर	४२. पुष्कर	६३. वंश
२३. खर्जूर	४३. पूतद्रु	६४. वरण
२४. खल्व	४४. पूतीक	६५. वर्षाह्व
२५. गर्मुत्	४५. प्रियंगु	६६. वर्षाह्वा
२६. गवेधुका	४६. प्लक्ष	६७. विकंकत
२७, गुल्गुलु	४७. बदर	६८. वृष
२८. गोधूम	४८. बल्वज	६९. वेणु
२९. घृताची	४९. बिभीतक	७०. वेतस
३०. चणक	५०. बिल्व	७१. व्रीहि
३१. चतुष्कोण वनस्पति	५१. भूर्ज	७२. शमी
३२. जम्बीर	५२. मधुला	७३. शर
३२. जर्त्तिल	५३. मध्वष्ठीला	७४. शाल्मलि
३३. तिल	५४. मधुक	७५. श्यामाक
३४. तिल्वक	५५. ममूर	७६. सहमाना
३५. दर्भ	५६. माष	७७. सुगन्धितेजन
३६. दूर्वा	५७. मुञ्ज	७८. सोम
३७. नितत्नी	५८. मुद्ग	७९. सोमावती
३८. नीवार	५९. यव	८०. स्रेकपर्ण
		८१. हरिण्यपर्ण

अथर्ववेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१. अक्ष	११. अपाष्ठ	२१. अर्जुन
२. अघद्विष्टा	१२. अभिरोरुद	२२. अलसाला
३. अजश्रृंगी	१३. अभीवर्त्त	२३. अलाबू
४. अजिर	१४. अभ्रिखाता	२४. अवका
५. अतसी	१५. अमूला	२५. अवालिप्स
६. अतिविद्धभेषजी	१६. अरटु	२६. अश्मला
७. अदृष्टदहनी	१७. अराटकी	२७. अश्वत्थ
८. अपराजिता	१८. अरुन्धती	२८. अश्ववार
९. अपस्कम्भ	१९. अरुस्राण	२९. अश्वावती
१०. अपामार्ग	२०. अर्क	३०. असिक्नी

३१. अस्तृत
३२. आघाट
३३. आञ्जन
३४. आण्डीक०
३५. आलक
३६. आवयु
३७. आसुरी
३८. आस्रावभेषज
३९. इट
४०. इन्द्राणी
४१. इषीका
४२. ईर्ष्याभेषज
४३. उग्रौषधि
४४. उच्छुष्मा
४५. उत्तानपर्णा
४६. उत्सक्तभेषज
४७. उदुम्बर
४८. उदोजस
४९. उन्नयन्ती
५०. उर्वारुक
५१. उलप
५२. ऊर्जयन्ती
५३. ऋतजात
५४. ऋतावरी
५५. औक्षगन्धि
५६. कङ्कतदन्ती
५७. कनक्नक
५८. कपित्थक
५९. कम्बू
६०. कमल
६१. कम्बला
६२. कर्कटश
६३. कर्कन्धु
६४. कर्करी
६५. कर्शफ
६६. कल्मलि
६७. कान्दाविष
६८. किलासनाशन
६९. किलासभेषज
७०. कुमुद
७१. कुवल
७२. कुष्ठ
७३. कूदी
७४. कृतव्यधनी
७५. केशदृंहणी
७६. केशवर्धनी
७७. केशी
७८. कोशबिला
७९. क्याम्बू
८०. क्रकोष्मा
८१. क्लीबकरणी
८२. क्षिप्रभेषजी
८३. क्षुम्प
८४. क्षेत्रियनाशनी
८५. खदिर
८६. खल्व
८७. गुग्गुलु
८८. गोधूम
८९. चतुरंगुल
९०. चित्ति
९१. चीपुद्रु (शीपुद्रु)
९२. चेतदृती
९३. च्युकाकर्णी
९४ जंगिड
९५. जलाषभेषज
९६. जालप
९७. जीवन्त
९८. जीवन्ती
९९. जीवला
१००. तरुणक
१०१. तलाशा
१०२. तस्तुव
१०३. ताजद्भंग
१०४: ताबुव
१०५. तार्ष्टाघ
१०६. तिल
१०७. तीक्ष्णवल्श
१०८. तीक्ष्णशृंगी
१०९. तृष्टा (ष्टिका)
११. तृष्टाघ (म)
१११. तेजन
११२. तौदी
११३. तौविलिका
११४. त्रायमाणा
११५. त्रिवृत्
११६. दण्डन
११७. दर्भ
११८. दशवृक्ष
११९. दारुपत्रा
१२०. दिव्यौषधि
१२१. दुश्च्यवन
१२२. दूर्वा
१२३. देवमुनि
१२४. धव
१२५. नघारिष
१२६. नड
१२७. नद्य
१२८. नद्यमार
१२९. नघारिष
१३०. नराची

१३१. नरिष्टा
१३२. नलद
१३३. नलदी
१३४. नानारोगभेषज
१३५. नितनी
१४६. नीलागलसाला
१३७. नीविभार्य
१३८. न्यग्रोध
१३९. न्यस्तिका
१४०. परुषवार
६४१. परुषाह्व
१४२. पर्ण
१४३. पर्णधि
१४४. पर्णा
१४५. पला
१४६. पलाश
१४७. पाटा
१४८. पिङ्ग
१४९. पिप्पली
१४०. पीला
१५१. पीलु
१५२. पुण्डरीक
१५३. पुनर्नवा
१५४. पुरुषभेषज
१५५. पुष्कर
१५६. पुष्कला
१५७. पुष्पा
१५८. पूतद्रु
१५९. पूतिरज्जु
१६९. पृश्निपर्णी
१६१. पृषातक
१६२. पैद्व
१६३. प्रतिसर
१६४. प्रबन्धिनी
१६५. प्रमन्दनी
१६६. प्रेणी
१६७. प्लक्ष
१६८. बज
१६८. बभ्रु
१७०. बला
१७१. बलासनाशिनी
१७२. बलासभेषज
१७३. बल्वज
१७४. बाह्लिका
१७५. बिभीतक
१७६. बिम्बी
१७७. बिल्व
१७८. बिस
१७९. भङ्गा
१८०. भद्र
१८१. मण्डूकपर्णी
१८२. मदावती
१८३. मदुघ
१८४. मधुक
१८५. मधुजाता
१८६. मधुमती
१८७. मधुला
१८८- मधूलक
१८९. मशकजंभनी
१९०. महावृक्ष
१९१. माष
१९२. मिरिका
१९३. मुञ्ज
१९४. मुलाली
१९५. यक्ष्मनाशिनी
१९६. यव
१९७. रजनी
१९८. रथबन्धुर
१९९. रामा
२००. रोहिणी
२०१. रोहितक
२०२. रोपणाका
२०३. लाक्षा
२०४. लिबुजा
२०५. लोहितवृक्ष
२०६. वट
२०७. वधक
२०८. वंश
२०९. वरण
२१०. वातीकृतभेषजी
२११. वातीकृतनाशनी
२१२. वाल्दुच्छ
२१३. विकंकत
२१४. वितन्त्री
२१५. विबाध
२१६. विशफ
२१७. विश्लिष्टभेषज
२१८. विश्वभेषजी
२१९. विषदूषणी
२२०. विषा
२२१. विषाणका
२२२. विषातकी
२२३. विस्कन्धदूषणा
२२४. विहल्ह
२२५. विह्वल
२२६. वीरण
२२७. वीरोदीक
२२८. वृश्चिकजंभन
२२९. वृष्ण्यावती

२३०. वेणु
२३१. वेतस
२३२. वेदतृण
२३३. वेष्टन
२३४. व्यल्कशा
२३५. व्याघ्री
२३६. व्यालक
२३७. व्रीहि
२३८. शंखपुष्पी
२३९. शण
२४०. शतकाण्ड
२४१. शतपर्वा
२४२. शतवार
२४३. शतशाख
२४४. शफक
२४५. शमक (का)
२४६. शमी
२४७. शंशप
२४८. शर
२४९. शलाञ्जाला (सिलाञ्जाला)
२५०. शाण्डदूर्वा
२५१. शाल्क
२५२. शिखण्डी
२५३. शिंशपा
२५४. शिलाची
२५५. शीतिका
२५६. शीपाल
२५७. शेपहर्षणी
२५८. शेव(वा)ल
२५९. शोचि
२६०. श्यामा
२६१. श्यामाक
२६२. सचीन
२६३. सदंफला
२६४. समक्तभेषज
२६५. समुष्पला
२६६. संवननी
२६७. संस्कन्दा
२६८. सरूपंकरणी
२६९. सह
२७०. सहदेवी
२७१. सहमाना
२७२. सहस्रकाण्ड
२७३. सहस्रचक्षु
२७४. सहस्रपर्ण
१७५. सहस्रपर्णी
१७६. सहस्वती
२७७. सहसिनी
२७८. सहीयसी
२७९. सहस्य
२८०. साल
२८१. सुभंगकरणी
२८२. सोम
२८२. सोमावती
२८४. स्रक्त्य
२८५. स्वधा
२८६. हरितभेषज
२८७. हारिद्रव
२८८. हिरण्यपुष्पी
२८९. ह्लादिका

ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१. अक्ष
२. अतसी
३. अध्याण्डा
४. अपामार्ग
५. अर्क
६. अर्जुन
७. अवका
८. अश्मगन्धा
९. अश्वत्थ
१०. अश्ववार
११. असिक्नी
१२. आञ्जन
१३. आदार
१४. आम्ब
१५. आम्र
१६. इल्य
१७. इषीका
१८. उदुम्बर
१९. उपवाका
२०. उर्वारुक
२१. उशाना
२२. ऊतीक
२३. ऊर्जावान्
२४. एरण्ड
२५. करवीर
२६. करीर
२७. कर्कन्धु
२८. कवल
२९. काचकपुष्पी
३०. कार्ष्मर्य

३१. काश
३२. कुश
३३. कृष्णल
३४. क्याम्बू
३५. क्रमुक
३६. खदिर
३७. गवेधुका
३८. गोधूम
३९. घृताची
४०. चन्दन
४१. जर्त्तिल
४२. तिल
४३. तिलक
४४. दर्भ
४५. दूर्वा
४६. नलद
४७. नाकुली
४८. नाम्ब
४९. निचुदार
५०. नीवार
५१. न्यग्रोध
५२. पक्ष
५३. पर्ण
५४. पर्वतभेषज
५५. पलाश
५६. पाकदूर्वा
५७. पीतुदारु
५८. पुण्डरीक
५९. पुष्कर
६०. पूतद्रु
६१. पूतीक
६२. पृश्निपर्णी
६३. प्रतोद
६४. प्रप्रोथ
६५. प्रियंगु
६६. प्लक्ष
६७. फलवती
६८. फाल्गुन
६९. बदर
७०. बभ्रुतूल
७१. बल्वज
७२. बिभीतक
७३. बिल्व
७४. बृहती
७५. ब्राह्मी
७६. भङ्गा
७७. भस्त्रास
७८. भूमिपाशक
७९. मञ्जिष्ठा
८०. मण्डूकपर्णी
८१. मधुक
८२. मधुला
८३. मसूय
८४. महावृक्ष
८५. माष
८६. मुञ्ज
८७. यव
८८. यवस
८९. रजनी
९०. रज्जुदाल
९१. रास्ना
९२. रोपणका
९३. लिबुजा
९४. लोहिततूल
९५. वचा
९६. वंश
९७. वरण
९८. विकंकत
९९. विषा
१००. विष्णुक्रान्ता
१०१. वीरण
१०२. वृष
१०३. वेणु
१०४. वेतस
१०५. व्रीहि
१०६. शण
१०७. शतमूला
१०८. शतांकुरा
१०९. शमी
११०. शर
१११. शल्मलि
११२. शात्
११३. शिरीष
११४. शीपाल
११५. शुक्लशात्
११६. श्यामाक
११७. श्येनहृत
११८. सचा
११९. सर्पसुगन्धा
१२०. सर्षप
१२१. सहदेवा
१२२. सहस्रवल्श
१२३. सुगन्धितेजन
१२४. सोम
१२५. स्थगर
१२६. स्रेकपर्ण
१२७. हरिद्रा
१२८. हरिद्रु
१२९. हिरण्यपर्ण

उपनिषदों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१. अक्ष	११. आम्र	२१. पलाश
२. अगरु	१२. उदुम्बर	२२. पिप्पल
३. अणु	१३. कल्माष	२३. पुण्डरीक
४. अतसी	१४. कोल	२४. मयूर
५. अमला	१५. खलकुल	२५. महारजन
६. अर्क	१६. खल्व	२६. मुञ्ज
७. अर्जुन	१७. गन्धवृक्ष	२७. यव
८. अश्वत्थ	१८. गोधूम	२८. वरण
९. असिक्नी	१९. तिल	२९. व्रीहि
१०. आमलक	२०. न्यग्रोध	३०. श्यामाक
		३१. सर्षप

उपर्युक्त सूचियों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में ओषधियों की संख्या अल्प थी जो शनैः शनैः अथर्ववेद में अधिक हो गई। अथर्ववेदीय ओषधि-विज्ञान पर्याप्त उन्नत था जो दीर्घकालीन अनुभव एवं प्रयोग का परिणाम था।[1] ओषधि-विज्ञान के अतिरिक्त, आयुर्वेद के अन्य अंगों का विशेषतः विकृति-विज्ञान तथा चिकित्सा का पर्याप्त विकास उस काल तक हो चुका था। यही कारण है कि परवर्त्ती आयुर्वेदीय संहिताओं ने अथर्ववेद में ही अपनी भक्ति प्रदर्शित की है[2]।

सिन्धुघाटी सभ्यता

सिन्धुघाटी सभ्यता के अवशेष मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में मिली हैं। इसका काल लगभग २५०० ई० पू० माना जाता है। यह ऋग्वेद के पहले की है या बाद की इस सम्बन्ध में मतभेद है।

भग्नावशेष के अवलोकन एवं अध्ययन से पता चलता है कि वहाँ वैयक्तिक एवं सामाजिक स्वस्थवृत्त की कामना अत्यन्त विकसित थी। पानी के निकास के लिए पक्की नालियाँ, साफ-सुथरी चौड़ी सड़कें, हवादार मकान इसके प्रमाण हैं। प्रत्येक निवास गृह में कुँआ, नालियाँ तथा स्नानागार बने हुये थे जिनसे पानी के

---

१. It is clear beyond all doubt, that the science of Medicine as revealed is the Atharvavedic texts, is far from being in a state of infancy. It represents a good deal of experiments and observations, and seems to be based on a wide generalisation.

—Majumdar : Vanaspati, p. 160

२. चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या; वेदो ह्याथर्वणो··· चिकित्सां प्राह। —च० सू० ३०।१९

निकास के लिए नालियाँ बाहर सड़क की मुख्य नालियों से संबद्ध थी। नगर के मध्य में एक प्रशस्त सार्वजनिक स्नानागार था जिसमें तैरने के लिए ३९ फीट लंबा, २३ फीट चौड़ा और ९ फीट गहरा जलाशय था। जगह-जगह कूड़ा डालने की व्यवस्था थी तथा गन्दे पानी एवं मलमूत्र के लिए शोषक कूप बने थे। शल्यकर्म के लिए यंत्र-शस्त्रों तथा औषधियों के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती।

सारांश

आयुर्वेद अनादि है। ब्रह्मा के मुख से निर्गत आयुर्वेद सृष्टि के साथ-साथ चलता आ उसकी रक्षा कर रहा है। भारतीय वाङ्मय के प्रचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में आयुर्वेदीय तथ्यों की उपलब्धि इसका प्रमाण है। अथर्ववेद के काल तक उसके सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पक्ष का पर्याप्त विकास हो चुका था जिसके आधार पर परवर्त्ती संहिताओं की रचना हुई। आयुर्वेदावतरण के आख्यान में ब्रह्मा से इन्द्र तक का काल वस्तुतः वैदिक काल ही है। उसके बाद संहिताओं का काल प्रारंभ होता है। आयुर्वेद का अष्टांगविभाग भी इन्द्र के बाद ही हुआ।

द्वितीय अध्याय

संहिताग्रन्थ

प्रथम अध्याय में बतलाया गया है कि आत्रेय-संप्रदाय में अग्निवेश आदि ने तथा धान्वन्तर संप्रदाय में सुश्रुत आदि ने अपनी-अपनी संहितायें बनाई। यहीं से वस्तुतः संहिताग्रन्थों की रचना प्रारंभ होती है। इसके पूर्व ब्रह्मसंहिता,[1] धान्वन्तर संहिता[2] तथा भास्करसंहिता[3] के अस्तित्व का भी उल्लेख मिलता है किन्तु ये संहितायें संभवतः ग्रन्थरूप में निबद्ध नहीं थीं, मौखिक रूप से विषय का जो क्रमबद्ध विवेचन परवर्ती सन्तति को हस्तान्तरित हुआ उसे ही 'संहिता' संज्ञा दी गई। विषय के समस्त अंग जिसमें समाहित हो उसे 'संहिता' कहते हैं। ऐसी एक संहिता के ही पढ़ने से समस्त विषय का बोध हो जाता है, इसके लिए फिर किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। यद्यपि सम्प्रदाय-विशेष की संहिताओं में विशिष्ट अंग का प्राधान्य होता है यथा आत्रेय-संप्रदाय की संहिताओं में कायचिकित्सा और धान्वन्तर संप्रदाय की संहिताओं में शल्यतंत्र की प्रधानता देखी जाती है।

प्रारंभिक काल में आयुर्वेद की अनेक संहिताओं की रचना विभिन्न महर्षियों द्वारा हुई जिनके अस्तित्व का ज्ञान परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरणों द्वारा

---

१. श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रञ्च कृतवान् स्वयंभूः—सु. सू. १।३

विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्। स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥—भाव०

२. 'धन्वन्तरिस्तु त्रीण्याह'—अ. हृ. शा. ३।१६ 'धन्वन्तरिसंज्ञस्तन्त्रकृद्स्थ्नां शतानि त्रीण्येवाह—अरुणदत्त

तथा चोक्तं धान्वन्तरे—'शालिपिष्टमयं सर्वं गुरुभावाद् विदह्यते'—अरुणदत्त

३. कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः।
स्वतन्त्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकार सः॥
भास्करश्च स्वशिष्येभ्यः आयुर्वेदं स्वसंहिताम्।
प्रददौ पाठयामास ते चक्रः संहितास्ततः॥ ब्रह्मवैवर्त्त १६ अ.

होता है। उस समय ये संहितायें 'तन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध थीं। 'तन्त्र' शब्द विस्तारशीलता एवं रक्षा का बोधक है। जिसमें विषयों का वर्णन संक्षिप्त हो किन्तु भविष्य में उनके विस्तार की संभावना हो तथा जिसमें समस्त विषय अपने रूप में सुरक्षित रहे वह 'तन्त्र' है। संहिता की अपेक्षा तन्त्र का रूप संक्षिप्त होता है। अग्निवेश की रचना मूलतः अग्निवेशतंत्र थी जो चरक द्वारा उपबृंहित एवं प्रतिसंस्कृत होकर चरकसंहिता के रूप में प्रसिद्ध हुई।

संहिता-ग्रन्थों की रचना वर्त्तमान काल तक चली आई है यद्यपि उनके समानान्तर विशिष्ट विषयों पर भी ग्रन्थ निबद्ध होते आये। समास एवं व्यास की शैली पर ग्रंथों का निर्माण प्राचीन काल से होता आ रहा है। वेदों में समाहित सूत्ररूप ज्ञान को वेदव्यास ने विस्तृत रूप किया। ज्योतिष आदि शास्त्रों में भी 'बृहत्संहिता' आदि संहिताओं की रचना हुई। इन संहिताओं का कालक्रम से विवेचन करेंगे।

प्राचीन काल

प्राचीन संहिताओं में चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेलसंहिता तथा काश्यपसंहिता संप्रति उपलब्ध हैं। प्रथम दो संहितायें पूर्णरूप में तथा अन्य दो संहितायें खण्डित रूप में मिलती हैं। हारीतसंहिता का भी एक ग्रन्थ प्रकाशित है जिसकी मौलिकता सन्दिग्ध है। इनके अतिरिक्त, वाग्भट की रचनायें अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय भी संहिताओं में मानी जाती हैं। इन उपलब्ध संहिताओं पर सर्वप्रथम विचार किया जायगा।

सुश्रुतसंहिता

सुश्रुतसंहिता के उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं जिन्होंने सुश्रुतप्रभृति शिष्यों को शल्यज्ञानमूलक उपदेश दिया। सुश्रुतसंहिता में 'धन्वन्तरि' के साथ 'काशिराज दिवोदास' शब्द प्रयुक्त होने से यह सन्देह किया जाता है कि धन्वन्तरि उपदेष्टा हैं या दिवोदास। कुछ विद्वान धन्वन्तरि को उपदेष्टा मानते हैं और कुछ काशिराज दिवोदास को। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम धन्वन्तरि के सम्बन्ध में विचार करना समीचीन होगा।

धन्वन्तरि

वेद के संहिता तथा ब्राह्मण भाग में धन्वन्तरि का उल्लेख नहीं है। महाभारत तथा पुराणों में इनका वर्णन मिलता है। धन्वन्तरि भगवान् विष्णु के अंश माने जाते हैं जो समुद्रमन्थन से निर्गत कलश से अण्ड के रूप में प्रादुर्भूत हुये। समुद्र से निकलने पर विष्णु से उन्होंने कहा कि लोक में मेरा स्थान एवं भाग निर्धारित कर दें। इस पर भगवान विष्णु ने उत्तर दिया कि देवताओं में यज्ञ का

विभाग तो पहले ही हो चुका अतः अब संभव नहीं है. देवों के अनन्तर होने से तुम ईश्वर (देव) नहीं हो। हाँ, दूसरे जन्म में तुम्हें सिद्धियाँ प्राप्त होंगी और तुम लोक में प्रख्यात होगे। उसी शरीर से तुम देवत्व भी प्राप्त कर लोगे और द्विजातिगण तुम्हारी सब प्रकार से पूजा करेंगे। तुम आयुर्वेद का अष्टांगविभाग भी करोगे। द्वितीय द्वापर में तुम पुनः जन्म लोगे इसमें सन्देह नहीं। इस वर के अनुसार पुत्रकाम काशिराज धन्व की तपस्या से सन्तुष्ट होकर अब्जि भगवान् ने उसके पुत्र के रूप में जन्म लिया और 'धन्वन्तरि' नाम धारण किया। वह सभी रोगों के निवारण में कुशल थे। भरद्वाज से आयुर्वेद का ग्रहण कर उसे अष्टांग में विभक्त कर अपने शिष्यों को दिया। धन्वन्तरि के पुत्र केतुमान्, उनके पुत्र भीमरथ तथा भीमरथ के पुत्र दिवोदास हुये जिन्होंने वाराणसी का आधिपत्य ग्रहण किया। यह वंशपरम्परा इस प्रकार है :—

काश
|
दीर्घतपा
|
धन्व
|
धन्वन्तरि
|
केतुमान्
|
भीमरथ (भीमसेन)
|
दिवोदास
|
प्रतर्दन
|
वत्स
|
अलर्क

यह आख्यान हरिवंशपुराण (पर्व १ अ० २९) में वर्णित है। वायुपुराण (उत्तरकाण्ड अ. ३०) तथा ब्रह्माण्डपुराण (३ उपोद्घातपाद अ. ६७) में भी यही मिलता है। विष्णुपुराण (अंश ४, अ. ८) में वंशपरम्परा थोड़ी भिन्न है। इसके अनुसार धन्वन्तरि दीर्घतपा के पुत्र कहे गये हैं। यह परम्परा इस प्रकार है :—

काश
|
काशेय
|
राष्ट्र
|
दीर्घतपा
|
धन्वन्तरि
|
केतुमान्
|
भीमरथ
|
दिवोदास

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ९, अ. १७) में भी ऐसी ही वंशपरम्परा मिलती है।

कुछ स्थलों में[1] समुद्र-मन्थन से आविर्भूत अमृतकलश लिये श्वेताम्बरधर धन्वन्तरि का वर्णन मिलता है। इन वर्णनों में धन्वन्तरि के 'चतुर्भुज' होने का कोई उल्लेख नहीं है। बाद में विष्णु-स्वरूप को आरोपित कर धन्वन्तरि के चतुर्भुज रूप की कल्पना की गई। इन आख्यानों में धन्वन्तरि को 'आयुर्वेद-प्रवर्तक' 'आयुर्वेददृक्' कहा गया है।

गरुड़ और मार्कण्डेय पुराणों में कथानक मिलता है कि एक बार गालव ऋषि वन में भटकते हुए बहुत थक गये और प्यासे हो गये। उस समय जंगल से बाहर निकलने पर उन्हें एक कन्या दिखी जो एक घड़े में जल लिये जा रही थी। उसने इन्हें पूरा घड़ा दे दिया। इससे प्रसन्न होकर गालव ऋषि ने आशीर्वाद दिया कि तुम योग्य पुत्र की माँ बनो। किन्तु जब उसने सूचित किया कि वह तो कुमारी है और वीरभद्रा नामक वेश्या है तब उसे वह ऋषि संघ में ले गये। वहाँ कुश की पुरुषाकृति बनाकर उसकी गोद में रख दी गई और अभिमंत्रित कर उसमें प्राणप्रतिष्ठा कर दी। वही धन्वन्तरि हुये। वेदमंत्रों से अभिमंत्रित होने के कारण वह वैद्य कहलाये। स्कन्दपुराण में किंचित् परिवर्तित रूप में यही कथानक है। वहाँ वीरभद्रा के पिता ने उसे ऋषि गालव को पत्नी के रूप के देना चाहा किन्तु उन्होंने उसे इस रूप में स्वीकार नहीं किया किन्तु अपने आशीर्वाद से पुत्ररूप में धन्वन्तरि को प्रदान किया। अर्थलोलुपता तथा पूदिसंपर्क के कारण वैद्यसमाज जो धार्मिक समाज में गर्हित हो रहा था उसी प्रतीक की अभिव्यंजना इस आख्यान में हुई।

---

१. विष्णुपुराण (अंश १, अ. ९); भागवत (स्कंध ८, अ. ८); अग्नि. (अ. ३), महाभारत (आ. प. अ. १६)।

वैदिक काल में जो महत्व और स्थान अश्विनों को प्राप्त था वही पौराणिक काल में धन्वन्तरि को मिला। अश्विनौ के हाथों में जीवन और योग का प्रतीक मधुकलश था तो धन्वन्तरि के हाथों में अमृतकलश आया। विष्णु संसार की रक्षा करने वाले देवता हैं अतः रोगों से रक्षा करने वाले धन्वन्तरि विष्णु के अंश माने गये। देवता के रूप में धन्वन्तरि के पूजन का उल्लेख प्राचीन संहिताओं में मिलता है।[1]

इन आख्यानों से यह भी स्पष्ट होता है कि धन्वन्तरि केवल शल्यतंत्रज्ञ न होकर समस्त आयुर्वेद के ज्ञाता थे। विषविद्या के संबन्ध में काश्यप और तक्षक का जो संवाद महाभारत में आया है वैसा ही संवाद धन्वन्तरि और नागदेवी मनसा का ब्रह्मवैवर्तपुराण (३.५१) में आया है। अपने मृत शिष्यों को पुनर्जीवित तथा सर्पों को मूर्च्छित कर धन्वन्तरि ने अपना चमत्कार दिखलाया। इससे धन्वन्तरि की विषविद्या में निपुणता सिद्ध होती है। उन्हें गरुड़ का शिष्य कहा गया है— 'सर्ववेदेषु निष्णातो मन्त्रतन्त्रविशारदः। शिष्यो हि वैनतेयस्य शंकरस्योपशिष्यकः॥' (ब्र. वै. ३.५१)। इस आख्यान में मंत्रशास्त्र की प्रमुखता दिखाई गई है। धन्वन्तरि अश्वशास्त्र तथा गजशास्त्र में भी निष्णात कहे गये हैं।

इनके बाद ही आयुर्वेद के आठ अंग पृथक् हुये अतः शल्यतंत्र का भी विकास एक विशिष्ट अंग के रूप में बाद में ही हुआ और दिवोदास के काल तक वह पर्याप्त विकसित हो चुका था। ऐसी स्थिति में शल्यज्ञानमूलक सुश्रुतसंहिता का उपदेष्टा धन्वन्तरि की अपेक्षा काशिराज दिवोदास को मानना अधिक युक्तिसंगत है।[2]

धन्वन्तरि ने भरद्वाज से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया यह बात भी विचारणीय है। चरकसंहिता में भी आयुर्वेदावतरण के प्रसंग में निर्दिष्ट भरद्वाज-प्रसंग को लोग प्रक्षिप्त ही मानते हैं। भरद्वाज एक दीर्घायु महर्षि थे जिन्होंने नियमपूर्वक जीवनचर्या का पालन कर दीर्घ आयु प्राप्त की थी[3]। स्वभावतः दीर्घ जीवन प्रदान करने के उद्देश्य से कोई ग्रन्थ लिखने के पूर्व आचार्यगण उनसे दीर्घायु का रहस्य पूछने जाते हों। यह भी सम्भव है कि कायचिकित्सा की प्रधानता दिखलाने के लिए तत्सम्प्रदायगत किसी आचार्य ने धन्वन्तरि को भरद्वाज का शिष्य बना दिया। मानवजन्म लेकर धन्वन्तरि

---

१. च. वि. ८।१०

२. गणनाथ सेन ने 'धन्वन्तरिपञ्चक' का उल्लेख किया है—

—सु० भानुमती, उपोद्घात, पृ० ४

३. भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीविततमस्तपस्वितम आस

—ऐ० ब्रा० १।२।२

ने किसी गुरु से परंपरागत ज्ञान अर्जित किया यह भी दिखलाना इसका उद्देश्य हो सकता है। यह भी सम्भव है कि भरद्वाज नामक अनेक व्यक्ति हों या यहाँ किसी भरद्वाजगोत्रीय व्यक्ति का संकेत हो। वस्तुतः चरकसंहिता के समान इस संदर्भ में आया भरद्वाज का प्रसंग भी अप्रासंगिक एवं प्रक्षिप्त मालूम पड़ता है।

दिवोदास

धन्वन्तरि से पार्थक्य करने के लिए काशिराज दिवोदास को धन्वन्तरि द्वितीय भी कह सकते हैं। इन्होंने ही शल्यप्रधान आयुर्वेद-परम्परा प्रचलित की जिसे धान्वन्तर सम्प्रदाय कहते हैं। धन्वन्तरि एक प्रख्यात चिकित्साचार्य हुये जिनका निर्देश अनेक ग्रन्थों में मिलता है।[१] धान्वन्तरीय आचार्यों का शल्यविशेषज्ञ के रूप में उल्लेख संहिताओं में मिलता है। कालक्रम से 'धन्वन्तरि' शब्द शल्यविशेषज्ञ के रूप में होने लगा (धनुः शल्यशास्त्रं तस्य अन्तं पारमियर्त्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः) इस प्रकार धान्वन्तरघृत आदि में सामान्यतः जहाँ 'धन्वन्तरि' शब्द का प्रयोग हुआ हो वहाँ धन्वन्तरि प्रथम और जहाँ शल्यविशेषज्ञ आचार्य का प्रसंग हो वहाँ काशिराज दिवोदास का ग्रहण करना चाहिए।

दिवोदास वाराणसी नगर के संस्थापक थे। महाभारत के अनुसार दिवोदास सुदेव या भीमसेन और ययातिकन्या माधवी के पुत्र थे। इन्द्र की आज्ञा से दिवोदास ने वाराणसी नगर बसाया।[२] एक बार यह अपने प्रबल शत्रु हैहय राजकुमारों से युद्ध में त्रस्त होकर भाग निकले और भरद्वाज की शरण में गये जहाँ पुत्रेष्टि यज्ञ से इन्हें प्रतर्दन नामक पुत्र हुआ।

काशिराज की वंशपरम्परा में आयुर्वेद की रक्षा और प्रचार-प्रसार का कार्य प्रारंभ से ही होता आया है।[3] दिवोदास ने उसे एक व्यवस्थित एवं विशिष्ट रूप दिया। संभवतः वह एक गुरुकुल या विद्यापीठ का संचालन करते थे जहाँ शल्यप्रधान आयुर्वेद की शिक्षा दी जाती थी। वह एक प्रकार का तत्कालीन चिकित्सा-विश्वविद्यालय था जहाँ दूर-दूर से छात्र शिक्षा ग्रहण करने आते थे। उसी विद्यापीठ या आश्रम में बैठकर[४] दिवोदास ने सुश्रुत आदि शिष्यों को पढ़ाया। सुश्रुत के अतिरिक्त दिवोदास के शिष्यों में औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित

---

१. मिलिन्दपन्ह, अयोधरजातक, आर्यशूरीय जातकमाला।

२. दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम्।
वाराणसीं महातेजाः निर्ममे शक्रशासनात्॥ म० भा० अनु० ३०।१६

३. चरकसंहिता में भी काशिपति वामक और वार्योविद के प्रसंग आये हैं।

४. आश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिम्—सु० सू० १।२

की गणना की गई है। 'प्रभृति' शब्द से डल्हण निमि, काकायन, गार्ग्य और गालव का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार दिवोदास के १२ शिष्य हुए।[१]

दिवोदास का काल

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (११६।१८) में एक राजा दिवोदास का उल्लेख आता है जिसकी सहायता अश्विनौ ने धन से की। यह संभवतः कोई अन्य व्यक्ति है। ऋक्सर्वानुक्रमणी,[२] कौषीतकी ब्राह्मण,[३] तथा कौषीतकी उपनिषद्[४] में दैवोदासि प्रतर्दन का उल्लेख है। काठक-संहिता[५] के ब्राह्मणभाग में आरुणि के समकालीन भीमसेन-पुत्र दिवोदास का उल्लेख हुआ है।

महाभाष्य (२री शती ई० पू०)[६], वार्तिक (४थी शती ई० पू०)[७] में 'दिवोदास' शब्द का प्रयोग है। पाणिनि (७वीं शती ई० पू०) ने जनपद के अर्थ में 'काशी' (४।२।११६) तथा नगरवाचक 'वाराणसी' (४।२।९७) शब्दों का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय तक दिवोदास द्वारा वाराणसी की स्थापना हो चुकी थी। सुश्रुतसंहिता में तक्षशिला का उल्लेख नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि सुश्रुत तथा उसके उपदेष्टा दिवोदास तक्षशिला की प्रसिद्धि (८वीं शती ई० पू०) के पूर्व हुये थे।

कौषीतकी ब्राह्मण का उल्लेख पाणिनि (५।१।६२; ४।४।१२४) तथा यास्क निरुक्त (१-९) में होने के कारण उसका समय ८वीं शती से पूर्व का ही है। वेबर ने इसका काल २५०० ई० पू० और शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने २९००–१८५० ई० पू० माना है।

चरकसंहिता में अनेक स्थलों पर धन्वन्तरि का मत उद्धृत हुआ है तथा शल्य

---

१. औपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतय ऊचुः।

—सु० सू० ११२

प्रभृतिग्रहणान्निमिकाङ्कायनगार्ग्यगालवाः, एवमेतान् द्वादश शिष्यानाहुः॥

—डल्हण

२. प्रसेनानीश्चतुर्विंशतिर्दैवोदासिः प्रतर्दनः

—कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी, सू० ५२

३. अथ ह स्माह दैवोदासिः प्रतर्दनः—कौ० ब्रा २६।५

४. प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम—कौ० उ० ३।१

५. दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच—काठकसंहिता ७।१।८

६. दिवश्च दासे

७. दिवोदासाय गम्यते

प्रधान रोगावस्था में धान्वन्तरीयों का ससम्मान अधिकार विहित है। इसके विपरीत सुश्रुतसंहिता में आत्रेय का कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि दिवोदास आत्रेय-अग्निवेश के कुछ पूर्ववर्त्ती थे। अग्निवेश का काल १००० ई० पू० माना जाता है, अतः दिवोदास का काल १०००-१५०० ई० के बीच मानना चाहिए।

इसके समर्थन में निम्नांकित युक्तियाँ और दी जाती हैं :—

१. सुश्रुतसंहिता में पाँच वर्षों का एक युग माना गया है।[1] ऐसी मान्यता वेदांग ज्योतिष की थी जिसका काल श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित १५००-५०० ई० पू० मानते हैं।

२. सुश्रुत संहिता में वारगणना भी नहीं है। भारत में वारगणना का प्रचार १००० ई० पू० से पहले हो चुका था ऐसी श्री दीक्षित की मान्यता है।

३. सुश्रुतसंहिता में शिशिर से ऋतुगणना प्रारंभ होती है जबकि पाणिनि ने वसन्त से प्रारंभ किया है (वसन्तादि गण ४।२।६३)। इससे भी दिवोदास का काल पाणिनि से बहुत पहले सिद्ध होता है।

दिवोदास का ऐतिहासिक व्यक्तित्व ब्राह्मण—उपनिषद् काल में मूर्त्त अस्तित्व में रहा हो और बाद में पुराणों में प्रशस्ति के रूप में इन्हें भगवान् विष्णु का अंश मानकर देवत्व प्रदान किया गया हो जैसा कि वैदिककालीन अनेक संदर्भों में हुआ है।

सुश्रुत

दिवोदास धन्वन्तरि के उपदेशों को सुश्रुत ने अपनी संहिता में निबद्ध किया जो शल्यतंत्र का उपजीव्य ग्रन्थ बनी। सुश्रुत दो कहे जाते हैं एक वृद्धसुश्रुत और दूसरा सुश्रुत। कहीं-कहीं सुश्रुत और वृद्धसुश्रुत दोनों के उद्धरण एकत्र दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दिवोदास का शिष्य आद्य या वृद्धसुश्रुत था जिसने मूल सौश्रुत तन्त्र की रचना की। यह सम्भवतः अग्निवेशतंत्र से पूर्व की रचना थी। उसके बाद सुश्रुत द्वितीय या सुश्रुत ने उसे प्रतिसंस्कृत कर नवीन रूप दिया। पुनः और प्रतिसंस्कार दृढबल के बाद हुआ जो नागार्जुनकृत माना जा सकता है। इसमें चरकसंहिता (दृढबलपूरित अंशसहित) के अनेक मतों को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर उनका खण्डन किया है। अन्तिम पाठशुद्धि चन्द्रट द्वारा १० वीं शती में हुई अतः वर्त्तमान सुश्रुतसंहिता १० वीं शती के बाद की ही है।

सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र कहे गये हैं।[2] विश्वामित्र नामक अनेक आचार्य हुए

१. सु० सू० ६।९

२. महाभारत, अनुशासन, अ० ४; गरुडपुराण, अ० १३९।८-११,

उनमें एक का सम्बन्ध आयुर्वेद से है। इनके उद्धरण यत्रतत्र मिलते हैं। बहुत संभव है कि इसी विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत हों। शालिहोत्र के पुत्र के रूप में भी सुश्रुत का उल्लेख मिलता है[1]। सुश्रुत का गवायुर्वेद, अश्वायुर्वेद से भी सम्बन्ध बतलाया गया है[2]। संभवतः इसी कारण प्रख्यात सुश्रुत के नाम को शालिहोत्र से संबद्ध कर दिया। या यह भी हो सकता है कि अश्वशास्त्रवित् शालिहोत्रपुत्र कोई भिन्न सुश्रुत हों जिन्होंने वाजिशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा हो जिसका निर्देश दुर्लभगणकृत सिद्धोपदेशसंग्रह नामक अश्वैवद्यक के ग्रन्थ में हुआ है।[3]।

सुश्रुत का काल

आद्य या वृद्धसुश्रुत का काल तो वही होगा जो काशिराज दिवोदास का निश्चित किया गया है अर्थात् १०००-१५०० ई०। किन्तु सुश्रुत का कालनिर्णय अभी विचारणीय है। निम्नांकित तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए :—

१. 'होरा' शब्द का प्रयोग सुश्रुतसंहिता में हुआ है। यह शब्द ग्रीक भाषा के 'होरस' से निष्पन्न होकर भारतीय वाङ्मय में आया है। यूनानियों से विशेष संपर्क ४थी शती ई० पू० हुआ था। अतः इसका काल उसके बाद ही का होगा।

२. नागार्जुन ने 'उपायहृदय' में सुश्रुत का उल्लेख किया है। नागार्जुन कनिष्क सम्राट् (पहली शती) के समकालीन था।

४. युक्तसेनीय अध्याय, दुन्दुभिस्वनीय अगद तथा अन्य राजकीय प्रकरणों से ज्ञात होता है कि सुश्रुत का सम्बन्ध किसी सम्राट् से था। 'सौश्रुतपार्थिवाः' शब्द से भी यही ध्वनित होता है। यह सम्राट् सम्भवतः शातवाहन था।

५. 'महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि' (चि० ३०।२६) इस श्लोक में राम और कृष्ण का नाम आने से वासुदेव धर्म की प्रमुखता सूचित होती है। इसके उत्थान का काल पहली शती से चौथी शती माना जाता है।

६. श्रीपर्वत, सह्याद्रि, देवगिरि, मलयाचल आदि पर्वतों का उल्लेख हुआ है। चन्दन के लिए 'मलयज' शब्द का प्रयोग सुश्रुत ने ही किया। ऋतुचर्या-प्रकरण में वसन्तसमीर के लिए 'मलये वाति' वाक्य लेखक के मलयस्थान का संकेत करता है। इनमें अधिकांश दक्षिणभारतीय स्थान है। दक्षिण भारत से विशेष संपर्क शातवाहन राजाओं के काल में हुआ।

---

१. शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति। एवं पृष्टस्तु पुत्रेण शालिहोत्रोऽभाषत।
शालिहोत्रमपृच्छन्त पुत्राः सुश्रुतसंगताः।—शालिहोत्रीय

२. अग्निपुराण (अ० २७९–२९२)

३. शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन न भाषितम्।
तत्त्वं यद् वाजिशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम्॥

७. ग्रहों के संबन्ध में विशेष वर्णन मिलता है। उनके नाम, उत्पत्ति आदि की जानकारी दी गई है। नवग्रहपूजा का भी उल्लेख है। षष्ठीपूजा का उल्लेख नहीं है जो गुप्तकाल में प्रचलित बतलाई जाती है। अतः यह गुप्तकाल के पूर्व की रचना है।

९. कर्णवेध संस्कार बाद में प्रचलित हुआ। चरकसंहिता में इसका उल्लेख नहीं है।

इस प्रकार सुश्रुत का काल दूसरी शती माना जा सकता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति इसी काल में या इसके कुछ बाद बनी। यह ध्यान देने की बात है कि चरक मनुस्मृति के काल में हुआ और सुश्रुत याज्ञवल्क्यस्मृति के काल में। सुश्रुत के १०७ मर्म याज्ञवल्क्यस्मृति में निर्दिष्ट है। अस्थि आदि के संबन्ध में चरक का मत दिया है। अतः याज्ञवल्क्यस्मृति के कुछ ही पूर्व सुश्रुत हुआ होगा। याज्ञवल्क्यस्मृति का काल ३री शती माना जाता है।

सुश्रुतसंहिता के ऋतुचर्याध्याय (सू० ६) में दो प्रकार का ऋतुविभाग मिलता है। प्रारंभ में छः ऋतु शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त कहा और फिर 'इह तु' करके वर्षा, शरद्, हेमन्त वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् बतलाया। पहले में शीतकाल के दो और दूसरे में वर्षाकाल के दो ऋतु हैं। कुछ लोग देशभेद के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि गंगा के उत्तरी प्रदेश (हिमालय) में पहला और दक्षिण भाग में दूसरा विभाग लागू होता है। एकेन्द्रनाथ घोष ने गणित के आधार पर इन दो प्रकार के ऋतु विभागों में १५०० वर्षों का अन्तराल बतलाया है। इस प्रकार यदि काशिराज दिवोदास के काल का पहला विभाग माना जाय तो दूसरा विभाग प्रतिसंस्कर्ता सुश्रुत का होता है। इस आधार पर भी सुश्रुत का उपर्युक्त काल समर्थित होता है।

इस काल में सुश्रुत ने आद्य संहिता का उपबृंहण एवं प्रतिसंस्कार किया। उत्तरतन्त्र किसने जोड़ा इसका निर्णय कठिन है किन्तु अधिक संभावना है कि इसके बाद के काल में नागार्जुननामधारी किसी आचार्य ने यह कार्य किया। वाग्भट ने उत्तरतन्त्र सहित सुश्रुतसंहिता का अनुसरण किया है, अरबी भाषा में जो अनुवाद हुआ है वह भी उत्तरतंत्रसहित का है। अतः यह कार्य वाग्भट (६ठी शती) के पूर्व हो चुका होगा। सुश्रुतसंहिता में तन्त्रयुक्तियों का प्रकरण कौटिल्य के आधार पर है अतः उत्तरतन्त्र कौटिल्य (३री शती) के बाद ही जोड़ा गया होगा। केवल डल्हण ने लिखा है कि सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुन ही है, अन्य कहीं ऐसा संकेत नहीं मिलता अतः अनेक विद्वानों को इस पर विश्वास नहीं होता। फिर भी इससे इतना तो पता चलता ही है कि डल्हण के काल में ऐसी विचारधारा प्रचलित थी। अतः परंपरा का आग्रह रखते हुए उस प्रतिसंस्कर्ता को मैं नागार्जुन ही कहूँगा। अब इस पर भी विचार करना चाहिए कि नागार्जुन कौन था ?

नागार्जुन

नागार्जुन नाम के अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :—

१. उपायहृदय के रचयिता दार्शनिक नागार्जुन। इनका समय कनिष्क का काल (१ ली शती) माना जाता है।

२. शातवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र शातकर्णी या यज्ञश्री (१७८–२०७ ई०) के मित्र और गुरु नागार्जुन जिनका उल्लेख हर्षचरित आदि में आता है। इसका समय दूसरी और तीसरी शती (११३–२१३ ई०) है। इनके शिष्य आर्यदेव हुये। बौद्धों के १३ वें धर्माध्यक्ष नागार्जुन तथा १४ वें आर्यदेव हुए।

नागार्जुन की प्रमुख रचनायें हैं—माध्यमिककारिका, विग्रहव्यावर्त्तनी, रत्नावली, सुहल्लेख। द्वादशमुखशास्त्र तथा महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र भी उनकी रचनायें कही जाती हैं। यह शातवाहन सामाज्य (आन्ध्र) में जनमे और उनका अधिकांश जीवन अमरावती और श्रीपर्वत पर व्यतीत हुआ। महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र में वनस्पति या खनिज रसविज्ञान, जादू और समाधिवेला की शक्ति से स्वर्ण बनाने की बात आई है। रसोपनिषद् में निर्दिष्ट किसी विधि से केरल में स्वर्णयुक्त चट्टानों का उत्खनन किया गया था। रसरत्नाकर की एक प्रति हुंग ने तीसरी या चौथी शती के एक रसशास्त्री को दी थी यद्यपि इसका वर्तमान संस्करण ७-८ वीं शती का है।

३. गुप्तकालीन नागार्जुन जिनका काल ४थी या ५वीं शती मानते हैं।

४. सरहपा के शिष्य सिद्ध नागार्जुन जो ८ वीं शती के हैं।

५. अलबरुनी (११ वीं शती) ने अपने यात्राविवरण में लिखा है कि उससे १०० साल पूर्व कोई नागार्जुन हुआ। १० वीं शती में एक नागार्जुन का आख्यान मिलता है जिसने नारोपा नामक एक ग्वाल युवक को अपने आशीर्वाद से राजा बना दिया जो अन्त में नालन्दा विश्वविद्यालय का अध्यक्ष भी बना। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के अध्यक्ष मार-पा (१०१२-१०९७) के गुरुओं में से एक नारोपा भी थे।

६. रसवैशेषिक के रचयिता भदन्त नागार्जुन।

इसमें कौन सा नागार्जुन सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कर्ता हुआ यह निर्णय करना कठिन है। कौटिल्य (३री शती) से तंत्रयुक्तियों का प्रकरण सुश्रुतसंहिता के उत्तरतंत्र में लिया गया है तथा वाग्भट (६ठीं शती) ने उत्तरतंत्रसहित सुश्रुतसंहिता का उपयोग किया हैं अतः अत्यधिक सम्भावना है कि ५वीं शती के नागार्जुन ने संहिता का प्रतिसंस्कार किया तथा उसमें उत्तरतंत्र जोड़ा। यही संभवतः रसवैशेषिक का भी रचयिता था क्योंकि सुश्रुत और नागार्जुन के मत समान हैं। दृढ़बल (४थी शती) के बाद यह हुआ अतः दृढबलकृत प्रकरणों की चर्चा भी इसमें आई है। रसशास्त्र

का अधिक विकास उस समय तक न होने के कारण ऐसे विषय संहिता में न आ सके। फिर भी खनिज द्रव्यों तथा रसशास्त्र की स्थिति चरक की अपेक्षा इसमें विकसित है।

यह भी सम्भव है कि सुश्रुत और नागार्जुन (२री शती) का काल एक होने तथा दोनों का शातवाहन सम्राट् से सम्बन्ध होने के कारण सुश्रुत-नागार्जुन का नाम एक दूसरे से जुड़ गया और कालान्तर में नागार्जुन सुश्रुत के प्रतिसंस्कर्ता माने जाने लगे जिस प्रकार कालक्रम से चरक और पतञ्जलि एक हो गये।

सुश्रुतसंहिता का विषयविभाग

मूलसंहिता की विषयवस्तु का विभाजन इस प्रकार है :—

सूत्रस्थान	—	४६ अध्याय
निदानस्थान	—	१६ अध्याय
शारीरस्थान	—	१० अध्याय
चिकित्सालय	—	४० अध्याय
कल्पस्थान	—	८ अध्याय
		१२० अध्याय

इस प्रकार कुल १२० अध्याय हैं[1]। प्राचीन संहिताओं की व्यवस्था प्रायः इसी प्रकार थी। चरकसंहिता में भी इतने ही अध्याय हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि उत्तरतन्त्र बाद में जोड़ा गया। उत्तरतन्त्र में ६६ अध्याय हैं।

विषयवस्तु की दृष्टि से, सूत्रस्थान में मौलिक सिद्धान्त, शल्यकर्मोपयोगी साधन यंत्र-शास्त्र, क्षार-अग्नि-जलौका आदि, अरिष्टविज्ञान तथा द्रव्यगुणविज्ञान वर्णित हैं। निदानस्थान में प्रमुख रोगों का निदान है। शारीरस्थान में शारीरशास्त्र का वर्णन है। चिकित्सास्थान में मुख्यतः शल्यचिकित्सा, वाजीकरण, रसायन और पंचकर्म का वर्णन है। कल्पस्थान में विषों का प्रकरण है। उत्तरतन्त्र में शालाक्य, कौमारभृत्य, कायचिकित्सा तथा भूतविद्या का वर्णन है। इससे स्पष्ट होता है कि मूल संहिता शल्यप्रधान थी जिसमें बाद में अन्य अंगों का समावेश कर अष्टांगपूर्ण बना दिया गया[1]।

---

१. प्रागभिहितं सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु—सु० सू० ३।२
तस्मात् सविंशमध्यायशतम्······अनुश्रोतव्यञ्च—सु० सू० ४।४

१. 'शालाक्यतंत्रं कौमारं चिकित्सा कायिकी च या।
भूतविद्येति चत्वारि तन्त्रे सूत्तरसंज्ञिते॥
वाजीकरश्चिकित्सासु रसायनविधिस्ततः।
विषतन्त्रं पुनः कल्पाः शल्यज्ञानं समन्ततः॥
इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादिदेवप्रकाशितम्।'—सु० सू० ३।४२-४४

ऐसा लगता है कि मध्य में अष्टांगविभाग की जो व्यासशैली प्रचलित हुई उससे विभिन्न अंगों पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे जिसका परिणाम यह हुआ कि चिकित्सकों का ज्ञान एकांगी होने लगा और वे सब प्रकार के रोगों के निवारण में असमर्थ होने लगे। गुप्तकाल में जब जनसेवा के लिए अनेक आतुरालयों की स्थापना होने लगी तो इस त्रुटि की ओर लोगों का ध्यान गया और पुनः समासशैली पर संहिताओं का प्रतिसंस्कार हुआ। सुश्रुतसंहिता में शल्यतंत्र के अतिरिक्त अन्य अंगों का समावेश हुआ और चरकसंहिता में दृढबल ने शल्यशालाक्य आदि विषयों की स्थापना की। इसी शैली पर वाग्भट ने पुनः युगानुरूप अपने ग्रन्थों की रचना की। यह युगधर्म का प्रभाव था।

सुश्रुतसंहिता में निर्माण के विभिन्न स्तर

जैसे पुरातत्व की खुदाई में निकले खँडहरों में निर्माण के विभिन्न स्तरों का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है वैसे ही प्राचीन संहिताओं में भी सूक्ष्म पर्यालोचन से रचना के विभिन्न स्तर दृष्टिगोचर होते हैं। जिस प्रकार चरकसंहिता में अग्निवेश, चरक तथा दृढबल के तीन स्तर हैं; उसी प्रकार सुश्रुतसंहिता में आद्यसुश्रुत, सुश्रुत, नागार्जुन तथा चन्द्रट के चार स्तर हैं। इसी कारण वर्त्तमान सुश्रुतसंहिता का रूप चरकसंहिता की अपेक्षा अर्वाचीन मालूम होता है। इन विभिन्न स्तरों के प्रमापक तथ्यों का विश्लेषण आवश्यक है जिन पर यहाँ विचार किया जायगा।

आद्यसुश्रुत

आद्यसुश्रुत उपनिषत्कालीन हैं अतः तत्कालीन सामग्री मूल सुश्रुतसंहिता की ही मानी जानी चाहिए। इनमें निम्नांकित तथ्य महत्वपूर्ण हैं :—

१. शिष्योपनयनीय—यह अध्याय प्राचीन प्रतीत होता है यद्यपि विषयवस्तु में किंचित् परिवर्तन कालक्रम से सम्भव है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के ही उपनयन का विधान है। यदि शूद्र कुलगुणसंपन्न हो तो उसे विना उपनयन के आयुर्वेद पढ़ावे। अन्तिम विधान 'इत्येके' करके दिया है; सम्भवतः यह बाद में जोड़ा गया हो। चरकसंहिता में भी त्रिवर्ण को ही आयुर्वेद पढ़ने की अनुमति है।

२. दार्शनिक तथ्य—श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनेक दार्शनिक विचार सुश्रुतसंहिता में मिलते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं :—

१. स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः॥' सु० शा० १।७

यह श्लोक श्वेताश्वतर के निम्नांकित श्लोकों के आधार पर है—

'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।' (१।२)

'स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः ।' (६।१)

२. निम्नांकित श्लोक शैली में बिलकुल मिलते-जुलते हैं :—

'पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः' ।। श्वे० १।५

'पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ।।'
सु० शा० १।९

शारीरस्थान (प्रथम अध्याय) का आधिदैवत प्रकरण भी उपनिषदों से प्रभावित है ।

सुश्रुतसंहिता में निर्दिष्ट सांख्यदर्शन ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में प्रतिपादित विचारों से साम्य रखते हुये भी किंचित् भिन्न है यथा ईश्वरकृष्ण ने तत्वों का वर्गीकरण तीन में किया गया है मूलप्रकृति, प्रकृतिविकृति तथा विकृति किन्तु सुश्रुत-संहिता में दो ही वर्ग हैं प्रकृति और विकृति । आठ प्रकृतियाँ मानी गई हैं जिनमें अव्यक्त के साथ प्रकृतिविकृति भी सम्मिलित हैं ।

प्रकृति-पुरुष के साधर्म्यवैधर्म्य की चर्चा करते हुए सुश्रुत ने प्रकृति और पुरुष को सर्वगत कहा है जब कि आगे पुनः पुरुष अनेक माना है । वस्तुतः यह श्वेताश्वतर के त्रित्ववाद का प्रभाव है जिसके अनुसार परमात्मा (ईश), जीवात्मा (अनीश) तथा प्रकृति (अजा) ये तीन तत्व प्रमुख हैं :—

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ।। श्वे० १।९

सुश्रुत

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सुश्रुत शातवाहन साम्राज्य के काल में हुये थे । शातवाहन राजा ब्राह्मण थे तथा ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान उनके द्वारा हुआ । गौ, देवता, ब्राह्मण की पूजा का प्रसार हुआ तथा वैदिक धर्म की लहर पुनः बह चली । चारों ओर यज्ञ होने लगे और वेदध्वनि से वातावरण गुञ्जित होने लगा । शैव और भागवत धर्म का विशेष प्रचार उस समय था । कृष्ण की पूजा होती थी । शिव की पूजा का भी प्रचार अधिक था और उनके वाहन नन्दी तथा हारस्वरूप नाग की पूजा भी होती थी । वर्णाश्रम जो बीच में शिथिल हो गया था, उसका पुनः संघटन हुआ । चारों वर्णों में ब्राह्मण का सर्वाधिक सम्मान था । किन्तु साथ-साथ बौद्ध और जैन धर्मों का भी समादर था । 'नग्न' और 'मुण्ड' शब्द क्रमशः जैन

और बौद्ध भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होते थे। राजनीतिक दृष्टि से राजा सबका अधिपति था किन्तु स्थानीय स्वशासन ग्राम, नगर और गणों में प्रचलित थे।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अनुकूल जो तथ्य सुश्रुत संहिता में उपलब्ध हैं वे सुश्रुत कालीन समझे जाने चाहिए। इनमें उदाहरणार्थ, निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख किया जाता सकता है :—

धार्मिक स्थिति

१. भव (उ० ५७।१४); ईशान (उ० ३९।२४८; चि० २९।१२), शूली (उ० ३७।२); शब्दों से शिव का अभिधान किया गया है। 'अम्बिका' (उ० ३९।२४८) की पूजा का भी विधान है जिसका सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति में किया गया है। 'उमा' शब्द भी आया है (उ० ३७।२); नागपूजा का भी उल्लेख है (उ० ६०।३३), नागों का अनेक स्थलों पर निर्देश है (उ० ६।२३; क० ४।३, सू० ५।१६)। यक्षपूजा का भी प्रचार इस काल में था। कुबेर (सू० १९।२१) अलकाधिपति यक्ष (क० ७।५९) की अभ्यर्थना की गई है। कृष्ण और राम (संभवतः बलराम) का भी उल्लेख है (चि० ३०।२६)। शंख-चक्र-गदा-पाणिधर अच्युत का भी निर्देश है। (चि० १३।२४)। सरस्वती के लिए 'वाग्देवी' शब्द का प्रयोग हुआ है (चि० २८।३)। देवताओं की प्रतिमायें मन्दिरों में स्थापित कर उनकी पूजा होती थी। 'देवतायतन' (चि० २४।९०; ९८) तथा 'देवताप्रतिमा' (शा० ३।२०) शब्द ध्यान देने योग्य हैं। अश्वत्थपूजा भी प्रचलित थी (क० ३।४३)।

किन्तु धार्मिक सहिष्णुता के कारण बौद्धों के चैत्य भी थे (चि० २४।९०; शा० १०।१)। 'जीर्णां च भिक्षुसंघाटी' बौद्धों के चीवर का बोधक है।

ग्रहों, कृत्या और राक्षसों पर विश्वास था तथा इसके निवारण के लिए मन्त्र, बलि आदि का प्रयोग होता था। सुश्रुतसंहिता का एक पूरा अध्याय (अमानुषोपसर्गप्रतिषेध, उ० ६०) इसी विषय पर है।

सांगोपांग चारों वेदों और पौराणिक (उ० ५७।१४) का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि वेदों का पूर्ण अस्तित्व हो चुका था तथा पुराणों की कथा-वार्ता भी प्रचलित थी। यज्ञ में उद्गाता, होता, ब्रह्मा और अध्वर्यु होते थे जिनमें ब्रह्मा प्रधान माना जाता था (सू० ३४।६; १५)। सोम के भेदों में गायत्री, त्रैष्टुभ, पांक्त आदि वैदिक नाम आते हैं (चि० २९।५-६) जिससे वैदिक धर्म का प्रचार सूचित होता है। समाज में देवता, ब्राह्मण, गुरु, गौ और अग्नि की पूजा की जाती थी (उ० ३९।२४८; चि० २४।९०, ९८)। श्रीसूक्त का पाठ एवं जप किया जाता था (चि० २२।८)।

संस्कारों में जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह (शा० अ० १०) का उल्लेख है। विवाह २५ वर्ष के पुरुष और १२ वर्ष की स्त्री में विहित है किन्तु गर्भाधान १६ वर्ष की आयु के पूर्व नहीं होना चाहिए। कर्णवेध (सू० १६।१) का स्वतंत्र वर्णन मिलता है। इस संस्कार का प्रवेश बाद में हुआ है।

राजनीतिक स्थिति

सुश्रुतोक्त तथ्यों से उस समय किसी सम्राट् का आधिपत्य द्योतित होता है। 'नृप' शब्द का बहुशः प्रयोग (चि० १५।३५; सू० ८।४) नृपकी प्रशस्ति (सू० ३४) उसके लिए चिकित्सा का विशिष्ट विधान (चि० ३१।४६; ३।६५); राजा को विषों से बचाने की सावधानता का विस्तृत वर्णन, अन्न की रक्षा के लिए वैद्य, महानसाध्यक्ष, परिकर्मी, माहानसिक वोढ़ा, सौप, औदनिक, पौपिक आदि का निर्देश (क० १।११–१५); युक्तसेनीय अध्याय (सू० ३४) अध्याय में सैनिक चिकित्सा-सेवा का वर्णन; शर, शक्ति, कुन्त, परशु आदि आयुधों तथा वारवाण का उल्लेख (चि० १।१; सू० २६।१); विषनिवारण के उपाय दुन्दुभिस्वनीय, जलगत शोधन (क० ३।११-१५) आदि वर्णन उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। 'रिपवो विक्रमाक्रान्ताः' (क० १।२) में 'विक्रम' शब्द सम्भवतः विक्रमादित्य का संकेतक है जो गौतमीपुत्र शातकीर्ण की उपाधि थी।

भौगोलिक स्थिति

शातवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'पर्वतों का अधिपति' कहा गया है।[1] अतः अस्वाभाविक नहीं कि सुश्रुता संहिता में भी अनेक पर्वतों के नाम आये हैं तथा सोमगिरि, (सोमनाथ या जूनागढ़) अर्बुदगिरि (चि० ३०।३७); सह्य, मलय, पारियात्र, हिमवान् (सू० ४५।१३)। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक के पर्वतों का उल्लेख यहाँ हुआ है। दक्षिण भारत के लिए 'दक्षिणापथ' शब्द प्रसिद्ध था (हैमवता दक्षिणापथगाश्च गन्धाः—चि० ४।१७)। काश्मीर का भी उल्लेख है किन्तु 'केशर' के लिए 'काश्मीरज' शब्द नहीं आया है 'बाह्लीक' और कुङ्कुम शब्द आये हैं। संभवतः उस समय तक केशर की खेती कश्मीर में प्रारंभ न हुई हो। नदियों में देवसुन्द ह्रद, सिन्धु महानद, कौशिकी (आधुनिक कोशी) और सञ्जयन्ती का उल्लेख है। जलौका के क्षेत्रों का उल्लेख करते हुए यवन, पाण्ड्य, सह्य और पौतन आदि नाम आये हैं। पश्चिमोत्तरवर्ती यवनराज्य सम्भवतः 'यवन' शब्द से अभिप्रेत है, शेष प्रदेश दक्षिण भारतीय हैं। दक्षिण भारतीय नामों की अधिकता के कारण ऐसा अनुमान होता है कि सुश्रुत दक्षिणभारत से विशेष परिचित

1. नासिक गुहालेख

थे। सम्भवतः वह शातवाहन सम्राट् से सम्बद्ध थे या उसी कुल के कोई आचार्य थे। ऐसी स्थिति में वहाँ इनका निवास स्वाभाविक ही है। ऐतरेयब्राह्मण में आन्ध्रदेश की उत्पत्ति विश्वामित्र से मानी जाती है।[1] क्या इसी कारण सुश्रुत को 'विश्वामित्र-पुत्र' कहा गया इस तथ्य पर भी विचार करना चाहिए। एक स्थल (क० ८।८८-९१) में वशिष्ठ और विश्वामित्र का प्रसंग देकर वशिष्ठ के कोप से लूता की उत्पत्ति बतलाई गई है। यदि इन्हें क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रिय का प्रतीक मान लें तो तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट चित्रण हो जाता है। गौतमीपुत्र ब्राह्मण था तथा परशुराम के समान क्षत्रियों का दलन करनेवाला कहा गया है।[2]

सुश्रुत ने शोभाञ्जन के लिए 'मुरंगी' शब्द का प्रयोग किया है चि. १६।२ जो दक्षिणभारतीय हैं।

सामाजिक स्थिति

वर्णाश्रम व्यवस्था पर जोर दिया जाता था। चारों वर्णों का उल्लेख सुश्रुत-संहिता में है। उपनयन का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों को था, शूद्र को बिना उपनयन के ही विद्याध्ययन की अनुमति दी गई है (सू. २।१-३); सोम का उपयोग करने की अनुमति केवल त्रिवर्ण को है, शूद्र को नहीं (चि. २९।१३)। इससे शूद्र की हीन स्थिति सूचित होती है फिर भी अध्ययन में अनुमति प्रदान करना किंचित उदारता का सूचक है जो चरक में नहीं है। वर्ण के अतिरिक्त, 'जाति' शब्द का प्रयोग सुश्रुत में हुआ है जिससे जाति के आधार पर वर्णों की व्यवस्था का प्रारंभ सूचित होता है सू. १०।४, २९।२२)। गोत्र का भी महत्व था, सगोत्र विवाह निषिद्ध था (सू० २९।२२, चि. २४।१२०) आश्रम और वर्ण के साथ 'पाखण्ड' शब्द का भी प्रयोग हुआ है (सू. २९।३)। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की बहिरंग आचारप्रणाली पाखण्ड कहलाती है। उस समय बौद्ध, जैन आदि तथा शैव, भागवत आदि धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित थे। 'लिंगिनी' शब्द (चि० २४।१२०) सम्भवतः अविवाहिता साध्वियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रमेह-चिकित्सा में लिखा है कि ब्राह्मण लोग शिलोञ्छवृत्ति करें और क्षत्रिय आदि गोचारण करें (चि० ११।८) जैसे राजा दिलीप ने गोचारण किया था। संभव है, वह भी प्रमेह रोग से ग्रस्त हों जिसके कारण सन्तान न होती हो।

गृहस्थ लोग ग्राम, नगर में रहते थे (चि. २४।९१) किन्तु आश्रम भी थे जहाँ विद्याध्ययन एवं साधना की जाती थी (शा. ३।२०)। ऐसे ही एक आश्रम में काशिराज ने सुश्रुत को उपदेश दिया था। गृहस्थों में कुछ लोग अनेक पत्नियाँ भी

---

१. राजवली पाण्डेय : प्राचीन भारत, पृ० २१०

२. अपरपरशुराम इव, खतिपदपमानमदनस—नासिक गुहालेख

रखते थे विशेषतः राजा और आढ्यजन (चि० २६।३)। वैद्य-शिष्टाचार में स्त्रियों के साथ बैठना, रहना, हँसी मजाक वर्जित है और अन्न के अतिरिक्त और कुछ उनसे लेना भी निषिद्ध है। उसी प्रकार रोगी को स्त्रियों से पृथक् रहने का उपदेश है (सू० १९।१२)।[1]

प्रतिभू, साचित्व,[2] समाह्वान, गोष्ठी, वादित्र निषिद्ध किया गया है। (चि० २४।९८)। इससे तत्कालीन सात्विक विचारधारा प्रकट होती है तथा गुप्तकालीन स्थिति से इसका वैलक्षण्य स्पष्ट होता है।

सांस्कृतिक स्थिति

सांस्कृतिक दृष्टि से वह युग समुन्नत था। दैहिक प्रसाधन में फेनक, मुखालेप, केशप्रसाधनी तथा दन्तशोधन चूर्ण का उल्लेख है (चि. २४)। वस्त्रों में क्षौम, दुकूल, कार्पास, आविक, कौशेय, पत्रोर्ण, पट्ट का निर्देश है। 'चीनपट्ट' का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है (सू० १८।१०)। उष्णीष, छत्र और उपानत् धारण का भी विधान है (चि० २४।८७) वास्तुकला उन्नत थी। इसके विशेषज्ञ द्वारा व्रणितागार (आतुरालय) के निर्माण का उपदेश किया गया है। 'प्रासाद' (सू० ३०।१५) शब्द से ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं का संकेत मिलता है। प्रेङ्खा (झूला) और पर्यस्तिका (पलंग) का भी उल्लेख है (चि० २४।९०; ९२)। वाहनों में घोड़ा और हाथी (चि० २४।८९) तथा यानों में गोयान और रथ (सू० २।४) हैं। जल के यान नौका (शा० ५।२९) तथा 'विमानयान' का भी उल्लेख है।[3] ऐसे ही विमान का संदर्भ कालिदासकृत अभिज्ञानशाकुन्तल में भी मिलता है। संभव है उस काल में ऐसा कोई यान विकसित किया गया हो या पूर्णतः काल्पनिक हो।

अन्नपान के प्रकरण में घृतपूर, पूप, मोदक, सट्टक, विस्यन्दन, सामित, फेनक, शष्कुली, पूर्णा, वाट्य, लाजा, पृथुक आदि तथा अनेक सामिष कल्पों का वर्णन मिलता है जिससे दोनों प्रकार के भोजन प्रचलित थे यह ज्ञात होता है। अनेक पानों तथा अनुपानों का भी वर्णन है। आहारविधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह कहा गया है कि विपघ्न अगदों से स्पर्श करा कर, व्यजनोदक से प्रोक्षित कर तथा सिद्ध मंत्रों से विष नष्ट कर अन्न परोसे। सुश्रुत ने 'त्रिपुटक का सर्वप्रथम उल्लेख किया है जो खेसाड़ी है।

खानपान के पात्रों का राजसी वर्णन मिलता है जो इस प्रकार है :—

लौह—घृत

रजत—द्रवपदार्थ

---

१. इससे पता चलता है कि उस समय स्त्री परिचारिकायें नहीं थी।

२. याज्ञवल्क्य स्मृति में इन बातों का विस्तार से वर्णन है।

३. विमानयानप्रासादैर्यश्च संकुलमम्बरम्—सू० ३०।१५

वंश—फल, भक्ष्य

सुवर्ण—शुष्क एवं स्निग्ध द्रव्य

पत्थर—अभय

ताम्र—गाय

मिट्टी—जल, पानक, मद्य

काच, स्फटिक, वैदूर्य—राग, पाण्डव, सट्टक

विमल पात्र—सूपौदन'[1]

इसी प्रकार जलपात्र सौवर्ण, राजत, ताम्र, कांस्य, मणिमय और भौम होते थे[2]। तत्कालीन कला की स्थिति समुन्नत थी। वेणु, वीणा, गीत (चि० ३४।११) और वादित्र (चि० २४।९८) का उल्लेख सुश्रुत में मिलता है। वमनविरेचन-व्यापत् प्रकरण में बतलाया गया है कि यदि रोगी बेहोश हो जाय तो वेणु, वीणा और गीत सुनावे। देवजुष्ट के लक्षण में कहा है कि वह संस्कृत में भाषण करता है इससे संकेत मिलता है कि उस समय उच्च स्तर के लोगों में संस्कृत भाषा का प्रयोग बातचीत में था। अनेक विदेशी शब्दों को संस्कृतीकरण कर अपना लिया गया था यथा होरा। सुश्रुत स्वयं संस्कृत के अच्छे ज्ञाता एवं कवि थे। उनके गद्य और पद्य के नमूने देखें :—

'उदयगिरिशिखरसंस्थिते प्रतप्तकनकनिकरपीतलोहिते सवितरि'

—चि. ३१।१६

'मलये चन्दनलता परिष्वंगाधिवासिते।
वाति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः ॥
दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः।
... ...

दिशो वसन्ते विमलाः काननैरुपशोभिताः।
किंशुकाम्भोजबकुलचूताशोकादिपुष्पितैः ॥
कोकिलैः षट्पदगुणैरुपगीता मनोहराः।
दक्षिणानिलसंवीताः सुमुखाः पल्लवोज्ज्वलाः ॥—सू० ६।२३-२७

राजवैद्य की एक गर्वोक्ति देखें :—

'षड्विधः प्राक् प्रदिष्टो यः सद्योव्रणविनिश्चयः।
नातः शक्यं परं वक्तुमपि निश्चितवादिभिः ॥

---

१. सू० ४६।४-९।

२. सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमये तथा।
पुष्पावतंसं भौमे वा सुगंधि सलिलं पिबेत् ॥ सू० ४५।७

उपसर्गैर्निपातैश्च तत्तु पण्डितमानिनः।
केचित् संयोज्य भाषन्ते बहुधा मानगर्विताः॥
बहु तद् भाषितं तेषां षट्स्वेस्वेवावतिष्ठते।
विशेषा इव सामान्ये षट्त्वं तु परमं मतम्॥—चि. २।६४-६६

यौन जीवन के संबन्ध में भी संकेत मिलते हैं। उपदंश रोग के वर्णन में कहा गया हैं कि योनिरोग से उपसृष्ट स्त्री के साथ संपर्क करने से नख, दाँत, विष और शूक के लगने से, हस्ताभिघात से तथा पशुमैथुन से यह रोग होता है (नि० १२।३।७)। इससे पता चलता है कि लिंगवृद्धि के लिए शूक, विष आदि का प्रयोग होता था जिससे अनेक विकार भी होते थे जिन्हें 'शूकदोष' कहा गया है (नि० १४)। इस रोग की चिकित्सा में हरिताल, मनः शिला का उपयोग किया गया है (चि०१९।४४)। तिर्यक्योनि, अयोनि में प्राप्त शुक्र का धारण तथा उस योनि में शुक्र का विसर्ग वर्जित कहा गया है। कुछ आसनों का भी संकेत मिलता है।[1] गणिका का भी उल्लेख है, सद्वृत्तप्रकरण में इससे दूर रहने का उपदेश किया गया है (चि० २४।९६)। क्लैब्य का वर्णन दो स्थलों पर दो प्रकार से मिलता है (शा० २।३४-४० और चि० २६।९-१२)। वाजीकरणप्रसंग (चि० २६।२) में लिखा है कि वृद्ध लोग जो कामी हों इसका प्रयोग करें। इन सब बातों का उल्लेख वात्स्यायनकृत कामसूत्र में है जो गुप्त-कालीन रचना मानी जाती है किन्तु ये तथ्य उसके पहले से ही परंपरा में व्यवहृत होंगे जिनका निबन्धन ग्रन्थ में किया गया।

नागार्जुन

सुश्रुत के प्रतिसंस्कर्ता नागार्जुन गुप्तकालीन थे अतः गुप्तकालीन तथ्य नागार्जुनीय समझने चाहिए। इनमें निम्नांकित तथ्य प्रमुख हैं :—

१. इस काल में पाशुपत धर्म तथा कापालिक एवं तान्त्रिक संप्रदायों का उदय हो चुका था और लोक में उनका प्रभाव स्थापित हो चुका था। मूढगर्भ के निर्हरण के लिए प्रयुक्त 'मुक्ताः पशोः'[2] इस मंत्र से पाशुपत धर्म का संकेत मिलता है। राक्षस पशुपति, कुबेर और कुमार के अनुचर कहे गये है (सू० १९।२१)। कापालिकों के लिए 'वामाचार' शब्द का प्रयोग

---

१. तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम्।
दुष्टयोनौ विसर्गं तु बलवानपि वर्जयेत्॥
रेतसश्चातिमात्रं तु मूर्धावरणमेव च।
स्थितावुत्तानशयने विशेषेणैव गर्हितम्॥—चि० २४।११७–१८

२. मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः।
मुक्तः सर्वभयाद् गर्भ एह्येहि मा चिरं स्वाहा॥'—चि० १५।५

हुआ है, ये क्रूरकर्म में उद्यत रहते थे और अग्नि में पाक (मांस का ?) करते थे (सू० २९।१२-१३), ये काले कपड़े पहनते थे (असिताम्बर सू० २९।४५), कपाल-भूमि का भी निर्देश है (चि० २४।८७), तान्त्रिकों की रहस्यमयी सिद्धियों का भी उल्लेख मिलता है यथा वशीकरण, सौभाग्यकरण (चि० २८।१८-१९) तथा खेचरी सिद्धि (चि० ३०।८) आदि। वाग्भट ने जिस तान्त्रिक सर्वार्थसिद्धाञ्जन का वर्णन किया है उसका मूल रूप 'चूर्णाञ्जन' सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट है (उ० १८। ८९-९१)। उस समय २४ बुद्धों की धारणा प्रचलित थी संभवतः उसी आधार पर २४ स्त्रियों की कल्पना की गई है। 'वर्धमान' का उल्लेख मांगलिक द्रव्यों में किया गया है (सू० २९।२६)। पुंनामा पक्षी यदि वाम भाग में हों तो शुभ माने गये हैं[1] (सू० २९।३४)।

२. उस समय ज्योतिषशास्त्र की भी उन्नति थी। ग्रहों-नक्षत्रों के प्रभाव से जनपदोद्ध्वंस की उत्पत्ति कही गई है (सू० ६।१७)। नक्षत्रों तथा तिथियों के नाम मिलते हैं (सू० २९।१६-१७)। प्रशस्त तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्र में मांगलिक कार्य करने का विधान है (चि० २९।८), नक्षत्रजन्य व्याधि कालक्रम से दूर हो जाती है। (नक्षत्रपीडा बहुधा यथा कालाद् विपच्यते—सू० २८।४), वराहमिहिर का प्रादुर्भाव लगभग इसी काल में हुआ था।

३. 'विषकन्या' का प्रयोग मिलता है (क० १।४)। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में इसका स्पष्ट उपयोग किया है। 'विशिखानुप्रवेश' में 'विशिखा' शब्द नगर के केन्द्रीय स्थान के लिए हुआ है जो कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी प्रयुक्त हुआ है।

४. नागार्जुन एक भ्रमणशील व्यक्ति थे अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भौगोलिक नामों में कुछ का सन्निवेश उनके द्वारा हुआ हो। कोशी नदी के जिस क्षेत्र का वर्णन किया है वह संभवतः नेपाल का क्षेत्र है जहाँ बौद्ध एवं तान्त्रिक संप्रदाय फल-फूल रहा था। श्रीपर्वत, आबू भी ऐसे ही प्रसिद्ध स्थल हैं।

५. इन्द्रजाल का 'कुहक' शब्द से अभिधान हुआ है (सू० १०।२), रहस्यमयी भाषा में विचारों की अभिव्यक्ति भी होने लगी थी। एक उदाहरण देखें :—

'षण्मूलोऽष्टपरिग्राही पञ्चलक्षणलक्षितः।
षष्ट्युपक्रमनिर्दिष्टश्चतुर्भिः साध्यते व्रणः॥ (चि० १।१४४)

६. अनेक खनिज द्रव्यों, धातुओं तथा रत्न-मणियों (सू० ४६ लवणवर्ग १५-१९) का समावेश नागार्जुन के द्वारा हुआ प्रतीत होता है। अयस्कृति का वर्णन सुश्रुत में सर्वप्रथम मिलता है। मूषा में धातुओं का पाक करने का भी वर्णन है (उ० १८। ८३-८५)। लोहमल तथा कांस्यमल का उल्लेख है। फेनाश्मभस्म तथा हरिताल

1. तुलना करें कालिदास—'वामश्चायं वदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः'—मेघदूत

की धातुविषों में गणना है। यदि फेणाश्म संखिया है तो यह बहुत बाद का होगा संभवतः चन्द्रट द्वारा समाविष्ट हो। हरताल और मनः शिला का प्रयोग उपदंश और कासश्वास में विहित है। पारद (चि० २५।३८) और माक्षिक (चि० १४।१५) का भी उल्लेख है।

इनके समय में अग्निवेश आदि छः आचार्यों के कायचिकित्सा के तन्त्र प्रचलित थे।[1] विदेहाधिप (निमि) के शालाक्यशास्त्र का भी निर्देश किया है।[2]

चन्द्रट

चन्द्रट तीसटाचार्य के पुत्र थे। इनका काल १०वीं शती है। इन्होंने सुश्रुत की पाठशुद्धि जेज्जट की टीका के आधार पर की ऐसा उल्लेख मिलता है। ऐसा लगता है कि चरक के कश्मीरपाठ की तरह सुश्रुत का भी कोई कश्मीरपाठ था जिसका अनुसरण जेज्जट ने किया था। जो भी हो, पाठशुद्धि के क्रम में चन्द्रट ने भी अवश्य ही पूर्ववर्ती ग्रन्थ का किंचित् उपबृंहण किया है जिसके कारण वर्तमान संहिता का रूप अर्वाचीन सा प्रतीत होता है। ऐसे सभी तथ्यों का संचयन एक कठिन कार्य है तथापि कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

१. सूत्रस्थान (२४ अ०) में दोषों के कारणत्व की चर्चा के प्रसंग में सुश्रुत ने एक सिद्धान्त 'सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एवं मूलम्' दिया है (२४।३), पुनः अध्याय के अन्त में 'भूयोऽत्र जिज्ञास्यम्' करके जो विवेचन दिया गया है वह सम्भवतः चन्द्रट का अंश है। इसकी भाषा मध्यकालीन शास्त्रार्थशैली की है। इसका 'तरंगबुद्बुदादयश्च उदकविशेषा एव' भवभूति (८ वीं शती) के 'आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विशेषानम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्' का स्मरण दिलाता है।

२. व्यापन्न जल का शोधन, निक्षेपण और शीतीकरण विस्तार से सुश्रुत में दिया है जो वाग्भट में नहीं मिलता। यदि यह नागार्जुनकृत अंश भी होता तो वाग्भट में अवश्य मिलता। अतः यह अनुमान है कि यह उसके बाद सन्निविष्ट हुआ है।

३. कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ (नि० ५।३०)

इस श्लोक में 'औपसर्गिक' शब्द 'संक्रामक' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। डल्हण ने इसकी व्याख्या की है 'औपसर्गिकरोगा शीतलिकादयः' इससे भी इसका समर्थन होता है जब कि इसके पूर्व सुश्रुत ने 'औपसर्गिक' में 'उपसर्ग' शब्द का ग्रहण 'उपद्रव' के अर्थ में किया है (सू० ३५।१५)। संक्रामक रोगों की यह धारणा संभवतः चन्द्रट के काल में प्रादुर्भूत हुई थी।

---

१. षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ताः परमर्षिभिः। उ० १।४; और देखें—उ० ३९।
२. शालाक्यशास्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्त्तिताः—उ० १।३

कुछ औपसर्गिक रोग महामारी के रूप में फैलते थे। चरक ने इसके लिए 'जनपदोद्ध्वंस' शब्द का प्रयोग किया है। सुश्रुत में इसके अतिरिक्त 'मरक' शब्द मिलता है जो महामारी का द्योतक है। इसमें होनेवाले विकारों का भी उल्लेख है यथा –

कासश्वास—(न्यूमोनिया ?)
वमथु—(विसूचिका ?)
प्रतिश्याय, शिरोरुक्, ज्वर—(इन्फ्लुएञ्जा ?)

इसके उपचार में 'स्थानपरित्याग' का निर्देश है। यह सब अंश चन्द्रटकृत मालूम होता है।

४. सुश्रुत ने एक स्थल पर 'शोणितचतुर्थैः दोषैः' (सू. २१।१) के द्वारा रक्त के दोषत्व की ओर इंगित किया है जो चरक आदि संहिताओं तथा सुश्रुत के ही अन्य स्थलों में प्रतिपादित सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। रक्त को चतुर्थ दोष यूनानी पद्धति में मानते हैं। यह बहुत संभव है कि इस धारणा का सन्निवेश एक स्थल पर निदर्शनार्थ चन्द्रट ने कर दिया हो क्योंकि उस काल तक उस पद्धति का प्रसार पर्याप्त हो चुका था।

५. अश्वबला का वर्णन केवल सुश्रुतसंहिता (सू० ४६।२५६, २६१; चि० ११।१२; ६।८) में मिलता है। डल्हण ने इसे तुरुष्कदेशीय 'हिस्फित्था' नामक वृहत्पत्रा मेथिका लिखा है। इस प्रकार मेथिका की यह अग्रजा तुर्किस्तान से भारत में आई है[1]। इसके यहाँ आने का समय मध्यकाल से पूर्व नहीं हो सकता क्योंकि अन्य तत्कालीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है। सम्भवतः इसका सन्निवेश चन्द्रट के काल में हुआ हो।

इनके अतिरिक्त अन्य भी जो मध्यकालीन तथ्य सुश्रुतसंहिता में मिले वे चन्द्रटकाल के ही समझने चाहिए।

सुश्रुतसंहिता की एक प्राचीन पाण्डुलिपि उदयपुर के प्राच्यविद्यापुस्तकालय में है जो चन्द्रटप्रतिसंस्कृत प्रतीत होती हैं।

सुश्रुत का महत्त्व एवं शास्त्रीय अवदान

चरक और सुश्रुत ये दो ग्रन्थ आयुर्वेद के आकरग्रन्थ हैं। इन्हीं के आधार पर परवर्ती ग्रन्थ निर्मित हुये। वाग्भट ने स्पष्टतः इन दोनों का ऋण स्वीकार किया है। मध्यकालीन नैषधीयचरित में भी इनका उल्लेख आता है जिससे वैद्यवर्ग तथा लोक में इनके प्रचार का अनुमान होता है। कम्बोडिया के राजा यशोवर्मन् (८८९–

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—श्री बापालाल जी का लेख 'अश्वबला और मेथी' यादव अभिनन्दन ग्रन्थ, उत्तरार्ध पृ० १०८–११४

९१० ई०) के शिलालेख में सुश्रुत का ससम्मान उल्लेख है। ९०० ई० के लगभग अरबी चिकित्सक रेजस की कृतियों में सुश्रुत के उद्धरण हैं। 'सनक' नामक विषविद् का ग्रन्थ सुश्रुतसंहिता के कल्पस्थान पर आधारित है। वरमक खलीफा यहिया इब्न चालिद (८०५ ई०) ने सुश्रुतसंहिता के अरबी अनुवाद के लिए आदेश दिया था। प्राचीनतम उपलब्ध चिकित्साग्रन्थ 'नावनीतकम्' में सुश्रुत का प्राधान्यतः उल्लेख है जब कि चरक का नाम ही नहीं है इससे भी सुश्रुत की ख्याति का पता चलता है। सम्भवतः उस युग में चरकसंहिता की अपेक्षा सुश्रुतसंहिता अधिक लोकप्रिय थी।

सुश्रुतसंहिता शल्यप्रधान ग्रन्थ है जो शल्य-संप्रदाय का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करता है। इससे तत्कालीन चिकित्साविज्ञान विशेषतः शल्यतंत्र की समुन्नत स्थिति का पता चलता है। इसके कुछ प्रमुख शास्त्रीय अवदानों का उल्लेख यहाँ करेंगे :-

१. विषय के शिक्षण में अध्ययन, अनुवर्णन, अनुश्रवण तथा कर्म इन सभी का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। योग्या के द्वारा विविध शस्त्रकर्मों का प्रशिक्षण दिया जाता था तथा पुस्तमय पुरुष (Models) पर अंगप्रत्यंगों का ज्ञान कराया जाता था।

शवच्छेद का वर्णन भी सुश्रुत में संक्षिप्त रूप में मिलता है किन्तु यह अंश प्रक्षिप्त ही लगता है, सम्भवतः चन्द्रट ने किया हो; क्योंकि इस आधार पर शारीर का वर्णन नहीं मिलता। अंगों को काटकर देखा जाता तथा उनकी आभ्यन्तर रचना का भी वर्णन किया जाता; हृदय को काटकर उसके चार प्रकोष्ठों का ज्ञान प्राप्त किया जाता; दो फुफ्फुसों का भी स्पष्ट वर्णन होता; किन्तु यह सब नहीं होने से सन्देह होता है कि सुश्रुत ने शवच्छेद कर उसके आधार पर शरीररचना का वर्णन किया है।

२. व्रणितोपासनीय में आतुरालय (व्रणितागार—सू० १९) का विधान वर्णित है। रोगी के लिए विहित आचारिक पर सर्वत्र जोर दिया गया है (सू० ५।३, २५।२४ आदि) कुमारागार तथा सूतिकागार भा भी निर्देश है।

३. यन्त्रशस्त्रों का विशद वर्णन किया है। शस्त्रकर्म की विधियों का विस्तार से वर्णन है। अश्मरी, मूढ़गर्भ, अर्श आदि में शस्त्रकर्म का विधान है। मूत्रवृद्धि और दकोदर में वेधन कर जल निकालते थे। बद्धगुदोदर और परिस्राव्युदर के शस्त्रकर्म के बाद पिपीलिकादंश से अन्त्रों के सीवन का विधान है। व्रण के साठ उपक्रम कहे गये हैं, व्रणरोपण के बाद भी वैकृतापह उपचार का विधान है। व्रणबन्ध का भी विस्तृत वर्णन है।

४. शल्यकर्म के अतिरिक्त क्षार, अग्नि, जलौका का वर्णन मिलता है। सम्भवतः इनके पृथक् विशिष्ट संप्रदाय प्रचलित थे। 'क्षारतंत्र' का निर्देश चरक में मिलता है। अग्निकर्म करनेवाले विशिष्ट चिकित्सक थे। रक्त निकालने के लिए सिराव्यध, जलौका

शृंग, अलाबू , प्रच्छान (शा० ८।२५) इन विधियों का प्रयोग विहित है। ऐसी मान्यता है कि दूषित रक्त निकाल देने से विकार की शान्ति हो जायगी। यह एक प्रकार की संशोधनचिकित्सा ही थी। सिराव्यध को शल्य का चिकित्सार्थ कहा गया है जैसा वस्ति कार्यचिकित्सा में (शा० ८।२२)।

५. सन्धान-शल्य (Plastic Surgey) भी सम्पन्न थी। नासासन्धान तथा कर्णपाली-सन्धान की विधियाँ सुश्रुत की अनुपम देन हैं।

६. आत्ययिक (Emergency) चिकित्सा के सन्दर्भ में निम्नांकित अवस्थाओं का वर्णन उल्लेखनीय है :—

१. दग्ध—उष्णवातातपदग्ध, शीतवर्षानिलहत, इन्द्रवज्रदग्ध, धूमोपहत (Burns)—(सू. अ. १२)

२. उदकपूर्णोदर (Drowning)—(सू. २७।१०)

३. बाहुरज्जुलतापाश (Hanging and Strangulation)—(सू. २७।११)

७. शल्यतंत्र का प्रमुख ग्रन्थ होने के कारण शारीर का वर्णन विस्तृत रूप में मिलता है। त्वचा और कला का विशद वर्णन सुश्रुत की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। प्रकृति का भी विस्तार से वर्णन है। अस्थियों की संख्या, प्रकार, संधि-स्नायु-वर्णन भी नये ढंग से किया गया हैं। मर्म का वर्णन अत्यन्त मौलिक है। इसे भी शल्यविषयार्ध कहा गया है। रक्त का सिराओं में संचरण (शा० ७।१२) तथा उसके वर्ण के अनुसार सिराओं का अरुणा, नीला और गौरी में विभाग भी नवीन मान्यता है। सिरा, धमनी और स्रोतों में पार्थक्य स्पष्ट कर दिया है जो इसके पूर्व भ्रान्ति का विषय था। योनि, गुद, गर्भाशय, वस्ति का भी विशद वर्णन किया गया है। 'नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः' (शा० ७।६) में नाभि में प्राणों की स्थिति मानी गई है।[1]

८. मौलिक सिद्धान्त के क्षेत्र में भी सुश्रुत की महत्त्वपूर्ण देन है। दोषविवेचन के क्रम में पित्त और अग्नि का विचार तथा पाचक, रञ्जक आदि उसके भेद मौलिक कल्पना है (सू० २१।७)। रक्त के महत्त्व की ओर भी सुश्रुत ने ध्यान आकृष्ट किया उसे चतुर्थ दोष मानकर (सू० २१।१)। दोषों के छः क्रियाकालों का वर्णन केवल सुश्रुतसंहिता में ही मिलता है। (सू० २१।१५-३२)। स्वस्थ का आदर्श लक्षण 'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥' सुश्रुत की ही देन है।

९. कायचिकित्सा के क्षेत्र में भी सुश्रुत ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। व्याधियों का

---

१. संभवतः यही श्लोक शार्ङ्गधर के प्रसिद्ध श्लोक 'नाभिस्थः प्राणपवनः' का स्रोत रहा होगा।

वर्गीकरण विस्तार से किया गया (सू० अ० २४)। कुछ नये रोगों का भी वर्णन मिलता है यथा लाघरक (उ० ४४।१०)। शूल का विस्तृत वर्णन किया गया है (उ० ४२।७४-१४१); पञ्चकर्म, शिरोबस्ति का वर्णन विस्तार से है।[1] तैलद्रोणी में रोगी को सुलाने का विधान है (चि० १४।५; ३।२८; २।७७); एक स्थल पर घृतद्रोणी भी है (चि० १४।५), वातव्याधि में तथा जीवाणुसंक्रमण से बचने के लिए इसका प्रयोग करते थे। दूष्योदर में वानस्पतिक विषों का प्रयोग विहित है। वानस्पतिक विषों के औषधीय प्रयोग का स्रोत यही है। रोगों के लिए कुछ विशिष्ट औषधों का निर्धारण किया गया यथा कुष्ठ के लिए तुवरक, खदिर और बीजक; अर्श के लिए कुटज और भल्लातक; प्रमेह के लिए हरिद्रा, आढ्यवात के लिए गुग्गुलु आदि। नवायस और लोहारिष्ट का विधान प्रमेहपिडका-प्रकरण में है।

१०. अगदतंत्र में विषों का वर्गीकरण विस्तार से किया गया है। फेणाश्म, हरिताल, वत्सनाभ आदि का वर्णन यहीं से मिलता है। 'जलसंत्रास' का वर्णन अलर्क विष में किया गया है (क० ७।४०-६३)। विषों की चिकित्सा में मन्त्र एवं ओषधि दोनों का प्रयोग विहित है किन्तु इन दोनों में मन्त्र की प्रधानता है। मन्त्रसिद्धि कठिन और सर्वसाध्य नहीं है अतः अगदों का विधान किया गया है।[2] दुन्दुभिस्वनीय के द्वारा वायुगत विष तथा विशिष्ट विधि द्वारा जलगत विष के शोधन का विधान मौलिक है। शिर पर क्षत बनाकर औषध देने का विधान है (क० ५।२२)।

११. सैनिक चिकित्सा (Military Medicine) का प्रारंभ युक्तसेनीय अध्याय से माना जा सकता है। इसमें अनेक प्रकार की बातें बतलाई गई हैं।

१२. भैषज्यकल्पना के क्षेत्र में भी अनेक कल्पनाओं का विधान किया गया है। पुटपाक विधि का वर्णन विस्तार से है (उ० १८।३१-३५)। 'त्वक्पिण्डं दीर्घवृन्तस्य' (उ० ४०।७८-७९) यह श्योनाक या अरलु का पुटपाक जो आगे चक्रदत्त आदि ग्रन्थों में भी वर्णित है संभवतः नागार्जुन या चन्द्रट की देन है। इसके अतिरिक्त स्नेहपाक (चि० ३१।७।१५); सुरा, मन्थ, आसव, अरिष्ट, लेह, चूर्ण, अयस्कृति चूर्णक्रिया का वर्णन मिलता है। इनमें अधिकांश कल्पनायें सुश्रुत की मौलिक हैं। किसी द्रव्य के चूर्ण को उसी के स्वरस से भावित करना चूर्णक्रिया कहलाता है जैसे आमलकीरसायन बनाते हैं। अरिष्टनिर्माण की विधि भी सर्वप्रथम यहीं मिलती है। कौटिल्य ने भी इसका उल्लेख किया है।

---

१. वस्तिकर्म में दक्ष वस्तिविशारद कहलाते थे (चि० ३८।५; उ० ४३।८)

२. विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः।
यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः॥
मन्त्रास्तु विधिना प्रोक्ता हीना वा स्वरवर्णतः।
यस्मान्न सिद्धिमायान्ति तस्माद्योज्योऽगदक्रमः॥ —क० ५।८; ११

१३. द्रव्यगुणविज्ञान के क्षेत्र में भी सुश्रुत और नागार्जुन एक संप्रदाय के हैं। सम्भव है, सुश्रुतप्रतिसंस्कर्ता नागार्जुन ने ही रसवैशेषिक की रचना की हो। रस, गुण, वीर्य, विपाक का विचार विस्तार से किया गया है। प्रभाव का अन्तर्भाव वीर्य में ही है। भूमिप्रविभाग के अनुसार द्रव्यों के कर्म की व्याख्या की गई है। द्रव्यों के संग्रह और संरक्षण का भी विचार है। द्रव्यों का वर्गीकरण प्रधान द्रव्य के नाम पर कर्मानुसार किया गया है। खनिज द्रव्यों के प्रयोगबाहुल्य के कारण उनका एक गण (त्रप्वादिगण) पृथक् दिया गया है। पञ्चपञ्चमूल आदि गणों की नवीन कल्पना की गई है। एरण्डतैल (सू० ४४।७३) तथा चतुरंगुलतैल (सू० ४४।७२) का नवीन प्रयोग मिलता है। रसोन और पलाण्डु को आगे लाने का श्रेय सुश्रुत को ही है जिसे वाग्भट ने और बढ़ाया।

औषधद्रव्यों के क्षेत्र में भी मौलिकता मिलती है। अनेक ऐसे द्रव्य हैं जो चरक में नहीं हैं केवल सुश्रुत और वाग्भट में हैं। यहाँ यह मानना उचित होगा कि उस द्रव्य का समावेश सर्वप्रथम सुश्रुत ने किया जिसका ग्रहण वाग्भट ने भी किया। जो द्रव्य केवल सुश्रुत में हैं और वाग्भट में नहीं हैं उसके सम्बन्ध में यह अनुमान किया जा सकता है कि वे वाग्भट के बाद सुश्रुत में प्रतिसंस्कर्ता द्वारा सन्निविष्ट किये गये हों।

बृहत्त्रयी में से केवल सुश्रुतसंहिता में उपलब्ध औषधद्रव्य निम्नांकित हैं:—

१. लताकस्तूरिका	१४. त्रिपुटक	२७. सितसिन्धुवार
२. चम्पक	१५. द्राविडी (एला)	२८. सुवहा
३. सोम के भेद	१६. पारिजात	२९. स्थूलकन्द
४. विषों के भेद	१७. पुत्रजीवक	३०. हरिमन्थ (चणक)
५. अर्कपर्णी	१८. भिल्लोट	३१. अमृताह्वय
६. अश्वबला	१९. महानिम्ब	३२. अलसान्द्र
७. कुरवक	२०. महाश्यामा	३३. आमिष (गुग्गुलु)
८. केतक	२१. मुचुकुन्द	३४. चर्मवृक्ष
९. क्षीरपलाण्डु	२२. मोक्षक	३५. तलकोट
१०. गिलोड्य	२३. मोदयन्ती	३६. नदीभल्लातक
११. गुडशर्करा	२४. वन्दाक	३७. माणक
१२. चक्रमर्द	२५. शाखोट	३८. मूषिका
१३. तिमिर	२६. सिद्धक	३९. रक्तवृक्ष
		४०. वेणुपत्रिका

निम्नांकित औषधद्रव्य सुश्रुत और अष्टांगहृदय दोनों में मिलते हैं किन्तु चरक में नहीं हैं:—

१. वाकुची	१८. चोच	३६. मोहनिका
२. अगस्त्य	१९. तापसवृक्ष	३७. यावशूकज
३. वन्यकुलत्थ	२०. ताम्रवल्ली	३८. राजिका
४. इन्द्रवृक्ष (कुटज)	२१. तालपत्री	३९. रामठ
५. उत्पलसरिवा	२२. तुगाक्षीरी	४०. रेणुका
६. कच्चक	२३. दीर्घवृन्त	४१. विषमुष्टिक
७. करञ्जिका	२४. देवदाली	४२. वीरतरु
८. काम्बोजी	२५. पारिभद्र	४३. वृद्धि
९. कीटारि (विडंग)	२६. पिचुक	४४. वैजयन्ती
१०. कुलहल	२७. पिप्पल (अश्वत्थ)	४५. शरपुंखा
११. कोकिलाक्ष (इक्षुरक)	२८. पुन्नाग	४६. शिवाटिका
१२. गिरिकदम्ब	२९. बन्धूक	४७. शीर्णवृन्त
१३. गृध्रनखी	३०. भल्लूक	४८. शुकनसा
१४. नागकेशर (चरक में नागपुष्प)	३१. भूतकेशी	४९. शृगालविन्ना
	३२. मलयज (चंदन)	५०. शेफालिका
१५. घोण्टा	३३. मल्लिका	५१. सर्पगन्धा
१६. चुक्र	३४. मुरा	५२. सुरसी
१७. चूत	३५. मुरंगी (शिग्रु)	५३. हस्तिकर्ण
		५४. कङ्कुष्ठ

खनिजद्रव्यों तथा मणि-रत्नों में मुख्यतः निम्नांकित अवलोकनीय हैं :—

१. पारद	१०. गोमेद	१९. लौह
२. हरताल	११. मुक्ता	२०. रीति
३. मनःशिला	१२. प्रवाल	२१. कांस्य
४. फेणाश्म	१३. इन्द्रनील आदि	२२. लौहभस्म
५. वज्र	१४. स्वर्ण	२३. कांस्यभस्म
६. वैदूर्य	१५. रजत	२४. माक्षिक
७. स्फटिक	१६. ताम्र[1]	२५. शिलाजतु
८. काच	१७. त्रपु	२६. कासीस
९. कुरुविन्द	१८. सीस	२७. तुत्थ

१. इन द्रव्यों के बने भोजनपात्रों का उल्लेख हो चुका है। वस्तिनेत्र बनाने के लिए अयस्, रीति, दन्त, मणि आदि का उपयोग होता था (चि० ३५।६) तथा अञ्जनपात्र दन्त, स्फटिक, वैदूर्य, शंख, शैल, असन, स्वर्ण, शृंग, रजत, ताम्र, कांस्य, अयस् तथा खदिर के बनते थे (उ० १७।२०; १८।५९; ९०).

इस सूची से स्पष्ट है कि नये-नये औषधद्रव्यों का समावेश सुश्रुत ने किया। वत्सनाभ के अनेक भेदों का वर्णन सर्वप्रथम यहीं मिलता है। किन्तु दिव्य ओषधियाँ अज्ञात हो रही थी, सोम का वर्णन पूर्णतः काल्पनिक है, कहीं कन्द, कहीं वल्ली, कहीं प्रतान और कहीं क्षुप लिखा है। आगे चलकर यह प्रकरण वाग्भट में छूट हो गया।

१४. सुश्रुतकालीन वैद्यक व्यवसाय

शास्त्र एवं कर्म के कुशल वैद्य ही योग्य तथा राजार्ह माने गये हैं। एक पक्ष भी त्रुटित या दुर्बल हो तो वह कार्य में समर्थ नहीं होता। अध्ययन पूरा करने पर राजा की अनुज्ञा (Registration) लेकर चिकित्साकार्य में लोग प्रवृत्त होते थे। बड़े-बड़े शस्त्रकर्मों में भी अधिपति का आदेश ले लिया जाता था। वैद्य के लिए सद्वृत्त एवं आचार का विधान था जिसका पालन करना आवश्यक था। फिर भी नीमहकीम उस समय भी थे जिनके लिए वैद्यविदग्ध (सू० १०।७), कुवैद्य (सू० २५।२७), मूर्ख (वैद्य)–(सू० २५ २९) तथा तस्करवृत्ति (सू० १७।६) इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये शासन की शिथिलता के कारण ही सर उठाते थे। योग्य वैद्य की पूजा होती थी (सू० ५।४)।

चरक के काल में चिकित्सा धर्मार्थ थी, अर्थ और काम उसके उद्देश्य नहीं थे किन्तु सुश्रुत के काल में वैद्यों के लिए अपनी प्राणयात्रा का भी साधन आयुर्वेद बना। 'धनलाभ', 'द्रव्यलाभ' का स्पष्ट उल्लेख है (सू० २९।७५-७८); चिकित्सा के प्रयोजन धर्म, अर्थ, कीर्ति आदि कहे गये हैं (सू० २५।४२)

चिकित्सा में औषध के साथ-साथ मन्त्रों का भी प्रयोग होता था अत एव राजा के साथ रसविशारद वैद्य तथा मन्त्रविशारद पुरोहित के रहने का उपदेश है जो क्रमशः दोषज तथा आगन्तुज व्याधियों से उसकी रक्षा करते थे।[1]

व्याधि विशेषतः संक्रामक रोग होने पर उसकी सूचना देनी पड़ती थी। व्याधिगोपक के लिए दण्ड का विधान है। यह शब्द सुश्रुत (१०।७) में प्रयुक्त हुआ है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सुश्रुतसंहिता आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है तथा इसने शल्य, चिकित्सा आदि विभिन्न अंगों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। विशेषतः शल्यतंत्र के क्षेत्र में इसके अवदान अपूर्व एवं ऐतिहासिक है।

---

१. दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ।
रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्नाद् वैद्यपुरोहितौ ॥ सू० ३४।५

सुश्रुतोक्त आचार्य

सुश्रुतसंहिता में निम्नांकित ऋषियों एवं आचार्यों का निर्देश मिलता है :—

१. शौनक	४. मार्कण्डेय	७. औपधेनव
२. कृतवीर्य	५. सुभूतिगौतम	८. औरभ्र
३. पाराशर्य	६. धन्वन्तरि	९. पुष्कलावत
		१०. विदेहाधिप

सुश्रुतसंहिता का काल

पहले यह कहा गया है कि सुश्रुतसंहिता में निर्माण के चार स्तर हैं—वृद्धसुश्रुत, सुश्रुत, नागार्जुन और चन्द्रट जिनके काल भिन्न-भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में यह आसानी से समझा जा सकता है कि सुश्रुतसंहिता का समष्टिरूप से एक काल निश्चित करना संभव नहीं है। इस संबंध में केवल विभिन्न रचनास्तरों का काल पृथक्-पृथक् बतलाया जा सकता है। यदि कोई नालन्दा के भग्नावशेष के किसी एक निर्माणस्तर को देखकर कालनिर्णय का प्रयास करेगा तो उसे धोखा ही होगा। प्राचीन संहितायें वैसे ही भग्नावशेष हैं जिनमें समय-समय पर उपबृंहण और संशोधन का कार्य होता रहा है। खेद है कि इस वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति से आयुर्वेदीय संहिताओं का ऐतिहासिक अध्ययन न होने के कारण इनके संबन्ध में कालनिर्धारण प्रायः भ्रामक रहा है। स्तरों का विचार न होने के कारण विभिन्न मतों में समय में पर्याप्त अन्तर है और उनमें सामञ्जस्य स्थापित करना कठिन कार्य है। इन विभिन्न मतों का उपर्युक्त स्तरों के अनुसार निम्नांकित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

१—१००० ई० पू०—	हेसलर
	मुखोपाध्याय
२—१–५ शती—	लिटार्ड (१ शती)
	मैकडोनल (४थी शती)
	न्यूबर्गर (५वीं शती)
३—९–१२ शती—	जोन्स (९वीं शती)
	विलसन (१०वीं शती)
	हॉस (१२वीं शती)

पहले, दूसरे और तीसरे वर्ग के मत क्रमशः आद्यसुश्रुत; सुश्रुत—नागार्जुन और चन्द्रट के स्तरों का स्पर्श करते हैं। अतः ये आंशिक रूप से ठीक होने पर भी सर्वांशतः इनमें से कोई भी ग्राह्य नहीं है। दो विचित्र मत इस सम्बन्ध में और हैं:—एक

हार्नले का तथा दूसरा हवर्ट गोवेन का। हार्नले सुश्रुत को ६०० ई० पू० रखते हैं। यद्यपि वह ब्राह्मण-उपनिषद् काल में सुश्रुत को रखने के पक्ष में हैं किन्तु शतपथ ब्राह्मण का काल ही ६०० ई० पू० मानकर उस समय या कुछ पूर्व उसे रखते हैं। ६०० ई० पू० में वुद्ध का आविर्भाव हुआ था और उसके बहुत पूर्व ब्राह्मण-उपनिषद् बन चुके थे अतः इस आधार पर सुश्रुत का काल ६०० ई० पू० रखना उचित नहीं है। हवर्ट गोवन लिखते हैं कि कुछ लोग सुश्रुत के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करना चाहते और कुछ लोग कहते हैं कि सुकरात का ही नाम सुश्रुत हो गया और कॉस (Cos) काशी। जो विदेशी विद्वान यह कहते हैं कि चरक और सुश्रुत दोनों संहिताओं के प्रणेता एक ही व्यक्ति थे उनका भी भीतरी मन्तव्य इसी प्रकार का है किन्तु परंपरा और संप्रदाय भेद को देखते हुए यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। सुश्रुत का नामनिर्देश सुकरात के बहुत पहले से ब्राह्मणों—उपनिषदों में उपलब्ध हैं तथा संहिता के उद्धरण भी प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं।

सारांश

१. काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि तथा आद्य या वृद्धसुश्रुत उपनिषत्कालीन हैं। इनका काल १०००–१५०० ई० पू० है।

२. सुश्रुत का काल २री शती है। इसने मूलसंहिता का प्रतिसंस्कार किया।

३. नागार्जुन ने ५ वीं शती में इसका पुनः प्रतिसंस्कार किया और उसने उत्तर-तन्त्र जोड़ा। यह स्मरणीय है कि गुप्तकाल में ४–६ ई० के बीच चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता दोनों का प्रतिसंस्कार हुआ तथा वाग्भट की रचनायें भी इसी काल की हैं।

४. सुश्रुतसंहिता की पुनः पाठशुद्धि चन्द्रट (१० वीं शती) द्वारा हुई जो एक प्रकार का प्रतिसंस्कार ही था। इस प्रकार वर्तमान सुश्रुतसंहिता का काल ११ वीं शती है। इसमें निम्नांकित चार स्तर हैं :—

१. वृद्धसुश्रुत (१०००–१५०० ई० पू०)
२. सुश्रुत (२ री शती)
३. नागार्जुन (५वीं शती)
४. चन्द्रट (१०वीं शती)

सुश्रुतसंहिता की टीकायें और अनुवाद

सुश्रुतसंहिता पर अनेक विद्वानों ने टीका लिखी है जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :—

१. जेज्जट
२. गयदास (पञ्जिका या न्यायचन्द्रिका)

३. श्रीमाधव (टिप्पण)
४. ब्रह्मदेव (टिप्पण)
५. भास्कर (पञ्जिका)
६. गूढ़पदभंगटिप्पण
७. सुश्रुतश्लोकवार्त्तिक, प्रश्नविधानाख्यटीका (मधुकोश में उद्धृत)
८. सुवीर
९. सुधीर
१०. सुकीर
११. नन्दि
१२. वराह
१३. कार्त्तिककुण्ड
१४. वङ्गदत्त
१५. चक्रपाणिदत्त (भानुमती)
१६. डल्हण (निबन्धसंग्रह)
१७. गदाधर
१८. हाराणचन्द्र (सुश्रुतार्थसन्दीपन)

हिन्दी टीकाओं में निम्नांकित प्रसिद्ध हैं :—

१. भास्करगोविन्द घाणेकर कृत
२. अम्बिकादत्त शास्त्रीकृत
३. अत्रिदेव विद्यालंकारकृत

मराठी, बंगाली आदि भाषाओं में भी इसके अनुवाद हुये।

सुश्रुतसंहिता लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ होने के कारण अनेक विदेशी भाषाओं में भी इसके अनुवाद हुये जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

अंगरेजी—१. हार्नले (१८९७ ई०, सूत्रस्थान ११४ तक)
२. यू० सी० दत्त (१८८३, सूत्र ११४२ तक)
३. ए. सी. चट्टोपाध्याय (१८९१, सूत्र ११४६ तक)
४. कुञ्जीलाल भिषग्रत्न (१९०७–११; पूर्ण)
५. जी. डी. सिंघल (प्रकाश्यमान)

लैटिन—हेसलर (१८४४ ई०)

जर्मन—वेल्लर्स

अरबी—किताब-शरसुन-अल-हिन्दी या किताब-ए-सुसरुड (९वीं शती)
(इब्न अबिल्लसाइबाल द्वारा निर्दिष्ट तथा रेजस द्वारा बहुधा उद्धृत)

विभिन्न संस्करण

१. मधुसूदन गुप्त (कलकत्ता, १८३५)
२. जीवानन्द (कलकत्ता, १८७७)
३. हेमचन्द्र चक्रवर्ती (कलकत्ता, १९१०–१८)
४ खंडों में संस्कृतव्याख्यासहित
४. वोरकर (पूना, १९३४)
मराठी अनुवादसहित
५. वीरस्वामी (मद्रास)
६. निर्णयसागर, बम्बई (१९३८, तृतीय संस्करण; १९१५, प्रथम संस्करण)

डल्हणव्याख्यासहित तथा गयदासपञ्जिकान्वित आचार्य यादवकी द्वारा सम्पादित यह संस्करण सर्वोत्तम है।

चरकसंहिता

वर्तमान काल में उपलब्ध चरकसंहिता को यह रूप अनेक परिवर्तनों के बाद प्राप्त हुआ है। संहिता के प्रारंभ में आयुर्वेद के अववरण का जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार ब्रह्मा से प्रजापति, प्रजापति से अश्विनीकुमार, अश्विनीकुमार से इन्द्र तथा इन्द्र से भरद्वाज ने आयुर्वेद प्राप्त किया जिसका ज्ञान उन्होंने ऋषियों को दिया। पुनर्वसु आत्रेय ने पुनः यह ज्ञान अपने छः शिष्यों को हस्तान्तरित किया। ये शिष्य थे—अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। इनमें सर्वप्रथम आत्रेय के उपदेशों को तन्त्ररूप में निबद्ध करने वाले अग्निवेश थे। उसके बाद भेल आदि ने भी अपने-अपने तन्त्र बनाये।[1] इन आचार्यों ने अपनी-अपनी रचनायें ऋषि-परिषद् के समक्ष आत्रेय को सुनाई जिनके द्वारा अनुमोदित होने पर लोक में प्रतिष्ठित हुई।[2] इससे स्पष्ट होता है कि आत्रेय के उपदेशों को सर्वप्रथम निबद्ध करने वाले अग्निवेश थे और उनकी रचना 'अग्निवेश-तन्त्र' इस क्षेत्र की सर्वप्रथम कृति थी। उपर्युक्त आख्यान से पता चलता है कि ये रचनायें मूलतः तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध थीं और इनमें विषयों का प्रतिपादन सूत्ररूप में हुआ था।[3]

यह सूत्ररचना का ही काल था जिसमें संस्कृत वाङ्मय में वैदिक ज्ञान के आधार पर अनेक सूत्रों का निर्माण हो रहा था। सूत्ररूप अग्निवेशतन्त्र पर आगे चलकर चरक ने संग्रह तथा भाष्य लिखा जो चरकसंहिता के नाम से प्रसिद्ध हुई। कालान्तर

१. च० सू० १।४-५; २७ कहीं कहीं भरद्वाज और आत्रेय की एकता भी सूचित होती है। देखें—'आत्रेय भरद्वाजे भरद्वाज आत्रेये'—पाणिनीय गणपाठ ४।१।१०
२. च० सू० १।३०-४०
३. च० सू० १।३४; ३०।२९; च० शा० ६।१८

में दृढ़बल ने इसका पुनः प्रतिसंस्कार किया। इन तीनों स्थितियों का संकेत सूत्रभाष्य-संग्रहक्रम[1] के द्वारा किया गया है। अग्निवेशतन्त्र सूत्र, संग्रह तथा भाष्य के क्रम से परिणत होकर अद्यतन चरकसंहिता के रूप में विद्यमान है। काल की दृष्टि से वर्त्तमान चरकसंहिता में तीन स्तर मिले हुये हैं :—

१. उपदेष्टा आत्रेय तथा तन्त्रकर्ता अग्निवेश

२. भाष्यकार चरक

३. प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल

अतः इसके संगोपांग अध्ययन के लिए इन तीनों का विवेचन आवश्यक है।

पुनर्वसु आत्रेय

पुनर्वसु आत्रेय ने भरद्वाज से साक्षात् आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की या परम्परया यह कहना कठिन है क्योंकि भरद्वाज से ऋषियों ने ज्ञान प्राप्त किया इतना ही निर्देश मिलता है; किन्तु इस परम्परा का कोई स्पष्ट उल्लेख न होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरद्वाज से ज्ञान प्राप्त करने वाले ऋषियों में पुनर्वसु आत्रेय भी थे; किन्तु चरक-संहिता के आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद (च० चि० १।४।३-५) में जो आख्यान है उसके अनुसार भृगु, अंगिरस्, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप आदि महर्षि स्वयं इन्द्र के पास हिमालय प्रदेश में गये थे और उनसे आयुर्वेद प्राप्त किया।[2] वहाँ भरद्वाज की मध्यस्थता का उल्लेख नहीं है। काश्यपसंहिता में लगभग यही आख्यान प्रकारान्तर से दिया है। इसके अनुसार अत्रि ने इन्द्र से ज्ञान प्राप्त कर अपने पुत्रों तथा शिष्यों को दिया।[3] पुनर्वसु आत्रेय अत्रि के पुत्र तथा शिष्य दोनों थे। अतः अधिक उपयुक्त यही प्रतीत होता है कि पुनर्वसु आत्रेय ने भरद्वाज से साक्षात् शिक्षा न लेकर अत्रि के माध्यम से लिया। उपनिषत्काल में पिता से भी विद्याध्ययन की प्रथा थी।[4] इसके अतिरिक्त, भरद्वाज चरकसंहिता की अनेक परिषदों में भाग लेते हुये दिखाये गये हैं।[5] एक स्थल पर आत्रेय और भरद्वाज में शास्त्रचर्चा भी हुई है जहाँ

१. च० वि० ८।३; च० सू० २९।७

व्याकरणशास्त्र में पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि की कृतियों को क्रमशः सूत्र, संग्रह तथा भाष्य कहते हैं।

'शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः। शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः॥'

(महाभाष्य २।३।६६)

२. च० चि० १।४।३

३. काश्यप० पृ० ६१

४. देखें श्वेतकेतु आरुणेय तथा प्रवाहण जैवलि का आख्यान छान्दोग्योपनिषद् में 'कुमारानुस्त्वाशिषत् पिता'—

५. च० सू० २५।१८, च० १।३।४

भरद्वाज आत्रेय के विपक्षी हैं और अन्त में आत्रेय ने उन्हें शिक्षा दी है।[1] यह भी सम्भव है कि वह कोई भिन्न भारद्वाज हों। इसके अतिरिक्त, एक कुमारशिरा भरद्वाज का भी उल्लेख आता है।[2] वह भी कोई भिन्न आचार्य प्रतीत होते हैं।

आत्रेय के साथ अनेक विशेषणों का प्रयोग होने से यह शंका होती है कि यह एक ही व्यक्ति थे या भिन्न-भिन्न? पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय तथा भिक्षु आत्रेय ये तीन शब्द संहिता में मिलते हैं। वस्तुतः मूल ग्रन्थ में सर्वत्र पुनर्वसु आत्रेय का ही प्रयोग हुआ है। चरकसंहिता में केवल एक स्थान पर संग्रहश्लोकों में कृष्णात्रेय शब्द का प्रयोग हुआ है (त्रिभिर्नेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता—च० सू० १५।६३) किन्तु संभवतः प्रतिसंस्कर्ता द्वारा प्रक्षिप्त होने से उस आधार पर कोई निर्णय लेना उचित नहीं प्रतीत होता। अतः चरक के आधार पर कोई भ्रम नहीं है। भेलसंहिता में दो-तीन स्थलों पर कृष्णात्रेय का उल्लेख है, महाभारत में भी 'कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्' कहकर कायचिकित्सा के आचार्य कृष्णात्रेय का उल्लेख किया है। संभव है, पुनर्वसु आत्रेय संप्रदायविशेष में कृष्णात्रेय के नाम से प्रसिद्ध हो गये हों। किन्तु इतना निश्चित है कि चक्रपाणि, इन्दु आदि की व्याख्याओं में निर्दिष्ट कृष्णात्रेय भिन्न आचार्य हैं। श्रीकण्ठदत्त, शिवदाससेन आदि की व्याख्याओं में भी कृष्णात्रेय का उल्लेख मिलता है जो शालाक्य के आचार्य हैं अतः कोई भिन्न ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। पुनर्वसु के प्रसंग में आत्रेय शब्द गोत्रवाचक न होकर अत्रिपुत्र का ही बोधक है।[3] ऐसी स्थिति में संभावना यह भी है कि पुनर्वसु नक्षत्र-नाम हो तथा कृष्ण पुकार का नाम हो।[4] भिक्षु आत्रेय आत्रेयगोत्रोत्पन्न कोई बौद्ध भिक्षु या परिव्राजक प्रतीत होता है जो पुनर्वसु से भिन्न व्यक्ति है क्योंकि पुनर्वसु ने इसके मत का खण्डन किया है। यजःपुरुषीय परिषद् (च० सू० २५।२४-२५) में इसने कालवाद का समर्थन किया है। पुनर्वसु आत्रेय के लिए 'चान्द्रभागि' तथा 'चान्द्रभाग'[5] विशेषण से पता चलता है कि उनकी माता का नाम 'चन्द्रभागा' था। पुनर्वसु के लिए 'महर्षि' ब्रह्मर्षि तथा 'भगवान्' विशेषण आये हैं। ब्रह्मर्षि[6] पद से संकेत होता है कि वह ब्राह्मण थे। उन्हें अग्निहोत्री कहा गया है[7] तथा वह आयुर्वेदविदों में श्रेष्ठ एवं भिष-

---

१. च० शा० ३।४, २८, ३१।
२. च० सू० २६।४, च० शा० ६।१८।
३. च० चि० ३।३४७; १।२।३-४; २०।३, २१।६८, ३०।५०,
४. कृष्ण नाम उपनिषत्काल में भी था 'कृष्णाय देवकीपुत्राय (छा० ३।१७।६)
५. च० सू० १३।१०१ भेल० ४२ पृ०।
६. च० चि० १।१।३
७. च० चि० १९।३, २९।३

विद्याप्रवर्तक थे[1]। चन्द्रभागा नदी के आसपास निवास के कारण उनका विशेषण 'चान्द्रभागि' है, ऐसा कुछ लोगों का मत है। ऐसी स्थिति में हिमाचल प्रदेश में स्थित चम्बा नामक स्थान पर ध्यान जाना स्वाभाविक है।

आत्रेय नामक किसी आचार्य का तक्षशिला विश्वविद्यालय से भी सम्बन्ध बतलाया जाता है जिससे जीवक ने शिक्षा ग्रहण की थी किन्तु यह विवरण प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता है। कहीं यह भी मिलता है कि जीवक ने काशी में शिक्षा ग्रहण की। यदि यह बात मान भी ली जाय तो वह आत्रेय शल्यतंत्र में दक्ष कोई अन्य ही व्यक्ति होंगे क्योंकि पुनर्वसु आत्रेय तो कायचिकित्सा के विशेषज्ञ थे और इस विशिष्ट संप्रदाय के प्रवर्तक भी थे।

चरकसंहिता में कहीं भी तक्षशिला का उल्लेख नहीं मिलता। यदि पुनर्वसु आत्रेय का सम्बन्ध वहां से रहता तो अवश्य उसका कोई उल्लेख या संकेत होता।

अग्निवेश

पुनर्वसु आत्रेय के शिष्यों में सर्वप्रथम अग्निवेश का नाम आता है जिन्होंने आत्रेय के उपदेशों को तन्त्ररूप में निबद्ध किया।[2] सुश्रुत में भी छः कायचिकित्सा का उल्लेख है जो संभवतः अग्निवेश आदि छः तन्त्रकारों के लिए अभिप्रेत है।[3] उपलब्ध चरकसंहिता में गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर रूप में विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त, कहीं-कहीं तृतीय व्यक्ति के वचन भी हैं। इस प्रकार विषय-वस्तु को गुरुसूत्र, शिष्यसूत्र, प्रतिसंस्कर्तृसूत्र में विभक्त किया गया है।[4] परिपदों का विवरण तन्त्रकार द्वारा उपस्थापित प्रतीत होता है क्योंकि अग्निवेश विचार-विमर्श में स्वयं भाग नहीं लेता अतः वह विवरणकार के रूप में कार्य कर सकता है। प्रश्न है कि आत्रेय तथा अग्निवेश के प्रश्नोत्तर को उस रूप में स्वयं अग्निवेश ने उपस्थित किया है या प्रतिसंस्कर्ता ने ? कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी यह शैली मिलती हैं। जो लोग यह मानते हैं कि कौटिल्य ने ही अर्थशास्त्र की रचना की वे इसी शैली को आप्त मानकर यहाँ भी इसका उपयोग करते हैं। चक्रपाणि इसी मत के समर्थक है। किन्तु अधिक स्वाभाविक यह प्रतीत होता है कि अग्निवेश ने अपने तन्त्र में आत्रेय के उपदेशों का जो निबन्धन किया होगा उसका पल्लवन कर तथा प्रश्नोत्तर का रूप देकर चरक ने बाद में उसे उपबृंहित किया होगा। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूलतः अग्निवेशतन्त्र सूत्ररूप में होगा जिसमें विषयों का

---

१. च० चि० १३।४

२. च० सि० १२।६४

३. सु० उ० १।६ और उस पर 'डल्हण' व्याख्या।

४. च० सू० १।२ चक्र०।

प्रतिपादन संक्षेप में किया गया होगा। ऋषि-परिषदों के विवरण भी इसमें संक्षेप में होंगे जैसे कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में आचार्यों के मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है। चरक ने भाष्य करते हुए इन विषयों का विस्तार किया होगा और इसे संवाद का रूप दिया होगा। इसका स्पष्ट प्रमाण है सिद्धिस्थान का फलमात्रासिद्धि (अ० ११) का प्रकरण जिसमें अनेक ऋषियों का संवाद दृढबल ने नियोजित किया है। इसके अतिरिक्त 'तत्र श्लोकाः' करके अध्यायों के अन्त में जो अंश दिया है वह भी प्रतिसंस्कर्ताओं द्वारा ही समाविष्ट किया गया प्रतीत होता है।

चरकसंहिता की रचना के बाद अग्निवेशतन्त्र का अस्तित्व रहा या नहीं यह प्रश्न भी विचारणीय है। दूसरे शब्दों में, अग्निवेश-तन्त्र ने ही परिष्कृत एवं उपबृंहित होकर चरकसंहिता का रूप ले लिया या चरकसंहितारूप भाष्य बनने के बाद भी अग्निवेशतंत्र अपने मूलरूप में बना रहा। शिवदास सेन (१५ वीं शती) तक के टीकाकार अग्निवेश का उद्धरण देते आये हैं। वाग्भट ने भी अग्निवेश को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि अग्निवेशतन्त्र अपने मूलरूप में बाद तक प्रचलित रहा यद्यपि चरक का भाष्य बनने के बाद इसी का प्रचार अधिक हुआ जैसे पातंजल महाभाष्य बनने के बाद भी पाणिनि के सूत्रों का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ।

अग्निवेश का काल

पाणिनि ने शार्ङ्गरवादि (४।१।७३), अश्वादि (४।१।११०), गर्गादि (४।१।१०५) तथा तिकितवादि (२।४।६८) गणो में अग्निवेश तथा उसके समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने तक्षशिला का भी वरुणादि (४।२।८२), मध्वादि (४।२।८६) तथा तक्षशिलादि (४।३।९३) गणों में उल्लेख किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि उस काल में तक्षशिला की प्रसिद्धि थी। पाणिनि का काल ७ वीं शती ई० पू० मानते हैं। तक्षशिला का कोई संकेत चरकसंहिता में नहीं मिलता अतः मूल रचना उसकी प्रसिद्धि के पूर्व ही हुई होगी ऐसा प्रतीत होता है। जैसा कि पहले कहा गया है उपलब्ध चरकसंहिता में निर्माण की दृष्टि से तीन स्तर हैं :—अग्निवेश, चरक तथा दृढबल। इनके काल का निर्णय विषय-वस्तु के आधार पर करना होगा। निर्माण के तीन स्तरों के अनुसार विषयवस्तु को तीन स्तरों में विभाजित करना होगा। जो प्राचीनतम विषयवस्तु होगी उसका सम्बन्ध अग्निवेश से माना जायगा। इसी प्रकार मध्यम विषयवस्तु का सम्बन्ध चरक से तथा अपेक्षाकृत अर्वाचीन विषयवस्तु, का सम्बन्ध दृढबल से स्थापित होगा। चरकसंहिता की प्राचीनतम विषयवस्तु का यदि विश्लेषण किया जाय तो वह उपनिषत्कालीन प्रतीत होती है। इसमें निम्नांकित तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

१. शैली एवं भाषा—'इति ह स्माह भगवानात्रेयः' के द्वारा अध्याय प्रा करने की शैली ब्राह्मणकाल के अन्त में तथा उपनिषत्काल में देखी जाती है। प्र शब्द के आधार पर अध्यायों के नामकरण की शैली भी प्राचीन है। उपनिषदों 'सौम्य' शब्द से शिष्य को सम्बोधित किया गया है उसी प्रकार चरकसंहिता में अग्निवेश के लिए 'सौम्य' शब्द आया है। 'स्कन्ध' शब्द उपनिषदों में आया है 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० उ० २।२३।१); उसी प्रकार चरकसंहिता में आयुर्वेद लिए त्रिस्कन्ध विशेषण आया है तथा अन्य स्थलों में भी इसका प्रयोग हुआ है मधुरस्कन्ध, अम्लस्कन्ध आदि। उड़ते हुये पक्षी की उपमा का सादृश्य अवलो नीय है :—

'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमे पश्रयते।' (छा० उ० ६।८।२)

'तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनी वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सह यैव ध्रियते।' (बृ० उ० ४।३।१९)

'यथा हि शकुनिः सर्वा दिशोऽपि परियतन् स्वां छायां नातिवर्तते।'
(च० सू० ११

निम्नांकित वाक्यों की भी तुलना करें :—

विपापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः। (बृ० उ० ३।४।२३)	विपापं विरजः शान्तं परम मव्ययम्। अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्य शान्तिरुच्यते॥ (च० शा० ५।२
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः॥ (श्वेताश्वतर० १।१५)	रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पि तिले यथा। (च० चि० २।४६)

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, उपनिषदों की भाषा प्राचीन वैदिक भाष भिन्न गद्य-पद्य मिश्रित है, परवर्ती उपनिषदों यथा श्वेताश्वतर आदि में पद्या शैली है। अध्यायों के अन्त में 'तदेष श्लोको भवति' करके पद्यात्मक उपसंहार हैं। इसी प्रकार चरकसंहिता की भाषा गद्य-पद्य मिश्रित है। सम्भवतः मूल अग्नि शतन्त्र की शैली अधिक गद्यात्मक रही होगी किन्तु 'तत्र श्लोकाः' से अध्यायों उपसंहार की शैली उपनिषत्कालीन है[1]। सम्भव है, इस शैली को सुरक्षित रखते प्रतिसंस्कर्ताओं द्वारा इसमें बाद में भी कुछ श्लोक जोड़े गये हों।

चरकसंहिता में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग भी हुआ है :—'विस्तरेण कर्म निषदि व्याख्यास्यामः (च० सू० ४।४.)

२. देश—आत्रेय के उपदेश का जो स्थल है वह उपनिषदों के काल में प्र रहा है। पांचालक्षेत्र तथा काम्पिल्य का उल्लेख उपनिषदों में बहुशः हुआ है।

1. बृ० उ० ४।४।६–८

निषत्कालीन परिषदों में भाग लेने वाले अनेक ऋषियों के नाम इसमें मिलते हैं यथा जनक वैदेह, काशिपति आदि। गार्ग्य वालाकि उशीनर, मत्स्य, कुरु, पांचाल, विदेह का भ्रमण करता हुआ काशी के राजा अजातशत्रु के पास पहुँचा था।[1]

३. चतुष्पाद सिद्धान्त—यह सिद्धान्त वैदिककालीन है जो ब्राह्मणकाल में विशेष विकसित हुआ। ब्रह्म चतुष्पाद् माना गया है।[2] गायत्री भी चतुष्पदा होती है।[3] माण्डूक्य उपनिषद् में वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये चार पाद ब्रह्म के कहे गये हैं (२–७)। मनुस्मृति तथा चरक में धर्म भी चतुष्पाद कहा गया है। इसका आधार सम्भवतः पशुओं की चतुष्पाद-रचना है जिनका यज्ञ में तथा दैनिक जीवन में विशेष सम्पर्क था[4]। गौ, भेंड़ बकरी ये मुख्य पशु थे। सम्भवतः इसी सिद्धान्त के आधार पर चिकित्सा चतुष्पाद बतलाई गई है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी की चतुष्पाद-योजना का भी सम्भवतः यही आधार हो।

४. षोडशकल पुरुष—१५ दिनों तक उपवास करने पर भी पुरुष नहीं मरता इसका कारण पुरुष की सोलहवीं कला मानी गई है। अतः पुरुष को 'षोडशकल' कहा गया है।[5] चिकित्सकों के चतुष्पाद में भी प्रत्येक पाद के चार-चार गुण होते हैं इस प्रकार कुल सोलह गुण हो जाते हैं।[6] इसका आधार चन्द्रमा की कलायें रही हों जो पन्द्रह कलाओं के लुप्त होने पर भी सोलहवीं कला से पुनर्जीवित हो जाता है।[7] 'सोम' नामक ओषधि का स्वरूप भी इसी आधार पर निर्धारित हुआ है।

५. प्राचीन सांख्ययोग दर्शन—आद्य सांख्य दर्शन में चौबीस तत्त्व ही माने जाते थे।[8] किन्तु आगे चलकर इनकी संख्या पचीस हो गई। कपिलकृत षडध्यायी या षष्टितन्त्र जो सांख्यकारिका का मूल माना जाता है उसमें भी पचीस तत्त्व ही निर्दिष्ट हैं (१।६१)। इससे स्पष्ट है कि उसके भी पूर्व चौबीस तत्त्वों की मान्यता प्रचलित थी तथा उसी काल में अग्निवेशतन्त्र की रचना हुई होगी। महाभारत में इसी प्राचीन सांख्य दर्शन का उल्लेख है।[9] भूतों के अनुप्रवेश की जो मान्यता है[10] वह

---

१. कौषीतकीब्राह्मण उपनिषद् ४।१
२. छा० उ० ३।१८।२, ४।५।२-३, ६।७।१।
३. छा० उ० ३।१२।५
४. ऐ० आ० १।१।२
५. प्रश्न० ६।२, जै० ब्रा० १।२८
६. च. सू. ९।१०; च. सू. १०।३
७. बृ० उ० १।५।१४
८. च० सू० २५।२५
९. म० भा० शान्तिपर्व, ३०६।४२
१०. च० शा० १।२८

भी प्राचीन है। सांख्यसप्तति की माठरवृत्ति जिसका काल ईस्वी सन् का प्रारम्भ माना जाता है इसका समर्थन करती है।[1]

इसी प्रकार चरकसंहिता में योग के जो विषय मिलते हैं वे भी वर्तमान योगदर्शन से कुछ भिन्न हैं यथा योग तथा मोक्ष की परिभाषा, योग की सिद्धियाँ आदि। सम्भवतः यह भी योग की प्राक्तन स्थिति का द्योतक है।

६. त्रिदोषसिद्धान्त—वेद में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ (भूः, भुवः, स्वः) के देवता क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य बतलाये गये हैं। सोम अन्न माना गया है जिसकी आहुति अग्नि में की जाती है।[2] इस प्रकार यह पोषक तत्त्व का प्रतीक है जो शरीर में रस का संचार करता है। उपर्युक्त त्रिदेव में अग्नि और आदित्य तेज के ही दो रूप हैं अधिष्ठानभेद से एक की स्थिति पृथ्वी पर है और दूसरे का द्यौ में। आदित्य का क्षेत्र अग्नि से व्यापक है, अग्नि आदित्य के अभाव में उसका प्रतिनिधित्व करता है इस प्रकार वह आदित्य में अन्तर्भूत हो जाता है। ऐसी स्थिति में अग्नि के स्थान पर सोम को प्रतिष्ठित किया गया और इस प्रकार सोम, सूर्य, वायु के आधार पर कफ, पित्त, वात इस त्रिदोष की स्थापना हुई। अग्नि का उपयोग वैश्वानर अग्नि के रूप में किया गया तथा सोम के साथ मिलाकर उससे अग्निषोमीय सिद्धान्त की स्थापना हुई। शुक्र सौम्य तथा आर्त्तव आग्नेय है इस प्रकार अग्नि तथा सोम के संयोग से ही गर्भ का निर्माण एवं यौन जीवसृष्टि का प्रारम्भ होता है। पाचन तथा धातुनिर्माण के स्तर पर सोम पोषक तत्त्व का प्रतीक है जिसका पाचन-परिणमन अग्नि के द्वारा होकर शरीर का योगक्षेम चलता रहता है। दोषों के स्तर पर सोम कफ है तथा अग्नि पित्त का रूप है, वायु तो योगवाही है जो दोनों के गुणों का ग्रहण करता है। त्रिदोष में सर्वप्रथम वायु पर विचार हुआ। उसमें भी प्राणवायु जो जीवन से साक्षात् सम्बद्ध है उस पर सर्वप्रथम मनीषियों का ध्यान जाना स्वभाविक था उसके बाद क्रमशः अपान और व्यान[3] तथा बाद में समान और उदान का निर्धारण हुआ। उपनिषत्काल के अन्त तक इन पांचो वायुओं के स्वरूप, स्थान तथा कार्य का ज्ञान हो गया था।[4] किन्तु कफ एवं पित्त के प्रकारों का निर्धारण बाद में हुआ। चरकसंहिता में वातकलाकलीय में वात की ही महिमा का विशेष वर्णन है, पित्त और कफ का विशेष विवरण नहीं मिलता, उनके प्रकारों का भी उल्लेख नहीं किया गया। सुश्रुत ने पित्तरूप अग्नि के पांच प्रकारों का निर्धारण किया तथा आगे चलकर बाद

१. सांख्यदर्शन का इतिहास—पृ० ४६९
२. प्रश्न० १।४ और उस पर शांकरभाष्य प्रश्न० १।५
३. ऐ० ब्रा० २।४।२९
४. छा० उ० ३।१३।१–५, प्रश्न० ३–५–७

ने कफ के पांच प्रकारों का नामकरण किया । उपनिषत्कालीन तेजोबन्न (तेज, अप्, अन्न) इस त्रिवृत्करण[1] से भी त्रिदोषसिद्धान्त का सम्बन्ध है । दोषों के वर्ण का निरूपण इसी आधार पर किया गया. यथा कफ का श्वेत, पित्त का रक्त तथा वायु का कृष्णवर्ण ।[2] इसी आधार पर दोषानुसार सिराओं के वर्ण निर्धारित किये गये हैं ।[3] इसके अतिरिक्त अन्न के पाचन तथा धातुनिर्माण की प्रक्रिया के समझने में भी इससे विशेष सहायता मिली । अन्न-जल का हम ग्रहण करते हैं जिसका परिणमन अग्नि के द्वारा होकर रस आदि धातुओं का निर्माण होता है । सृष्टि का बीजभूत अन्तिम धातु 'शुक्र' या रेत तो प्रत्यक्ष ही था ।[4] रस तथा शुक्र के बीच के अन्य धातुओं की श्रृंखला क्रमशः स्थापित की गई । इस प्रकार सप्तधातु का सिद्धान्त निर्धारित हुआ । इसी प्रकार पंचमहाभूत का सिद्धान्त[5] भी उपनिषत्काल में निर्धारित हो गया था जिसका स्पष्ट निरूपण सांख्य तथा न्यायवैशेषिक आदि दर्शनों ने किया ।

त्रिवृत्करण से त्रिदोषसिद्धान्त की स्थापना में भी सहायता मिली होगी । आयुर्वेद का त्रिविधात्मक वर्गीकरण[6] तथा त्रेधा विभाग[7] (पोषक, पोष्य, मल) भी इसीसे प्रभावित प्रतीत होता है ।

७. इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय इनका निरुपण प्राचीन काल में ही हो गया था । इनके कर्मों का भी स्पष्ट निर्धारण उपनिषत्काल के अन्त तक हो गया था । मन के विषय में पर्याप्त विचार हो चुका था । मन का लक्षण जो चरकसंहिता (शा० १।१८) में दिया गया है वह उपनिषत्कालीन विचार पर ही आधारित है ।[8]

८. हृदय—उपनिषदों की ऐसी मान्यता थी कि आत्मा पुण्डरीकाकार हृदय में रहता है और हिता नामक सहस्रों नाड़ियाँ जो हृदय से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में फैली रहती है चेतना का संचार करती हैं । सुषुप्तिकाल में आत्मा हृदय के दहर नामक आकाश में विश्राम करता है ।[9] चरकसंहिता में भी ऐसा ही विचार है ।[10]

---

१. छा० ६।८।४
२. छा० उ० ६।४।१
३. छा० उ० ८।६।१
४. प्रश्न० १।१४
५. ऐतरेय० उ० ३।१।३
६. च० सू० ११।३४
७. छा० उ० ६।५।१-३
८. बृ० उ० १।५।३
९. छा० उ० ३।१४।३, ८।१।१, ८।६-१, बृ० उ० ४।३।२०
१०. च० सू० ३०।४; ऐतरेय उ० ३।१।२

९. दश प्राणायतन—शरीर के ऐसे अवयव जिनमें विशेष रूप से प्राण की स्थिति मानी गई है 'प्राणायतन' कहलाते हैं। उपनिषदों में इस पर पर्याप्त विचार हुआ है।[1] चरकसंहिता में दस प्राणायतन माने गये हैं।[2]

१०. भूतविद्या—ग्रह, गन्धर्व आदि का विश्वास उपनिषत्काल में प्रचलित था। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक गन्धर्वगृहीता स्त्री का वर्णन आया है।[3]

११. मधुविद्या—समस्त पदार्थों में जो सारभूत हैं उसे 'मधु' कहा गया है क्योंकि मधु पुष्पों के सार से बनता है। इस मधुविद्या का सुन्दर वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् (२।५) में किया गया है। चरकसंहिता में धातुओं का सारभूत होने के कारण ओज को मधु माना गया है।[4]

१२. रसोत्पत्ति—चरकसंहिता में यह विचार आया है कि आन्तरिक्ष जल के द्वारा जाङ्गम-स्थावर द्रव्यों में छः रसों की उत्पत्ति होती है।[5] इसका मूल भी उपनिषत्कालीन विचार है।[6]

१३. एषणा—चरकसंहिता के तिस्रैषणीय अध्याय (सूत्र ११) में प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणा इन तीन एषणाओं का वर्णन किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३।५।१, ४।४।२२) में ये तीन एषणायें पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा हैं। अग्निवेश ने इसे किंचित् परिवर्तित कर ग्रहण किया। (च० सू० ११)

१४. सदसत्—चरकसंहिता में लिखा है—'द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च' (सूत्र ११।१७)। यह विचार बृहदारण्यक उपनिषद् के निम्नांकित विचार से साम्य रखता है।

द्वे एव ब्राह्मणे रूपे मूर्तं चामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।—
(बृ० उ० २।३।१)

१५. परलोक—परलोक का निर्देश उपनिषदों में मिलता है।[7] तत्कालीन अनेक नास्तिक मतों का उल्लेख भी श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है।[8] चरकसंहिता में भी इन मतों का खण्डन कर परलोक की स्थापना की गई है।[9]

---

१. बृ० उ० ३।९।४
२. च० सू० २९।३
३. बृ० उ० ३।७।१
४. च० सू० १७।७७
५. च० सू० २६।२७
६. बृ० उ० ६।२।१६, छा० उ० ५।१०।६
७. बृ० उ० ४।३।९
८. श्वेता० १।२, ६।१
९. च० सू० ११।६

१६. ऋषिपरिषद् तथा शास्त्रावतरण—ऋषिपरिषदों का जो आयोजन हम चरकसंहिता में देखते हैं उसका मूल उपनिषदों में ही है। भरद्वाज, अत्रि, विश्वामित्र, आत्रेय, अग्निवेश, पाराशर्य, जातूकर्ण्य आदि ऋषियों के नाम उपनिषदों में आये हैं।

ब्रह्मा से क्रमशः शास्त्र के अवतरण की परम्परा उपनिषदों में दृष्टिगोचर होती है। छान्दोग्य उपनिषद् के अन्त में कहा गया है कि यह ब्रह्मा के द्वारा प्रजापति को, प्रजापति के द्वारा मनु को, मनु के द्वारा प्रजा को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के मधुविद्या-प्रकरण में निर्दिष्ट है कि यह विद्या इन्द्र से दध्यङ् आथर्वण को तथा दध्यङ् आथर्वण से अश्विनीकुमार को प्राप्त हुई।[1] इसी प्रकार का प्रसंग मुण्डकोपनिषद् में आया है जहाँ ब्रह्मविद्या ब्रह्मा से क्रमशः अथवा अंगिरस्, भारद्वाज सत्यवह, आंगिरस तथा शौनक को प्राप्त हुई।[2]

१७. मनुष्य की परमायु—छान्दोग्य उपनिषद् (३।१६।१-७) में मनुष्य की परमायु ११६ वर्ष कही गयी है—२४ वर्ष बाल्यावस्था, ४४ वर्ष युवावस्था तथा ४८ वर्ष वृद्धावस्था। इसी के ८वें अध्याय के ९, १०, ११ खण्ड में प्रजापति के पास ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए इन्द्र के १०१ वर्षों तक निवास का उल्लेख है। इससे पता चलता है नि अपवादस्वरूप दैवीशक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों की अधिकतम आयु इतनी होती होगी किन्तु सामान्यतः १०० वर्ष की आयु थी जैसा कि 'जीवेम शरदः शतम्' इस मन्त्र से स्पष्ट होता है। उपनिषदों में भी यही है।[3] चरकसंहिता में भी यही स्थिति है।[4]

१८. वैद्य की तृतीया जाति—विद्यासमाप्ति के बाद वैद्य की तृतीया जाति कही गई है।[5] ऐतरेय उपनिषद् में पुरुष को त्रिज कहा गया है। गर्भ में स्थिति जन्म, गर्भाशय के बाहर निकलना द्वितीय जन्म तथा मृत्यु के बाद पुनर्जन्म तृतीय जन्म कहा गया है।[6]

छान्दोग्य उपनिषद् में नारद ने जिन विद्याओं का उल्लेख किया है उस सूची में आयुर्वेद का नाम नहीं है केवल भूतविद्या और सर्पविद्या है।[7] ऐसा प्रतीत होता है

---

१. बृ० उ० २।५
२. मुण्डक० १।१-३
३. शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व—कठ० १।१।२३; और देखें—शतायुर्वै पुरुषः। ऐ० ब्रा० २।२।१७; जै. ब्रा. २।९९, ईशावास्य. २
४. च० वि० ८।१२१
५. च० चि० १।४।५२
६. ऐतरेय ब्रा० २।१।१–४
७. छा० उ० ७।१।१

कि उस समय आयुर्वेद का स्वरूप पूर्णतः बन नहीं पाया था, परम्परा में भूतवि
तथा सर्पविद्या के रूप में इसके प्रयोग प्रचलित होंगे। इससे यह भी निष्कर्ष निका
जा सकता है कि दैवव्यपाश्रय चिकित्सा उस समय प्रमुख रही होगी। अथर्व
अस्तित्व में आ चुका था और आथर्वण उपचार समाज में प्रचलित थे यह स्वाभावि
ही है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि आत्रेय के उपदेशों द्वारा ही आयुर्वेद
वास्तविक प्रवर्तन लोक में हुआ[1] और उसकी सर्वप्रथम रचना अग्निवेशतन्त्र हुई।

उपनिषदों के काल के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान इसे बहुत
तथा कुछ बहुत आगे ले जाते हैं। वस्तुतः आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण के ही
हैं और उन्हीं में समाविष्ट होते हैं यथा बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथब्राह्मण का
एक अंश है। ऐसी स्थिति में उनके बीच कोई रेखा खींचना कठिन है तथापि विच
के विकास की दृष्टि से कुछ अन्तर किया जा सकता है और इसी आधार पर इ
कालनिर्णय का प्रयास विद्वानों ने किया है। आयु का शास्त्र परम्परया जीवन के
ही प्रारम्भ हुआ जैसा कि सुश्रुतसंहिता में दिया है कि ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आ
र्वेद की रचना की।[3] इस प्रकार परम्परा के रूप में यह आदिकाल से रहा और
में इसे तन्त्र के रूप में निबद्ध किया गया। यह प्रारम्भिक स्थिति का अन्त
मध्यम स्थिति का प्रारम्भ था। इसी को कुछ लोग क्रमशः दैवयुग तथा मानव
भी कहते हैं। विकासक्रम में यह बात स्पष्ट है कि अथर्ववेद की रचना होने
आयुर्वेदीय विकास को प्रेरणा मिली होगी जो उपनिषदों के काल तक परिपक्
गया। इसी बात का संकेत काश्यपसंहिता ने किया है।[4]

यह निश्चित है कि भगवान् बुद्ध तथा महावीर के आविर्भाव के पूर्व वैदि
वाङ्मय पूर्ण हो चुका था जिसकी प्रतिक्रिया में ये धर्म उदित हुये थे। भारत
वाङ्मय के इतिहास के प्रख्यात विद्वान् विण्टरनिज का कथन है कि वेदों का
२००० या २५०० ई० पू० से प्रारम्भ कर ७५०–५०० ई० पू० होना चाहिए।[5]
दृष्टि से उपनिषद् काल १००० ई० पू० होना चाहिए और वही काल अग्निवेश
भी होगा।

आत्रेय पुनर्वसु तथा अग्निवेश गुरु-शिष्य होने के कारण समकालीन है

१. च० चि० १३।४
२. च० चि० १२।४
३. सु. सू. १।६
४. अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः (काश्यप० पृ० ६१)
५. —Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. I. p
page 2

वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि नाक्षत्रिक नाम उपनिषदों में नहीं मिलते, पाणिनि-काल में मिलते हैं। उपनिषदों में गोत्रवाचक नाम ही अधिकांश मिलते हैं।[1] इससे भी वह प्रतीत होता है कि उपनिषत् काल के अन्त में तथा पाणिनिकाल से कुछ पूर्व इनकी स्थिति है। यह भी सम्भावना है कि आत्रेय नाम उपनिषत्कालीन हो तथा पुनर्वसु और कृष्ण ये संज्ञायें क्रमशः पाणिनि या मध्यकाल तथा पौराणिक काल में प्रतिसंस्कर्ताओं द्वारा रक्खे गये हों।

चरक

चरक द्वारा आध्यात्मक प्रतिसंस्कार होने पर अग्निवेशतन्त्र चरकसंहिता के रूप में परिणत हुआ किन्तु उसका मूलरूप भी अग्निवेशतन्त्र के रूप में सुरक्षित रहा और काफी दिनों तक समानान्तर चलता रहा। उपलब्ध चरकसंहिता में जो मध्यकालीन (अग्निवेश तथा दृढ़बल के बीच का) अंश है वह चरक की देन है। इस काल की प्रसिद्ध घटना है बुद्ध का आविर्भाव तथा बौद्ध दर्शन का प्रसार किन्तु चरकसंहिता में बौद्ध दर्शन का निर्देश यत्र तत्र तो मिलता है किन्तु वह अधिक विकसित अवस्था में नहीं है। इसके अतिरिक्त उसमें ब्राह्मणधर्म की प्रमुखता दृष्टिगोचर होती है क्योंकि सर्वत्र गो, ब्राह्मण, देवता आदि की पूजा का विधान है।[2] अवलोकितेश्वर आदि बौद्ध देवी-देवताओं का उल्लेख नहीं है। शिव, विष्णु, कार्तिकेय आदि देवताओं की पूजा का भी विधान किया गया है।[3] ज्वर, महेश्वर के कोप से उत्पन्न बतलाया गया है जिसके लिए शिवार्चन का विधान है।[4] पुराण की कथा[5] का निर्देश मिलने से ऐसा पता चलता है कि पुराण अस्तित्व में आ चुके थे और लोक में प्रचलित थे। चरकसंहिता का सद्वृत्त धर्मसूत्रों पर आधारित है; चरकसंहिता (वि० ८) में धन्वन्तरि को आहुति देने का निर्देश है। इससे स्पष्ट होता है कि चरक के काल में धन्वन्तरि देवरूप में पूजित थे।[6] उपलब्ध चरकसंहिता में निम्नांकित अंश संभवतः चरक की देन हैं :—

१. आयुर्वेदावतरण—चरकसंहिता के प्रारम्भ में जो आयुर्वेदावतरण का प्रसंग

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १८१–१८५।

२. च० चि० १।४।३१, १।४।३८, १।१।२३, ८।१८८, ९।१०१; च० शा० १२।८४, च० वि० ८।११, १३, च० सू० ५।२६

३. च. शा. ८।४१. च. चि. ३।३११-३१५, ९।९८, २३।९१-९५

४. च. नि. १।१७, चि. ३।१४–२५

५. च. चि. ८।३

६. च. वि. ८।१०

है वह चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत प्रतीत होता है। इसके अन्त में जो पौराणिक छाया है उससे भी यही प्रतीत होता है। आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद (च. चि. १।४) में जो आयुर्वेदावतरण का विवरण है वह मूलतः अग्निवेश का मालूम होता है। काश्यपसंहिता के विवरण से यह मिलता-जुलता भी है।

२. शैली—अग्निवेशतंत्र की भाषा एवं शैली सरल होगी जैसी कि भेल की है किन्तु चरक की भाषा एवं शैली प्रौढ है। इस सम्बन्ध में भेल और चरक द्वारा वर्णित वातकलाकलीय प्रकरण के तुलनात्मक अध्ययन से अन्तर स्पष्ट हो जायेगा[2]।

इससे अनुमान होता है कि चरक एक उत्कृष्ट कोटि के कवि भी थे। न केवल गद्य प्रत्युत पद्य में भी उनकी प्रतिभा श्लाघनीय है[3]।

बौद्धधर्म का प्रचार हाने के कारण अनेक ऐसे शब्द चरकसंहिता में दृष्टिगोचर होते हैं यथा जेन्ताक,[4] खुड्डाक,[5] खुड्डीका[6] आदि। कुछ लोग 'निदान' का पर्यायवाची शब्द 'प्रत्यय' तथा 'आयतन' भी बौद्धकालीन मानते हैं। गर्भावक्रान्ति, जाति, वेदना आदि शब्द भी इसी कोटि के हैं।[7]

३. क्षणिकविज्ञानवाद तथा स्वभावोपरमवाद—बौद्धों द्वारा प्रतिपादित क्षणिकविज्ञानवाद तथा स्वभावोपरमवाद का वर्णन चरक द्वारा किया गया है।[8]

४. नास्तिकमत :—उस काल में नास्तिकों के मत अनेक रूप में प्रचलित थे। नास्तिकता अनेक अर्थों में थी। कुछ लोग आत्मा की नित्यता एवं पुनर्जन्म नहीं मानते थे और कुछ लोग वेद को नहीं मानते थे। बौद्ध और जैन वेद को नहीं मानते थे। अतः स्थान-स्थान पर उनका खण्डन कर नास्तिकों से बचने तथा वेद एवं वेदानुकूल शास्त्र में श्रद्धा रखने का उपदेश किया गया है। इसी कारण आप्तप्रमाण तथा

---

१. च. सू. १।३६-३९

२. भेल सू. १६।२-१२, च. सू.

३. देखें—च. चि. ४।१०-१०९

४. च. सू. १४।३९

५. च. सू. ९।१, चि० २९।११५

६. च. शा. ३

७. च. नि. १।३

यो हेतुर्यः प्रत्ययः। (मिलिन्दपन्हो २।२।१०)

Dasgupta : A History of Indian Philosophy, Vol. II, page 395

और देखें–बुद्धघोषकृत विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ० ७७, ८७, १११, १४४, १७०, १७६, २०२।

८. च. शा. १।४६-५०, १।९३, च. सू. १६।२७-२८ (तेषां स्वभावोपरमः सदा इत्यनेन बौद्धप्रवचनमुपहितम्—भट्टारहरिचन्द्रकृत चरकन्यास-व्याख्या)

शिष्टपरम्परा पर भी जोर दिया गया है।[1] यज्ञ तथा मोक्षशास्त्र की प्रमुखता थी अतएव चरक ने तीन प्रकार का समय बतलाया है।[2]

५. वाद्मार्ग तथा संभाषाविधि :—नास्तिकों को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए संभाषाविधि को विकसित किया गया तथा वादमार्ग की स्थापना की गई।[3]

६. तर्क तथा प्रमाण :—चरक ने तीन प्रमाण माने हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश तथा इनके अतिरिक्त पदार्थों की परीक्षा के लिए 'युक्ति' को भी माना है।[4] युक्ति परादि गुणों में भी निर्दिष्ट है।[5]

७. पदार्थ—वैशेषिकोक्त छः पदार्थ ग्रन्थ के प्रारम्भ में चरक द्वारा ही समाविष्ट किये प्रतीत होते हैं[6]। परीक्षा में न्यायदर्शनोक्त पंचावयव वाक्य का भी निर्देश चरक ने किया है।[7]

८. अष्टांगविभाग:—चरक में सूत्रस्थान के अन्त में अष्टांगों के जो नाम हैं वे सुश्रुत से कुछ भिन्न हैं। दूसरे, सुश्रुत ने इसे ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही दिया जबकि चरक ने अंत में। ऐसा लगता है कि मूल अग्निवेशतंत्र में यह विभाग नहीं था, चरक ने इसे अन्य संहिताओं से, सम्भवतः सुश्रुतसंहिता से, किंचित् परिवर्तन के साथ लेकर लिखा। अष्टांग के कुछ नाम यथा भूतविद्या उपनिषद् में मिलते हैं। शल्य, शालाक्य आदि अंगों से सम्बद्ध कर्म भी वैदिक वाङ्मय में दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु प्राचीन काल में सबको मिला कर अष्टांग का विभाग सम्भवतः नहीं हुआ था। महाभारत, रामायण में शल्यकोविदों का उल्लेख है। पुराणों में यह भी निर्देश है कि धन्वन्तरि आयुर्वेद के अष्टांगों का विभाग करेंगे।[8] इससे प्रतीत होता है कि पौराणिक काल में यह कार्य

---

१. च. सू. ११।२७, च. सू. ११।१५, च. सू. ११६-८, २७,३०।८१, च० चि० ११४।३४, ८।१८९, ९।९७

२. च. वि. ८।५४

३. च. वि. ८।१४-२७, च. सू. ३०।२८

४. च. सू. ११।१७; वि० ४।३

५. च. सू. २६-२९

डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण की मान्यता है कि न्याय का विषय मूल अग्निवेशतन्त्र में नहीं था, चरक ने ही उसे इसमें समाविष्ट किया :—

—Dasgupta A History of Indian Philosophy, Vol. II, pages 392–393

६. च. सू. १।२८

७. च. सू. ३०।७

८. Vishnu Purāna Ch. VIII, page 325. (Wilson)

हुआ और चरक में उसका आरम्भिक रूप आया ।[1] आगे चलकर सुश्रुत में इसके नाम परिष्कृत हो गये ।[2] 'भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्' सुश्रुत के इस वाक्य में 'भूयः' शब्द से भी यही ध्वनित होता है।

६. आतुरालयः—इतिहास में यह प्रसिद्ध है कि मौर्यकाल में ही देश में आतुरालयों की श्रृंखला स्थापित हुई। चरक के उपकल्पनीय अध्याय में जो आतुरालय का वर्णन है वह सम्भवतः मौर्यकालीन आतुरालय के आधार पर है। यद्यपि यह आजकल के सशुल्क आतुरालयों के समान राजाओं, राजपुरुषों तथा धनी व्यक्तियों के लिए ही होता था[3] तथापि आतुरालय के विकास की दृष्टि से इसका महत्त्व है। इसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है :—

भवनः—वास्तुविद्याकुशल द्वारा निर्मापित जिसमें उदपान, उलूखल-मुसल, वर्चःस्थान, स्नानभूमि तथा महानस हो।

कर्मचारी :—इसमें निम्नांकित कर्मचारी हों :—

१. पाचक। २. स्नापक। ३. संवाहक। ४. उत्थापक।
५. संवेशक। ६. औषधपेषक। ७. परिचारक।

इसके अतिरिक्त मनोरंजनकुशल, मित्रगण तथा पारिषद्य—

उपकरण :—

१. जलपात्र। २. पाकपात्र।
३. शयनासन (आस्तरणप्रच्छदोपधानसहित)। ४. भृङ्गार-प्रतिग्रह।
५. अनेक प्रकार के खरल। ६. शस्त्र। ६. धूमनेत्र।
८. वस्तिनेत्र। ९. उत्तरवस्ति। १०. कुशहस्तक। ११. तुला
१२. मानदण्ड। १३. स्नेहद्रव्य, मधु, शर्करा, लवण, मद्य, तक्र, गोमूत्र आदि
१४. शालिषष्टिकमुद्गमाषयवतिलकुलत्थ-धान्य।
१५. वदरमृद्वीकाश्मर्यपरूपक, त्रिफला।
१६. विविध स्नेह—स्वेदोपकरणद्रव्य।
१७. वमन, विरेचन, उभयतोभागहर, दीपन, पाचन, ग्राही, संशमन, वातहर औषध।
१८. अन्य व्यापत्तिनिवारक आवश्यक उपकरण। (च. सू. १५।६–७)

इसके अतिरिक्त, सूतिकागार तथा कुमारागार का भी वर्णन है।[4]

---

१. च. सू. ३०।२८

२. सु. सू. १।३

३. च. सू. १५।३

४ च. शा. ८।३१–३२; ६०।

१०. देश :—चरक ने पश्चिमोत्तर प्रदेश के स्थानों का उल्लेख किया है। वाह्लीक का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। वाह्लीक देश के कांकायन भिषक् का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। यज्जःपुरुषीय अध्याय (च. सू. २५) में उसके नाम से जो मत दिया गया है उससे प्रतीत होता है कि वह स्वभाववादी था। प्राग्बौद्धकाल में ही गान्धार के माध्यम से वाह्लीक देश से सम्पर्क था जो बाद में निरन्तर बढ़ता गया। वाह्लीक देश से वैद्यों के साथ मधुयष्टी, हिंगु, केशर आदि औषध-द्रव्य भी भारत में आये। तक्षशिला का महत्त्व तबतक समाप्त हो चुका था और पाटलिपुत्र उदीयमान स्थिति में था अतएव सम्भवतः चरक में उनका उल्लेख नहीं मिलता।

११. धार्मिक स्थिति—पुराणों का प्रणयन प्रारम्भ हो गया था जिसको अन्तिम रूप गुप्तकाल में मिला। लोक में भी पुराण प्रचलित थे और इसके विशेषज्ञ होते थे जो पुराणों की कथा-वार्ता करते थे।[१] वायु भी विष्णु भगवान रूप में वर्णित है, और और वायु को नमस्कार कर 'वातकलाकलीय' प्रकरण का प्रारम्भ किया गया है।[२] इससे संकेत होता है कि वायुपुराण भी प्रचलित था जिसे अन्तिम रूप गुप्तकाल में मिला। अनेक पौराणिक आख्यान यथा चन्द्रमा को यक्ष्मोत्पत्ति[३], दक्षयज्ञविध्वंस[४], और अनेक औत्पातिक भावों का भी वर्णन है[५] जिससे तत्कालीन विश्वासों का पता चलता है। 'धन्यं यशस्यमायुष्यं'[६] यह भी पौराणिक शैली है जो प्रायः सभी पुराणों में मिलती है।

१२. वर्णाश्रम व्यवस्था :—यद्यपि वर्णाश्रम-व्यवस्था के बीज उपनिषदों में मिलते हैं किन्तु यह व्यवस्थित रूप में पुराणों एवं स्मृतियों के काल में ही निर्धारित हुई। चरक में सभी वर्णों तथा आश्रमों के निर्देश मिलते हैं।[७] चरक ने ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को ही आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार दिया।[८]

---

१. च. सू. १५।७
२. च. सू. १२।८
३. च. नि. ६।१३
४. च. नि. ८।१३
५. च. इ. १२।६०, ६६, ७०
६. च. सू. ५।९५; च. वि. ८।१२।
७. च. शा. ८।७—तीन वर्णों को आहुति देने का अधिकार है किन्तु शूद्रों को देव, अग्नि, द्विज आदि को नमस्कार कर लेने का विधान है।
८. स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः। (च. सू. ३०।२७)
आश्रमों में ब्रह्मचर्य का च. वि. ८।९-११, संन्यास का च. शा. ५।११, वानप्रस्थ तथा गृहस्थ का 'वानस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः'। (च. चि. १।४।१०) इन चारों आश्रमों के कर्म का प्रतिपादन च. सू. ११।३३ में किया है।

१३. संस्कार :—गृह्यसूत्रों द्वारा प्रतिपादित संस्कार स्मृतियों द्वारा सम्यक् रू से व्यवस्थित किये गये। चरक में जातकर्म, नामकरण, उपनयन आदि संस्कारों निर्देश मिलता है।

१४. सद्वृत्त :—चरक में प्रतिपादित सद्वृत्त धर्मसूत्रों में प्रतिपादित सद्वृ के आधार पर ही है।

१५. राजनीतिक स्थिति :—चरक ने अनेक स्थलों पर राजा का उल्लेख कि है[1] जिससे पता चलता है कि उस काल में किसी सम्राट् का शासन था। राजद्वि व्यक्तियों की चिकित्सा करने तथा उन्हें प्रश्रय देने का निषेध किया गया है[2]। मह जन संभवतः सामन्त की कोटि के थे जो धनवान् होने के साथ-साथ प्रशासनि अधिकार भी रखते थे। चिकित्सावृत्ति पर राज्य का नियन्त्रण रहता था, राज्य शिथिलता से छद्मचर वैद्यों का समाज में प्रसार होता था।[3] ऐसी मान्यता थी कि राजा के अधर्म से ही जनपदोद्ध्वंस या मरक का प्रादुर्भाव होता है[4] क्योंकि योग प्रशासक अपनी दक्षता से लोक के लिए स्वास्थ्यकर योजनाओं को कार्यान्वित करते थे जिससे रोगों का प्रादुर्भाव या प्रसार नहीं हो पाता था। इससे पता चलता है कि चरक के काल में राज्य का शासन शिथिल या संभवतः साम्राज्य का अन्तिम चर था। सम्राट् अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य की ऐसी ही स्थिति थी। अतः चरक स्थिति संभवतः अशोक और पुष्यमित्र के बीच के काल की स्थिति है। साम्राज्य अतिरिक्त गणराज्य भी थे।[5] ग्राम या नगर, निगम, जनपद, राष्ट्र ये शासन इकाइयाँ थीं तथा इसके प्रधान कार्यसंचालन करते थे।[6]

१५. चिकित्साकर्म :—अधिकांश वंशपरम्परा से यह विद्या चलती थी[7] जो कु काल में भी मान्यताप्राप्त हुई।[8] अथर्ववेद का अधिक प्रभाव था[9] और इस काल

---

१. च. शा. ४।६०; च. सू. २७।२०१, च. वि. ३।४२

२. च. वि. ८।११; च. वि. ८।११

३. च. सू. २९।८

४. च. वि. ३।२४–३०

५. गणान्न नृपान् वाधिक्षिपेत् (च. सू. ८।२६)

६. देशनगरनिगमजनपदप्रधानाः तदाश्रिताः पौरजानपदाः व्यवहारोपजीविनश्च। (च. वि. ३।२४)

७. तद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तम् (च. वि. ८।८)

८. V. S. Agrawala : Matsya Purana–A Study, pp. 294-295.

९. च. सू. २०।१९; शा. ८।२८

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा भी लोक-प्रचलित थी।[1] ग्रहों का भी उल्लेख है[2] जिससे पता चलता है कि यह ज्ञान प्रारम्भिक स्थिति में था। द्विव्रणीय अध्याय में रोगिपरीक्षा त्रिविध[3] (दर्शन, स्पर्शन, प्रश्न) बतलाई गई है जिसका खण्डन सुश्रुत ने किया है। इसके अतिरिक्त, चरक ने शस्त्रकर्म षड्विध[4] तथा उपक्रम ३६ बतलाये हैं[5] जब कि सुश्रुत में क्रमशः अष्टविध और ६० हैं। संभव है, चरक ने सुश्रुत के अतिरिक्त किसी अन्य तन्त्र से इसका ग्रहण किया हो या वृद्धसुश्रुत में ऐसा ही विचार हो जिसे सुश्रुत ने आगे चलकर परिमार्जित किया। व्रण में बाँधने के लिए पट्टी के सम्बन्ध में चरक ने वृक्ष, कम्बल तथा सूती वस्त्र का विधान किया है।[6]

१७. कुछ विशिष्ट द्रव्य एवं योग :—धान्यों में चणक का वर्णन चरक ने किया है।[7] डा० गोडे का मत है कि यह ग्रीक लोगों के साथ इस देश में आया[8]। ग्रीक सेना में यह घोड़ों के खिलाने के काम में आता था इसलिए इसे 'हरिमन्थ' भी कहते हैं।

राजमाष चरक में है।[9] सुश्रुत ने इसके लिए 'अलसान्द्र'[10] पर्याय दिया है जो 'अलक्जेण्ड्रिया' का रूपान्तर प्रतीत होता है। इसका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में है भी नहीं। अतः यह भी यवनदेश से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

इसी प्रकार यवानी भी सम्भवतः यवनदेश से आई हो।

चरक में फलवर्ग का आरम्भ मृद्वीका से हुआ है, खर्जूर का भी वर्णन है। श्रमहर गण (च. सू. ४) में भी ऐसे ही फल हैं। चरक के स्वयं पश्चिमोत्तर प्रदेश में विशेष रहने के कारण इसका वर्णन स्वाभाविक है।

शाक या आहारोपयोगी वर्ग में गृञ्जनक, पलाण्डु तथा लशुन का वर्णन चरक ने

---

१. च. नि. ७।१३, १९; ८।१२; च. वि. ३।४२
२. च. चि. ९।२८, ६६
३. च. चि. २५।२२
४. च. चि. २५।५५
५. च. चि. २५।१९
६. च. चि. २५।९६
७. च. सू. २७।२८
८. P. K. Gode : Studies in Indian cultural History, Vol. I, page 216.
९. च. सू. २७।२५
१०. 'स्वादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः'—सु. सू. ४६।२५; . 'अलसान्द्रो राजमाषः'—ड० देखें 'अलसन्दो नाम द्वीपः—मिलिन्दपञ्ह्‌ो ३।७।३३

किया है तथा चिकित्सा में भी यत्र-तत्र इनका उपयोग है किन्तु धर्मशास्त्र में इनके सेवन का निषेध किया है। पलाण्डु शकों का विशेष प्रिय था ऐसा अष्टाङ्ग-संग्रहकार ने लिखा है[1]। भावमिश्र ने भी पलाण्डु को 'यवनेष्ट' लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि पलाण्डु शकों द्वारा इस देश में लाया गया। सम्भवतः यही बात लशुन और गृञ्जनक के सम्बन्ध में भी होगी। शकों और यवनों से सम्बद्ध होने के कारण ही भारतीय आहार-विहार की रक्षा के उद्‌देश्य से धर्मशास्त्र में इनका निषेध किया गया हो। विदेशी यात्रियों के विवरणों में भी इसका उल्लेख है।

'आसव' शब्द सामान्य मद्य के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु 'अरिष्ट' शब्द औषधीय मद्य के लिए व्यवहृत हुआ। इसका प्रयोग चरक ने किया है।[2] कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी इसका उल्लेख है।

चरक कौन थे।

चरक कौन थे ? चरक शब्द से किसी व्यक्तिविशेष का ग्रहण किया जाय या सम्प्रदायविशेष का इस पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। अधिकांश लोगों का यह मत है कि चरक कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा का नाम है और इस सम्प्रदाय के लोग चरक कहलाते थे[3]। अतः इस वैदिक शाखा से सम्बन्ध रखनेवाला कोई व्यक्ति चरकसंहिता का रचयिता होगा। कुछ लोग इस शब्द का सम्बन्ध बौद्धों की चारिका से जोड़ते हैं[4] और इसका अर्थ 'भ्रमणशील' करते हैं। अथर्ववेद की एक शाखा का नाम भी 'वैद्यचारण' है जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। स्यात् उससे आयुर्वेद का विशेष सम्बन्ध हो और चारण से ही चरक की निष्पत्ति हो[5]। यह ध्यान देने की बात है कि चरक में ग्राम्यवास अशस्त बतलाया है[6] तथा परिषदों का आयोजन भी विशेषतः वन्य प्रदेशों में हुआ है। ऋषियों के भी दो भेद किये गये हैं—शालीन और यायावर[7]। प्रथम प्रकार के ऋषि कुटी बनाकर रहते थे और दूसरे प्रकार के घूमते रहते थे। इससे प्रतीत होता है कि चरक यायावर कोटि के महर्षि थे जो किसी एक

---

१. अष्टांगसंग्रह उत्तर० ४९।१३५–१३६
२. च. सू. २७।१८२
३. चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्संबन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते। (काशिका ४।३।१०२)
४. अत्रिदेव : आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, (पृ० १५०-१५१)
५. —Dasgupta : A History of Indian Philosophy. Vol. II. page 284.
६. च. चि. १।४।४, च. चि. १।२।४
७. ऋषयः······शालीना यायावराश्च। च. चि. १।४।३

स्थान में स्थिर नहीं रहते थे। एक मत यह भी है कि चरक शेषनाग के अवतार थे।[१] इस आधार पर कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह नागजाति के कोई आचार्य थे और चूंकि पतंजलि भी शेष अवतार माने जाते थे अतः कुछ लोग चरक का सम्बन्ध पतंजलि से जोड़ते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही भाष्यकार हैं। एक व्याकरण के और दूसरे आयुर्वेद के। चरक ने स्वयं भी 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग किया है यथा 'ससंग्रहव्याकरणस्थ' (च. सू. २९)। इन कारणों से अनेक विद्वानों का कथन है कि पतंजलि ही चरक थे। इनलोगों की मान्यता है कि योगसूत्र, चरकसंहिता तथा महाभाष्य के रचयिता एक ही व्यक्ति पतंजलि थे।[२]

इन तीनों कृतियों में साम्य होने पर स्वभातः ऐसा लोभ होता है कि तीनों कृतियों के रचयिता को एक मान लिया जाय किन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने पर इस विचार को छोड़ देना पड़ता है।[3]

जहाँ तक महाभाष्य का सम्बन्ध है, निम्नांकित तथ्यों के कारण चरकसंहिता से उसका वैधर्म्य स्पष्ट होता है :—

१. महाभाष्य की चतुष्पाद—योजना चरकसंहिता में नहीं है। केवल रसायन और वाजीकरण प्रकरणों में (च० चि० १-२) ही है। विषय-वस्तु के विन्यास की शैली भी भिन्न है। महाभाष्य में जिस प्रकार आक्षेप, परिहार एवं कथोपकथन है वैसा चरक में नहीं है। चरकसंहिता की शैली कौटिल्य अर्थशास्त्र की शैली से कुछ मिलती है। जिस प्रकार यज्जःपुरुषीय में चरकसंहिता की संभाषा है वैसे ही भरद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, मिथुन, कौणपदन्त, वातव्याधि तथा बाहुदन्तीपुत्र के मतों का उल्लेख कर आत्रेय के समान ही 'सर्वमुपपन्नमिति कौटिल्यः' के द्वारा उपसंहार किया है।
(अर्थशास्त्र ३।७)

२. महाभाष्य में मथुरा, पाटलिपुत्र का विशेष उल्लेख है इससे पता चलता है कि उसके रचयिता उसी प्रदेश के निवासी थे। काश्मीर की चर्चा उतनी नहीं है, संभवतः काश्मीर भी वह गये हों। इसके विपरीत, चरकसंहिता में इन प्रदेशों का उल्लेख न होकर पश्चिमोत्तरवर्ती प्रदेशों का उल्लेख है। 'काश्मीर' भी चरक में नहीं है।

---

१. भावप्रकाश, पूर्वखण्ड १।६०-६५

२. यश्चित्ते निभृतं निचाय्य वहिरप्यानन्दमुक्तोद्यतं
भक्तानामपि दर्शयन्तमुरगप्राप्तप्रहारं हरम्।
वाचां व्याकरणेन शुद्धिमकरोद् योगेन चित्तस्य य-
स्तं वन्दे चरकं हिताय वपुषो व्याख्यातवैद्यागमम् ॥
(स्वामिकुमारविरचित चरकपंजिका)

३. विस्तृत विवेचन के लिए देखें चरकचिन्तन पृ० २५-४२

३. पुष्यमित्र तथा चन्द्रगुप्त के नाम चरकसंहिता में नहीं मिलते।

४. शक-यवनों का भी उल्लेख चरककृत अंश में नहीं, दृढबलकृत अंश में है। इससे पता चलता है कि संभवतः शकों के आगमन के पूर्व या समकालीन चरक की स्थिति हो। शकों का आगमन भारत में २ सरी शती ई० पू० में हुआ था।

५. विषयवस्तु की दृष्टि से भी अन्तर है। महाभाष्य में वार्तिककार के अनुसार वात के शमन तथा कोपन दोनों, को 'वातिक' कहा है किन्तु चरक में 'वातिक' शब्द से 'वातवर्धक' द्रव्यों का ही ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त, महाभाष्य में निर्दिष्ट 'नड्वलोदकं पादरोगः' 'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः' 'उत्कन्दको रोगः' आदि का चरक में उल्लेख नहीं है। वादमार्ग तथा संभाषाविधि का वर्णन भी महाभाष्य में नहीं मिलता।

६ 'अथ वैयाकरणः शरीरेण कृशो व्याकरणेन च शोभनः' (म० ५।३।४३) महाभाष्य के इस वचन से प्रतीत होता है कि पतंजलि शरीर को उतना महत्त्व नहीं देते थे।

इसके अतिरिक्त, न तो चरक में पतंजलि का और न महाभाष्य में चरक का कहीं नाम आता है। यदि उनकी एकता होती तो कुछ संकेत होता। प्रतिसंस्कर्ताओं में से कोई तो इसका उल्लेख करता। इन कारणों से चरकसंहिताकार तथा महाभाष्यकार पतंजलि की एकता मानना कठिन हैं।

इसी प्रकार चरकसंहिता तथा योगसूत्र में निम्नांकित वैधर्म्य हैः—

१. शैली नितान्त भिन्न है। चरकसंहिता संभाषा या उपदेश के रूप में है जबकि योगसूत्र सूत्ररूप में है। भाषा भी भिन्न है।

२. प्रज्ञा का स्वरूप चरक में धीधृतिस्मृत्यात्मक बतलाया गया है। जबकि योगसूत्र में ऐसा नहीं है।

३. चरकसंहिता (शा० १।१३८) में चित्तवृत्तिनिरोध के बाद वशित्व की उत्पत्ति बतलाई गई है जबकि योगसूत्र (१।१५) में इसके कारणभूत वैराग्य के रूप में कहा गया है।

४. योगसिद्धियों में अणिमादि तथा आकाशगमन आदि का उल्लेख चरक में नहीं है।

५. चरक में यद्यपि अहिंसा, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियजय आदि का पृथक् उल्लेख है, किन्तु योगसूत्र के समान यम, नियम आदि योग के आठ अङ्गों का निर्देश नहीं है।

इसी प्रकार योगसूत्रकार तथा चरक की भी एकता नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः चरकसंहिता में सांख्ययोग की प्राक्तन स्थिति का विवरण है जबकि योग

की रचना नहीं हुई थी अतः दोनों की शैली एवं विषयवस्तु में अन्तर होना स्वाभाविक है।

चरक तथा पतंजलि की एकता का भ्रम उत्पन्न होने का कारण संभवत उनका समकालीन होना, भाष्य की रचना करना तथा नाग से संबन्ध होना रहा है। भट्टारहरिचन्द्र तक इनकी एकता का भ्रम नहीं था। सर्वप्रथम ऐसा विचार उपस्थित करने वाले थे चरक-पंजिकाकार आचार्य स्वामिकुमार (६ठी शती का या ७वीं शती) जिसका अनुसरण परवर्ती भर्तृहरि, चक्रपाणि, भावमिश्र आदि आचार्यों ने किया।

अश्वघोष कनिष्क के राजकवि थे। इनकी दो प्रसिद्ध रचनायें है बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द। दोनों रचनाओं में पर्याप्त आयुर्वेदीय सामग्री है। ऐसा प्रतीत होता है कि अश्वघोष स्वयं आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता थे। उस काल में आयुर्वेद का उपजीव्य ग्रंथ अग्निवेशतन्त्र था या चरकसंहिता यह विचारणीय है। ध्यान देने की बात है कि चरक़संहिता की रचना के बाद भी अग्निवेशतंत्र चलता रहा और उसके प्रभुत्व को हटाने में चरकसंहिता को प्रर्याप्त समय लगा। अश्वघोष के वर्णनों से लगता है कि उसने चरकसंहिता का उपयोग किया है[1] किन्तु चरक का उल्लेख न कर उसने मूल उपदेष्टा का उल्लेख किया है :—

'वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।
चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद॥
(बुद्धचरित १।४३)

इससे प्रतीत होता है कि चरक अश्वघोष के पूर्व हुये थे।

चरक और सुश्रुत

चरक और सुश्रुत के पारस्परिक संवन्ध पर विचार करने के क्रम में निम्नांकित तथ्यों को ओर ध्यान जाता है :—

१. अनेक वचन दोनों संहिताओं में समान रूप से मिलते हैं।

२. अनेक समान तथ्य शब्दान्तर से दोनों संहिताओं में वर्णित हैं।

३. सुश्रुतसंहिता में चरकसंहिता के अनेक मतों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर उनका खण्डन किया गया है।

४. चरकसंहिता में धान्वन्तर सम्प्रदाय का उल्लेख अनेक स्थलों में सादर किया गया है।

इन बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सुश्रुत का आदि संस्करण तो चरकसंहिता के पूर्व था किन्तु दूसरा संस्करण (प्रतिसंस्कृत) उसके बाद हुआ।

१. देखें चरक़चिन्तन पृ० ४३-४५

ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में दिवोदास और उनके पुत्र प्रतर्दन का उल्लेख होना भेलनिर्दिष्ट गान्धारराज नग्नजित् का शतपथब्राह्मण में निर्देश होना सूचित करता है कि वृद्धसुश्रुत या आदिसुश्रुत संभवतः अग्निवेश आदि के समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती थे। आगे चलकर सुश्रुत के अतिरिक्त अन्य भी सम्प्रदाय शल्यतन्त्र के प्रचलित हुये। चरक ने अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार करते समय इन सारी सामग्रियों का उपयोग किया तथा वहुवचनान्त 'धान्वन्तरीय शब्द से उन्हीं संप्रदायों का उल्लेख किया है। एक क्षारतन्त्र का भी उल्लेख आया है।[२] संभवतः विमानस्थान में अनेक भिषक्शास्त्रों के लोक में प्रचलित होने की जो बात कही गई है[3] वह भी इसी से सम्बन्ध रखती हो।

सुश्रुत का प्रतिसंस्करण चरक के बाद हुआ अतः सुश्रुत ने अनेक स्थलों पर चरकोक्त वचनों का यथावत् या रूपान्तर कर उपयोग किया उनको पूर्वपक्ष के रूप में भी उपस्थित किया। दृढबल के बाद भी सुश्रुत का एक प्रतिसंस्कार हुआ है अतः दृढबलप्रतिसंस्कृत अंश की बहुत सी बातें सुश्रुतसंहिता में आ गई हैं। यदि ऐसा माना जाय तो चरक वृद्धसुश्रुत तथा सुश्रुत के बीच और दृढबल सुश्रुत तथा उसके प्रतिसंस्कर्ता नागार्जुन के बीच स्थापित किये जा सकते हैं। तब इसी आधार पर चरक और सुश्रुत के साम्यनिर्देशक स्थलों का सामंजस्य हो सकेगा।

चरक और सुश्रुत के सम्बन्ध को निम्नांकित प्रकार से दिखलाया जा सकता है

अग्निवेश	वृद्धसुश्रुत
चरक	सुश्रुत
दृढबल	नागार्जुन

चरकसंहिता और याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक स्थलों में आश्चर्यजनक साम्य मिलता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि चरकसंहिता से यह सब विषय याज्ञवल्क्यस्मृति में लिया गया हैं। सबसे प्रबल प्रमाण अस्थियों तथा अन्य शारीर भावों का है। दार्शनिक तथ्य ही यदि केवल होते तो हम विपरीत भी सोच सकते किन्तु शारीरसम्बन्धी तथ्यों का वैद्यक ग्रन्थ से ही ग्रहण समीचीन एवं युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त ३६० अस्थियों का निर्धारण ब्राह्मणकाल से ही चला आ रहा है।[४] ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसा भी उल्लेख है कि यदि किसी मृत पुरुष का शरीर प्राप्त न हो तो ३६० पलाश के पत्तों से उसका पुतला बनाकर संस्कार करे

१. च० चि० ५।४४,१३।१८२ च० चि० ५।६४,१४।३४
२. च० चि० ५।६४
३. च० वि० ८।३
४. शतपथब्राह्मण १०।५।४।१२, १२।३।२।३
५. ऐतरेय ब्राह्मण २।२

इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अग्निवेश संहिता में भी ऐसा हो क्योंकि भेलसंहिता में भी अस्थियों की संख्या इतनी ही है। ध्यान देने की बात है कि मनुस्मृति में अस्थियों का ऐसा विवरण नहीं मिलता। यदि ब्राह्मणग्रन्थों से लेने की बात होती तो मनुस्मृति में भी समान रूप से यह विवरण मिलना चाहिए था। इससे भी यह सिद्ध होता है कि चरक से ही याज्ञवल्क्य ने लिया तथा चरक मनु के प्रायः समकालीन (२री शती ई० पू०) थे। चरक तथा मनु में जा विषयगत साम्य दृष्टिगोचर होता है वह समकालीन विचारधारा के कारण संभव है।

सुश्रुत के भी कुछ तथ्य याज्ञवल्क्य में मिलते हैं यथा १०७ मर्म। इससे प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्यस्मृति से पूर्व सुश्रुत का प्रतिसंस्कार हो चुका था किन्तु अस्थियों की संख्या याज्ञवल्क्य ने सुश्रुतानुसार ३०० न देकर चरकानुसार ३६० दी है। क्या यह संभव है कि उस काल में सुश्रुत भी ३६० ही अस्थियां मानते थे और बाद में नागार्जुन ने उसे ३०० कर दिया ?

चरक को स्पष्टतः उद्धृत करने वाला प्रथम व्यक्ति वाग्भट ही है। वाग्भट प्रथम की रचना अष्टांगसंग्रह मुख्यतः सुश्रुत का अनुसरण करती है तथा वाग्भट द्वितीय की रचना अष्टांगहृदय चरक का अनुगमन करती है। इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट (६ठी शती) तक चरक की प्रसिद्धि एवं मान्यता संहिताकार के रूप में हो चुकी थी। लगभग उसी काल में भट्टार हरिश्चन्द्र ने उसकी व्याख्या का कार्य अपने हाथ में लिया था, इससे भी यही सूचित होता है। इससे पूर्व की सभी रचनाओं में 'चरक' शब्द यद्यपि आया है किन्तु वह चरकसंहिता के रचयिता महर्षि चरक के अर्थ में न होकर अन्य अर्थों में है।[१]

चरक का काल

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर चरक का काल निर्धारित किया जा सकता है। ऊपरी सीमा पर यदि विचार करें तो निम्नांकित बातें सामने आती हैं :—

१. पाणिनि ने यद्यपि 'चरक' शब्द का प्रयोग किया है तथापि 'कठ' तथा माणवक शब्दों के साहचर्य से वह कृष्णयजुर्वेदीय शाखाविशेष के लिए ही किया गया प्रतीत होता है चरकसंहिता के रचयिता के लिए नहीं, अतः चरक का काल पाणिनि के बाद होना चाहिए। पाणिनि का काल ७वीं शती मानते हैं।

२. बौद्ध धर्म की छाया मिलने से तथा बौद्ध मतों का वर्णन होने से बुद्ध के आविर्भाव (५वीं शती) के बाद में चरक का काल होना चाहिए।

निम्न सीमा पर विचार करने से निम्नांकित तथ्यों पर ध्यान आता है :—

१. वाग्भट प्रथम (छठी शती) ने चरक को स्पष्टतः उद्धृत किया है अतः चरक का काल उसके पूर्व होना चाहिए।

१. विशेष सूचना के लिए लेखक का 'वाग्भट-विवेचन' देखें।

२. याज्ञवल्क्यस्मृति (तीसरी शती) ने चरक के अनेक विषयों को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है अतः चरक उसके भी पूर्व होना चाहिए।

३. कनिष्क के समकालीन अश्वघोष (प्रथम शती) ने भी चरकसंहिता के अनेक विषयों को लिया है। पौराणिक छाया होने से उसे उपनिषत्कालीन अग्निवेश का नहीं माना जा सकता। इस प्रकार चरक का काल पाणिनि और कनिष्क के बीच ठहरता है। महाभाष्यकार पतंजलि से अनेक साम्य रखने, वेद को आप्तप्रमाण मानने तथा देवता, गौ, ब्राह्मण आदि की पूजा का बहुशः विधान होने के कारण चरक-काल शुङ्गकाल (द्वितीय शती ई० पू०) होना चाहिए। शुङ्गकाल में बौद्ध धर्म रहते हुए भी वैदिक एवं ब्राह्मणधर्म एक बार पूरे जोर पर आ गया था। मनुस्मृति की रचना इसी काल में हुई थी जब वर्णाश्रम-व्यवस्था निर्धारित हुई। तत्कालीन मनु के सदृश अनेक विचार चरक में मिलते हैं यथा चतुष्पात् धर्म तथा आयु का युगों में क्रमशः ह्रास। नावनीतक में चरक का उल्लेख नहीं है, यद्यपि अग्निवेश आदि आचार्यों के नाम हैं। इससे प्रतीत होता है कि या तो चरक का आविर्भाव ही उस समय तक न हुआ हो और यदि हुआ भी हो तो कुछ ही पूर्व जिससे उनकी प्रसिद्धि न हुई हो। नावनीतक का काल लगभग ईस्वी सन् के बाद दूसरी शती माना जाता है किन्तु उसके अन्तरंग अध्ययन से पता चलता है कि वह और पूर्व का हो सकता है। मिलिन्दपञ्हो (२री शती ई० पू०) में भी चरक का उल्लेख नहीं है। संभवतः चरकसंहिता बनने के बाद भी बहुत वर्षों तक मूल रचयिता अग्निवेश के नाम पर जानी जाती थी। स्यात् गुप्तकाल में चरक का नाम प्रसिद्ध हुआ। उसके बाद से चरक का नाम स्पष्ट मिलने लगता है। सुश्रुत के साथ ऐसी स्थिति नहीं थी। आद्य सुश्रुत तथा सुश्रुत दोनों का नाम एक ही होने के कारण सुश्रुत की प्रसिद्धि अग्निवेशकाल से ही थी। कुछ विद्वानों का मत है कि चरक कनिष्क का राजवैद्य था इसका आधार बौद्ध त्रिपिटक का चीनी अनुवाद बतलाया जाता है। किन्तु कनिष्क बौद्धधर्मानुयायी था और उसके राजकवि अश्वघोष तथा नागार्जुन भी बौद्ध थे जब कि चरकसंहिता में वेद, ब्राह्मणधर्म तथा आस्तिकता का प्रतिपादन है। महर्षि चरक जैसा यायावर और स्वच्छन्द व्यक्ति किसी राजा के दरबार से सम्बद्ध हो यह भी स्वाभाविक नहीं मालूम होता। अतः अन्तरंग साक्ष्यों के आधार पर चरक कनिष्ककालीन नहीं सिद्ध होता। यह बात दूसरी है कि चरक नामक कोई अन्य व्यक्ति कनिष्क का राजवैद्य हो किन्तु वह चरकसंहिता का प्रतिसंस्कर्ता नहीं मालूम पड़ता। कनिष्क कुशान वंश का था जो शकों की ही एक विशेष शाखा थी। शक मध्य एशिया की एक घूमने फिरने वाली (चरक) जाती थी। संभव है, शकों के सम्प्रदाय में चरक नाम प्रचलित हो और उन्हीं में से एक कनिष्क का वैद्य हो। मिलिन्दपञ्हो २री ई० पू० की र

मानी जाती है। इसमें अन्य शास्त्रों के साथ चिकित्सा का भी उल्लेख है।[१] इसमें छः प्रसिद्ध नास्तिक आचार्यों का भी उल्लेख है जिसके मतों का खंडन चरक ने किया है।[२] बौद्धों की चारिका का भी इसमें निर्देश है।[३] वाद तथा निग्रह का भी उल्लेख हुआ है।[४] अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान वेदना प्रत्येक ३६ प्रकार की और इस प्रकार कुल मिलाकर १०८ प्रकार की वेदना बतलाई गई है।[५] रसका परिज्ञान जिह्वा पर निपात के द्वारा चरक में बतलाया है, इसमें भी ऐसा ही है।[६] एक प्रसंग में कहा गया है कि ऐसा कोई वैद्य है जो पृथिवीगत सभी औषधों का ज्ञान रखता हो।[७] इसी प्रकार का एक प्रसंग चरक में भी है। चरकसंहिता के 'प्राज्ञः प्रागेव तत् कुर्याद्धितं विद्याद् यदात्मनः।' (सू० ७।५७) की छाया इसके 'प्रतिगत्यैव तत्कुर्याद् यज्जानीयाद् हितमात्मनः' (३।४।३) पर स्पष्ट रूप से मिलती है। इस प्रकार चरकसंहिता का काल इसके आसपास रखना चाहिए। डा० दासगुप्त ने दार्शनिक पृष्ठभूमि में चरक के काल का सूक्ष्म विवेचन किया है। उनका कथन है कि चरक में चतुर्विंशतितत्त्वात्मक सांख्य का निरूपण है अतः यह ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका (२०० ई०), जो पंचविंशति तत्त्वों का प्रतिपादन करती है, से प्राचीन है। गुणरत्न ने मौलिक्य तथा अपर दो सांख्य-संप्रदायों का उल्लेख किया है जिनमें प्रथम २४ तत्त्वों तथा द्वितीय २५ तत्त्व मानता है। महाभारत में इनके अतिरिक्त एक २६ तत्त्वों वाला सम्प्रदाय भी निर्दिष्ट है।[८] चरकसंहिता में मौलिक्य या आद्य सांख्य के अनुसार प्रतिपादन है जो प्राचीनतम है।

वैशेषिकसूत्र भी अत्यन्त प्राचीन संभवतः प्राग्बौद्धकालीन है। चरक ने पदार्थों का वर्णन इसके अनुसार किया है।[९] संभाषाविधि एवं वादमार्ग का चरकसंहिता तथा न्यायसूत्र दोनों में वर्णन है जिससे प्रतीत होता है कि दोनों ने किसी पूर्ववर्ती समान स्रोत से लिया है किन्तु जाति का वर्णन चरक में नहीं है। अनुमान के त्रिविध भेदों

---

१. १।१।१
२. १।१।१
३. १।१।१४
४. २।१।३
५. २।१।१३
६. २।३।२३
७. ३।६।२० तुलना करें—च. सू. १५।५।
८. Dasgupta : A History of Indian philosophy, Vol. I, page 216-217.
महाभारत शान्तिपर्व ३०८।७
९. —Das Gupta : opcit, page 280, 281.

का नामकरण भी नहीं है तथा विषय का स्वरूप सरल है अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चरकसंहिता न्यायसूत्र (२०० ई०) की पूर्ववर्तिनी है।[१] पंचावयवाक्य भी चरकसंहिता से ही न्यायसूत्र में आया है।[२] इन आधारों पर, डा० दासगुप्त चरक को कनिष्ककालीन (७८ ई०) मानते हैं। डा० दासगुप्त की उपर्युक्त विवेचना से सहमत होते हुए भी चरक का कनिष्क का समकालीन मानने के विचार से मैं सहमत नहीं हूँ। धार्मिक परिस्थिति तथा अन्य तथ्य जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है इसके पक्ष में नहीं है। वस्तुतः चरक का काल शुङ्गकाल (२री शती ई० पू०) होना चाहिए जो पातंजल महाभाष्य तथा योगसूत्र का भी रचनाकाल है बल्कि चरक को इन दोनों से कुछ पूर्व ही रख सकते हैं। प्रत्यक्ष में बाधक जिन कारणों का उल्लेख महाभाष्य ने और पुनः सांख्यकारिका ने किया है उस वचन का स्रोत चरकसंहिता ही प्रतीत होता है।[3] श्रीगुरुपद हालदार दो चरक मानते हैं एक वैशम्पायन का शिष्य तथा दूसरा कनिष्क का राजवैद्य। दूसरे चरक का नाम वह कपिलबल भी बतलाते हैं।[४] उनका मत है कि मूल संहिता प्रथम चरक ने बनाई और दूसरे चरक ने उसका आंशिक प्रतिसंस्कार किया। इसके बाद उनका कथन है कि इस तथाकथित कपिलबल के पुत्र ने तथा पुनः दृढबल ने और अन्त में चन्द्रट ने— इस संहिता का प्रतिसंस्कार किया किन्तु इसका क्या आधार है यह उन्होंने नहीं बतलाया। फिर यदि वैदिक काल में चरक को रक्खेंगे तब अग्निवेश तथा आत्रेय को कहां ले जायेंगे ? वस्तुतः चरक एक ही है जिसे पतंजलि के कुछ पूर्व रखना चाहिए जैसा कि स्वयं श्रीहालदार ने लिखा है।[५]

डा० सी० कुन्हन राजा की मान्यता है कि 'चरक' शब्द संस्कृत का न होकर पहलवी भाषा का प्रतीत होता है। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में चरकसंहिता का पहलवी भाषा में अनुवाद भी हुआ है।[६]

---

१. Das Gupta : opcit, page 301–302; 380–383; 392—393.

२. Ibid, Page 400.

३. डा० दासगुप्त का मत है कि महाभाष्य ने यह वचन किसी सांख्य ग्रन्थ से लिया किन्तु उसका नाम नहीं बतलाया तथा इस सम्बन्ध में चरकसंहिता का ध्यान उन्हें नहीं रहा अन्यथा संभवतः इस पर वह अवश्य विचार करते।

देखें :—Dasgupta :—History of Indian Philosophy, Vol. I, 218–219.

४. वृद्धत्रयी (पृ० ३१–३२)

५. संहिताकारश्चरकः पतंजलितः प्राचीन एव (वृद्धत्रयी पृ० १७)

६. The earliest texts on the subject are the Caraka and the

इस आधार पर भी चरक का काल २सरी शती ई० पू० रखने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। ऐसा लगता है कि जिस प्रकार शल्यतंत्र में धन्वन्तरि का एक संप्रदाय बन गया उसी प्रकार इस चरक का भी एक संप्रदाय प्रचलित हुआ जो चिकित्सा में एक विशेष प्रकार की दक्षता रखते थे। उज्जयिनी के चस्टन परिवार से शकाधिपति नहपान के दामाद ऋषभदत्त द्वारा चरकसमाज को दान देने का उल्लेख शिलालेख में मिलता है[1]। वराहमिहिर तथा पूर्ववर्ती व्याख्याताओं ने भी इस संप्रदाय का उल्लेख किया है।[2] स्पष्ट है कि यह संप्रदाय कृष्णयजुर्वेद की चरकशाखा[3] से नितान्त भिन्न है।

अतः सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के जो संकेत चरकसंहिता में उपलब्ध हैं उनके अनुसार चरक को शुङ्गकाल या मौर्य-शुङ्गकाल की सन्धि रेखा पर रखना चाहिए।

Sushruta and the former has been translated into the Pahlavi language in the carly centuries of the Christian era. As a matter of fact, the name of the former does not seem to be Sanskrit, it may be the Pahlavi woad 'Carek'—

—C. Kunhan Raja : Survey ef Sanskrit Literature, page 277.

फारसी में 'चार' शब्द चिकित्सा का वोधक है। चर्कस एक तुर्की जाति है। (उर्दू हिन्दी कोश, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश)

१. Nasik Inscriptions No. 10 (quoted from 'Sakas in India' page 86-98)

२. शाक्याजीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशना-बृहज्जातक १५-१; चरका योगाभ्यासकुशला मुद्राधारिणश्चिकित्सानिपुणाःपाषण्डभेदाः—(रुद्रव्याख्या) भट्टोत्पल ने 'चरकाश्चक्रधराः' लिखा है।

ललितविस्तर (अ० १) के 'अन्यतीर्थिकश्रमणब्राह्मणचरकपरिव्राजकानाम्' में ब्राह्मण के साथ चरक का निर्देश होने से प्रतीत होता है कि इनका एक पृथक् संप्रदाय था।

३. डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने 'चरक' शब्द से ज्ञानप्राप्ति के उद्देश्य से भ्रमणशील विद्वानों का ग्रहण किया है :—

और देखें :—वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३००; ऐसा प्रतीत होता है कि पहलवी 'चारेक' का अर्थ चिकित्सक के साथ साथ भ्रमणशील भी था। ऐसी परम्परा पश्चिम में भी थी।

दृढबल

वर्तमान चरकसंहिता के अन्त में यह उल्लेख मिलता है कि चरकसंहिता का एक तिहाई भाग उस समय प्राप्त नहीं था जिसे दृढबल ने अन्य तन्त्रों के आधार पर पूरा किया। ये अंश हैं चिकित्सास्थान के १७ अध्याय, पूरा कल्पस्थान (१२ अध्याय) तथा सिद्धिस्थान (१२ अध्याय); इस प्रकार कुल १२० अध्यायों में ४१ अध्याय दृढबल के लिखे हैं। कुछ लोग इसका अर्थ यह करते हैं कि चरक का कार्य अपूर्ण रह गया था उसे दृढबल ने पूरा किया किन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि चरक ने पूर्ण संहिता का प्रतिसंस्कार किया था जो कालक्रम से राजनीतिक या अन्य कारणों से खण्डित हो गया था जिसकी पूर्ति दृढबल ने की। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि स्वयं दृढबल ने अपने द्वारा प्रतिसंस्कृत स्थानों के अन्त में 'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकसंस्कृते' ऐसा दिया है। यदि यह अंश चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत न होता तो चरक का नाम न देकर दृढबल अपना नाम देता।

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते॥
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत्।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम्॥ (च.चि. ३०।२८९-२९०)

इसके अतिरिक्त, चरकसंस्कृत अंश में ही कल्पस्थान तथा सिद्धिस्थान का निर्देश है :—

विस्तरेण कल्पोपनिषदि व्याख्यास्यामः। (च. सू. ४।४)
व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूत्तरकालम्। (च. सू. १५।५)

इन स्थानों तथा चिकित्सास्थान के परवर्ती अंश की पूरी योजना का विवरण भी चरककृत अंश में ही है। (च. सू ३०।३४, ६०-६९)

कल्पस्थान तथा सिद्धिस्थान में तो कोई सन्देह नहीं है किन्तु चिकित्सास्थान के कौन १७ अध्याय दृढबल के द्वारा निर्मित हैं इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है क्योंकि उपलब्ध चरकसंहिता के विभिन्न संस्करणों में अध्यायक्रम में अन्तर मिलता है। वंगीय संस्करण तथा बम्बई संस्करणों में क्रम भिन्न-भिन्न है। अधिकांश टीकाकारों के उद्धरण के अनुसार कलकत्ता संस्करण का क्रम मान्य होना चाहिए और इसी के अनुसार पिछले सत्रह अध्याय दृढबल के द्वारा प्रतिसंस्कृत हैं। यह क्रम निम्नांकित है[1] :—

---

१. चक्रपाणि की भी ऐसी ही मान्यता है :—

'ते च चरकसंस्कृतान् यक्ष्मचिकित्सितान्तानष्टावध्यायान्, तथाऽर्शोऽतीसारविसर्पद्विव्रणीयमदात्ययोक्तान् विहाय ज्ञेयाः॥ (च. चि. ३०।२८९–२९०)

चरककृत	दृढबलकृत
अ० १. रसायन	अ० १४. उन्माद
,, २. वाजीकरण	,, १५. अपस्मार
,, ३. ज्वर	,, १६. क्षत
,, ४. रक्तपित्त	,, १७. शोथ
,, ५. गुल्म	,, १८. उदर
,, ६. प्रमेह	,, १९. ग्रहणी
,, ७. कुष्ठ	,, २०. पाण्डु
,, ८. राजयक्ष्मा	,, २१. श्वास
,, ९. अर्श	,, २२. कास
,, १०. अतिसार	,, २३. छर्दि
,, ११. विसर्प	,, २४. तृष्णा
,, १२. मदात्यय	,, २५. विष
,, १३. द्विव्रणीय	,, २६. त्रिमर्मीय
	,, २७. ऊरुस्तम्भ
	,, २८. वातव्याधि
	,, २९. वातशोणित
	,, ३०. योनिव्यापत्

ऐसा प्रतीत होता है कि इन अंशों के अतिरिक्त सारे ग्रन्थ का परिमार्जन भी उसके द्वारा हुआ है जो स्वाभाविक है।

दृढबल ने जो अपना परिचय दिया है उसके अनुसार उसका निवासस्थान पंचनदपुर है। कुछ लोग इसे काश्मीर, कुछ लोग पंजाब तथा कुछ लोग काशी का पंचगंगा घाट बतलाते हैं। काश्मीर में इनका निवासस्थान मानने में अधिकांश विद्वानों का झुकाव है। इनके पिता का नाम कपिलबल था।[1] अष्टांगसंग्रह में कपिलबल का नाम आया है। दृढबल शिवभक्त थे और अनेक तन्त्रों की सहायता से इन्होंने चरक के खण्डित अंश को पूर्ण किया।[2]

दृढबल का काल

अष्टांगसंग्रह में कपिलबल का निर्देश है[3] जो दृढबल के पिता थे। अष्टांगसंग्रह

---

१. श्रीगुरुपद हालदार दृढबल के पिता का कपिबल नाम बतलाते हैं और कापिलबलि से चरक (कनिष्ककालीन) का ग्रहण करते हैं जो निराधार है।

२. अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना। संस्कृतं तत्त्वसंपूर्णं त्रिभागेनोपलक्ष्यते।
तच्छङ्करं भूतपतिं संप्रसाद्य समापयत्। अखण्डार्थं दृढबलो जातः पंचनदे पुरे॥
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम्।
सप्तदशौषधाध्यायसिद्धिकल्पैरपूरयत्॥ च. सि. १२।६६–६९

३. कपिलबलस्तेषां स्वलक्षणानि रसतो निर्दिदेश (अष्टांगसंग्रह–सूत्र० २०।२१)

छठी शती की रचना है अतः प्रसिद्धिकाल को देखते हुए दृढबल चौथी शती में रक्खे जा सकते हैं।[१] यह गुप्तसाम्राज्य का काल था। इस साम्राज्य का विस्तार कश्मीर तथा काबुल तक था। गुप्तकाल भारतीय वाङ्मय के पुनरुत्थान का युग था। इस काल में पुराणों को अन्तिम रूप दिया गया। नवीन स्मृतियों के द्वारा आचारपद्धति व्यवस्थित की गई, प्राचीन संहिताओं को प्रतिसंस्कृत कर उन्हें युगानुरूप बनाया गया। अत्यधिक सम्भावना है कि गुप्तकाल में ही आयुर्वेदीय संहिताओं को आधुनिक रूप मिला जो अद्यावधि चला आ रहा है। अतः चरकसंहिता में गुप्तकालीन जो तथ्य उपलब्ध होते हैं वे दृढबल के द्वारा ही नियोजित माने जाने चाहिये। इनमें निम्नांकित मुख्य हैं—

१. शैली—मांगलिक द्रव्यों में वर्धमान का प्रयोग गुप्तकाल में प्रचलित था। चरकसंहिता में मांगलिक द्रव्यों में इसका उल्लेख है।[२] जलयन्त्र तथा वातयन्त्रयुक्त धारागृहों का वर्णन है जो गुप्तकालीन समृद्धि का द्योतक है। गद्य की शैली में प्रौढता है।[३]

मेरी ऐसी धारणा है कि वातकलाकलीय अध्याय (च. सू. १२) का गद्य भी दृढबल द्वारा स्पृष्ट है। इससे बाणभट्ट की रचनाओं का सहज स्मरण हो जाता है।

२. मद्यपान—गुप्तकाल में मद्यपान की परम्परा प्रचलित थी और उसके विधान भी निर्धारित थे। जहाँ मद्यपान किया जाता था वह स्थान 'आपान' कहलाता था।[४] इन सबका वर्णन चरकसंहिता में मिलता है।

३. विष्णुसहस्रनाम—विषमज्वर से मुक्ति के लिए विष्णुसहस्रनाम के पाठ का विधान है। ज्वर रुद्रकोप से उत्पन्न बतलाया गया है। भेलसंहिता में ज्वरशान्ति के

---

१. डा० हार्नले माधवनिदान की मधुकोशव्याख्या में निर्दिष्ट चरक के काश्मीरपाठ को दृढबल-प्रतिसंस्कृत अंश मानते हैं और चूँकि माधव ने इसे अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया है अतः वह माधव को दृढबल के पूर्व मानते हैं तथा इस आधार पर दृढबल को ९वीं शती में रखने के पक्ष में हैं किन्तु इस आधार पर ऐसा महत्त्वपूर्ण निर्णय लेना उचित नहीं प्रतीत होता। प्राचीन पाण्डुलिपियों में देशभेद से भी कुछ पाठभेद होते थे। माधव वंगदेशीय के अतः स्वाभाविक है कि वह दूरवर्ती काश्मीरदेशीय पाठ से अपरिचित रहे हों। विस्तृत विवेचन के लिए मेरा वाग्भट-विवेचन देखें।

२. च. इ. १२।७२

३. देखें च. क. १।८

४. च. चि. २४।७९

लिए रुद्रपूजा का बहुशः विधान है। चरक में रुद्रपूजा का उल्लेख है किन्तु उपर्युक्त प्रकरण में विष्णुसहस्रनाम का निर्देश विशेष महत्त्वपूर्ण है।[1]

कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि विष्णुसहस्रनाम गुप्तकाल की रचना है।[2] यदि यह सत्य है,तब यह अंश भी गुप्तकालीन तथा दृढबल द्वारा सन्निविष्ट मानना होगा। भागवत में ज्वर के सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा है जिसमें माहेश्वर ज्वर तथा वैष्णव ज्वर में युद्ध का वर्णन है और अन्त में वैष्णव ज्वर की विजय बतलाई गई है यह वैष्णव धर्म की तत्कालीन प्रमुखता का द्योतक है। गुप्त सम्राट् स्वतः परमभागवत कहे जाते थे। अतः दृढबल स्वयं शैव होते हुए भी संभवतः लोकप्रचलित परम्परा का उल्लेख करने में पीछे नहीं रहे।

धार्मिक स्थिति :—वायु भगवान के रूप में वर्णित हैं इससे प्रतीत होता है कि संभवतः वायुपुराण की रचना तबतक हो चुकी हो और उसका लोक में प्रचार हो।[3] एक प्रसंग में चैत्य, यज्ञाश्रम, सुरालय तथा पाषण्डायतन का एकत्र उल्लेख है।[4] इससे संकेत मिलता है कि भागवतधर्म के साथ-साथ बौद्ध तथा जैन धर्म भी लोक में प्रतिष्ठित थे। वशीकरण आदि तान्त्रिक क्रियाओं का उल्लेख होने से तन्त्र की प्रारंभिक स्थिति की भी सूचना मिलती है।[5]

५. देश—देश-विभाग के प्रसंग (च० चि० ३०।३१५-३१९) में दृढबल ने निम्नांकित देशवासियों का उल्लेख किया है :—

१. वाह्लीक	८. सैन्धव
२. पह्लव	९. अश्मक
३. चीन	१०. आवन्तिक
४. शूलीक	११. मलय
५. यवन	१२. दक्षिण
६. शक	१३. उत्तरपश्चिम
७. प्राच्य	१४. मध्य प्रदेश

१. इसके अतिरिक्त भी विष्णु, वासुदेव तथा कृष्ण का नाम आया है।
च चि. २३।९०–९४

२. देखें—वासुदेवशरण अग्रवाल : कादम्बरी सांस्कृतिक अध्ययन।
चरकसंहिता का 'विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्' (चि० ३।३१२) यह श्लोक इसी रूप में विष्णुधर्मोत्तर पुराण (२।११०।१२) में मिलता है जो गुप्तकालीन रचना है।

३. च० चि० २८।३

४. च० चि० २३।१६०-१६१

५. च० चि० २३।२३३

विदेशी जातियों में शकों तक की सूचना इसमें उपलब्ध होती है।[1] गुप्तकाल में शकों की अन्तिम पराजय चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के हाथों हुई जो 'शकारि' की पदवी से विभूषित हुआ। देश में उस समय अवन्ती (उज्जयिनी) का महत्त्व बढ़ रहा था यह भी इससे सूचित होता है।

६. तन्त्रयुक्ति—कौटिल्य अर्थशास्त्र में ३२ तन्त्रयुक्तियां मानी गई हैं, दृढबल ने ४ और बढ़ाकर ३६ तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है[2] किन्तु उनका आधार कौटिल्य ही प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, अन्नगत विष की परीक्षाविधि, वैद्यों के प्रकार आदि विषय अर्थशास्त्र में मिलते हैं। अर्थशास्त्र के काल के विषय में मतभेद है। कुछ लोग उसे मौर्यकाल में तथा कुछ गुप्तकाल में रखते हैं।

७. कामशास्त्र—कामशास्त्रसम्बन्धी अनेक विषय चरकसंहिता में मिलते हैं यथा शूकदोष, ध्वजभंग आदि तथा अयोनि, वियोनिगमन आदि।[3] यह सब तथ्य गुप्तकालीन ही प्रतीत होते हैं जिनका सविस्तर उल्लेख वात्स्यायन कामसूत्र में है।

८. विशिष्ट औषधद्रव्य—अनेक द्रव्य एवं द्रव्यवाचक शब्द चरकसंहिता के केवल दृढबल-प्रतिसंस्कृत अंश में निर्दिष्ट हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है इनमें कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :—

१ उच्चटा°	९ द्विमधूम°	१७ यवतिका
२ कर्पूर°	१० नागकेशर	१८ रक्तचन्दन°
३ कृष्णचित्रक	११ प्रसारणी°	१९ लवंग°
४ चविका	१२ फेनिला°	२० वत्सनाभ°
५ दुण्डुक°	१३ बाह्लीक°	२१ श्रीनिवासक°
६ तालमूली°	१४ बीजक°	२२ श्वेतमरिच°
७ तुरुष्क°	१५ बोधिवृक्ष	२३ श्वेतवचा
८ त्रिजातक	१६ भृङ्गराज°	२४ सहकार°[4]

उपर्युक्त सूची में अधिकांश द्रव्य सुश्रुतसंहिता में निर्दिष्ट हैं अतः अधिक सम्भावना है कि दृढबल ने सुश्रुत से उन्हें लिया।[5]

---

१. चरककृत अंश में 'शक' शब्द नहीं मिलता।

२. इदमन्यूनशब्दार्थं तन्त्रं दोषविवर्जितम्।
पट्त्रिंशता विचित्राभिर्भूषितं तन्त्रयुक्तिभिः॥ (च० सि० १२।६९-७०)

३. च० चि० ३०।१३५, १५४-१५६, १६४-१६७

४. तारांकित द्रव्य सुश्रुत में भी है।

५. तन्त्रेभ्यः सुश्रुतविदेहादितन्त्रेभ्यः (च० सि० १२।३९)

९. दृढबल ने अगस्त्योदय में विष की मन्दता का वर्णन किया है।[1] उस काल में यह विचार लोकप्रचलित था।

१०. सुश्रुत ने ६७ मुखरोगों का वर्णन किया है जब कि दृढबल ने ६५ मुखरोगों का वर्णन किया है।[2] इससे अनुमान होता है कि संभवतः दृढबल ने सुश्रुत से न लेकर अन्य प्रचलित शल्यतंत्र की विदेह आदि संहिताओं से लिया तथा नागार्जुन ने बाद में इसे और विकसित किया। दृढबल ने यह भी लिखा है कि 'पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिः' जिससे यह पता चलता है कि आयुर्वेद के विभिन्न अङ्गों में विशेषज्ञता का अनुसरण किया जाता था और एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करते थे।

दृढबल के समय में चरक संहिता के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। स्वयं दृढबल ने अग्निवेशकृत ग्रन्थ के लिए 'तन्त्र' तथा चरककृत प्रतिसंस्कार के लिए 'संहिता' शब्द का प्रयोग किया है।

गुप्तकाल में विश्वकोश के समान ग्रन्थों का भी प्रणयन हो रहा था जिसे 'संहिता' नाम दिया जाता था यथा वराहमिहिर की बृहत्संहिता। महाभारत भी उस समय तक पूर्ण हो गया था जो स्वयं विश्वकोश माना जाता था और ऐसी मान्यता थी कि जो यहां है वही अन्यत्र है और जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। दृढबल ने इसी शैली से ग्रन्थ के अन्त में लिखा है :—

'चिकित्सा वह्निवेशस्य स्वस्थातुरहितं प्रति।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'[3]॥

इसके अतिरिक्त, अन्य पुराणों से भी यत्र तत्र साम्य दृष्टिगत होता है।

पौराणिक काल में धन्वन्तरि भगवान् रूप में पूजित थे। भागवत (६।८।१२) में एक वचन आता है—धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्यात्। मार्कण्डेयपुराण में धन्वन्तरि के लिए पूर्वोत्तर दिशा में बलि देने का विधान है :—धन्वन्तरिं समुद्दिश्य प्रागुदीच्यां बलिं क्षिपेत् (२६।१९)। विष्णुधर्मोत्तर (२।९५।५) में भी है। चरकसंहिता में भी धन्वन्तरि को आहुति देने का विधान है। च. वि. ८।१०

वायुपुराण (४३।१०) में संहितावादी ब्राह्मणों को चरक कहा है।[4] यह भी

---

१. च० चि० २३।८

२. च० चि० २६।१२३

३. कुछ लोग सिद्धिस्थान के इन तीन अन्तिम श्लोकों (१२।५२–५४) को प्रक्षिप्त मानते हैं। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि ने लिखा है :—
'यस्य द्वादशसाहस्रीति श्लोकत्रयं केचित् पठन्ति, तच्चाप्रस्तुतम्, इससे इतना तो पता चलता ही है कि चक्रपाणि के पूर्व से ये श्लोक चले आ रहे हैं।

४. इत्येते चरकाः प्रोक्ताः संहितावादिनो द्विजाः। वायु० ४३।१०

कहा गया है कि विभिन्न युगों में ऋषिगण उत्पन्न होकर परस्पर विचारविमर्श कर संहिताओं की रचना करते हैं। वैशम्पायनशिष्यों को भी चरक कहा गया है[1]।

वराहमिहिर (छठी शताब्दी) की रचनाओं में चरक की बहुत सी बातें मिलती हैं। आयुर्वेद को जैसे चरक के त्रिस्कन्ध कहा है वैसे ही ज्योतिष त्रिस्कन्ध कहा गया है। (बृहत्संहिता १।९)। चरक ने तैल, घृत, मधु का वातपित्तकफप्रशमन के रूप में एकत्र उल्लेख किया है। बृहत्संहिता (५।६०) में भी 'घृतमधुतैलभक्षणाय' में तीनों का एकत्र उल्लेख है।

यह कहना अतीव कठिन है कि ये सब तथ्य चरककृत हैं या दृढबलकृत किन्तु इतना स्पष्ट है कि चरक पौराणिक काल के प्रारंभिक चरण में थे जब कि दृढबल के समय में यह युग प्रौढि को प्राप्त कर रहा था, अतः चरक ने पुराणों की जो कुछ छाया ग्रहण की होगी उसका विकास दृढबल ने किया होगा[2]।

दृढबल की देन

कुछ लोगों की मान्यता है कि चरक आधी संहिता लिखकर ही दिवंगत हो गये और शेष अपूर्ण अंश को दृढबल ने पूरा किया जिस प्रकार कादम्बरी का उत्तरार्ध बाणभट्ट के पुत्र ने लिखा[3]। किन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि :—

१—दृढबल ने स्वतः लिखा है कि उसने त्रिभाग (तृतीयांश) की पूर्ति की, आधे की नहीं।

२—दृढबल ने संहिता की पूर्ति नहीं की, प्रतिसंस्कार किया।

---

१. आवर्त्तमाना ऋषयो युगाख्यासु पुनः पुनः।
कुर्वन्ति संहिता ह्येते जायमानाः परस्परम् ॥ वायु. ४३।१२१
ब्रह्महत्या तु यैश्चीर्णा चरणाच्चरकाः स्मृताः।
वैशम्पायनशिष्यास्ते चरकाः समुदाहृताः ॥ वायु. ४३।२३

२. चरक का अग्रय प्रकरण (सू० २५ अ०) पुराणों के विशेषतः श्रीमद्भगवद्गीता के विभूतिवर्णन से प्रभावित प्रतीत होता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।५६) में भी विभूतिवर्णन है। श्रीमद्भगवद्गीता का काल कुछ विद्वानों ने दूसरी शती ई० पू० माना है।
(देखें डा० भगवतशरण उपाध्यायकृत गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. १०)

३. अत्रिदेव : चरकसंहिता का सांस्कृतिक अनुशीलन पृ० ३९
इसका आधार अष्टांगसंग्रह के व्याख्याकार इन्दु का निम्नांकित वचन है :—
स्नेहपाकविधिस्तूक्तः स्वयं दृढबलेन तु।
चरकोऽर्धकृते शास्त्रे ब्रह्मभूयं गतो यतः ॥ अष्टांगसंग्रह कल्प० ८।२५

३—जैसा पहले कहा जा चुका है, चरककृत अंशों में सम्पूर्ण संहिता की योजना दी हुई है।

दृढबल ने चरकसंहिता के खण्डित अंश की पूर्ति अन्य उपलब्ध तन्त्रों से आवश्यक सामग्रियाँ शिलोञ्छवृत्ति से ग्रहण कर की। इसके अतिरिक्त, उन्होंने ग्रन्थ को आद्योपान्त संवारा भी। गुप्तकाल सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था। तब तक चिकित्साजगत् में भी पर्याप्त विकास हो चुका था, देश के विभिन्न भागों में उत्तम सर्वसाधनसंपन्न आतुरालय स्थापित हो चुके थे। इससे निश्चय ही इस क्षेत्र में नये नये अनुभव हुये होंगे। इन सबका उपयोग दृढबल ने संहिता के प्रतिसंस्कार में किया है। अनेक नवीन द्रव्यों का भी समावेश दृढबल ने किया है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस प्रकार तत्कालीन आयुर्वेदशास्त्र की सामग्रियों से परिपूर्ण एवं सुसज्जित कर चरकसंहिता को वैज्ञानिक जगत् के समक्ष उपस्थित करने का श्रेय दृढबल को ही है।

सारांश

१. चरकसंहिता में निर्माण के तीन स्तर हैं—अग्निवेश, चरक और दृढबल।

२. मूल तन्त्रकार अग्निवेश का काल १००० ई० पू० है।

३. प्रतिसंस्कर्ता चरक शुङ्गकाल या मौर्य-शुङ्गकाल की सन्धिरेखा पर रक्खे जा सकते हैं। इनका काल २री शती ई० पू० है।

४. दृढबल गुप्तकालीन है। इसका काल ४थी शती है। इसके द्वारा चरकसंहिता का अन्तिम प्रतिसंस्कार हुआ।

चरकसंहिता का विषय-विभाग

चरकसंहिता का विषय आठ स्थानों तथा कुल १२० अध्यायों में व्यवस्थित है[1] :—

१. सूत्रस्थान	३० अध्याय
२. निदानस्थान	८ अध्याय
३. विमानस्थान	८ अध्याय
४. शारीरस्थान	८ अध्याय
५. इन्द्रियस्थान	१२ अध्याय
६. चिकित्सास्थान	३० अध्याय
७. कल्पस्थान	१२ अध्याय
८. सिद्धिस्थान	१२ अध्याय
	१२० अध्याय

१. द्वे त्रिंशके द्वादशकत्रयं च त्रीण्यष्टकान्येषु समासिरुक्ता।
श्लोकौषधारिष्टविकल्पसिद्धिनिदानमानाश्रयसंज्ञकेषु ॥ च० सू० ३०।३२

चतुष्पाद की जो वैदिक शैली थी उसके अनुसार पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। पातञ्जल महाभाष्य में भी उसका अनुसरण किया गया और चरकसंहिता में भी उसकी छाया मिलती है। चिकित्सास्थान के प्रथम दो अध्यायों में विषय का व्यवस्थापन उसी प्रकार चार पादों में किया गया है। सूत्रस्थान में भी चार-चार अध्यायों का एक-एक चतुष्क बनाया गया है यथा—

१. औषधचतुष्क
२. स्वस्थचतुष्क
३. निर्देशचतुष्क
४. कल्पनाचतुष्क
५. रोगचतुष्क
६. योजनाचतुष्क
७. अन्नपानचतुष्क

अन्तिम दो अध्याय संग्रहाध्याय कहे गये हैं[1]। अध्यायों की अधिकतम संख्या सूत्रस्थान और चिकित्सास्थान में है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चरक ने मौलिक सिद्धान्त तथा कायचिकित्सा का मुख्यतः प्रतिपादन किया है। संशोधन चिकित्सा पर भी विशेष बल दिया गया है जिसका वर्णन दो स्वतन्त्र स्थानों (कल्प और सिद्धि) में किया गया है। अरिष्टलक्षणों का भी विस्तार से इन्द्रियस्थान में वर्णन है। शारीरस्थान में मुख्यतः दर्शन का प्रतिपादन किया है, शरीररचना गौण हो गई है। इस प्रकार प्रतिपादित विषयों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि चरकसंहिता मुख्यतः मौलिक सिद्धान्त एवं कायचिकित्सा का उपजीव्य ग्रन्थ है।

संहिता के प्रतिपाद्य विषयों की सूची देने की शैली प्राचीन है। कौटिल्य अर्थशास्त्र और कामसूत्र में ऐसी सूची ग्रन्थ के प्रारंभ में है। सुश्रुतसंहिता में भी प्रारम्भ के तृतीय अध्याय में है किन्तु चरकसंहिता में इसका उल्लेख सूत्रस्थान के अन्तिम अध्याय में किया गया है।

सिद्धिस्थान में एक श्लोक है[2] जिसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सुश्रुतसंहिता के समान चरकसंहिता में भी उत्तरतन्त्र होगा जो संप्रति उपलब्ध नहीं है किन्तु यह श्लोक सभी प्रतियों में नहीं मिलता और चक्रपाणि ने भी लिखा है कि यह अनार्ष है,[3] फिर भी चक्रपाणि के काल (११वीं शती) में इसका अस्तित्व

---

१. औषधस्वस्थनिर्देशकल्पनारोगयोजनाः ।
चतुष्काः षट् क्रमेणोक्ताः सप्तमश्चान्नपानिकः ।
द्वौ चान्त्यौ संग्रहाध्यायाविति त्रिंशकमर्थवत् ।—च० सू० ३०।४२-४३

२. तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः ।
तत्त्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः ॥—च० सि० १२।५०

३. तस्मादेता इत्यधिकं श्लोकमुत्तरे तन्त्रे तन्त्रयुक्तिव्याकरणे प्रतिपादकं पठन्ति, चानार्षं वृद्धा वदन्ति, अग्निवेशतन्त्रे उत्तरतन्त्रस्यैवानार्षत्वात् ।—चक्र०

सिद्ध होता है। निश्चल कर (१३वीं शती) ने भी अपनी टीका में चरकोत्तरतन्त्र तथा चरकपरिशिष्ट को उद्धृत किया है।

चरकोक्त महर्षि तथा आचार्य

चरकसंहिता में विभिन्न प्रसंगों में अनेक महर्षियों तथा आचार्यों के नाम आये हैं। इनकी सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है :—

१. अङ्गिरा
२. जमदग्नि
३. वसिष्ठ
४. कश्यप
५. भृगु
६. आत्रेय
७. गौतम
८. सांख्य
९. पुलस्त्य
१०. नारद
११. असित
१२. अगस्त्य
१३. वामदेव
१४. मार्कण्डेय
१५. आश्वलायन
१६. पारीक्षि (मौद्गल्य)
१७. भिक्षु आत्रेय
१८. भरद्वाज
१९. कपिञ्जल
२०. विश्वामित्र
२१. आश्वरथ्य
२२. भार्गव च्यवन
२३. अभिजित्
२४. गार्ग्य
२५. शाण्डिल्य
२६. कौण्डिन्य
२७. वार्क्षि
२८. देवल
२९. गालव
३०. सांकृत्य
३१. वैजवापि
३२. कुशिक
३३. बादरायण
३४. बडिश
३५. शरलोमा
३६. काप्य
३७ कात्यायन
३८. काङ्कायन (बाह्लीकभिषक्)
३९. कैकशेय
४०. धौम्य
४१. मारीचि काश्यप
४२. शर्कराक्ष
४३. हिरण्याक्ष
४४. लोकाक्ष
४५. पैङ्गि
४६. शौनक
४७. शाकुनेय
४८. मैत्रेय
४९. मैमतायनि
५०. वैखानस
५१. बालखिल्य
५२. भद्रशौनक (शा. ६, सि. ११)
५३. कुश सांकृत्यायन (सू० १२)
५४. कुमारशिरा भरद्वाज (सू.१२;२६; शा.६)
५५. वार्योविद राजर्षि (सू. १२; २५; २६)
५६. काशिपति वामक (सू. २५; सि. ११)
५७. शाकुन्तेय ब्राह्मण (सू. २६)
५८. पूर्णाक्ष मौद्गल्य (सू. २६)
५९. निमि वैदेह (सू. २६)
६०. भद्रकाप्य (सू. २५; २६; शा. ६)
६१. भरद्वाज (सू. २५; शा. ३)
६२. धन्वन्तरि (शा. ६)
६३. अत्रि (चि. १-४)
६४. जनक वैदेह (शा. ६)
६५. कौशिक (सि. ११)

१. च. सू. १।८-१३ में सं० १ से ५१ तक के नाम आये हैं।

परिषदें

चरक के काल में तद्विद्यसंभाषा ज्ञानार्जन का एक प्रमुख उपाय मानी जाती थी। इसके लिए परिषदों का आयोजन समय-समय पर होता रहता था जिसमें विचारणीय विषय पर उपस्थित ऋषि अपने-अपने मत रखते थे जिनका समाधान कर अध्यक्ष द्वारा सिद्धान्त निर्णय किया जाता था। उक्त महर्षि इन्हीं परिषदों के प्रसंग में परिगणित किये गये हैं। निम्नांकित परिषदों का विवरण मुख्यतः चरकसंहिता में मिलता है :—

१. आद्यपरिषद् (सू० १)

जो हिमवत्पार्श्व में आयोजित हुई थी जिसमें आयुर्वेदावतरण पर विचारविमर्श हुआ तथा अग्निवेश आदि तन्त्रकारों ने अपनी रचनायें परिषद् के समक्ष उपस्थित की जो इसके द्वारा अनुमोदित होने पर प्रचलित हुईं।

२. वातकलाकलीय (सू० १२)

इस परिषद् में मुख्यतः वात तथा साथ-साथ पित्त और कफ के भी गुणकर्मों का विवेचन किया गया है।

३. यज्जःपुरुषीय (सू. २५)

पुरुष और विकारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचारविमर्श हुआ। यह परिषद् संभवतः काशी में काशीपति वामक द्वारा आयोजित थी। वामक ने ही विचारविमर्श का प्रारम्भ भी किया।

४. आत्रेयभद्रकाप्यीय (सू. २६)

इसमें रस की संख्या पर विचार हुआ और छः ही रस हैं यह निर्णय हुआ।

५. गर्भावक्रान्ति (शा. ३)

गर्भ की उत्पत्ति कैसे होती है इस पर इसमें विचार किया गया।

६. शरीरविचय (शा. ६)

गर्भ का कौन अंग सर्वप्रथम बनता है इस पर विचारविमर्श इस परिषद् में हुआ।

७. फलमात्रासिद्धि (सि. ११)

दृढबल ने इस परिषद् की कल्पना की है। बस्ति के लिए उपयुक्त संशोधन द्रव्यों में कौन सर्वोत्तम है इस पर विचारविमर्श हुआ। यह निर्णय किया गया कि सभी द्रव्यों में गुण और दोष दोनों होते हैं अतः गुणाधिक्य के आधार पर उनका प्रयोग करना चाहिए।

चरकसंहिता का महत्त्व एवं शास्त्रीय योगदान

चरकसंहिता आत्रेयसंप्रदाय का प्रमुख आकरग्रन्थ माना जाता है जिसमें कायचिकित्सा का मुख्य रूप से प्रतिपादन हुआ है। जिस समय आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान शैशवावस्था में था उस समय चरकसंहिता में प्रतिपादित आयुर्वेदीय सिद्धान्तों की गरिमा-गंभीरता से सारा विश्व विस्मित एवं प्रभावित था। आधुनिक काल में चिकित्साविज्ञान के विख्यात आचार्य प्रोफेसर ऑसलर इस ग्रन्थ से इतना प्रभावित था कि चरक के नाम पर उसने न्यूयार्क (अमेरिका) में 'चरक क्लब' की स्थापना १८९८ ई० की[1] जहाँ चरक का एक चित्र रक्खा गया। एक विदेशी वैज्ञानिक ने यहाँ तक कहा कि यदि चिकित्सा की सारी पुस्तकें नष्ट कर दी जायँ तो भी अकेली चरकसंहिता से सफलतापूर्वक रोगों का निवारण तथा स्वास्थ्यरक्षण किया जा सकता है।

आयुर्वेद की बृहत्त्रयी में चरकसंहिता मूर्धन्य मानी जाती है। मध्यकाल में श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में चरक का निर्देश किया है। वाग्भट ने भी चरक को प्रथम स्थान दिया है तथा भेल आदि संहिताओं की तुलना में अधिक उपादेय ठहराया है। ८वीं ९वीं शती में पहले फारसी फिर अरबी में इसका अनुवाद हुआ जिसका उपयोग भारतीयेतर विद्वानों ने किया। अलबरूनी (११वीं शती) ने भी इसका उल्लेख किया है।

जहाँ तक चरकसंहिता के शास्त्रीय योगदान का सम्बन्ध है, निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है :—

१. संभाषापरिषद्

संभाषा का विचार चरकसंहिता में अत्यन्त विस्तार से तथा मौलिक रूप में हुआ है। ज्ञानार्जन के तीन उपायों में एक संभाषा है। इसके लिए विभिन्न परिषदों का आयोजन, उनकी कार्यशैली तथा सिद्धान्त-स्थापन का जो विवरण चरकसंहिता में उपलब्ध है वह वैज्ञानिक शोधसमीक्षा का सर्वोत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है। इन परिषदों द्वारा अनुमोदित होने पर ही कोई सिद्धान्त या ग्रन्थ प्रचलित किया जाता था। चिकित्साकर्म के लिए भी लिखा है—'वैद्यसमूहो निःसंशयकराणाम्' एवं चिकित्सक भी गंभीर रोगों में परस्पर विचारविमर्श कर निर्णय लेते थे। पक्षपात-

---

१. The Caraka Club was established in 1898 in New York by members of the medical profession interested in literary, artistic and historical aspects of Medicine. It is called after Caraka, author of the oldest extant work in Indian Medicine,

—B. M. J., April, 1905.

रहित अनासक्त होकर विषय पर विचार करने का उपदेश दिया गया है जो विशुद्ध वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए अत्यावश्यक है।[1]

२. सैद्धान्तिक विकास

आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त त्रिदोषवाद का सूत्ररूप में उल्लेख वैदिक वाङ्मय में भी उपलब्ध है किन्तु उसे व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय इन्हीं महर्षियों को है जिनके विचारों की अभिव्यक्ति चरकसंहिता में प्राञ्जल रूप में हुई है। त्रिदोष के अतिरिक्त पञ्चमहाभूत, रसगुणवीर्यविपाक आदि मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण वैज्ञानिक रीति से किया गया है। इस सिद्धान्तों को विकसित करने के साधन उनके पास क्या थे यह कहना कठिन है किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उनकी बाह्य और अन्तर्दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्मग्राहिणी थी जिससे वे वस्तुओं के स्वभाव की तह में पहुँच कर उनके बीच विद्यमान कार्यकारणभाव की श्रृंखला स्थापित करते थे। वस्तुतः अनुसन्धान इसी प्रक्रिया को कहते हैं। यही कारण है कि उन महर्षियों ने आश्चर्यजनक रूप से अनेक तथ्यों का आविष्कार करने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने इस महान कार्य में प्रकृति का पूरा उपयोग किया था। बाह्य वातावरण का प्राकृतिक शक्तियों से जिस प्रकार सञ्चालन होता है उसी प्रकार तत्सम द्रव्यों से शारीरिक जीवनक्रियाओं का संचालन होता है। इस लोकपुरुषसाधर्म्य[2] की मान्यता पर तार्किक रूप से उनके सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। इस व्यापक एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के कारण विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने निरन्तर परीक्षण कर जो परिणाम निकाले वे प्रायः हजारों वर्ष के बाद आज भी अकाट्य रूप में स्थिर हैं। इस वैज्ञानिक उत्कर्ष की उपलब्धि विशेषतः उस युग के लिए जब आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण नहीं थे अपने आप में एक विस्मयकारी ऐतिहासिक तथ्य है। इन सिद्धान्तों का क्षेत्र केवल भारत ही न रहा अपितु सारे विश्व में चिकित्सापद्धतियों को इन्होंने मूलतः प्रभावित किया। यही कारण है कि आधुनिक चिकित्साविज्ञान के जनक हिपोक्रेटिस और चरक के सिद्धान्तों, मान्यताओं और उपदेशों में आश्चर्यजनक साम्य है।

३. ज्ञानपूर्वक कर्म

परंपरागत चिकित्साकर्म के स्थान पर ज्ञानपूर्वक कर्म का उपदेश किया गया

---

१. ···तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात्।
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद् गतौ॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम्।
नाविधूततमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते॥ च० सू० २५।२६–२८

२. 'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः'—च० शा० ५।३

है।[1] ज्ञान और कर्म दोनों के समुचित सामञ्जस्य से ही चिकित्सक अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। आयुर्वेदीय शिक्षण भी इसी आधार पर निर्धारित था जिसमें स्नातक को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक दक्षता भी प्राप्त हो।

प्रमाणों में युक्ति को स्थान देना चरक की मौलिकता है। युक्तिज्ञ ही अपने कार्य में सफल हो सकता है। 'प्रमाण' के लिए अनेक स्थलों पर 'परीक्षा' शब्द का प्रयोग[2] चरक की परीक्षणात्मक शैली का द्योतक है। आप्त के लक्षण में जो त्रैकालिक, निर्दुष्ट तथा सदा अव्याहत ज्ञान की बात आई है[3] वह विशुद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर ही लागू हो सकता है।

४. केवल शरीर का विचार चिकित्सा में नहीं किया जा सकता क्योंकि चेतना के बिना शरीर निरर्थक हो जाता है। अतः पाञ्चभौतिक शरीर जो चेतनासहित हो ऐसे षड्धात्वात्मक पुरुष को चिकित्सा का अधिकरण माना है।[4] चेतना के संदर्भ में आस्तिक दर्शनों का विचार किया गया है जिससे उसकी महत्ता प्रतिपादित हो तथा सामाजिक परिवेष में पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म का सम्बन्ध भी रोगोत्पत्ति के साथ युक्तिपूर्वक निर्धारित हो। त्रिदोष भी समस्त शरीरव्यापी हैं अतः चिकित्सा के लिए विकृति-अधिष्ठान का विचार न कर समष्टि पुरुष का विचार करना चाहिए। शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध को भी बड़ी सूक्ष्मता से देखा गया है तथा निदान एवं चिकित्सा में 'देहमानस'[5] की संश्लिष्ट धारणा स्वीकृत की गई है। प्रज्ञापराध की कारणता रोगों में सामान्यतः मानी गई है। प्रत्येक पुरुष की विशेषता को ध्यान में रखकर चिकित्सा करने का विधान है,[6] इस प्रकार चिकित्सा एक अत्यन्त वैयक्तिक प्रक्रिया हो जाती है जो दूसरे में उसी प्रकार लागू नहीं हो सकती। सामान्य और विशेष का यह समन्वय चरक की विशेषता है।

---

१. ज्ञानपूर्वकं कर्मणां समारंभं प्रशंसन्ति कुशलाः।—च० वि० ८।६९
२. द्विविधा परीक्षा ज्ञानवताम्—च० वि० ४।८; परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति —च० सू० १०।५
३. रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥ आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्॥—च० सू० ११।१८-१९
४. 'षड्धातवः समुदिता लोक' इति शब्दं लभन्ते; तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति; एत एव च षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते।'—च० शा० ५।५
५. ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः—च० चि० ३।३१
६. योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः॥ च० सू० १।१२५

५. त्रिस्कन्ध आयुर्वेद का विकास

प्रारंभ में आयुर्वेद का संक्षिप्त रूप 'त्रिसूत्र' या 'त्रिस्कन्ध' था। हेतु, लिंग और औषध ये तीन स्कन्ध आयुर्वेद के थे जिनका ज्ञान करना होता था।[१] इनमें हेतु और लिंग निदान तथा औषध चिकित्सा का संकेतक है। हेतु और लिंग को ही और विकसित कर निदानपञ्चक की स्थापना की गई जिसमें पूर्वरूप, संप्राप्ति तथा उपशय इन तीन की उद्भावना की गई। संप्राप्ति का विचार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमें विकारों की उत्पत्ति में दोष-दूष्य की कारणता तथा क्रम का निर्धारण किया गया। यज्जःपुरुषीय अध्याय (सू० २५) में यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि जिन भावों के सामञ्जस्य से पुरुष की उत्पत्ति होती है उन्हीं के असामञ्जस्य से रोगों की उत्पत्ति होती है।[२] इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्यों का साम्य-वैषम्य ही स्वास्थ्य एवं रोग का कारण है।

६. निदान की वैज्ञानिक पद्धति

रोगी की परीक्षा प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा ज्ञातव्य तथ्यों के आधार पर करने का विधान है। इसके अतिरिक्त, दोष, दूष्य, अग्नि, सत्त्व, प्रकृति आदि का भी विचार किया जाता है।[३] इस सम्बन्ध में चरक द्वारा प्रतिपादित दशविध परीक्ष्य[४] अवलोकनीय हैं जो रोग विज्ञान के क्षेत्र में मौलिक देन है।

७. चिकित्सा का प्राकृतिक क्रम

चरक ने स्पष्ट लिखा है कि औषध रोग को दबाने के लिए नहीं बल्कि प्रकृति को सहायता मात्र देने के लिए प्रयुक्त होती है।[५] अतः इस अर्थ में चरक की चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा है। एक ओर लंघन तथा संशोधन[६] और दूसरी ओर बलाधान[७] का विधान इसी उद्देश्य से किया गया है।

---

१. हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥—च० सू० १।२४

२. येषामेव हि भावानां संपत् संजनयेन्नरम्।
तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत्॥

३. वि० ४

४. वि० ८।७०-८०

५. यथा हि पतितं पुरुषं समर्थमुत्थानायोत्थापयन् पुरुषो बलमस्योपादध्यात्।
स क्षिप्रतरमपरिक्लिष्ट एवोत्तिष्ठेत्, तद्वत् संपूर्णभेषजोपालम्भादातुराः॥
—च० सू० १०।५

६. दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धाः न तेषां पुनरुद्भवः॥—च० सू० १६।२०

७. बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः॥—च० चि० ३।१४२

चरकोक्त 'स्वभावोपरमवाद'[1] प्राकृतिक चिकित्सा का मूल है। इसी कारण पुरुष की प्रकृति पर भी विशेष ध्यान देने का उपदेश किया गया है।

८. चिकित्सास्थान का प्रारंभ रसायन से किया गया इससे चरक का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। स्वस्थ्य के स्वास्थ्य का रक्षण रसायनादि द्वारा हो इसीके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। यदि इसमें किसी कारण सफलता न मिल सके और रोग उत्पन्न ही हो जाँय तब चिकित्सा की शरण में जाय। रसायन का विषय चरक का अत्यन्त मौलिक है, किसी भी ग्रन्थ में रसायन का ऐसा विशद वर्णन नहीं मिलता।

औषधों के अतिरिक्त, आचार-रसायन[2] चरक की मौलिक देन है। आचार का पालन करने से विना औषध के भी रसायन का फल प्राप्त होता है और बिना आचार पालन के औषधि भी व्यर्थ हो जाती है। सद्वृत्त का प्रकरण भी अत्युत्तम है।

९. द्रव्यों के सन्दर्भ में षट्पदार्थों[3] का निरूपण किया गया है। रसगुण वीर्यविपाक आदि मौलिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त द्रव्यों का रचनानुसार तथा कर्मानुसार वर्गीकरण[4] सर्वप्रथम चरकसंहिता में मिलता है। पञ्चाशन् महाकषायों का कर्मानुसार निर्धारण[5] चरक की मौलिक देन है। औषधों के नामरूपज्ञान के साथ प्रयोगज्ञान पर भी जोर दिया गया है। नामरूपज्ञ होने के साथ साथ योगवित् वैद्य ही औषधियों का ज्ञाता माना गया है।[6]

इस प्रकार आयुर्वेद को परंपरा से निकालकर वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय चरक को है तथा इस दिशा में चरकसंहिता का महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है।

चरकसंहिता की टीकायें और अनुवाद

चरकसंहिता पर निम्नांकित आचार्यों की टीकायें प्रसिद्ध हैं :—

१. भट्टार हरिश्चन्द्र—चरक न्यास
२. स्वामिकुमार—चरकपञ्जिका
३. जेज्जट—निरन्तरपदव्याख्या
४. चक्रपाणि—आयुर्वेददीपिका

---

१. च० सू० १६।२७-२८
२. च० चि० १।३०-३७
३. च० सू० १।२८-२९
४. च० सू० १
५. च० सू० ४
६. योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते—च० सू० १।१२२
तेषां कर्मसु बाह्येषु योगमाभ्यन्तरेषु च।
संयोगं च प्रयोगं च यो वेद स भिषग्वरः॥—च० सू० ४।३५

५. शिवदास सेन—तत्त्वचन्द्रिका

६. गंगाधर राय—जल्पकल्पतरु

७. योगीन्द्रनाथ सेन—चरकोपस्कार

८. ज्योतिषचन्द्र सरस्वती—चरकप्रदीपिका

इनके अतिरिक्त निम्नांकित टीकाकारों का अस्तित्व यत्रतत्र उद्धरणों से पता चलता है :—

९. हिमदत्त	१९. नरदत्त	३१. सुदान्तसेन
१०. वैष्णव	२०. ब्रह्मदेव	३२. गुणाकर
११. शिवसैन्धव	२१. चन्द्रिकाकार	३३. श्रीकृष्णवैद्य
१२. स्वामिदास	२२. भासदत्त	३४. जिनदास
१३. पैतामह	२३. भीमदत्त	३५. नरसिंह कविराज
१४. आषाढवर्मा	२४. ईश्वरसेन	(चरकतत्त्वप्रकाशकौस्तुभटीका)
(परिहारवार्तिककार)	२५. गदाधर	३६. जयनन्दी
१५. क्षीरस्वामिदत्त	२६. वाप्यचन्द्र	३७. सन्ध्याकर
(वार्तिककार)	२७. कार्त्तिककुण्ड	३८. गोवर्धन
१६. चेल्लदेव	२८. ईशानदेव	३९. मुनिदास
१७. अमृतप्रभ	२९. वकुलकर	४०. ईश्वरसेन
१८. सुधीर	३०. सुकीर	

चरकसंहिता का अरबी अनुवाद ८वीं शती में हुआ था जो 'शरक इण्डियानस' के नाम से अविसेना आदि की कृतियों में निर्दिष्ट है। फेहरिश्त (१०वीं शती) में लिखा है कि चरकसंहिता का अनुवाद संस्कृत से फारसी और उससे अरबी में हुआ।

हिन्दी टीका निम्नांकित विद्वानों की प्रचलित है :—

१. श्रीकृष्णलाल

२. रामप्रसादशर्मा

३. जयदेव विद्यालंकार

४. अत्रिदेव विद्यालंकार

५. काशीनाथ पाण्डेय एवं गोरखनाथ चतुर्वेदी

अंग्रेजी अनुवाद के साथ अनेक क्षेत्रीय भाषाओं में विवेचनात्मक संस्करण जाम- नगर से छः खण्डों में १९४९ में प्रकाशित हुआ है। इसके पूर्व इसका अंग्रेजी अनुवाद अविनाशचन्द्र कविरत्न ने किया था जो १८९१-९९ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। महेन्द्रलाल सरकार ने कलकत्ता जर्नल ऑफ मेडिसिन में दो अध्याय १८७० ई॰

प्रकाशित कराये थे। रॉथ ने भी कुछ अंश प्रकाशित कराया था[1] (Z D M G, 26, 441)।

विभिन्न संस्करण

१. श्रीहरिनाथ विशारद (कलकत्ता, १८९२)—इसमें सूत्रस्थान और विमानस्थान का कुछ अंश था।

२. क० देवेन्द्रनाथ सेन एवं उपेन्द्रनाथ सेन (कलकत्ता, १८९७)

३. जीवानन्द विद्यासागर (कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १८७७; द्वितीय संस्करण, १८९६)

४. कविराज गंगाधरकृत जल्पकल्पतरु तथा चक्रपाणिटीकासहित (कलकत्ता, १८६८ तथा बरहमपुर, १८७७)

५. निर्णयसागर, बम्बई (१९४१, तृतीय संस्करण) चक्रपाणिदत्त की व्याख्या के सहित आचार्य यादव जी द्वारा संपादित संस्करण सर्वोत्तम है।

इनके अतिरिक्त, अनेक संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित हुये।

भेल

भेल (या भेड) अग्निवेश के सहाध्यायी एवं पुनर्वसु आत्रेय के प्रमुख छः शिष्यों में थे। प्रथम ऋषिपरिषद् में जिन लोगों ने अपनी अपनी रचनायें उपस्थित कीं उनमें भेल का नाम सर्वप्रथम आता है।[2] भेलसंहिता के उद्धरण भी अन्य तन्त्रों और प्रायः सभी टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। कश्यपसंहिता में भेल का मत उद्धृत हुआ है।[3] वाग्भट ने भी भेल आदि आर्ष संहिताओं का संकेत किया है[4] किन्तु तब तक संभवतः इनका प्रचार कम हो गया था, चरक और सुश्रुत इन्हीं दोनों की संहितायें प्रमुख हो गई थीं।

भेलसंहिता की तीन पाण्डुलिपियों का उल्लेख किया गया है[5] जिनमें तञ्जोर पुस्तकालय की पाण्डुलिपि का आधार लेकर यह ग्रन्थ सर्वप्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ।[6] डा० हार्नले के अनुसार यह पाण्डुलिपि लगभग १६५० ई० की है। दूसरा प्रकाशन गिरिजादयालु शुक्ल द्वारा संपादित चौखम्बा

---

१. चरक-टीकाओं के लिए देखें डा० राघवनकृत न्यू कैटोलोगस कैटलोगोरम।

२. च० सू० १।३३

३. सिद्धि० अ० १

४. ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन् मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेलाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद्ग्राह्यं सुभाषितम् ॥—अ० हृ० उ० ४०।८८

५. देखें उपोद्घात पृ० ८, भेलसंहिता—चौखम्बा प्रकाशन।

६. Journal of the Department of Letters, Vol IV, 1921.

विद्याभवन, वाराणसी द्वारा १९५९ में निकला। अभी हाल में तञ्जोरस्थित केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान-परिषद् के वाङ्मय-अनुसन्धान-केन्द्र द्वारा एक संस्करण प्रकाशित हुआ है। उनका कहना है कि उपर्युक्त प्रकाशन प्रतिलिपियों के आधार पर हुये थे अतः अनेक स्थलों में पाठसम्बन्धी भ्रान्ति हुई है।

वर्तमान भेलसंहिता की मौलिकता पर सन्देह किया जाता है। इसके निम्नांकित कारण हैं :—

१. भेलसंहिता के जो उद्धरण यत्रतत्र हैं वे वर्तमान ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते। ज्वरसमुच्चय नामक ग्रन्थ में भेल के अनेक वचन उद्धृत हैं किन्तु उनमें से २–३ श्लोक ही वर्तमान ग्रन्थ में मिलते हैं। तन्त्रसार नामक ग्रन्थ तथा अन्य टीकाओं में भी उद्धृत श्लोक इसमें नहीं मिलते।

२. कश्यपसंहिता के बस्तिप्रसंग में भेल के नाम से यह मत उद्धृत है कि बालकों में छः वर्ष की आयु के बाद वस्ति देनी चाहिए किन्तु वर्तमान ग्रंथ में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रसंग में इतना ही लिखा है कि बालकों, वृद्धों आदि में बस्तिकर्म प्रशस्त है।

३. चरक, सुश्रुत, कश्यप आदि संहिताओं में गुरु-शिष्य के नामोल्लेखपूर्वक जैसे प्रश्नोत्तर हैं वैसे वर्तमान भेलसंहिता में उपलब्ध नहीं हैं। उपदेशक के रूप में यद्यपि पुनर्वसु आत्रेय का सर्वत्र निर्देश है तथापि प्रश्नकर्ता या जिज्ञासु के रूप में भेल का केवल एक ही स्थल में उल्लेख मिलता है।[५]

४. अध्याय के प्रारम्भ तथा अन्त दोनों स्थलों पर 'इति ह स्माह भगवानात्रेयः' या 'इत्याह भगवानात्रेयः' दिया है। अन्तिम पुष्पिका में 'इति भेले······अध्यायः' इतना ही मिलता है। चरक आदि संहिताओं में 'इति ह स्माह भगवात्रेयः' अध्यायों के प्रारम्भ में अवश्य है किन्तु पुष्पिकाभाग में केवल तन्त्रकार का नाम है 'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे'। इसी प्रकार यहाँ भी 'इति भेलकृते तन्त्रे' होना चाहिए था न केवल कि 'भेले'।

५. इसकी पाण्डुलिपियों की संख्या नगण्य है। उपर्युक्त तीन में एक ही का पता चल सका है। कॉर्डियर महोदय ने तञ्जोरवाली पाण्डुलिपि की ही दो प्रतिलिपियाँ कराई थीं जो सम्प्रति पेरिस के राष्ट्रीय ग्रन्थागार में सुरक्षित हैं। जहाँ तक इस पाण्डुलिपि का भी प्रश्न है, वह बहुत प्राचीन नहीं है, १७वीं शती की लिखी है। किस मूल के आधार पर किसके द्वारा लिखी गई, इसका भी कोई पता नहीं।

६. ग्रन्थ की भाषा भी त्रुटिपूर्ण है। ग्रन्थ खण्डित होते हुए भी जितने अंश

---

५. तत्र भेल आत्रेयमिदमुवाच—शा० ४।२

उपलब्ध हैं कम से कम उनकी शैली एवं भाषा तो निर्दोष होती किन्तु ऐसा नहीं होकर सारा ग्रंथ ऐसी त्रुटियों से भरा पड़ा है।[1] मेरे मत में, ये विशुद्ध त्रुटियाँ हैं क्योंकि, जैसा आगे बतलाया जायगा, वर्तमान ग्रन्थ ईस्वी शताब्दी के बहुत बाद का परिमार्जित है।

फिर भी वर्तमान प्रचलित भेलसंहिता का एक अन्तरंग अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे इसके कालनिर्णय में सहायता हो।

भेलसंहिता का अन्तरङ्ग अध्ययन

विषयविभाग

चरकसंहिता की शैली पर इसके स्थानों और अध्यायों का विभाजन है किन्तु वर्तमान ग्रंथ में कुछ अध्याय खण्डित हैं। इनका क्रम इस प्रकार है :—

		वर्तमान ग्रन्थ में
१. सूत्रस्थान—	३० अध्याय	४–२८ अध्याय
२. निदानस्थान	८ अध्याय	२–८ अध्याय
३. विमानस्थान	८ अध्याय	१–८ अध्याय
४. शारीरस्थान	८ अध्याय	२–८ अध्याय
५. इन्द्रियस्थान	१२ अध्याय	१–१२ अध्याय
६. चिकित्सास्थान	३० अध्याय	१–३० अध्याय
७. कल्पस्थान	१२ अध्याय	१–९ अध्याय
८. सिद्धिस्थान	१२ अध्याय	१–८ अध्याय
	१२०	

इस प्रकार वर्तमान ग्रंथ खण्डित होने पर भी प्रतीत होता है कि इसकी योजना अग्निवेशतंत्र के समान थी।

शास्त्रीय पक्ष

चरकसंहिता के अनेक विषय ज्यों के त्यों भेल में मिलते हैं। यह सहाध्यायी होने के कारण स्वाभाविक है किन्तु कुछ विचार-वैशिष्ट्य भी दृष्टिगोचर होता है यथा चरकसंहिता (चि० १।३।४१-४३) अन्न के जीर्ण होने पर हरीतकी, भोजन के पूर्व बिभीतक तथा भोजन के बाद आमलकी खाने का विधान किया है किन्तु भेलसंहिता (सू. ८।१९) में लिखा है कि भोजन के पूर्व आमलक, भोजन के बाद

१. Jyotir Mitra : The Bhela Samhita–A Study in unpāninian forms and anomalies, Indological Studies, Delhi, Vol 2. No 1. (Dec 1972)

हरीतकी तथा भोजन जीर्ण होने पर विभीतक का सेवन करे। इसके अतिरिक्त भेल (सू. ८।२२) ने विभीतक को पित्तश्लेष्मकर (वातहर) माना है और संभवतः इसी कारण भोजन के जीर्ण होने पर जब चरक ने हरीतकी का विधान किया तब भेल ने विभीतक का। यह ज्ञातव्य है कि सभी निघण्टुकारों ने विभीतक को श्लेष्महर लिखा है फिर भेल ने ऐसा क्यों लिखा ? चिकित्सा के चार पादों में चरक ने जो 'उपस्थाता' लिखा है उसके लिए भेल ने 'प्रतिश्रावी' शब्द दिया है। इसके अतिरिक्त चरक ने चारों पादों में भिषक् को प्रथम स्थान दिया है किन्तु भेल में इसे चौथा स्थान प्राप्त हुआ यद्यपि अन्त में वैद्य की प्रधानता के समर्थक श्लोक दिये गये हैं।

इसी प्रकार सुश्रुतसंहिता से भी बहुत साम्य दृष्टिगोचर होता है। कुष्ठ में सर्वदा खदिर के सेवन का विधान भेल ने सम्भवतः सुश्रुत से लिया है। सुश्रुत सूत्र० प्रथम अध्याय में जन्तुओं के जरायुज, अण्डज आदि तथा औद्भिदों के वनस्पति, वीरुध् आदि विभाग जो वर्णित हैं वही भेल में हैं। व्रणितोपासनीय अध्याय में सुश्रुत ने स्त्रियों का वर्णन किया है, भेल ने भी यही लिखा है। सुश्रुतसंहिता (उत्तर० ६१।१३-१६) में अपस्मार का दोषजत्व सिद्ध किया है 'अपस्मारो महाव्याधिस्तस्माद् दोषज एव तु' सम्भवतः इसके पूर्व यह पूर्णतः भूतविद्या का विषय था और भूताभिषंगज माना जाता था। भेलसंहिता में भी यह प्रसंग लगभग इसी रूप में आया है। इसमें सिद्ध किया गया है कि राक्षस, वेताल आदि इसमें हेतु नहीं हैं (शा० ४।३०)। सुश्रुत ने जिस प्रकार अग्नि के पाचक, रञ्जक, साधक, भ्राजक और आलोचक ये पाँच प्रकार किये हैं उसी प्रकार भेल ने भी वर्णन किया है किन्तु आलोचकाग्नि द्विविध चक्षुर्वैशेषिक और बुद्धिवैशेषिक बतलाया है जो अन्यत्र नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त निम्नांकित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं :—

१. जनपदोद्ध्वंस के प्रकरण में 'जनमार' शब्द का प्रयोग हुआ है। सुश्रुत ने 'मरक' लिखा है। मन्त्र और औषध से इसकी निवृत्ति कही गई है (सू० १३।९-१०)

२. विभिन्न प्राणियों में उत्पन्न ज्वर की पृथक्-पृथक् संज्ञायें निर्धारित की गई हैं (सू० १३।१२-१४), ज्वर के साथ-साथ समस्त शरीर में पिटकायें उत्पन्न होने पर उसे 'वातालिका' रोग कहा गया है (सू० १३।१६-१९) जिसे कुछ लोग प्लेग मानते हैं।

३. कर्णव्यध का वर्णन इसमें नहीं मिलता।

४. कायचिकित्सा की परिभाषा इसमें दी गई है जो इस प्रकार है :—

'यस्तं (कायाग्निं) चिकित्सेत् सीदन्तं व्याधिना चापि देहिनाम्।
आयुर्वेदाभियोगेन स वै कायचिकित्सकः॥' शा. ४।१८

५. सात दिव्य और सात मानुष काय कहे गये हैं (शा० ५।१२)

६. विषमज्वर के लिए एक पृथक् अध्याय दिया है जिससे उस काल में इसकी बहुलता का अनुमान होता है। इसके कारणों के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का निर्देश भी हुआ है (चि० २।१२)। यद्यपि इसमें अन्येद्युष्क आदि ज्वरों के धातुगतत्व का वर्णन किया है तथापि सुश्रुत ने जो कफस्थान-विभाग के अनुसार जो सम्प्राप्ति दी है उसका उल्लेख नहीं है।

७. रक्तपित्त द्विविध बतलाया है (चि० ३।१) यद्यपि अन्त में असाध्य रक्तपित्त में 'सर्वस्रोतःप्रवृत्त' का भी उल्लेख है।

८. अष्टादश कुष्ठों में ९ साध्य और ९ असाध्य कहे गये हैं (चि० ६)। प्रमेह-प्रकरण में एक भस्ममेह (चि० ७) है जो क्षारमेह हो सकता है।

९. पित्तज कास में जो लक्षण कहे गये हैं वह कामला के हैं।[1] इसमें दाह और ज्वर के साथ हारिद्र निष्ठ्यूत और हारिद्र नेत्र बतलाये गये हैं जो यकृद्विकार-जन्य होते हैं।

१०. कश्यपसंहिता के समान प्लीह के साथ हलीमक का वर्णन किया गया है (प्लीह हलीमाकाध्याय, चि० २७) जो चरक और सुश्रुत से भिन्न है।

११. मदात्यय-प्रकरण (चि० ३०) में अनेक पानकों का वर्णन किया है जो चरक में नहीं है, सुश्रुत में है। मद्य की प्रशस्ति में लिखा है कि मद्यपान से मधुमेह, तृष्णा, शोथ और वातव्याधि नहीं होते (सू० ८।१७)

१६. पञ्चकर्म पर विशेष बल दिया गया है। कहा है कि 'पञ्चकर्मविधानज्ञो राजार्हो भिषगुच्यते' (सि० ३)

१७. वातादि प्रकृतियों के प्रकरण में (वि० ४।१०) दार्शनिक 'प्रकृति' का अप्रासङ्गिक वर्णन आ गया है जिसमें अव्यक्त, महान् और पाँच महाभूतों को सात परा प्रकृतियाँ कहा है और इसमें स्वभाव और काल को भी गिना है। ऐसा वर्णन तो कहीं आया नहीं और यदि स्वभाव और काल को भी समाविष्ट कर लें तो सात की जगह नौ हो जाती हैं।

१८. औषधद्रव्यों और योगों के सम्बन्ध में 'उच्चटा' का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है (चि० ४, सि० ८।८५; ८९) चरक में इसका उल्लेख नहीं मिलता केवल दृढबलकृत अंश (सिद्धि०) में है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस द्रव्य का प्रयोग वाजीकरण के रूप में गुप्तकाल में अत्यन्त प्रचलित था अतः तत्कालीन सभी ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है।

---

१. सदाहः सज्वरश्चैव पित्तकासः प्रवर्तते।
हारिद्रं कटु कोष्णं च पीतं ष्ठीवति चाति सः॥
मुखस्य कटुकत्वं च तृष्णा चास्योपजायते।
हारिद्रे चाक्षुषी चास्य लक्ष्येते पित्तकासिनः॥'—चि० २२।९-१०

अतिसारप्रकरण (चि० १०) में श्योनाक और अरलु का प्रयोग नहीं है जब कि प्रायः सभी प्राचीन संहिताओं में इसका विधान है।

अर्शः प्रकरण (चि० १८) में तालीशपत्र वटिका के नाम से प्राणदा गुटिका का वर्णन है। यह चरक-सुश्रुत में नहीं मिलती। वृन्दमाधव, चक्रदत्त आदि चिकित्सा ग्रन्थों में मिलती है।

'शुकनास' का उल्लेख चरक में नहीं है, सुश्रुत में प्रथम मिलता है। भेलसंहिता में शुकनासघृत (चि० २८।१८-२०) का वर्णन अपतंत्रक-चिकित्सा है।

पिण्डीतक तीन प्रकार का कहा गया है कृष्ण, श्वेत और मदन जिनमें मदन का प्रयोग उत्तम बतलाता है।[1]

भैषज्यागार के वर्णन में बतलाया है कि औषधियाँ निधूम, निवात तथा कपाट-पिहित गृह में, विशेषतः जमीन से ऊपर रक्खी जायँ जिससे आर्द्रता का संपर्क न हो।[2]

१९. आयुर्वेद के विभिन्न अंगों में कायचिकित्सक और भूतचिकित्सक दोनों का साथ-साथ उल्लेख है।[3] इससे दोनों का समान प्रचार सूचित होता है। शल्यकर्ता का भी निर्देश अश्मरी, उदर, वातरक्त में हुआ है। व्रण में कुछ कार्य कायचिकित्सक तथा कुछ शल्यकृत् के लिए विहित है। (चि० २९)

२०. जहाँ तक वैद्य के नैतिक पक्ष का संबन्ध है, यह भी प्राचीन आदर्शों से मेल नहीं खाता। भेल ने स्पष्टतः लिखा है—'धर्मकामौ च संपीड्य तस्माद् वित्तमुपार्जयेत्'—(सू० १५।५) द्रव्यवान् रोगी का असाध्य रोग भी प्रत्याख्येय नहीं माना गया है।[4]

सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति

पत्नी का महत्त्व माता-पिता और आचार्य के समकक्ष रखकर कहा है कि उसके आदेश का पालन करे तथा बराबर अभिवादन करे।[5] गुल्म (सेना) में गज, वाजी,

---

१. पिण्डीतकानि तु त्रीणि संग्रहोक्तानि मे श्रृणु।
   कृष्णश्वेत उभे तत्र तृतीयं मदनं स्मृतम् ॥ क० १।१

२. निधूमे च निवाते च कपाटपिहिते गृहे।
   वैहायसे स्थापयेच्च यथा स्वेदो न संभवेत् ॥ क० १।६

३. एताः क्रियाः प्रयुञ्जीत वैद्यः कायचिकित्सकः।
   चण्डकर्माणि होमांश्च कुर्याद्भूतचिकित्सकः ॥—चि० ८।३१

४. द्रव्यवन्तं वयःस्थं च प्रत्याख्येयं न वै विदुः ॥—चि० ४

५. मातरं पितरं भार्यामाचार्यं चानुपालयेत्।
   अभिवादनयोगाच्च वर्धयेदायुरात्मनः ॥—सू० ८।२६

रथ और यान ये चार अंग कहे गये हैं (चि० ४)। कषायवस्त्र, मुण्ड, जटिल और नग्न व्यक्तियों का उल्लेख है (इ० ८।१४); इनसे क्रमशः संन्यासी, बौद्ध, यती और जैनी साधुओं का ग्रहण किया जा सकता है। वैदिक इष्टियों का अनेक स्थलों पर विधान है (चि० १;४)। ब्राह्मण और वैद्य की पूजा का भी विधान है (चि० १)। ओषधियों का मणिधारण भी कराया जाता था (सू० ७।१५)। 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किसी विदेशी जाति के लिए किया गया है (सू० ५।२५)।

उस समय शैव और वैष्णव दोनों धर्मों का प्रचार था फिर भी रुद्र, वृषभध्वज, शिव, भूताधिपति शब्द बहुशः आये हैं अतः अपेक्षाकृत शैव धर्म की प्रबलता द्योतित होती है। चरक में ज्वरनिवारण के लिए विष्णुसहस्रनाम का पाठ विहित है किन्तु भेल ने वृषभध्वज के पूजन का विधान किया है।[1] अच्युत (चि० २।४०) और केशव (चि० १९।४५) नाम भी आये हैं।

वाग्भटकृत अष्टांगसंग्रह में सर्वार्थसिद्धाञ्जन को हाथी पर रख कर जुलूस में राजा के घर ले जाने का वर्णन है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में प्रतिमा बनाने के लिए लकड़ी को इस प्रकार लाने का विधान है। भेल ने भी ऐसा ही आलंकारिक वर्णन रसायन वनस्पतियों के प्रकरण में किया है।[2] यह विधान गुप्तकालीन है; हाथी मंगल और समृद्धि दोनों का प्रतीक है। औषध को उसके ऊपर रखने से औषध का महत्व सूचित होता है तथा मांगलिकता की कामना व्यक्त होती है।

भेलसंहिता के वर्णनों से ऐसा लगता है कि उस काल में चण्डकर्मा कापालिकों का भी संप्रदाय अस्तित्व में था जो श्मशान में साधना करता था। एक स्थल पर श्मशान में जाकर वृषभध्वज की पूजा करने का उल्लेख है।[3] क्रूरकर्म और चण्डकर्म करनेवाले भूतवैद्यों से संभवतः इन्हीं तान्त्रिकों का अभिप्राय है (चि० ११।५१, ८।३१)। हृदय में चक्र का वर्णन (सू० २०।४-५); नाभि में सोममंडल और सूर्यमंडल (शा० ४।११); षट्काय (शा० ५।८) आदि विषय विकसित तन्त्र-संप्रदाय का संकेत करते हैं। 'सिद्धि' शब्द (सू० ८।२८) भी संभवतः ऐसे ही सिद्धों के लिए है। ये तान्त्रिक सर्पविष के लिए मन्त्रों की साधना करते थे; ऐसे सिद्ध मन्त्रों का प्रयोग सर्पविष के निवारणार्थ होता था (चि० २२।३९) : 'योगेन विद्यामादद्यात्' में

---

1. तस्माज्ज्वरविमोक्षार्थं पूजयेद् वृषभध्वजम्।—चि० १।४८
और देखें—चि० ११।५२, चि० ४; चि० २।४०; चि० ८।४८
2. तत्र वादित्रशब्दांश्च कुर्यात् स्वस्त्ययनानि च।
गजस्कन्धं समारोप्य श्वेतच्छत्राद्युपालितम्॥—सि० ८।३३-३४
शंखभेरीनिनादैश्च पटहैर्वा मुरीस्वनैः। सममेनं गजस्कन्धे श्वेतच्छत्रध्वजायुतम्॥
—सि० ८।४६-४७
3. पूजयेच्चापि गच्छेच्च श्मशाने वृषभध्वजम्—चि० २।५०

भी 'योग' शब्द इन्हीं विचारों का द्योतक हो। बुद्धिवैशेषिक आलोचकाग्नि के प्रकरण में 'यो भ्रुवोर्मध्ये श्रृंगाटकस्थः' आदि जो वर्णन किया है (शा० ४।५) वह यौगिक क्रिया का ही बोधक है। 'शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः' (चि० ८।२.३) यह भी तान्त्रिक उद्भावना है।

यह निश्चित है कि यह ग्रन्थ बुद्ध के बहुत बाद का है जब संभवतः वह अवतारों में समाविष्ट हो गये क्योंकि 'बुद्ध' का लक्षण इस ग्रन्थ में मिलता है[1] जबकि अन्य प्राचीन संहिता में ऐसा नहीं है। 'महामयूरान् जयति' (चि० १५।६१) में 'महामायूरी विद्या' की ध्वनि है जो नागार्जुन को सिद्ध थी तथा गुप्तकाल में जिसका बहुत प्रचार था।

भौगोलिक नाम

भेलसंहिता में निम्नांकित भौगोलिक नाम मिलते हैं :—

१. प्राच्य	५. प्रतीच्य
२. दक्षिणा दिक्	६. बाह्लीक
३. काम्भोज	७. पार्वत
४. उदग्भव	८. अश्मक

ऋषि-महर्षि

पुनर्वसु आत्रेय के साथ 'कृष्णात्रेय' शब्द भी कई बार प्रयुक्त हुआ है (सू० १६।१; उ० १); इससे अनुमान किया जाता है कि यह शब्द पुनर्वसु आत्रेय के लिए ही आया है। विषविज्ञान के प्रकरण (सू० १८) में राजर्षि नग्नजित् की जिज्ञासा से अध्याय का प्रारंभ हुआ है। यह प्रसंग गान्धारभूमि का है।[2] 'सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह' (सू० २५।१) इस संबन्ध में एक मत है कि इसका शुद्ध पाठ 'सुश्रुतो नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह' होना चाहिए और इस प्रकार भेल सुश्रुत का परवर्ती सिद्ध होता है।

भेलसंहिता का काल

उपर्युक्त पर्यालोचन से भेलसंहिता के काल के विषय में निम्नांकित तथ्य उभरते हैं :—

१. 'बुद्ध' का लक्षण निर्दिष्ट होने के कारण यह ग्रन्थ बुद्ध के पूर्व का नहीं हो सकता।

---

१. बोधनाच्चापि बोध्यस्य नरो बुद्ध इहोच्यते—चि० ८।७

२. गान्धारभूमौ राजर्षिर्नग्नजित् स्वर्णमार्गगः।
संगृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम् ॥—सू० १८।१

२. गुप्तकालीन तथा तन्त्रसम्बन्धी तथ्या अधिक प्रबल हैं अतः उत्तर-गुप्तकाल के पूर्व इसका समय नहीं रख सकते हैं।

इस प्रकार यह ग्रन्थ लगभग ७वीं शती का लिखा प्रतीत होता है। यदि यह मूलतः भेल का रचित हो तब भी इसका प्रतिसंस्कार उपर्युक्त काल में अवश्य हुआ। भेल अग्निवेश के सहाध्यायी थे अतः उनका काल अग्निवेश का काल अर्थात् १००० ई० पू० होगा।

हारीत

हारीत पुनर्वसु आत्रेय के छः प्रमुख शिष्यों में थे। इनके नाम से 'हारीतसंहिता' प्रसिद्ध है जो वाग्भट तथा परवर्ती व्याख्याकारों द्वारा उद्धृत की गई है[1] किन्तु वर्त्तमान हारीतसंहिता का ग्रंथ[2] भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि अन्यत्र उद्धृत इसके वचन इसमें नहीं मिलते।[3] अध्यायों के अन्त में जो पुष्पिका है उसमें भी, इति आत्रेय भाषिते हारीतोत्तरे'''नाम अध्यायः' है जिससे इसका नाम 'हारीतसंहिता' या 'हारीततंत्र' न होकर उसका कोइ उत्तरभाग या परिशिष्ट प्रतीत होता है। पुष्पिका में हारीत नाम देखकर तथा कुछ स्थानों में हारीत को प्रश्नकर्ता पाकर[4] इस ग्रंथ का नाम हारीतसंहिता रख दिया गया है। कहीं-कहीं पर पुष्पिका भिन्न भी है यथा प्रथम स्थान के द्वितीय अध्याय की पुष्पिका इस प्रकार है :—

'इति वैद्यकसर्वस्वं चिकित्सागमभूषणम्।
पठित्वा तु सुधीः सम्यक् प्राप्यते सिद्धिसंगमम्॥
इति वैद्यकसर्वस्वे चिकित्सासंग्रहो नाम द्वितीयोऽध्यायः'।

यहाँ हारीत का कोई उल्लेख न कर इस कृति का नाम 'वैद्यकसर्वस्व' दिया गया है। 'हारीतोत्तर' शब्द प्रथम स्थान के चतुर्थ तथा सप्तम अध्यायों की पुष्पिका में भी नहीं है। इससे यह सन्देह और पुष्ट होता है कि यह रचना हारीतसंहिता से भिन्न है तथा इसका वास्तविक नाम 'वैद्यकसर्वस्व' है।

ग्रंथ के प्रारंभिक पद्यों में यह कहा गया है कि कलि में मनुष्य अल्पायु तथा मन्दबुद्धि होते हैं अतः विस्तार से किसी विषय का विवेचन संभव नहीं है। पाँच संहितायें क्रमशः २४, १२, ६,३ और १½ सहस्र श्लोकों वाली मैं पहले बना

---

१. देखें—प्रियव्रत शर्माः आयुर्वेद का वाङ्मय, आयुर्वेद अनुसन्धान पत्रिका, वर्ष ६, अंक ३, १९४१।
२. खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, '१९२७ (द्वितीय संस्करण)
३. देखें—प्रत्यक्षशारीरम्, भूमिका, पृ० ४, २०-२१
काश्यपसंहिता, उपोद्घात, पृ० १३.
४. हारीतः संशयापन्नः पादौ संगृह्य पृच्छति—३।५।१८

चुका हूँ फिर भी उससे और संक्षिप्त इस संहिता का उपदेश कर रहा हूँ।'[1] इसमें वैद्यकशास्त्र का सार समाहित है यह अनेक स्थलों पर कहा गया है।[2]

एक विप्रतिपत्ति और है कि इस ग्रन्थ में हारीत आत्रेय का पुत्र कहा गया है[3] जबकि चरक संहिता में शिष्य रूप में अभिधान है।

इन सब तथ्यों के आधार पर यह ग्रन्थ मौलिक नहीं प्रतीत होता अतः प्राचीन संहिताओं के स्तर में नहीं आ सकता। इसकी भाषा और शैली भी प्राचीन नहीं है।

फिर भी प्रसंगतः इसका अन्तरंग अध्ययन तथा काल के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

विषय-विभाग—

प्राचीन संहिताओं के अनुसार विषय-विभाग न होकर इसमें विषयों की व्यवस्था भिन्न रूप में है यथा—

१. प्रथम स्थान (अन्नपान)	—	२३	अध्याय
२. द्वितीय स्थान (अरिष्ट)	—	९	,,
३. तृतीय स्थान (चिकित्सित)	—	५८	,,
४. चतुर्थ स्थान (कल्प)	—	६	,,
५. पञ्चम स्थान (सूत्र)	—	५	,,
६. षष्ठ स्थान (शारीर)	—	१	,,
७. परिशिष्टाध्याय	—	१	
		१०३	अध्याय

स्पष्टतः चिकित्सा में अधिकतम अध्याय तथा शारीर एवं सूत्र में न्यूनतम अध्याय इन विषयों की तत्कालीन स्थिति का संकेत करते हैं। आयुर्वेद के आठ अङ्ग चिकित्सा के ही आठ प्रकार कहे गये हैं जबकि अगद और विषतन्त्र के पृथक् उल्लेख से संख्या ९ हो जाती है।[4] अगद में गुदामय, बस्तिविकार तथा बस्तिकर्म का समावेश किया गया है (१।२।१६) पुनः आठ प्रकार की चिकित्सा में यन्त्र, शास्त्र, अग्नि, क्षार, औषध, पथ्य, स्वेदन और मर्दन का उल्लेख है (१।२।७) एक उपांगचिकित्सा भी है जिसमें विविध व्रतों की चिकित्सा का समावेश है (१।२।२३)

---

१. १।१।११-१७

२. १।२८; १।३।२३; २।३।१

३. हारीतः संशयापन्नः प्रपच्छ पितरं पुनः—१।८।५

४. शल्य-शालाक्य-कायाश्च तथा बालचिकित्सितम्।
अगदं विषतन्त्रं च भूतविद्या रसायनम्॥
वाजीकरणमेवेति चिकित्सा चाष्टधा स्मृता—१।२।५

विशेषतायें

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त, वर्तमान हारीतसंहिता के वर्ण्य विषय की निम्नांकित विशेषतायें हैं :—

१. ऋतुविभाग-क्रम में वर्षा, शरद्, हेमन्त को दक्षिणायन और शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म को उत्तरायण कहा है (१।३।१९)

२. मनुष्य की आयु को चार भागों में विभक्त किया है (१।५।१-२)—

१. बाल (उत्तम)
२. युवा (मध्यम)
३. मध्यम (अधम)
४. वृद्ध (हीन)

स्त्रियों का वयोविभाग इस प्रकार है :—

१. बाला	—	५ वर्ष की आयु तक
२. मुग्धा	—	५–११ ,, ,,
३. बाला	—	१२ ,, ,,
४. मुग्धा	—	१३–१९ ,, ,,
५. प्रौढा	—	२०–२८ ,, ,,
६. प्रगल्भा	—	२९–४१ ,, ,,

पुरुषों और स्त्रियों के जीवन की सर्वोत्तम अवधि क्रमशः २५-५० तथा २४-३७ तक होती है (१।५।७; १३-१४)

३. विभिन्न दिशाओं के अनुसार वायु के गुण विस्तार से वर्णित हैं तथा दूषित वायु से उत्पन्न विभिन्न पशुओं की व्याधियों का भी वर्णन है (१।५।२४-४२; ४८)।

४. छः रसों में लवण के स्थान पर क्षार है। तीन तीन रसों के बदले दो-दो रसों का शामक-कोपक प्रभाव कहा गया है यथा—

क्षार-कषाय	—	वातवर्धक
मधुर-तिक्त	—	कफवर्धक
कटु-अम्ल	—	पित्तवर्धक
कटु-अम्ल	—	वातशामक
मधुर-तिक्त	—	पित्तशामक
कटु-कषाय	—	कफशामक[1].

५. जल-प्रकरण में अनेक नदियों के नाम आये हैं यथा—

१. १।६।२-६

उत्तरा पूर्ववाहिनी

गंगा, सरस्वती, शोण, यमुना, सरयू, शची, वेण, शरावती, नीला।

समुद्रगा

चर्मण्वती, वेत्रवती, पारावती, चिप्रा, महापदी, पीता, मुस्तका, मनस्विनी, शेवती, शैवलिनी, सिन्धु।

पश्चिमानुगा

तापी, तापा, गोलोमी, गोमती, सलिला, मही, सरस्वती, नर्मदा।

पश्चिमाद्रिसंभूता पूर्वसमुद्रगा

गौतमी, पूर्णा, पयस्विनी, वेत्रा, प्रणीता, बरानना, द्रोणा, गोवर्धनी।

दक्षिण दिग्गमा

कावेरी, वीरकान्ता, भीमा, पयस्विनी, विभावरी, विशाला, गोविन्दी, मदं... स्वसा, पार्वती।[1]

नदियों और उनकी सहायिकाओं की कुल संख्या २१०० कही गई है।

पापोदक, रोगोदक, अंशूदक तथा आरोग्योदक चार प्रकार के जल बत... गये हैं।[2]

६. गौ के वर्ण के अनुसार उनके दूध के गुणधर्म वर्णित हैं। विभिन्न ... तथा ऋतुओं के अनुसार दही के गुण कहे गये हैं (११८।१५; ३९–४४)।

७. शाक चार प्रकार के कहे गये हैं—पत्र, पुष्प, फल और कन्द। अन्तिम... में पलाण्डु भी है जो कफनाशक कहा गया है जब कि अन्य संहिताओं में यह ... वर्धक है (११६।१; ३३), भिण्डी (११६।१४), पिण्डक और पिण्डालु का वर्णन है (११६।२८)।

८. ताम्बूल का वर्णन 'नागवल्ली' नाम से है। इसके संभारों तथा चूना, ... सुपारी, कर्पूर आदि का भी वर्णन किया गया है (११७।२८-३३)।

९. आहारकल्पों में पूरिका, घृतपूर, पूपक, सोमालिका, फेनी, पोलिका ... वर्णन है (१२३)।

१०. कर्मविपाक के अन्तर्गत पूर्वजन्मकृत कर्मों से उत्पन्न व्याधियों तथा ... उपचार का वर्णन है (२११।१३-१७)। स्वप्नों तथा नक्षत्रों के अनुसार रोगों... साध्यसाध्यता का भी विचार किया गया है (२१२; २१६; २१७)।

---

१. ११७।५४-६५

२. ११७।७१

११. छः प्रकार का लंघन (३।१।३४) और सात प्रकार का क्वाथ कहा गया है।[1]

१२. वर्णानुसार ज्वर चार प्रकार के कहे गये हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (३।२।२२१-२२४)। ज्वर के निवारणार्थ रुद्रपूजन और हनूमत्पूजन का विधान है तथा एक ज्वरनाशक तान्त्रिक मन्त्र भी विहित है (३।२।२१७-२१९; २२१-२२४)।

१३. शूल (३।७।१३) और क्षय (३।९।४) दस प्रकार के कहे गये हैं। प्रमेह के कुछ नये प्रकारों यथा तक्रप्रमेह, घृतप्रमेह, खटिकाप्रमेह आदि का वर्णन है (३।२८।३-४)। मसूरिका का वर्णन उपसर्ग के अन्तर्गत है किन्तु 'शीतला' नाम नहीं है, वसन्त नाम आया है 'शीतलं स्थानं कारयेत्' भी है। शीतलास्तोत्र के पाठ का उल्लेख नहीं है। नेत्ररोग के अन्तर्गत वर्णित भ्रूदोष संभवतः अधिमंथ है (३।४१।१-९)। बालरोगों में उत्फुल्लिका का भी वर्णन है (३।५४।९-१३)। अनिद्रा की चिकित्सा (३।१५) वर्णित है।

१४. चिकित्सा में निम्नांकित औषधों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है :—

तुलसी — कास (३।१२।३३; ३६)
रसेन्द्र — कुष्ठ (बाह्य प्रयोगार्थ)–३।३९।३०
मधुयष्टी — क्षय और त्रिदोषज कास (३।१२।४५)

१५. अनेक विकारों यथा ग्रह (३।५४), भूत (३।५५), कष्टप्रसव (३।५२) और विष (३।५६) में मन्त्रों का प्रयोग विहित है।

१६. चतुर्थ स्थान में भैषज्यकल्पना का वर्णन है तथा मान का भी निर्देश है।

१७. पञ्चम स्थान में हरीतकी, त्रिफला, रसोन और गुग्गुल के कल्पों का वर्णन है। अधिकांश वर्णन भावप्रकाश से मिलते-जुलते हैं।

भाषा एवं शैली

अनेक स्थलों में भाषा त्रुटिपूर्ण है। निम्नांकित उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

आयुर्वेदमिदम् (१।१।२२)
कट्वभिः (१।५।५३)
दौर्बल्यता (३।३।५)
पयः पानपीयूषमिक्षुरिस्तलैस्तु (१।५।६१)
वसन्त ऋतुर्भवेत् (१।४।५७)

१. पाचनो दीपनीयश्च शोधनः शमनस्तथा।
तर्पणः क्लेदनः शोषी क्वाथः सप्तविधः स्मृतः ॥ ३।१।४७

निम्नांकित श्लोकों में छन्दोभंग है :—

'अपराह्णे वर्षां वदन्ति निपुणाः (११५।४५)

सुधर्मेण क्रोधेन वा स्वेदनेन (११५।५८)

इन त्रुटियों के बावजूद भी ऋतुवर्णन के कुछ श्लोक मनोहर हैं (११४।३२-३३)

कुछ नये शब्दों का प्रयोग भी हुआ है :—

चावल (११५।५५)

पसाही (११५।१)

भाजिका (३।२।३२८)

इसके कुछ श्लोक दूसरे ग्रन्थों से मिलते-जुलते हैं :—

	हारीत
चरक	
सूत्र० ६।४६	१।७।८०
,, ७।६१	१।७।४५
सुश्रुत	
सू० ४६ (धान्यवर्ग-८)	१।१५।२१
माधवनिदान	
४९।३२	१।४।४६
वृन्दमाधव	
१।७	१।३।५
३।४०; ५५-५८	३।३।५७; ३८-४१
चिकित्साकलिका "	१।५।५८
श्लो० ३०	
चक्रदत्त	
१।९९-१००	३।२।७४-७७
१।२१४; २२५	३।२।२०६; २०७
५।१८	३।११।३५
भावप्रकाश	१।८।१७
निघण्टु, दुग्धवर्ग, २५	

निम्नांकित पद्यों का शैली-सादृश्य देखें :—

'एको देवः केशवो वा शिवो वा
ह्येकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा'

—भर्तृहरि नीति० ६९

एकं शास्त्रं वैद्यमध्यात्मकं वा
सौख्यं चैकं यत्सुखं वा तपो वा।'

—हारीत १।१।२०

एकः पर्पटकः श्रेष्ठः पित्तज्वरनिवर्हणः।
किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोदीच्यनागरैः॥

—वृन्द १।९७

एक एव कुबेराक्षः सर्वशूलापहारकः
किं पुन स त्रिभिर्युक्तः पथ्यारुचकरामठैः

—३।७।५८

'वातपित्तकफैरेव रसरक्तसमुच्चयात्' (३।१।४०) में अन्तिम पद (रसरत्न-समुच्चय) 'रसरत्नसमुच्चय' नामक ग्रन्थ का स्मरण दिलाता है।

काल

परिशिष्टाध्याय में चरक, सुश्रुत और वाग्भट का स्पष्ट उल्लेख है[1] अतः यह ग्रन्थ वाग्भट (छठी शती) के बाद का होना चाहिए। इसमें माधवनिदान (७वीं शती), के श्लोक उद्धृत हैं तथा अनेक पद्य वृन्दमाधव (९वीं शती), चिकित्साकलिका (१० वीं शती), और चक्रदत्त (११वीं शती) से मिलते-जुलते हैं। यद्यपि यह निर्णय करना कठिन है कि किसने किससे लिया किन्तु इस ग्रन्थ की अर्वाचीन शैली को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हारीतसंहिता ने उपर्युक्त रचनाओं का अनुकरण किया। इस ग्रन्थ में चावल, पसाही, भाजिका आदि देशी शब्दों का प्रयोग हुआ है जो मध्यकाल के पूर्व नहीं हुआ होगा। इस ग्रन्थ में 'तुलसी' शब्द का प्रयोग हुआ है। पर्यायरत्नमाला (९वीं शती) में सर्वप्रथम 'तुलसी' शब्द 'सुरसा' के पर्याय में प्रयुक्त हुआ है। मदनपालनिघंटु (१४ वीं शती) में यह मुख्य नाम प्रचलित हो गया जिसका अनुसरण भावमिश्र (१६ वीं शती) ने किया[2]।

'म्लेच्छ' (१।३।३०) और 'यवन' (३।४७।१९) शब्द संभवतः मुसलमानों के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है।

नाडीपरीक्षा, अहिफेन, रसौषध आदि का इसमें उल्लेख नहीं है यद्यपि कुछ तान्त्रिक मंत्रों का प्रयोग है। नाडीपरीक्षा का सर्वप्रथम वर्णन शार्ङ्गधरसंहिता (१३वीं शती) में मिलता है। अतः वर्त्तमान हारीतसंहिता का काल उसके पूर्व १२वीं शती रख सकते हैं।

इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन कलकत्ता से १८८७ ई० में हुआ।

जतूकर्ण

जतूकर्ण अग्निवेश के सहाध्यायी तथा पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य थे। पाणिनि-अष्टाध्यायी के गर्गादिगण (४।१।१०५) में अग्निवेश और पराशर के साथ जतूकर्ण का नाम आता है।

---

१. चरकः सुश्रुतश्चैव वाग्भटश्च तथापरः।
मुख्याश्च संहिता वाच्यास्तिस्र एव युगे युगे॥
अत्रिः कृतयुगे वैद्यो द्वापरे सुश्रुतो मतः।
कलौ वाग्भटनामा च गरिमा च प्रदृश्यते॥

२. P. V. Sharma : on the word Tulasi, A. B. O. R. I., Vol. Liv, 1974.

अग्निवेशतन्त्र के समान जतूकर्णतन्त्र या जतूकर्णसंहिता भी विद्वत्समाज में समादृत थी। इसके उद्धरण जेज्जट, चक्रपाणि, डल्हण, अरुणदत्त, विजयरक्षित, निश्चलकर,[1] श्रीकण्ठदत्त तथा शिवदास सेन की व्याख्याओं में उपलब्ध होते हैं जिनके द्वारा इसके अस्तित्व एवं प्रचार का ज्ञान होता है।

जतूकर्ण अग्निवेश के सहाध्यायी थे अतः इनका काल अग्निवेश का ही काल (१००० ई० पू० है) है।

क्षारपाणि

क्षारपाणि पुनर्वसु आत्रेय के छः प्रमुख शिष्यों में थे। इनका ग्रन्थ क्षारपाणितन्त्र या क्षारपाणिसंहिता था। इसके उद्धरण जेज्जट, चक्रपाणि, डल्हण, अरुणदत्त, विजयरक्षित, श्रीकण्ठदत्त, निश्चलकर और शिवदास सेन की व्याख्याओं में उपलब्ध होते हैं।

पराशर

इस नाम के अनेक आचार्य विभिन्न शास्त्रों के रचयिता हुये हैं किन्तु पुनर्वसु आत्रेय के छः प्रमुख शिष्यों में परिगणित तथा अग्निवेश के सहाध्यायी पराशर आयुर्वेद के निर्माता थे जिनकी रचना पराशरतन्त्र या पराशरसंहिता थी। इसके उद्धरण जेज्जट, चक्रपाणि, डल्हण, अरुणदत्त, विजयरक्षित, निश्चलकर, श्रीकण्ठदत्त, हेमाद्रि तथा शिवदास सेन की टीकाओं में उपलब्ध होते हैं।

जतूकर्ण, क्षारपाणि तथा पराशर की संहितायें अनुपलब्ध हैं। इनके अस्तित्व का प्रमाण चरकसंहितोक्त विवरण (सूत्र० १ अ०) तथा परवर्ती व्याख्याओं में उद्धरणों से होता है। शिवदास सेन १५वीं शती और जेज्जट ९वीं शती के टीकाकार हैं। जेज्जट के काल में तो इनकी स्थिति अवश्य होगी किन्तु आगे चलकर कब तक ये संहितायें जीवित रहीं कहना कठिन है। परवर्ती टीकाकारों ने स्वयं इन संहिताओं का अवलोकन किया या अपने अग्रजों का अन्धानुकरण किया यह भी कहना कठिन नहीं। इसका किंचित् मूल्यांकन उद्धृत वचनों का संग्रह कर उनके तुलनात्मक अध्ययन से संभव है। फिर भी यह कह सकते हैं कि इन संहिताओं का अस्तित्व १५वीं शती तक था और विद्वत्समाज अवसर पर इनकी सहायता लेता था।

वृद्धजीवक

वृद्धजीवक-तन्त्र संप्रति काश्यपसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार पुनर्वसु आत्रेय द्वारा उपदिष्ट तथा अग्निवेश द्वारा निबद्ध तन्त्र अग्निवेशतन्त्र के नाम से प्रचलित हुआ वैसे ही इस ग्रन्थ का नाम वस्तुतः वृद्धजीवक-तन्त्र होना चाहिए।

---

१. निश्चलकर ने जतूकर्णसंहिता की तीन पाण्डुलिपियों का अवलोकन किया था— पुराणपुस्तकत्रयेऽपि जतूकर्णे मया नेदं दृष्टम्।

इसमें महर्षि कश्यप उपदेष्टा हैं तथा ऋचीकपुत्र वृद्धजीवक ने उनके उपदेशों को ग्रन्थरूप में निबद्ध किया। आगे चलकर यह ग्रन्थ लुप्तप्राय सा हो गया तब पुनः तद्वंशीय वात्स्य नामक आचार्य ने इसका पुनरुद्धार एवं प्रतिसंस्कार किया। ऐसा आख्यान है कि अनायास नामक यक्ष से उसने यह संहिता प्राप्त की।[1] इस प्रकार ग्रन्थ-निबन्धन की दृष्टि से इसमें दो स्तर हैं एक वृद्धजीवक और दूसरा वात्स्य जबकि चरकसंहिता में तीन स्तर हैं।

'वृद्धजीवक' ऐसा नाम क्यों पड़ा अर्थात् जीवक के साथ 'वृद्ध' विशेषण लगाने की आवश्यकता क्यों पड़ी इस संबन्ध में उपर्युक्त आख्यान में कहा गया है कि प्रारम्भ में ऋचीकतनय का नाम जीवक था किन्तु वह अल्पवयस्क था और बालक की उक्तियों पर ऋषियों का विश्वास नहीं जम रहा था अतः उस पाँच वर्ष के बालक 'जीवक' ने सब ऋषियों के समक्ष कनखल की गंगा में डुबकी लगाई और जब निकला तो वह वलीपलितयुक्त वृद्ध बन चुका था। इस विस्मयकारी घटना के बाद शिशु होते हुए भी उसका नाम 'वृद्धजीवक' रखा गया। वस्तुतः यह एक प्रतीकात्मक व्याख्या है। इसका वास्तविक अर्थ यही निकाला जा सकता है कि जीवक ने अल्प वय में ही ग्रन्थ की रचना की थी क्योंकि अल्पवयस्क होने पर भी वह ज्ञान में वृद्ध था। दूसरा अभिप्राय इसका यह भी हो सकता है कि बालकों के सम्बन्ध में ज्ञान देने वाला ग्रन्थ होने के कारण तन्त्रकार को बालरूप में चित्रित किया। मेरा ऐसा अनुमान है कि ख्यातनामा जीवक जो भगवान् बुद्ध के काल में हुआ था उसीका समकालीन यह जीवक भी था और उससे पार्थक्य करने के लिए इसके नाम में 'वृद्ध' विशेषण लगा दिया गया। यह भी संभव है कि वृद्धजीवक-तंत्र के प्रणेता, कौमारभृत्य-विशेषज्ञ जीवक शल्यशास्त्री जीवक के कुछ पूर्ववर्ती हों या उससे आयु में बड़े हों।

वर्तमान काश्यपसंहिता[2] नेपाल-राजगुरु पं० हेमराज शर्मा के पास विद्यमान पाण्डुलिपि के आधार पर है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अपने पाण्डुलिपि-अन्वेषण-विवरण[3] में ३८ पृष्ठों की एक अपूर्ण काश्यप संहिता का उल्लेख किया है जो इससे भिन्न प्रतीत होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ की आधारभूत पाण्डुलिपि का विवरण पं० हेमराजशर्मा के शब्दों में इस प्रकार है[4] :—

"इस उपलब्ध ताडपत्र पुस्तक की आकृति २१$\frac{1}{2}$ × २$\frac{1}{4}$ है। प्रत्येक पृष्ठ में ६ पंक्तियाँ हैं। सबसे प्रारम्भ का पृष्ठ २९ और अन्तिम पृष्ठ २६४ है। बीच-बीच में बहुत से पृष्ठ विलुप्त हैं। इस विलुप्त पुस्तक के आदि, मध्य तथा अन्त के भी स्थान-स्थान

---

१. कल्पस्थान, संहिताकल्पाध्याय, श्लो० १८-२७।
२. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५३।
३. Report on the Search of Sanskrit Manuscripts (1895 to 1900).
४. काश्यपसंहिता, उपोद्घात (हिन्दी), पृ० १६।

पर खण्डित होने के कारण बहुत प्रयत्न करने पर भी खण्डित पृष्ठ तथा प्रतीकों की प्राप्ति नहीं हो सकी है। लुप्त पत्रों का संकेत मुद्रित पुस्तक के प्रथम पृष्ठ की पाद टिप्पणी में कर दिया गया है। ग्रन्थ के आदि के १०-१२ अध्याय खण्डित हैं तथा अन्त में भी खिल भाग के ८० में से केवल २५ अध्याय तक ही होने से उसके बाद का भाग भी खण्डित है। शेष नये पृष्ठों में से भी बहुत से अंश पूरे नहीं हैं इसलिए स्थान-स्थान पर विलुप्त पंक्ति, शब्द तथा अक्षर आदि को प्रकाशित करते हुए बिन्दु माला द्वारा दिखाया गया है। इसकी लिपि प्राचीन होने पर भी बहुत से स्थानों पर लेखभेद होने से एक ही समय में दो लेखकों ने मिल कर खण्डरूप में इस मूल पुस्तक की पूर्ति होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इस पुस्तक के उपक्रम तथा उपसंहार के लुप्त होने के कारण उसके द्वारा ज्ञातव्य विषयों का कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। अन्तिम भाग के न मिलने से उसके लेख के समय के विषय में भी कुछ नहीं मिलता। परन्तु फिर भी इसकी लिपि की आकृति, अक्षरों द्वारा निर्दिष्ट पृष्ठों की संख्या, कहीं-कहीं अध्याय और श्लोकों की संख्या तथा ताड़पत्र की लंबाई और चौड़ाई को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस पुस्तक का लेख सात आठ सौ वर्ष पूर्व का है।"

यही पाण्डुलिपि संपादित-प्रकाशित होकर काश्यपसंहिता के रूप में प्रसिद्ध हुई है। इसका सारा श्रेय पंडित हेमराजशर्मा को है। इस प्रकाशन का उपोद्घात विवेचना की दृष्टि से अपूर्व है जिसमें आयुर्वेद का समस्त इतिवृत्त समाहित हो जाता है।

इधर काश्यपसंहिता के नाम से एक और ग्रन्थ का पता चला है जिसकी कुछ पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आई हैं। एक पाण्डुलिपि नेवारी लिपि में सरस्वतीभवन वाराणसी में है और दो-तीन पाण्डुलिपियाँ दक्षिणभारतीय ग्रन्थागारों में उपलब्ध हैं। इन पर शोधकार्य केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद् के तत्त्वावधान में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में स्थित वाङ्मय-अनुसन्धान केन्द्र में हुआ था।[1] यह काश्यपसंहिता विषय और वस्तु की दृष्टि से नितान्त भिन्न है। इसमें सामान्यतः निदान और चिकित्सा का वर्णन है। रसौषधों की अधिक संख्या के कारण यह ग्रन्थ १२वीं-१३वीं शती के पूर्व का नहीं प्रतीत होता।

काश्यप नामक अनेक आचार्य हैं इनमें इस संहिता का उपदेष्टा कौन है यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। मारीचि काश्यप का मत चरकसंहिता (शा० ६।१८) में उद्धृत है। एक काश्यप विषविद्या के विशेषज्ञ हैं[2] जिनका महाभारत में भी उल्लेख

---

१. देखें—V. N. Dwivedi et al: A Report on Neo Kashyapa Samhita of Varānasi, सचित्र आयुर्वेद, जुलाई, १९७२

२. डल्हण० सु० सू० १२।४

है। चरकसंहिता (सूत्र १) की ऋषिपरिषद् में कश्यप और मारीच काश्यप के नाम परिगणित हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उपदेष्टा के लिए सर्वत्र 'कश्यप' शब्द का प्रयोग है। कहीं-कहीं केवल 'मारीच' शब्द भी आया है।[1] इससे स्पष्ट है कि केवल कश्यप से भिन्न एक मारीच कश्यप भी थे जिनके लिए केवल 'मारीच' शब्द भी प्रयुक्त होता था। चरकसंहिता के उपर्युक्त श्लोक में 'मारीच' शब्द इसी कश्यप के लिए आया है। यही मारीच कश्यप काश्यपसंहिता का उपदेष्टा है। इस संहिता के एक स्थल पर (सिद्धि० ३) में वृद्धकाश्यप का मत पूर्वपक्ष के रूप में रक्खा गया है इससे वृद्ध-काश्यप की भी भिन्नता सूचित होती है।

संप्रति उपलब्ध काश्यपसंहिता में एक विचित्र बात देखने में आती है कि कहीं-कहीं शिष्य के मत की भी पूर्वपक्ष के रूप में स्थापना की गयी है। रोगाध्याय (.सूत्र० २७।३) में अन्य आचार्यों के साथ वृद्धजीवक के मत का भी उल्लेख है। इसी प्रकार वमनविरेचनीय सिद्धि (सिद्धि० अ० ३) में वार्योविद आदि के साथ वात्स्य का नाम भी आचार्यों में आता है। वार्योविद भी शिष्य की श्रेणी में आते हैं उन्हें सम्बोधित कर अनेक स्थल कहे गये हैं।[2] ऐसी शैली चरकसंहिता में नहीं है। वहाँ अग्निवेश केवल जिज्ञासा उपस्थित करता है, वह परिषद् की चर्चा में अपना कोई मत उपस्थित नहीं करता। यहाँ तो प्रतिसंस्कर्ता (वात्स्य) तक ने अपना नाम उन आचार्यों में सन्निविष्ट कर दिया। एक स्थल पर (सि० १) आत्रेय पुनर्वसु का मत भी पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है।

अध्यायों का प्रारम्भ और अन्त करने की शैली भी इसकी भिन्न है। प्रारम्भ और अन्त 'इति ह स्माह भगवान् कश्यपः' से होता है और अन्त में इसके बाद 'इति' शब्द से अध्याय का नाम दे दिया गया है। तन्त्र या तन्त्रकार का नाम प्रत्येक अध्याय के अन्त में न होकर केवल स्थान-समाप्ति पर है यथा इन्द्रियस्थान की समाप्ति पर यह पुष्पिका है :—

'(इति) वृद्धजीवकीये कौमारभृत्ये वात्स्यप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने औषधभेषजीयं नामेन्द्रियम्। समाप्तानि चेन्द्रियाणि।'

इसी प्रकार अन्य पुष्पिकायें इस प्रकार हैं :—

'(इति) वृद्धजीवकीये कौमारभृत्ये चिकित्सास्थाने धात्रीचिकित्सताध्यायः। समाप्तानि चिकित्सितानि।' (चिकित्सास्थान)

'(इति) वृद्धजीवकीये तन्त्रे कौमारभृत्ये वात्स्यप्रतिसंस्कृते कल्पेषु संहिताकल्पो

१. कल्पस्थान, भोजनकल्पाध्याय तथा षट्कल्पाध्याय।

२. इति वार्योविदायेदं महीपाय महानृषिः। शशंस सर्वमखिलं बालानामथ भेषजम्॥ खिल० १३।८५

नाम द्वादशः । समाप्तं च कल्पस्थानम् । समाप्ता चेयं संहिता । अतः परं खिलस्थानं भवति ।' (कल्पस्थान)

अन्य स्थान खण्डित होने के कारण वहाँ की पुष्पिकायें उपलब्ध नहीं तथापि उपर्युक्त उद्धरणों से शैली का अनुमान होता है । यह शैली भी चरकसंहिता से भिन्न है जहाँ प्रत्येक अध्याय के अन्त में तन्त्र और तन्त्रकार का नाम दिया है । इन पुष्पिकाओं से स्पष्ट है कि तन्त्र का नाम 'काश्यपसंहिता' न होकर वृद्धजीवकीय तन्त्र है । उपदेष्टा के नाम पर ही यदि रखना हो तो 'कश्यपसंहिता' होना चाहिए न कि 'काश्यपसंहिता' क्योंकि कश्यप और काश्यप दो भिन्न आचार्य हैं और इस तन्त्र का सम्बन्ध कश्यप से है । अतः व्याकरण से साधु होने पर भी संहिता के साथ 'काश्यप' शब्द भ्रामक है ।

विषय-विभाग

कल्पस्थान के अन्तिम अध्याय (संहिता-कल्पाध्याय) में संहिता की वस्तुयोजना का निर्देश किया गया है यद्यपि अन्य संहिताओं में यह विषय सूत्रस्थान में निर्धारित है । इसके अनुसार संहिता में सूत्र, निदान, विमान शारीर, इन्द्रिय, चिकित्सा, सिद्धि तथा कल्प ये आठ स्थान हैं और उनके अन्तर्गत अध्यायों का क्रम निम्नांकित है¹ :—

१. सूत्रस्थान	—	३० अध्याय
२. निदानस्थान	—	८ अध्याय
३. विमानस्थान	—	८ अध्याय
४. शारीरस्थान	—	८ अध्याय
५. इन्द्रियस्थान	—	१२ अध्याय
६. चिकित्सास्थान	—	३० अध्याय
७. सिद्धिस्थान	—	२२ अध्याय
८. कल्पस्थान	—	१२ अध्याय
		१२० अध्याय
खिलस्थान		८० अध्याय

१. 'अष्टौ स्थानानि वाच्यानि ततोऽतस्तन्त्रमुच्यते ।
अध्यायानां शतं विंशं योऽधीते स तु पारगः ॥
सूत्रस्थाननिदानानि विमानान्यात्मनिश्चयः ।
इन्द्रियाणि चिकित्सा च सिद्धिः कल्पाश्च संहिता ॥
सूत्रस्थानं चिकित्सा च त्रिंशदध्यायके उभे ।
निदानानि विमानाश्च शारीराण्यष्टकानि तु ॥
सिद्धयो द्वादशाध्याया कल्पाश्चैवेन्द्रियाणि च ।
खिलान्यशीतिरध्यायास्तन्त्रं सखिलमुच्यते ॥'—संहिताकल्पाध्यायः

स्पष्टतः यह योजना चरकसंहिता की अनुगामिनी है।

चरकसंहिता का बाह्य स्वरूप में अनुकरण करने पर भी विषयवस्तु के स्वरूप की दृष्टि से यह संहिता बिलकुल भिन्न है। इस अन्तर का कारण काल के अन्तराल के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? उदाहरणार्थ, यहाँ कल्पस्थान में विभिन्न औषधियों के कल्प हैं जबकि चरकसंहिता में इसमें केवल संशोधन कल्पों का ही विस्तार से वर्णन है। प्राचीनकाल का अन्त होते होते 'कल्प' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में होने लगा जैसे शतावरीकल्प, लशुनकल्प आदि। ऐसे कल्पों के अनेक संग्रह-ग्रन्थ भी लिखे गये। वर्तमान संहिता में 'कल्प' शब्द का ऐसा प्रयोग उसे अन्य प्राचीन संहिताओं से काफी दूर ले जाता है।

यह वृद्धजीवकीय तन्त्र कौमारभृत्य का एकमात्र उपलब्ध संहिताग्रन्थ है। यह यदि पूर्ण अविकल रूप में समग्र होता तो अध्ययन अधिक सुकर एवं यथार्थ होता तथापि इसका एक संक्षिप्त अन्तरंग अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इस संहिता का रेवतीकल्पाध्याय तत्कालीन सांस्कृतिक अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

धार्मिक स्थिति

देव, गो, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और आचार्य की पूजा का विधान है (शा०)। 'देवगृह' शब्द से देवमन्दिरों का बोध होता है। देवताओं में त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है (शा० खिल०)। ज्वर और राजयक्ष्मा की चिकित्सा में रुद्र की पूजा का विधान है। भूतेश्वर, नीलकण्ठ, वृषध्वज (खिल० १) तथा शिव शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। रेवतीकल्पाध्याय में एकादश रुद्र का निर्देश है। विष्णु के लिए 'नारायण' शब्द भी आया है (शा० १)। शिव के बाद शक्ति का भी भद्रकाली, उमा (लशुनकल्प), मातंगी, चण्डिका (रेवती०) आदि शब्दों से अभिधान है। धूपकल्पाध्याय में कन्याओं के द्वारा धूप कुटाने का उपदेश है, यह भी शाक्त विधान है। स्कन्द को देवताओं का राजा और अधिपति कहा गया है।[1] अतः अनेक प्रसंगों में स्कन्द की पूजा विहित है। सूर्य की पूजा का भी विधान है (अर्चेदादित्यमुद्यन्तं-शा०)। सूतिकागार में कुमार, षष्ठी और विशाख की प्रतिकृति बनाने का विधान है। षष्ठीपूजा का भी उपदेश है।[2] मातङ्गी एवं रुद्रमातङ्गी विद्या का भी उल्लेख है। अनेक स्थलों में 'रहस्य' का उल्लेख है तथा तान्त्रिक मंत्रों का विधान है। भिषक् का लक्षण बतलाते हुये कहा है कि वैद्य सिद्धयोगों का ज्ञाता

---

१. तस्मात् सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु छन्दःसु सर्वासु देवतासु स्कन्दो राजाऽधिपतिरित्युच्यते। तस्मै नमो नमः इत्युक्त्वा सर्वार्थानारभते, सिध्यन्ति, च एवं वेद।

—रेवती० ६

२. तुलना के लिए देखें हर्षचरित का सूतिकागारवर्णन।

हो तथा स्वयं सिद्धिमान् हो और देव, द्विज, गुरु एवं सिद्धों का पूजक हो (सू० २६) ज्वर में सिद्ध मन्त्रों का प्रयोग विहित है (खिल० १)। इन सबसे तान्त्रिक संप्रदाय को प्रबलता द्योतित होती है। पञ्चमी में नागपूजा का भी विधान है।

ब्राह्मण के साथ साथ गौ का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है (गावः प्रतिष्ठाः सचराचरस्य-भोजनकल्प)। जिस राजा की दुर्बलता से प्रजा का विशेपतः गौ और ब्राह्मणों का नाश होता है उसे जातहारिणी नष्ट कर देती है। जो गायों की हत्या करते या करवाते हैं तथा जो मांस का प्रयोग करते हैं उन्हें भी जातहारिणी कष्ट देती है (रेवती)।

इन सब तथ्यों के साथ-साथ उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि शब्दों का प्रयोग जैनधर्म की ओर संकेत करता है। वृद्धजीवक के लिए 'स्थविर' संबोधन अनेक वार हुआ है यह शब्द बौद्धसंप्रदाय के विशेष रूप से प्रचलित है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में शैव, शाक्त तथा तान्त्रिक संप्रदायों की प्रमुखता है तथा जैन धर्म का अस्तित्व सूचित होता है। बौद्ध धर्म के तथ्य अत्यल्प हैं, ब्राह्मणधर्म की प्रमुखता है।

सामाजिक स्थिति

वर्णाश्रम—धर्म का स्पष्टतः संकेत मिलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख है। इन चारों वर्णों को आयुर्वेद के अध्ययन का अधिकार दिया है (वि० १।१०)। ऋतुकाल के प्रकरण में विभिन्न वर्णों की स्त्रियों के लिए विभिन्न विचार है। जातहारिणी-प्रकरण में भी चारों वर्णों का उल्लेख है। धूपकल्पाध्याय में आग्नेय धूप केवल ब्राह्मणों के लिए है जब कि ब्राह्म धूप त्रिवर्ण के लिए है। स्त्रियों और शूद्रों को हीन समझा जाता था। नागबला-रसायन के प्रसंग में कहा है कि वह स्त्री और शूद्र का वर्जन करे। फक्कचिकित्सा में विहित ब्राह्मीघृत का शूद्रों के लिए निषेध है।[1]

स्त्रियों का प्रवेश अनेक धार्मिक संप्रदायों में हो गया था। इनके लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है यथा लिंगिनी, परिव्राजिका, श्रमणका, कण्डनी, निर्ग्रन्थी, चीरवल्कलधारिणी, तापसी, चरिका, जटिनी, मातृमण्डलिनी, देवपरिवारिका, वेदणिका आदि। 'देवपरिवारिका' सम्भवतः देवदासी-प्रथा का आद्य रूप है। स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं (खि० १०।६२)। शारीरस्थान में एक स्थल पर स्त्री के पर्दा करने का उल्लेख है।

---

१. देखें—B. B. Mishra : Caste System in The Kasyapa Samhita, Jor. Bih. Res. Soc, Vol, LV. Pats I—IV (1969)

अनेक व्यवसायों का भी उल्लेख हुआ है जिससे तत्कालीन सामाजिक जीवन की झलक मिलती है। इस प्रसंग में निर्दिष्ट शब्द ये हैं:—वणिक्, भारजीवी, कितव, रंगजीवी, कर्षक, शूर, कृच्छ्रजीवी (सूत्र २८), कारुक, अयस्कर, तक्षण, कुलाल, पट्टकर, मालाकार, कुविन्द, सौचिक, रजक, नेजक, गोप, कारुकुण (रेवती०)।

तत्कालीन कला एवं संस्कृति की भी सूचना इस ग्रन्थ से प्राप्त होती है। वीणा, वेणु, गीत, नाट्य, विडम्बित, कथा (खिल० ५) से संगीत, नाट्य तथा कथा-वार्ता का अस्तित्व पता चलता है। बालकों के खिलौनों के प्रसंग में (खिल० १२) दर्जनों पशु-पक्षियों की आकृति के खिलौनों का वर्णन है। इससे इस उद्योग की विकसित स्थिति का बोध होता है। गन्धयुक्ति शास्त्र भी समुन्नत था (खिल० १)।

वस्त्रों में दुकूल, क्षौम, मार्ग, कौशेय, कार्पास, कोवच, अजिन, कम्बल (लशुनकल्प) का उल्लेख है। 'पादुका' शब्द भी उपर्युक्त अध्याय में है।

आहारकल्पों में मण्डक, पूप, पोलिका, कुल्माष, सक्तुपिण्डी, राग, खाडव, पानक विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं।

राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति

आर्थिक दृष्टि से बालकों के तीन विभाग किये गये हैं ईश्वरपुत्र, मध्यमपुत्र, दरिद्रपुत्र (सू० २३।२९-३०)। इससे आर्थिक स्थिति के तीन स्तरों का पता चलता है। यह लिखा है कि रोग तो सबको समान ही होते हैं किन्तु दक्षिणा, आहार भेषज का इन तीनों में महान् अन्तर हो जाता है।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि संपन्न व्यक्तियों से वैद्यों को दक्षिणा अच्छी मिलती थी, उनका आहार भी उच्च कोटि का होता था तथा उनके लिए औषध भी अच्छी दी जाती थी। आर्थिक स्थिति के निम्नवर्गों में क्रमशः इनमें कमी होती जाती थी। उस समय चिकित्सा अर्थप्रधान होने के कारण गरीबों को बहुत कष्ट था। इसका उल्लेख इत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरण में भी किया है। वैद्यों की दक्षिणा का उल्लेख अन्य प्रसंगों में भी है। (शा०, रेवती०, जात०) वैद्यों के लिए अर्थ और यश की प्रमुखता थी (भिषजामर्थयशसी–खि० १) अधिपति, राजा (सू. २८।६), राजमात्र (रेवती०) तथा राजोपम (खि० ५) शब्दों का भी प्रयोग देखने में आता है।

भौगोलिक स्थिति

विभिन्न प्रसंगों में अनेक भौगोलिक नामों का उल्लेख हुआ है। कनखल का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, संभवतः वहीं इस ग्रन्थ की रचना हुई हो।

---

१. अविशेषेण बाधन्ते सर्वे सर्वान् नरान् गदाः।
विशेषस्तु महान् दृष्टो दक्षिणाहारभेषजे॥—सू० २३।३१

देशानुसार आहारयोजना के प्रसंग में काश्मीर, चीन, अपरचीन, बाह्लीक, काशी, अंग, वंग, कलिंग आदि नाम आये हैं। देशसात्म्याध्याय (खि० २५) में देश के विभिन्न प्रदेशों के नाम परिगणित हैं। कुरुक्षेत्र का विशेष रूप से उल्लेख है जिससे इसका महत्त्व सूचित होता है। मध्यदेश से सौ योजन कुरुक्षेत्र की स्थिति बतलाई गई है। मध्यदेश की समृद्धि का भी वर्णन है जिसमें यह कहा गया है कि वहाँ के लोग भोजन के सुखी हैं। संभवतः उज्जयिनी मध्यदेश का केन्द्र था। पूर्व और दक्षिण के प्रदेशों का विस्तार से उल्लेख है। 'मगधासु महाराष्ट्रम्' यह वाक्य महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि संभवतः उस समय मगध-साम्राज्य महाराष्ट्र तक व्याप्त था।

शक, यवन, पह्लव, तुषार, कम्बोज, हूण आदि विदेशी जातियों का भी उल्लेख है (रेवती०)। प्रलय के बाद विदेशी म्लेच्छ जातियों में रक्त, मांसरस तथा कन्दमूलफल प्रसूताओं को देने की परम्परा है (खि० ११।३४)। इससे विदेशी म्लेच्छ-जातियों का अस्तित्व सूचित होता है।

शास्त्रीय पक्ष

शास्त्रीय विचारविमर्श के क्रम में निम्नांकित आचार्यों का उल्लेख हुआ है:—

१. भार्गव प्रमति	९. माठर
२. वार्योविद	१०. आत्रेय पुनर्वसु
३. काङ्कायन	११. पाराशर्य
४. कृष्ण भारद्वाज	१२. कौत्स
५. राजर्षि दारुवाह	१३. वृद्धकाश्यप
६. हिरण्याक्ष	१४. वैदेह जनक
७. वैदेह निमि	१५. भेल
८. गार्ग्य	

इस सूची में चरकसंहिता में निर्दिष्ट अनेक आचार्यों के नाम हैं। राजर्षि दारुवाह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह ध्यान देने की बात है कि प्रायः सभी संहिताओं में एक राजर्षि अवश्य है। सुश्रुतसंहिता में तो दिवोदास स्वयं राजर्षि हैं, चरक संहिता में काशिपति वामक तथा वार्योविद, भेलसंहिता में नग्नजित् तथा काश्यप संहिता में दारुवाह तथा वार्योविद का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। इन सभी के मत भी उद्धृत किये गये हैं जिससे इनके वैदुष्य एवं आचार्यत्व का बोध होता है।

काश्यपसंहिता में मुख्यतः चरक और सुश्रुत के विचार मिलते हैं। प्रकृतिवर्णन, ३६० अस्थियाँ, मन का लक्षण, नौ द्रव्य, लोकसम्मित पुरुष, दश प्राणायतन, अञ्जलिप्रमाण आदि विषय चरकानुसार हैं। १०७ मर्म, आठ प्रकृति, आज रसायन आदि प्रकरणों में सुश्रुत का अनुसरण किया गया है। भेलसंहिता में १८ कुष्ठों में से

साध्य और ९ असाध्य कहे गये हैं, यही विचार इस संहिता में भी हैं। कुछ विशिष्ट तथ्य भी मिलते हैं यथा पाँच हृदय और षट्कोश शरीर (शा०)। षट्कोश षट्काय ही है जो बौद्धधर्म में प्रतिपादित है।

इस संहिता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कौमारभृत्य है अतः आयुर्वेद के आठों अंगों में कौमारभृत्य को आद्य अंग कहा गया है।[1] बालकों के शरीर, निदान, चिकित्सा का विस्तार से वर्णन है। दन्तजन्मिक, लेहप्रकरण, फक्कचिकित्सा, जातहारिणी, धूपकल्प आदि विषय विशिष्ट हैं। निम्नांकित तथ्य अवलोकनीय हैं :—

१. स्वेद अष्टविध कहा गया है (सू० २३) जब कि चरकसंहिता में त्रयोदशविध है।

२. कर्णवेध का उल्लेख है (सू० २१)

३. औषध और भेषज में अन्तर बतलाया गया है। पहला युक्तिव्यपाश्रय और दूसरा दैवव्यपाश्रय का नाम दिया गया है।

४. भेल के समान प्लीह-हलीमक चिकित्सा स्वतन्त्र अध्याय में वर्णित है।

५. राजयक्ष्मा में वर्धमान-पिप्पली का विधान है।
इस रोग में लशुन का प्रयोग भी विहित है।

६. आतुरालय के लिए अरिष्टागार शब्द है (क० १)।

७. कल्पस्थान में—एकल द्रव्यों के कल्पों का वर्णन है यथा लशुनकल्प, कटुतैलकल्प, शतपुष्पा-शतावरीकल्प। नेत्ररोगों में उपयोगी छः द्रव्यों (चक्षुष्या, पुष्पक, हरीतकी, रोचना, रसाञ्जन, कतक) का कल्प षट्कल्प अध्याय में किया गया है। लशुन स्त्रियों के लिए हितकर और लावण्यवर्धन कहा गया है।[2]

८. पञ्चविध कषाय-कल्पना के स्थान पर सप्तविध कल्पना है। इसमें चूर्ण और अभिषव दो कल्पनायें विशेष हैं (खि० ३)। मान के सम्बन्ध में उस समय प्रचलित तुलामान को स्वीकृत किया गया है (खि० ४)।

९. औषधविज्ञान के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है। मात्रा तथा आदर्श औषधद्रव्य का भी विधान है। वही द्रव्य उत्तम कहा गया है जो प्रयोग करने पर व्याधिवीर्य को नष्ट कर दे किन्तु रोगी के बल को क्षति न

---

१. कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते ।
आयुर्वेदस्य महतो देवानामिव हव्यपः ॥—वि० १।१०

२. वाग्भट ने लशुन के साथ पलाण्डु का इस प्रसंग में वर्णन किया है। शकांगनाओं के लिए वह लावण्यवर्धक कहा गया है।

पहुँचावे[1]। औषधों के नाम-रूप, गुणकर्म, मात्रा, बल, विधान तथा प्रयोग की जानकारी अपेक्षित है तभी कोई भेषजशास्त्रकोविद समझा जा सकता है। सुश्रुत के द्रव्यगणों का अनुसरण किया गया है।

१०. आहार को महाभैषज्य कहा गया है (खि० ४); यूष ७५ प्रकार के वर्णित हैं।

११. सूतिकारोग ६४ प्रकार का कहा गया है जिसकी चिकित्सा में तद्विद भी घबड़ा जाते हैं, परतन्त्रशिक्षितों की बात ही क्या है।[2]

१२. सुश्रुतसंहिता में जिस प्रकार अन्त में रसदोष-प्रविभाग है उसी प्रकार खिलस्थान (अ० ६) में यह विषय विस्तार से वर्णित है। रसों और दोषों के अनेक अवान्तर भेद कर उनकी संख्या हजारों हो गई है।

१३. अम्लपित (खि० १६) का वर्णन है। इसे 'शुक्तक' भी नाम दिया गया है (खि० १६।४२)। यह कहा गया है कि यह रोग अधिकतर आनूप देश में होता है अतः उस स्थान का परित्याग कर देशान्तरगमन करना चाहिए (खि० १६।४५)। इसी प्रकरण में प्राकृत पाचनकर्म का वर्णन किया गया है[3]।

१४. नवायस का शोथ में प्रयोग है जब कि सुश्रुत ने इसका उल्लेख प्रमेहपिडका-प्रकरण में किया है।

१५. शूलरोग-चिकित्सा का पृथक् अध्याय (खि० १८) है।

१६. त्रिसमा गुटिका का विधान है जिसमें हरीतकी, शुण्ठी और गुड समभाग होते हैं (खि० १७।३८)। गुप्त-उत्तरगुप्त काल में यह औषध बहुत प्रचलित थी जिसका उल्लेख चीनी यात्री इत्सिंग (६७१-६९५ ई०) ने अपने यात्रा-विवरण में किया है।[4]

---

१. यन्नातुरबलं हन्ति व्याधिवीर्यं निहन्ति च।
तदेवास्यावचार्यं स्यादाव्याध्युच्छेददर्शनात् ॥—खि० ३।६३

२. तद्विदामपि संमोहो भिषजामुपजायते।
किं पुनर्येऽल्पमतयः परतन्त्रोपशिक्षिताः ॥—खि० ११।१५

३. अव्यापन्ने त्वधिष्ठाने जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
प्रेर्यमाणः समानेन प्रश्वासोच्छ्वासयोगतः ॥
धम्यमान उदानेन सम्यक् पचति पावकः।—खि० १६।१२-१३

४. A Pill called San-teng (the 'equal mixture of the three') is also good for Curing several sicknesses and not difficult to obtain.

—Itsing : A record of Buddhist Practices, page 134.

१७. नीलस्पन्द, शुकनासा आदि औषधद्रव्यों का उल्लेख है जो चरक के बाद प्रचलित हुईं। एरण्डतैल का बहुशः प्रयोग है। गुप्तकाल में यह मृदुविरेचन में सर्वोत्तम माना जाता था।[1] चरक ने चतुरंगुल को श्रेष्ठ मृदुविरेचन कहा है। लशुन को काश्यपसंहिता में पञ्चरस तो माना है किन्तु भावप्रकाश की मान्यता से इसमें थोड़ा अन्तर है।[2]

भाषा एवं शैली

'पञ्चजन' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है (सू० २४ तथा उदावर्त्त चि०)। 'पञ्चावदान' शब्द भी है (सू० २८।५)। 'अवदान' ग्रन्थ बौद्धधर्म में प्रसिद्ध हैं यथा दिव्यावदान, अवदानशतक आदि।

यद्यपि रेवतीकल्पाध्याय का प्रारम्भिक गद्य प्राचीन शैली का मालूम होता है तथापि यह ग्रन्थ की प्राचीनता का प्रमाण नहीं हो सकता। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी एक वैदिक छन्द का प्रयोग हुआ है जो गुप्तकालीन रचना मानी जाती है।

'शूद्रा' और 'महाशूद्री' दोनों शब्दों का साथ प्रयोग है। प्रथम शब्द सामान्यतः जातिवाचक तथा द्वितीय शब्द वर्गविशेष का बोधक है। ये दोनों शब्द कात्यायनकृत वार्तिक 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातौ' के अनुसार निष्पन्न हैं।

वृद्धजीवक का काल

वृद्धजीवकीय तंत्र (कश्यपसंहिता) के काल पर अब सरलता से विचार किया जा सकता है। कुछ विद्वान संहिताओं की प्राचीनता की पृष्ठभूमि में इसे भी पुनर्वसु आत्रेय आदि की रचनाओं के समकक्ष रखते हैं किन्तु वस्तुतः इसमें ऐसी प्राचीनता की कोई झलक नहीं मिलती। भगवान् बुद्ध के समकालीन इन्हें मानना चाहिए और इस प्रकार मूल कश्यपसंहिता का काल छठी शती ई० पू० होगा। संभवतः शल्यज्ञ जीवक से पार्थक्य करने के लिए इसे 'वृद्ध' विशेषण दिया गया। बुद्ध के आविर्भावकाल में ब्राह्मणधर्म की प्रधानता थी, जैनधर्म का उदय हो चुका था और बुद्ध के उपदेशों का प्रचार हो रहा था। यही स्थिति इस ग्रन्थ में मिलती है। नावनीतक में काश्यप तथा जीवक दोनों का उल्लेख होने से तीसरी-चौथी शती से पूर्व यह ग्रन्थ अवश्य प्रसिद्ध था।

---

१. एरण्डतैलं मृदुविरेचनानाम् —अ० सं०

२. तुलना करें :—रसोऽस्य बीजे कटुको नाले लवणतिक्तकौ।
पत्राण्यस्य कषायाणि विपाके मधुरं च तत् ॥—लशुनकल्प
'कटुकश्चापि मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः।
नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः ॥
बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः।—भावप्रकाश, हरीतक्यादि, २२०

दूसरे स्तर के तथ्य उत्तरगुप्तकालीन मिलते हैं। हर्षवर्धन सूर्यपूजक था तथा मध्यदेश का निवासी था। इत्सिंग के यात्राविवरण में जो स्थिति अंकित की गई है वही स्थिति इसमें मिलती है[१]। षष्ठीपूजा का प्रचार भी उस समय था। शैव, शाक्त तथा तान्त्रिक सम्प्रदाय भी प्रचलित थे। स्कन्द-पूजा भी प्रचलित थी। मातंगी विद्या का उल्लेख वाग्भट ने भी किया है। वाग्भट और हर्षचरित की स्थिति से इसकी बहुत समानता है। सुश्रुत ने बालग्रह नौ माने हैं किन्तु कश्यप और वाग्भट दोनों में ग्रहों की संख्या बारह है। कुलक्रमागत ज्ञान का संमान इस काल में था। हर्षचरित में कुलक्रमागत वैद्य है, कश्यपसंहिता में भी लिखा है—'वैद्यो वैद्यकुले जातः (संहिताकल्प), तीर्थागतज्ञानविज्ञान (वि० ११५)।

विदेशियों में शक, हूण का उल्लेख है। शकों का उच्छेद गुप्तों ने किया किन्तु हूण उत्तरगुप्तकाल तक बने रहे। सम्भवतः 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग हूणों के लिए हुआ है। गुप्तकाल में कुमारभृत्या की विशेष उन्नति हुई थी। कुमारभृत्याकुशल वैद्यों का उल्लेख कालिदास की रचनाओं में मिलता है। 'काश्यप' नाम भी कौमारभृत्यविशेषज्ञ के लिए प्रसिद्ध हो गया था। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दुष्यन्तपुत्र भरत का भरणपोषण काश्यप के आश्रम में हुआ था, जिन्होंने अपराजिता-बन्धन के द्वारा उसकी रक्षा का विधान किया था।

संभवतः ऐसे ही वातावरण में वात्स्य ने इस संहिता का प्रतिसंस्कार किया। अतः उसका काल छठी या ७ वीं शती मानना चाहिए। वह वत्सदेश, जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी, निवासी प्रतीत होता है। यह इस आख्यान से भी प्रमाणित होता है कि उसने यह लुप्त तन्त्र अनायास यक्ष से प्राप्त किया। यह ज्ञातव्य है कि अनायास यक्ष का स्थान कौशाम्बी था (कौशाम्ब्यां चाप्यनायासो भद्रिकायां च भद्रिकः—पञ्चरक्षा)।

जीवक

वृद्धजीवक के प्रसंग में जीवक का भी विचार कर लेना चाहिए। जीवक की एक संज्ञा 'कुमारभच्च' है जिससे यह भ्रम हो जाता है कि यह वही जीवक है जो

---

१. If it be necessary to consult some famous physicion in Lo-yang, the eastern capital, then the poor and needy are (on the ground of expense) cut off fom the cord of life, when it is a cese of gathering the best herbs from the western field the parentless and helpless will lose their way.

—Itsing : A Record of Buddhist practices, page 134

कौमारभृत्य का विशेषज्ञ था[1] किन्तु वस्तुतः यह संज्ञा कुमार द्वारा भृत (पालित) होने के कारण पड़ी जो आगे निर्दिष्ट आख्यान से स्पष्ट हो गया। जीवक की लिखी कोई संहिता उपलब्ध नहीं होती किन्तु इसके सम्बन्ध में परम्परागत आख्यानों से इसके अद्भुत व्यक्तित्व, ओषधिज्ञान, चिकित्साकौशल, शल्यदक्षता, मेधाविता, उदारता, धर्मप्रवणता आदि गुणों का पता चलता है जिससे यह अनुमान होता है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय का एक योग्यतम स्नातक होकर अपने सतत अध्यवसाय एवं अभ्यास से उसने चिकित्साक्षेत्र में देशविदेश में ख्याति अर्जित की। जीवक के आख्यान से पता चलता है कि तत्कालीन तक्षशिला विश्वविद्यालय में आयुर्वेद के सभी अंगों के उत्तम शिक्षण की व्यवस्था थी जिससे आकृष्ट होकर दूर-दूर से छात्र वहाँ पहुँचते थे। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी ज्ञात होता है कि उस समय उस विश्वविद्यालय में आत्रेय नामक शल्यविशेषज्ञ प्राध्यापक थे जो कपालभेदन आदि शल्यकर्मों का शिक्षण देते थे।

जीवक के जीवन के सम्बन्ध में महावग्ग नामक बौद्ध ग्रन्थ में निम्नांकित विवरण मिलता है :—

राजगृह (वर्तमान राजगिर-पटना जिला) में शालावती नाम की किसी वेश्या के द्वारा सद्यः प्रसूत बालक को दासी ने शूर्प (छाज) में रखकर बाहर फेंक दिया। राजकुमार अभय उसे देखकर महल में ले आया तथा दासी द्वारा इसका पालन-पोषण किया। 'उत्सृष्टोऽपि जीवति' (छोड़ा हुआ या फेंक दिया जाने पर भी जीवित है।) इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका नाम जीवक हुआ तथा राजकुमार द्वारा पालन-पोषण किया जाने के कारण पाली भाषा के अनुसार इसका नाम कु (को) मारभच्च (कौमारभृत्य, कुमारभृत) भी हो गया। उसके बाद कालक्रम से वृद्धि को प्राप्त होकर जीविका की दृष्टि से विद्याध्ययन के लिए राजकुमार के बिना कहे ही उसने तक्षशिला जाकर वहाँ के किसी प्रसिद्ध वैद्य से सात वर्ष तक वैद्यक-विद्या का अभ्यास किया। सात वर्षों तक निरन्तर श्रम करने पर भी जब शास्त्र का कहीं अन्त न मिला तब उसने अपने गुरु से पूछा आचार्य ! कब इस शिल्प का अन्त जान पड़ेगा ? आचार्य ने कहा—भन्ते ! खनती लेकर तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर घूमकर जो अभैषज्य देखो उसे ले आओ। जीवक ने वैसा ही किया और लौटकर बोला—आचार्य ! मैं चारों ओर घूम आया किन्तु कुछ भी अभैषज्य नहीं देखा। (इससे स्पष्ट होता है कि उसने समस्त ओषधियों के नाम-रूप-गुण-कर्म-प्रयोग का ज्ञान प्राप्त कर लिया था 'नानौषधिभूतं जगति किंचिद् वर्त्तते' यह सिद्धान्त हृदयंगम कर लिया

---

१. डल्हण ने कौमारभृत्य-विशेषज्ञों में पर्वतक, बन्धक, जीवक आदि का उल्लेख किया है (सु० कु० १।३)। संभव है, जीवक से उसका अभिप्राय वृद्धजीवक से हो।

था)। विद्यासमाप्ति के बाद आचार्य ने पाथेय बाँधकर उसे विदा किया और वह वहाँ से लौट आया। मार्ग में साकेत (अयोध्या) पहुँच कर सात वर्षों से शिरोवेदना से पीड़ित किसी सेठानी के घर पहुँच कर उस तरुण वैद्य ने घृत-नस्य आदि औषधियों से उसको स्वस्थ कर दिया तथा सत्कार में मिले हुए धन, दास तथा रथ आदि लेकर राजगृह पहुँचा। वह अर्जित धन पोषण के प्रत्युपकार रूप में उसने राजकुमार अभय को देना चाहा परन्तु उसने अस्वीकृत करके उसका सम्मान किया तथा राजप्रासाद के अन्दर ही उसका निवासस्थान बनवा दिया। इसके बाद मगध के राजा बिम्बिसार का तीव्र भगन्दररोग उसने एक ही लेप में अच्छा कर दिया। इससे प्रसन्न होकर राजा ने उसका ५०० स्त्रियों के आभूषणों से सत्कार करके उस तरुण जीवक को अपने अन्तःपुर में रहने वाले प्रमुख बौद्ध भिक्षुओं की भी चिकित्सा की अनुमति प्रदान की। फिर सात वर्षों से शिरोवेदना से पीड़ित एक सेठ को किसी औषधि से संज्ञाहीन करके कपाल का भेदन करके उसमें से दो कृमियों को निकाल कर पुनः कपाल को सीकर कुछ दिनों में उसे स्वस्थ करके उससे सत्कार रूप में बहुत-सा धन प्राप्त किया। उसके बाद राजाज्ञा से वाराणसी आकर आन्त्रग्रन्थि रोग से पीड़ित किसी सेठ के लड़के के पेट का भेदन करके उसको स्वस्थ किया। उस सेठ ने भी उसका धन द्वारा बहुत सत्कार किया। उसके बाद राजा की आज्ञा से उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पाण्डुरोग को घृत प्रयोग द्वारा शान्त करने के लिए पहुँचा। घृत न पीने की इच्छा वाले राजा को जब उसने कषायरूप से घृत का पान करा दिया तो उसे वमन हो गया। तब राजा के डर से पहले से ही तैयार की हुई हथिनी पर सवार हो भाग कर राजगृह लौट आया। औषधप्रयोग द्वारा वमन होने से स्वस्थ हुए राजा ने जीवक के लिए शिबिदेश (मध्य पंजाब) में होनेवाले मृगचर्म आदि की भेंट भेजी। फिर आनन्द की सूचना से रुग्ण हुए भगवान बुद्ध को जीवक ने विरेचन के प्रयोग से स्वस्थ किया। प्रद्योत और वाराणसी के राजा द्वारा दिये हुए मृगचर्म, कम्बल आदि जीवक ने भिक्षुओं के लिए भगवान् तथागत को अर्पित कर दिया।

तिब्बतीय गाथाओं के अनुसार बिम्बिसार द्वारा भुजिष्या में उत्पन्न हुए पुत्र को माता ने एक टोकरी में रखकर फेंक दिया। उस बालक का राजकुमार अभय ने पालन-पोषण किया इसलिये उसका नाम कुमारभृत (भृत्य) हो गया। वह भैषज्यविद्या का अभ्यास करके राजकुमार की आज्ञा से कपालभेदन आदि शल्यतन्त्र का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए तक्षशिला पहुँचा। वहाँ शल्यतन्त्र के परम विद्वान आत्रेय से शिक्षा ग्रहण करके शल्यतन्त्र में अत्यन्त निपुण हो गया तथा अपने गुरु आत्रेय से भी बढ़ गया। ई० पू० ४५० में लिखित बुद्धघोष कृत धम्मपद-व्याख्या में जीवक द्वारा ५०० भिक्षुओं सहित भगवान बुद्ध के भोजन तथा बुद्ध के पादव्रण की चिकित्सा

का निर्देश है। इसके अतिरिक्त सतीगुम्बजातक, संकिच्चजातक तथा चुल्ल हंसजातक आदि में भी जीवक का निर्देश है।

उसने कभी अम्बपाली नामक उद्यान में विहार बनवाकर १२५० भिक्षुओं के सहित बुद्ध को निमंत्रित करके उनका सत्कार किया। राजगृह के श्रीगुप्तपरिखा में उसने किसी स्तूप का निर्माण किया था। इस जीवक ने बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु को बुद्ध के दर्शनों के लिए प्रेरित किया था इत्यादि अन्य भी इस सम्बन्ध की बहुत सी आख्यायिकायें जातक आदि बौद्धग्रन्थों में मिलती हैं। जीवक ने अपने घर के समीप श्रीगुप्तपरिखा में एक उद्यान तथा बुद्ध का व्याख्यानचत्वर बनवाया था। गृहचत्वर, वृक्ष आदि के अवशेष—चिह्न वहाँ आज भी विद्यमान हैं।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार प्रसिद्ध जीवक नामक शल्य-वैद्य बुद्ध तथा बिम्बिसार के समकालीन ६ठी शती में हुआ सिद्ध होता है।

जीवक ने संभवतः कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, अपने अपूर्व चिकित्साकौशल से अगणित मानवों को जीवन प्रदान कर अपनी अभिधा सार्थक की।[1] संभव है, कोई ग्रन्थ लिखा भी हो जो आज उपलब्ध न हो और बौद्धधर्म के साथ-साथ पार्श्ववर्त्ती देशों में पहुँच गया हो। थाइलैंड की वैद्य-परंपरा के प्रवर्तक 'कुमारभच्च' माने जाते हैं। वह जीवक ही हो सकते हैं।

शल्यविद् जीवक ने तरुणावस्था में ही विद्याध्ययन समाप्त कर अपने कार्यकौशल से ख्याति प्राप्त कर ली। कौमारभृत्य के विशेषज्ञ जीवक इससे कुछ अधिक वय के होंगे अतः उन्हें वृद्धजीवक कहा गया।

खरनादसंहिता

खरनाद या खारनादि संहिता के उद्धरण विभिन्न टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। चक्रपाणि, विजयरक्षित, निश्चलकर, वाचस्पति, अरुणदत्त, इन्दु, हेमाद्रि तथा शिवदास सेन ने इस संहिता के वचन उद्धृत किये हैं। अष्टांगसंग्रह के व्याख्याकार इन्दु ने लिखा है कि खरनादसंहिता भट्टारहरिचन्द्रकृत सुनी जाती वह चरक की प्रतिबिम्बरूप ही है।[2] 'सुनी जाती है' इस शब्द पता चलता है कि इन्दु के काल में यह संहिता

---

१. इत्सिंग के काल (७वीं शती) में भी वह धन्वन्तरि के समान वैद्यविद्या का प्रतीक बना था। इत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरण (पृ० १३३) में लिखा है— Each man is himself the king of physicians and any one Can be Jivaka.

२. या च खरनादसंहिता भट्टारहरिचन्द्रकृता श्रूयते, सा च चरकप्रतिबिम्बरूपैव लक्ष्यते।—इन्दु, अ० सं०, क० ८।

भट्टारहरिचन्द्रकृत जानी जाती थी। केशवकृत सिद्धमन्त्र में खारनादि का मत उद्धृत है। वोपदेव ने इस ग्रन्थ की 'प्रकाश' व्याख्या में भी उसके मतों को उद्धृत किया है। संभवतः एक ही संहिता महाराष्ट्र में खारनादि और बंगाल में खरनाद के नाम से प्रसिद्ध थी। 'खरनादन्यास' नामक इसकी व्याख्या का गिलगिट में पता चला था। गोडे ने इस संहिता का काल ६५० ई० तथा व्याख्या का काल ८५० ई० निश्चित किया है।[२] किन्तु दृढबल द्वारा निर्दिष्ट (च. चि. २८।६६) होने से उसके पूर्व का प्रतीत होता है।

विश्वामित्रसंहिता

इस संहिता के उद्धरण चक्रपाणि की चरक-व्याख्या (सू० २७) और सुश्रुत-व्याख्या (सू० १४) दोनों में मिलते हैं। शिवदास ने चक्रदत्त की टीका (अर्शोधिकार) में निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया है जिससे विश्वामित्रसंहिता में द्रव्यगुण-संबन्धी उपयोगी सामग्री का अनुमान होता है :—

'श्वेतपुष्पः कृष्णपुष्पो रक्तपुष्पस्तथैव च।
पीतोऽन्योऽपि वरस्तेषु कृष्णपुष्पः प्रकीर्त्तितः॥

यह वर्णन मुष्कक का है। हेमाद्रि, निश्चलकर और डल्हण ने भी इस संहिता को उद्धृत किया है।

दारुवाह या दारुकसंहिता—जेज्जट, चक्रपाणि, अरुणदत्त और निश्चलकर ने इसे उद्धृत किया है।

भारद्वाजसंहिता (चक्र०) और अश्विनीकुमारसंहिता (चक्र०, चन्द्रट, निश्चल) के अस्तित्व का भी पता चलता है। अब तक जिन संहिताओं का वर्णन किया गया सुश्रुत को छोड़ ये सभी कायचिकित्सा प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त, अंगक्रम से निम्नांकित संहिताओं का अस्तित्व यत्र-तत्र उपलब्ध उनके उद्धरणों से प्रमाणित होता है :—

शल्य

१. औपधेनवतन्त्र
२. औरभ्रतन्त्र
३. पौष्कलावत तन्त्र
४. वैतरजतन्त्र
५. वृद्धभोजतन्त्र
६. कृतवीर्यतन्त्र
७. भोजतन्त्र
८. करवीर्यतन्त्र
९. गोपुररक्षिततन्त्र
१०. भालुकितन्त्र
११. कपिलतन्त्र
१२. गौतमतन्त्र

२. P. K. Gode : ABOI, xx, Pt I, P. 97-102; Pt IV, P. 49-62.

शालाक्य

१. विदेहतन्त्र
२. निमितन्त्र
३. कांकायनतन्त्र
४. गार्ग्यतन्त्र
५. गालवतन्त्र
६. सात्यकितन्त्र
७. भद्रशौनकतन्त्र
८. शौनकतन्त्र
९. करालतन्त्र
१०. चक्षुष्यतन्त्र
११. कृष्णात्रेयतन्त्र
१२. कात्यायनतन्त्र

कौमारभृत्य

१. वृद्धकश्यपसंहिता
२. कश्यपसंहिता (वृद्धजीवकतन्त्र)
३. पर्वतकतन्त्र
४. बन्धकतन्त्र
५. हिरण्याक्षतन्त्र
६. कुमारतन्त्र

अगंदतन्त्र

१. वृद्धकाश्यपसंहिता
२. काश्यपसंहिता
३. सनकसंहिता
४. लाव्यायनसंहिता
५. आलम्बायनसंहिता
६. उशनः संहिता
७. बृहस्पतिसंहिता
८. गरुडसंहिता

वाजीकरण

१. कुचुमारतन्त्र[1]

इस सूची से अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रत्येक अंग पर अनेक संहितायें निर्मित हुई थी और इस प्रकार एक विस्तृत वाङ्मय का विशाल कोश प्रस्तुत हुआ था। यह प्रक्रिया सौ दो सौ वर्षों की नहीं, लगभग १५०० वर्षों तक चली किन्तु उसके बाद व्यावहारिक दृष्टि से यह अनुभव किया जाने लगा कि चिकित्सकों के लिए एक ऐसी संहिता बने जिसमें सभी अंगों का सार समाहित हो। गुप्तकाल में निज तथा आतुरालयीय चिकित्सा-व्यवस्था का विस्तार होने के कारण यह आवश्यक हो गया था। इसी परिस्थिति में आठों अंगों का सार समाहृत कर वाग्भट ने युगानुरूप संहिता की रचना की जिसका नाम यथार्थतः 'अष्टांगसंग्रह' रक्खा। उसका भी थोड़ा और संक्षेप कर वाग्भट द्वितीय ने अष्टांगहृदय की रचना की। वाग्भट की शैली भविष्य के लिए आदर्श बन गई और हजारों वर्षों से आज तक इसी के समान चिकित्सकोपयोगी संहिताओं का निर्माण होता रहा। इस क्रान्तिकारी पदन्यास के कारण वाग्भट बृहत्त्रयी में स्थान पा गये और उनकी संहिता अत्यन्त लोकप्रिय हुई। चरक, सुश्रुत और

---

१. देखें :—उपोद्घात पं० हरिशास्त्री पराड़करकृत, अष्टांगहृदय
" पं० गणनाथ सेन, प्रत्यक्षशारीरम्
" पं० हरिप्रपन्न शर्मा, रसयोगसागर

वाग्भट यही तीन संहितायें प्रचलन में रहीं[1] और शेष संहितायें उपयोग में न आने के कारण क्रमशः कालकवलित हो गई।

वाग्भट

भारतीय वाङ्मय में अनेक वाग्भटों का अस्तित्व है किन्तु आयुर्वेद के क्षेत्र में निम्नांकित चार वाग्भट विदित हैं :—

१. वृद्धवाग्भट २. मध्यवाग्भट
३. लघुवाग्भट ४. रसवाग्भट[2]

इनमें मध्यवाग्भट का उल्लेख एक-दो ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता यद्यपि इसका अस्तित्व उद्धरणों के आधार पर सिद्ध होता है। निश्चलकर ने चक्रदत्त की रत्नप्रभा व्याख्या में इसके अनेक वचन उद्धृत किये हैं। रसवाग्भट अर्थात् रसरत्नसमुच्चय के कर्त्ता वाग्भटनामधारी आचार्य का वर्णन रसशास्त्र-प्रकरण में किया जायगा। अतः इस प्रकरण में वृद्ध वाग्भट तथा लघु वाग्भट इन दो का विचार किया जायगा।

वृद्ध वाग्भट या वाग्भट प्रथम

अष्टांगसंग्रह के रचयिता वृद्ध वाग्भट या वाग्भट प्रथम नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अनेक प्राचीन संहिताओं का आधार लेकर युगानुरूप ग्रन्थ बनाया। प्राचीन संहितायें एक-एक अंग का मुख्यतः प्रतिपादन करती थीं जिससे सब व्याधियों की चिकित्सा का ज्ञान किसी एक संहिता के पढ़ने से साध्य नहीं था। समय को देखते हुये सभी संहिताओं का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त, विषय भी सम्यक् रूप से व्यवस्थित नहीं होने तथा एक ही बात प्रत्येक संहिता में बार-बार आने से व्यर्थ समय लगता था। तन्त्रकारों के परस्पर वैमत्य के कारण पाठक के मन में भ्रान्ति भी होती थी। अतः इन दोषों का परिहार करते हुए चिकित्सोपयोगी एक ऐसी संहिता की आवश्यकता थी जिससे सब अंगों का व्यावहारिक ज्ञान अल्पतम समय में सुविधा से प्राप्त हो सके। इस आवश्यकता की पूर्त्ति वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह की रचना द्वारा की।[3]

दूसरी और सबसे महत्वपूर्ण विशेषता वाग्भट-कृति की यह है कि आर्ष संहिताओं

---

१. चरकः सुश्रुतश्चैव वाग्भटश्च तथापरः।
मुख्याश्च संहिता वाच्यास्तिस्र एव युगे युगे॥
अत्रिः कृतयुगे वैद्यो द्वापरे सुश्रुतो मतः।
कलौ वाग्भटनामा च गरिमात्र प्रदृश्यते॥—हारीतसंहिता

२. कुछ लोग इन चारों को एक ही व्यक्ति की कृतियाँ मानते हैं।

३. तेषामेकैकमव्यापि समस्तव्याधिसाधने।
प्रतितन्त्राभियोगे तु पुरुषायुषसंक्षयः। भवत्यध्ययनेनैव यस्मात् प्रोक्तः पुनः पुनः

की तुलना में इसने सामान्य मानवीय कृतियों के महत्व की ओर लोक का ध्यान आकृष्ट किया। इसके पूर्व लोग प्राचीन आर्ष संहिताओं को ही प्रमाण मानते थे और किसी लौकिक समसामयिक विद्वान की श्रेष्ठ कृति को भी अनार्ष कहकर तिरस्कृत कर दिया जाता था। गुप्तकाल में मानवीय मूल्यों का पुनरुत्थान हुआ जिसकी झलक कालिदास के 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' में मिलती है। वाग्भट भी युगधर्म में पीछे नहीं रहे और मानवीय कृतियों के महत्व का जयघोष किया¹। लोकपंक्ति (लोक) पर चलनेवाले लोग पुरानी वस्तु का अन्धानुसरण करते हैं जब कि विद्वान्

तन्त्रकारैः स एवार्थः क्वचित् कश्चिद् विशेषतः।
तेऽर्थप्रत्यायनपराः वचने यत्र नादृताः॥
सर्वतन्त्राण्यतः प्रायः संहृत्याष्टाङ्गसंग्रहः।
अस्थानविस्तराक्षेपपुनरुक्त्यादिवर्जितः॥
हेतुलिङ्गौषधस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः।
विनिगूढार्थतत्त्वानां प्रदेशानां प्रकाशकः॥
स्वान्यतन्त्रविरोधानां भूयिष्ठं विनिवर्त्तकः।
युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते॥
नित्योपयोगेऽदुर्बोधं सर्वाङ्गव्यापि भावतः।
संगृहीतं विशेषेण यत्र कायचिकित्सितम्॥
न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम्।
तेऽर्थाः स ग्रंथबन्धश्च संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा॥—सू० १।१५-२२
पूर्वोक्तमेव वदता किमिवोदितं स्याच्छ्रद्धालुतुष्टिजननं न भवत्यपूर्वम्।
संक्षिप्तसंशयितविस्तृतविप्रकीर्णः कृत्स्नोऽर्थराशिरिति साधु स एव दृष्टः॥
आयुर्वेदोदधेः पारमपारस्य प्रयाति कः। विश्वव्याध्यौषधिज्ञानसारस्त्वेष समुच्चितः॥
—उत्तर० ५०।१३४-१३५

१. स्मृत्वेदमुदितं पूर्वं श्रुत्वेदानीं द्वयोः पुनः।
स्मर्तुः श्रोतुश्च सुतरांश्रद्धातुं कस्य युज्यते॥
अथवा श्रुतमप्येतत् स्मर्तुरेव क्रमागतम्।
अभिधातृविशेषेण किं तथापि प्रयोजनम्॥
ऊर्ध्वमेति मदनं त्रिवृताधो वस्तुमात्रक इति प्रतिपाद्ये।
मद्विधो यदि वदेदथवात्रिः कथ्यतां क इह कर्मणि भेदः॥
साध्वसाध्विति विवेकवियुक्तो लोकपंक्तिकृतभक्तिविशेषः।
बालिशो भवति नो खलु विद्वान् सूक्त एव रमते मतिरस्य॥
—उत्तर० ५०।१३६-१३९

रूढ़ि की आसक्ति से मुक्त होकर विवेक द्वारा सुभाषित का समादर करता है। वाग्भट द्वितीय ने इसी बात का समर्थन किया है।[१]

वाग्भट ने अपना परिचय ग्रन्थ के अन्त में दिया है जिससे पता चलता है कि वह सिन्धु में जन्मे थे; उनके पितामह का नाम भी वाग्भट था और पिता सिंहगुप्त थे। इनके गुरु का नाम अवलोकित था किन्तु इन्होंने आयुर्वेद का विशेष ज्ञान अपने पिता से प्राप्त किया[२]। इनके पितामह भी भिषग्वर थे इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद उनकी कुलक्रमागत विद्या थी।

वाग्भट को कुछ लोग बौद्धधर्मानुयायी और कुछ विद्वान वैदिकधर्मानुयायी मानते हैं। संभवतः वह ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने के कारण मूलतः वैदिक धर्मानुयायी हों किन्तु बौद्ध गुरु का शिष्य होने के बाद वह बौद्ध हो गये हों। बौद्धधर्म के साथ-साथ ब्राह्मणधर्म के प्रचलित तथ्यों को अपनी रचना में स्थान दिया। तत्कालीन धार्मिक जगत् की सहिष्णुता तथा सहअस्तित्व-भावना प्रसिद्ध है। ग्रन्थारम्भ में बुद्ध को नमस्कार, सोने के पूर्व शास्ता को स्मरण करने का विधान तथा बौद्ध तथ्यों की बहुलता से अधिक संभावना है कि वह बौद्ध थे।

काल

वाग्भट के काल के संबन्ध में अनेक मत-मतान्तर हैं उन सबका उल्लेख न कर कालनिर्णय के आधार और निष्कर्ष की चर्चा करेंगे।[3]

बाह्य साक्ष्य

डल्हण, अरुणदत्त (१२वीं शती), इन्दु, विजयरक्षित, हेमाद्रि, श्रीकण्ठदत्त और निश्चलकर (१३वीं शती) ने वृद्ध वाग्भट तथा वाग्भट दोनों का उल्लेख किया है। चक्रपाणि (११वीं शती) तथा जेजट (९वीं शती) ने केवल वाग्भट द्वितीय का उल्लेख किया है। वृन्दमाधव (९वीं शती) ने वाग्भट को उद्धृत किया है[४] तथा उसके अनेक औषधयोगों का भी उल्लेख किया है। जेज्जट

---

१. अष्टांगहृदय, उत्तर० ४०।८५–८७

२. भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य।
सुतोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा॥
समधिगम्य गुरोरवलोकितात् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया।
सुबहुभेषजशास्त्रविलोचनात् सुविहितोऽङ्गविभागविनिर्णयः॥
—अ० सं० उत्तर० ५०।१३२–१३३

३. वाग्भट-संबंधी विस्तृत सर्वांगीण विवेचन के लिए लेखक का ग्रंथ 'वाग्भट विवेचन' देखें।

४. सद्योभुक्तस्य सञ्जाते ज्वरे सामे विशेषतः।
वमनं वमनार्हस्य शस्तमित्याह वाग्भटः॥—वृ० मा० ज्वराधिकार, श्लो० २०

संभवतः वाग्भट को उद्धृत करनेवाला प्रथम व्यक्ति है। वाग्भट के तिब्बती एवं अरबी अनुवाद आठवीं शती में हो चुके थे। फिर माधवनिदान ने जिसका ८वीं शती में अरबी में अनुवाद हुआ है, अष्टांगहृदय के श्लोक ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं। चीनी यात्री इत्सिंग (६७१–६९५ ई०) ने अपने यात्रा-विवरण में स्पष्टतः लिखा है कि हाल ही एक व्यक्ति ने आठों अंगों का संग्रह (Epitome) बनाया है जो समस्त भारत में प्रचलित है। पठन-पाठन में सर्वदा हृदय का ही प्रचार रहा, अतः स्पष्ट है कि इत्सिंग का विवरण अष्टांगहृदय से ही सम्बन्ध रखता है और यह पता चलता है कि उस काल तक यह ग्रंथ सारे भारत में फैल चुका था।[1]। अन्त में वराहमिहिर (५०५–५८० ई०) आता है जिसने वाग्भट के रसायन-योगों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी बातें ली है। इसी प्रकार ज्योतिष-सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में वाग्भट वराहमिहिर से प्रभावित हैं। ऐसा लगता है कि वराहमिहिर ने सबके अंत में बृहत्संहिता लिखी और तब तक वह सम्भवतः वाग्भट के सम्पर्क में आ चुका था। इस प्रकार वराहमिहिर का काल (५०५–५८७ ई०) वाग्भट के काल की निम्नतम सीमा मानी जा सकती है।

जहाँ तक उच्चतम सीमा का प्रश्न है, वाग्भट ने चरक और सुश्रुत का उल्लेख किया है और उनके विचारों को उद्धृत किया है। यह कहना कठिन है कि वाग्भट के समक्ष चरक और सुश्रुत का मूल रूप था या प्रतिसंस्कृत किन्तु सम्भावना है कि चरक का दृढबल द्वारा प्रतिसंस्कार सम्भवतः तब तक नहीं हुआ था क्योंकि यदि होता तो वाग्भट दृढबल का नाम अवश्य लेता किन्तु कहीं भी दृढबल का निर्देश नहीं आया है। ऐसा लगता है कि दृढबल वाग्भट प्रथम का लगभग समकालीन या कुछ ही पूर्व था जिसकी रचना का उपयोग वाग्भट प्रथम ने नहीं, वाग्भट द्वितीय ने किया। सुश्रुत के सम्बन्ध में ऐसा अनुमान है कि उसका प्रतिसंस्कर्ता या तो वाग्भट के समकालीन था या उसके बाद का क्योंकि उसके विचार बहुत परवर्ती हैं और अनेक विषय तो वाग्भट की अपेक्षा भी परिमार्जित हैं। अनुमान यह है कि कम से कम एक प्रतिसंस्कार वाग्भट के बाद अवश्य हुआ है। ऐसा सुना जाता है कि तीसटपुत्र चन्द्रट (१०वीं शती) ने जेज्जट की टीका के आधार पर सुश्रुत की

---

१. अभी भी पुस्तकालयों में अधिकांश हस्तलिखित ग्रन्थ अष्टांगहृदय के ही हैं। मद्रास राजकीय प्राच्य ग्रन्थागार में १२ पाण्डुलिपियाँ अष्टांगहृदय की हैं और केवल २ अष्टांगसंग्रह की हैं। ऐडियार पुस्तकालय में ६ पाण्डुलिपियाँ केवल अष्टांगहृदय की ही हैं। हृदय की शशिलेखा-व्याख्या (इन्दुकृत) वहीं हैं। इसी प्रकार सरस्वतीभवन, वाराणसी में ११ पाण्डुलिपियाँ केवल हृदय की हैं। व्याख्यायें भी हृदय की लगभग ३४ हैं, संग्रह की २-२ मात्र।

पाठशुद्धि की।[1] यह भी एक प्रतिसंस्कार ही था। यदि यह सत्य है तो यह मानना होगा कि सुश्रुत का वर्तमान रूप १०वीं शती में निर्धारित हुआ है। एक प्रतिसंस्कार तो दोनों का पहले ही हो चुका था। डा० हार्नले का मत है कि ७वीं शती में यह काम पूरा हो गया था[2]। वाग्भट के समक्ष सम्भवतः संहिताओं का यही प्रतिसंस्कृत रूप था। नावनीतक के अनेक योग वाग्भट में मिलते हैं। नावनीतक का काल २री शती निश्चित किया गया है[3]। किन्तु इसमें चरक का नाम नहीं आता इससे अनुमान होता है कि यह चरक के पूर्व वृद्धसुश्रुत और अग्निवेशतन्त्र पर आधारित ग्रन्थ है। जो भी हो, वाग्भट में चरक-सुश्रुत का तो उल्लेख है ही और यदि हार्नले के अनुसार इसका काल २री शती मानें तो यह वाग्भट के काल की उच्चतम सीमा ठहरती है। इस प्रकार वाह्य साक्ष्य के आधार वाग्भट का काल २री शती और ६ठीं शती के बीच में ठहरता है।

आभ्यन्तर साक्ष्य

१. भाषा एवं शैली—वाग्भट में अनेक गुप्तकालीन शब्द मिलते हैं। शैली भी गद्य-पद्यमय और हृदय से प्राचीन मालूम पड़ती है। छन्दोवैविध्य भी अधिक है जिसका पूर्ण विकास वराहमिहिर की वृहत्संहिता में मिलता है। कालिदास (४-५वीं शती), विशाखदत्त (५वीं शती), भट्टि (५वीं शती) और शूद्रक (६ठी शती) का स्पष्ट प्रभाव वाग्भट पर दृष्टिगोचर होता है। शूद्रक के "लिम्पतीव तमोंगानि वर्षतीवांजनं नभः" की स्पष्ट छाया वाग्भट में मिलती है। सुवन्धु (७वीं शती), वाणभट्ट (७वीं शती), दण्डी (७वीं शती) और माघ (७वीं शती), वाग्भट के परवर्ती हैं क्योंकि इनकी शैली अधिक आलंकारिक है। भारवि (६ठी शती) वाग्भट के समकालीन होंगे। अष्टांगहृदय भारवि के बाद की रचना है। इस पर किरातार्जुनीय की आलंकारिक छाया स्पष्ट दिखती है।

२. भौगोलिक स्थिति—पर्वतों, नदियों, तीर्थों, संगमों का जो उल्लेख वाग्भट में हुआ है वह कालिदास के वर्णनों से मिलता-जुलता है। कालमान कौटिल्य के आधार पर दिया है। कौटिल्य के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु ३०० ई० समुचित प्रतीत होता है[4]।

३. राजनैतिक स्थिति—किसी सम्राट् का शासन था। विजिगीषा प्रबल थी।

---

१. चिकित्साकालिकाटीकां योगरत्नसमुच्चयम्।
सुश्रुते पाठशुद्धिं च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात्।—चन्द्रट : चिकित्साकलिका-व्याख्या
२. Hoernle—osteology, Introduction, page 5.
३. Bower Manuscript, Introduction, Ch–VI, LXI.
४. Winternitz : A history of Indian literature, Vol-III, Part II. 593.

प्रतिदिन युद्ध में हजारों आदमी मारे जाते थे और दूसरे राज्यों पर अधिकार किया जाता था। राजा पर मंत्री और गुरु का अंकुश रहता था। पुरोहित मंत्री और गुरु नीति और अर्थशास्त्र के वेत्ता तथा गुरु अथर्वविद् होते थे।[1] तत्कालीन स्थिति पर अथर्वपरिशिष्ट तथा कामन्दकीय नीति का गम्भीर प्रभाव था। अथर्वपरिशिष्टोक्त अनेक विधियाँ वाग्भट और वराहमिहिर में मिलती है। मेरा अनुमान है कि अथर्वपरिशिष्ट की रचना उसके कुछ ही पूर्व हुई होगी और वह ग्रन्थ उस समय लोकप्रिय होगा। कामन्दकीय नीतिसार के काल के सम्बन्ध में मतभेद है। डॉ० जायसवाल का मत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रधान मन्त्री शिखरस्वामी ने राजनीति पर कोई ग्रन्थ लिखा था[2]। दूसरे लोग इसे ७वीं या ८वीं शती की रचना मानते हैं और कुछ लोग वराहमिहिर का समकालीन मानते हैं[3]। कामन्दकीय नीति की छाया वाग्भट पर स्पष्ट रूप से मिलती है अतः कामन्दकीय नीति का काल वराहमिहिर के समकालीन ही मानना चाहिये। शुक्रनीति को पहले लोग गुप्तकालीन रचना मानते थे अब इसे अत्याधुनिक १८-१९वीं शती की रचना मानते हैं। एक विचित्र बात यह हैं कि अष्टांगहृदय के सद्वृत्त-प्रकरण के लगभग ५० श्लोक अविकल रूप में शुक्रनीति में मिलते हैं। यदि उसे १८ वीं शती की रचना मानें तो इसकी व्याख्या कैसे की जा सकेगी? नीति का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ एक वैद्यक ग्रन्थ से उद्धरण क्यों लेगा और फिर हजार वर्षों के व्यवधान के बाद? अतः यह स्पष्ट है कि मूल शुक्रनीति की रचना अष्टांगहृदय के पूर्व हुई है और इसमें शुक्रनीति से वह विषय ज्यों का त्यों लिया है। हेमाद्रि के समकालीन मिथिलेश हरिसिंहदेव के सान्धिविग्रहिक चण्डेश्वर (१३०४ ई०) के ग्रन्थ 'राजनीतिरत्नाकर' में भी शुक्रनीति का उद्धरण है[4]। अतः मूल शुक्रनीति ७वीं शती के बाद का नहीं हो सकता। सम्प्रति जो शुक्रनीति का ग्रन्थ मिल रहा है वह अवश्य अत्याधुनिक प्रतीत होता है[5] वाग्भट ने विषकन्या का उल्लेख किया है जिसका आधार कौटिल्य और विशाखदत्त हो सकते हैं।

१. पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम्। दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा॥
या० स्मृ० १।३१२

समाहितांगप्रत्यंगं विद्यासारगुणान्वितम्।
पैप्पलादं गुरुं कुर्यात् श्रीराष्ट्रारोग्यवर्धनम्॥—अ० प० २।३।५

२. K. P. Jaisawal : J. B. O. R. S., 1932. Pages 37-39,

३. कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५४८

४. K. P, Jaisawal : J. B. O. R. S, 1936

५. Lallanji Gopal : Date of Sukraniti, Modern Review, May-June '63.

वाग्भट ने हीन और अनार्य राजा की सेवा का निषेध किया है। सिंध में उस समय कोई शूद्र राजा राज्य करता था। सम्भवतः यशोधर्मा की विजय के बाद वाग्भट सिन्धु छोड़कर उज्जयिनी चला आया। यशोधर्मा ने ५३३ ई० में हूणों को परास्त कर विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की और उज्जयिनी में ५३३ ई० से ५८३ ई० तक राज्य किया[1]। वराहमिहिर और वाग्भट सम्भवतः इसी विक्रमादित्य के काल में थे। इस प्रकार ज्योतिर्विदाभरण (१६ वीं शती) के अनुसार विक्रमादित्य के नवरत्न में वराहमिहिर आ जाते हैं तो क्या नवरत्न के धन्वन्तरि वाग्भट ही थे[2] ? यह विचारणीय है।

सामाजिक परिस्थिति—तत्कालीन समाज की जीवनचर्या पुराणों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों द्वारा परिचालित थी और नागरक कामसूत्रोक्त विधानों के अनुसार अपना कार्यक्रम बनाता था। एक ओर धर्मप्राण जनता त्याग और मोक्ष की ओर जा रही थी तो दूसरी ओर वैभवसम्पन्न समाज भोगविलास की ओर बढ़ रहा था। एक को स्मृतियाँ पथप्रदर्शन कर रही थीं और दूसरे को कामसूत्र उत्साहित कर रहा था। त्याग और भोग का अपूर्व समन्वय गुप्तकाल की विशेषता है। कालिदास के काव्य इसी के सन्देशवाहक हैं। वाग्भट पर याज्ञवल्क्यस्मृति (३०० ई०) और विष्णुस्मृति[3] (३०० ई०) की पूरी छाप है। कामसूत्र[4] (४०० ई०) अनेक विषय उसमें मिलते हैं।

धार्मिक परिस्थिति—समाज पर श्रौतसूत्रों, धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों का प्रभाव था जिनके अनुसार यज्ञ-याग, विधि-विधान, संस्कार आदि होते थे। शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य एवं गणेश इन पाँच देवताओं की पूजा लोक में प्रचलित थी। सूर्यकी पूजा का बहुत प्रचार था। उज्जयिनी में सूर्यपूजक बहुत थे[5]। संभवतः विक्रमादित्य ने जब इसे दूसरी राजधानी बनायी होगी तो मगध से बहुसंख्यक सूर्यपूजक वहाँ जाकर बसे होंगे जिन्होंने इसका प्रचार किया होगा। कार्तिकेय की पूजा का भी प्रचार था। वाग्भट में विशेषता यह है कि वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म का अद्भुत समन्वय किया है। यह छठी शती की विशेषता है जो आगे

---

१. गौरीशंकर चटर्जी : हर्षवर्धन पृ० ८९ (हार्नले और राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार) Stein : Kalhan's Raj Tarangini Vol. I, Int : Page 83

२. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥
और देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु, विज्ञापन, पृ० ९

३. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, प्राक्कथन पृ० १४

४. Winternitz : A History of Indian Literature Vol. III, II, 624

५. दिवसेनेव मित्रानुवर्तिना (उज्जयिनीवर्णन) का० पू० पृ० १५९

चलकर वर्धनकुल में प्रतिफलित हुई है। मायूरी, महामायूरी आदि विद्याओं का प्रयोग हुआ है जो नावनीतक (२०० ई०) में तथा आगे चलकर हर्षचरित (६५० ई०) में मिलती हैं। अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ गुप्तकाल से अधिकाधिक मिलना प्रारम्भ हो गई थीं। अन्य मूर्तियों का प्रचार भी कालक्रम से होता गया होगा। असंग (३री शती) से बौद्धतन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ और इन्द्रभूति (८वीं शती) तक पूर्ण पल्लवित हुआ। इस बीच में इसकी धारा का क्रमिक विकास होता गया। विभिन्न तान्त्रिक देवी-देवता और उनके मंत्रों का अनुसन्धान हुआ। यह प्रारंभिक स्थिति मन्त्रयान की ही थी, वस्तुतः वज्रयान का प्रारंभ इन्द्रभूति के बाद माना जाता है। वाग्भट में मन्त्रयान का ही रूप मिलता है, वज्रयान का नहीं। मन्त्रों के रूप में प्राचीन धारणियों के पाठ का विधान किया गया है। किन्तु मन्त्र के साथ तन्त्र शब्द का प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि तन्त्र भी विकासमान अवस्था में था। अञ्जन, पादलेप, रस-रसायन आदि आठ बौद्ध सिद्धियाँ मानी गई हैं। इनमें पादलेप, अञ्जन और रस-रसायन का प्रयोग वाग्भट में मिलता है। सर्वार्थसिद्ध अञ्जन का उल्लेख वाग्भट ने ही किया है जिसका निर्देश वाणभट्ट की रचनाओं में मिलता है।

मूर्तियों की भुजाओं के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कालक्रम से भुजाओं की संख्या बढ़ती गई है। कार्तिकेय की भी पहले दो हाथ, फिर चार हाथ और फिर बारह हाथों की मूर्तियाँ बनने लगीं। निम्नांकित श्लोक भी इस क्रमिक विकासशील अवस्था का द्योतक है—

कमण्डलोदकर्णाभं कुमारं सुकुमारकम्।
गण्डकैश्चिकुरैर्युक्तं मूयरवरवाहनम्॥
स्थानीये खेटनगरे भुजा द्वादश कल्पयेत्।
चतुर्भुजः खर्वटे स्याद् वने ग्रामे द्विबाहुकः॥[1]

पटना संग्रहालय में दो मूर्तियाँ बारह हाथों की हैं एक सप्ताचर की और दूसरी किसी देवी की। ये दोनों मूर्तियाँ ८वीं शती की बतलाई जाती हैं[2] किन्तु महाभारत के

१. सूत्रधारमण्डनः देवतामूर्तिप्रकरणं रूपमण्डनं च।
(Calcutta Sanskrit Series XII) ८।३७–३८
२. Patna Museum Catalogue–Antiquities, 1965, N0. 6500, 6505
इस सूचना के लिए मैं डा० एच० के० प्रसाद, असिस्टेण्ट क्यूरेटर, पटना म्यूजियम का आभारी हूँ।
षोडशभुज गणेश की एक मूर्ति (९ वीं शती) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत-कलाभवन (नं० २००७४) में है।

वर्णन से प्रतीत होता है कि कुछ पहले से ही ऐसी मूर्तियाँ बनना प्रारम्भ हो गया होगा अतः वाग्भट के काल (६ठी शती) में उनका होना असम्भव नहीं है।

काल की दृष्टि से संस्कारों में दो महत्त्वपूर्ण हैं एक षष्ठीपूजन और दूसरा कर्णवेध। षष्ठी-पूजा का प्रचार गुप्तकाल से ही हुआ है।[1] कर्णवेध संस्कार भी अर्वाचीन स्मृतियों में ही मिलता है।[2]। वाग्भट में ये दोनों मिलते हैं जो उसके गुप्तकालीन होने की सूचना देते हैं।

शिक्षापद्धति—शास्त्रचर्चा के क्षेत्र में गुप्तकाल की दो विशेष प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं—एक आर्ष की तुलना में मानव के महत्त्व को स्थापित करना और दूसरे विशाल वाङ्मय का संग्रह। ये प्रवृत्तियाँ गुप्तकालीन प्रायः सभी लेखकों में मिलती हैं। वाग्भट में ये भी प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं।

धातुओं की भस्म तो पहले भी बनती थी किन्तु उसकी संज्ञा चूर्ण थी किन्तु अब उसमें स्पष्ट विकास-परम्परा लक्षित होती है। रसशास्त्र की भूमिका प्रस्तुत हो रही थी। पारद का प्रयोग होने लगा था, गन्धक भी प्रयोग में आ गया था। बाद में दोनों का संयोग होने पर रसशास्त्र का अवतरण हुआ। यह कार्य वस्तुतः हृदयोत्तर काल में तान्त्रिक सम्प्रदाय के द्वारा हुआ। पाल राजाओं के संरक्षण में विक्रमशिला विश्वविद्यालय उस काल में तान्त्रिक साधना का सर्वोत्तम केन्द्र था। सम्भवतः रस-शास्त्र का प्रारंभिक और मध्यम विकास वहीं हुआ होगा।

आयुर्वेद की शिक्षा विश्वविद्यालय और परम्परागत दोनों रूप में होती थी। विद्यार्थियों में एक सामान्य शिक्षणक्रम था जिसमें आयुर्वेद एक अनिवार्य विषय था और दूसरा विशिष्ट पाठ्यक्रम था जिसमें आयुर्वेद की विशिष्ट शिक्षा दी जाती थी। इसी प्रकार परम्परागत भी दो प्रकार का था। एक कुल-परम्परा से और दूसरा गुरु-परम्परा से। कुछ लोगों की यह कुल-परम्परागत विद्या थी और कुछ लोग गुरु के पास रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। वाग्भट ने अपना गुरु तो अवलोकित को बनाया था किन्तु अधिकांश शिक्षा अपने पिता से ही प्राप्त की थी। सिंहगुप्त एक विद्वान् और विख्यात वैद्य थे। उनके नाम से एक योग भी प्रचलित है।[3] बाणभट्ट ने लिखा है कि प्रभाकरवर्धन का वैद्य रसायन नाम का था जो अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता था। मेरा अनुमान है कि उस समय अष्टांग का पठन-पाठन संग्रह और हृदय के द्वारा प्रारम्भ हो गया था। मेरा तो ऐसा भी विचार है कि वैद्य अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता हो यह मान्यता वाग्भट के द्वारा ही प्रचारित हुई। इसी प्रकार समाज पर ज्योतिष का प्रभाव भी गुप्तकाल की ही देन है।

१. अत्रिदेवः अष्टांगसंग्रह-टीका, उ० ११२६; काश्यपसंहिता—पृ० १४५।
२. काणेः धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १७८।
३. नाम्ना खदिरवटिका कथितेयं सिंहगुप्तेन—गदनिग्रह, भाग १, पृ० २३२

वाग्भट के द्वारा गुग्गुलु का मेदोरोग में प्रयोग तथा उसके क्लैब्य आदि उपद्रवों का वर्णन भी गुप्तकालीन स्थिति का द्योतक है जो कि तत्कालीन साहित्य से प्रमाणित होता है[1]।

राजभवन, सूतिकागार आदि का वर्णन भी गुप्तकालीन ही है। अग्रवाल का कथन है कि बाणभट्ट ने सम्भवतः सर्वप्रथम चारणों का उल्लेख किया है किन्तु वाग्भट में कथकचारण-संघ का निर्देश उपलब्ध होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वाग्भट बाणभट्ट का पूर्ववर्ती है अतः यदि प्रथम उल्लेख की बात हो तो यह वाग्भट का होना चाहिए।

इस प्रकार आभ्यन्तर साक्ष्य से कामसूत्र (४०० ई०) और वराहमिहिर (६ठीं शती) के बीच वाग्भट का काल ठहरता है।

सारांश

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर साक्ष्यों पर विचार करने से वाग्भट का काल कामसूत्र (४०० ई०) तथा वराहमिहिर (५०५-५८७ ई०) के बीच आता है। चूँकि वाग्भट और वराहमिहिर में परस्पर आदान-प्रदान है, वाग्भट प्रथम का काल ५५० ई० मानना चाहिए।

अष्टांगसंग्रह का विषय-विभाग

अष्टांगसंग्रह की विषयवस्तु निम्नांकित रूप से छः स्थानों तथा १५० अध्यायों में व्यवस्थित है[2] :—

१. सूत्रस्थान	—	४० अध्याय
२. शारीरस्थान	—	१२ अध्याय
३. निदानस्थान	—	१६ अध्याय
४. चिकित्सास्थान	—	२४ अध्याय
५. कल्पस्थान	—	८ अध्याय
६. उत्तरस्थान	—	५० अध्याय
		१५० अध्याय

१. चतुर्भाणि (पादताडितक)—पृ० २०८–२०९।
२. पञ्चाशदध्यायशतं षड्भिः स्थानैः समीरितम्।
देखें—सू० १।५०–६६

वर्ण्य विषय की दृष्टि से विभिन्न स्थानों में विषयों का क्रम इसी प्रकार है:—

	अध्याय	विषय
सूत्रस्थान	३–११	स्वस्थवृत्त
	१२–१८	द्रव्यगुण
	१९–२०	दोषधातुमल-विज्ञान
	२१–२२	रोगविज्ञान
	२३–४०	चिकित्साविधियाँ (पञ्चकर्म आदि)
शारीरस्थान	१–८	शरीरविज्ञान
	९–१२	अरिष्टविज्ञान
निदानस्थान	१–१६	रोगनिदान
चिकित्सितस्थान	१–२४	कायचिकित्सा
कल्पस्थान	१–७	पञ्चकर्म-कल्प
	८	परिभाषा
उत्तरस्थान	१–६	कौमारभृत्य
	७–८	भूतविद्या
	९–१०	मानसरोग
	११–२८	शालाक्य
	२९–३५	शल्य
	३६–३७	क्षुद्ररोग
	३८–३९	गुह्यरोग
	४०–४८	अगदतन्त्र
	४९	रसायन
	५०	वाजीकरण

इस प्रकार वाग्भट ने विषयों को वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित करने की पूर्ण चेष्टा की है।

शास्त्रीय विशेषतायें

चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं का अनुसरण करने पर भी अष्टांग-संग्रह में अनेक मौलिक तथ्य हैं। इनमें से कुछ प्रमुख तथ्यों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :—

१. धातुओं की वृद्धि के लक्षणों का सामञ्जस्य दोषलक्षणों के साथ स्थापित किया गया है यथा रसवृद्धि में श्लेष्मविकार, रक्तवृद्धि में पित्तविकार आदि। इसका कारण यह है कि वाग्भट धातुओं में विशिष्ट दोषों की उपस्थिति मानते हैं।

यथा अस्थि में वायु, रक्त और स्वेद में पित्त तथा शेष में श्लेष्मा। वाग्भट के मत में दोषों के क्षय और वृद्धि की उपलब्धि क्रमशः विपरीत गुणों की वृद्धि और क्षय से होती है और मलों की वृद्धि तथा क्षय का परिज्ञान उनके अतिसंग और उत्सर्ग से होता है (सू० ११।६; १२–१३)। उसने यह भी विचार प्रस्तुत किया है कि धात्वग्नि की मन्दता एवं तीक्ष्णता से क्रमशः धातुओं की वृद्धि एवं क्षय होगा (सू० ११।१६-१७)। जिस प्रकार सुश्रुत ने पित्त (अग्नि) के पाँच भेदों का नामकरण किया उसी प्रकार वाग्भट ने कफ के पाँच भेदों के नाम निर्धारित किये।

२. द्रव्य-विज्ञान के प्रकरण में औषध का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से विस्तार-पूर्वक किया गया है (सू० १२।३-१०)। हिंगु वोष्काण देश की श्रेष्ठ मानी गई है (सू० १२।६७)। अग्र्यप्रकरण में अनेक नये द्रव्यों को प्रस्तुत किया है यथा—

वासा	—	रक्तपित्त में
कण्टकारी	—	कास में
लाक्षा	—	सद्यःक्षत में
नागबला	—	क्षयक्षत में
हरिद्रा	—	प्रमेह में
लशुन	—	गुल्म तथा वातविकार में
त्रिफला	—	तिमिर में
लाजा	—	छर्दि में
चित्रक और भल्लातक	—	शुष्कार्श में
कुटज	—	रक्तार्श में
एरण्डतैल	—	वर्ध्म, गुल्म, वातविकार, शूल में
अयोरज(लौहभस्म)	—	पाण्डुरोग में
गुग्गुलु	—	मेदोरोग एवं वातविकार में

गुग्गुलु रसायन होने पर भी इसके अतिसेवन से क्लैब्य आदि दोष उत्पन्न होते हैं इसका उल्लेख सर्वप्रथम वाग्भट ने ही किया (उ० ४९।१७८)।

गणों के प्रकरण में पञ्चकोल, त्रिजात-चतुर्जात के उल्लेख के अतिरिक्त, सुश्रुतोक्त पाँच पञ्चमूलों में दो (मध्यम और जीवनीय) जोड़कर सात पञ्चमूलों का वर्णन किया। वत्सकादि गण नया जोड़ा है, प्राचीन कुछ गणों को छोड़ दिया है और कुछ के नाम में परिवर्तन कर दिया है यथा असनादि और पद्मकादि। विरेचन के लिए कम्पिल्लक की त्वचा का प्रयोग लिखा है (सू० ३९।३)। संभव है यह लिपिदोष के कारण ऐसा हो अन्यथा इसकी वास्तविकता परीक्षणीय है।

३. कालविभाग में ऋतुसन्धि का उल्लेख किया गया है जिसमें प्रायः रोग प्रादुर्भूत होते हैं।

४. इक्षुवर्ग में काश, शर और दर्भ के पत्र से उत्पन्न शर्करा का उल्लेख है (सू० ६।८९)। मद्यवर्ग में द्राक्षासव का संभवतः प्रथम उल्लेख है। कृतान्नवर्ग में दकलावणिक, घारिका, इण्डरिका आदि नवीन कल्पों का वर्णन है।

५. सविष अन्न की परीक्षा के लिए स्वरूप-परीक्षण, अग्नि-परीक्षण तथा जान्तव परीक्षण इन तीनों का विशद वर्णन किया गया है। सर्वार्थसिद्ध अञ्जन का वर्णन नितान्त मौलिक है (सू० ८।९१) जिसका उल्लेख बाणभट्ट ने भी हर्षचरित और कादम्बरी में किया है।

६. आहार और औषध के पाचनकाल के संबन्ध में यह लिखा गया है कि प्रबल अग्नि रहने पर भोजन का पाचन चार याम (१२ घंटे) में तथा औषध का दो याम में होता है (सू० ११।६१)।

७. रोगविज्ञान के प्रकरण में, रोगों का वर्गीकरण विस्तार से किया गया है (सू० २२।३-९)। रोगपरीक्षा के लिए आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, प्रश्न और अनुमान ये चार साधन बताये हैं (सू०.२२।१७)।

८. ज्वरप्रकरण में, प्रलेपक, वातबलासक के साथ एक हारिद्रक ज्वर का वर्णन मिलता है जो यकृच्छोथ का परिचायक है। रक्तपित्त के प्रसंग में 'पित्तं रक्तस्य विकृतेः' तथा 'प्रभवत्यसृजः स्थानात् प्लीहतो यकृतश्च तत्' (नि० ३।५-६) यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। कामला के संबन्ध में यह उल्लेख कि यह पाण्डुरोग के बिना भी (पाण्डुरोगाद् ऋतेऽपि च—नि० १३।१८) हो सकती है स्वतंत्र पर्यवेक्षण का परिणाम है।

९. कायचिकित्सा के अतिरिक्त, शल्यतंत्र में भी अनेक मौलिक विचार मिलते हैं। सुश्रुत ने २० शास्त्र गिनाये हैं किन्तु वाग्भट ने २६ शस्त्रों की गणना की है (सू० ३४।२२)।

१०. गुह्यरोगों का स्वतंत्र वर्णन दो अध्यायों (उत्तर० ३८, ३९) में किया है जिनमें पुरुष-स्त्री के यौन विकारों की निदान-चिकित्सा है।

११. नेत्ररोगों की संख्या ९४ है। कर्णस्राव की लसीका जहाँ-जहाँ लगती है वहाँ-वहाँ पाक हो जाता है यह पूय की औपसर्गिकता के सम्बन्ध में नवीन उल्लेख है। (उत्तर० २१।३)।

१२. वाग्भट ने ऊर्ध्वगुद रोग का वर्णन किया है (उ० २५।६२) जिसके मुख से दुर्गन्ध आती है। दिव्यावदान में लिखा है कि सम्राट् अशोक को यह रोग हुआ था (कुणालावदान-प्रकरण)।

दन्तोत्पाटन का भी वर्णन है (उ० २६।१८)।

१३. सूतिकागार, कुमारागार, क्रीडाभूमि आदि का विशद वर्णन है। षष्ठीपूजा का भी विधान है। बालग्रहों की संख्या १२ है जबकि सुश्रुत में ९ ही है।

१४. अग [दत]न्त्र के प्रकरण में अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के [दो] दो योगों का उद्धरण दिया गया है। हरताल-विष तथा धत्तूर-विष का वर्णन है।

विषों का चिकित्सकीय उपयोग वाग्भट ने ही सर्वप्रथम बतलाया है (उत्तर० ४८)।

१५. रसायन-प्रकरण में अलभ्य एवं सन्दिग्ध दिव्यौषधियों को पूर्णतः छोड़कर भल्लातक, पिप्पली, सोमराजी, लशुन, पलाण्डु, गुग्गुलु, शिलाजतु, स्वर्णमाक्षिक आदि ओषधियों का वर्णन किया गया है। 'शिवा गुटिका' अष्टांगसंग्रह का ही योग है जिसे परवर्ती लेखकों ने उद्धृत किया है। एक रसायनयोग में स्वर्णमाक्षिक आदि के साथ पारद का अन्तः प्रयोग विहित है (उ० ४९।२४५)।

१६. वाजीकरण में अन्य विधानों के अतिरिक्त, पादलेप के योग भी हैं (उ० ५०।६६-६७)।

१७. वाग्भट ने ३६ तंत्रयुक्तियों का वर्णन किया है (उ० ५०।९७)।

इससे स्पष्ट है कि वाग्भट के काल में चिकित्सा में विषों और धातुओं का प्रयोग विशेष होने लगा था फिर भी सरलतम वानस्पतिक द्रव्यों का प्रचलन अधिक था। वाग्भट ने ऐसे अनेक मुष्टियोगों का उल्लेख चिकित्सा-प्रकरण में किया है।

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट आचार्य

निम्नांकित आचार्यों एवं तन्त्रकारों के नाम अष्टांगसंग्रह में मिलते हैं—

१. अगस्त्य
२. अग्निवेश
३. अत्रि
४. अवलोकित
५. अश्विनौ
६. अस्थिक
७. आलम्बायन
८. उशना
९. कपिल
१०. कराल
११. कश्यप
१२. काश्यप
१३. कृष्णात्रेय
१४. कौटिल्य,
१५. खण्डकाप्य
१६. गौतम
१७. चरक
१८. च्यवन
१९. विदेहाधिप
२०. तुम्बुरु
२१. धन्वन्तरि
२२. नग्नजित्
२३. नारद
२४. निमि
२५. पराशर
२६. पुनर्वसु आत्रेय
२७. पुष्कलावत
२८. वृहस्पति
२९. भरद्वाज
३०. भेल
३१. भोज
३२. माण्डव्य
३३. वशिष्ठ
३४. वैतरण
३५. शंकर
३६. सिंहगुप्त
३७. सुश्रुत
३८. हारीत

इससे प्रतीत होता है कि इन आचार्यों की कृतियाँ उस काल में प्रचलित थीं।

अष्टांगसंग्रह की टीकायें और अनुवाद

अष्टांगसंग्रह की इन्दुकृत शशिलेखा-व्याख्या प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन तीन खण्डों में टी० रुद्रपारशव ने त्रिचुर से १९२४-२६ में किया था। इससे पूर्व १८८८ ई० में दो खण्डों में श्रीगणेश तर्ते द्वारा इसका प्रकाशन हुआ था। पण्डित रामचन्द्र शास्त्री किंजवडेकर, पूना द्वारा इसका थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है। इसकी हिन्दी टीका अत्रिदेवकृत सम्पूर्ण मिलती है। गोवर्धनशर्मा छांगाणी तथा लालचन्द्र वैद्य द्वारा लिखित केवल सूत्रस्थान की टीकायें भी प्रकाशित हैं।

शशिलेखा-व्याख्या के प्रारंभिक पद्य से प्रतीत होता है कि इन्दु के पूर्व अनेक टीकायें अष्टांगसंग्रह पर बन चुकी थीं[1]।

वाग्भट

वाग्भट को लघु वाग्भट, स्वल्प वाग्भट, वाग्भट द्वितीय भी कहते हैं। इन शब्दों के द्वारा वृद्ध वाग्भट या वाग्भट प्रथम से इसकी भिन्नता प्रदर्शित होती है। अष्टांगहृदय इसकी प्रमुख रचना है। यह ग्रन्थ अष्टांगसंग्रह का सारग्राही संक्षिप्त संस्करण है जैसा कि लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में कहा है कि यह अष्टांगहृदय समुद्ररूपी आयुर्वेद-वाङ्मय के हृदय के समान है (हृदयमिव हृदयमेतत् सर्वायुर्वेदवाङ्मय-पयोधेः—उ० ४०।८९) और इसके अध्ययन से संग्रह का बोध सरलता से हो सकता है।[2] इस ग्रन्थ में यह प्रयत्न किया गया है कि कायचिकित्सा तथा शल्य दोनों सम्प्रदायों के उपयोगी तथ्यों का सन्निवेश कर दिया जाय क्योंकि किसी एक का विद्वान होने पर भी वह दूसरे पक्ष में शून्य होता है अतः लोक में सब प्रकार की व्याधियों का निवारण करने में समर्थ नहीं होता।[3] इससे यह न समझना चाहिए कि यह केवल अष्टांगसंग्रह का संक्षेपीकरणमात्र है। वस्तुतः अनेक तथ्यों से सार का संकलन कर यह नातिसंक्षेपविस्तर पृथक् ग्रन्थ निर्मित हुआ।[4]

---

१. दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः। सन्तु संवित्तिदायिन्यः सदागमपरिष्कृताः॥

२. विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम्। महासागरगंभीरसंग्रहार्थोपलक्षणम्॥
अष्टांगवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टाङ्गसंग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥
एतत् पठन् संग्रहबोधशक्तः स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः।
आकम्पयन्त्यन्यविशालतन्त्रकृताभियोगान् यदि तन्न चित्रम्॥—उ० ४०।८०-८२

३. यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादिप्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः किमिह खलु करोतु व्याधितानां वराकः॥
—उ० ४०।८४

४. तेभ्योऽतिविप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः।
क्रियतेऽष्टाङ्गहृदयं नातिसंक्षेपविस्तरम्॥—सू० १।५

अष्टांगहृदय के लेखक का नाम और परिचय ग्रन्थ में कहीं निर्दिष्ट नहीं है जैसा कि अष्टांगसंग्रह में है। अध्यायों के अन्त में पुष्पिका भी प्रायः नहीं है। दो स्थलों पर (निदानस्थान और उत्तरस्थान के अन्त में) निम्नांकित पुष्पिका मिलती है—

"इति श्रीसिंहगुप्तसूनुवाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
तृतीयं निदानस्थानम् समाप्तम्।"

इति श्रीसिंहगुप्तसूनुवाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहिताया-
मुत्तरस्थानम् समाप्तम्।

इससे पता चलता है कि इस ग्रन्थ का लेखक वाग्भट है तथा उसके पिता का नाम सिंहगुप्त था। वाग्भट के नाम से अष्टांगहृदय के उद्धरण परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं उनसे भी इस ग्रन्थ का कर्त्ता वाग्भट सिद्ध होता है। ऐसा अनुमान होता है कि वृद्धवाग्भट का ही यह वंशज (सम्भवतः पौत्र) हो। गुप्तकाल में ऐसी परम्परा थी कि पितामह का नाम पौत्र को दिया जाता था। इस प्रकार इनकी वंशावली निम्नांकित रूप में कल्पित की जा सकती है—

वाग्भट
|
सिंहगुप्त
|
वाग्भट (प्रथम)
|
सिंहगुप्त
|
वाग्भट (द्वितीय)

वाग्भट द्वितीय के संबन्ध में भी यह विवाद है कि वह बौद्ध थे या वैदिकधर्मावलम्बी। ग्रन्थ के प्रारंभ में जो मंगलाचरण है उसकी व्याख्या भी दोनों पक्षों द्वारा दो प्रकार से की जाती है। 'शिवशिवसुततारामास्कराराधनानि' (चि० १ ९।९८) इस पद्य से अनुमान होता है कि वह ब्राह्मणधर्मावलम्बी शैव थे।

रचनायें

अष्टांगावतार, अष्टांगनिघण्टु आदि ग्रन्थ वाग्भटरचित माने जाते हैं। वाहट नाम से भी अनेक ग्रन्थ दक्षिण भारत में प्रचलित हैं।[1] इनके संबन्ध में यह निश्चित करना कठिन है कि यह इसी वाग्भट द्वारा रचित हैं। यह अवश्य तथ्य है कि दक्षिण भारत में आज भी अष्टांगहृदय सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय आयुर्वेदीय संहिता है जो सामान्यतः लोक में 'वाहट' नाम से जानी जाती है। अतः यदि इन ग्रन्थों का कर्तृत्व किसी से जोड़ना है तो वह इसी वाग्भट से उचित प्रतीत होता है।

१. देखें—वाग्भट विवेचन, पृ० ३०४।

काल

वाग्भट द्वितीय के काल-निर्णय में वैसी कठिनाई नहीं है। इसने अष्टांगसंग्रह को अपना आधार बनाया है अतः यह वाग्भट प्रथम (६ठीं शती) के बाद अवश्य होगा। दूसरी ओर माधवकर (७वीं शती) ने अष्टांगहृदय के श्लोक अविकल उद्धृत किये हैं (देखें निदानपञ्चक-प्रकरण) अतः उसके पूर्व वाग्भट का काल होगा। ८वीं शती में अष्टांगहृदय का अनुवाद अरबी में हुआ था किताब-अल-फेहरस्ति (९८८ई०) में जिसका 'अष्टांकर' नाम से निर्देश है। अतः ७वीं शती के उत्तरार्ध में वह अवश्य होगा। अतः वाग्भट प्रथम और माधवकर के बीच में ७वीं शती के प्रथम चरण में वाग्भट द्वितीय को रखना चाहिए।

अष्टांगहृदय का विषय-विभाग

इस ग्रन्थ की योजना अष्टांगसंग्रह के ही समान है किन्तु अध्यायों की संख्या कम होने के कारण कलेवर संक्षिप्त है। इसके अध्यायों की कुल संख्या १२० है जो निम्नांकित क्रम से व्यवस्थित हैं :—

	अध्याय
१. सूत्रस्थान	३०
२. शारीरस्थान	६
३. निदानस्थान	१६
४. चिकित्सास्थान	२२
५. कल्पस्थान	६
६. उत्तरस्थान	४०
	१२०

इससे स्पष्ट होगा कि संग्रह की अपेक्षा हृदय में सूत्रस्थान का विषय संक्षिप्त हो गया है। शारीरस्थान भी आधा रह गया। निदानस्थान का कलेवर उतना ही है। चिकित्सास्थान में चतुर्थांश की वृद्धि हुई है जिससे चिकित्सा के व्यावहारिक पक्ष का विकास सूचित होता है। उत्तरस्थान भी क्षीण हो गया है। इस प्रकार वाग्भट द्वितीन ने अष्टांगसंग्रह के स्वयमेव संक्षिप्त रूप को और भी काँट-छाँट कर युगानुरूप एवं लोकोपयोगी बना दिया जिससे वह अल्प काल में ही वैद्यसमाज का कण्ठहार हो गया और धीरे-धीरे अष्टांगसंग्रह को लोग प्रायः भूल ही गये।

अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय

अष्टांगसंग्रह का अनुसरण करने पर भी अष्टांगहृदय में अनेक विशेषतायें हैं

जिनके आधार पर दोनों ग्रन्थों का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट होता है[1]। निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१. संग्रह के अनेक विवरण हृदय में उपलब्ध नहीं होते।

२. हृदय में अनेक तथ्य ऐसे हैं जो संग्रह में नही हैं और सीधे चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं से लिये गये हैं।

३. किन्हीं स्थलों में दोनों में मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है।

४. बौद्ध धर्म की छाया संग्रह की अपेक्षा हृदय में कम है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त भिन्नता है।

५. विषयवस्तु की दृष्टि से संग्रहकार सुश्रुत की ओर तथा हृदयकार चरक की ओर अधिक झुके हुए प्रतीत होते हैं।

६. अष्टांगसंग्रह में गद्य और पद्य दोनों हैं जब कि अष्टांगहृदय में केवल पद्य ही हैं।

अष्टांगहृदय की शास्त्रीय विशेषतायें

पहले कहा जा चुका है, अष्टांगहृदय आयुर्वेद का सारसमुच्चय है जिसमें चिकित्सोपयोगी सभी तथ्यों का व्यावहारिक रूप में सन्निवेश किया गया है। यहाँ निदर्शनार्थ कुछ प्रमुख तथ्यों का उल्लेख किया जा रहा है—

१. द्रव्य-प्रकरण में कुछ नये और विशिष्ट द्रव्यों का उल्लेख किया गया है। हरितकवर्ग में आर्द्रिका का वर्णन है। गृञ्जनक का भी उल्लेख है। सुश्रुतोक्त तथा संग्रहोद्धृत वल्ली एवं कण्टक पञ्चमूल को हृदय में स्थान नहीं मिला।

अग्र्य द्रव्यों का रोगानुसार ग्रन्थ के अन्त में उल्लेख किया है जिनमें अनेक हृदयकार की नवीन देन हैं यथा प्रमेह में आमलकी, प्लीहामय में पिप्पली, वातरक्त में गुडूची, वातकफज विकारों में हरीतकी, बस्तिरोगों में शिलाजतु, छर्दि में लाजा, ज्वर में मुस्तापर्पटक, स्थौल्य में रसाञ्जन आदि।

द्रव्यगुण के मौलिक सिद्धान्त के क्षेत्र में भी अष्टांगहृदय की मौलिक देन है। विपाक का अद्यावधि प्रचलित लक्षण "जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥" हृदय ने ही सर्वप्रथम दिया।

भेषजकल्प (क० ६) में ओषध की मात्रा का विधान किया गया है।

२. दोषधातुमलविज्ञान के प्रकरण में, हृदय (सू० ११) में धातुओं और मलों के एक-एक विशिष्ट कर्म का निर्धारण किया है। संग्रहकार ने रक्त को दोष और दूष्य दोनों माना है किन्तु हृदय में केवल दूष्य माना गया है।

३. हृदयकार ने स्नेहविधि-प्रकरण में सात सद्यःस्नेहन द्रव्यों का उल्लेख किया

१. विशेष विवरण के लिए देखें वाग्भट विवेचन, पृ० ७७-८९

है (सू० १६।४१-४२) जो संग्रह में नहीं है। स्वेद चार प्रकार का बतलाया गया है (सू० १७)।

४. यन्त्रशस्त्र-प्रकरण में, शल्यनिर्घातिनी नाडी तथा अश्मरीहरण यन्त्र का वर्णन है। शवच्छेद का वर्णन हृदय में नहीं है।

५. मूढगर्भप्रकरण (शा० २) में दो विष्कंभ नामक मूढगर्भ बतलाये गये हैं जो शस्त्रसाध्य हैं।

६. मर्मों के प्रकरण में एक धमनीमर्म का भी वर्णन किया है, इस प्रकार हृदय में षड्विध मर्म है (शा० ४)।

७. चिकित्सा-प्रकरण में, अनेक नये योगों का निर्देश किया है यथा अर्श में सूरणपुटपाक, अतीसार में दाडिमाष्टक चूर्ण, उदर में अयस्कृति, पाण्डु में मण्डूरवटक आदि।

८. नेत्ररोगों के लिए अनेक नये योग हृदय में मिलते हैं। तिमिर रोग में गन्धकयुक्त अञ्जन (उ० १३।३१-३२) तथा पारदयुक्त अञ्जन (उ० १३।३६) विशिष्ट हैं। इनके अतिरिक्त, पाशुपत योग, ताम्र, तुत्थ, रसांजन, रीतिपुष्प, मनःशिला, समुद्रफेन और पुष्पकाशीश का बहुत प्रयोग है।

९. रसायन-प्रकरण में, संग्रहोक्त अनेक द्रव्यों को छोड़कर प्रचलित वाराहीकन्द, गोक्षुर, शुण्ठी आदि द्रव्यों का वर्णन किया है। वाजीकरण में उच्चटा का प्रयोग है।

अष्टांगहृदय में निर्दिष्ट आचार्य

अष्टांगहृदय में निम्नांकित आचार्यों एवं ग्रन्थों का निर्देश मिलता है :—

१. अगस्त्य	७. काश्यप	१३. भेड
२. अग्निवेश	८. चरक	१४. वशिष्ठ
३. अश्विनौ	९. च्यवन	१५. विदेहपति
४. अष्टांगवैद्यक (अष्टांगसंग्रह)	१०. धन्वन्तरि	१६. वृद्धकाश्यप
५. आत्रेय (पुनर्वसु)	११. निमि	१७. शौनक
६. आद्य वैद्यक	१२. भार्गव	१८. सुश्रुत
		१९. हारीत

अष्टांगहृदय की टीकायें और अनुवाद

अष्टांगहृदय की अपूर्व लोकप्रियता के कारण इस पर जितनी टीकायें लिखी गईं उतनी शायद ही किसी ग्रन्थ पर लिखी गई हों।

हरिशास्त्री पराडकर ने निम्नांकित टीकाओं का उल्लेख किया है[1] :—

1. उपोद्घात, अष्टांगहृदय।

१.	अरुणदत्तकृत	सर्वाङ्गसुन्दरा
२.	हेमाद्रिकृत	आयुर्वेदरसायन
३.	चन्द्रनन्दनकृत[1]	पदार्थचन्द्रिका
४.	इन्दुकृत	शशिलेखा या इन्दुमती
५.	आशाधरकृत	अष्टाङ्गहृदयोद्द्योत
६.	वैद्यतोडरमल्लकान्हप्रभुकृत	मनोज्ञ या चिन्तामणि
७.	रामनाथकृत	अष्टाङ्गहृदयटीका
८.	हाटकाङ्ककृत	अष्टाङ्गहृदयदीपिका
९.	शंकरकृत	ललिता
१०.	परमेश्वरकृत	वाक्यप्रदीपिका
११.	विश्वेश्वरपण्डितकृत	विज्ञेयार्थप्रकाशिका
१२.	दासपण्डितकृत	हृदयबोधिका
१३.	श्रीकृष्णसेसलिककृत	वाग्भटार्थकौमुदी
१४.	दामोदरकृत	संकेतमञ्जरी
१५.	यशोदानन्दनसरकारकृत	प्रदीपाख्या
१६.	भट्टनरहरिकृत	वाग्भटखण्डनमण्डन
१७.	रामानुजाचार्यकृत	आन्ध्रटीका
१८.	जेज्जटकृत	अष्टांगहृदयटीका
१९.	भट्टारहरिचन्द्रकृत	"
२०.	वाचस्पतिमिश्रकृत	"
२१.	मनोदयादित्यभट्टकृत	मनोदयादित्यभट्टीया
२२.	भट्टश्रीवर्धमानकृत	सारोद्धार
२३.		बालप्रबोधिका
२४.		बालबोधिनी
२५.		कर्णाटी टीका
२६.		द्राविड़ी टीका
२७.		सुगतटीका
२८.		केरली टीका
२९.		पाठ्या
३०.		बृहत्पाठ्या
३१.		व्याख्यासार

१. चन्द्रनन्दन ने कोई अष्टांगहृदयकोष भी बनाया है।

	हृद्या या हृद्यार्था
३२.	अष्टाङ्गहृदयव्याख्या
३३.	शिवदीपिका
३४. पं० शिवशर्माकृत	

इनके अतिरिक्त कुछ और टीकाओं का उल्लेख मिलता है—

३५. हिमदत्त या सर्वहितमित्रदत्तकृत	
३६. ईश्वरसेनकृत	
३७. वासुदेवकृत	अन्वयमाला
३८.	बृहत्व्याख्यासार
३९. नारायणयोगीन्द्रशिष्यकृत	टीका
४०. पुरन्दर (उदयादित्य) कृत	दीपिका
४१. वाग्भटकृत	वैडूर्यकभाष्य
४२. विट्ठलपण्डितकृत	दीपिका
४३.	पञ्जिका
४४. श्रीकण्ठकृत	अल्पबुद्धिप्रबोधन[1]

हिन्दी में निम्नांकित टीकायें प्रचलित हैं—

१. अत्रिदेव गुप्तकृत

२. लालचन्द्र वैद्यकृत

अरबी अनुवाद

अष्टांगहृदय का अरबी अनुवाद 'अष्टांकर' नाम से ८वीं शती में संभवतः खलीफा हारून-अल-रशीद (७७६-८०८ ई०) के काल में हुआ। इसने भारतीय विद्वानों को बगदाद बुलाकर अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया। अरबी चिकित्सक रेजस (८८२ ई०) ने 'सिन्दचर' नाम से एक आयुर्वेदीय आचार्य का निर्देश किया है। यह संभवतः वाग्भट द्वितीय के लिए है।

तिब्बती अनुवाद

तिब्बती तंजूर में चरक, सुश्रुत के साथ वाग्भट भी तिब्बती भाषा में है। अष्टांगहृदय का नाम वैडूर्यकभाष्य तिब्बती में ही उपलब्ध है। तंजूर का काल ८वीं शती का उत्तरार्ध मानते हैं। वैडूर्यक भाष्य के अतिरिक्त, पदार्थचन्द्रिका परिभाषा-नाम, अष्टांगहृदयवृत्ति तथा इसकी भेषजनामसूची तिब्बती में अनूदित है।

१. देखें—गुरुपदहालदारः वृद्धत्रयी, पृ० २७६-२७७
नारायणशंकर मूसः उपोद्घात, पृ० ५-६, अष्टांगहृदय, परमेश्वरकृत वाक्यप्रदीपिकासहित, भाग १

जर्मन अनुवाद

अष्टांगहृदय का जर्मन भाषा में अनुवाद १९४१ में प्रकाशित हुआ है।

संस्करण

इस ग्रन्थ के लगभग दो दर्जन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्राचीनतम संस्करण जीवानन्द विद्यासागर का (१८८२ ई० में प्रकाशित) माना जाता है।

मध्यकाल

वाग्भट प्राचीनकाल का अन्तिम संहिताकार था किन्तु उसने जो मार्ग बनाया उसका अनुसरण निरन्तर होता रहा। ऐसी एक संक्षिप्त संहिता की आवश्यकता सदा बनी रही जो समस्त आयुर्वेद का सार समाहित किये हो तथा वैद्यों के लिए व्यावहारिक पथप्रदर्शक हो। यह अवश्य है कि युग की आवश्यकता के अनुसार उसके स्वरूप में विभिन्नता आना स्वाभाविक था। ऐसे कुछ ग्रन्थों के नाम में 'संहिता' शब्द जुड़ा है और कुछ में नहीं है तथापि दोनों की प्रवृत्तियाँ समान हैं। अतः उन सबका समावेश इस शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। सभी ग्रन्थों का विवरण देना कठिन है अतः कुछ प्रमुख ग्रंथों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

कल्याणकारक[१]

इसके लेखक उग्रादित्याचार्य हैं जिनका काल ९वीं शती माना जाता है। इस जैन ग्रन्थकार ने अनेक आचार्यों का नामतः निर्देश किया है जिससे स्पष्ट होता है कि इसके पूर्व अनेक रचनायें विभिन्न अंगों में विद्यमान थीं यथा[२]—

पूज्यपादकृत	—	शालाक्यतन्त्र
पात्रस्वामिकृत	—	शल्यतंत्र
सिद्धसेन	—	विषतंत्र एवं भूतविद्या
दशरथ गुरु	—	कायचिकित्सा
मेघनाद	—	कौमारभृत्य
सिंहनाद	—	रसायन एवं वाजीकरण

विशेषतः इस ग्रन्थ में समन्तभद्रकृत 'अष्टांग' (संग्रह या संहिता) का अनुसरण किया गया है।[३] कहते हैं, समन्तभद्र ने सिद्धान्तरसायनकल्प नामक ग्रन्थ

---

१. प्रकाशक—श्रीसेठ गोविन्दजी रावजी दोशी, सोलापुर, १९४० ई०, वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री कृत भाषानुवाद सहित।

२. परिच्छेद २०, श्लो० ८५।

३. प० २० श्लो० ८६।

अठारह हजार श्लोकों में बनाया था। उग्रादित्याचार्य के गुरु श्री नन्दि आचार्य थे।[1]

कल्याणकारक के मूल ग्रन्थभाग में बीस परिच्छेद तथा उत्तरतन्त्र में पाँच परिच्छेद हैं। इस प्रकार कुल पचीस परिच्छेदों में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ है। अन्त में दो परिशिष्टाध्याय (रिष्टाध्याय और हिताहितीयाध्याय) भी हैं। आयुर्वेद के आठों अंगों का आधार लेकर इस ग्रन्थ में चिकित्सा का विवरण है। शारीर, स्वस्थवृत्त आदि का भी वर्णन है। कायचिकित्सा-प्रकरण में रोगों का वर्गीकरण वातरोगाधिकार, पित्तरोगाधिकार, श्लेष्मरोगाधिकार और महामयाधिकार के अन्तर्गत किया गया है। रोगों का क्रम माधवनिदान से भिन्न है। माधवनिदान के क्रमानुसरण की परिपाटी वृन्द (९वीं शती) ने चलाई अतः कल्याणकारक उसके पूर्व की रचना प्रतीत होती है। जैनधर्म की विशेषतायें स्वभावतः इसमें आ गई हैं यथा मधु का प्रयोग जैन-परंपरा में निषिद्ध है अतः मधु के स्थान पर गुड़ या शर्करा का प्रयोग है। चरक की माधुतैलिक बस्ति इसमें गौडतैलिक बस्ति हो गई है।

कल्याणकारक में चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं का पूरा उपयोग किया गया है। उत्तरतंत्र की योजना संभवतः सुश्रुतसंहिता के आधार पर की गई है।[2]

योगशतक

योगशतक नागार्जुनकृत कहा जाता है। इत्सिंग नामक चीनी यात्री (७वीं शती) ने जिस अष्टांगसंहिता का उल्लेख किया है उससे कुछ विद्वान योगशतक का ग्रहण करते हैं। यदि इसे स्वीकार किया जाय तो योगशतक उस नागार्जुन की रचना माना जायगा जो, ५वीं या ६ठी शती में था और जिसने सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कार किया था। इसमें एक युक्ति यह दी जाती है कि सुश्रुतसंहिता में जिस प्रकार उत्तर-तंत्र जोड़ा गया उसी प्रकार योगशतक में भी उत्तरतंत्र जोड़ा गया है। शैली की यह एकरूपता कर्तृत्व की एकता सूचित करती है। किन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, अनेक नागार्जुन हुये हैं। एक नागार्जुन आठवी-नवीं शती में हुये हैं जिसका उल्लेख अलबरुनी ने अपने यात्राविवरण में किया है। अधिक संभावना है कि योगशतक इसी की रचना हो। वाग्भट के पद्य इसमें उद्धृत हैं अतः यह अष्टांगहृदय के बाद की रचना है। वृन्दमाधव में इसी नागार्जुन द्वारा पाटलिपुत्रस्थ स्तम्भ में उत्कीर्ण योग उद्धृत किये गये हैं। कक्षपुटतंत्र, वार्त्तामाला, योगमञ्जरी इसीकी हो सकती है।

योगशतक में आयुर्वेद के आठों अंगों के अतिरिक्त एक उत्तरतंत्र भी है। योग-शतक तथा नागार्जुन के पंचसूत्र और भेषजकल्प तिब्बती भाषा में अनूदित हैं।

१. प० २०, श्लो० ८४।

२. इससे ज्ञात होता है कि तब तक सुश्रुतसंहिता का उत्तरतंत्र बन चुका था।

नागार्जुनकृत योगशतक[1] पर निम्नांकित टीकायें प्रमुख हैं :—

१. ध्रुवपादकृत — चन्द्रकला
२. सनातनकृत — वल्लभा
३. महीधरकृत — विश्ववल्लभा

सिद्धसारसंहिता

दुर्गगुप्तात्मज रविगुप्त नामक बौद्ध वैद्याचार्य ने इस संहिता की रचना की। चक्रपाणि, अरुणदत्त, विजयरक्षित, निश्चलकर और शिवदाससेन ने इसे उद्धृत किया है। चन्द्रट (१० वीं शती) ने इसे उद्धृत किया है अतः रविगुप्त का काल उसके पूर्व ९वीं शती में रखना चाहिए।

यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। इसकी पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं[2]।

वररुचि-संहिता

वररुचिकृत संहिता का उल्लेख मिलता है।[3] सम्भवतः यह वररुचि वही हो सकते हैं जिन्होंने योगशतक की रचना की है। इसका काल १० वीं शती रखना चाहिए।

नागभर्तृतन्त्र

निश्चलकर ने नागदेव तथा विजयरक्षित ने नागभर्तृतन्त्र को उद्धृत किया हैं। मालूम होता है कि नागदेव नामक वैद्याचार्य ने इस संहिता की रचना की। विजयरक्षित और निश्चलकर (दोनों १३वीं शती) द्वारा उद्धृत होने के कारण इसका काल १२वीं शती रख सकते हैं।

---

१. योगशतक भी कई हैं। अमृतप्रभकृत योगशतक भी प्रसिद्ध है। एक योगशतक श्रीकण्ठदासकृत है जिस पर वररुचिकृत अभिधानचिन्तामणि टीका है (देखें आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, पृ० ३१५)। स्वयं वररुचि द्वारा रचित भी एक योगशतक है जिस पर पूर्णचन्द्र या पूर्णसेन की टीका है (देखें—Descriptive Catalogue of Mss. B. O. R. I., Poona, vol. xvi, Pt I, P. 224-230)। इस पर रूपनयनकृत टीका भी है (सरस्वतीभवन तथा पूना)। समन्तभद्र का भी योगशतक है (सरस्वतीभवन) और एक योगशतक विदग्ध वैद्य का है (पूना, जम्मू)। निश्चलकर ने अच्युतदेवकृत योगशतक का उल्लेख किया है।

२. GOM, GLN

३. Das Gupta : History of Indian Philosophy, Vol. II, P. 432

कलह (कोलह) संहिता

निश्चलकर ने कलहदास और उसकी संहिता-कलहसंहिता[१] का उल्लेख किया है अतः इसका काल १२ वीं शती होना चाहिए। यह तन्त्रप्रधान संहिता प्रतीत है। संभवतः इसके रचयिता विक्रमशिला विश्वविद्यालयीय क्षेत्र के निवासी थे। यह भी संभव है कि भागलपुर के निकट वर्त्तमान 'कहलगाँव' (कलहग्राम) नामक स्थान इसी आचार्य के नाम पर प्रतिष्ठित हुआ हो।

आयुर्वेदप्रकाश

यह पण्डित केशवकृत ग्रन्थ है जिसका निर्देश निश्चलकर तथा हेमाद्रि ने किया है[२]।

शार्ङ्गधरसंहिता

शार्ङ्गधर और उसका काल

अध्यायान्त पुष्पिका के आधार पर इसके रचयिता दामोदरसूनु शार्ङ्गधर कहे जाते हैं[३] यद्यपि ग्रन्थकार ने अपना परिचय ग्रन्थ में कहीं पर नहीं दिया है। शार्ङ्गधरपद्धति के रचयिता भी दामोदरसूनु शार्ङ्गधर हैं किन्तु उन्होंने अपना विस्तृत परिचय ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिया है। उन्होंने लिखा है कि शाकंभरीदेश में चौहान-वंशीय हमीरनरेश के गुरु राघवदेव थे, उन्हीं के पुत्र दामोदर तथा पौत्र शार्ङ्गधर हैं। यह वंशावली इस प्रकार है :—

राघवदेव

गोपाल | दामोदर | देवदास

(दामोदर के पुत्र:) शार्ङ्गधर | लक्ष्मीधर | कृष्ण

यहां शार्ङ्गधर ने जो अपना परिचय दिया है[४] उसमें वैद्य होने का कोई उल्लेख नहीं है। कुछ विद्वान शार्ङ्गधरसंहिता तथा शार्ङ्गधरपद्धति दोनों ग्रंथों का रचयिता

---

१. वृद्धत्रयी, पृ० २५७

२. उक्तं आयुर्वेदप्रकाशे पण्डितकेशवेन—आयुर्वेदरसायन, अ० हृ० सूत्र ६।१०५

३. मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, बनारस, १९३३ संस्करण के पुष्पिकानाम में 'दामोदरसूनु' नहीं है।

४. जयति शार्ङ्गधरस्त्रिपुरापदद्वयकुशेशयकोशमधुव्रतः।
सरससूक्तिसुधौघकलानिधिः कविकरीन्द्रकदम्बमृगाधिपः॥

एक ही शार्ङ्गधर को मानते हैं किन्तु यह संभव नहीं दीखता क्योंकि यदि ऐसा होता तो उपर्युक्त परिचायक पद्य में अवश्य ही आयुर्वेदज्ञता का उल्लेख होता और शार्ङ्गधरसंहिता में भी इस प्रकार का परिचय मिलता। दोनों ग्रन्थों की विषयवस्तु में भी कहीं कोई समानता नहीं।

उपर्युक्त इतिवृत्त के आधार पर हमीरनरेश से शार्ङ्गधर का व्यक्तित्व संबद्ध कर दिया गया है। हिन्दी में एक 'हमीररासो' काव्य है जिसका रचयिता भी शार्ङ्गधर कहा जाता है। ऑफ्रेक्ट ने अपनी ग्रन्थसूची में अनेक शार्ङ्गधरों का उल्लेख किया है यथा चण्डमालकर्त्ता शार्ङ्गधर, दार्शनिक शेष शार्ङ्गधर, ज्योतिर्विद शार्ङ्गधर-मिश्र, नाटककार शार्ङ्गधर, त्रिशती या वैद्यवल्लभ के रचयिता शार्ङ्गधर और शार्ङ्गधरपद्धति एवं शार्ङ्गधरसंहिता के कर्त्ता शार्ङ्गधर (ऑफ्रेक्ट ने पद्धति एवं संहिता दोनों का कर्त्ता एक ही माना है)।

रणथंभौर के राणा हमीरदेव पर अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६ ई०) ने १२९९ ई० में आक्रमण किया और १३०१ ई० में जीतकर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। नयचन्द्रसूरिकृत हम्मीरमहाकाव्य में इसी हमीर का वर्णन है। शार्ङ्गधरपद्धति का रचयिता संभवतः इसी हमीरभूपति के गुरु राघवदेव का पौत्र था। इस प्रकार इसका काल १४ वीं शती होगा।

किन्तु शार्ङ्गधरसंहिता का काल भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि बोपदेव (१३-१४वीं शती) ने इस पर टीका लिखी है[1] तथा हेमाद्रि (१३-१४ वीं शती) ने इसे उद्धृत किया है[2] अतः इसे १२वीं शती के पूर्वार्ध से आगे ले जाना सम्भव नहीं है। नाड़ीविज्ञान, अफीम, रसौषधियों की प्रमुखता का समावेश भी उसी काल में आयुर्वेदीय ग्रन्थों में हुआ। इसके अतिरिक्त ग्रन्थशैली सोढल (१२वीं शती) कृत गदनिग्रह पर आधारित है। इस प्रकार शार्ङ्गधरसंहिता के रचयिता शार्ङ्गधरपद्धति के कर्त्ता से भिन्न हैं और उनका काल १३वीं शतीका पूर्वार्ध है।

१३वां शती में सोढल के पुत्र शार्ङ्गदेव हुये थे जिन्होंने संगीतरत्नाकर[3], अध्यात्मविवेक आदि ग्रंथों की रचना की। वह संगीतज्ञ के साथ-साथ एक उच्च कोटि के कवि तथा आयुर्वेदज्ञ थे। 'अध्यात्मविवेक' में उन्होंने शारीर का विशद वर्णन किया है[4]। वह देवगिरि के यादववंशीय तत्कालीन शासक सिंघण (१२१०–१२४७ ई०)

---

१. Aufrecht's Catalogus Catalogorum, Pt I. P. 643
Weber's Catalogue of Berlin, 1853.

२. अ० हृ० सूत्र० ५।७६ (शुक्तगुणाः)

३. अडियार लाइब्रेरी, १९४३

४. इति प्रत्यंगसंक्षेपो विस्तरस्त्विह तत्त्वतः।
अस्मद्विरचतेऽध्यात्मविवेके वीक्ष्यतां बुधैः॥—संगीतरत्नाकर, २।११९

के करणाग्रणी (महालेखापाल) भी थे। इसी राज्य के शासक महादेव (१२६०-१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१-१३०९ ई०) के प्रधानमन्त्री हेमाद्रि थे। वोपदेव महादेव के राजपण्डित कहे जाते हैं। सर्वप्रथम वोपदेव ने शार्ङ्गधरसंहिता की टीका की और हेमाद्रि ने उसे उद्धृत किया। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि शार्ङ्गदेव का ही दूसरा नाम शार्ङ्गधर हो और शार्ङ्गधरसंहिता का रचयिता शार्ङ्गदेव ही हो। यह अवश्य है कि शार्ङ्गधर का पिता दामोदर कहा गया है और और शार्ङ्गदेव का सोढल। शार्ङ्गदेव की कृति होने में एक युक्ति यह भी है कि सोढलकृत गदनिग्रह की कल्पानुसारिणी शैली का अनुसरण उसने किया है। पिता का अनुगामी पुत्र हो यह स्वाभाविक ही है। यह संभव है कि शार्ङ्गधरपद्धति और शार्ङ्गधरसंहिता की एकता के भ्रम के कारण दोनों को 'दामोदरसूनु' बाद की पाण्डुलिपियों में लिखा गया जैसा वाग्भट आदि के प्रसंग में हुआ। ऐसी पुष्पिका सभी अध्यायों के अन्त में एकरूप मिलती भी नहीं। संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव की वंशावली इस प्रकार दी गई है:—

भास्कर
|
सोढल
|
शार्ङ्गदेव

शार्ङ्गदेव की बहुमुखी प्रतिभा एवं चिकित्साकुशलता का उल्लेख ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोकों में किया गया है।[1] 'गदार्त्तानां रसायनैः' शब्दों से स्पष्ट होता है कि उस समय चिकित्सा में रसौषधों का बाहुल्य था। शार्ङ्गधरसंहिता में रसौषधों का बहुशः वर्णन है भी। 'जिज्ञासूनां च विद्याभिः' इससे प्रतीत होता है कि वह अध्यापन भी करते थे। किन्तु इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि शार्ङ्गदेव ने अपनी अन्य कृतियों के साथ इस संहिता का उल्लेख नहीं किया है।

यदि इस बात पर आग्रह किया जायगा कि वह दामोदर के ही पुत्र थे तब यह स्वीकार करना होगा कि यह कोई अन्य दामोदर और शार्ङ्गधर थे जो शार्ङ्गदेव के समकालीन तथा निकटवर्ती थे। यह भी सम्भव है कि देवगिरि के यादववंशीय राज्य से इनका संबन्ध हो जिसके कारण तत्स्थानीय वोपदेव और हेमाद्रि ने इनकी रचना पर सर्वप्रथम ध्यान किया।

---

१. धनदानेन विप्राणामार्त्तिं संहृत्य शाश्वतीम्।
जिज्ञासूनां च विद्याभिर्गदार्त्तानां रसायनैः॥ १-१३

शार्ङ्गधरसंहिता की विषय-वस्तु

शार्ङ्गधरसंहिता में ३२ अध्याय और २६०० श्लोक हैं।[1] पुष्पिकाओं में भी इस ग्रन्थ का नाम 'शार्ङ्गधर संहिता' दिया है। ग्रन्थान्त के श्लोकों में भी 'संहिता' शब्द का प्रयोग इसके लिए हुआ है।[2] शिव की पूजा का विधान कई स्थलों में है (पूर्व० १।१; १।५७; ५।६७), इससे ग्रन्थकार शैव प्रतीत होते हैं।

ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है—पूर्वखण्ड, मध्यखण्ड, उत्तरखण्ड। उसके वर्ण्य विषयों तथा अध्यायों का विवरण इस प्रकार है :—

पूर्वखण्ड

अध्याय १—परिभाषा
,, २—भैषज्याख्यानक
,, ३—नाडीपरीक्षादि-विधि
,, ४—दीपनपाचन
अध्याय ५—कलादिकाख्यान
,, ६—आहारादिगति
,, ७—रोगगणना

मध्यम खण्ड

अध्याय १—स्वरस
,, २—क्वाथ
,, ३—फाण्ट
,, ४—हिम
,, ५—कल्क
,, ६—चूर्ण
अध्याय ७—गुटिका
,, ८—लेह
,, ९—स्नेह
,, १०—सन्धान
,, ११—धातुशोधन
,, १२—रस

उत्तरखण्ड

अध्याय १—स्नेहपान
,, २—स्वेदविधि
,, ३—वमन
,, ४—विरेचन
,, ५—स्नेहवस्ति
,, ६—निरूहण
,, ७—उत्तरवस्ति
अध्याय ८—नस्यविधि
,, ९—धूमपान
,, १०—गण्डषदिविधि
,, ११—लेपादिविधि
,, १२—शोणितविस्रुति
,, १३—नेत्रकर्म

इस प्रकार कुल ३२ अध्यायों में वर्ण्य विषय का प्रतिपादन किया गया है।

---

१. द्वात्रिंशत् संमिताध्यायैर्युक्तेयं संहिता स्मृता।
षड्विंशतिशतान्यत्र श्लोकानां गणितानि च ॥ पूर्व० १।१२

२. आयुर्वेदसमुद्रस्य गूढार्थमणिसञ्चयम्।
ज्ञात्वा कैश्चिद्बुधैस्तैस्तु कृता विविधसंहिताः ॥

शार्ङ्गधरसंहिता का महत्त्व एवं विशेषतायें

यह संहिता मध्यकाल की एकमात्र संहिता है जो तत्कालीन प्रवृत्तियों एवं विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। उस युग में एक ओर राजपूतों की छत्रछाया में प्राचीन विज्ञान अपने स्वरूप की रक्षा में तत्पर था तो दूसरी ओर मुस्लिम राजाओं के अनेक शतीव्यापी संपर्क एवं प्रभाव के कारण अनेक नये विचार समाज में घुल-मिल कर एकात्मता ग्रहण कर रहे थे तान्त्रिकों एवं सिद्धों का संप्रदाय भी फल-फूल रहा था जिसके कारण रसशास्त्र का चरम विकास हुआ। मुसलमानों के साथ अनेक नये औषधद्रव्य, नवीन औषधकल्पनायें, चिकित्साक्रम यहाँ आये जो आयुर्वेदजगत् द्वारा अपना लिये गये। शल्यतंत्र का उपयोग केवल रक्तावसेक तथा फोड़ा-फुन्सी तक ही सीमित हो गया जो जर्राह लोग करते थे। उसके कारण शारीर ज्ञान की भी विशेष आवश्यकता न रही। कायचिकित्सा का स्थान सर्वप्रमुख या यों कहा जाय कि अकेला रह गया। रसायन वाजीकरण के आगे गौण पड़ गया। रसौषधों का भी तब तक प्रचलन काफी बढ़ गया था। चिकित्सा में सैद्धान्तिक पक्ष दुर्बल हो गया तथा कल्पों की प्रमुखता हो गई। इसी कारण इस संहिता की रूपरेखा प्राचीन संहिताओं के समान न होकर नये क्रम से नियोजित की गई है तथा कल्पानुसार ही चिकित्सा का निरूपण किया गया है। इस प्रकार मध्यकालीन प्रवृत्तियों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने के कारण शार्ङ्गधरसंहिता का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। अपने महत्त्व के कारण यह स्वल्प काल में ही लोकप्रिय हो गई जिससे एक ओर वोपदेव और हेमाद्रि जैसे विद्वान् इसकी ओर आकृष्ट हुये और दूसरी ओर चिकित्सक-समाज के लिए यह दैनंदिन पथप्रदर्शक हो गया। मध्यकालीन लघुत्रयी में भी इसे सादर स्थान प्राप्त हुआ।

जहाँ तक वर्ण्य विषय की विशेषताओं का प्रश्न है, निम्नांकित तथ्य अवलोकनीय हैं:—

१. राशिभेद से ऋतुओं का विभाजन किया गया हैं यथा मेष-वृष ग्रीष्म आदि।

२. नाडीपरीक्षा का सर्वप्रथम वर्णन इसी ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। यह कहाँ से आया इसका विचार आगे किया जायगा।

३. दीपन-पाचन आदि कर्मों की स्पष्ट परिभाषा सोदाहरण दी गई है।[1] कुछ नये कर्मों का समावेश किया गया है यथा शुक्रस्तम्भक। कुछ नये द्रव्यों का भी

किंचिदर्थं ततो नीत्वा कृतेयं संहिता मया।
कृपाकटाक्षनिक्षेपमस्यां कुर्वन्तु साधवः॥
विविधगदार्तिदरिद्रनाशनं या हरिरमणीव करोति योगरत्नैः।
विलसतु शार्ङ्गधरस्य संहिता सा कविहृदयेषु सरोजनिर्मलेषु॥
उत्तर० १३।२५-२७

१. ये परिभाषायें वंगसेन में भी इसी रूप में मिलती हैं।

समावेश किया गया है यथा अहिफेन, आकारकरभ। अहिफेन का प्रयोग स्तम्भन और वातनाशन के लिए है। इसके अतिरिक्त, जयपाल, जातीफल का प्रयोग भी बढ़ा है। भंगा का औषधीय प्रयोग प्रारंभ हुआ। जातीफलादिचूर्ण (ग्रहणी) में आधा भाँग ही है। भेषजमात्रा तथा परिभाषा का विस्तृत विचार किया गया है। द्रव्यगुण का विचार नहीं होने से प्रतीत होता है कि उस समय चिकित्सा कल्पानुसार होती थी, द्रव्यों का वैज्ञानिक विचार दुर्बल पड़ गया था।

४. शारीर के कुछ तथ्यों का विशदीकरण हुआ है। दोष, धातु, मल की निरुक्ति दी गई है (पूर्व ५।२३)। दोषों के प्रसार में वात की कारणता बतलाई गई है। उदान वायु के आधाररूप में फुफ्फुस का परिचय दिया गया है। वायु के संयोग से धातुओं का पोषण होता है तथा किस प्रकार श्वसनक्रिया द्वारा विष्णुपदामृत (ऑक्सिजन) शरीर के भीतर जाकर समस्त देह को आप्यायित करता तथा अग्नि को प्रज्वलित करता है इसका स्पष्ट चित्रण यहीं मिलता है। पाचन-प्रक्रिया तथा मूत्रनिर्माण-प्रक्रिया का भी स्पष्ट वर्णन है।

रक्त को दोष मानने की ओर भी झुकाव था क्योंकि वातज, पित्तज, कफज रोगों के बाद रक्तज रोगों की भी गणना की गई है।

५. २० वर्ष की आयु से ही मैथुन प्रारंभ करने की अनुमति दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि बालविवाह की प्रथा प्रारंभ हो गई थी।

६. क्रिमियों में २० के अतिरिक्त एक स्नायुक क्रिमि का भी वर्णन किया गया है। विद्वानों का विचार है कि यह रोग इस देश में मुसलमानों के साथ आया।

७. रोगों का वर्गीकरण विस्तार से किया गया यथा आमवात चार प्रकार का, वातरक्त आठ प्रकार का, दृष्टिरोग आठ प्रकार के, गर्भदोष आठ, स्त्रीदोष तीन। सोमरोग का भी वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त उपद्रवरूप तथा विषाक्त लक्षण के रूप में उत्पन्न विकारों का भी निर्देश किया गया है यथा शीतोपद्रव, शल्योपद्रव, क्षारोपद्रव, भल्लातकजन्य शोथ, कपिकच्छूजन्य कण्डू, पूग-भंगा आदि जन्य मद। संभवतः भांग का प्रयोग नशे के लिए भी उस काल में होने लगा था।

८. चिकित्सा में विषों का प्रयोग बढ़ा था। वत्सनाभ, विषमुष्टि तथा कृष्णसर्पविष के योग वर्णित हैं। जयपाल के अञ्जन का भी विधान है।

९. धातुओं का शोधन-मारण तथा अनेक रसौषधों का निर्माण एवं प्रयोग वर्णित है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय चिकित्सा में रसौषधों का विशेष प्रयोग होता था।

१०. चिकित्साविधियों में पञ्चकर्म, धारास्वेद, शिरोबस्ति, मूर्धतैल का विशेष उल्लेख है। शोणितस्रावविधि के अन्तर्गत 'पद' का प्रयोग है, यह संभवतः मुसलमानी जर्राहों का 'फस्त खोलना' है। अग्निकर्म में अन्तर्गत अण्डकोष के सिरादाह,

विषूची में पार्ष्णिदाह तथा यकृत्-प्लीहादि में तत्स्थानीय दाह का विधान है। सूचिकाभरण रस में शिर में क्षत बनाकर औषध रगड़ने का विधान है जिससे रक्त में औषध शीघ्र प्रविष्ट हो जाय।

११. चिकित्सा में प्रयुक्त अनेक अनुभवसिद्ध एकल द्रव्यों तथा योगों का वर्णन किया है। इनमें हृच्छूल में शृंगभस्म, गण्डमाला में काञ्चनार-वरुण; मेदोदोष में बृ० पंचमूल, श्लीपद में शाखोटक, व्रण में निम्बदल-कल्क, गृध्रसी में शेफाली तथा महानिम्ब, परिणामशूल में विष्णुक्रान्ता, रक्तार्श में अपामार्ग, प्रदर में तण्डुलीय आदि अवलोकनीय हैं।

१२. सेक्स की प्रमुखता के कारण उस युग में वाजीकरण, स्तम्भक आदि अनेक प्रकार की औषधियों की माँग बढ़ी जिसका संकेत शार्ङ्गधर में मिलता है। स्तम्भक (आकारकरभादिचूर्ण), वाजीकरण (मापादिमोदक), भगसंकोचकर, लिंगवृद्धिकर, योनिद्रावक, वशीकरण आदि योग इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, रोमाभावकर, पलितनाशन तथा केशवर्धन लेप भी हैं।

शार्ङ्गधर ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों विशेषतः चक्रदत्त और सोढल का उपयोग किया है। रसशास्त्रीय सामग्री रसशास्त्र के ग्रन्थों से ली गई है।

शार्ङ्गधरसंहिता की टीकायें और अनुवाद

लोकप्रिय ग्रन्थ होने के कारण इसकी अनेक टीकायें लिखी गई। ऑफ्रेक्ट ने निम्नांकित टीकाओं का उल्लेख किया है :—

१. शार्ङ्गधरशारीर टीका
२. दीपिका—आढमल्लकृत
३. गूढार्थदीपिका—काशीरामकृत
४. आयुर्वेददीपिका—रुद्रभट्टकृत
५. वोपदेवकृत

इनमें दीपिका प्राचीनतम मानी जाती है। हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाओं में भी इसके अनुवाद हुये हैं। दीपिका और गूढार्थदीपिका टीकाओं के साथ पं० परशुराम शास्त्री द्वारा संपादित संस्करण निर्णयसागर, बम्बई द्वारा प्रकाशित है (प्रथम संस्करण १९२०)। इसकी हिन्दी टीका चौखम्बा वाराणसी तथा श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा प्रकाशित हुआ है। बहुत पहले लखनऊ से एक संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ निकला था। बैजनाथ सारस्वतकृत हिन्दी छन्दों में अनुवाद तथा वार्त्तिक के साथ 'शार्ङ्गधरसुधाकर' नामक व्याख्या मिर्जापुर से सं० १९०० के लगभग प्रकाशित हुई थी।[1]

---

१. देखें—प्रियव्रत शर्मा: आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें, पृ० १९-२२
इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट सभी पुस्तकें स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संगृहीत हैं।

इसका बंगला संस्करण १८९२ ई० में कविराज प्रियमोहनसेन गुप्त द्वारा प्रकाशित हुआ था।

परहितसंहिता

श्रीनाथ पण्डित आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे; उनके द्वारा रचित यह संहिता संपूर्ण आयुर्वेद को उपस्थित करती है। इस ग्रन्थ के अष्टांगकाण्ड का चौथा (शालाक्य) और पाँचवाँ (शल्य) प्रकरण डी० वी० सुब्बा रेड्डी द्वारा संपादित होकर श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय तिरुपति से प्रकाशित हुआ है (१९७२ ई०)। इसका कुछ अंश १९५२ में वी० रामस्वामी शास्त्रुलु, मद्रास ने छपवाया था जिसमें यह सूचना दी गई थी कि उनकी पाण्डुलिपि में तीन काण्ड हैं :–१. साधारण काण्ड २. अष्टांगकांड ३. रसकाण्ड। यह पाण्डुलिपि मद्रास राजकीय प्राच्य हस्तलिखित ग्रन्थकार में स्थित पाण्डुलिपि से भिन्न है।

श्रीनाथ पंडित का काल १५वीं शती का उत्तरार्ध या १६वीं शती का पूर्वार्ध निर्धारित किया गया है। वाग्भट और सुश्रुत का विशेष उपयोग किया गया है। फिरंग रोग का वर्णन इसमें नहीं मिलता।[1]

आधुनिक काल

भावप्रकाश

भावप्रकाश[2] भावमिश्र की प्रसिद्ध रचना है। भावमिश्र आयुर्वेदीय इतिहास में मध्यकाल तथा आधुनिक काल की देहली पर स्थित हैं ठीक उसी प्रकार जैसे वाग्भट प्राचीन तथा मध्यकाल की सीमारेखा पर अवस्थित हैं। इन्होंने प्राचीन संहिताओं का अनुसरण करते हुए भी अनेक मौलिक विचारों एवं नवीन द्रव्यों का समावेश अपने ग्रन्थ में किया है। भावप्रकाश लघुत्रयी का अन्तिम तथा महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो शताब्दियों से वैद्यसमुदाय में लोकप्रिय रहा है।

लेखक ने प्रारम्भिक पद्यों में अपने परिचय के सम्बन्ध में संकेत किया है। उसने लिखा है कि प्राचीन मुनियों के निबन्धों से संगृहीत सूक्तिमणियों के द्वारा चिकित्साशास्त्र में व्याप्त जाड्यान्धकार को दूर करने के लिए भावमिश्र इस प्रकाश की संरचना कर रहा है। अध्यायान्त पुष्पिकाओं, इति श्रीलटकनतनयश्रीमस्मिश्रभावविरिचिते

---

१. Book review, Srinath Pandit : Parahita Samhita, by P. V. Sharma, Bulletin of the Institute of History of Medicine (Hyderabad), vol. III, No. 3, July, 1973, PP. 162-163.

२. 'भावप्रकाश' का अर्थ भावों-शास्त्रीय तथ्यों एवं द्रव्यों पर प्रकाश या भावमिश्र के द्वारा प्रस्तुत प्रकाश दोनों हो सकता है।

भावप्रकाश'[1] से पता चलता है कि उनके पिता का नाम लटकन (मिश्र) था। 'मिश्र' उपाधि तथा 'विप्र' 'भूमिदेव' आदि शब्दों के विशेष प्रयोग से उनका ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। उन्होंने अपने जन्मस्थान या निवासस्थान का कोई उल्लेख नहीं किया है। कुछ विद्वान उन्हें वाराणसी या कान्यकुब्ज का मानते हैं किन्तु इसकी पुष्टि में उन्होंने कोई युक्ति नहीं दी है। भावमिश्र ने एक पद्य में विष्णुपद का उल्लेख किया है जिससे विष्णुपदतीर्थ से उनका निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। विष्णुपद का मन्दिर गया में है। 'संयाव' पक्वान्नविशेष के लिए उन्होंने 'पेरकिया इति लोके'[2] लिखा है। यह शब्द मगध में ही प्रचलित है, उत्तरप्रदेश में इसके बदले 'गुझिया' शब्द व्यवहृत होता है। इससे अनुमान होता है कि वह गया या उसके निकटवर्ती स्थान के निवासी थे।

भावमिश्र शैव थे जिसका उन्होंने अनेक स्थलों पर संकेत किया है।[3] प्रारम्भिक पद्यों में गणेश की वन्दना की गई है तथा विष्णु का उल्लेख 'श्रीपति' और 'मधुसूदन' शब्दों से हुआ है[4]। त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश[5]) और हनुमान् का भी उल्लेख है[6]।

काल

काल-निर्णय करने के पूर्व यह देखना चाहिए कि भावमिश्र ने किन-किन ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है। निम्नांकित ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के उद्धरण भावप्रकाश में मिलते हैं:—

१. चरक	८. चक्रदत्त	१५. शार्ङ्गधर
२. सुश्रुत	९. हारीत	१६. रसेन्द्रमंगल
३. अष्टांगसंग्रह	१०. जेज्जट	१७. रसरत्नाकर
४. अष्टांगहृदय	११. रत्नमाला	१८. रसेन्द्रचिन्तामणि
५. रुग्विनिश्चय	१२. अमरकोश	१९. रसेन्द्रसारसंग्रह
६. वृन्दकृत सिद्धयोग	१३. धन्वन्तरिनिघण्टु	२०. रसरत्नसमुच्चय
७. चिकित्साकलिका	१४. मदनपालनिघन्टु	२१. रसरत्नप्रदीप

१. उपोद्घात, प्रत्यक्षशारीरम् , पृ० ५१
जॉली : मेडिसिन, पृ० २
२. २।६२।५५
३. १।६।९५
४. १।५।१५
५. १।५।१३१
६. १।५।१३२

२२. त्रिशती	३२. रसहृदयतन्त्र	४२. वंगसेन
२३. चन्द्रमौलि	३३. रसामृत	४३. वृन्दटीका
२४. वराहमिहिर	३४. तन्त्रान्तर	४४. गदाधर
२५. राजनिघण्टु	३५. जतूकर्ण	४५. दृढबल
२६. वृद्धसुश्रुत	३६. पराशर	४६. रसप्रदीप
२७. आत्रेय	३७. चारपाणि	४७. द्रव्यगुण (ग्रन्थ)
२८. धन्वन्तरि	३८. दिवोदास	४८. कश्यप
२९. खरनाद	३९. वृद्धवाग्भट	४९. गुणरत्नमाला
३०. भेड	४०. वाग्भट	५०. काशीखण्ड
३१. अग्निवेश	४१. वैदेह	५१. विष्णुधर्मोत्तर[1]

उसने शार्ङ्गधरसंहिता (१३वीं शती) का विशेष रूप से अनुसरण किया है। इसी प्रकार निघण्टुभाग में मदनपालनिघण्टु का पूरा उपयोग किया गया है। अहिफेन, भंगा, पारसीकयवानी आदि मध्यकालीन औषधद्रव्य संभवतः वहीं से लिये गये हैं। मदनपालनिघण्टु की रचना १३४७ ई० में पूरी हुई थी। दूसरी ओर १७वीं शती के ग्रन्थ योगरत्नाकर, योगतरंगिणी तथा लोलिम्बराज ने भावप्रकाश को उद्धृत किया है। हर्षकीर्त्ति (१७वीं शती) ने अपने ग्रन्थ योगचिन्तामणि में रतिवल्लभ-पूगपाक, कामेश्वरमोदक आदि योग भावप्रकाश से लिये हैं। फिरंगज व्रण (चन्द्रिका) की चिकित्सा भी इस ग्रन्थ में वर्णित है।

आभ्यन्तर साक्ष्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य फिरंगरोग में रसकर्पूर, चोबचीनी आदि द्वारा इसकी चिकित्सा का वर्णन है। फिरंगरोग का प्रसार भारत में फिरंगियों (पुर्त्तगाली तथा अन्य युरोपीय) के द्वारा लगभग १५वीं शती में हुआ। यद्यपि रसकर्पूर का उल्लेख रसप्रकाशसुधाकर तथा रसेन्द्रसारसंग्रह में है तथापि उपदंश से पृथक् फिरंगरोग का वर्णन तथा रसकर्पूर द्वारा इसकी चिकित्सा का निर्देश सर्वप्रथम भावमिश्र ने किया। इस रोग में चोबचीनी (द्वीपान्तर वचा) का भी प्रयोग किया गया है।

भावमिश्र ने पश्चाद्देश, पश्चिम देश, परद्वीप शब्द का प्रयोग किया है। मुगलों के लिए 'मुद्गल' शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे उसकी स्थिति मुगलों के काल में सूचित होती है 'म्लेच्छ' और 'यवन' शब्द भी संभवतः मुसलमानों के लिए हैं।

जौली की सूचना के अनुसार टुबिञ्जन में १५५८ ई० की भावप्रकाश की एक पाण्डुलिपि है किन्तु वहाँ से प्राप्त फोटो प्रतिलिपि की जाँच करने पर इसमें कोई

1. देखें :—

P. V. SHARMA : Bhavamisra—A Landmark in History of Indian Medicine, J. R. I. M., Vol VII, No. I, 1972

तथ्य नहीं दीखता। यदि इसे १५५८ मान लिया जाय तब भी संभव नहीं दीखता क्योंकि ग्रन्थ-रचना के बाद उसकी पाण्डुलिपि के प्रसार में कुछ समय अपेक्षित होता है। दूसरे प्रौढ रचना के काल तक ग्रन्थकार प्रौढ वय को पारकर चुका होता है। ऐसी स्थिति में भावमिश्र को १५वीं शती में ले जाना होगा जो फिरङ्गरोग-वर्णन आदि के परिप्रेक्ष्य में असमञ्जस होगा।

भावप्रकाश की प्राचीनतम पाण्डुलिपि जम्मू पुस्तकालय में सं० १७२२ (१६६५ ई०) की है।

इन सब तथ्यों को देखते हुए भावमिश्र का काल १५वीं और १७वीं शती के बीच अर्थात् १६वीं शती में सिद्ध होता है। आयुर्वेद में इनका स्थान वही है जो व्याकरण में भट्टोजि दीक्षित और साहित्य में पण्डितराज जगन्नाथ का है जो काल की दृष्टि से इनके पार्श्ववर्त्ती थे।

इनकी एक अन्य रचना गुणरत्नमाला है जिस पर संभवतः भावप्रकाश का निघण्टुभाग आधारित है।

भावप्रकाश का विषय-विभाग

ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है पूर्वखण्ड, मध्यम खण्ड और उत्तरखण्ड। पूर्व खण्ड के प्रथम भाग में आयुर्वेदावतरण से प्रारम्भ कर सृष्टिप्रकरण, गर्भप्रकरण, बालप्रकरण, दिनर्त्तुचर्याप्रकरण तथा मिश्रप्रकरण का वर्णन किया है। द्वितीय भाग में मानपरिभाषा, भेषजविधान, धात्वादि-शोधनमारण विधि, स्नेहपानविधि, पंचकर्म-विधि, धूमपानादि-विधि और रोगपरीक्षा प्रकरण हैं। मध्यम खण्ड में चार भाग हैं। प्रथम भाग में ज्वर से संग्रहणी तक, द्वितीय भाग में अर्श से वातरक्त तक; तृतीय भाग में शूल से भग्न तक और चतुर्थ भाग में नाडीव्रण से बालरोग तक का वर्णन है। इस प्रकार इस खण्ड में ७१ अध्यायों में चिकित्सा का निरूपण किया गया है। उत्तरखण्ड में केवल वाजीकरण और रसायन का विवरण है।

भावमिश्र का शास्त्रीय अवदान

भावमिश्र ने आयुर्वेद के विविध क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण अवदान दिये। उन्होंने परम्परागत ज्ञान को तत्कालीन ज्ञान तथा अपने पाण्डित्य एवं चिकित्सकीय अनुभवों से परिष्कृत एवं विकसित किया।

मौलिक सिद्धान्त

प्राचीन संहिताओं में प्रतिपादित सिद्धान्तों को संक्षिप्त एवं विशद रूप दिया यथा—

१. आयुर्वेद की परिभाषा प्राचीन के साथ-साथ व्यावहारिक दी गई।[1]

१. १।१।३-४

२. सभी पञ्चमहाभूतों के नाम 'व' अक्षर से दिये गये जिससे सरलता से स्मरण रहे।[१]

३. सुश्रुत में 'प्रकृति-विकृति' का कोई वर्ग पृथक् न रख 'अष्टौ प्रकृतयः' में ही उनका अन्तर्भाव कर लिया गया है किन्तु यहाँ उसका वर्ग पृथक् रक्खा गया है।

४. शारीर का वर्णन सुश्रुतानुरूप है फिर भी यकृत् का वर्णन बहुत स्पष्ट किया गया है (२।३३।९)। रससंवहन में केदारीकुल्यान्याय स्वीकृत किया है (१।३।१७६)। ओज अष्टबिन्द्वात्मक तथा अग्नीषोमीय कहा गया है (१।३।१८३)। जोवन की स्थिति संपूर्ण शरीर में मानी गई है विशेषतः शुक्र, रक्त और पुरीष में (१।३।१९८)।

५. सूतिकागृह के सम्बन्ध में कहा गया है कि आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा होना चाहिए तथा उसका द्वार उत्तर या पूरब की ओर हो[२]।

६. आठ मांगलिक द्रव्यों का भी उल्लेख है[३]।

द्रव्यगुण

भावमिश्र के पूर्व ही मदनपाल ने, मुसलमानों के संपर्क से व्यवहृत द्रव्यों का समावेश अपने निघण्टु में कर लिया था। इन द्रव्यों में पारसीकयवानी, अहिफेन, भंगा, जयपाल, खरबूज, पिण्डखर्जूर, सुलेमानी, अमृतफल प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भावप्रकाश में निम्नांकित द्रव्यों का सन्निवेश किया गया :—

१. पारसीकवचा
२. द्वीपान्तरवचा
३. आकारकरभ—इसका प्रयोग शार्ङ्गधर से ही प्रारम्भ हो गया था।
४. पुदीना
५. छोहाड़ा
६. दारुसिता
७. मार्कण्डिका
८. कलम्बक
९. सौवीर

इनके अतिरिक्त निम्नांकित द्रव्य भी अवलोकनीय हैं :—

१. चन्द्रशूर
२. कुलञ्जन
३. आम्रगन्धि हरिद्रा
४. अरण्यहरिद्रा
५. चुक्र
६. लताकस्तूरी
७. गन्धकोकिला
८. गन्धमालती
९. चिल्लक
१०. चर्मकारालुक
११. आम्रावर्त
१२. मखान्न
१३. कुमुदबीज
१४. चीनाक
१५. चिचिण्डा
१६. गर्जर
१७. आलुक
१८. खसतैल
१९. सर्जरसतैल

---

१. तन्मात्रेभ्यो वियद्वायुर्वह्निवारिवसुन्धराः।
एतानि पञ्च जायन्ते महाभूतानि तत्क्रमात्॥ १।२।२१

२. १।३।३४१

३. १।५।१६

कुछ द्रव्यों के वर्णन भी विशिष्ट रूप में मिलते हैं यथा—

१. पुष्करमूल कुष्ठ का एक भेद कहा गया है।

२. स्वर्णक्षीरी का मूल चोक कहा गया है।

३. कर्पूर दो प्रकार का कहा गया है पक्व और अपक्व।

४. कस्तूरी तीन प्रकार की कही गई है—कामरूपी (आसामी), नैपाली तथा काश्मीरी। कामरूप की कस्तूरी सर्वोत्तम कही गई है।

५. कुङ्कुम भी तीन प्रकार का कहा गया है—काश्मीरी, वाह्लीक और पारसीक। इनमें काश्मीर सर्वोत्तम माना गया है।

६. तगर दो प्रकार का है—तगर और पिण्डतगर।

७. अश्मन्तक काञ्चनार का पर्याय कहा गया है।

८. करञ्ज तीन प्रकार का कहा गया है—नक्तमाल, पूतिकरंज और करञ्जी।

९. मदनपाल का कुक्कुरद्रु ककुन्दर कहा गया है।

१०. चविका के फल को गजपिप्पली कहा है।

११. मदनपाल ने वृद्धकारक दो प्रकार का वतलाया है महाश्यामा और छगलान्त्री किन्तु भावप्रकाश ने यह भेद न कर छगलान्त्री को ही वृद्धदारक माना है।

१२, अष्टवर्ग का विस्तृत विवरण आकृति, प्राप्तिस्थान आदि के साथ दिया गया है किन्तु अन्त में यह लिखा कि यह राजाओं के लिए भी दुर्लभ है अतः इसका प्रतिनिधि लेना चाहिए[1]। चतुर्बीज बीजों का एक नया गण है। इसी प्रकार धान्य-वर्ग में धान्यपञ्चक वर्ग है।

१३. खनिजों में, स्वर्ण पाँच प्रकार का तथा रजत तीन प्रकार का कहा गया है। धातुओं में, 'यशद' शब्द प्रयुक्त हुआ है और उसका वर्णन भी किया है। मुक्ता के अनेक स्रोतों का उल्लेख है।

१४. कदली के माणिक्य, चम्पक आदि भेद वर्णित हैं। ये सब हाजीपुर (मुजफ्फरपुर, विहार) में पाये जाते हैं।

१५. द्रव्यों की प्राप्ति में कठिनाई को देखते हुए तत्सम प्रतिनिधि द्रव्यों की एक लंबी सूची प्रस्तुत की गई है किन्तु इसके साथ यह सतर्क कर दिया गया है कि प्रमुख द्रव्य का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।[2]

१६. द्रव्यों के परीक्षण की विधि वतलाई गई है (१।६।१११-१२०)। सुश्रुत में भूमि पञ्चभूतों के अनुसार पाँच प्रकार की कही गयी है किन्तु भावप्रकाश में वर्णानुसार चार प्रकार की वर्णित है—ब्राह्मण, (श्वेत), क्षत्रिय (रक्त), वैश्य

१. निघण्टु, हरीतक्यादि १४३

२. योगे यदप्रधानं स्यात्तस्य प्रतिनिधिर्मतः।
यत्तु प्रधानं तस्यापि सदृशं नैव गृह्यते॥—१।६।१६७

पीत) और शूद्र (कृष्ण)। यह भी कहा गया है कि इन भूमियों में उत्पन्न द्रव्यों का व्यवहार तत्तद् वर्णों के लिए करना चाहिए[1]। औद्भिद द्रव्यों के पाँच विभाग किये गये हैं—वनस्पति, वानस्पत्य, क्षुप, वल्ली और ओषधि[2]। यह संभवतः राजनिघण्टु के अनुसार है।

१७. द्रव्यों के प्रयोज्य अंगों का सोदाहरण उल्लेख किया गया है।[3]

१८. द्रव्यगुण के मौलिक सात पदार्थों को बड़ी सुन्दर रीति से एक पद्य में निबद्ध कर दिया गया है।[4]

१९. दीपन, पाचन आदि की परिभाषा शार्ङ्गधर के अनुसार दी गई है (१।६।२१३-२३७)।

चिकित्सा

सामान्यतः इस क्षेत्र में भावमिश्र ने शार्ङ्गधर का विशेष रूप से अनुसरण किया है। रोगिपरीक्षा—प्रकरण में त्रिविध परीक्षा (दर्शन, स्पर्शन, प्रश्न) है किन्तु अष्टस्थान परीक्षा में नेत्र, मूत्र, नाड़ी, जिह्वा इन चार का ही वर्णन है। इससे पता चलता है कि चिकित्सकों में अन्य चार का प्रचार नहीं था। निदान-पञ्चक तो माधव-निदान के अनुसार है किन्तु क्रम कुछ भिन्न है। संप्राप्ति का स्थान सबसे अन्त में है संभवतः इसका विचार उतना नहीं किया जाता था। सुश्रुतोक्त लक्षण के साथ-साथ भावमिश्र ने तन्त्रान्तर से स्वस्थ पुरुष के चौदह लक्षण दिये हैं। चिकित्सा के चार पादों में द्रव्य से धन का ग्रहण किया गया है जिससे चिकित्सा के व्यावसायिक रूप का पता चलता है।

रोग-वर्णन के प्रसंग में निम्नांकित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं :—

१. रसेन्द्रसारसंग्रह के अनुसार वातव्याधि की तरह पित्तव्याधि और श्लेष्म-व्याधि का भी वर्णन स्वतंत्र अध्यायों में किया गया है।

२. शार्ङ्गधर के अनुसार वातपित्त शूलप्रकरण में कहा गया है। अम्लपित्त के साथ श्लेष्मपित्त का वर्णन पृथक् अध्याय में है।

३. उदररोगों के अतिरिक्त, प्लीहयकृत् रोगों का वर्णन रसेन्द्रसारसंग्रह के समान पृथक् अध्याय में है।

४. मेदोरोग के बाद कार्श्यरोग एक पृथक् अध्याय में वर्णित है।

५. वृद्धिप्रकरण में ब्रध्न रोग का वर्णन है।

---

१. १।५।११५

२. १।५।१२२

३. १।६।१०१-१०२

४. द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च।
पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च ॥—१।६।१९६

६. उपदंश के अतिरिक्त, फिरंगरोग का वर्णन चिकित्सा के साथ पृथक् अध्याय में किया गया है।[1]

७. मसूरिका-प्रकरण में शीतला का वर्णन तथा काशीखण्ड से उद्धृत शीतला-स्तोत्र का विधान है।

८. एक पृथक् अध्याय में सोमरोग, मूत्रातीसार और शय्यामूत्र का वर्णन किया गया है।

९. अनेक गर्भनिरोधक योग दिये गये हैं तथा सूतिकारोग की चिकित्सा विस्तार से वर्णित है।

१०. वाजीकरण-प्रकरण में कहा गया है कि इसका विधान धनी, कामी, बहुपत्नी, कामुक वृद्ध, क्लीब तथा क्षीणशुक्र व्यक्तियों के लिए किया गया है। मुगलकालीन सुरा-सुन्दरी के वातावरण के लिए यह स्वाभाविक ही था।

इस अध्याय में अनेक मोदक और पाक का वर्णन है जिनमें कामेश्वरमोदक, आकारकरभादि चूर्ण, मृतसंजीवनी सुरा, श्रीगोपालतैल आदि प्रमुख हैं। रसरत्नाकर से भी कुछ योग उद्धृत हैं।

११. चिकित्साविधियों के क्रम में, संशोधन चिकित्सा का प्रचार नहीं होने के कारण संशमन चिकित्सा का ही विधान अधिकांश किया गया है। दूसरे, रसौषधों का प्रयोग बहुलता से देखा जाता है। कर्पूरासव, अहिफेनासव आदि नवीन योग भी लोकप्रिय थे।

भावप्रकाश की टीकायें

भावप्रकाश पर ऐसी संस्कृत टीकायें नहीं लिखी गई जैसी शार्ङ्गधर पर। कश्मीर के महाराज रणवीरसिंह के आदेश से जयकृष्ण के पुत्र जयदेव ने इस पर एक टीका लिखी जो अपूर्ण है। इसकी पाण्डुलिपि जम्मू पुस्तकालय में है। इस टीका का पूरा नाम 'श्रीरणवीरसिंहदेवावलोकनसद्वैद्यसिद्धान्तरत्नाकर' है। इसी पुस्तकालय में उपलब्ध इसकी राधाकृष्णकृत सर्वनिघण्टुसर्वस्वटीका भी है और भी हिन्दी टीकायें लिखी गई। दत्तराम चौबे ने भी एक टीका लिखी है। लालचन्द्र वैद्य की टीका अच्छी है।

इसका प्राचीनतम संस्करण १८७५ में कलकत्ता से जीवानन्द द्वारा प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त निर्णयसागर बम्बई से दत्तराम चौबे की हिन्दी टीका के साथ १८५५ ई० में और वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से शालिग्रामवैश्यकृत हिन्दी टीका के साथ १९०६ में प्रकाशित हुआ। लखनऊ से भी हिन्दीटीकासहित संस्करण प्रकाशित हुये। बंगला में रसिकलालगुप्त तथा कैलाशचन्द्र विद्यारत्न ने प्रकाशित किये। गुजराती अनुवाद के साथ सस्तुं साहित्यवर्धक कार्यालय, बम्बई द्वारा दो खण्डों में

१. २५९।१-३; १०

१९६३-१९६६ में प्रकाशित हुआ है। आजकल मोतीलाल बनारसीदास तथा चौखम्बा के संस्करण चल रहे हैं।

केवल निघण्टुभाग का भी 'भावप्रकाश-निघण्टु' नाम से काफी प्रचार हुआ और प्रायः सभी भाषाओं में इसके अनुवाद हुये। अधिकांश लोग निघण्टु भाग के द्वारा भावप्रकाश को जानते हैं। इस पर हिन्दी में विश्वनाथ द्विवेदी तथा कृष्णचन्द्र चुनेकर की टीकायें हैं। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से पं० शिवशर्मा की 'शिवप्रकाशिका' टीका भी छपी है।

योगतरंगिणी

त्रिमल्लभट्ट की यह प्रसिद्ध रचना है। इसे स्वयं उन्होंने 'संहिता' कहा है[1] जिसमें आयुर्वेद के सभी अंगों का वर्णन है। ग्रन्थकार ने अपनी वंशावली का परिचय निम्नांकित रूप में दिया है—

सिंगणभट्ट
|
वल्लभ
|
त्रिमल्ल — राम — गोप

यह परिवार तैलंगीय कोडपल्ली ग्राम का मूलनिवासी, आपस्तम्बशाखानुयायी, आरवेल्लोपनामा तथा सम्प्रति काशीवासी था।

त्रिमल्लभट्टकृत ग्रन्थ के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं एक योगतरंगिणी और दूसरा बृहद् योगतरंगिणी। योगतरंगिणी[2] अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। पूरा ग्रन्थ ८१ तरंगों में पूर्ण हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने लिखा है कि प्रसिद्ध ५-६ ग्रन्थों को देखकर इसकी रचना की गयी है। इसमें मूलतः चिकित्सा का वर्णन है।

बृहद्योगतरंगिणी में १४८ तरंग है। यह दो खंडों में आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित (१९१३-१४ ई०) है। इसमें शारीर, द्रव्यगुण, रसशास्त्र, स्वस्थवृत्त, अरिष्टलक्षण, रोगिपरीक्षा के अतिरिक्त आयुर्वेद के आठों अङ्गों का वर्णन है। इसमें भी प्रारंभ में ग्रन्थकार ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है[3]। ग्रन्थ की समाप्ति भी

---

१. योगतरंगिणी १।७

२. लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं० २०१३.

३. तैलंगस्त्रिपुरान्तकस्य नगरे योगैस्त्रिमल्लो द्विजः।
नाम्ना योगतरंगिणीं प्रथयति ग्रन्थं ज्वराद्याश्रयम् ॥ १।४

'त्रिमल्लभट्टस्य कृतिः कृतार्था तदा भवेद् योगतरंगिणीयम्' से हुई है। ग्रन्थोक्त विषयों का भी निरूपण उपसंहार में किया गया है।[1]

बृहद्योगतरंगिणी की विषयवस्तु निम्नांकित रूप में व्यवस्थित है—

तरंग १	ग्रन्थावतारिका	तरंग १६	कृतान्नवर्ग
तरंग २	शारीर	तरंग १७-१८	दिनचर्या-रात्रिचर्या
तरंग ३	मान-परिभाषा	तरंग १९-४०	द्रव्यगुण
तरंग ४	युक्तायुक्तकथन	तरंग ४१-४३	रसशास्त्र
तरंग ५	स्नेहविधि	तरंग ४४-५०	अरिष्टज्ञान
तरंग ६	स्वेदविधि	तरंग ५१-५४	रोगिपरीक्षा
तरंग ७-१०	पञ्चकर्म	तरंग ५५	भैषज्यग्रहणकाल
तरंग ११	धूमपान	तरंग ५६	दोषधातुमलनिरूपण
तरंग १२	रक्तमोक्षण	तरंग ५७-१४७	चिकित्सा (काय, शल्य आदि सभी)
तरंग १३-१४	महानसादिविचार	तरंग १४८	सर्वरोगचिकित्सा
तरंग १५	ऋतुचर्या		

इस प्रकार कुल १४८ तरंगों में आयुर्वेद के सभी विषयों का प्रतिपादन हुआ है। उपदंश-प्रकरण में अनेक योग फिरंगरोग में उपयोगी कहे गये हैं। आलुकी (अरवी), गर्जर (गाजर) आदि द्रव्यों का भी वर्णन है। शार्ङ्गधर और मदनपाल निघण्टु से बहुशः उद्धरण है। त्रिमल्लभट्ट भावमिश्र और लोलिम्बराज के कुछ बाद हुये हैं क्योंकि उनके उद्धरण इसमें मिलते हैं। दूसरी ओर योगरत्नाकर ने त्रिमल्ल को उद्धृत किया है। अतः इनका काल लोलिम्बराज (१७ वीं शती का प्रारंभ) और योगरत्नाकर (१७वी शती का अन्त) के बीच (१७वीं शतीका मध्य) रखना चाहिए।[2]

टोडरानन्द

टोडरानन्द या आयुर्वेदसौख्य अकबर के सभ्य टोडरमल की कृति कहा जाता है। अधिक सम्भावना है कि टोडरमल की स्मृति में उसके किसी आश्रित पंडित ने

---

१. शारीराम्बुरुहा निदाननिनदा सम्यक्चिकित्सोदका,
द्रव्याख्यानखगा सुयोगलहरी नाड्यादिबोधाटवी।
सत्सूतादिविधानमीननिवहा धातुक्रियाशैवला,
नाम्ना योगतरंगिणी भुवि चिरं जीयादियं संहिता॥

२. P. V. SHARMA : Trimalla Bhatta : His date and work with special reference to his Materia Medica in one hundred Verses. I. J. H. S. Vol. 6, No 1, 1971.

यह ग्रंथ लिखा हो। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी पाण्डुलिपियाँ यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं[1]।

इसमें आयुर्वेद के सभी विषयों का वर्णन है। निघण्टु-प्रकरण में माधवकृत द्रव्यगुण पूरा का पूरा उद्धृत है[2]। इस ग्रन्थ में अनेक आचार्यों के मत उद्धृत हैं अतः इसका ऐतिहासिक महत्व है।

टोडरमल अकबर के समकालीन थे अतः इनका काल १६ वीं शती है।

आयुर्वेद-विज्ञान

भावप्रकाश के बाद उसका तथा अन्य प्राचीन-नवीन ग्रन्थों का आधार लेकर आयुर्वेदविज्ञान की रचना हुई। इसका प्रणयन १९वीं शती के अन्त में कविराज विनोदलाल सेनगुप्त ने किया। इस ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड १८८७ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व इसका प्रकाशन बंगानुवाद के साथ हुआ था। ग्रन्थकार ने अपनी रचना को निबन्ध या प्रबन्ध कहा है[3] क्योंकि भावप्रकाश से इन

---

१. ASC. GLN, MJK, CSC.

२. P. V. SHARMA : Madhava's Dravyaguna, Introduction. Pag 12

३. तदिमं चरमं ग्रन्थं (भावप्रकाशं) प्रधानमवलम्बनम्।
कृत्वा मूर्ध्ना प्रणेतारं कोटिकृत्वः प्रणम्य च॥
चरकात् सुश्रुताच्चापि ग्रन्थेभ्योऽन्येभ्य एव च।
समाहृत्य विशेषेण योगरत्नानि यत्नतः॥
यथाबुद्धि यथाज्ञानमस्माभिः क्रियते श्रमः।
तन्त्रोक्तव्यतिरिक्तानि निबन्धेऽत्र बहून्यपि॥
सततं परिदृश्यानि रुजां रूपाणि यानि च।
भेषजानि निबद्धानि तथा दृष्टफलानि च॥
"इहायुर्वेदविज्ञाने प्रबन्धेऽस्मत्कृते शुभे।
दोषांस्त्यक्त्वा गुणान् धीरा गृह्णन्तु करुणापराः॥

"परन्तु अधुनातनैः सुसभ्यैर्विद्यामहिमविद्भिर्भूपालकत्वमापन्नैः इंराजराजपुरुषैर्महोदयैर्मत्स्यरूपिणा भगवता नारायणेन वेदस्येव शास्त्रस्यास्य समुद्धारार्थं महानायासः क्रियते। यानि सन्ति आयुर्वेदतन्त्राणि, दुर्बोधत्वाच्चिन्त्यमानानि तानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः। अपरञ्च प्रायशः सर्वेष्वेव तन्त्रेषु बहुत्र समान एवार्थः प्रतिपादितः, बहवश्चार्थाः न हि वर्त्तमानकालीनानां मानवानामुपयोगिनः। इत्याकारैर्हेतुसंघैरस्माभिश्चरकसुश्रुतवाग्भटहारीतभावप्रकाश-वंगसेनचक्रदत्तरसेन्द्रचिन्तामणिरसरत्नाकरप्रभृतिभ्यो विविधायुर्वेदग्रन्थेभ्यः सारं सारं समाकृष्य तथा अनुक्तचराणामस्माकमेव पुरुषपरम्परया व्यवहृतानां सहस्रशो दृष्टफलानामस्माभिराविष्कृतानाञ्च भेषजादीनां प्रयोगादिकं वर्णयित्वा आयुर्वेदविज्ञानाख्यः सुविस्तीर्णः संग्रहोऽयं निबद्धः।"

ग्रन्थों का नाम संहितापरक नहीं रहा। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि १९वीं शती तक एलोपैथिक चिकित्सापद्धति ने जो ज्ञान इस देश में फैलाया उसका भी उपयोग इसमें अच्छी तरह किया गया है। भावमिश्र के समय यूरोपीय चिकित्सकों का यहाँ पदार्पण ही हुआ था अतः उन्हें फिरंगरोग का ही प्रसाद प्राप्त हुआ, उसकी चिकित्सा भी पूरी नहीं मिली किन्तु आयुर्वेदविज्ञान के काल तक उनका जाल पूरा बिछ चुका था अतः उससे किसी का बचना संभव नहीं था विशेषतः कलकत्ता जैसे नगर के वासी विद्वान का। यह स्मरणीय है कि १८३५ई० ने कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी। शाङ्र्गधर ने मध्यकालीन मुसलमानी संस्कारों को आत्मसात् किया और आयुर्वेदविज्ञान ने अर्वाचीन यूरोपीय ज्ञान को समाहित किया। भावमिश्र इन दोनों के बीच की श्रृंखला हैं जहाँ मध्यकालीन तथा अर्वाचीन प्रवृत्तियों का संगमविन्दु है। जिस प्रकार वाग्भट प्राचीन और मध्यकाल की सन्धिरेखा पर स्थित हैं वैसे ही भावमिश्र मध्यकाल और आधुनिक काल के केन्द्रविन्दु पर समासीन हैं।

ग्रन्थकार ने ग्रंथान्त में अपना परिचय देते हुए लिखा है कि उनके पितामह नित्यानन्द तथा पिता राजकिशोर थे और वह कलकत्ता के निवासी थे।[1] इन्होंने भैषज्यरत्नावली, द्रव्याभिधान, आर्यगृहचिकित्सा प्रभृति ग्रंथों की रचना की।

विषय-विभाग

आयुर्वेदविज्ञान का विषय चार स्थानों में विभाजित है—सूत्रस्थान, शरीरस्थान, द्रव्यस्थान और निदान-चिकित्सित स्थान। सूत्रस्थान में आयुर्वेदावतरण, परिभाषा, पञ्चकर्म, क्षारपाक, रक्तस्राव, रोगिपरीक्षा, यन्त्रशस्त्रादिवर्णन, धातुशोधन, मारण आदि विषय हैं। शारीरस्थान में शरीररचना तथा शरीरक्रिया का वर्णन है। द्रव्यस्थान में द्रव्यगुण का विषय है और निदान-चिकित्सितस्थान में रोगों के निदान एवं चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है।

पूरे ग्रंथ में अध्यायों की संख्या निम्नांकित है :—

१. सूत्रस्थान	७८ अध्याय
२. शारीरस्थान	१५ अध्याय
३. द्रव्यस्थान	४१ अध्याय तथा परिशिष्ट
४. निदान-चिकित्सितस्थान	८२ अध्याय
	२१६ अध्याय

१. श्रीगोविन्दपदारविन्दयुगलं ध्यात्वाखिलेष्टप्रदम्,
नित्यानन्दभिषग्वरस्य भुवने ख्यातस्य पौत्रो धिया।
श्रीमद्राजकिशोरनामसुधियः पुत्रोऽम्बिकावासवान्,
संजग्राह विनोदनामकभिषक् ग्रन्थं यथाज्ञानतः॥

इस प्रकार अध्यायों की कुल संख्या २१६ है तथा इनके अतिरिक्त द्रव्यस्थान के अन्त में एक परिशिष्ट है ।

आयुर्वेद विज्ञान की विशेषतायें

आयुर्वेदविज्ञान में प्राचीन तथ्यों का संग्रह होने के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार उस काल में प्रचलित नवीन तथ्यों का भी समावेश किया गया है। इस प्रकार आयुर्वेद के भीतर उन्हें आत्मसात् कर आयुर्वेदीय रूप देने का प्रयत्न किया गया है। इसे संपुष्ट करने तथा भावी पीढ़ी को विश्वास दिलाने के लिए प्राचीन शैली पर गुरु-शिष्यसंवाद भी प्रस्तुत किया गया है। एक स्थल पर आत्रेय और उरभ्र का संवाद है। उरभ्र का उपयोग और भी किया गया है। अनेक रोगों के आधुनिक नामों को संस्कृत में अनूदित कर उनका वर्णन किया गया है किन्तु चिकित्सा अधिकांश आयुर्वेदीय ही दी गई है। नई पीढ़ी के लिए इस संहिता का सन्देश है कि आधुनिक विज्ञान की ज्ञातव्य बातें शारीर, द्रव्यगुण आदि की ली जाँय। निदान में भी आधुनिक विधियों का सहारा लिया जाय किन्तु रोग को आयुर्वेदिक नाम देकर उनकी चिकित्सा आयुर्वेदीय औषधों से की जाय। यदि अन्यतन्त्रोक्त कोई उपयोगी औषध हो तो उसे अपने शास्त्र में समाविष्ट कर लिया जाय। इस प्रकार बीसवीं शती के लिए यह ग्रन्थ पथप्रदर्शक बना जिसके आधार पर गणनाथसेन आदि ने अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं।

कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है—

१. सूत्रस्थान (४४ अ.) योग्यासूत्रीय प्रकरण में दो प्रकार का ज्ञान बतलाया है—आनुमानिक और ऐन्द्रिय। शास्त्राध्ययन, गुरूपदेश आदि से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह आनुमानिक तथा जो स्वयं इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है वह ऐन्द्रिय कहलाता है। वैद्यों को दोनों प्रकार का ज्ञान अर्जित करना चाहिये। केवल आनुमानिक ज्ञान से कर्म में कौशल प्राप्त नहीं होता, विशेषतः शारीरविज्ञान, शस्त्रादिकर्म में तो ऐन्द्रियज्ञान नितान्त आवश्यक है इसके बिना कभी भी तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। शारीरज्ञान के लिए शवच्छेद तथा शस्त्रादिकर्म के लिए प्रत्यक्षाभ्यास अवश्य करना चाहिए।

२. नाडीपरीक्षा के प्रकरण (सू. ४५) में हृदय से धमनी द्वारा पूरा रक्तसंवहन आधुनिक सिद्धान्त से वर्णित है। नाडीस्पन्दन की संख्या भी बतलाई गयी है। नेत्रपरीक्षा में भी आधुनिक तथ्यों का समावेश किया गया है। मूत्रपिण्डविकृति के कारण नेत्रवर्त्मशोथ, अहिफेनसेवन से तारकासंकोच, धत्तूरभक्षण से तारकाविस्फार आदि बातें कही गई हैं।

हृदय और फुफुस के परीक्षण (सू० ४९ अ०) में अभिघातपरीक्षाविधि (Percussion), हृच्छब्द (Heart Sound), श्रवणपरीक्षा (Auscultation) आदि

का वर्णन किया गया है। श्रवणपरीक्षा में श्रवणयंत्र का उपयोग न कर वक्ष पर सीधे कान लगाकर सुनने का विधान है। इसी प्रकार उदरयंत्रों की परीक्षाविधि कही गयी है। बाह्याकृतिपरीक्षा में भी आधुनिक तथ्यों का समावेश है।

३. यन्त्रों (सू. ५०) तथा शस्त्रों (सू. ५१) का सचित्र वर्णन है।

४. औषधनिर्माण के लिए यन्त्रों का भी सचित्र वर्णन है (सू. ६१)। इसके अतिरिक्त धातुओं का शोधन-मारण (सू. ६२), उपधातुओं का शोधन-मारण (सू. ६३), पारदसंस्कार (सू. ६४), उपरस (सू. ६५), रत्न (सू. ६६) तथा विषोपविष (सू. ६७) का वर्णन विस्तार से किया गया है। कुछ जान्तव और वानस्पतिक द्रव्यों के शोधन की विधि भी बतलाई गयी है।

५. अस्थियों की संख्या (शा. १) २४६ बतलाकर उरभ्र का मत उद्धृत किया है। धमनी की शाखा-प्रशाखा का आधुनिक दृष्टि से वर्णन है (शा. ७)। 'नाडी' धमनी का पर्याय कहा है। सम्भवतः 'नाडी' शब्द केशिका के लिए भी प्रयुक्त है।[1] 'स्रोत' शब्द से लसीकावाहिनियों (Lymphatics) का ग्रहण कर इस प्रकरण (शा. ९) में उन्हीं का वर्णन किया गया है। 'स्नायु' से 'नर्व' का ग्रहण किया है (शा. १०)। हृदय[2] और फुफुस[3] आदि की रचना का विस्तृत वर्णन (शा. ११) किया गया है। अन्नविपाकक्रिया (शा. १२) भी आधुनिक रीति से वर्णित है। शा. १३ अ. में मूत्रयन्त्र तथा प्रजननयंत्र का विस्तृत वर्णन है। "वृक्क"[4] शब्द से 'किडनी' का वर्णन किया गया है। शा० १५ अ० में गर्भोत्पत्ति-क्रम का विस्तृत वर्णन है।

---

१. नाड्यः सूक्ष्माः नयन्त्यस्रं धमनीभ्यः सिराः सदा।
सिराभिर्हृदयं याति ततस्तद्धमनीः पुनः॥
एवं पुनः पुनर्देहं भ्रमेदस्रं निरन्तरम्। (शा० ८)

२. उरोमध्यगतः कोष्ठो लवलीफलवर्त्तुलः।
रक्ताधारश्चतुर्गर्भ आवरण्या समावृतः॥
तिर्यक्स्थो धमनीभूमिः फुफुसद्वयशीर्षकः।
स्फीत्याकुञ्चनशीलोऽसौ हृत्कोष्ठ इति कीर्त्तितः॥

३. फुफ्फुसस्तु द्विधा भिन्नो वामदक्षिणभेदतः।
पेश्यां वक्षःस्थलस्थायां समासन्नोऽणुशीर्षकः॥
अधोविशालो बहुभिः कोषैरिव मधुक्रमः।
दुष्टशोणितसंशुद्धिकोषोऽयं परिकीर्त्तितः॥

४. शिम्बीबीजनिभौ वृक्कौ यकृत्प्लीह्नोरधः स्थितौ।
पश्चादुदरवेष्टन्याः कटिदेशगतौ मतौ॥

६. द्रव्यस्थान में द्रव्यों का वर्गीकरण कर्मानुसार किया है यथा वृष्यवर्ग, वातघ्नवर्ग आदि। सम्भवतः इसमें भी आधुनिक भेषजविज्ञान के कर्मानुसार वर्गीकरण से लेखक को प्रेरणा मिली होगी। इस प्रकरण में अनेक नवीन द्रव्यों का समावेश किया गया है यथा—

शीतबीज (इसबगोल)	विशल्यकरणी (अयापान)
अन्तमल (अन्तमूल)	संविदामञ्जरी (गाञ्जा)
स्वर्णपत्री (सनाय)	सुधामूली (सालममिश्री)
श्यामबीज (काला दाना)	धूनराज (रूमी मस्तकी)
पीतमूली (रेवन्दचीनी)	अमरवल्ली (सालसा)
मज्जफल (माजूफल)	कटुवीरा (लालमिर्चा)
सुरप्रिय (शीतलचीनी)	महातिक्ता (मिष्मी तीता)
शार्दूलकन्द (वनपलाण्डु)	श्यामपर्णी (चाय)
श्रीवाससार (गंधाविरोजा)	मधुकर्कटिका (चकोतरा)
पिच्छिला (तुख्मे बालुंगा ?)	पीतकूष्माण्ड (कोहड़ा)
सहासार (मुसब्बर)	आलुक (आलू)
पीवरी (उलटकम्बल)	आलुकी (अरवी)
स्राविका (अर्गट)	

कृतान्नों में 'चिपिटक' शब्द 'चूड़ा' के लिए है। तैलवर्ग में (३७ अ.) अनेक आधुनिक उड़नशील तैलों का वर्णन है यथा रालतैल, यच्छद्रुमतैल, लवंगतैल, जातीफलतैल, दीप्यकतैल, त्वाचतैल आदि। निकुम्भतैल (जयपालतैल), खसबीजतैल (पोश्तादानातैल) तथा वातादतैल (बादामतैल) का भी वर्णन है।

७. निदानचिकित्सा-प्रकरण में भी नवीन विचारों का आयुर्वेदीकरण कर विषय को विस्तृत बनाया गया है। यथा ज्वरचिकित्सा समाप्त कर पुनः 'विविधतन्त्रोक्तज्वर चिकित्सा' शीर्षक देकर कुछ आधुनिक प्रयोग बतलाये गये। इसी प्रकार विषूची की विशेष चिकित्सा में अहिफेन, मृतसंजीवनी आदि का प्रयोग विहित किया गया। अहिफेन अतीसार के लिए अन्तिम औषध थी[1]। इसके अतिरिक्त, वेदनाशमन, सूत्रसंग्रहणीय, शुक्रस्तम्भक आदि के रूप में भी अहिफेन का प्रयोग था। उन्मादरोग में पिकमांस खिलाने का विधान है। आधुनिक हृद्रोगों का आवरणिक, पृथुक आदि नाम से वर्णन है किन्तु चिकित्सा में हृत्पत्री (डिजिटेलिस) का प्रयोग नहीं है। 'औपसर्गिकोपदंश' और 'औपसर्गिकमेह' से क्रमशः फिरंग और पूयमेह का वर्णन है। नेत्ररोगों में छेद्य, भेद्य आदि के लिए शस्त्रकर्म का विधान है। स्नायुशूल,

१. अहिफेनातियोगेन नातिसारो निवर्तते।
किन्त्वस्य बहुभिर्योगैः मा मृतो मृत एव सः॥ (नि. चि. १६)

स्खालित्य, आगन्तुज पक्षाघात आदि अनेक नये रोगों का वर्णन किया गया है। स्त्रीरोगों में बाधक तथा योषापस्मार विशेषतः उल्लेखनीय हैं। विषप्रकरण में होमियोपैथी चिकित्सा के सिद्धान्त को अपनाया है।[1]

मसूरिकाधिकार (६१ अ.) में चेचक का वर्णन है। मसूरिका की उत्पादन-विधि में 'धेनुस्तन्यमसूरिका' शाक्तेयग्रन्थ का श्लोक उद्धृत है।

इस प्रकार यथासम्भव अर्वाचीन तथ्यों का ग्रहण कर उसे आयुर्वेदीय रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास ग्रन्थकार ने किया है।

अन्य संहितात्मक ग्रन्थ

इस काल में और भी ग्रन्थ निर्मित हुये जहाँ यह प्रयत्न किया गया कि एक ही ग्रन्थ में सारा आयुर्वेद समाहित हो जाय।

विष्णु वासुदेव गोडबोले द्वारा निर्मित निघण्टुरत्नाकर (निर्णयसागर, बम्बई १८६७ ई०) भी ऐसा ही ग्रन्थ है। इसका हिन्दी अनुवाद रविदत्तवैद्यकृत नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छपा था (द्वितीय संस्करण, १८९२ ई०)। मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से अमृतसागर अगस्त १८९९ में प्रकाशित हुआ। बम्बई से एक ग्रन्थ 'नूतनामृतसागर' निकला जो ४४ तरंगों में समाप्त हुआ है। इसकी रचना सं० १९४७ में पूर्ण हुई। यह मुख्यतः भावप्रकाश का आधार लेकर चला है।

दत्तरामचौबेकृत बृहद्निघण्टुरत्नाकर ६ भागों में बम्बई से प्रकाशित हुआ है। ७–८वाँ भाग शालिग्रामनिघण्टु के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रथम भाग १९२४ ई० में निकला।

हिन्दी में मथुरा के हरिदास वैद्य का चिकित्साचन्द्रोदय सात भागों में प्रकाशित हुआ जिसमें आयुर्वेद के सभी विषयों का विवरण है। इसके प्रथम भाग का ८ वां संस्करण, चतुर्थ भाग का ११ वां संस्करण तथा सप्तम भाग का ६ठां संस्करण क्रमशः १९५५, १९५२ और १९५० में निकला जिससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता सूचित होती है।

बंगला में इसी प्रकार का ग्रन्थ 'आयुर्वेदसंग्रह' (देवेन्द्रनाथसेन गुप्त एवं उपेन्द्रनाथसेन गुप्तकृत) है जो बंगाली कविराजों में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ।

फिर भी सभी दृष्टियों से विचार करने पर 'आयुर्वेदविज्ञानम्' अर्वाचीन काल की अन्तिम संहिता मानी जानी चाहिए।

---

१. स्वयमुत्पद्यते देहे विषं व्याधिप्रभावतः।
तल्लक्षणस्य जनकं विषं तद् विनिवारयेत्॥

तृतीय अध्याय

व्याख्या-वाङ्मय

प्राचीनकाल में जो आर्ष तन्त्र लिखे गये वे संक्षिप्त सूत्रशैली में थे जिनका कुछ विशदीकरण प्रतिसंस्कार के प्रसंग में हुआ जब उन्हें संहिता का रूप उपलब्ध हुआ। फिर भी सिद्धान्तों एवं व्यवहारों के और विशदीकरण की अपेक्षा थी अतः विद्वानों ने उनपर व्याख्या लिखना प्रारम्भ किया। दूसरी बात यह थी कि परवर्ती विद्वान स्वयं कोई स्वतंत्र ग्रन्थ लिखकर पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझते थे अतः जो कुछ उनका मन्तव्य था वह तत्तद् विषयों की व्याख्या में व्यक्त कर देते थे। इस प्रकार ये व्याख्यायें केवल टीकामात्र न होकर वस्तुतः एक स्वतंत्र ग्रन्थ के समान हैं जिनमें व्याख्याकारों के विचार निबद्ध हैं। ऐसे व्याख्याकार निबन्धकार भी कहलाते हैं। प्रसिद्ध टीकाकार डल्हण ने अपनी व्याख्या का नाम ही 'निबन्धसंग्रह' रक्खा। इसके अतिरिक्त उन-उन विषयों पर सभी उपलब्ध संहिताओं एवं व्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन कर व्याख्याकार अपना निष्कर्ष देता है जो परवर्ती विद्वानों के लिए प्रामाणिक पथप्रदर्शक बन जाता है। स्पष्ट है कि ऐसे कठिन कार्य के लिए विलक्षण वैदुष्य एवं प्रौढ़ पाण्डित्य की आवश्यकता होती है। आयुर्वेद के अतिरिक्त, दर्शन, व्याकरण, साहित्य आदि अन्य शास्त्रों का भी उत्तम ज्ञान होना चाहिए। संस्कृत भाषा पर तो असाधारण अधिकार होना ही चाहिए। इन कारणों से अपने वैदुष्य को व्याख्या के माध्यम से शास्त्रनिकष पर कस कर लोक में आलोकित करने के लिए विद्वज्जन इस कार्य में प्रवृत्त होते थे। सत्य सदा आवृत रहता है, इसके आवरण को हटाकर उसे दृष्टिपथ में लाना एक पुण्य कार्य माना जाता है। सुधीसमाज इसमें अपने जीवन की सार्थकता मानता है; इस कार्य को पूरा कर जैसे वह किसी ऋण से मुक्त हो जाता है। संहिताओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी टीकायें लिखी गयीं जिनमें सैद्धान्तिक पक्ष के स्पष्टीकरण के अतिरिक्त व्यावहारिक पक्ष पर अपने अनुभव दिये गये। इस प्रकार कालक्रम से संहिताओं तथा अन्य ग्रन्थों के समानान्तर व्याख्या का एक विशाल वाङ्मय प्रस्तुत हो गया

जिसका स्वतंत्र रूप से आकलन आवश्यक है। इसका विवरण कालक्रम के अनुसार किया जा रहा है।

प्राचीन काल

प्राचीन काल मूलतः सर्जनात्मक प्रवृत्ति का था अतः उसमें मूलतन्त्र और संहितायें लिखी गयी। उनके प्रतिसंस्कार भी हुये। फिर भी व्याख्या का प्रारम्भ प्राचीन काल में ही हो गया था। यद्यपि इन व्याख्याओं की संख्या अधिक नहीं है। इस काल के प्रमुख व्याख्याकार निम्नांकित हैं—

१. भट्टारहरिचन्द्र—चरकसंहिता की 'चरकन्यास' व्याख्या के रचयिता हैं। यह व्याख्या केवल सूत्रस्थान के तीसरे अध्याय तक मिलती है। इसे लाहौर के पं० मस्तराम शास्त्री ने छपवाया था। विश्वप्रकाशकोश के रचयिता महेश्वर ने इन्हें अपना वंशज बतलाया है और वह साहसांक राजा के वैद्य थे ऐसी सूचना दी है।[1] इस सूचना के आधार पर यह विक्रमादित्य के राजवैद्य सिद्ध होते हैं। आचार्य यादव जी इस आधार पर इन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय का राजवैद्य बतलाते हैं किन्तु सहसांक से यशोधर्मन् का ग्रहण कर छठी शताब्दी में इन्हें रखना अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार यह वाग्भट प्रथम के समकालीन होंगे। सम्भवतः दृढबल का प्रतिसंस्कार तब तक हो चुका होगा और चरक संहितारूप में प्रसिद्ध भी हो चुकी होगी। पहले यह बतलाया गया है कि चरक की संहितारूप में प्रसिद्धि गुप्तकाल में हुई। जेज्जट, चक्रपाणि, विजयरक्षित आदि टीकाकारों ने उनके उद्धरण बहुशः दिये हैं।

भट्टारहरिचन्द्र का गद्यकवि के रूप में बाणभट्ट[2] तथा वाक्पतिराज[3] ने स्मरण किया है। वल्लभदेव (१५वीं शती) और श्रीधरदास (१३वीं शती) ने क्रमशः सुभाषितावली और सदुक्तिकर्णामृत में इनके पद्य उद्धृत किये हैं। पादताडितक में ईशानचन्द्र के पुत्र कांकायनगोत्रीय बाह्लीकनिवासी हरिचन्द्र का वैद्य के रूप में

---

१. श्रीसाहसाङ्कनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरंगपदमद्वयमेव बिभ्रत्।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलंचकार।
और देखें—
प्रियव्रतशर्माः भट्टारहरिचन्द्र और उनकी चरक-व्याख्या, सचित्र आयुर्वेद, अप्रैल-मई, १९६७

२. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ (हर्षचरित १।१२)

३. भासे ज्वलनमित्रे कुन्तीदेवे च यस्य रघुकारे।
सौबन्धवे च बन्धे हारिचन्द्रे च आनन्दः ॥ (गौडवध ८००)

उल्लेख है जो पाटलिपुत्र एक वेश्या की चिकित्सा के सिलसिले में आये थे।[1] चरकसंहिता में भी हम कांकायन वाह्लीकभिषक् को अनेक परिषदों में भाग लेते देखते हैं।[2] यह संभव है कि चरककाल में कांकायनगोत्रीय वाह्लीक वैद्यों का जो संपर्क इस देश से हुआ था वह स्थायी हो गया हो और उस परम्परा के वैद्य यहाँ बस गये हों और उन्हीं में से भट्टाहरिचन्द्र हो। संभवतः वह उज्जयिनी के निवासी हों क्योंकि उस काल में उज्जयिनी राजसत्ता का केन्द्र बन रही थी।[3] अपनी व्याख्या के प्रारंभ में उन्होंने सूर्य की वन्दना की है जिससे प्रतीत होता है कि वह सूर्यपूजक थे। उज्जयिनी में सूर्यपूजा तथा सूर्यमन्दिरों का बाहुल्य बाणभट्ट की रचनाओं से भी सूचित होता है।[4] भट्टारहरिचन्द्रकृत मंगलाचरण का प्रथम श्लोक निम्नांकित है :—

स्वयंभुवे प्राणभृतान्तरात्मने जगत्प्रदीपाय जगद्धितैषिणे।
विवस्वते दीप्तसहस्ररश्मये सुरोत्तमायामिततेजसे नमः॥

इसके बाद चरक की वन्दना में कई श्लोक हैं जो अधिकांश त्रुटित हैं। उनमें निम्नांकित श्लोक अवलोकनीय हैं। (कोष्ठक में मेरे द्वारा पूर्ति की गई है)—

(सर्वं) परीक्ष्य खलु येन तदेव शास्त्रं संज्ञां च (कार सकलां) न च शेषितोऽर्थः।
लोकोपकारि (मुनये) कविसत्तमाय भक्त्या प्रणम्य महते चरकाय तस्मै॥

अन्त में लिखा है—

'नमो ब्रह्मप्राजापत्याश्विशक्रभरद्वाजात्रेयाग्निवेशेभ्यः'

व्याख्या के प्रारंभ में तन्त्रयुक्ति, व्याख्याप्रकार, कल्पना तथा तन्त्रदोषों की विवेचना की गई है। तन्त्रयुक्तियाँ ४० मानी गई हैं जब कि दृढबल ने ३६ ही मानी हैं। चक्रपाणि ने इस पर विस्तृत विचार किया है और अन्त में लिखा है कि—'तदुत्तरतन्त्रे प्रतिपादितत्वान्नेह विलिखिता आचार्येण' इससे संकेत मिलता है कि दृढबल ने सुश्रुत का आधार लेकर तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया।

भट्टारहरिचन्द्र ने खरनादसंहिता का भी प्रतिसंस्कार किया था ऐसा अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु के लेख से पता चलता है।[5] यह प्रतिसंस्कार चरकसंहिता के आधार पर ही हुआ था। अरुणदत्त तथा हेमाद्रि की व्याख्याओं में भी खरनादसंहिता के अनेक उद्धरण मिलते हैं। इनकी लिखी भट्टारसंहिता का भी निर्देश मिलता है।

---

१. एष हि वाह्लिकः कांकायनो भिषगैशानचन्द्रिः हरिश्चन्द्रः—पादताडितकम् (चतुर्भाणी पृ० १७८); भूमिका पृ० ९—१० भी देखें।
२. च० सू० २५।२२, २६।५, सा० ५।१८
३. देखें राजशेखरकृत काव्यमीमांसा
४. देखें कादम्बरी का उज्जयिनीवर्णन
५. या च खरनादसंहिता भट्टारहरिचन्द्रकृता श्रूयते सा चरकप्रतिबिम्बरूपैव लक्ष्यते इन्दुकृत शशिलेखाव्याख्या। (अष्टांगसंग्रह, कल्प०)

शताब्दियों तक भट्टार की व्याख्या की विद्वत्समाज पर धाक जमी रही। उसके बाद ही जेज्जट का स्थान था—

'व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च ।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्टर्यं समावहति ॥' (चन्द्रट-चिकित्साकलिकाव्याख्या)

चरकीय मान्यताओं के अवबोध के लिए भट्टार की व्याख्या का अवलम्ब अनिवार्य माना जाता था।[1]

२. स्वामिकुमार या स्वामिदास—इन्होंने चरकसंहिता की चरकपञ्जिका नामक व्याख्या की रचना की।[2] यह व्याख्या भट्टारहरिचन्द्रकृत चरकन्यास की अनुगामिनी है।[3] इससे प्रतीत होता है कि स्वामिकुमार भट्टार के समकालीन थे या कुछ परवर्ती हों। शृङ्गारहाट के एक प्रकरण में उल्लेख है—'आवन्तिकः स्कन्दस्वामी'[4] यहाँ स्कन्दस्वामी सम्भवतः कुमारस्वामी या स्वामिकुमार के लिए है, इस प्रकार यह अवन्ति या उज्जयिनी के निवासी प्रतीत होते हैं। गुप्तकाल में इस प्रकार के नाम प्रचलित थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रधानमंत्री शिखरस्वामी था। स्वामिकुमार का काल ७वीं शती है। जेज्जट ने इन्हें उद्धृत किया है।

स्वामिकुमार ने अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में शिव की वन्दना की है इससे प्रतीत होता है कि वह शैव थे। इसके बाद चरक की वन्दना निम्नांकित रूप में है। (कोष्ठक में मेरे द्वारा पूर्ति की गई है)—

'यश्चित्ते निभृतं निचाय्य बहिरप्यानन्दमुक्तोद्यतं
भक्तानामपि दर्श (यन्तमुरगप्राप्ता) प्रहारं हरम् ।
वाचां व्याकरणेन शुद्धि (म) करोद् योगेन चित्तस्य य-
स्तं वन्दे चरकं हिताय (वपुषो) व्याख्यातवैद्यागमम् ॥'

इसमें चरक को भी इन्होंने शैव बतलाया है तथा पतंजलि से इनकी एकता दिखलायी है।

इसके बाद ब्रह्मा, प्रजापति, अश्वि, इन्द्र, भरद्वाज, आत्रेय, अग्निवेश प्रभृति को नमस्कार किया है।

---

१. हरिश्चन्द्रकृतां व्याख्यां विना चरकसंमतम् ।
यस्तनोत्यकृतप्रज्ञः पातुमिच्छति सोऽम्बुधिम् ॥

२. इसकी पाण्डुलिपि राजकीय प्राच्य हस्तलिखितग्रन्थागार मद्रास में है। (नं० डी० १३०९१)

३. मुनिं हरिश्चन्द्रमृषिं विपश्चितां प्रकाशितार्थं कथनं चकार यः ।
तस्याद्भुतार्थां श्रुतिमप्रमादतः परीक्ष्य कुर्मश्चरकस्य पञ्जिकाम् ॥

४. चतुर्भाणी, पृ० १५९

मध्यकाल

अधिकांश टीकाकार इसी काल में हुये अतः अनेक विद्वान मध्यकाल को संग्रह-काल या टीकाकाल कहना पसन्द करते हैं। मध्यकाल ८वीं शती से प्रारम्भ होता है। जेजट (९वीं शती) ने जिन टीकाकारों को उद्धृत किया है स्पष्टतः वे उसके पूर्व कम से कम ८वीं शती में होंगे।

८वीं शती

१. आषाढवर्मा—इन्हें जेज्जट, चक्रपाणि और निश्चलकर ने उद्धृत किया है। इन्होंने चरकसंहिता पर 'परिहारवार्त्तिक' नामक टीका लिखी।

२. हिमदत्त (सर्वहितमित्रदत्त)—इन्होंने चरकसंहिता तथा अष्टांगहृदय पर टीका लिखी। इनका निर्देश केवल जेज्जट ने किया है। लगता है, इनकी टीकायें शीघ्र ही लुप्त हो गयीं।

३. क्षीरस्वामिदत्त—इन्हें जेज्जट और चक्रपाणि ने उद्धृत किया है। यह 'वार्त्तिककार' के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने चरकवार्त्तिक की रचना की।

४. पतञ्जलि—पतञ्जलि-प्रणीत 'चरकवार्त्तिक' का निर्देश मिलता है। सिद्धान्त-सारावली भी इनकी रचना है। भाष्यकार पतञ्जलि से यह भिन्न हैं। आषाढवर्मा ने अपने परिहारवार्त्तिक में पतञ्जलिकृत वार्त्तिक के दोष दिखाये हैं[1] अतः यह आषाढ-वर्मा से किंचित् पूर्ववर्ती होंगे।

५. शिवसैन्धव—इसका उल्लेख जेजट और चक्रपाणि ने किया है। यह चरक के टीकाकार थे।

६. वैष्णव—इनका निर्देश जेज्जट ने 'वैष्णवाः' शब्द से किया है। इन्होंने चरकसंहिता पर टीका लिखी।

७. चेल्लदेव—इसका निर्देश केवल जेज्जट ने किया है। इन्होंने चरकसंहिता पर टीका लिखी।

९वीं शती

१. जेज्जट—जेज्जट ने बृहत्त्रयी की सभी संहिताओं पर व्याख्या लिखी। चरक-संहिता पर उसकी निरन्तरपदव्याख्या हरिदत्तशास्त्री द्वारा सम्पादित तथा लाहौर से १९४० में प्रकाशित हुई है। यह अपूर्ण है। सुश्रुतसंहिता पर भी इसकी टीका थी जिसके आधार पर चन्द्रट ने सुश्रुतसंहिता की पाठशुद्धि की थी। डल्हण, विजयरक्षित तथा हेमाद्रि ने भी इस टीका का उपयोग किया है। अष्टांगहृदय पर भी इसकी टीका थी। यह भी किंवदन्ती प्रचलित है कि इन्दु और जेज्जट वाग्भट के शिष्य थे किन्तु यह निराधार है क्योंकि जेज्जट ने वाग्भट द्वितीय को उद्धृत किया है इससे

१. बृहत्त्रयी, पृ० १७,२१

प्रतीत होता है कि अष्टांगहृदय की रचना के वहुत बाद जेज्जट हुये[1]। भट्टारहरिचन्द्र का भी उसने निर्देश किया है इससे यह भट्टार के भी परवर्त्ती हैं।

जेज्जट की टीकायें लोकप्रिय थीं अतः परवर्ती टीकाकारों ने इसका पर्याप्त उपयोग किया है। गयदास, चक्रपाणि, डल्हण, विजयरक्षित, निश्चलकर, हेमाद्रि, शिवदाससेन प्रभृति टीकाकारों ने जेज्जट को उद्धृत किया है। चन्द्रट ने भट्टारहरिचन्द्र के साथ-साथ जेज्जट और सुधीर की विद्वत्तापूर्ण व्याख्याओं का उल्लेख किया हैं।

वृन्द (९वीं शती) ने सिद्धयोग (३९।३३) में जेज्जट का उल्लेख किया है अतः इसका काल ९वीं शती के प्रारंभ में है।

२. सुधीर—चन्द्रट (१०वीं शती) ने इसका उल्लेख किया है अतः यह उससे पूर्व ९वीं शती में होगा। डल्हण ने इसे बहुशः उद्धृत किया है। विजयरक्षित ने भी इसका उल्लेख किया है। इसने सुश्रुत और सम्भवतः चरक पर भी टीका लिखी है।

३. माधव—माधव (सम्भवतः पर्यायरत्नमालाकार) ने प्रश्नसहस्रविधान या सुश्रुतश्लोकवार्त्तिक की रचना की। यह ग्रन्थ श्लोकबद्ध था जिसमें एक सहस्र प्रश्नों पर विचार किया गया है। निश्चलकर ने इसका उल्लेख किया है। श्रीमाधव ने सुश्रुतटिप्पण भी लिखा जिसका उल्लेख डल्हण ने किया है। दासगुप्त का मत है कि ये दोनों रचनायें एक ही हैं। सम्भवतः माधव की कोई टीका चरक पर भी हो। विजयरक्षित ने पूर्ववर्ती टीकाकारों में माधव का उल्लेख किया है।

४. अमितप्रभ—निश्चलकर ने इसे चक्रपाणि का पूर्ववर्ती बतलाया है। चन्द्रट ने भी इसे उद्धृत किया है। अमितप्रभ ने चरकसंहिता पर 'न्यास' लिखा है।

५. भद्रवर्मा—चन्द्रट और चक्रपाणि ने इसे उद्धृत किया है। इसने चरक पर टीका लिखी है।

१०वीं शती

१. चन्द्रनन्दन—अष्टांगहृदय पर इसकी 'पदार्थचन्द्रिका' नामक टीका है। डल्हण ने इसे उद्धृत किया है। गणनिघण्टु भी इसकी रचना है। यह कश्मीर का निवासी था और इसके पिता रविनन्दन थे। पूरी पदार्थचन्द्रिका व्याख्या का अनुवाद तिब्बती भाषा में १०३३-१०५५ ई० के बीच हुआ है। चन्द्रनन्दन ने रविगुप्तकृत

---

१. इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए 'वाग्भट-विवेचन' देखें।
और भी—
P. V. Sharma and G. P. Sharma : Jejjata and his informations about Indian drugs. I. J. H. S., Vol. 7, No 2, 1972.

सिद्धसार (९वीं शती) को उद्धृत किया है तथा स्वयं क्षीरस्वामी (११वीं शती) द्वारा उद्धृत है । अतः इसका काल १०वीं शती मानना चाहिये ।

२. चन्द्रट—यह तीसटाचार्य का पुत्र था। इसने अपने पिता की रचना 'चिकित्साकलिका' पर विवृति लिखी, योगरत्नसमुच्चय नामक चिकित्साग्रन्थ लिखा तथा सुश्रुत की पाठशुद्धि की ऐसा विवृति के उपसंहार-पद्य से पता चलता है।[1] चन्द्रट ने योगमुष्टि, चन्द्रटसोराद्धार तथा वैद्यककोष (द्रव्यावली) भी लिखा। इसने प्रारम्भ में जेज्जट (९वीं शती) का नाम्ना निर्देश किया है तथा इसीकी टीका के आधार पर सुश्रुत की पाठ शुद्धि की[2] अतः इसका काल १०वीं शती रखना चाहिए।

३. भासदत्त—इसने चरकसंहिता पर व्याख्या लिखी है। चक्रपाणि ने इसे उद्धृत कियाहै ।

४. ब्रह्मदेव—चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता दोनों पर इसने व्याख्या लिखी जिसका उद्धरण चक्रपाणि, डल्हण, श्रीकण्ठदत्त, हेमाद्रि और शिवदाससेन ने किया है। सुश्रुत पर इसकी व्याख्या 'टिप्पण' के रूप में प्रसिद्ध थी। हॉर्नले विश्वप्रकाश-कर्ता महेश्वर के पिता श्रीब्रह्म को ही ब्रह्मदेव मानते हैं।

५. भीमदत्त – यह चरक का व्याख्याकार था। केवल चक्रपाणि ने इसे उद्धृत किया है।

६. अङ्गिरि—चरकसंहिता पर इसकी व्याख्या थी जिसे चक्रपाणि ने उद्धृत किया है।

७. ईश्वरसेन—यह सिद्धेश्वरसेन के पुत्र कहे जाते हैं। चरकसंहिता पर इन्होंने टीका लिखी थी। सम्भवतः अष्टांगहृदय पर भी इनकी कोई टीका थी। चक्रपाणि, विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त ने इन्हें उद्धृत किया है।

११वीं शती

१. गयदास—यह गौडाधिपति महीपाल प्रथम (९८८–१०३८ ई०) के अन्तरङ्ग (राजवैद्य) थे[3]। सुश्रुतसंहिता पर इनकी न्यायचन्द्रिका टीका प्रसिद्ध है

---

१. चिकित्साकलिकाव्याख्यां योगरत्नसमुच्चयम् ।
सुश्रुते पाठशुद्धिं च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात् ॥
और देखें—
P. V. Sharma : Son's Commentary on Father's work II, J. R. I. M., Vol. VII, No 3, 1972

२. सौश्रुते चन्द्रटेनेह भिषक् तीसटसूनुना ।
पाठशुद्धिः कृता तन्त्रे टीकामालोक्य जैज्जटीम् ॥
—उपोद्घात, भानुमतीव्याख्या सुश्रुत, पृ० ८

३. R. C. Majumdar : History of Bengal, Vol. I, P. 136

जो डल्हणव्याख्या के साथ निर्णयसागर, बम्बई से मुद्रित है। यह टीका 'बृहत्-पञ्जिका' भी कही जाती है। गयदास ने जेज्जट (९वीं शती) को उद्धृत किया है तथा स्वयं डल्हण (१२वीं शती) द्वारा उद्धृत है। न चक्रपाणि ने गयदास को उद्धृत किया है और न गयदास ने चक्रपाणि को। अतः गयदास चक्रपाणि के समकालीन (११ वीं शती के) हैं। विजयरक्षित, निश्चलकर तथा शिवदाससेन ने भी इन्हें उद्धृत किया है। चरकसंहिता पर भी इनकी 'चरक-चन्द्रिका' व्याख्या है। सुश्रुत और चरक दोनों पर 'चन्द्रिका' व्याख्या लिखने के कारण यह चन्द्रिका-कार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

२. भास्कर या भास्कर भट्ट--इन्होंने सुश्रुतपञ्जिका की रचना की थी। कवीन्द्रग्रन्थसूची (१७वीं शती) में इसका उल्लेख है। गयदासकृत पञ्जिका की तुलना में यह लघुपञ्जिका कही जाती थी जिसका उद्धरण डल्हण ने किया है। भोजराज ने इन्हें 'विद्यापति' की उपाधि से सम्मानित किया था।

३. नरदत्त--यह चक्रपाणिदत्त के गुरु थे। इनकी रचना 'बृहत्तन्त्रप्रदीप' चरकसंहिता की व्याख्या के रूप में है।

४. चक्रपाणिदत्त--चक्रपाणिदत्त ने चरकसंहिता पर आयुर्वेददीपिका व्याख्या लिखी जो पूर्णरूप में उपलब्ध है अतः इसीका प्रचार अधिक है। इन्होंने सुश्रुतसंहिता पर भानुमती व्याख्या भी लिखी जो केवल सूत्रस्थान तक जयपुर से छपी है। इसके पूर्व कलकत्ता से गंगाप्रसाद सेन ने छपाया था। कौर्डियर ने काशी में इसकी संपूर्ण पाण्डुलिपि की सूचना दी है। इसके अतिरिक्त इनके ग्रंथ चक्रदत्त (चिकित्सासंग्रह) और द्रव्यगुणसंग्रह भी सर्वविदित है। शब्दचन्द्रिका (वैद्यककोष), व्याकरणतत्त्वचन्द्रिका व्यग्रदरिद्रशुभंकर तथा सर्वसारसंग्रह भी इनकी कृतियाँ कही जाती हैं। चक्रदत्त वृन्दकृत सिद्धयोग के आधार पर लिखा गया है। चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखने के कारण यह 'चरकचतुरानन' एवं 'सुश्रुतसहस्रनयन' विरुद से विभूषित किये गये थे। विश्वनाथसेन ने इनके सर्वसारसंग्रह ग्रन्थ पर टीका लिखी है।

आयुर्वेददीपिका तथा चक्रदत्त के अन्त में चक्रपाणि ने अपना परिचय दिया है। इसके अनुसार यह बंगाल (वीरभूम जिला ?) के लोध्रवलीकुल में उत्पन्न हुये थे। इनके पिता नारायणदत्त गौडाधिपति (नयपाल[२]) के महानसाध्यक्ष एवं मन्त्री तथा

१. गौडाधिनाथरसवत्यधिकारिपात्रनारायणस्य तनयः सुनयोऽन्तरंगात्।
भानोरनु प्रथितलोध्रवलीकुलीनः श्रीचक्रपाणिरिह कर्तृपदाधिकारी॥

२. शिवदास सेन : चक्रदत्तव्याख्या, सुस्थाधिकार, १६

इनके अग्रज भानुदत्त अन्तरंगपदवीप्राप्त राजवैद्य थे। नरदत्त इनके गुरु थे। नयपाल का काल १०३८-१०५५ ई० है[१]। अतः चक्रपाणि का काल लगभग १०७५ ई० मानना चाहिए।

५. सुवीर—इन्होंने सुश्रुतसंहिता पर व्याख्या लिखी है। इसे डल्हण और निश्चलकर ने उद्धृत किया है। निश्चलकर की उक्ति (तत्र सुविस्तरं सुवीरजेज्जटौ जल्पितवन्तः, तद्सारमिति गयदासः) से प्रतीत होता है कि वह गयदास के पूर्ववर्त्ती थे।

६. सुकीर—सुश्रुतसंहिता पर इसने टीका लिखी है। विजयरक्षित ने अन्य पूर्ववर्त्ती आचार्यों के साथ इसका उल्लेख किया है।

७. वंगदत्त—इन्होंने सुश्रुतसंहिता पर कोई व्याख्या लिखी है जिसे केवल डल्हण ने उद्धृत किया है।

८. नन्दी—नन्दी ने सुश्रुत की व्याख्या लिखी है। नन्दिगुरु का लिखा योगसार-संग्रह भी है जिस पर पूर्णानन्द ने टीका की है। कल्याणकारक के रचयिता उग्रादित्याचार्य के गुरु भी श्रीनन्दि हैं। कहना कठिन है कि डल्हण का अभिप्राय किससे है।

९. वराह—यह भी सुश्रुत के व्याख्याकार हैं। डल्हण ने सुवीर, नन्दी, वराह आदि को 'पूर्वव्याख्याता' करके उद्धृत किया है (सु० नि० १३।३)।

१०. कार्त्तिककुण्ड—इन्होंने सुश्रुतसंहिता पर टीका लिखी है। 'कार्त्तिकाचार्य' के नाम से यह प्रसिद्ध थे। चक्रपाणि, डल्हण, विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त ने इसे उद्धृत किया है।

११. वृन्दकुण्ड—शिवदास ने इसे उद्धृत किया है। सम्भवतः चरक पर इसकी टीका वृन्दटीका या वृन्दटिप्पण के नाम से विदित थी। सिद्धयोग के कर्त्ता से यह भिन्न तथा बहुत बाद हुआ है क्योंकि निश्चलकर (१३वीं शती) के पूर्व किसी ने इसका उल्लेख नहीं किया। आढमल्ल ने भी शार्ङ्गधरदीपिका में 'वृन्दटिप्पण' का उल्लेख किया है (मध्य० ८।१४)। सम्भव है, यह कार्त्तिककुण्ड का ही वंशज हो। यह कार्त्तिककुण्ड का परवर्त्ती है जो श्रीकण्ठदत्त की मधुकोषव्याख्या से प्रमाणित होता है।[२]

१२. श्रीकृष्ण वैद्य—इन्होंने चरकभाष्य की रचना की। यह विश्वप्रकाशकर्ता महेश्वर के पिता या पितामह कहे जाते हैं।[३] महेश्वर ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

---

१. Majumdar : Op. Cit., P. 144
२. Das Gupta : History of Indian Philosohy, Vol II
३. वृद्धत्रयी, पृ० ५७

हरिश्चन्द्र→श्रीकृष्ण→दामोदर→ मल्हण→केशव→ब्रह्म (भातृज)→महेश्वर।

१३. गयीसेन—'तन्नेच्छति गयी' करके डल्हण ने गयी का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। कुछ लोग इसे 'गयदास' का ही संक्षिप्त रूप मानते हैं किन्तु कुछ लोग इसे अन्य व्यक्ति कहते हैं। इन्होंने भी सुश्रुतव्याख्या लिखी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाम के अनेक व्यक्ति उस समय थे (एकः पुनर्गयीसेनो भेदैस्तु चतुर्विधः)[1]।

१४. लक्ष्मणटिप्पणक—यह टिप्पण सुश्रुतसंहिता पर लिखा गया था। डल्हण ने इसे उद्धृत किया है। सम्भवतः लक्ष्मण नामक किसी विद्वान ने इसकी रचना की।

१५. गूढपदभंगटिप्पणी—इस सुश्रुतटिप्पणी के रचयिता का पता नहीं चलता। डल्हण ने इसे उद्धृत किया है।

१२वीं शती

१. डल्हण—सुश्रुतसंहिता पर डल्हण की निबन्धसंग्रह व्याख्या प्रसिद्ध है। अन्य विषयों के अतिरिक्त औषधद्रव्यों का जो विवरण इसमें उपस्थित किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक प्रदेशों के स्थानीय नाम भी दिये हैं। इससे पता चलता है कि उन्होंने पूरे देश में घूम-घूम कर इनका प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान प्राप्त किया था।

व्याख्या के प्रारम्भ में उन्होंने जो परिचय दिया है उसके अनुसार वह भादानक देश में मथुरा के समीप अंकोला नामक स्थान के निवासी थे जहाँ सौरवंशज ब्राह्मण चिकित्साकौशल के द्वारा राजसम्मान प्राप्त कर रहते थे। उसी वंश में गोविन्द के पुत्र जयपाल, उसके पुत्र भरतपाल और भरतपाल के पुत्र श्रीडल्हण हुये। यह सहजपाल देव राजा के कृपापात्र थे।

प्रारम्भिक मङ्गलाचरण के पद्य में उन्होंने सूर्य, गणेश, गुरु, सरस्वती, माता और पिता की वन्दना की है। सौर ब्राह्मण होने के कारण आदि में सूर्य की वन्दना करना स्वाभाविक ही है।

इन्होंने तत्कालीन बहुविध ग्रन्थों एवं टीकाओं का उपयोग किया है जिससे उस काल के वाङ्मय के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। डल्हण ने चक्रपाणि (११वीं शती) को उद्धृत किया है और वह स्वयं हेमाद्रि (१३वीं शती) द्वारा उद्धृत हैं अतः उनका काल १२वीं शती का अन्तिम भाग (लगभग १२०० ई०) रख सकते हैं।

डल्हण की अन्य किसी रचना का पता नहीं चलता।

२. गदाधर—सुश्रुतसंहिता इसकी टीका है। विजयरक्षित और शिवदासमेन

---

१. भरतमल्लिककृत वैद्यकुलतत्त्व (देखें वृद्धत्रयी, पृ० २००)

ने इसे उद्धृत किया है। श्रीधरदासकृत सदुक्तिकर्णामृत (१२०५ ई०) में भी इसके उद्धरण हैं।

४. वाप्पचन्द्र (वाप्यचन्द्र)—इन्होंने चरकटीका और सम्भवतः सुश्रुतटीका के अतिरिक्त एक तन्त्र (वाप्पचन्द्रतन्त्र) की भी रचना की थी जिसका उल्लेख १७वीं शती की कवीन्द्रग्रन्थसूची में है। इन्हें विजयरक्षित, श्रीकृष्णदत्त, निश्चलकर, हेमाद्रि और शिवदाससेन ने उद्धृत किया है।

५. ईशानदेव—यह त्रिपुराधिपति केशवदेव के पुत्र कहे जाते हैं। इनकी चरकटीका प्रसिद्ध थी जिसका उपयोग विजयरक्षित, श्रीकण्ठदत्त, वाचस्पति और निश्चलकर ने किया है। यह स्वयं भी पिता के बाद त्रिपुराधिपति थे ऐसा कहा जाता है।

६. गुणाकर—वैद्य गुणाकर ने चरक पर कोई वृत्ति लिखी है। निश्चलकर ने इसे उद्धृत किया है। योगरत्नमाला-विवृति ग्रन्थ का रचयिता गुणाकर (१२४० ई०) भिन्न है जो जैन तथा हेमचन्द्र सूरि का प्रशिष्य कहा जाता है।

७. ध्रुवपाद—यह योगशतक की चन्द्रकला व्याख्या का कर्त्ता है। निश्चलकर ने इसे उद्धृत किया है।

८. जिनदास—यह जैनी विद्वान थे। इन्होंने चरक-व्याख्या लिखी है। इसके अतिरिक्त, जाम्बस्वामिचरित, कल्पभाष्यचूर्णि, कर्मदण्डी आदि इनकी रचनायें हैं। यह प्रद्युम्नक्षम के शिष्य कहे जाते हैं।

९. गोवर्धन (दत्त)—निश्चलकर ने इनकी अनेक रचनाओं का उल्लेख किया है। चक्रपाणि के गुरु नरदत्तकृत 'बृहत्तन्त्रप्रदीप' की टीका गोवर्धनदत्त ने की। इसके अतिरिक्त रत्नमाला, न्याससारावली, परिभाषावली, चिकित्सालेश आदि के भी वह रचयिता हैं।

१०. मैत्रेय—विजयरक्षित ने इनका उल्लेख किया है। सम्भवतः इन्होंने चरक पर टीका लिखी है।

११. रामदेव—सुश्रुतसंहिता पर इनकी टीका थी जिसका निर्देश निश्चलकर ने किया है।

१२. नागदेव—इन्होंने चरक पर टीका लिखी थी जिसे निश्चलकर ने उद्धृत किया है।

१३. भव्यदत्त—इन्होंने चरक पर टीका लिखी जिसे शिवदाससेन ने उद्धृत किया है। निश्चलकर ने इनकी अन्य रचनाओं, वैद्यप्रदीप और योगरत्नाकर, का निर्देश किया है और इन्हें 'विद्यामहाव्रत' कहा है।

१४. बकुलकर—यह निश्चलकर तथा शिवदाससेन द्वारा उद्धृत हैं। इन्होंने चरक और सुश्रुत की व्याख्या लिखी है। ये निश्चलकर के ज्येष्ठ तात थे ऐसा दिनेश-

चन्द्र भट्टाचार्य का अनुमान है जो निराधार है। सारोच्चय नामक ग्रन्थ भी इन्हीं का रचित है। निश्चलकर ने इन्हें 'अनवद्यवैद्यविद्याविनोदितविविधविद्वद्वृन्दारकमहोपाध्यायश्रीवकुलकरः' कहा है।

१५. सनातन—योगशतक पर इनकी वल्लभटीका है।

१६. विजयरक्षित—माधवकृत रुग्विनिश्चय की मधुकोषव्याख्या के रचयिता के रूप में आप अमर हैं। आपने जेज्जट, गदाधर आदि कृत पूर्ववर्त्ती टीकाओं का उपयोग कर इस व्याख्या में अपने स्वतंत्र विचार दिये हैं यह इनके निम्नलिखित प्रारम्भिक पद्य से पता चलता है—

'भट्टारजेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्रश्रीचक्रपाणिवकुलेश्वरसेनभोजैः।
ईशानकार्त्तिकसुवीरसुधीरवैद्यमैत्रेयमाधवमुखैर्लिखितं विचिन्त्य॥
तन्त्रान्तराण्यपि विलोक्य ममैष यत्नः"—

आपकी किसी अन्य रचना का पता नहीं चलता। श्रीकण्ठदत्त आपके योग्य शिष्य हुये। १२वीं शती के वकुलकर आदि को उद्धृत करने के कारण इनका काल १२०० ई० रखना चाहिए।

१७. श्रीकण्ठदत्त—यह विजयरक्षित के शिष्य थे। विजयरक्षित ने माधवनिदान की व्याख्या अश्मरीनिदानपर्यन्त की उसके बाद उसे श्रीकण्ठदत्त ने पूरा किया। इसके अतिरिक्त, वृन्दमाधव पर इनकी व्याख्या कुसुमावली प्रसिद्ध है जिसे नारायण नामक किसी विद्वान् ने १४वीं शती में उपबृंहित किया। निश्चलकर ने अमृतवल्ली के कर्त्ता जिस श्रीकण्ठ का निर्देश किया है वह भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

१३वीं शती

१. अरुणदत्त—यह मृगाङ्कदत्त का पुत्र था जिसका उल्लेख इसने स्वयं प्रारम्भिक पद्य[1] तथा अध्यायान्त पुष्पिकाओं[2] में किया है। इसने अष्टांगहृदय पर सर्वाङ्गसुन्दरा टीका की रचना की जो 'यथा नाम तथा गुणः' है। आफ्रेक्ट के अनुसार सुश्रुत पर भी इसकी कोई व्याख्या थी। ऑफ्रेक्ट ने निम्नांकित तीन अरुणदत्तों का उल्लेख अपनी ग्रन्थसूची में किया है:—

---

१. श्रीमन्मृगाङ्कतनयष्टीकामष्टाङ्गहृदयस्य ।
श्रीमानरुणः कुरुते सम्यग्द्रष्टुः पदार्थबोधाय ॥
'पदार्थबोधाय' पद से ध्वनित होता है कि यह टीका चन्द्रनन्दनकृत पदार्थचन्द्रिका-व्याख्या से प्रभावित है।

२. इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां..................अध्यायः समाप्तः।

१. अरुणदत्त—कोशकार एवं वैयाकरण—उज्ज्वलदत्त,[1] रायमुकुट[2] द्वारा उद्धृत।

२. अरुणदत्त—मनुष्यालयचन्द्रिका के कर्त्ता।

३. अरुणदत्त—अष्टाङ्गहृदय तथा सुश्रुतसंहिता के व्याख्याता।

कोशकार अरुणदत्त को क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने उद्धृत नहीं किया है किन्तु सर्वानन्दकृत व्याख्या (११५९ ई०) और गणरत्नमहोदधि (११४० ई०) में यह उद्धृत है अतः इसका काल १२वीं शती का प्रारंभ या ११वीं शती मानते हैं।

कुछ विद्वान् कोशकार अरुणदत्त तथा आयुर्वेद-व्याख्याकार अरुणदत्त को एक मानते हैं और कुछ भिन्न। इस कारण इसके काल के संबन्ध में भी मतभेद है। मेरे विचार से दोनों भिन्न व्यक्ति दो कालों में हुये हैं। वैद्य अरुणदत्त सर्वप्रथम हेमाद्रि (१३वीं शती उत्तरार्ध) द्वारा उद्धृत हुआ है, चक्रपाणि (११वीं शती) और डल्हण (१२वीं शती) ने इसका उल्लेख नहीं किया है। अतः इसका काल डल्हण के बाद और हेमाद्रि के कुछ पूर्व (१२२५ ई०) रखना चाहिए। डॉ० हार्नल ने इसका काल (१२४० ई०) निर्धारित किया है। ऐतिहासिकों में अधिकांश भ्रम कोशकार अरुण तथा वैद्य अरुणदत्त को एक मान लेने के कारण हुआ है। डल्हण द्वारा जो 'संग्रहारुणौ' का उल्लेख किया गया है[3] वहाँ भी अरुण कोशकार का ही अभिप्राय प्रतीत होता है। दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार यदि यह पाठ 'संग्रहारुणः' मान लिया जाय तब भी युक्तिसंगत नहीं मालूम होता क्योंकि अष्टांगसंग्रह पर अरुणदत्त की किसी व्याख्या का संकेत नहीं मिलता और न अष्टांगहृदय के संबद्ध प्रकरण पर निबद्ध विचार से सामञ्जस्य ही होता है। अतः यह युक्ति हृदयग्राही नहीं है। अरुण कोशकार का उल्लेख अन्य कोशों में बहुशः हुआ है।[4]

अरुणदत्तकृत सुश्रुतटीका का भी उल्लेख मिलता है।

२. इन्दु—अष्टागसंग्रह पर इन्दु की शशिलेखा व्याख्या प्रसिद्ध है। यह व्याख्या श्री टी. रुद्रपारशव द्वारा संपादित होकर त्रिचुर से १९१३ ई० में प्रकाशित हुई थी। कुछ अंश पूना से भी निकला है। इन्दु ने अष्टांगहृदय पर भी टीका लिखी है जिसकी पाण्डुलिपि (सं० 39 B 19 दे 657) अडियार पुस्तकालय (मद्रास) में है।

क्षीरस्वामी (११वीं शती उत्तरार्ध) ने अपनी अमरकोष-व्याख्या में इन्दुनिघण्टु को बहुशः उद्धृत किया है। अतः स्पष्टतः इस निघण्टुकार का काल अधिक से अधिक

---

१. पाणिनिकृत उणादिसूत्रों पर उज्ज्वलदत्त (१२५० ई०) कृत वृत्ति है।

२. रायमुकुटकृत अमरकोषटीका (१४३१ ई०)

३. अक्षिवैराग्यं रूपग्रहणेऽलसत्वमिति गयी, विगतरागे अक्षिणी भवतः इति संग्रहारुणौ-डल्हण (सु० क० १।३३)

४. देखें दुर्गसिंहकृत नामलिंगानुशासन, पृ० ४६, ३८, ५४-५६

११वीं शती का प्रारंभ होगा। डा० पी० के० गोडे ने इन्दु के काल पर विस्तार से विचार किया है।[1] वह इस इन्दु का काल १०५० ई० मानते हैं। किन्तु एक स्थल (सू० २।१७) पर मेदिनीकोष (१२वीं शती) का उद्धरण (आमिषं भोग्यवस्तुनि इति कोषः) इन्दु की व्याख्या में किया गया है। अतः स्पष्टतः यह व्याख्याकार इन्दु इन्दुनिघण्टु के कर्त्ता से भिन्न है और १२वीं शती के बाद (१३वीं शती में) स्थित है। हेमाद्रि ने सर्वप्रथम इसे उद्धृत किया है और अरुणदत्त के बाद इसे स्थान दिया है[2]। अतः यदि अरुणदत्त को १२२५ ई० के लगभग रक्खें तो इन्दु का काल १२५० ई० रख सकते हैं। महेश्वरकृत विश्व प्रकाश (१२वीं शती) और इन्दुकृत शशिलेखा-व्याख्या के उपक्रम-पद्य मिलते-जुलते हैं[3] अतः ऐसी संभावना है कि महेश्वर का अनुसरण इन्दु ने किया अतः इन्दु को महेश्वर के बाद ही रख सकते हैं।

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने अपने लेख[4] में यह दिखलाया है कि निश्चलकर ने इन्दु को उद्धृत किया है और चूँकि निश्चलकर का काल ११५० ई० है अतः उसके द्वारा उद्धृत कृतियों का काल ११०० ई० के पूर्व ही होगा। यह ध्यान देने की बात है कि निश्चलकर ने न तो 'इन्दु' शब्द का प्रयोग किया है और न 'शशिलेखा' का बल्कि केवल 'इंदुमती' शब्द का प्रयोग किया है। जो उद्धरण दिये गये हैं वे भी शब्दशः इन्दुटीका से मेल नहीं खाते। अतः सन्देह होता है कि इन्दुमती वस्तुतः इन्दुकृत शशिकला-व्याख्या का ही वाचक है। माधवद्रव्यगुण के टीकारकार रविनाभसुत मेघदेव ने भी इन्दुमती का उल्लेख किया है।[5] शशिलेखा के प्रारंभिक पद्य

---

१. P. K. Gode : Chronological limits for the Commentary of Indu on the Astangasamgraha of Vagbhata I, A. B. O. R. I. Vol XXV (1944), PP. 117-130

२. मैरेयो धान्यासव इति चन्द्रनन्दनः, खर्जूरासव इत्यरुणदत्तः इन्दुश्च।
—हेमाद्रि (अ० हृ० सू० ६।४०)

३. यः साहसांकचरितादिमहाप्रबन्धनिर्माणनैपुणगुणागतगौरवश्रीः।
यो वैद्यकत्रयसरोजसरोजबन्धुर्बन्धुः सतां सुकविकैरवकाननेन्दुः॥—विश्वप्रकाश
सरसि सुविपुलायुर्वेदरूपे कृतास्थं मुनिवरवचनौघे दीर्घनाले निबद्धम्।
रचितमलमिवांगैः संग्रहाख्यं सरोजं विकसितशशिलेखाव्याख्ययेन्दोर्यथावत्॥
—शशिलेखा

४. New light on Vaidyaka literature, I. H. q., Vol. XXXIII., No 1 (March, 1947)

५. भावस्वभाववादस्य प्रकाशं मेघनिर्मितम्। लिलेखेन्दुमती नूनं भिषजां बोधहेतवे॥
—P. Cordier's Collections No 1313, Bibliotheque Nationale, Paris.

से पता चलता है कि इसके अतिरिक्त अष्टांगसंग्रह पर अनेक टीकाओं का प्रणयन हो चुका था[1]। संभव है, इन्दुमती ऐसी ही टीकाओं में से कोई हो।

त्रिचुर द्वारा प्रकाशित संस्करण के उपोद्घात में संपादक ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें इन्दु और जेज्जट को वाग्भट का शिष्य कहा गया है। यह श्लोक केरल में प्रचलित एक दन्तकथा पर आधारित है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वाग्भट तथा इन्दु के काल में अत्यधिक अन्तराल होने के कारण इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[2]

काश्मीर के क्षेत्रीय नामों का उल्लेख होने के कारण इन्दु काश्मीरवासी प्रतीत होता है।

३. निश्चलकर—चक्रदत्त पर इसने विस्तृत व्याख्या 'रत्नप्रभा' नामक लिखी है जो अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी दो पाण्डुलिपियाँ भण्डारकर संस्थान, पूना में हैं। इस टीका में अनेक ग्रन्थों और टीकाओं के उद्धरण किये गये हैं जिससे पूर्ववर्त्ती वाङ्मय की जानकारी होती है।

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने इन पाण्डुलिपियों के आधार एक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है जिसमें निश्चलकर विजयरक्षित के शिष्य तथा श्रीकण्ठदत्त के सहाध्यायी कहे गये हैं। निश्चलकर का काल रामपाल देव का राज्यकाल (१०७८-११२० ई०) आधार मानकर ११९०–५० ई० माना गया है।[3] मैं इससे सहमत नहीं हूँ। इसमें निम्नांकित युक्तियाँ हैं—

१. निश्चलकर ने वंगसेन को उद्धृत किया है। वंगसेन चक्रदत्त पर आधारित है तथा रसशास्त्रीय विषय चक्रदत्त की अपेक्षा अधिक विकसित है अतः इसे १२०० ई० के पूर्व नहीं रक्खा जा सकता। हेमाद्रि के पूर्व इसे किसी ने उद्धृत भी नहीं किया है। इस प्रकार निश्चलकर १३वीं शती के पूर्व नहीं हो सकते।

२. विजयरक्षित के काल में वृन्दकृत सिद्धयोग का प्रचार था अतः उसके शिष्य श्रीकण्ठदत्त ने उस पर व्याख्या लिखी किन्तु निश्चलकर ने चक्रदत्त को उपजीव्य ग्रन्थ बनाया जिससे स्पष्ट होता है कि उसके काल में वृन्द को दबाकर चक्रदत्त आगे आ चुका था। इसमें पर्याप्त समय लगा होगा। अतः निश्चलकर विजयरक्षित के काफी बाद हुये होंगे, उनके गुरु-शिष्य संबन्ध का तो ऐसी स्थिति में कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

३. निश्चलकर ने श्रीकण्ठदत्त की तरह ऐसा नहीं कहा कि विजयरक्षित उसके

---

१. दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः।
सन्तु संवित्तिदायिन्यः सदागमपरिष्कृताः॥

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—मेरा 'वाग्भट-विवेचन' पृ० ३४४-३४८

३. New light on Vaidyaka libratur, I. H. Q., Vol XXXIII, No 1 (Marech, 1947)

गुरु थे। उसने 'आयुर्वेदगुरु' शब्द का प्रयोग किया है[1] जिसका अर्थ 'आयुर्वेदजगत् के लिए गुरुवत् आदरणीय' हो सकता है।

४. निश्चलकर को आढमल्ल (१४वीं शती) के पूर्व किसी ने उद्धृत नहीं किया है।

इन कारणों से निश्चलकर का काल १२७५ ई० के लगभग रख सकते हैं।

४. हेमाद्रि—यह कामदेव के पुत्र और देवगिरि के राजा महादेव (१२६०-१२७१) तथा रामचन्द्र (१२७१-१३०९) के श्रीकरणाधिप और प्रधानामात्य थे। अतः इनका काल १३वीं शती का उत्तरार्ध और १४वीं शती का प्रारंभ है। अष्टांग-रसायन' व्याख्या प्रसिद्ध है। वोपदेवकृत 'मुक्ताफल' तथा 'हरिलीला' पर भी इनकी हृदयपर इनकी 'आयुर्वेदटीका है। चतुर्वर्गचिन्तामणि इनका मौलिक ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त धर्मशास्त्र पर भी इनके अनेक ग्रन्थ हैं।

५. वोपदेव—हेमाद्रि के अन्तरंग मित्रों में थे और महादेव के राजपण्डित थे। इनके पिता केशव वैद्याचार्य थे। वोपदेव ने शार्ङ्गधरसंहिता पर तथा अपने पिता केशव के 'सिद्धमन्त्र' पर प्रकाशव्याख्या और स्वरचित शतश्लोकी पर चन्द्रकलाव्याख्या लिखी। वोपदेव की रचनाओं (मुक्ताफल, हरिलीला) पर हेमाद्रि ने टीका लिखी है इससे वोपदेव के वैदुष्य का प्रभाव लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त, हरिलीला के उपसंहार-पद्य में इन्होंने स्वयं अपनी कृतियों का विवरण प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार व्याकरण में १०, आयुर्वेद में ९, ज्योतिष में १, साहित्य में ३ तथा भागवत पर ३ ग्रन्थ लिखे। हृदयदीपक नामक निघण्टुग्रन्थ इनका लिखा है जो प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित हुआ है।

यह वरदा नदी के तट पर स्थित वेदपुर नामक स्थान के निवासी थे जो सिंहराज नामक राजा की राजधानी थी। इनके गुरु धनेश्वर थे।[3]

६. आशाधर—इसने अष्टाङ्गहृदय पर 'अष्टांगहृदयोद्योत' नामक टीका लिखी है। यह जैन आचार्य था।

१४वीं शती

१. आढमल्ल—इसने शार्ङ्गधर पर दीपिका टीका लिखी है। यह हम्मीरपुर का निवासी था और इसके पितामह चक्रपाणि तथा पिता भावसिंह दोनों विद्वान वैद्य थे। उस समय चम्बल नदी के तीर पर स्थित हस्तीकान्तपुरी में जैत्रसिंह राजा थे।

---

१. आयुर्वेदगुरौ स्वर्गं गते विजयरचिते। चक्रसंग्रहरत्नस्य कुबोधमलिनत्विषः॥

२. देखें—प्रियव्रतशर्मा : वैद्यविद्या के कण्ठहार श्रीकण्ठदत्त, साप्ताहिक आज (वाराणसी), १६ जुलाई, १९७२

३. विशेष विवरण के लिए देखें—
P. V. Sharma : The Hrdayadipaka of Bopadeva, J. R. I. M., Vol. 3, No 2, (1969)

ग्रन्थ के अन्त में एक खण्डित श्लोक[1] के आधार पर निर्णयसागर संस्करण के संपादक परशुराम शास्त्री ने इसका काल १२वीं शती निश्चित किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पाण्डुलिपि में 'शकानाम्' न होकर 'श्लोकानाम्' है जो उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका अर्थ वस्तुतः यह होगा कि आढमल्ल ने कोई पञ्जिका भी बनाई थी जिसमें ग्यारह हजार कुछ श्लोक थे अन्यथा 'पञ्जिकायां विनिर्ममे' इसका कोई संबद्ध अर्थ नहीं होता।

आढमल्ल ने रसरत्नसमुच्चय को बहुशः उद्धृत किया है[2] तथा १३वीं शती के रत्नप्रभाकार निश्चलकर को भी उद्धृत किया है।[3] इसने 'जसद' शब्द का प्रयोग किया है (म० ११।१) जो १४वीं शती के पूर्व नहीं मिलता। अतः आढमल्ल का काल १४वीं शती मानना चाहिए।

२. वाचस्पति—यह माधवनिदान पर आतंकदर्पण व्याख्या का रचयिता है। प्रारंभिक पद्यों में इसने जो परिचय दिया है उसके अनुसार इसके पिता प्रमोद हम्मीरनरेश के राजवैद्य थे तथा इसके बड़े भाई रायशर्मा मुहम्मद के सभासद् थे। वाचस्पति स्वयं चरक, सुश्रुत, सांख्य, वेदान्त और वैशेषिक इन पाँच शास्त्रों का विद्वान था और मधुकोष व्याख्या को देखकर इसने अपनी व्याख्या की रचना की।

डा० हार्नले ने हम्मीर और मुहम्मद को एक साथ लेकर हम्मीर मुहम्मद से मुहम्मद गोरी (११९३-१२०५ ई०) का ग्रहण किया है और इस प्रकार वाचस्पति का काल १२६० ई० निर्धारित किया है किन्तु यह सही नहीं है। उपर्युक्त पद्यों में प्रमोद का सम्बन्ध हम्मीरनरेश तथा रायशर्मा का संबन्ध मुहम्मद से पृथक्-पृथक् कहा गया है। अतः मेरे विचार से हम्मीरनरेश रणथंभौर का प्रसिद्ध राजा था जिसका जीवनचरित नयचन्द्रसूरि ने हम्मीरमहाकाव्य के रूप में लिखा है तथा जिस पर अलाउद्दीन खिलजी ने १२९० ई० में आक्रमण किया था। अतः मुहम्मद से उसके कुछ बाद राज्यासीन मुहम्मद तुगलक (१३२५-१३५१ ई०) का ग्रहण करना चाहिए। संभवतः हम्मीर की पराजय के बाद प्रमोद के पुत्र रायशर्मा ने मुहम्मद तुगलक का दरबार पकड़ा हो। अतः उसके अनुज वाचस्पति का काल १३४० ई० के आसपास होना चाहिए। संभवतः डल्हण को उद्धृत करनेवाला यह प्रथम निबन्धकार है।

१५वीं शती

१. शिवदास सेन—यह चरकसंहिता की तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या के रचयिता हैं। इस व्याख्या के अतिरिक्त उनकी निम्नांकित रचनायें हैं:—

१—चक्रदत्त की तत्त्वचन्द्रिका व्याख्या।

---

१. एकादश सहस्राणि तथा········। शकानामाढमल्लो हि पञ्जिकायां विनिर्ममे॥
२. शाङ्र्गधर मध्य० ११।२८-३५; १२।१८-२० इत्यादि।
३. वही, उत्तर० ८।१४-१५

२—चक्रपाणिकृत द्रव्यगुणसंग्रह की व्याख्या।

३—अष्टांगहृदय की तत्त्वबोध-व्याख्या (केवल उत्तरतन्त्र उपलब्ध है)।

४—भव्यदत्तकृत योगरत्नाकर की टीका।

शिवदाससेन ने अपना परिचय चक्रदत्त की व्याख्या के अन्त में दिया है। उसके अनुसार उनके पूर्वज साहिसेन शिखरेश्वर की राजसभा में थे तथा उनकी वंशावली निम्नांकित है :—

साहिसेन
|
काकुत्स्थ सेन
|
लक्ष्मीधर सेन
|
उद्धरण सेन
|
अनन्त सेन
|
शिवदास सेन
|

द्रव्यगुण की व्याख्या में एक श्लोक अधिक मिलता है। उसके अनुसार उनके पिता को गौडाधिपति बार्बक शाह द्वारा 'अन्तरंग' पदवी प्राप्त हुई थी। विद्याकुल संपन्न वैद्य को अन्तरंग की पदवी दी जाती थी। बार्बक शाह का काल १४५७ १३७१ ई० है। अतः उनके पिता का वही काल होगा तब शिवदास सेन का काल १५वीं शती के अन्त में होना चाहिए।[1]

१७वीं शती

१. काशीराम वैद्य—इसने शार्ङ्गधर संहिता पर गूढार्थदीपिका व्याख्या लिखी है। कहीं-कहीं पुष्पिका में काशीराम मिश्र नाम भी मिलता है। इसने मदनविनोद[2] (१४वीं शती), पथ्यापथ्यनिघंटु[3] (१५वीं शती) तथा भावप्रकाश[4] (१६वीं शती) को उद्धृत किया है। अतः इसका काल १७वीं शती रखना चाहिए।

व्याख्या के अन्त में 'श्रीमत् शाहसलेमस्य राज्ये कन्यागते रवौ' के शाहसलेम

१. देखें—G. P. Sharma & P. V. Sharma : Sivadasa Sen—a Scholar Commentator of Indian Medicine of Later medieval period, I. J. H. S., Vol. 6, No 2, 1971

२. शार्ङ्गधर, मध्य० २।१५९-१६०; ११।४०-४३

३. वही, ११।४०-४३

४. वही ११।२४

से शेरशाह के पुत्र (१५५० ई०) का ग्रहण कर इसका काल यही स्थिर किया है किन्तु भावप्रकाश के उपर्युक्त उद्धरण को देखकर यह उपयुक्त नहीं जँचता क्योंकि इसे १६वीं शती से पूर्व नहीं रख सकते। अतः शाहसलीम से जहाँगीर (१६०५–१६२७ ई०) का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उसका भी प्रसिद्ध नाम सलीम था।

२. नरसिंह कविराज—यह नीलकण्ठ भट्ट के पुत्र तथा रामकृष्ण भट्ट के शिष्य थे। इन्होंने मधुकोष के आधार पर माधवनिदान की एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या रोगविनिश्चयविवरणसिद्धान्तचिन्तामणि नाम से लिखी[1]। चरक पर भी इनकी टीका चरकतत्त्वप्रकाशकौस्तुभ है। मधुमती नामक एक अन्य चिकित्साग्रन्थ या निबन्ध की रचना भी इन्होंने की[2]।

३. रुद्रभट्ट—यह कोनेरिभट्ट के पुत्र थे और अब्दुल रहीम खानखाना के राजवैद्य थे। इन्होंने शार्ङ्गधरसंहिता पर आयुर्वेददीपिका या गूढान्तदीपिका टीका तथा लोलिम्बराजकृत वैद्यजीवन पर दीपिका टीका लिखी। चिकित्सा पर और भी कोई बृहत् ग्रन्थ लिखा था। कोनेरिभट्ट के प्रपितामह कृष्णभट्ट ने चरकसंहिता पर कोई टीका लिखी थी।[3]

१८वीं शती

१. रामसेन—यह मीरजाफर के राजवैद्य, 'कवीन्द्रमणि' के रूप में प्रसिद्ध थे। रसेन्द्रसारसंग्रह तथा रसेन्द्रचिन्तामणि पर इन्होंने टीका लिखी।

१९वीं शती

१. गंगाधर राय—चरकसंहितापर इनकी जल्पकल्पतरु व्याख्या विद्वत्तापूर्ण है विशेषतः इसमें दार्शनिक विषयों की गंभीर मीमांसा की गई है। चक्रपाणि-टीका के साथ इसका एक संस्करण कलकत्ता से १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ था।

कविराज गंगाधर राय का जन्म १७९९ ई० तथा देहावसान १८५५ ई० में हुआ। इनका कार्यक्षेत्र मुर्शिदाबाद रहा। उपर्युक्त व्याख्या के अतिरिक्त आयुर्वेद के सम्बन्ध में इनकी निम्नांकित रचनायें हैं—

१. परिभाषा
२. भैषज्यरामायण
३. आग्नेयायुर्वेदव्याख्या
४. नाडीपरीक्षा
५. राजवल्लभीय द्रव्यगुणविवृति
६. भास्करोदय
७. मृत्युञ्जयसंहिता
८. आरोग्यस्तोत्र
९. प्रयोगचन्द्रोदय
१०. आयुर्वेदसंग्रह

आयुर्वेद के अतिरिक्त, तंत्र, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों पर भी इनके ग्रन्थ हैं। इनकी कृतियों की कुल संख्या ७६ बतलायी जाती है।

---

१. इस टीका की एक पाण्डुलिपि काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय में है जिसका लिपिकाल १७७० ई० है। इसे जयचन्द्रदास नामक व्यक्ति ने लिखा है जो टीकाकार का शिष्य या प्रशिष्य प्रतीत होता है।

२. Das Gupta : Histoy of Ind. Ph. Vol. II, P. 534

३. V. Raghavan : New Catalogus Catalogorum.

इनकी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा बड़ी लम्बी है जो सारे भारत में फैली है। वह इस प्रकार है:—

- कविराज गंगाधर राय
  - द्वारकानाथसेन
    - स्वामी लछमीराम
      - स्वामी जयरामदासजी
        - स्वामी रामप्रकाशजी
          - (जयपुर-परंपरा)
    - योगीन्द्रनाथसेन
    - उमाचरणचक्रवर्ती
      - हरिरञ्जन मजुमदार, उपेन्द्रनाथदास प्रभृति
        - (देहली-परंपरा)
    - ज्ञानेन्द्रनाथसेन
      - (हरिद्वार-परंपरा)
  - हाराणचन्द्र चक्रवर्ती
  - परेशनाथसेन
    - धर्मदास
      - सत्यनारायण शास्त्री, राजेश्वरदत्त शास्त्री प्रभृति
        - प्रियव्रत शर्मा, गंगासहाय पाण्डेय प्रभृति
          - (वाराणसी-परंपरा)
    - श्यामादास
      - धरणीधर
        - जयदेवविद्यालंकार प्रभृति
          - (गुरुकुलकांगड़ी-परंपरा)
  - ईश्वरचन्द्रसेन
  - गोविन्दचन्द्रसेन
  - श्रीचरणसेन

२०वीं शती

१. हाराणचन्द्र चक्रवर्ती—यह कविराज गंगाधर के प्रमुख शिष्यों में थे। इन्होंने सौश्रुतपद्धति से शल्यकर्म का अभ्यास किया था और उसका प्रयोग भी करते थे। इन्होंने सुश्रुतसंहिता पर सुश्रुतार्थसंदीपन भाष्य लिखा जो १९०८ में कलकत्ता से छपा था। इनका देहावसान १९३५ ई० में हुआ।

२. योगीन्द्रनाथ सेन--यह कविराज गंगाधर राय के शिष्य महामहोपाध्याय कविराज द्वारकानाथ सेन के पुत्र थे। इनका जन्म कलकत्ता में १८७१ ई० में और देहावसान १९१८ ई० में हुआ। चरकसंहिता पर इन्होंने 'चरकोपस्कार' नामक सुबोध व्याख्या लिखी। यह व्याख्या १९२० ई० में अपूर्ण प्रकाशित हुई थी। अब इसका पुनः प्रकाशन स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट जयपुर से हो रहा है।

३. ज्योतिषचन्द्र सरस्वती--यह बंगवासी थे। इन्होंने चरकप्रदीपिका नाम से चरक की टीका लिखी जो केवल सूत्रस्थान तक प्रकाशित हुई थी। यह गणनाथ सेन के अत्याधुनिक विचारों से सहमत नहीं रहते थे अतः अवसर मिलने पर उनका खण्डन करते थे।

४. दत्तराम चौबे--वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित होने वाले अनेक ग्रन्थों का अनुवाद मथुरानिवासी दत्तराम चौबे ने किया। निघण्टुरत्नाकर जैसे बृहत् ग्रंथ की भी रचना आपने की। बेरीनिवासी रविदत्त वैद्य ने निघण्टुरत्नाकर की भाषा की है।

५. जयदेव विद्यालंकार--चरकसंहिता पर इनकी लिखी हिन्दी टीका बहुत लोकप्रिय हुई। वर्षों तक उसका एकछत्र साम्राज्य रहा। इसका ८वां संस्करण १९७० में प्रकाशित हुआ। चिकित्साकलिका तथा भैषज्यरत्नावली की भी हिन्दी टीका आपने की।

६. अत्रिदेव विद्यालंकार--अत्रिदेव विद्यालंकार ने चरक, सुश्रुत और वाग्भट सभी पर हिन्दी टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त, इनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित है। आयुर्वेद के क्षेत्र में इतनी संख्या में पुस्तकें लिखनेवाला शायद ही और कोई व्यक्ति हो। संपूर्ण अष्टांगसंग्रह पर एकमात्र हिन्दी टीका होने के कारण उसी का प्रचार विशेष है।

७. रामप्रसाद शर्मा--आप पटियाला के राजवैद्य थे। आपका जन्म सं० १९२९ में हुआ था। आपने चरकसंहिता, अष्टांगहृदय आदि ग्रंथों पर हिन्दी टीका लिखी है। पं० शिवशर्मा आपके सुपुत्र हैं।

८. भास्करगोविन्द घाणेकर—आपने एम० बी० बी० एस० करने के बाद आयुर्वेदाचार्य किया। काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में अध्यापक रहे। सुश्रुतसंहिता पर

आपकी टीका महत्वपूर्ण मानी जाती है यद्यपि यह केवल सूत्रस्थान और शारीरस्थान पर है। इसके अतिरिक्त औपसर्गिक रोग, स्वास्थ्यविज्ञान आदि अनेक ग्रंथों की रचना आपने की है।

९. दत्तात्रय अनन्त कुलकर्णी—इन्होंने रसायनशास्त्र में एम० एससी० करने के बाद आयुर्वेद का अध्ययन कर आयुर्वेदाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। उभयज्ञता तथा रसायनशास्त्र में विशेषता के कारण रसरत्नसमुच्चय पर लिखी आपकी हिन्दी टीका प्रामाणिक मानी जाती है। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालयीय आयुर्वेदिक कॉलेज में रसायनशास्त्र के अध्यापक थे और बाद में अनेक वर्षों तक उत्तरप्रदेश सरकार में स्वास्थ्यसेवा (आयुर्वेद) के उपसंचालक रहे। आपने आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों पर भी विचार किया है और आचार्य यादवजी द्वारा आयोजित शास्त्रचर्चा परिषदों में आप प्रमुख भाग लेते रहे।

१०. लालचन्द्र वैद्य—यह काशीस्थ अर्जुन आयुर्वेदविद्यालय में प्रधानाचार्य थे तथा अर्जुन मिश्र के प्रधान शिष्यों में थे। इन्होंने अष्टांगहृदय, भावप्रकाश तथा अष्टांगसंग्रह पर विवेचनात्मक व्याख्या हिन्दी में लिखी।

चतुर्थ अध्याय

कायचिकित्सा

यद्यपि आयुर्वेद अष्टांग है तथापि उसका आद्य रूप त्रिसूत्र या त्रिस्कन्ध है[1]। हेतु, लिंग और औषध यही आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्यभूत प्रतिपाद्य विषय है, इसी का पल्लवित रूप अष्टांग है। इस प्रकार निदान और चिकित्सा यही मुख्य हो जाता है और इसीलिए कायचिकित्सा की सभी अंगों में प्रधानता है। निदान और चिकित्सा ये दो पक्ष कायचिकित्सा के हैं। यद्यपि प्रारम्भ में ऐसा कोई विभाजन नहीं था किन्तु आगे चलकर दोनों का विभाजन स्पष्ट हो गया और फलस्वरूप दोनों पर स्वतंत्र वाङ्मय का सृजन होने लगा। अतः दोनों का पृथक् पृथक् विचार करना उपयुक्त होगा।

निदान

'निदान' शब्द मूलतः कारणवाचक है किन्तु क्रमशः वह रोगविनिश्चय का बोधक बना। अतएव निदानपञ्चक को 'रोगविज्ञान' कहा गया है[2]। हेतु, पूर्वरूप, रूप, संप्राप्ति तथा उपशय का ज्ञान किये बिना रोग का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता और उसके बिना चिकित्सा कैसे हो सकती है? आचार्यों ने इस पर निरन्तर बल दिया है कि रोग का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही चिकित्साकर्म में प्रवृत्त होना चाहिए अन्यथा सफलता संदिग्ध ही रहेगी। समष्टि रूप से रोग के स्वरूप का ज्ञान होना तो अभीष्ट है ही, कारण का ज्ञान विशेष रूप से ज्ञातव्य है। इसका आधार यह है कि कारण जब तक रहेगा तब तक कार्य (रोग) बना रहेगा। अतः इस पर दो दिशाओं से प्रहार किया जाता है—एक तो हेतु के विपरीत औषध एवं आहार-विहार के प्रयोग से और दूसरा उस हेतु का परित्याग करने से। इसी कारण चिकित्सा का प्रथम सूत्र है निदानपरिवर्जन। चरकोक्त स्वभावोपरमवाद[3] के सिद्धान्त से निदान

१. हेतुलिंगौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्। त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥

—च० सू० १।२४

२. मा० नि० १।४

३. च० सू० १६।२७

का परित्याग करने पर दोष स्वयं धीरे-धीरे शान्त हो जाते हैं और इसके बाद स्वस्थ धातु-परंपरा प्रारम्भ होती है जिससे रोगी स्वास्थ्यलाभ करता है। इसीलिए आचार्यों ने निदान के इन दोनों स्वरूपों का उल्लेख 'उत्पादक' तथा 'ज्ञापक' इन दो शब्दों से किया है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि वैद्य को चिकित्सा में सफलता के लिए इन दोनों का सम्यक् ज्ञान होना अत्यावश्यक है। बिना जड़ को उखाड़े जिस प्रकार पौधे को नष्ट करना कठिन है वैसे ही रोगों के मूल कारण पर प्रहार किये बिना उनका निवारण कठिन है।

अत्यन्त प्राचीनकाल से मनुष्य रोगों के निदान की खोज करता रहा है जिससे वह प्रत्येक रोग के स्वरूप का निर्धारण तथा उसके उपचार की व्यवस्था सफलता-पूर्वक कर सके। आयुर्वेद की दृष्टि से शरीर दोषधातुमलात्मक है। इनकी साम्या-वस्था स्वास्थ्य तथा वैषम्य विकार का द्योतक है। दोष-धातु-मलों के शरीरगत कर्मों को देखकर उनके साम्य या वैषम्य का अनुमान किया जाता है। ये शरीरगत परिवर्तन इसी कारण लिंग या लक्षण कहलाते हैं क्योंकि इनसे तद्गत विकृति का ज्ञान होता है (लिंग्यते ज्ञायते व्याधिरेनेति लिंगम्)। जिस प्रकार धुआँ (लिंग) देखकर उसके द्वारा अग्नि (लिंगी) का अनुमान से ज्ञान होता है उसी प्रकार लक्षणों से विकृति का अनुमानजन्य ज्ञान होता है किन्तु अनुमानजन्य ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है। अनुमान सदैव प्रत्यक्षपूर्वक होता है। (प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते च० सू० ११।२१)। जिस प्रकार अग्नि के आनुमानिक ज्ञान के लिए धूम का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है उसी प्रकार विकृति के अनुमानजन्य ज्ञान के लिए पहले लक्षणों का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों (ज्ञानसाधनों) पर विकृतिज्ञान आधारित है—द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां (च० वि० ४।८)। 'ज्ञान' शब्द से यहाँ आप्तोपदेश का ग्रहण किया गया है।

रोगिपरीक्षा का विषय मुख्यतः प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है। रोगी जब सम्मुख खड़ा होता है तब प्रत्यक्ष का पूरा उपयोग किया जाता है और इसके द्वारा जो तथ्य संकलित होते हैं उनके आधार पर अनुमान से विकृति का निर्धारण किया जाता है। प्रत्यक्ष यों पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से होता है किन्तु इनमें चक्षु सर्वप्रधान है। 'प्रत्यक्ष' में 'अक्ष' शब्द इसीका द्योतक है। अतः यह स्पष्ट है कि रोगिपरीक्षा में सर्वप्रथम दर्शन-परीक्षा का ही उपयोग हुआ होगा। रोगी की आकृति, वर्ण, नेत्र आदि के देखने से जो वैकृत परिवर्तन दृष्टिगोचर होते थे उनके आधार पर व्याधि का विचार किया जाता था। आकृति के अतिरिक्त, रक्तस्राव, पुरीष, मूत्र आदि धातुओं और मलों का भी प्रत्यक्ष किया जाता था। शरीर में कहीं पर कोई वृद्धि (गलगंड,

१. पञ्चविधमप्येतद्व्याध्युत्पत्तिज्ञप्तिहेतुभूतं निदानशब्देनोच्यते—मधुकोश (१।४)

गंडमाला आदि) हो जाय, वर्णविकार हो (कुष्ठ, श्वित्र, कामला आदि), कृशता हो जाय (क्षय, शोष आदि), शोथ हो तथा अन्य ऐसे चाक्षुष प्रत्यक्षग्राह्य विकृतियों का दर्शन से ज्ञान हो जाता था। ज्वर में भी विशेषतः विषम-ज्वर में जब ठंढ से रोगी काँपने लगता है तो उसकी ओर स्वभावतः ध्यान जायगा। पुरीष में भी नाना प्रकार के क्रिमियों का स्थूल दर्शन से पता चलता था। अथर्ववेद में इन सब रोगों का इसी कारण विशेष रूप से उल्लेख है। इसके अतिरिक्त, रोगी स्वयं अपना कष्ट बतलाता था यथा मलत्याग में कष्ट, अनेक बार मूत्रत्याग, मूत्रप्रवृत्ति में कष्ट, भूख में कमी, विभिन्न अंगों में पीड़ा आदि। ये सब बातें फिर रोगी के न कहने पर भी वैद्य प्रश्न के द्वारा इनकी जानकारी प्राप्त करते थे। ज्वर आने पर अत्यधिक संताप के कारण जब सारा शरीर जलने लगता है तब उसका स्पर्शन के द्वारा परिज्ञान किया गया। इस प्रकार क्रमशः दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इस त्रिविध परीक्षा[1] का प्रचलन हुआ। ७वीं शती में चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रा के विवरण में लिखा है कि भारत के वैद्य आकृति के द्वारा ही रोग का निदान करते हैं नाडी नहीं देखते।[2] कालक्रम से आकृति के अतिरिक्त, जिह्वा-नेत्र आदि अवयवों, मल-मूत्र आदि मलों, रक्त-शुक्र आदि धातुओं की भी दर्शनपरीक्षा की जाने लगी। स्पर्शन में भी आगे चल कर उदररोगों के विनिश्चय के लिए आकोठन-परीक्षा[3] का विकास हुआ। इन सब परीक्षाओं का निर्देश चरकसंहिता में मिलता है। सुश्रुत ने त्रिविध परीक्षा को विकसित कर षड्विध परीक्षा[4] बनाया और आगे चल कर अष्टस्थान परीक्षा[5] विकसित हुई किन्तु फिर भी श्रवण, घ्राण तथा रसना इन तीन इन्द्रियों का उपयोग रोगिपरीक्षा में अत्यन्त सीमित रहा। यद्यपि चरक नें दशविध परीक्षा[6] तथा

१. च० चि० २५।२२, अ० हृ० १।२२ (दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्)

२. I Tsing : A Record of Buddhist Practices in India, Ch. XXVII, P. 127; Ch. XXVIII, P. 133.

३. च० चि० १३।४८

४. 'आतुरमभिरग्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके। तत्तु न सम्यक्। षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः। तद्यथा श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति'। —सु० सू० १७।३

५. रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडी मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती ॥ —योगरत्नाकर, पृ० २

६. च० वि० ८।८५-१३०
इस प्रकरण में चरक ने विस्तार से दशविध परीक्ष्य भावों का वर्णन किया है। ये परीक्ष्य भाव हैं—कारण (भिषक्), करण (भेषज), कार्ययोनि (धातुवैषम्य), कार्य (धातुसाम्य), कार्यफल (सुखावाप्ति), अनुबन्ध

दोष-दूष्य, अधिष्ठान एवं हेतुविशेष इन तीनों की परीक्षा कर चिकित्साकर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश किया है तथापि अधिष्ठानगत दोषों के लक्षणों पर ही विचार किया गया अधिष्ठानों की विशिष्ट परीक्षा का विकास नहीं किया गया। इसका सबसे प्रमुख कारण तो विभिन्न अंगों के विशद शारीरज्ञान का अभाव रहा और दूसरा कारण सहयोगी वैज्ञानिक शाखाओं की अविकसित स्थिति रही। हृदय के चतुःप्रकोष्ठ का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने नहीं किया है, संभवतः ऊपर से हृदय की पुण्डरीका-कृति तो स्थूलतः देखी किन्तु उसे काट कर आभ्यन्तर रचना का अवलोकन नहीं किया; संभवतः तत्कालीन परिस्थितियों में उसकी कोई उपयोगिता नहीं समझी गई। यही स्थिति फुफ्फुस, मस्तिष्क, वृक्क जैसे अवयवों के संबन्ध में रही। रसायन-शास्त्र एवं सूक्ष्मदर्शक यंत्र का विकास न होने के कारण उपर्युक्त परीक्षणों में इनका उपयोग न हो सका अतः ये परीक्षण स्थूल भौतिक स्तर तक सीमित रहे, रासायनिक परीक्षण तथा अणुवीक्षण-परीक्षा का अभाव रहा। मधुमेह के रोगियों में देह की मधुगन्धिता का घ्राण से तथा मूत्रगत माधुर्य का परिज्ञान पिपीलिकाओं के रसनेन्द्रिय द्वारा अनुमान से करते थे। इस निदानपद्धति का प्रभाव चिकित्सा पर पड़ना स्वाभाविक था। मधुमेह में यद्यपि शरीर के माधुर्य (माधुर्याच्च तनोरतः) का परिज्ञान था परन्तु रक्तगत शर्करा मापने का कोई साधन न था अतः औषधों के प्रभाव की कसौटी मूत्रगत शर्करा का निवारण मात्र था न कि रक्तगत शर्करा का। यह कार्य कटु-तिक्त-कषाय द्रव्यों से हो जाता था। अनेक आयुर्वेदीय औषध द्रव्य जो प्रमेह में कार्मुक कहे जाते हैं वे मूत्रगत शर्करा को तो कम कर देते हैं किन्तु रक्तगत शर्करा को कम नहीं करते। इसी कारण प्रमेहपिडकाओं की उत्पत्ति अधिक होती थी और उनका विस्तार से वर्णन भी है।

मध्यकाल में यूनानी हकीमों के संपर्क से तथा तान्त्रिकों द्वारा विकसित नाड़ीज्ञान और विस्तृत मूत्रपरीक्षा का प्रवेश आयुर्वेद में हुआ। नाडीपरीक्षा का उल्लेख प्राचीन आयुर्वेदीय संहिताओं में नहीं है; सर्वप्रथम इसका वर्णन मध्यकालीन ग्रन्थ शार्ङ्गधर-संहिता (१३वीं शती) में मिलता है। चीन में नाडीपरीक्षा प्राचीनकाल से चली आ रही है जिसका संकेत इत्सिंग ने अपने भाषा विवरण में किया है। ऐतिहासिकों का कथन है कि यह परीक्षापद्धति चीन से अरब गई और वहाँ होती भारत में प्रविष्ट हुई। हकीम लोगों में कारूरा (मूत्र) देखकर रोग का निदान करने की परंपरा थी। उसके आधार पर मूत्रपरीक्षा का किंचित् विकास मध्यकालीन ग्रन्थों में मिलता है किन्तु विशे

(आयु), देश (भूमि, आतुर), काल (संवत्सर, आतुरावस्था), प्रवृत्ति (चतुष्पाद-योजना), उपाय (भिषगादि का सौष्ठव और सम्यक् विधान)। आतुर परीक्षा में प्रकृति, विकृति, सार, संहनन, प्रमाण सात्म्य, सत्त्व, आहारशक्ति व्यायामशक्ति और वय को विचारणीय कहा गया है।

विज्ञान में इन पद्धतियों से कोई विशेष विकास नहीं हुआ यद्यपि यह व्यावसायिक चमत्कार का साधन मानी जाने लगी। बिना रोगी की पूर्ण परीक्षा किये और कुछ पूछे नाड़ी देख कर रोग बतला देने की स्पर्धा वैद्य समाज में चल पड़ी।

आधुनिक काल में रसायनशास्त्र के विकास तथा अणुवीक्षण यंत्र के आविष्कार के कारण रोगनिदान-पद्धति में भी परिष्कार आया। भारत में मेडिकल कालेजों की स्थापना होने के बाद पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान का प्रसार चतुर्दिक् तीव्र गति से हुआ जिससे आयुर्वेद भी अछूता न रहा। एक ओर आयुर्वेद-महाविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में आधुनिक प्रयोगशालीय परीक्षणों का समावेश हुआ तथा दूसरी ओर वैद्य समाज भी इन परीक्षणों का आधार अपने चिकित्साव्यवसाय में लेने लगे। इस आधुनिक झंझावात में प्राचीन एवं मध्यकालीन नैदानिक विधियाँ उखड़ती गईं, परिणामस्वरूप आज नाड़ीपरीक्षा द्वारा रोग निर्णय करने वाला वैद्य विरला ही दृष्टिगोचर होता है।

प्राचीन रोगविज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति कालक्रम से अष्टस्थान-परीक्षा और विशेषतः नाडी में सिमट कर रह गई थी। किन्तु १९५३ ई० में जामनगर में केन्द्रीय आयुर्वेदानुसंधान-संस्था तथा १९५६ में स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्र स्थापित होने के बाद दोष-दूष्य, अग्नि, स्रोत आदि का विचार रोगनिदान में पुनः होने लगा और इससे प्राचीन आयुर्वेदीय रोगविज्ञान नवीन परिप्रेक्ष्य में पुनर्जाग्रत हुआ। इसका श्रेय स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्र के अध्यक्ष वैद्य भास्कर विश्वनाथ गोखले को दिया जाता है।

रोगों की कारणता

आयुर्वेद में रोगों का कारण दोष (वात, पित्त, कफ) माने गये हैं। दोष और दूष्य (धातु और मल) का संयोग होने पर विकार उत्पन्न होता है। निज रोगों की उत्पत्ति में यही प्रक्रिया होती है, आगन्तु रोगों में भी बाद में दोषप्रकोप हो जाता है अतः रोग दोषों की विकृति के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु इन दोषों को प्रकुपित करने वाले निमित्त कारण भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इसमें-सामान्यतः आहार-विहार का समावेश होता है जिनके मिथ्या होने से दोषवैषम्य उत्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त निमित्तकारण के रूप में क्रिमियों का भी महत्व है।

जीवाणुविज्ञान आधुनिक युग की देन है। विविध जीवाणु विभिन्न रोगों के कारणभूत माने गये हैं। इन जीवाणुओं का प्रत्यक्षीकरण तथा अन्य परीक्षण कर रोगों का निदान किया जाता है। ऐसे रोगों का निदान, चिकित्सा तथा चिकित्सा का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, टायफायड, न्यूमोनिया, राजयक्ष्मा आदि में यही पद्धति अपनायी जाती है। वैद्यसमाज में ऐसी धारणा बँध

गई है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा दोषपरक है न कि जीवाणुपरक अतः जीवाणुओं की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। मेरे विचार से यह भ्रान्त धारणा है। वेदों में तो क्रिमियों का वर्णन विस्तार से है ही, आयुर्वेद में भी अदृश्य सूक्ष्म क्रिमियों का वर्णन है जो रक्तवाहिनियों में स्थित होकर विकार उत्पन्न करते हैं। सामान्यतः विकारों की चिकित्सा में जो यह निर्देश है कि यदि समय अधिक लग रहा हो तो रक्तशोधक औषध देनी चाहिए इसका भी रहस्य सम्भवतः यही है। अनेक रक्तशोधक औषधद्रव्य तिक्तरस एवं जन्तुघ्न हैं। इसके अतिरिक्त, सिद्धान्त का भी व्याघात नहीं होता। दोष रोगों के समवायीकारण हैं और क्रिमि निमित्तकारण। सामान्यतः कार्य की उत्पत्ति में निमित्तकारण साधनभूत होता है किन्तु कार्य उत्पन्न हो जाने पर उससे कोई संबन्ध नहीं रहता। यथा दण्ड, चक्र आदि निमित्तकारण घट की उत्पत्ति में तो कारणभूत हैं किन्तु घट बन जाने पर यदि दण्ड-चक्र नष्ट भी हो जाय तो घट की सत्ता पर कोई आँच नहीं आती। किन्तु जीवन के क्षेत्र में कुछ विशेषता होती है। वहाँ जब तक निमित्तकारण रहता है तभी तक कार्य रहेगा, निमित्तकारण के नष्ट होने पर कार्य नष्ट हो जायगा; इसे 'यावन्निमित्तकारणस्थायि-कार्य' की संज्ञा दी गई है। रोगों के क्षेत्र में भी जब तक कारणभूत जीवाणु बने रहेंगे, रोग भी बना रहेगा; इस सिद्धान्त के अनुसार आदर्श चिकित्सा वह होगी जो व्याधि के समवायिकारण (दोष-दूष्य) के साथ साथ निमित्तकारण (जीवाणु आदि) का भी निराकरण करे। इसके लिए तदनुकूल निदानपद्धति भी अपनानी होगी। इससे सभी जीवाणुओं के लिए विशिष्ट औषधद्रव्यों का आविष्कार होगा और आयुर्वेद का इससे अभूतपूर्व विकास होगा। संप्रति जो औषधद्रव्य प्रयुक्त हो रहे हैं उनमें भी जन्तुघ्न क्रिया अवश्य होगी जिससे लाभ होता है केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। ऐसा लगता है कि वैदिक काल में क्रिमियों का विशेष महत्व था किन्तु बाद में जब त्रिदोषसिद्धान्त पूर्ण व्यवस्थित एवं विकसित हो गया तब क्रिमियों का स्थान रोगोत्पत्ति की दृष्टि से गौण हो गया।

रोग—वैदिक वाङ्मय में अनेक रोगों का उल्लेख मिलता है। इनमें कुछ के नाम तो मूल रूप में अद्यावधि प्रचलित हैं यथा किलास, अपची आदि और कुछ की संज्ञा परिवर्त्तित हो जाने के कारण उनका स्वरूप संदिग्ध हो गया है। ऋग्वेद (१०।१६३।१-६) और अथर्ववेद (२।३३।१-७; ९।८।१।२२) में विभिन्न अवयवों की विकृतियों का विस्तार से उल्लेख है। इनके अतिरिक्त, कुछ विशिष्ट रोगों का वर्णन किया गया है जिनका परिचय प्राप्त करना प्रासंगिक होगा।

तक्मा—यह विषमज्वर (मलेरिया) की वैदिक संज्ञा है। सामान्य ज्वर के लिए 'आदहि' (सन्ताप) शब्द आया है (त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः—अथर्व० ४।९।८)। इसके शीताभिप्राय-उष्णाभिप्राय; अन्येद्युष्क-तृतीयक-

चतुर्थक; ग्रैष्म-वार्षिक-शारद आदि विभिन्न प्रकारों का स्पष्ट वर्णन है।[1] गंधार, महावृष, बाह्लीक, मुञ्जवान्, अंग और मगध प्रदेशों में यह अधिक होता था।[2] इससे हरिमा (पाण्डु-कामला) रोग उत्पन्न होता था तथा कास, क्षय और शोष इसके उपद्रवरूप में होते थे।[3]

जायान्य—कुछ विद्वानों ने इसे राजयक्ष्मा माना है किन्तु यह स्त्रियों से फैलता है (यज्जायाभ्योऽविन्दत्—तै० सं० २।३।५।२) इस आधार पर इससे यौन रोग (उपदंश) का ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है। अक्षत (अल्पव्रण) और 'सुक्षत' (अधिकव्रण) विशेषण[4] भी इसका समर्थन करते हैं।

क्षेत्रिय—पाणिनि ने 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' (५।२।९२) सूत्र में दूसरे शरीर (जन्मान्तर) में चिकित्स्य अर्थात् असाध्य महाव्याधियों का ग्रहण किया है। कुछ आचार्य इससे कुलज व्याधियों का ग्रहण करते हैं तो कुछ लोग इससे यौन व्याधियों का ग्रहण करते हैं। किन्तु इसके वैदिक वर्णन का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि यह शूलप्रधान (विषूचीन) रोग है[5] जो कभी-कभी सोम के अभिषव-कर्म में (अधिक परिश्रम करने से) होता था[6]। मृङ्गश्रृङ्ग, अर्जुन आदि ओषधियाँ जो अद्यावधि हृद्रोग में प्रयुक्त होती है, इसी की ओर संकेत करती हैं। तीव्र हृच्छूल के बाद हृदयावरोध होने पर मृत्यु स्वाभाविक है अत एव इसे कष्टदायक

---

१. नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने॥ अथर्व० १।२५।४
तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥—वही, ५।२२।१३

२. ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बह्लिकेषु न्योचरः॥—वही ५।२२।५;८
गंधारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि॥—वही, १४

३. हुड्डुर्नामासि हरितस्य देव—अथर्व० १।२५।२
अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोषि—वही, ५।२२।२
तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम्॥ वही, १२

४. पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्।
तदक्षतस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च॥—अथर्व० ७।७६।४

५. स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्—अथर्व० ३।७।१

६. अथर्व० ३।७।६

और असाध्य-सा माना गया है यद्यपि इसकी ओषधियाँ भी कही गयी है।[1]

कासिका-बलास-पाप्मा

बलास तक्मा का भाई, कासिका उसकी बहन और पाप्मा उसका भतीजा कहा गया है[2]। इससे स्पष्ट है कि ये तीनों रोग तक्मा (विषमज्वर) के उपद्रव रूप में उत्पन्न होते हैं। कासिका तो 'कास' (खाँसी) स्पष्ट ही है। बलास[3] क्षयरोग है (बलमस्यति क्षिपति–दौर्बल्य उत्पन्न करने वाला)। पाप्मा शोष है जो क्षय के अनन्तर होता है[4]। बाद में इसे 'राजयक्ष्मा' संज्ञा दी गई क्योंकि यह अति कष्टकर होता है[5]।

किलास—किलास और पलित श्वित्र के ही दो रूप हैं। इसमें त्वचा का विरञ्जन हो जाता है अतः इसके लिए श्यामवर्ण, सरूपंकरणी तथा रञ्जनकर्मकर ओषधियों का विधान किया गया है[6]।

मूत्राघात—इसका विस्तृत वर्णन अथर्ववेद (१।११।१–४; १।३।१-९) में है। इसकी चिकित्सा में शरादि (तृणपञ्चमूल) का प्रयोग विहित है जो आज भी प्रचलित है। शलाकाप्रवेश का भी विधान है।

हरिमा—पाण्डु-कामला के लिए 'हरिमा' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह विशेषतः विषमज्वर (तक्मा) के बाद देखा जाता था। इसकी चिकित्सा में सूर्य-रश्मियों का सेवन कराया जाता था। उपद्रवस्वरूप इसमें हृद्रोग भी पाया जाता था[7]।

---

१. अथर्व० २।८।१–५, ३।७।१; ४।१८।७

२. देखें तक्मा-प्रकरण।

३. बलास शब्द अथर्ववेद में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है एक क्षयरोग के लिए और दूसरा कफ और आमदोष के लिए। आयुर्वेद में भी क्षय का हेतु कफप्रधान दोषों से स्रोतों का अवरोध होना माना है।

४. आयुर्वेद में भी यही क्रम है—'प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते क्षयः।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते॥

५. तं सर्वरोगाणां कष्टतमत्वाद्राजयक्ष्माणमाचक्षते भिषजः—च० नि० ६।१२

६. नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रजनि रजय क्लिासं पलितं च यत्॥
—अथर्व० १।२३।१

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय॥
—अथर्व० १।२४।४

७. अथर्व० १।२२।१–४; ऋ० १।५०।११-१२। वाग्भट (अ० सं०नि० १३।१८-१९) ने 'पाण्डुरोगाद् ऋतेऽपि च' लिखकर कामला को पाण्डुरोग से स्वतंत्र कर दिया।

अपचित्—यह गण्डमाला की सामान्य संज्ञा है। अपक्व ग्रंथियों को 'कृष्णा' और पक्व को 'लोहिनी' कहा है। पकने पर किसी वनस्पति के तीक्ष्ण मूल से उसका वेधन करते थे।[1] कुछ अपने आप भी बहती रहती थी। इनका स्थान ग्रीवा, कक्षा और वंक्षण में कहा गया है[2]।

विषूची—मूलतः यह (सूचीवेधनवत्) तीव्र उदरशूल का बोधक था[3]। बाद में इसका अर्थ बदल गया; अंगों में अजीर्णज वातजन्य सूचीवेधनवत् पीड़ा का अर्थ लिया गया। इसके साथ वमन, अतिसार, शूल, पिपासा, उद्वेष्टन आदि लक्षण भी कहे गये[4]! यह आधुनिक हैजा (Cholera) का ही रूप था या सामान्य आमाशयान्त्रक्षोभजन्य विकार था यह कहना कठिन है।

हृद्रोग—हृदयरोगों का स्पष्ट वर्णन ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में है। हृदय अष्टाचक्र, नवद्वार तथा पुण्डरीकाकार है और इसका रोग दुर्विज्ञेय कहा गया है।[5] हृदय-बलास हृदयस्थ श्लेष्मा या मन्दता का बोधक है (अथर्व० ९।८।८)। हृदयगत क्रिमियों का भी उल्लेख है (वही, ९।८।१४)। हृद्रोग (ऋ० १।५०।११); हृदयामय (अथर्व० ६।१४।१) तथा हृद्द्योत (वही, १।२२।१) आदि शब्द इस प्रसंग में प्रयुक्त हुये हैं।

उन्माद—ऋग्वेद (१०।१६२।६) में इसका संकेत मिलता है और अथर्ववेद (६।१११।१-४) में इसका स्पष्ट वर्णन है। मन को विकृत करने वाले (मनोहन) पिशाचों का भी उल्लेख है (अथर्व० ५।२९।१०)। आयुर्वेदीय संहिताओं में उन्माद और अपस्मार का विस्तृत वर्णन है। शार्ङ्गधर ने छः उन्माद और २० भूतोन्माद माने हैं।

यहाँ ऐतिहासिक महत्त्व के कुछ रोगों का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा।

कुष्ठ—यह अत्यन्त प्राचीन रोग है। सबसे अधिक अफ्रीका में पाया जाता है।

---

१. अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥—अथर्व० ७।७४।१
और देखें—अथर्व० ६।२५।१–३; ६।८३।१–३

२. अथर्व० ७।७६।१–२

३. वही, ७।४२।१

४. चरक० विमान० २।१२; सुश्रुत० उत्तर० ५६।२-४

५. 'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥' —अथर्व० १०।२।३१
'पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ —वही, १०।८।४३

उसके बाद अमेरिका, भारत, आस्ट्रेलिया, प्रशान्त द्वीपपुञ्ज, दक्षिण-पूर्वी यूरोप विशेषतः पुर्त्तगाल, स्पेन, ग्रीस और मिस्र में भी बहुलता से देखा जाता है। अथर्ववेद में कुछ लोग 'किलास' शब्द से कुष्ठ और 'पलित' शब्द से श्वित्र का ग्रहण करते हैं। चरक और सुश्रुत की प्राचीन संहिताओं में भी इसकी निदान-चिकित्सा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होने से यह स्पष्ट है कि उसके भी पूर्व से यह रोग प्रचलित था[1]। कुष्ठरोग के कारण जो विकृति एवं अंग-भंग होता है उसका स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद के एक मंत्र में मिलता है[2]।

ऊर्ध्वगुद—वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में इसका वर्णन किया है[3]। इसमें मलावरोध के कारण मुख से दुर्गन्ध आने लगती है। आन्त्र में अत्यधिक अवरोध होने पर पुरीष भी आने लगता है। सम्राट् अशोक को यह रोग हुआ था जिसका विशद वर्णन दिव्यावदान में किया गया है।

शीतला—मसूरिका का वर्णन क्षुद्ररोगों के अन्तर्गत चरकसंहिता (चि० १२।९१) तथा सुश्रुतसंहिता (नि० १३।३३) में मिलता है। इसके अनुसार मसूरिका में मसूर के सदृश ताम्रवर्ण या पीतवर्ण पिण्डकायें (या स्फोट) समस्त शरीर में निकलती हैं और साथ में दाह, पीडा और ज्वर होते हैं। माधवनिदान में इसका स्वतंत्र अध्याय में विस्तृत वर्णन है। मसूरिका में देवीपूजन का विधान चक्रदत्त (११वीं शती) में ही मिलता है किन्तु 'शीतला' शब्द ११वीं शती के राजमार्त्तण्ड और १२वीं शती के सोढल और डल्हण की रचनाओं में उपलब्ध होता है। सोढल ने गदनिग्रह में मसूरिका के साथ-साथ 'शीतला' शब्द का प्रयोग किया है। डल्हण ने औपसर्गिक रोगों में शीतलिका आदि का उल्लेख किया है[4]। आगे चलकर भावप्रकाश में इसका पूरा स्पष्ट विवरण तथा स्कन्दपुराणोक्त शीतलास्तोत्र के पाठ का विधान है। कुछ ग्रन्थकारों ने इसे 'वसन्त' भी कहा है जो नाम आज भी बंगाल में प्रचलित है। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भिक मसूरिका से शीतला भिन्न है। मसूरिका संभवतः छोटी माता है और शीतला चेचक (Small pox) है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों के साथ यह रोग इस देश में फैला। अरबी चिकित्सक अबूबकर-राजी-रहोजी (८६५-९२५ ई०) ने सर्वप्रथम इसके स्वरूप का स्पष्ट वर्णन किया।

---

१. सुश्रुत ने कुष्ठ का दो पृथक् अध्यायों (चि० ९,१०) में किया है तुवरक (चालमोगरा) का कुष्ठ-चिकित्सा में प्रयोग सर्वप्रथम यहीं मिलता है।

२. अथर्व० ७।६५।३

३. अधः प्रतिहतो वायुरर्शोगुल्मकफादिभिः।
यात्यूर्ध्वं वक्त्रदौर्गन्ध्यं कुर्वन्नूर्ध्वगुदस्तु सः॥—अ० सं० उ० २५।६२

४. औपसर्गिकरोगाः शीतलिकादयः—डल्हण, सु० नि० ५।३४

स्नायुक—इसे 'तन्तुक' और 'गंडज' भी कहते हैं। लोकभाषा में 'नहरुवा' या 'नारु' के नाम से विदित है। विशेपतः राजस्थान में होता है जहाँ संचित जल से अनेक व्यक्ति सभी प्रकार के कार्य करते हैं। भारत में यह अरववासी मुसलमानों के साथ लगभग ८वीं शती में आया।[1] इसका सर्वप्रथम वर्णन वृन्दमाधव (९वीं शती) में मिलता है। यही वर्णन प्रायः अपरिवर्तित रूप में चक्रदत्त, वङ्गसेन, शार्ङ्गधरसंहिता, भावप्रकाश और योगरत्नाकर में है। रसग्रन्थों में रसरत्नसमुच्चय रसरत्नाकर और रसेन्द्रचिन्तामणि में इसका विवरण है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने विसर्प-विस्फोट के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है जबकि शार्ङ्गधर ने क्रिमि के अन्तर्गत किया है और इसे कफरक्तज माना है।

फिरंगरोग—इसका सर्वप्रथम वर्णन भावमिश्र (१६वीं शती) ने किया। उनका कथन है कि यह फिरंग नामक देश में बहुलता से होता है अतः इसकी संज्ञा फिरंग है। यह गन्धरोग भी कहा जाता है। यह आगन्तु रोग है जो फिरंगियों के संपर्क तथा फिरंगिणियों के साथ संभोग करने से उत्पन्न होता है[2]। तुर्क लोग इसे फ्रैंकरोग (Frank disease) तथा अंगरेज फ्रेञ्च पोक्स (French poks) कहते थे[3], उसी आधार पर इसकी संज्ञा 'फिरंग' निष्पन्न हुई प्रतीत होती है। सर्वप्रथम यह रोग फ्रान्स के सम्राट् चार्ल्स अष्टम की सेना में १४९४-९५ में देखा गया। भारत में यह पुर्तगाली आगन्तुकों के द्वारा १५०० ई० के लगभग प्रविष्ट हुआ। इसकी चिकित्सा के लिए विशिष्ट औषध चोपचीनी का आयात चीनी व्यापारियों के माध्यम से लगभग १५३५ ई० में गोवा में हुआ जिसका वर्णन भावप्रकाश में मिलता है[4]। इस रोग की 'सिफिलिस' संज्ञा १५३० ई० में हिरोनिमस फ्रैकेस्टोरियस द्वारा रचित 'सिफिलिस' नामक कविता के आधार पर हुई। प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में उपदंश रोग का वर्णन है जो सम्भवतः आधुनिक सैंकरायड (Chancroid) है।

---

१. Claus Vogel : on the Guineaworm disease in indian Medicine, the Adyar Library Bulletin, Vol. XXV, Parts 1-4
क्लास वोगल ने इसका प्रथम उल्लेख शार्ङ्गधरसंहिता में देखा, संभवतः वृन्द-माधव पर उनकी दृष्टि नहीं गई।

२. फिरंगसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद् भवेत्।
तस्मात् फिरंग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः ॥
गन्धरोगः फिरंगोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम्।
फिरंगिणोऽङ्गसंसर्गात् फिरंगिण्याः प्रसंगतः ॥
व्याधिरागन्तुजो ज्ञेयः — भावप्रकाश, फिरंगाधिकार १-३

३. G. N. Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine, Vol I

४. U. C. Dutt. Hindu Materia Medica.

प्लेग—इसका वर्णन आयुर्वेद में नहीं है। कुछ लोग 'अग्निरोहिणी' (सु० नि० १३।१५-१६) से तथा कुछ लोग 'वातालिका' (भेल० सू० १३।१६-१९) से प्लेग का ग्रहण करते हैं किन्तु आधुनिक काल में यह चीन और जापान होते हाँगकाँग से १८९६ ई० में बम्बई पहुँचा और वहाँ से सारे देश में फैल गया। यहाँ से फिर मोरिशस, अफ्रिका, यूनान, मिस्र, आस्ट्रेलिया, लंका और जावा में इसका प्रसार हुआ[1]। १३४५ ई० में एशिया और युरोप में भयंकर प्लेग चीन से फैला (राहुल सांकृत्यायन, मध्य एशिया का इतिहास, भाग २, पृ० ३५)। भारत में भी १४वीं शती से इसका अस्तित्व मिलता है। सम्भवतः मध्यएशिया से मुसलमानों के साथ आया (देखें इकबालनामा पृ० ८८, इब्नबतूता का भारतयात्रा विवरण पृ० ७२७ और तुजुक-ए-जहाँगीरी पृ० ३३०)।

ब्रध्न और वर्ध्म—चरकसंहिता में श्वयथुचिकित्सित प्रकरण (चि० १२) में जो ब्रध्न का वर्णन किया है[2] उससे वह आन्त्रवृद्धि प्रतीत होती है किन्तु माधव-निदान में ब्रध्न का उल्लेख न कर वृद्धिप्रकरण में आन्त्रवृद्धि का विशद वर्णन मिलता है। वर्ध्म का वर्णन सर्वप्रथम वृन्दमाधव (९वीं शती) ने दिया है[3] जिसे विजय-रक्षित ने वृद्धिप्रकरण की मधुकोषव्याख्या में 'तन्त्रान्तरे' करके ब्रध्न के रूप में उद्धृत किया है। वृन्दमाधवोक्त वर्णन को ही परवर्ती ग्रन्थकार अपने ग्रन्थों में उद्धृत करते गये हैं। लक्षणों के देखने से स्पष्ट होता है कि वर्ध्म रोग ब्रध्न से भिन्न है यद्यपि बाद में लेखकों ने दोनों को एक कर दिया। वर्ध्म सम्भवतः लिम्फो-ग्रेनुलोमा वेनिरियम (Lymphogranuloma Venreum) नामक यौन रोग है जिसे लोकभाषा में 'बाधी' या 'बाघी' कहते हैं। 'बाढ़ढोसी' इसका वंगीय नाम प्रतीत होता है। इसके कारणों में वृन्दमाधव ने 'दूषित स्त्रीप्रसंग' नहीं दिया है क्योंकि स्त्रीप्रसंग के द्वारा शिश्नोत्थ व्रण के रोपित हो जाने (७-३० दिन) के बाद वंक्षणसंधियों की ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। ऐसे व्यवधान के कारण संभवतः पूर्ववर्ती आचार्यों का ध्यान इसकी यौनकारणता की ओर नहीं गया। इसके यौन स्वरूप का ज्ञान वस्तुतः बहुत बाद १९२७ ई० में हुआ। सम्भवतः यह मुसलमानों के साथ इस देश में लगभग ८वीं शती में प्रविष्ट हो चुका था किन्तु इसके यौन स्वरूप का ज्ञान बाद में हुआ।

---

१. Manson's Tropical diseases P. 222

२. ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिंगैरन्त्रं निरेति प्रविशेन् मुहुश्च—च० चि० १२।९३

३. अत्यभिष्यन्दिगुर्वामसेवनान्निचयं गताः।
करोति ग्रन्थिवच्छोफं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु ॥
ज्वरशूलाङ्गसादाढ्यं तं वर्ध्ममिति निर्दिशेत्।—वृन्दमाधव, वृद्धयधिकार, २०
रुग्विनिश्चयेऽनुक्तत्वाल्लक्षणं लिखितवान् वृन्दः। वर्ध्म बाढ़ढोसीतिलोके।
—व्याख्याकुसुमावली

औपसर्गिक रोग—सुश्रुत ने कुष्ठ, ज्वर, शोष और नेत्राभिष्यन्द के साथ औपसर्गिक रोगों का उल्लेख किया है जो एक पुरुष से दूसरे पुरुष में संक्रान्त होते हैं। इनके संक्रमण की विधियों—प्रसंग, गात्रसंस्पर्श, निःश्वास, सहभोजन, सहशय्या, सहासन, वस्त्र, माल्य, अनुलेपन का उल्लेख किया है।[१] इससे स्पष्ट है कि इस प्रसंग में औपसर्गिक रोग संक्रामक रोगों के बोधक हैं। दूसरे प्रकरण में किसी व्याधि के उपद्रवरूप उत्पन्न रोग को 'औपसर्गिक' कहा है[२]। यह संभव है कि संक्रामक रोगों का अनेक उपद्रवयुक्त गंभीर स्वरूप होने के कारण 'औपसर्गिक' शब्द में उपर्युक्त दोनों अर्थ मिलकर एकाकार हो गये।

वायु, जल, भूमि आदि के दूषित होने पर बड़े पैमाने पर जब कोई औपसर्गिक रोग फैलता है तब उसे जनपदोद्ध्वंस,[३] मरक[४] या जनमार[५] (Epidemic) कहते है। यद्यपि जीवाणुविज्ञान का विकास न होने के कारण विकारोत्पत्ति की प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान नहीं था तथापि वात, जल आदि जिन माध्यमों से जीवाणुओं का संक्रमण और प्रसार होता है उसका उल्लेख किया गया है। अनेक प्रकरणों में रक्षस्, पिशाच आदि शब्द भी आधुनिक जीवाणु के वाचक हैं। 'स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय' (अथर्व० ८।६।१३) में स्पष्टतः स्त्रियों के श्रोणिप्रदेश में विकृति उत्पन्न करनेवाले रक्षस् (जीवाणुओं) का निर्देश है।

नानात्मज विकार

वात, पित्त और कफ से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट विकार नानात्मज कहलाते हैं यथा ८० वातविकार, ४० पित्तविकार और २० कफविकार। शार्ङ्गधर ने १० रक्तज विकारों की भी गणना की है। वात का महत्व और व्यापकता देखते हुए चरक-संहिता में वातव्याधि-चिकित्सा का एक स्वतंत्र अध्याय में वर्णन किया गया है किन्तु पित्तव्याधि और श्लेष्मव्याधि के लिए कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है। यह

---

१. प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निः श्वासाद् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ सु० नि० ५।२९-३०
श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत् सहासिम।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे—अथर्व० ९।६५।३

२. तत्रौपर्गिको यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञकः—सु० सू० ३५।१५

३. च० वि० ३

४. सु० सू० ६।१६

५. भेल० सू० १३।९-१०

व्यवस्था आगे चल कर भावमिश्र के द्वारा हुई जिसने इन दोनों का दो स्वतंत्र अध्यायों में वर्णन किया।

रोगविज्ञान-वाङ्मय

जैसे-जैसे रोगविज्ञान का महत्त्व बढ़ा, उसका वाङ्मय भी स्वतन्त्र रूप से प्रकाश में आने लगा। इस विषय पर प्राचीनतम एवं सर्वप्रथम ग्रन्थ माधवकर-प्रणीत रोगविनिश्चय है। इसके अतिरिक्त भिषक्चक्रचित्तोत्सव या हंसराजवैद्यकशास्त्र (हंसराजनिदान), अञ्जननिदान, सिद्धान्तनिदान निदानसंबन्धी उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। नाड़ीपरीक्षा पर भी अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये।

रोगविनिश्चय (माधवनिदान)

यह ग्रन्थ माधवकर द्वारा विरचित है जैसा कि अध्ययान्त पुष्पिकाओं से प्रकट होता है।[1] लेखक ने इस ग्रन्थ की रचना पूर्ववर्ती अनेक मुनियों के वचनों का संकलन कर की है।[2] ऑफ्रेक्ट ने अपनी ग्रन्थसूची में माधवनामधारी अनेक (लगभग ८०) आचार्यों का विवरण दिया है जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :—

१. माधववैद्य — आनन्दलहरीकर्ता
२. माधवभट्ट — कवीन्द्रचन्द्रोदय में निर्दिष्ट
३. माधवकवि — पद्यावलीकर्ता
४. माधव — एकाक्षरीकोशकर्ता
५. माधव — द्रव्यगुणरत्नमालाकर्ता
६. माधवकविराज — मुग्धबोध, ज्वरादिरोगचिकित्साकर्ता
७. माधव — रत्नमालाकर्त्ता (रायमुकुट द्वारा उद्धृत)
८. माधव या माधवकर, इन्दुकर पुत्र—निम्नांकित रचनाओं के कर्त्ता :—
    आयुर्वेदप्रकाश
    आयुर्वेद रसशास्त्र
    कूटमुद्गर
    पर्यायरत्नमाला
    रसकौमुदी
    रुग्विनिश्चय
९. माधव — माधवकोशकर्ता (मेदिनीकोश द्वारा उद्धृत)
१०. माधव — माधवचिकित्साकर्ता, संभवतः रुग्विनिश्चयकर्त्ता भी। (भाग १, पृ० ४४८-५०)
११. माधव — श्रीकण्ठदत्त प्रपौत्र, चक्रदत्त पुत्र, पुरुषोत्तमपिता, द्रव्यगुणकर्ता (भाग २, पृ० १०३)

---

१. इति माधवकरविरचिते माधवनिदाने ज्वरनिदानं समाप्तम्।

२. नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात्।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्॥

उस काल में यह स्वाभाविक था कि अन्तरंग अध्ययन के बिना रचनाओं के कर्तृत्व के संबन्ध में भ्रम उत्पन्न हो जिससे ऑफ्रेक्ट महोदय भी मुक्त न रह सके।

उसके बाद इस क्षेत्र में कुछ और कार्य हुये तथा कुछ और रचनायें प्रकाश में आईं जिनके आधार पर वैद्य माधव की निम्नांकित रचनाओं की सूची बनाई जा सकती है :—

१. रोगविनिश्चय
२. माधवचिकित्सित
३. पर्यायरत्नमाला
४ सुश्रुतश्लोकवार्त्तिक या प्रश्नसहस्रविधान (विजयरक्षित तथा निश्चलकर द्वारा उद्धृत)
५. योगव्याख्या (श्रीकण्ठदत्तकृत व्याख्याकुसुमावली में उद्धृत)
६. सुश्रुतटिप्पण (डल्हण द्वारा निर्दिष्ट)
७. द्रव्यगुण (भावस्वभाववाद)
८. आयुर्वेदप्रकाश
९. रससिद्धिप्रकाश
१०. रसकौमुदी
११. कूटमुद्गर

यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि इनमें रोगविनिश्चयकार माधव की अन्य कौन-कौन रचनायें हैं क्योंकि यह तो निश्चित है कि इन सभी के कर्त्ता एक माधव नहीं हैं। आयुर्वेदप्रकाश के रचयिता माधव उपाध्याय हैं जो मूलतः सौराष्ट्रनिवासी होते हुए भी काशीवासी थे। १७वीं शती के ग्रन्थ त्रिमल्लभट्टकृत योगतरंगिणी को उद्धृत करने के कारण वह १८वीं शती के पूर्व के नहीं हैं। रससिद्धिप्रकाश माधव भट्ट की रचना है[1]। जो स्पष्टतः माधव उपाध्याय से भिन्न है। रसकौमुदीकार माधव का काल[2] १६-१७वीं शती मानते हैं। अतः यह भी रोगविनिश्चयकार से भिन्न एवं परवर्त्ती हैं।

कूटमुद्गर एक प्रहेलिकामय रचना है जो भिषक् माधव द्वारा विरचित है। यह जटिलता तान्त्रिक काल की देन है अतः यह रचना उसके बाद सम्भवतः आधुनिक

---

१. के० आ० प०, पा० सं० ६६४ माधवकृत रसचन्द्रिका भी है जिसकी पाण्डुलिपियाँ (सं० ४४९९६, ८१३५२) सरस्वती भवन, वाराणसी में हैं) रसकौमुदी के लिए देखें—के० आ० प० ६१५

२. P. Ray : History of Chemisrty, P. 229

काल की प्रतीत होती है। ग्रन्थ के अन्तिम परिचायक पद्य में न तो 'कर' उपाधि है और न पिता का नाम 'इन्दुकर' ही है।[1] यह लघुकाय ग्रन्थ खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से सं० १९६६ में हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित हुआ है।

माधव द्वारा विरचित द्रव्यगुण अभी हाल में प्रकाशित हुआ है[2] जिसके आधार पर यह सिद्ध है कि इसका लेखक माधवकर से भिन्न; श्रीकण्ठदत्त का पौत्र, चक्रपाणि का पुत्र और पुरुषोत्तम का पिता है।

डल्हण द्वारा निर्दिष्ट श्रीमाधव भी भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि उसके साथ भी 'कर' उपाधि नहीं है।

योगव्याख्याकार माधव के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है क्योंकि श्रीकण्ठदत्त तथा निश्चलकर द्वारा प्रदत्त सूचनाओं के अतिरिक्त और कोई जानकारी उसके विषय में नहीं मिलती।

अवशिष्ट रचनाओं वर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि माधवचिकित्सित और पर्यायरत्नमाला के रचयिता भिन्न थे। इसके निम्नांकित आधार हैं:—

१. माधवचिकित्सित का रचयिता चन्द्रकरात्मज है[3] जब कि पर्यायरत्नमाला का कर्ता इन्द्रकरसूनु है[4]। इसमें यद्यपि सन्देह नहीं कि दोनों माधवकर हैं।

२. माधवचिकित्सित के कर्त्ता ने अपना कोई निवासस्थान नहीं बतलाया जब कि पर्यायरत्नमालाकार ने अपना स्थान शिलाह्रद कहा है। शिलाह्रद से कुछ लोग 'सिलहट' और कुछ लोग पथरहट्टी (विक्रमशिला विश्वविद्यालय का मूल स्थान) लेते हैं। सम्भव है, इनका सम्बन्ध इस विश्वविद्यालय से हो जिसकी स्थापना पालवंश के राज्यकाल में ८वीं शती में हुई थी।

विषय का भेद तो है ही। पर्यायरत्नमाला एक वैद्यकप्रधान कोशग्रन्थ है और माधवचिकित्सित चिकित्सा का ग्रन्थ है। ऐसी प्रबल सम्भावना की जाती है कि निदान और चिकित्सा का रचयिता एक व्यक्ति होगा। निदानकार ने अपना कोई परिचय ग्रन्थ में नहीं दिया है, पुष्पिका में भी इतना ही मिलता है कि उसका नाम माधवकर था, उसके पिता के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती। यदि

---

१. भिषजा माधवेनेदं किञ्ज्ञानेनाल्पदर्शिना।
यत् किंचिदुक्तमज्ञानात् तत् क्षमध्वं मनीषिणः॥

२. प्रियव्रतशर्मा द्वारा संपादित तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी द्वारा प्रकाशित (१९७३)

३. 'इति चन्द्रकरात्मजवैद्यराजमाधवविरचिते···माधवचिकित्सितं समाप्तम्'—
—Des. Cat. mss., B. O. R. I., Vol. XVI, Pat I, No. 143

४. भिषजा माधवेनैषा शिलाह्रदनिवासिना। यत्नेन रचिता रत्नमालेन्द्रकरसूनुना॥
—पर्यायरत्नमाला, पृ० ७२

माधवनिदान और माधवचिकित्सित का रचयिता एक है, जिसकी अधिक संभावना है, तब यह स्वीकार करना होगा कि इस माधवकर का पिता चन्द्रकर था, इन्दुकर या इन्द्रकर नहीं। इस प्रकार यह मान लिया जाय कि चन्द्रकरात्मज माधवकर की रचनायें रोगविनिश्चय और माधवचिकित्सित हैं।

इन्द्रकरात्मज पर्यायरत्नमालाकार माधव इससे भिन्न है। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त आभ्यन्तर साक्ष्य भी इसमें सहायक हैं। इस ग्रन्थ में पारद, हिंगुल आदि रसौषधियों तथा वत्सनाभ, धत्तूर आदि विषाक्त द्रव्यों का वर्णन है अतः यह मध्यकाल का ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त माधवनिदान में व्रध्न रोग का उल्लेख नहीं है किन्तु पर्यायरत्नमाला में है, यदि दोनों ग्रन्थकार एक होते तो माधवनिदान में भी इसका अवश्य उल्लेख होता। यह अवश्य है कि अहिफेन का उल्लेख नहीं होने से यह ११वीं शती के बाद का नहीं हो सकता क्योंकि १२वीं शती (सोढल) से अहिफेन का वर्णन मिलने लगता है फिर भी रोगविनिश्चयकार के बाद ही इसका काल हो सकता है। यदि माधवनिदान का काल ७वीं शती है तो पर्यायरत्नमाला का काल ७वीं और ११वीं शती के बीच में अर्थात् ९वीं शती में रख सकते हैं। इससे ८वीं शती में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद ९वीं शती में उससे इनका संबन्ध भी संभव हो जाता है।

सुश्रुतश्लोकवार्तिक या प्रश्नसहस्रविधान के कर्तृत्व का निर्णय कठिन है किन्तु अधिक संभावना है कि यह रचना पर्यायरत्नमालाकार की है। निदान-चिकित्सा के रचयिता माधव ने चरक-सुश्रुत पर कोई अन्य व्याख्या लिखी हो इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

माधव का काल

डा० हार्नले वाग्भट प्रथम के बाद क्रमशः माधव, दृढ़बल और वाग्भट द्वितीय को रखते हैं। वाग्भट प्रथम का काल वह ७वीं शती मानते हैं और तदनुसार शेष तीनों का काल ७वीं और ११वीं शती के बीच रखते हैं। इसमें वह दो युक्तियाँ देते हैं एक नेत्ररोगों की संख्या का और दूसरा चरक के कश्मीरपाठ का।

१. सुश्रुत ने नेत्ररोगों की संख्या ७६ बतलाई है और वाग्भट ने ९४ रोगों का वर्णन किया है। चरक (दृढ़बलप्रतिसंस्कृत अंश) में ९६ नेत्ररोगों का उल्लेख है और माधवनिदान में ७८ नेत्ररोगों का वर्णन है। इस आधार पर डा० हार्नले का मत है कि माधवकर ने सुश्रुतोक्त संख्या में दो और जोड़कर ७८ किया और दृढ़बल ने वाग्भट के ९४ और माधव के दो लेकर ९६ नेत्ररोगों का वर्णन किया अतः वह काल की दृष्टि से वाग्भट, माधव, दृढ़बल यह क्रम रखते हैं। किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि यह आधार अत्यन्त दुर्बल है। तथ्य यह है कि उस समय शालाक्यतंत्र के भी निमि, कराल, सात्यकि, भद्रशौनक आदि के अनेक

संप्रदाय प्रचलित थे और इन रोगों की संख्या परवर्ती लेखक इनमें से किसी एक का आधार लेकर निर्धारित करते थे जैसा कि सुश्रुत ने निमिसम्प्रदाय के अनुसार ७६ संख्या रखी[1] जबकि दृढ़बल ने करालसंप्रदाय के अनुसार ९६ रखी[2]। वाग्भट ने संभवतः कराल-संप्रदाय का आधार तो लिया किन्तु उनमें दो का अन्य रोगों में अन्तर्भाव कर उनकी संख्या ९४ निर्धारित की। माधवकर ने संभवतः सुश्रुत का आधार लिया किन्तु दो और नेत्ररोग (कुंचन तथा पक्ष्मशात) संभवतः कराल सम्प्रदाय का जोड़ कर नेत्ररोगों की संख्या ७८ कर दी। इस पर श्रीकण्ठदत्त की व्याख्या अवलोकनीय है[3]। वाग्भट ने संख्या की दृष्टि से कराल-संप्रदाय का आधार लेते हुए भी वर्णन-क्रम में निमि आदि अन्य आचार्यों के मतों का भी उपयोग किया।

२. हार्नले का कथन है कि माधव ने अपने निदान में मूल चरक का ही आधार लिया है, दृढ़बलप्रतिसंस्कृत का नहीं। जहाँ कहीं दृढ़बल-प्रतिसंस्कृत अंश से विरोध या अन्तर पड़ता है वहाँ टीकाकारों ने कश्मीरपाठः देकर समाधान किया है। यह कश्मीरपाठ वस्तुतः दृढ़बल-प्रतिसंस्कृत चरक का पाठ ही है।

किन्तु यह कहना कठिन है कि कश्मीरपाठ दृढ़बल-प्रतिसंस्कार के लिए ही आया है। कहीं-कहीं दोनों का निर्देश साथ-साथ हुआ है अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीरपाठ दृढ़बलपाठ नहीं है। दृढ़बल ने माधव से कुछ लिया हो इसका भी कोई प्रमाण नहीं है।[4]

माधव का काल-निर्णय करने के लिए निम्नांकित मुख्य आधार हैं:—

१. माधव ने अष्टांगहृदय के अनेक अंशों को उद्धृत किया है अतः वह वाग्भट द्वितीय (६०० ई०) के बाद ही होंगे।

२. वृन्द ने सिद्धियोग संग्रह (वृन्दमाधव) में माधवकृत रुग्विनिश्चय के क्रम का अनुसरण किया है। अतः वृन्द (९वीं शती) के पूर्व माधव होंगे।

---

१. निमिप्रणीताः षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः न करालभद्रशौनकादिप्रणीताः।
डल्हण (सु० उ० १/५)

२. नेत्रामयेषु आचार्याणां विप्रतिपत्तिः; नेत्ररोगाणां षट्सप्ततिः विदेहः प्राह, करालस्तु षण्णवतिम्; अशीतिं सात्यकिः प्राह। तेषु करालमतेनैवैतदभिधानम्।'
चक्र० (च० चि० २६/१३०)

३. कुञ्चनं च कस्यापि तन्त्रस्य माधवकरेण लिखितं न सौश्रुतं, तेन सुश्रुतोक्तषट्सप्ततिसंख्या न हीयते, एवं वक्ष्यमाणेऽपि पक्ष्मशाते बोद्धव्यम्।
—मधुकोश, नेत्ररोगनिदान श्लो० ९६

४. Dasgupta A History of Indian Philosophy, Vol. II. 433-434. Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine, Vol. III, 630-633.

३ अरब के खलीफा हारून-अल-रशीद (७६८-८०९ ई०) के राज्यकाल में अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में हुआ जिनमें माधवनिदान भी था। अरब में ८५० ई० में इस ग्रन्थ के प्रचार का प्रमाण मिलता है। अतः ८वीं शती के पूर्व माधवनिदान का अस्तित्व अवश्य होगा।

इस प्रकार माधवनिदान का काल वाग्भट द्वितीय (६०० ई०) और इसके अरबी अनुवाद (८०० ई०) के बीच में अर्थात् ७०० ई० रखना चाहिए।[1]

माधव के अवदान

माधवकर ने केवल प्राचीन तथ्यों का संकलन नहीं किया अपितु उसका विशदीकरण भी किया। अनेक विकार जो संहिताओं में सूक्ष्म रूप से संकेतित थे उन्हें स्वतन्त्र रूप देकर विस्तार से स्पष्ट किया गया है और कहीं अतिविस्तृत विषय को संक्षिप्त रूप दिया है। सबका उद्देश्य रोगविनिश्चय के लिए एक व्यावहारिक ग्रन्थ चिकित्सकों के हाथों में देना था। उदाहरणार्थ, कुछ विचारों का उल्लेख यहाँ किया जायगा।

१. वातव्याधि—संहिताओं में वातव्याधि का बड़ा विस्तार है। सुश्रुतसंहिता में वातव्याधि और महावातव्याधि करके दो स्वतंत्र अध्यायों में इसका वर्णन है। चरक ने आवरण इत्यादि का विचार कर बड़ी गंभीरता और विस्तार से इसका विचार किया है किन्तु माधव ने आवरण को छोड़ कर शेष विकारों का वर्णन किया है। वातव्याधि के अतिरिक्त, ऊरुस्तम्भ और वातरक्त का दो स्वतंत्र अध्यायों में वर्णन है। प्राचीन संहिताओं में ऊरुस्तम्भ का कोई पृथक् अध्याय न देकर वातव्याधि के अन्तर्गत आढ्यवात के नाम से वर्णन है। सुश्रुत ने लिखा है कि इसी को कुछ लोग ऊरुस्तम्भ कहते हैं। माधव ने सुश्रुत को ही उद्धृत कर इसे ठोस रूप दिया है।

आमवात का यद्यपि संकेत संहिताओं में मिलता है तथापि इसका स्वतन्त्र स्वरूप खड़ा करने का श्रेय माधव को ही है।

२. शूल—संहिताओं में गुल्माधिकार तथा त्रिमर्मीय प्रकरण में शूल का संक्षेप में वर्णन है किन्तु गुल्म से पृथक् इसका स्वतंत्र विस्तृत वर्णन माधवनिदान में ही सर्वप्रथम मिलता है। शूल के अतिरिक्त, परिणामशूल तथा अन्नद्रवशूल का भी वर्णन किया गया है। सोढल और शार्ङ्गधर ने एक और 'जरत्पित्तशूल' का उल्लेख किया है।

३. अम्लपित्त—संहिताओं में इसका स्वतंत्र वर्णन नहीं मिलता। विदग्धाजीर्ण में सधूमाम्ल उद्गार के साथ भ्रम, तृषा, मूर्च्छा तथा अन्य पैत्तिक विकारों का निर्देश

1. G. J. Meulenbeld : The Madhava Nidana and its Chief Commentary, (Leiden, 1974), Introduction, P. 20-21.

है। दृढ़बल ने सम्भवतः खरनाद से अम्लक का लक्षण दिया है। (सकोष्टदाह-हृच्छूलमम्लोद्गिरणमम्लकः—च० चि० २८।७८)। माधवकर ने अम्लपित्त का स्वतंत्र वर्णन किया है। यह गतिभेद से दो प्रकार का ऊर्ध्वग और अधोग तथा दोषभेद से वातानुबन्ध, कफानुबन्ध और वातकफानुबन्ध तीन प्रकार का होता है।

४. मेदोरोग—अतिस्थूल के प्रसंग में मेदोरोग का संकेत प्राचीन संहिताओं में मिलता है। मेदोहर द्रव्यों का भी उल्लेख लंघन-प्रकरण में किया गया है किन्तु मेदोरोग का स्वतंत्र वर्णन माधवकर ने ही किया है। यह उल्लेखनीय है कि गुप्तकालीन समृद्धि में मेदोरोग सर्वाधिक दृष्टिपथ में आया और माधव ने इसी कि का अंकन अपनी रचना में किया।

५. श्लीपद—चरक ने श्वयथुचिकित्सा के अन्तर्गत तथा सुश्रुत ने वृद्धि और उपदंश के साथ इसका वर्णन किया है। माधवकर ने इसका वर्णन स्वतंत्र अध्याय में किया है।

६. शीतपित्तोदर्दकोठ—इसका भी एक स्वतंत्र अध्याय में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त, विस्फोट और मसूरिका का भी पृथक् अध्यायों में वर्णन है।

७. स्त्रीरोग—संहिताओं में योनिव्यापद् के प्रसंग में स्त्रीरोगों का उल्लेख मिलता है किन्तु माधवकर ने स्त्रीरोगों का वर्णन असृग्दर, योनिव्यापत्, योनिकन्द, सूतिका रोग, स्तनरोग तथा स्तन्यदुष्टि इन छः अध्यायों में किया है।

कायचिकित्सा के अतिरिक्त. शल्य, शालाक्य, बालरोग, प्रसूति-स्त्रीरोग, विषरोग आदि का भी इसमें समावेश किया गया है जिससे यह चिकित्सकों के लिए व्यावहारिक आधारभूत ग्रन्थ बन सका।

माधवनिदान की टीकायें

डॉ० म्युलेनवेल्ड ने खोजपूर्ण अध्ययन कर अपने नवप्रकाशित ग्रन्थ (प्राक्कथन, पृ० २१-२२) में इन टीकाओं की निम्नांकित सूची प्रस्तुत की है—

१. मधुकोष—मधुकोष-व्याख्या सर्वोत्तम एवं सर्वप्रचलित है। विजयरक्षित ने अश्मरीप्रकरण तक इस व्याख्या की रचना की। उसके बाद उनके शिष्य श्रीकण्ठदत्त ने इसे पूरा किया।

२. आतंकदर्पण—यह टीका प्रमोदवैद्य के पुत्र वाचस्पति द्वारा विरचित है। मधुकोष-व्याख्या का आधार लेकर यह लिखी गई जसा कि टीकाकार ने स्वयं प्रारंभिक पद्य में कहा है।[1]

१. मधुकोष तथा आतंकदर्पण दोनों व्याख्याओं के साथ निर्णयसागर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित (१९२० प्रथम संस्करण)
संभवतः माधवनिदान का मधुकोषव्याख्यासहित प्राचीनतम संस्करण जीवानन्द

३. रोगविनिश्चय-विवरण-सिद्धान्तचिन्तामणि—संक्षेप में यह सिद्धान्त चिन्तामणि या सिद्धान्तचन्द्रिका कही जाती है। इसके कर्त्ता नरसिंह कविराज हैं।[1]

४. सुबोधिनी— वासुदेवकृत

५. माधवनिदानटिप्पणी—भावमिश्रकृत

६. रुग्विनिर्णयटीका—भवानीसहायकृत

७. टीका—रामनाथवैद्यकृत

८. वैद्यमनोरमा—रामकृष्णकृत

९. टीका—रायशर्मकृत

१०. टीका—गणेशभिषक्

११. रुग्विनिश्चयपरिशिष्ट—विशारदसुत हारधनकृत (जम्मू, ३३७३)

डा० जॉली ने इनमें अधिकांश टीकाओं का उल्लेख किया है। इनमें रायशर्मा सम्भवतः आतंकदर्पणप्रणेता वाचस्पति के अग्रज हैं। गणेशभिषक् की दो अन्य रचनायें चिकित्सा पर मिलती हैं—चिकित्सामृतसंग्रह (सरस्वतीभवन, ४४९०६) और साररत्नावली (वही, ४५१३८)।

आधुनिक टीकाओं में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

१. शारदाव्याख्या—शारदाचरणसेनकृत[2]

२. विकासिनीव्याख्या (हिन्दी)—दीनानाथ शर्मा शास्त्री[3]

३. विद्योतिनीव्याख्या (हिन्दी)—सुदर्शनशास्त्री[4]

विदेशी भाषाओं में अनुवाद

१. अरबी अनुवाद ८वीं शती में हुआ, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

२. प्रथम पाँच अध्यायों का इटालियन भाषा में अनुवाद मैरिओवेल्लॉरी (Mario Vallauri) ने १९१३-१४ ई० में किया जो फ्लोरेन्स से प्रकाशित हुआ।

३. निदानपञ्चक से राजयक्ष्म-क्षतक्षीणनिदान तक दस अध्यायों का मूल एवं मधुकोष तथा आतंकदर्पण व्याख्याओं के सहित अंगरेजी अनुवाद हाल ही में डा० म्युलेनबेल्ड ने किया है[5]। अनुवाद के अतिरिक्त, अनेक महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट एवं

विद्यासागर, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित (१८७६ ई०) है। इसके बाद खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई द्वारा १८८४ ई० में प्रकाशित हुआ।

१. काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, पा० सं० ३७०२, ४९१७-४९१९।

२. प्रकाशक—कविराज पी० के० सेन, बनारस (१९३२)

३. दो खण्डों में दिल्ली से प्रकाशित (१९५० द्वि० सं०)

४. दो खण्डों में चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस द्वारा प्रकाशित (१९५३)

५. प्रकाशक—E. J. Brill, Leiden (1974)

टिप्पणियों के साथ माधवनिदान का सुन्दर विवेचनात्मक अध्ययन इसमें प्रस्तुत किया गया है।

भिषक्चक्रचित्तोत्सव (हंसराजनिदान)

इसका रचयिता वैद्य हंसराज है। लेखक ने प्रारंभिक पद्य में इस ग्रन्थ का नाम भिषक्चक्रचित्तोत्सव दिया है किन्तु यह भी सूचित किया है कि उसका नाम भी इससे संबद्ध है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का पूरा नाम 'हंसराजीय भिषक्चक्रचित्तोत्सव' होना चाहिए। किन्तु अध्यायान्त पुष्पिकाओं में 'इति श्रीभिषक्चक्रचित्तोत्सवे हंसराजकृते वैद्यकशास्त्रे······ ऐसा वाक्य आता है। केवल ज्वरनिदान के अन्त में 'इति श्रीभिषक्चक्रचित्तोत्सवे हंसराजकृते हंसराजनिदाने वैद्यशास्त्रे ज्वरलक्षणं प्रथमं' दिया है। इस प्रकार 'हंसराजीय वैद्यकशास्त्र' या 'हंसराजनिदान' भी इसका नाम हो सकता है। जो भी हो, हंसराजनिदान के नाम से यह ग्रंथ प्रसिद्ध है[1]।

इसमें संक्षेप से सुललित पद्यों में रोगों का निदान वर्णित है जिससे यह सुख-स्मरणीय और रोचक है। इसी कारण आधुनिक चिकित्सकों में यह पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। समधीत विद्वद्वर्ग में माधवनिदान तथा इतर चिकित्सकों में हंसराजनिदान का प्रचार रहा है।

लेखक ने ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया है किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों में वाग्भट, माधव आदि के साथ सुषेण और दामोदर का उल्लेख किया है। दामोदर से शार्ङ्गधर के पिता या भीमविनोद के कर्ता दामोदर का ग्रहण किया जा सकता है। प्रथम विकल्प में लेखक का काल १४वीं शती के बाद तथा द्वितीय विकल्प में १७वीं शती या उसके बाद ठहरता है क्योंकि भीमविनोद में भावप्रकाशोक्त फिरंगरोग तथा उसकी चिकित्सा का वर्णन है[2]। अधिक सम्भावना द्वितीय विकल्प की ही है क्योंकि इस दामोदर ने सुषेणकृत आयुर्वेदमहोदधि पर आरोग्यचिन्तामणि व्याख्या लिखी है अतः सुषेण के साहचर्य से इसी का बोध होना चाहिए। यह विदर्भनिवासी तथा विष्णुभट्ट का पुत्र था। विष्णुभट्ट का पुत्र कोनेरिभट्ट था जो अबदुररहीम खानखाना (१५५७-१६३० ई०) का राजवैद्य था। दीपचन्द्रवाचककृत लंघनपथ्यनिर्णय (१८वीं शती) में इसे उद्धृत किया है अतः इसका काल १७वीं शती रखना चाहिए।

अञ्जननिदान

अग्निवेशकृत अञ्जननिदान की अनेक पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। यह निर्णयसागर

१. खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई द्वारा दत्तरामकृत भाषाटीका के साथ प्रकाशित (सं० १९७९)

२. पाण्डुलिपि सं० सी २५७१, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, काशी।

और खेलाड़ीलाल (बनारस) से प्रकाशित भी हुआ है। इसमें कुल २३५ श्लोक हैं। ग्रन्थ का प्रारंभ आधुनिक शैली पर है, तोटक आदि नवीन छन्दों का बाहुल्य है जो प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त, इसमें वध्म नामक रोग का वर्णन है जो न तो संहिताओं में मिलता है और न माधवनिदान में ही। इसका प्रथम उल्लेख वृन्दमाधव (९वीं शती) ने किया है। अतः यह अग्निवेशसंहिता के रचयिता की कृति न होकर किसी अन्य व्यक्ति की रचना है। इस ग्रंथ में उन्माद का विभाग उन्माद और भूतोन्माद इन दो वर्गों में किया गया है जैसा शार्ङ्गधर-संहिता में है। अतः यह सम्भवतः शार्ङ्गधर के बाद की ही रचना है। इस पर जयकृष्णमिश्र की टीका है।[1]

सिद्धान्तनिदान

यह महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन (२०वीं शती) की रचना है[2]। इसमें न्यूमोनिया, टायफायड, काला आजार आदि आधुनिक रोगों को संस्कृत में छन्दोबन्द कर दिया गया है। लेखककृत 'तत्त्वदर्शिनी' व्याख्या भी साथ में है।

गणनाथसेन का जन्म काशी में १८७७ ई० में हुआ। इनके पिता कविराज विश्वनाथसेन आयुर्वेद के चिकित्सक एवं अध्यापक थे। गणनाथसेन मेडिकल कालेज के स्नातक बने और संस्कृत से एम० ए० भी किया। प्राचीन और नवीन का अद्भुत समन्वय आपके व्यक्तित्व में था जिससे आपने तत्कालीन आयुर्वेदीय धारा को पूर्णतः प्रभावित किया। आयुर्वेद की मिश्रप्रणाली के प्रवर्तकों में आप प्रमुख थे। विद्वान के साथ-साथ आप एक यशस्वी चिकित्सक भी थे। 'प्रत्यक्षशारीरम्' भी आपकी प्रसिद्ध रचना है। कविराज विनोदलालसेन ने 'आयुर्वेदविज्ञान' में जो नव्य पथ ग्रहण किया उसे गणनाथसेन ने और प्रशस्त एवं परिमार्जित किया।

अन्य ग्रन्थ

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नांकित ग्रन्थों के अस्तित्व का संकेत मिलता है :—

१. रोगपरीक्षण[3]

२. गदनिर्णयः[4]

३. निदानमञ्जरी[5]

---

१. कविराज विरजाचरणः बनौषधिदर्पण

२. इसका प्रथम संस्करण १९२६ में कल्पतरुप्रासाद भवन, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

३. सरस्वतीभवन, पा० सं० ४४९५६

४. वही, ,, ४५३९६; एन० सी० सी० (कवीन्द्राचार्य, १०४८)

५. पा० आनन्दाश्रम, पूना

४. रोगपरीक्षा[1]
५. रोगसंख्यानिदान
६. रोगनिर्णय
७. रोगनिश्चय
८. निदानग्रन्थ
९. नृसिंहनिदान (नृसिंहकृत)
१०. निदानमुक्तावली (पूज्यपादकृत)
११. निदानप्रदीप (कृष्णभट्टात्मज नागनाथ कृत)
१२. निदानप्रदीप (शंकरकृत)
१३. रामनिदान (महोपाध्याय धर्मशील के शिष्य रामलाल द्वारा रचित, जोधपुर, पा० सं० ५५६७)

इनमें नागनाथकृत निदानप्रदीप अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित रहा है। नागनाथ या नागभट्ट कृष्णभट्ट (संभवतः कोनेरिभट्ट का प्रपितामह) का ज्येष्ठ पुत्र था।

आधुनिक काल के ग्रन्थों में कविराज गंगाधरराय का भास्करोदय तथा आचार्य यादवजी त्रिकमजी का आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान[2] उल्लेखनीय हैं।

सर्वरोगों के सामान्य निदान के अतिरिक्त, विशिष्ट रोगों के निदान पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये। विशेषकर ज्वर और सन्निपात पर अपेक्षाकृत अधिक लिखा गया। इस संबन्ध में निम्नांकित ग्रन्थ अवलोकनीय हैं :—

१. ज्वरनिदान
२. ज्वरनिर्णय सटीक (कृष्णपण्डितात्मज नारायणपण्डितकृत)
३. सन्निपातादिरोगनिदानम्
४. अतिसारलक्षणम्
५. अर्शोरोगनिदानम्[3]

नाड़ीविज्ञान

रोगपरीक्षा के अतिरिक्त रोगिपरीक्षा पर भी ग्रन्थ लिखे गये। इनमें नाड़ीविज्ञान पर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, नाड़ीविज्ञान का प्रादुर्भाव मध्यकाल में हुआ है। मुसलमानी नब्वाजों के साहचर्य से हिन्दू वैद्यों ने नाड़ी परीक्षा का अभ्यास किया या तत्कालीन तान्त्रिक संप्रदाय ने इसके विकास में योग दिया। यह विशेष रूप से एक अभ्यासजन्य अनुभवगम्य विषय था, इसका सैद्धान्तिक पक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल रहा है।

१. यह और इसके बाद के ग्रन्थ के लिए देखें के० अ० प०, पा० सं० ७०२, ७०५ ७००; ७०१, ५०२, ५२३, ५०३, ५०४, ५०५,
२. श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, १९५४
३. के० अ० प० पा० सं० क्रमशः ३४६, ३४७, ७२६, ७७, ३२

नाड़ीविज्ञान पर निम्नांकित ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं :—

१. नाड़ीविज्ञान — महर्षिकणाद प्रणीत[1]
२. नाड़ीपरीक्षा — रावणकृत[2]
३. नाड़ीप्रकाश — शंकरसेन[3]
४. नाड़ीविज्ञान — गोविन्दरायसेन[4]
५. नाड़ीज्ञानदर्पण — भूधरभट्टकृत हिन्दीटीकासहित
६. नाडीपरीक्षा — अग्निवेशकृत[5]
७. नाडीप्रबोधक[6]
८. नाडीसमुच्चय[7]
९. नाडीप्रकाश — दत्तराम[8]
१०. नाडीप्रकाश — गोविन्द[9]
११. नाडीपरीक्षा — ,,
१२. नाडीपरीक्षा — योगीश्वर[10]
१३. नाडीज्ञान — आत्रेय[11]
१४. नाडीज्ञानदीपिका[12] — (शाक सं० १७२९)
(अन्तरयोगः)
१५. नाडीजीवन[13]

---

१. वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित (हिन्दीटीका सहित)। गंगाधर वैद्य की टीका के साथ कलकत्ता से प्रकाशित (१९०२ ई०)
२. बम्बई से १९१२ में प्रकाशित।
३. पाण्डुलिपि (४५०२०), सरस्वतीभवन, वाराणसी।
४. पाण्डुलिपि (सं० ४५०१८), सरस्वतीभवन वाराणसी।
५. पाण्डुलिपि (सं० १२३२३), बड़ौदा।
६. पा० (सं० जी० ८४१९), एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।
७. पा० (सं० जी० ७२७९), ,, ,, ,, , जोधपुर ७६५२
८. पा० आयुर्वेद (सं० १३)
९ एन० सी० सी०
१०. पा० आनन्दाश्रम, पूना
११. रा० ला० मि०, I २०२
१२. वही, ४१२
१३. यह और इसके बाद के ग्रन्थ के० अ० प० पा० सं० ४५९, ४६०, ४६२, ४६३, ४६४, ४७४, ४७५।

१६ नाडीलक्षण
१७. नाडीनिदान(सटीक) — अश्विनौ
१८. नाडीनिर्णय (सटीक)
१९. नाडीनिरूपण
२०. नाडीशास्त्र
२१. नाडीशास्त्रसंग्रह
२२. नाडीपरीक्षा — रामचन्द्र सोमयाजी (१३४८ ई०)
२३. नाडीदर्पण — दत्तराम
२४. नाडीज्ञानतरंगिणी — रघुनाथप्रसाद
२५. नाडीविज्ञान — द्वारकानाथ भट्टाचार्य

कालज्ञान नामक ग्रन्थ का चतुर्थ समुद्देश नाडीप्रकरण है।

आधुनिक ग्रन्थों में निम्नांकित प्रमुख हैं :—

१. नाडीतत्त्वदर्शन — सत्यदेव वाशिष्ठ (द्वितीय संस्करण, १९६८)
२. नाडीदर्शन — ताराशंकर वैद्य (;, ,, , १९७०, मोतीलाल बनारसीदास)
३. नाडीविज्ञान — सर्वदेव उपाध्याय (पी० एच० डी० शोधप्रबंध, काशीहिन्दू विश्वविद्यालय)
४. The pulse in occident and orient—by R. B. Amber et al, New york, 1966

मूत्रादिपरीक्षा पर भी कुछ ग्रन्थ हैं :—

१. मूत्रादिपरीक्षा[1]
२. मूत्रपरीक्षा[2]
३. मूत्रतैलपरीक्षा[3]
४. नाड्यादिपरीक्षा[4] (रामकृता)
५. सर्वपरीक्षण[5]
(नाडीजिह्वादिपरीक्षा)
६. गुदवदनविदरपरीक्षापंचक[6] — लक्ष्मीनारायणकृत

१-३. पा० ४५३-४५५ के० अ० प०
मूत्रपरीक्षा के लिए देखें :—सरस्वतीभवन, पा० सं० ४६११४, जम्मू० पा० सं० ११८०, जोधपुर पा० सं० २४०२,
४. सरस्वतीभवन, पा० सं० ४५३०४
५. वही, पा० सं० ४५३२६
६. एन० सी० सी०

७. अष्टांगपरीक्षा[1]

आधुनिक काल में भी रोगिपरीक्षा पर अनेक पुस्तकें लिखी गई। कुछ तो पाश्चात्य ग्रन्थों के अनुवादमात्र हैं। मेरे द्वारा रचित रोगिपरीक्षाविधि[2] में समन्वयात्मक रीति से विषयों का विवेचन किया गया है। रमानाथद्विवेदीकृत रोगि-रोगविमर्श (चौखम्बा, वाराणसी) विनयकुमारशास्त्रीकृत रोगविज्ञान (पटियाला, १९७१) उत्तम ग्रन्थ हैं। वैद्य रणजितराय देसाईरचित निदानचिकित्सा-हस्तामलक (श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन) में विषय का सैद्धान्तिक विवेचन विशद रूप से किया गया है। जामनगर से प्रकाशित (१९५०) आतुरपरीक्षाविधान में आतुरपरीक्षा के लिए शास्त्रीय आधार पर एक विस्तृत प्रपत्र निर्धारित किया गया है। मूत्रपरीक्षा पर लक्ष्मणस्वरूप भटनागर द्वारा प्रस्तुत स्नातकोत्तर शोधप्रबन्ध भी जामनगर से प्रकाशित (१९६०-६१) हुआ है।

अरिष्टविज्ञान

रोगविज्ञान में रोगों की साध्यासाध्यता का विचार महत्त्वपूर्ण है। रोग साध्य रहने पर ही चिकित्सा का विधान है। प्रत्येक रोग के ऐसे लक्षणों तथा मुमूर्षु रोगी के शारीर-मानस परिवर्तनों (अरिष्टलक्षणों) का सूक्ष्मता से निरीक्षण कर इन्हें क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित किया गया है। निदान-चिकित्सा के अतिरिक्त, संहिताओं के इन्द्रियस्थान में अरिष्टलक्षणों का विस्तार से वर्णन है। मध्यकाल में छायापुरुष, मूत्र इत्यादि[3] से संबद्ध अरिष्टलक्षण भी निर्धारित किये गये। इस संबन्ध में प्राचीन ग्रन्थसूचियों से दो प्राचीन ग्रंथों का पता चलता है :—

१. अरिष्टनवनीत[4]—नवनीतनर्त्तन कविकृत, ग्रन्थसंख्या १००१, ने सं० ८००.

२. अरिष्टनिदानम्[5]

आधुनिक काल में भी कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं जिनमें रमानाथद्विवेदीकृत अरिष्टविज्ञान (चौखम्बा, वाराणसी, १९७३) उल्लेखनीय है।

शंभुनाथकृत कालज्ञान भी इसी विषय का ग्रंथ है।[6]

---

१. का० हि० वि०, सी १९८१

२. चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५७

३. देखें हारीत संहिता और वंगसेन

४. नेपाल पुस्तकालय सं० प्र० १३०६

५. जोधपुर, सं० ५४९०

६. माथुरदत्तराम कृत हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित (गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, ११७०) बनारस से हिन्दी टीका सहित १८८२ ई० में प्रकाशित।

चिकित्सा

आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य रोग का निवारण है। 'कित रोगापनयने' धातु से निष्पन्न 'चिकित्सा' शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। सभी अवस्थाओं में रोग का निवारण सम्भव नहीं है (असाध्यावस्था में रोग दूर नहीं होते); फिर भी रोग-निवारण के लिए भिषक् की सोद्देश्य प्रवृत्ति का ही महत्व है 'प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्थां चिकित्सेत्यभिधीयते'। सम्भवतः इसी कारण इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय का विधान इसमें हुआ है। धातुओं का वैषम्य ही विकार है अतः चिकित्साकर्म का लक्ष्य दोषों को साम्यावस्था में लाना है।[१] इसके लिए प्राचीन काल से मानव ने निरन्तर अन्वेषण कर अनेक उपाय निकाले हैं। इन उपायों की सैद्धान्तिक भिन्नता से ही विविध चिकित्सापद्धतियों का जन्म होता है। महर्षि चरक ने ऐसे अनेक भिषक्शास्त्रों का उल्लेख किया है जो उस काल में प्रचलित थे[२]।

चिकित्सा का स्वरूप एवं उसकी विशेषतायें

वैदिक काल से ही विभिन्न चिकित्साविधियों का संकेत मिलता है जिनसे परवर्त्ती दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय तथा सत्त्वावजय इस त्रिविध चिकित्सा का रूप चरककाल में व्यवस्थित हुआ[3]। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिककालीन चिकित्सा अत्यन्त सरल एवं प्राकृतिक थी। रोगनिवारण के लिए प्राकृतिक देवों-वरुण, रुद्र, इन्द्र, सूर्य आदि की प्रार्थना की जाती थी। इसके अतिरिक्त, सूर्यरश्मि, जल, वायु का उपयोग भी रोगनिवारण में होता था (देखें पृ० १८)। ऋग्वेदकाल में चिकित्सा प्रार्थना-परक अधिक और ओषधि-परक कम थी किन्तु क्रमशः ओषधियों का ज्ञान बढ़ने पर उनका प्रयोग अधिक होने लगा जो अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होता है। इसके बाद दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का स्थान गौण होता गया और युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा प्रमुख होती गई जैसा कि चरक आदि महर्षियों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है किन्तु चरक की चिकित्सा भी प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर थी। इसका आधार स्वभावोपरमवाद[3] था और उद्देश्य था पुरुष की प्राकृतिक रोगक्षमता को सहायता प्रदान करना[४]। वनस्पतियों का प्रयोग अधिक था, खनिज द्रव्यों का नहीं के बराबर होता था। वायु, जल, मिट्टी आदि प्राकृतिक

---

१. याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां मतम् ॥'

२. देखें पृ० १७-१८; ३३

३. च. सू. १६।२७

४. यथा हि पतितं पुरुषं समर्थमुत्थानायोत्थापयन् पुरुषो बलमस्योपादध्यात्, स क्षिप्रतरमपरिक्लिष्ट एवोत्तिष्ठेत्, तद्वत् संपूर्णभेषजोपालंभादातुराः।—च.सू. १०।५

पदार्थों का उपयोग भी चिकित्सा में होता था। अत एव ऐसी मान्यता थी कि प्रकृति में ऐसा कोई द्रव्य नहीं जो औषधरूप में प्रयुक्त न हो सके।[1] यह सार्वद्रव्यीय दृष्टिकोण आयुर्वेद की सबसे बड़ी विशेषता रही है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा की दूसरी विशेषता रही है 'देहमानस' दृष्टिकोण[2]। प्राचीन आचार्यों ने मन के सूक्ष्म भावों के शरीर पर तथा शारीरिक भावों के मन पर प्रभाव का सूक्ष्मता से निरीक्षण कर इस विचार को अपने ग्रन्थों में निबद्ध किया तथा निदान और चिकित्सा में उसका उपयोग किया। किस प्रकार वात के द्वारा उत्साह–चेष्टा, पित्त के द्वारा प्रसाद एवं मेधा तथा कफ के द्वारा क्षमा, धैर्य और अलोभ इन मानस गुणों की प्राप्ति होती है[3], इसके विपरीत, काम, क्रोध और लोभ के कारण क्रमशः वात, पित्त और कफ की वृद्धि होती है[4] इसका स्पष्ट ज्ञान उन्हें था। एक ओर शोकातिसार[5], ईर्ष्यादिजन्य अजीर्ण[6] आदि का वर्णन रोगनिदान में मिलता है तो दूसरी ओर 'सौमनस्यं गर्भधारणानाम्'[7] के द्वारा मानसिक भावों का महत्व रोगप्रतिबन्धकता में भी उपलब्ध होता है।

विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति का विचार कर औषध का प्रयोग करना यह आयुर्वेदीय चिकित्सा की तीसरी विशेषता है। एक ही औषध विभिन्न प्रकृति के पुरुषों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव दिखलाती है। अत एव प्रत्येक पुरुष की प्रकृति का निरीक्षण कर औषध-प्रयोग करने का विधान है।[8]

आयुर्वेद में विकारोत्पत्ति में मलों का महत्वपूर्ण स्थान है। अत एव चिकित्सा में संशोधन का विशिष्ट स्थान है। ऐसी मान्यता है कि शमन चिकित्सा से रोग दब तो जाते हैं किन्तु पुनः अनुकूल परिस्थितियों में कभी उभड़ जाते हैं किन्तु संशोधन के द्वारा मलों का निर्हरण होने के बाद जो चिकित्सा होती है उससे रोग समूल नष्ट हो जाता है अतः उसके पुनः उत्पन्न होने का भय नही रहता[9]। लोक में जो यह धारणा बद्धमूल है कि आयुर्वेद से रोगों का समूल विनाश हो जाता है इसका आधार यही है।

---

१. नानौषधभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमुपलभ्यते—च. सू. २६।११
२. ज्वरप्रत्यात्मिकं लिंगं सन्तापो देहमानसः—च. चि. ३।३१
३. च. सू. १८।५२-५४
४. कामशोकभयाद् वायुः क्रोधात् पित्तम्—मा. नि.
५. सु. उ. ४०।११-१२
६. सु. सू. ४६ आहारविधि, ५६
७. च. सू. २५।३८
८. वही, १।१२४
९. च० सू० १६।२०

स्वभावोपरमवाद के अनुसार दोषों की परम्परा से विकार बना रहता है यदि यह परम्परा विच्छिन्न कर दी जाय तो विकार स्वतः शान्त हो जाते हैं। इसके लिए निदान-परिवर्जन के साथ-साथ हितकर आहार-विहार की कल्पना भी आवश्यक होती है जिससे स्वस्थ धातुओं की परम्परा प्रारंभ हो[1]। इसी कारण आयुर्वेदीय चिकित्सा में पथ्यापथ्य का विशिष्ट महत्व है[2]। बिना इसे जाने कोई वैद्य चिकित्सा में सफल नहीं हो सकता।

आयुर्वेदीय चिकित्सा की सबसे बड़ी विशेषता है पुरुष का समष्टिगत दृष्टिकोण। पुरुष पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाय यही चिकित्सा का उद्देश्य होता है। यदि एक रोग तो दब जाय और दूसरा उत्पन्न हो जाय तो यह आदर्श चिकित्सा नहीं हो सकती। आयुर्वेद की यह मान्यता है कि जो चिकित्सा एक विकार को शान्त कर दूसरे को कुपित कर दे वह शुद्ध नही है। शुद्ध चिकित्सा वही है जो एक विकार का शमन करे और दूसरे दोषों को भी कुपित न होने दे जिससे पुरुष पूर्ण स्वस्थ हो जाय[3]। पुरुष की व्यष्टि में समष्टि का यह दृष्टिकोण आयुर्वेद की ऐतिहासिक देन है।

चिकित्सा का क्रमिक विकास

आदिकाल से मनुष्य रोगों की समस्या पर विचार करता रहा है और उनके निवारण के लिए अचूक उपायों की खोज में लगा रहा है। यह कहना असत्य होगा कि उसे इस प्रयत्न में शत-प्रतिशत सफलता मिली थी या अभी भी मिल गई। समस्यायें पहले भी थीं, आज भी हैं। कुछ क्षेत्रों में सफलता मिलती थी और कुछ समस्याभूत बने थे। वैदिक काल का आदि भिषक् रक्षोहा और अमीवचातन दोनों था[4]; युक्तिव्यपाश्रय तथा दैवव्यपाश्रय दोनों उपायों से रोग के निवारण में संलग्न था। मानसिक उपचार भी करता था और रोगी को आश्वस्त कर उसका सत्त्वबल भी बढ़ाता था। चिकित्सा में मुख्यतः वनस्पतियों का प्रयोग होता था। (वानस्पतिक) मूलों का प्रयोग करने के कारण ऐसे वैद्य 'मौलिकभिषक्' भी कहे जाते थे।

चरकसंहिता में वनस्पति के साथ-साथ जान्तव पदार्थों का भी प्रयोग बहुलता से होने लगा। फिर भी खनिज पदार्थों का प्रयोग सीमित ही रहा। विकृति को समझने

---

१. वही, १६।३६-३७

२. पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः ॥—वैद्यजीवन

३. प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत् ॥—च० नि० ८।२५

४. विप्रः स उच्यते भिषक् रक्षोहाऽमीवचातनः—ऋ० १०।९७।६

के क्रम में वैज्ञानिक पृष्ठभूमि अधिक विकसित हुई, दोषों की अंशांशकल्पना के अनुसार ६३ भेद किये गये। चिकित्सा में भी रोग की विकृति के अनुसार ओषधों का निर्धारण किया गया। सुश्रुत के काल में खनिज द्रव्यों का प्रयोग चिकित्सा में कुछ बढ़ा। रोगों की संप्राप्ति का भी विशदीकरण ६ क्रियाकालों (संचय, प्रकोप, प्रसार, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद) के निर्धारण द्वारा किया गया। तथापि मधुमेह, कुष्ठ, वातव्याधि, सन्निपात, ज्वर, राजयक्ष्मा आदि रोग समस्याभूत ही थे यद्यपि तुवरक आदि नवीन औषधों का प्रयोग इस काल में होने लगा। जनपदोद्ध्वंस, मरक, जनमार इत्यादि का निर्देश होने से पता चलता है कि विविध औपसर्गिक रोगों का प्रसार समय-समय पर होता था जिससे गाँव के गाँव साफ हो जाते थे। यह वैज्ञानिक इतिहास की दृष्टि से रोचक एवं विस्मयजनक है कि अग्निवेश या चरक ने इतने रोगों पर असंख्य औषधों का परीक्षण किस प्रकार और कहाँ किया और इतने विशाल कार्य के परिणाम को किस प्रकार एकत्र कर क्रमबद्ध किया। इसके लिए विशाल आतुरालयों के अस्तित्व का अनुमान होता है जिसका संकेत चरकसंहिता के उपकल्पनीय अध्याय (सू० १५) में किया गया है।

वाग्भट ने पूर्ववर्ती संहिताओं को संकलित एवं परिष्कृत कर युगानुरूप रूप दिया। ज्वरों में हारिद्रक, पूर्वरात्रिक तथा रात्रिक ज्वर का वर्णन किया गया है (अं० सं० नि० २।८७-९१)। अतिस्थौल्य का वर्णन विस्तार से किया गया (अ० सं० २४।२५-२६) जो आगे चलकर मेदोरोग हुआ। संप्राप्ति के क्षेत्र में भी कुछ नवीन विचार उपस्थित किये गये। रक्तपित्त-प्रकरण में वाग्भट का यह कथन कि पित्त रक्त की विकृति है और यह रक्त के स्थान प्लीहा और यकृत् से उत्पन्न होता है (अ० सं० नि० ३।५-६) अतीव महत्त्वपूर्ण तथ्य है जो आधुनिक विज्ञान से भी संमत है। पहले पाण्डु से ही आगे कामला की उत्पत्ति कही जाती थी किन्तु वाग्भट ने सर्वप्रथम यह कहा कि 'पाण्डुरोगाद् ऋतेऽपि च' अर्थात् पाण्डुरोग के बिना भी यह होती है (अं० सं० नि० १३।१८-१९)। सरल एवं सफल चिकित्सा का प्रचार भी वाग्भट ने किया यथा पित्तज्वर में पर्पट या गुडूची; पित्तश्लेष्मज्वर में वासापुष्प एवं पत्र; रक्तपित्त में वासास्वरस; क्षतज कास में नागबला, मधुयष्टी और मण्डूकपर्णी, प्रमेह में हरिद्रास्वरस; गुल्म में एरण्डतैल दुग्ध के साथ या कम्पिल्लक मधु के साथ; कुष्ठ में लौह, तुवरक, भल्लातक, वाकुची, चित्रक और गुग्गुलु; आवृतवात में लशुन आदि[1]।

मौर्यकाल में अशोक ने आतुरालयों की जो श्रृंखला सारे देश में स्थापित की वह गुप्तकाल में और सुदृढ एवं विकसित हुई। अतः चिकित्सकों के लिए अब विषयानुसार ग्रन्थों की आवश्यकता होने लगी। आकरग्रन्थ के स्थान पर करग्रन्थ

१. देखें वाग्भट विवेचन, पृ० ४४-४९

(Handbook) की माँग होने लगी। ऐसे ही समय में माधवकर ने अल्पमेधस (?) चिकित्सकों के लिए 'रोगविनिश्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह इस विषय का सर्वप्रथम स्वतंत्र ग्रन्थ है। इसमें पूर्ववर्ती मुनियों के वचनों का संकलन-मात्र नहीं है अपितु आमवात, शूल, अम्लपित्त आदि अनेक रोगों के स्वरूप का निर्धारण भी किया गया है। भावी लेखकों के लिए यह ग्रंथ आदर्शभूत रहा; चिकित्साग्रन्थों के रचयिताओं ने इसी क्रम को आधार. बनाया। माधव ने न केवल निदान अपितु चिकित्सा का भी एक ग्रन्थ लिखा। नावनीतक को यदि छोड़ दें तो माधवचिकित्सित सर्वप्रथम चिकित्साग्रन्थ है।

इस काल की सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना हुई भारत पर अरबवासियों का आक्रमण। ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर अधिकार कर लिया। परिणामतः अरब से सम्पर्क बढ़ा और मध्यकालीन ग्रन्थों में अनेक नवीन द्रव्यों एवं विधियों का समावेश हुआ। आगे चलकर सम्भवतः इसी माध्यम से अहिफेन, विजया, धत्तूर आदि मादक द्रव्यों का औषधीय प्रयोग प्रारम्भ हुआ। निदान के क्षेत्र में नाडीपरीक्षा का भी समावेश इसी काल में हुआ। रसशास्त्र के विकास से चिकित्सा के क्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति आई। नये-नये रोग आते गये तथा उनकी चिकित्सा की भी व्यवस्था होती गई।

वृन्दमाधव (९वीं शती) में स्नायुक रोग तथा पारसीक यवानी का क्रिमिरोग में सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। इसमें रसौषधों का प्रयोग नहीं है। माधवनिदान के रोगक्रम का अनुसरण करने के कारण संभवतः वृन्दकृत सियोग वृन्दमाधव के नाम से प्रचलित हुआ[1]। चक्रदत्त (११वीं शती) में रसौषधों का पर्याप्त प्रयोग मिलता हैं। परंपरागत क्रम के साथ नवीन प्रयोगों का सामञ्जस्य करने के कारण चक्रदत्त ने वृन्दमाधव को पीछे छोड़ दिया और शताब्दियों तक चिकित्सकों का लोकप्रिय ग्रंथ बना रहा। वंगसेन (१२वीं शती) में सोमरोग का वर्णन किया गया जो पिछले ग्रन्थों में नहीं मिलता। शार्ङ्गधरसंहिता (१३वीं शती) में अम्लपित्त के अनेक भेद तथा २० रक्तज रोगों का पृथक् उल्लेख मिलता है। नाडी-परीक्षा का वर्णन भी सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। इसने स्नायुक को क्रिमि के अन्तर्गत रक्खा जब कि पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में वह विस्फोट या क्षुद्ररोग के अन्तर्गत

१. वृन्दमाधव में सन्निपातज्वर की गम्भीरता का उल्लेख है (ज्वराधिकार, श्लो० १९३, १९४) जिससे प्रतीत होता है कि इससे बहुधा लोगों की मृत्यु होती थी। इसी प्रकार शोष (राजयक्ष्मा) के प्रसंग में लिखा है कि यदि रोगी युवा हो और चिकित्सा की सुव्यवस्था हो तब भी १००० दिन (तीन वर्ष) से अधिक नहीं बचता :—परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः। सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः॥ इससे इसकी असाध्यता का बोध होता है।

रक्खा गया है। यह स्मरणीय है कि इस समय तक भारत में मुसलमानों का पूर्ण आधिपत्य हो गया था और हिन्दू चिकित्सक मुसलमान हकीमों के संपर्क से पर्याप्त प्रभावित हो चुके थे। इसी काल में अफीम, अकरकरा आदि औषधों का प्रवेश आयुर्वेद में हुआ। विजया का अस्तित्व यद्यपि प्राचीन काल से था तथापि उसका औषधीय प्रयोग इसी समय प्रारंभ हुआ। इन सब औषधों का सर्वप्रथम उल्लेख १२वीं शती में सोढलकृत गदनिग्रह में मिलता है।

१५वीं शती के अन्त तक भारत में पुर्तगाली, फ्रेञ्च, डच तथा ब्रिटिश लोगों का प्रवेश हो चुका था। इनके सम्पर्क से अनेक द्रव्य तथा कुछ रोग भारत में प्रविष्ट हुये जिनका वर्णन तत्कालीन ग्रन्थकारों ने किया। पुर्तगालियों के सम्पर्क से उत्पन्न फिरंगरोग का वर्णन सर्वप्रथम भावप्रकाश (१६वीं शती) में मिलता है और रसकर्पूर तथा चोबचीनी के द्वारा उसकी चिकित्सा भी। त्रिमल्लभट्ट (१७वीं शती) ने बृहद्योगतरंगिणी (भाग २, तरंग २७) में शंखिया का प्रयोग फिरंग में सर्वप्रथम किया। योगरत्नाकर (१७वीं शती) में बालकों के एक नवीन रोग उत्फुल्लिका का वर्णन किया है। १८वीं शती के भैषज्यरत्नावली में शीर्षाम्बु आदि रोगों का वर्णन किया गया है। ये सम्भवतः आंग्ल चिकित्सापद्धति के प्रभाव से आये हैं। इसके बाद आयुर्वेदविज्ञान (१९वीं शती) तथा सिद्धान्तनिदान (२०वीं) में यह प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेदीय चिकित्सा निरन्तर नवीन रोगों तथा उनकी चिकित्सा के विषय में अन्वेषणशील रही और इस प्रकार पुरानी परम्परा से ही बँधी न रह कर निरन्तर प्रगति करती रही।

चिकित्साविधियाँ

पञ्चकर्म

संशोधन चिकित्सा इस नाम से प्रसिद्ध है। यह देखा जाता है कि अहितकर आहार करने पर स्वतः वमन या अतिसार या दोनों होने लगता है। शरीरस्थ विषों तथा हानिकर पदार्थों को निकालने का प्रकृति की ओर से यह प्रयत्न होता है। इसी प्रकार उग्र गन्ध या जुकाम आदि के कारण छींकें आने लगती हैं, यह भी विषनिर्हरण का एक प्राकृतिक प्रयत्न है। इस प्रकार वमन, विरेचन और नस्य के द्वारा मलों को बाहर निकालने का उपक्रम किया गया होगा जो प्रकृति के कार्य में ही सहायक होता है। अनेक पक्षी लंबी चोंच के द्वारा अपनी गुदा में जल प्रविष्ट कर मल की सफाई कर लेते हैं। इस प्रकार बस्तिकर्म का प्रारंभ हुआ होगा। वस्ति में पुनः निरूह और अनुवासन दो भेद कर इन संशोधन कर्मों की संख्या पाँच हो गई। वमन, विरेचन, नस्य, निरूह और अनुवासन[1]। वस्तुतः संशोधन में निरूह

1. किन्हीं के मत में वमन, विरेचन, नस्य, बस्ति और रक्तमोक्षण ये पञ्चकर्म होते हैं। अ० सं० सू० २४।७

तक चार कर्म ही आते हैं[1], अनुवासन बस्ति अधिकांश स्नेह से वातसंशमन का कर्म ही करता है।

चरककालीन चिकित्सा में संशोधन का अत्यधिक महत्त्व था। प्रत्येक रोग की चिकित्सा में प्रथम संशोधन उसके बाद संशमन यही वैज्ञानिक पद्धति थी। स्नेहन और स्वेदन ये पूर्वकर्म थे तथा संशोधन के बाद संसर्जनक्रम पर भी ध्यान दिया जाता था। चरक के दृढ़बलकृत अंश में कल्पस्थान और सिद्धिस्थान में इसी विषय का विवरण है। सुश्रुत में भी अनेक अध्यायों में इसका वर्णन है। किन्तु वाग्भट में अपेक्षाकृत संक्षेप है। मध्यकाल में क्रमशः चिकित्सा औषधप्रधान हो गई, पञ्चकर्म की उपेक्षा होने लगी। रसशास्त्र में दोषों का कोई महत्त्व नहीं है अतः उसके वर्धमान प्रभाव के कारण भी इस विधि का ह्रास हुआ। 'यद्यपि बाद के ग्रन्थों में इसका वर्णन औपचारिकता-निर्वाह के लिए पिष्टपेषणवत् किया जाता रहा किन्तु व्यावहारिकता का पुट न होने के कारण उससे वैद्यों का आकर्षण जाता रहा। पञ्चकर्म के प्रसंग में रोगी में अनेक उपद्रव भी होते थे, कभी-कभी मृत्यु तक की स्थिति भी आ जाती थी। यद्यपि चरक ने विस्तार से इन व्यापदों के साधन का वर्णन किया है तथापि सामान्य चिकित्सक इससे घबड़ाने लगा। एक कारण यह भी हो सकता है कि पहले आतुरालयों की जैसी सुचारु व्यवस्था भी वैसी मध्यकाल में न रही हो और ऐसे रोगियों का घर पर रख कर चिकित्सा करना कठिन ही होता। शार्ङ्गधर ने पञ्चकर्मव्याधियों का उल्लेख किया है[2] इससे भी यही संकेत मिलता है। विरेचन के कुछ प्रचलित योग तथा कुछ नस्य तो चलते रहे किन्तु वमन और बस्ति का क्रम अपेक्षाकृत कम हो गया। इस प्रकार आयुर्वेद की वर्तमान चिकित्सा वस्तुतः अपनी वैज्ञानिक शिला से विचलित हो गई है और शताब्दियों के झंझावात में अपना रूप बहुत कुछ बदल चुकी है। सम्प्रति दक्षिण भारत के एक-आध केन्द्रों में इसका प्रयोग हो रहा है। दक्षिण भारत में बहुप्रचलित अभ्यंग-विधि को ही कुछ लोग पञ्चकर्म कहते हैं जो अयथार्थ है।

षट्कर्म

संशमन चिकित्सा के लिए ऐसे तो अनेक कर्म हैं किन्तु प्रमुख कर्म हैं—रूक्षण-स्नेहन, लंघन-बृंहण और स्वेदन-स्तम्भन[3]। आयुर्वेदीय दृष्टि से बीस गुर्वादि गुणों में आठ कार्मुक माने गये हैं, जिनकी संज्ञा वीर्य है। इनमें मृदु और तीक्ष्ण को अन्य में समाविष्ट कर रूक्ष-स्निग्ध, लघु-गुरु, उष्ण-शीत के कर्म क्रमशः उपर्युक्त होते हैं। इन्हीं में सारी चिकित्सा समाहित है। यदि दोषों की साम्यावस्था का विचार करें

---

१. चतुष्प्रकारा संशुद्धिः—च० सू० २२।१८
२. पञ्चकर्मसंभवा रोगाः—शा० पूर्व० ७।९४
३. च० सू० २२।४; ४३

तो कहीं दोषों को घटाना (लंघन) और कहीं बढ़ाना (बृंहण) पड़ता है। इस प्रकार लंघन-बृंहण में ही सभी कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है।

सिराव्यध

चरक के विधिशोणिताध्याय (सू० २४) में रक्तज रोगों तथा उसकी चिकित्सा में शोणितस्रावण का विधान है। सुश्रुतसंहिता में भी एक पृथक् अध्याय (शा० ८) में इसका वर्णन है। इसके अवलोकन से पता चलता है कि यह कायचिकित्सा, शल्यतंत्र आदि अंगों में चिकित्सार्थ व्यवहृत था। वाग्भट ने भी सुश्रुत के समान सिराव्यध को शल्यतंत्र की अर्ध या पूर्ण चिकित्सा कहा है (अ० सं० सू० ३६।४-५)। मध्यकाल में यूनानी जर्राहों ने इस विधि को और विकसित किया और इसका प्रचलन बढ़ा : शार्ङ्गधरसंहिता आदि मध्यकालीन ग्रन्थों में रक्तस्रुति का पृथक् अध्याय में जो स्वतंत्र वर्णन है वह संभवतः इससे प्रभावित है। इसके प्रचलन के कारण कुछ लोगों ने इसे पञ्चकर्म के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया। जो भी हो, इससे स्पष्ट होता है कि मध्यकाल तक यह विधि पूर्ण प्रचलित थी जो आधुनिक काल में क्रमशः लुप्तप्राय हो गई।

चिकित्सा-वाङ्मय

आयुर्वेद का लक्ष्य रोगनिवारण होने से चिकित्सा पर वाङ्मय का जितना विस्तार हुआ उतना अन्य किसी अंग पर नहीं। यथासंभव चिकित्सा के सभी पक्षों पर ग्रन्थों की रचना हुई। समय-समय पर ग्रन्थकारों ने शास्त्रगत आप्तोपदेश को परंपरा से उपबृंहित कर अपने ग्रन्थ में निबद्ध किया। ग्रन्थकार यदि स्वयं चिकित्सक रहा तो उसने अपने निजी अनुभवों का भी सन्निवेश उसमें किया। इस प्रकार प्रत्येक ग्रन्थ अपने पूर्ववर्ती से आगे रहा और सब में अपनी कुछ मौलिकता है अन्यथा पिष्टपेषणमात्र से ग्रन्थरचना ही निरर्थक हो जाती।

चिकित्सा-वाङ्मय चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

१. चिकित्सा-ग्रन्थ
२. योगसंग्रह
३. वैद्यक-काव्य
४. अनुपान एवं पथ्यापथ्य

चिकित्सा-ग्रन्थ

माधवचिकित्सित

यह चन्द्रकरात्मज वैद्यराज माधवकर द्वारा विरचित चिकित्साग्रन्थ है जैसा कि ग्रन्थान्त पुष्पिका 'इति चन्द्रकरात्मजवैद्यराजमाधवविरचितं चिकित्सासूत्र-परिभाषासूत्र-सहितं माधवचिकित्सितं समाप्तमिति' से स्पष्ट होता है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी पाण्डुलिपि यत्र-तत्र पुस्तकालयों में सुरक्षित है। मेरे दृष्टिपथ

में पूना भण्डारकर संस्थान की पाण्डुलिपि (संख्या १३२।ए० १८८२-१८८३) आया जिसके आधार पर यह अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैसा कि माधवनिदान के प्रकरण में कहा गया है, माधवनिदान तथा माधव-चिकित्सित दोनों के रचयिता एक ही माधवकर हैं जिनके पिता चन्द्रकर थे। भ्रम से 'चन्द्रकर' को 'इन्दुकर' कहा जाता रहा है, वस्तुतः इन्द्रकर या इन्दुकर पर्याय-रत्नमालाकार शिलाह्रदनिवासी माधवकर का पिता था। ये दोनों माधव भिन्न हैं। इस प्रकार माधवचिकित्सित का काल सातवीं शती है। चिकित्साग्रन्थों में इसका स्थान सर्वप्रथम है। निदान-चिकित्सा के क्षेत्र में ग्रंथप्रणयन की परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय माधवकर को ही है।

इसमें रोगों का क्रम निम्नांकित रक्खा गया है :—

१. ज्वर
२. ज्वरातीसार
३. अतीसार
४. संग्रहणी
५. अर्श
६. अजीर्णविसूचिका
७. कृमि
८. पाण्डु
९. रक्तपित्त
१०. क्षयरोग
११. कास
१२. हिक्काश्वास
१३. स्वरभेद
१४. अरोचक
१५. छर्दि
१६. तृष्णा
१७. मूर्च्छा
१८. पानात्यय
१९. दाह
२०. उन्माद
२१. भूतोन्माद
२२. अपस्मार
२३. वातव्याधि
२४. गृध्रसी
२५. वातरक्त
२६. ऊरुस्तम्भ
२७. आमवात
२८. परिणामशूल
२९. आनाहोदावर्त्त
३०. गुल्म
३१. हृद्रोग
३२. मूत्रकृच्छ्र
३३. मूत्राघात
३४. अश्मरी
३५. प्रमेह
३६. मेदोरोग
३७. उदररोग
३८. प्लीह
३९. शोफोदर
४०. श्वयथु
४१. वृद्धि
४२. गलगण्डगण्डमाला-ग्रन्थ्यर्बुदापचीरोग
४३. श्लीपद
४४. विद्रधि
४५. व्रण
४६. भग्नव्रण
४७. नाडीव्रण
४८. भगन्दर
४९. उपदंश
५०. शूकदोष
५१. कुष्ठ
५२. शीतपित्तोदर्दकोठ
५३. अम्लपित्त
५४. विसर्पविस्फोट
५५. मसूरिका
५६. क्षुद्ररोग
५७. मुखरोग
५८. कर्णरोग
५९. गलरोग
६०. परिभाषा-प्रकरण

यद्यपि मुखरोग के बाद कुछ अंश त्रुटित प्रतीत होता है तथापि यह स्पष्ट है कि माधव ने रोगविनिश्चय में जो क्रम अपनाया है वही क्रम इसमें दृष्टिगोचर होता है।

कहीं-कहीं विशिष्ट चिकित्सा पर बल देने के उद्देश्य से कुछ रोगों को पृथक् अध्याय में रक्खा गया है। उदाहरणार्थ, वातव्याधि के बाद गृध्रसीरोग का एक प्रकरण पृथक् है। इसी प्रकार उन्माद से पृथक् भूतोन्माद तथा उदररोग के बाद प्लीह और शोफोदर के अध्याय हैं। सद्योव्रण और भग्न को एक साथ मिलाकर भग्नव्रण अध्याय कर दिया गया है।

चिकित्सा के योग अत्यन्त सरल हैं तथा मुख्यतः वनस्पति-प्रधान हैं। रसौषधों तथा खनिज द्रव्यों का सन्निवेश बिलकुल नहीं है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट, चक्रपाणि आदि के वचन विशेषतः उद्धृत हैं। ज्वर-प्रकरण के अन्त में लिखा है कि जब मन्त्र और औषध असफल हो जाँय तब नक्षत्रज पीडा समझनी चाहिए।[1] इससे तत्कालीन ज्योतिषशास्त्र के प्रभाव का भी पता चलता है। कुछ विशेष योगों का यहाँ निर्देश परिचयार्थ किया जा रहा है :—

ज्वर—कफपित्तज्वर में कुटकी, चातुर्थिक ज्वर में अगस्तिपत्र-स्वरस का नस्य।

अतीसार—कुटज-पुटपाक

अर्श—सूरणमोदक, बाहुशालगुड, कांकायनवटक, अभयारिष्ट, तक्रारिष्ट, शुण्ठीघृत, अग्निघृत, क्षारसूत्र

अजीर्ण-विसूचिका—हिंग्वष्टकचूर्ण,

पाण्डुकामला—फलत्रिकादिक्काथ, मण्डूरवटक

रक्तपित्त—वासास्वरस (न वृषेण समं किंचिद् भेषजं रक्तपित्तिनाम्)

क्षयरोग—तालीशादिचूर्ण, सितोपलादिचूर्ण, एलादिगुटिका, च्यवनप्राश

कास—कण्टकारीघृत, त्र्यूषणघृत, अगस्तिहरीतकी

उन्माद—कल्याणघृत, महाचैतसघृत, नारायणतैल

वातव्याधि—माषबलादिपाचन, प्रसारिणीतैल,

गृध्रसी—एरण्डतैल

वातरक्त—गुडूची,[2] पद्मकतैल

आमवात—रास्नापञ्चक एवं रास्नासप्तक क्वाथ, भागोत्तरचूर्ण

परिणामशूल—हिंग्वादिचूर्ण, शतावरीस्वरस,[3] आमलकीस्वरस, शम्बूकभस्म[4]

गुल्म—वचाद्य चूर्ण

---

१. मंत्रभेषजयोर्यत्र साफल्यं नैव दृश्यते। तत्र नक्षत्रजां पीडां जानीयाद् भिषगुत्तमः॥

२. घृतेन वातं सगुडा विबन्धं पित्तं सिताढ्या मधुना कफं च।
वातास्रमुग्रं रुबुतैलमिश्रं शुण्ठ्यामवातं शमयेद् गुडूची॥

३. शतावरीरसं क्षौद्रयुक्तं प्रातः पिबेन्नरः। दाहशूलोपशान्त्यर्थं सर्वपित्तामयापहम्॥

४. शम्बूकजं भस्मरूपं जलेनोष्णेन तत्क्षणात्।
पैत्तिकं विनिहन्त्याशु शूलं विष्णुरिवासुरान्॥

हृद्रोग—अर्जुनत्वक्शृत क्षीर
प्रमेह—मध्वासव
उदररोग—बिन्दुघृत
प्लीह—रोहीतकघृत
शोफोदर—पुनर्नवाष्टकक्वाथ
श्वयथु—गोमूत्र[1]
गलगंड—जलकुंभीभस्म
गण्डमाला—काञ्चनार
श्लीपद—पूतीकरंजपत्रस्वरस, पुत्रजीवकस्वरस
कुष्ठ—पञ्चतिक्तघृत
पलित—निम्बतैलनस्य,[2]
खालित्य—भृङ्गराजतैल[3]
मुखरोग—कालकचूर्ण, पीतकचूर्ण,
कर्णरोग—दीपिकातैल
गलरोग—तिक्तकचूर्ण

मेदोरोग में गुग्गुलु का प्रयोग नहीं है यद्यपि वाग्भट में है। संभव है, इसके क्लैब्य-दोष के कारण क्रमशः इसका प्रयोग मन्द पड़ गया हो। उदररोग में जयपाल का प्रयोग भी नहीं है।

वृन्दकृत सिद्धयोग (वृन्दमाधव)

इसका नाम वृन्दसंग्रह भी है। वृन्द ने माधवकर (७वीं शती) द्वारा निर्धारित रोगक्रम का अनुसरण किया[4] तथा चक्रपाणिदत्त (११वीं शती) ने चक्रदत्त में वृन्द का अनुसरण किया[5] अतः वृन्दमाधव का काल ७वीं और ११वीं शती के बीच अर्थात् ९वीं शती में रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त, ९वीं शती उत्तरार्ध के अरबी इतिहासकार याकूबी ने सिद्धयोग का उल्लेख किया है। यदि यह वृन्दकृत ही है तो

---

१. गोमूत्रस्य प्रयोगो वा क्षिप्रं श्वयथुनाशनः।

२. निम्बस्य तैलं प्रकृतिस्थमेव नस्ये निषिक्तं मधुना यथावत्।
मासेन तत् क्षीरभुजो ह्यवश्यं जराप्रदूतं पलितं निहन्ति॥

३. भृङ्गराजत्रिफलोद्भववारि लोहपुरीषसमन्वितकारि।
तैलमिदं पच दारुणहारि कुञ्चितकेशघनस्थिरकारि॥

४. नानामतप्रथितदृष्टफलैः प्रयोगैः प्रस्ताववाक्यसहितैरिह सिद्धयोगः।
वृन्देन मन्दमतिनाऽस्महिताथिनाऽयं संलिख्यते गदविनिश्चयजक्रमेण॥

५. यः सिद्धयोगलिखिताधिकसिद्धयोगानत्रैव निक्षिपति केवलमुद्धरेद् वा।
भट्टत्रयत्रिपथवेदविदा जनेन दत्तः पतेत् सपदि मूर्धनि तस्य शापः॥

९वीं शती के पूर्वार्ध के बाद के बाद इसे नहीं रख सकते[1]। किन्तु इसने जेज्जट (९वीं शती) का उल्लेख किया है (चरके प्राह जेज्जटः:-शोफ ३३) अतः वृन्द को ९०० ई० के लगभग रहना चाहिए।

वृन्द ने जब माधवकृत रोगविनिश्चय का अनुसरण किया तब यह स्वाभाविक ही था कि वह माधवचिकित्सित से भी सहायता लेता यद्यपि उसने इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। रोगों की गणना में स्नायुकरोग तथा वर्ध्मरोग का लक्षण सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है तथा उनकी चिकित्सामें पारसीकयवानी आदि नये द्रव्य भी। चिकित्साप्रकरण में माधव का अनुसरण करते हुए भी परम्परागत तथा अनुभूत अनेक योगों का निर्देश किया है यथा अतिसाररोग में कुटज-पुटपाक तो माधव चिकित्सित का ही लिया किन्तु उसके अतिरिक्त दीर्घवृन्त (अरलु) के पुटपाक का विधान भी किया। निम्नांकित विशेषतायें अवलोकनीय हैं :—

ज्वर—पर्पटक[2], श्यामकहिम (पित्तज्वर), वासास्वरस (कफपित्तज्वर), वालुकास्वेद, भृष्टकुलत्थचूर्ण (अतिस्वेदनिरोधार्थ), रसोन, वर्धमानपिप्पली, जीरक गुड़सहित (विषमज्वर)

अतिसार—कुटजावलेह, कुटजाष्टक, दीर्घवृन्तपुटपाक।

ग्रहणी—चित्रकगुटिका।

अर्श—तिलारुष्करयोग, सूरणपुटपाक, प्राणदागुटिका, समशर्करचूर्ण, भल्लातकगुड।

अजीर्णादि—लवणार्द्रक, अग्निमुखचूर्ण, विषूची में पार्ष्णिदाह।

कृमि—पारसीकयवानी, पारिभद्रक, पलाशबीज, आखुपर्णी, यूका (बाह्यकृमि) में पारद के साथ धत्तूरपत्र-स्वरस का लेप।

पाण्डु—पुनर्नवामण्डूर।

रक्तपित्त—वासा[3], फल्गु[4] (अंजीर), दूर्वाद्यघृत, शतावरीघृत, खण्डखाद्यलौह।

राजयक्ष्मा—एलामन्थ, छागलाद्यघृत, बलाद्यघृत, चन्दनाद्यतैल।

कास—बिभीतक[5], नवांगयूष, व्योषान्तिकागुटिका; हिक्काश्वास-भार्ङ्गीगुड।

अरोचक—यवानीषाडव

---

1. Indo—Asian Culture, 5, 1957, P. 279.
२. एकः पर्पटकः श्रेष्ठः पित्तज्वरनिबर्हणः। किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोदीच्यनागरैः॥
३. वासायां विद्यमानायामाशायां जीवितस्य च।
रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति॥
४. समाक्षिकः फल्गुफलोद्भवो वा पीतो रसः शोणितमाशु हन्ति।
५. 'बिभीतकमथैकं वा कासश्वासौ व्यपोहति; 'सर्वेषु श्वासकासेषु केवलं वा बिभीतकम्'।

छर्दि—एलादिचूर्ण ।

भ्रम—दुरालभाक्वाथ ।

मदात्यय—पूगमदशामक उपचार ।

दाह—द्रोणी-अवगाहन ।

अपस्मार—वचाचूर्ण ।

वातव्याधि—रसोनपिण्ड, त्रयोदशांगगुग्गुलु, अश्वगंधाघृत, वलातैल, माषतैल, कुब्जप्रसारणी, सप्तशतकीप्रसारणी, एकादशतकीप्रसारणीतैल, गृध्रसी में एरण्डबीज-पायस, सिराव्यध और अग्निकर्म ।

वातरक्त—कैशोरगुग्गुलु, योगसारामृत ।

आमवात—वैश्वानरचूर्ण, योगराज (गुग्गुलु)

शूल—आमलकीचूर्ण, मण्डूर + त्रिफला, शंखचूर्ण, रसोन ।

परिणामशूल—शतावरीमण्डूर, खण्डामलकी, धात्रीलौह ।

रक्तगुल्म—तिलक्वाथ ।

हृद्रोग—पुष्करमूल, नागबला, अर्जुन ।

मूत्रकृच्छ्र—सूक्ष्मैलाचूर्ण ।

मूत्राघात—उष्णवात में चन्दन, कुंकुमकल्क ।

अश्मरी—वरुणत्वक्, गोक्षुरबीज ।

मेदोरोग—मधूदक, नवकगुग्गुलु ।

उदररोग—नारायणचूर्ण, प्लीहा में अर्कलवण तथा शरपुंखा ।

शोथोदर—माणकपायस ।

शोथ—बिल्वपत्ररस, भल्लातकशोथहर उपचार, माणकघृत ।

वृद्धि – वर्ध्म का निदान-चिकित्सा ।

गलगण्ड—जलकुम्भीभस्म, हस्तिकर्णपलाश (गलगण्ड), वरुण, आरग्वधमूल, निर्गुण्डीमूल, शाखोटकतैल (गण्डमाला), उपोदका (ग्रन्थि, अर्बुद)।

श्लीपद—पिण्डारक, हरिद्रा, वृद्धदारुकचूर्ण ।

विद्रधि—शिग्रुमूल, वरुण ।

आगन्तुव्रण—जात्यादिघृत ।

भग्न—लाक्षा, अस्थिसंहार, आभागुग्गुलु, लाक्षागुग्गुलु ।

नाडीव्रण—सप्तांगगुग्गुलु ।

भगन्दर—जम्बूकमांस ।

कुष्ठ—चक्रमर्द (दद्रु), गन्धपाषाणलेप (सिध्म), गन्धपाषाणचूर्ण का कटुतैल से पान (त्वक्रोग), धत्तूरबीजतैल (विपादिका), बाकुची (कुष्ठ), पञ्चनिम्बचूर्ण,

महातिक्तकघृत, नवायसरसायन, एकविंशतिकगुग्गुलु, भल्लातक, मरिचाद्यतैल, विषतैल, सिन्दूराद्यतैल ।

शीतपित्त—यवानी, निम्बपत्र ।

अम्लपित्त—पटोलादिक्वाथ, वासागुग्गुलु ।

विस्फोट—स्नायुकनिदान[1], इसकी चिकित्सा में निर्गुण्डीरसपान तथा शोभांजन का लेप ।

मसूरिका[2]—ब्राह्मी या हिलमोचिकारस, हरिद्रा, निम्बादिक्वाथ, दशांगलेप ।

क्षुद्ररोग—कमलपत्र (गुदभ्रंश), जपापुष्प (पलित), भृंगराजतैल ।

मुखरोग—बकुलचर्वण (दन्तदार्ढ्यकर), दार्वीरसक्रिया (मुखरोग), जातिपल्लव, खदिरवटिका ।

कर्णरोग—अर्कपत्रस्वरस, क्षारतैल

नासारोग—चित्रकहरीतकी, व्याघ्रीतैल,

नेत्ररोग—चन्द्रोदयावर्त्ति, गण्डूपदाञ्जन, महात्रैफलाद्यघृत, नागार्जुनवर्त्ति[3]

शिरोरोग—मुचकुन्दपुष्पलेप (शिरःशूल), शिरोबस्ति, शतधौतघृत, षड्विन्दुतैल, कुङ्कुम, नारिकेलोदक, मयूराद्यघृत

प्रदर—अशोक, कुशमूल, काष्ठोदुम्बरफलरस, बलामूल, पुष्यानुगचूर्ण

योनिरोग—अश्वगंधा, फलघृत

स्त्रीरोग—दशमूल (सूतिकारोग)

बालरोग—अतिविषा

विष—मयूरमांस[4]

रसायन—ऋतुहरीतकी, हस्तिकर्ण, वृद्धदारुक, गुडूच्यादियोग, भल्लातकतैल, नासा से जलपान

---

१. शाखासु कुपितो दोषः शोथं कृत्वा विसर्पवत् ।
भित्त्वैवं तं क्षते तत्र सोष्मा मांसं विशोष्य च ॥
कुर्यात्तन्तुनिभं सूत्रं तत्पिण्डैस्तत्क्रसक्तुजैः ।
शनैः शनैः क्षताद् याति च्छेदात् कोपं समावहेत् ॥
तत्पाताच्छोफशान्तिः स्यात् पुनः स्थानान्तरे भवेत् ।
स स्नायुक इति ख्यातः क्रियोक्ता तु विसर्पवत् ॥—श्लो० १५-१७

२. इसे 'अघगद' या 'पापरोग' कहा है तथा चैत्रकृष्णचतुर्दशी को घर में सेहुण्ड में लाल पताका लगाकर श्वेतकलश पर रखने का विधान है । स्पष्टतः यह देवी के रूप में पूजन का विधान है ।

३. नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके ।

४. मयूरं निम्बपत्राभ्यां खादेन् मेषगते रवौ ।
अब्दमेकं न भीतिः स्याद् विषार्त्तस्य न संशयः ॥

वाजीकरण—नृसिंहचूर्ण, जलशूक (लिंगवर्धन)

विरेचन—अभयाद्यमोदक

इस प्रकार हम देखते हैं कि वृन्द ने परम्पराप्राप्त अनेक नवीन अनुभूत प्रयोगों का समावेश कर अपने ग्रन्थ को युगानुरूप एवं व्यावहारिक बना दिया जिसके कारण यह चिकित्सकों का हृदयहार हो सका। अनेक स्थलों पर 'वृद्धवैद्योपदेशेन (१।४९; ५१।१२८) मिलता है जिससे परंपरागत वृद्ध वैद्यों के प्रति उनकी निष्ठा सूचित होती है।

वृन्दमाधव की कुसुमावली-व्याख्या संप्रति उपलब्ध है जो श्रीकण्ठदत्तविरचित है किन्तु उसकी प्रस्तावना से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ पर उसके पूर्व अन्य टीकायें भी थीं।[1] एक वृन्दटिप्पण या वृन्दव्याख्या के भी उद्धरण व्याख्याकुसुमावली (२२।७०-७१; ११।१७; ६४।१७) आढमल्ल आदि टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। यह एक तो इस ग्रन्थ पर स्वयं वृन्दकृत टिप्पण का बोधक है और कहीं-कहीं किसी अन्य विद्वान द्वारा रचित वृन्दमाधव पर किस टीका का भी[2]। संग्रहग्रंथों में प्राचीन आर्ष वचनों को उद्धृत कर संग्रहकार उस पर जो अन्त में स्वयं विचार देता है वह टिप्पण नाम से ज्ञात है यथा चक्रटिप्पणी, यही स्वरूप वृन्दटिप्पणी का है। उदाहरणार्थ, फलघृत का पाठ समाप्त होने पर यह उसमें कहा गया कि 'अनुक्तं लक्ष्मणामूलं क्षिपन्त्यत्र चिकित्सकाः।' व्याख्याकुसुमावली (६११७), में इसी को वृन्दटिप्पणी कहा। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी है (५८।३१; ३७।३१-३४; ३४।१०, २३।३४; २२।९; ११।१७; ४।१६)। दूसरे ग्रन्थ पर की गई टिप्पणी भी कहीं तो ग्रन्थ के नाम से यथा सुश्रुतटिप्पण और कहीं व्याख्याकार के नाम से यथा सोमटिप्पण, लक्ष्मणटिप्पण, आदि कही जाती है। इस अर्थ में आढमल्ल के वचन का उल्लेख हो चुका है। इसके अतिरिक्त, व्याख्याकुसुमावली (२२।६८; १५४)[3]

---

१. चित्वा कतिपयटीकाविटपिभ्यो वाङ्मयप्रसूनमसौ।
क्रियते श्रीकण्ठेन व्याख्याकुसुमावलीगुम्फः॥
श्रीकण्ठदत्त का परिचय व्याख्या-वाङ्मय प्रकरण में देखें।

२. अष्टावशेषितमित्यत्र यद्ग्रहणं तद्वृन्दटिप्पणकारमतमालोक्य कृतं, वृन्दे तु "ज्ञात्वा गतरसं द्रव्यं रसं गृह्णीत गालितम्' इत्यस्य व्याख्यायां अष्टभागावशेषेण द्रव्याणां गतरसत्वं स्यादिति (शार्ङ्गधर, मध्यम० ८।१४)। व्याख्याकुसुमावली में चतुर्भागावशेष का ही निर्देश है।
इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वृन्दटिप्पण शार्ङ्गधरसंहिता की रचना (१२२५ ई०) के पूर्व अस्तित्व में आ चुका था।

३. अच्छं सौवर्चलमिति वृन्दस्यैव व्याख्याकारः।

भी इसकी ओर संकेत करती है। वृन्दकृत टिप्पणी के प्रति व्याख्याकुसुमावली में अरुचि प्रदर्शित की गई है।[1]

चक्रपाणि के पूर्ववर्त्ती टीकाकार ब्रह्मदेव ने भी वृन्द पर कोई टीका लिखी थी।[2] बलिभद्रकृत वृन्दसंग्रहशेष भी ऐसी ही कोई टीका है।[3] चक्रपाणिदत्त के गुरु नरदत्त ने भी कोई व्याख्या की थी।[4] व्याख्याकुसुमावली के साथ एक संस्करण आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित हुआ है (द्वितीयावृत्ति, १९४३) जिसके अन्त में तीन श्लोक दिये हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि श्रीकण्ठदत्त की टीका का उपबृंहण भाभल्लसुत नारायण नामक किसी नागरवंशीय वैद्य ने डल्हण आदि व्याख्याओं का अवलोकन कर दिया।[5] व्याख्याकुसुमावली में हेमाद्रि (१३वीं शती) का उल्लेख होने से नारायण का काल १४वीं शती हो सकता है।[6] यह निर्णय करना कठिन है कि व्याख्याकुसुमावली में कितना अंश श्रीकण्ठ का है और कितना नारायण का।

वृन्द के काल में एक ओर मध्यकालीन धर्मशास्त्र का जोर था। (८१।६९-७०) तो दूसरी ओर वज्रयान का शून्यवाद भी प्रबल था (शून्यताध्यानमात्रेण शून्यतां याति तद्विषम् (६८।६)।

वृन्दमाधव आनन्दाश्रम, पूना से १८९४ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से भी छपा।

वृन्दमाधव के अतिरिक्त, वृन्द ने चरक पर भी व्याख्या की थी ऐसा व्याख्या-

---

१. 'चविकायाः पुनः स्थाने ग्राह्या मातंगपिप्पली'—टिप्पणिका वृन्दस्य नातिहृदयंगमा—३९।६; और देखें—३९।३३

२. म्युलेनबेल्ड : माधवनिदान पृ० ४८७

३. के० आ० प०, १०२०

४. इति नरदत्त (न्त) व्याख्या-संप्रदायः—५७।७१; यह श्लोक चरक में नहीं है अतः यह वृन्द की ही व्याख्या होगी।

५. श्रीकण्ठदत्तभिषजा ग्रन्थविस्तरभीरुणा।
टीकायां कुसुमावल्यां व्याख्या मुक्ता क्वचित् क्वचित्॥
रत्नं नागरवंशस्य भिषग्भाभल्लनन्दनः।
नारायणो द्विजवरो भिषजां हितकाम्यया॥
भाष्याणि डल्लणादीनि बहुशो वीक्ष्य यत्नतः।
टीकापूर्त्तिं व्यधात् सम्यक् तेन नन्दन्तु साधवः॥

६. डा० पी० के० गोडे का मत है कि यह नारायण कामसमूहकर्त्ता अनन्त (१४५७ ई०) का पितामह था। देखें—स्टडीज इन इण्डियन लिटरटी हिस्ट्री, खंड २, पृ० १७६-१८१

कुसुमावली (५१।२७) में चरकोक्त पाठ पर उद्धृत 'वृन्द' से प्रतीत होता है (चूर्णानि प्रदेहाश्चेति वृन्दः)।

सिद्धसार

यह बौद्ध आचार्य दुर्गगुप्तात्मज रविगुप्त की रचना है। चन्द्रट (१०वीं शती) ने अपनी रचनाओं-योगरत्नसमुच्चय[1] तथा चिकित्साकलिका-व्याख्या[2] में सिद्धसार को उद्धृत किया है अतः इसका काल ९वीं शती होना चाहिए। आगे चलकर अरुणदत्त, विजयरक्षित, निश्चलकर, आढमल्ल तथा शिवदाससेन ने भी इसे उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि १५वीं शती तक इसका प्रचार विद्वत्समाज में था।

यह अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी तीन पाण्डुलिपियों (नेपाल राजकीय पुस्तकालय क्रमांक प्र० ७८७, १११४ तथा १६९७, ख ४) नेपाल में हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का पूरा नाम 'सिद्धसारसंहिता' है जो १३०० अनुष्टुप् श्लोकों में पूर्ण हुई। अपने अग्रज अवगुप्त के आदेश से धातृनाग को लक्ष्य कर लेखक ने इस ग्रन्थ की रचना की।[3] पाण्डुलिपि क्रमांक १६९७ से पता चलता है कि इसमें निघण्टुभाग भी था। मद्रास प्राच्य ग्रन्थागार में भी एक पाण्डुलिपि (सं० १३२५२) है।

चिकित्साकलिका

यह तीसटाचार्यकृत चिकित्सा-ग्रन्थ[4] है जिसमें अनेक उपयोगी औषधयोगों का संग्रह किया गया है[5]। पूरा ग्रन्थ चार सौ श्लोकों में है[6]। इसमें दोषदूष्यादिभावों

---

१. सिद्धसाराद् विश्वाद्यं घृतम्—घृत प्रकरण
२. तथा च सिद्धसार :—पित्तेन स्यान् मृदुः कोष्ठः क्रूरो वातकफात्मकः'
३. 'सार्वं प्रणम्य सर्वज्ञं दुर्गगुप्तस्य सूनुना। संहिता सिद्धसारेयं रविगुप्तेन लिख्यते॥'
नियोगदवगुप्तस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य संहिताम्। धातृनागं समुद्दिश्य रविगुप्तोऽकरोदिमाम्॥
४. कविराज नरेन्द्रनाथ मित्र द्वारा संपादित तथा मित्र आयुर्वेदिक औषधालय, लाहौर द्वारा प्रकाशित (सं० १९८३)। एक और संस्करण वयस्कर एन० एस० मूस द्वारा प्रकाशित है (कोट्टयम, १९५०)। जर्मन अनुवाद के साथ लिपजिग (जर्मनी) से जौली द्वारा प्रकाशित हुआ है।
ऑफ्रेक्ट ने एक दयाशंकरकृत चिकित्साकलिका का उल्लेख किया है।
५. सूर्याश्विधन्वन्तरिसुश्रुतादीन् भक्त्या नमस्कृत्य पितुश्च पादान्।
कृता चिकित्साकलिकेति योगैर्माला सरोजैरिव तीसटेन॥ १॥
हारीतसुश्रुतपराशरभोजभेलभृगवग्निवेशचरकादिचिकित्सकोक्तैः।
एभिर्गणैश्च गुणवद्भिरतिप्रसिद्धैर्धान्वन्तरीयरचनारुचिरप्रपञ्चैः॥ २॥
६. एषा चिकित्साकलिका सदर्थगन्धा भिषक्षट्पदवृन्दसेव्या।
निरूपिता वृत्तशतैश्चतुर्भिर्योगैः स्रगब्जैरिव तीसटेन॥ ४॥

का सर्वप्रथम वर्णन किया गया है। 'व्यापामादपतर्पणात् प्रपतनात्' प्रभृति श्लोक इसी ग्रन्थ के हैं जो अब तक लोकप्रिय हैं। इसके बाद औषधद्रव्यों के १८ गुणों का वर्णन किया गया है; फिर स्नेहन, स्वेदन और पञ्चकर्म है। अन्त में ग्रन्थ की विषयानुक्रमणिका है। यह सब विषय ९८ श्लोकों तक हैं। तदनन्तर विषयों की व्यवस्था इस प्रकार है :—

कायचिकित्सा	श्लो०	९९–२९७
शालाक्यतन्त्र	,,	२९८–३२४
शल्यतन्त्र	,,	३२५–३६४
भूतविद्या	,,	३६५–३७७
कौमारभृत्य	,,	३७८–३८०
विषतन्त्र	,,	३८१-३८९
रसायनतन्त्र	,,	३९०–३९४
वाजीकरणतन्त्र	,,	३९५–३९९
उपसंहार	,,	४००–४०१

इसके कुछ विशिष्ट योग निम्नांकित हैं :—

ज्वर—विश्वादियोग, आरोग्यपञ्चककषाय, गुडूच्यादियोग, षट्पलघृत, लाक्षादितैल।

अतीसार—देवदारुषट्क, त्रिकार्षिक, चातुर्भद्रक, कलिङ्गषट्क, गंगाधरचूर्ण, तित्तिरिपुटपाक।

ग्रहणी—भूनिम्बादिचूर्ण, ग्रन्थिकाद्यचूर्ण।

विद्रधि—त्रिफलागुग्गुलु, त्रिफलाघृत।

कुष्ठ—महाखादिरघृत, अयस्कृति।

श्वित्र—नीलघृत।

पाण्डु—विभीतकलवण, नवायसचूर्ण।

श्वासकास—व्याघ्रीहरीतकी।

शूल—हिंगुपञ्चक, सप्तविंशकगुग्गुलु।

शोष—शिवागुटिका।

उन्माद—मण्डूकपर्णीघृत, सारस्वतघृत, दशांगधूप, विजयधूप।

विषतन्त्र—प्राचेतसचूर्ण।

रसायन—स्वर्णभस्म।

कायचिकित्सा-प्रकरण के अन्तिम भाग में अग्र्यप्रकरण है तथा शल्यतन्त्र-प्रकरण के अन्तर्गत वातरोगचिकित्सा है।

तीसटाचार्य ने अनेक पूर्ववर्त्ती आचार्यों के ग्रन्थों का आलोकन किया था[1] किन्तु

1. तीसटाचार्येण भूरिग्रन्थदर्शनाद् द्वयमपि पठितम्—चन्द्रटव्याख्या, श्लो० १८५

वृन्दकृत सिद्धयोग भी उनकी दृष्टि में अवश्य था यद्यपि स्पष्टतः इसका उल्लेख कहीं नहीं है। निम्नांकित योग वृन्दमाधव और चिकित्साकलिका के समान हैं जो सम्भवतः वृन्दमाधव से ही लिये गये हैं :--

अर्श—कांकायनवटक, सूरणमोदक, प्राणदमोदक।

श्वपथु—कंसहरीतकी।

उदररोग—नारायणचूर्ण, बिन्दुघृत।

रसायन—हस्तिकर्णपलाशयोग।

कुछ पाण्डुलिपियों के अन्त में पुष्पिका (वाग्भटसूनुना तीसटदेवेन) के आधार पर कुछ विद्वान तीसटाचार्य को वाग्भट का पुत्र मानते हैं। किन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि एक तो यह पुष्पिका सभी पाण्डुलिपियों में समान रूप से उपलब्ध नहीं होती। दूसरे, अष्टांगहृदयकार वाग्भट और तीसट के काल में बहुत अन्तराल है। वाग्भट प्रथम ५५० ई० के लगभग तथा वाग्भट द्वितीय ६०० ई० के लगभग हुये थे।[1] जबकि तीसट मध्यकालीन हैं। यदि इसके पिता का नाम वाग्भट स्वीकार भी किया जाय तो वह अष्टांगहृदय तथा अष्टांगसंग्रह के कर्त्ता से भिन्न कोई अन्य वाग्भट होगा। यह सन्देह और भी दृढ़ हो जाता है कि तीसट ने यद्यपि स्वयं अपने पिता का स्मरण मंगल-श्लोकों में किया तथापि उसका नाम न तो वहाँ दिया और न पूर्ववर्त्ती आचार्यों में। चन्द्रट ने भी 'नमस्कृत्य पितुश्च पादान्' इस अंश की व्याख्या करते हुए 'आयुर्वेदाब्धिप्रतरणपोतपात्राणां पितुः पादानां नमस्कृतिः' इतना ही कहा जिससे केवल यही ज्ञात होता है कि तीसट के पिता एक विद्वान् वैद्य थे, यह कथमपि विदित होता है कि वह वाग्भट थे। यह भी संभव है कि वही तीसट के गुरु भी रहे हों। यह आश्चर्य की बात है कि तीसट या चन्द्रट दोनों में किसी ने भी वाग्भट का नामतः उल्लेख नहीं किया यद्यपि उसके वचनों को बहुशः उद्धृत किया है। ऐसी एक परंपरा रही है कि पिता का नाम विशेषतः मांगलिक कार्यों में न लिया जाय किन्तु इस प्रसंग में यह बात खण्डित हो जाती है क्योंकि चन्द्रट ने अपने पिता का नाम निर्देश किया है।[2] व्याख्या के प्रसंग में भी अनेक बार 'तीसटाचार्य' का निर्देश किया है।[3] ऐसी स्थिति में तीसट को भी अपने पिता का नामतः निर्देश करने में बाधा नहीं थी। अतः संगत निष्कर्ष यही निकलता है कि तीसट के पिता वाग्भट नहीं थे और यदि उनके पिता का ऐसा नाम रहा भी हो तो भी वह बृहत्त्रयी के वाग्भट से भिन्न व्यक्ति थे।

१. देखें मेरा वाग्भटविवेचन, पृ० ३५६

२. तीसटसूनुभक्त्या चन्द्रटनामा भिषङ्मतश्चरणौ।
नत्वा पितुश्चिकित्साकलिकावृत्तिं समाचष्टे॥

३. एतच्च नीलघृतं चारपाणिप्रोक्तं तीसटाचार्येण लिखितमिति—श्लो० २०८।२११

तीसट नाम के आधार पर अनुमानतः कश्मीरी थे। मांगलिक पद्य में सर्वप्रथम सूर्य का नाम आया है। चन्द्रट ने व्याख्या में यह सूचित किया है कि सूर्य आरोग्य-देवता होने के अतिरिक्त ग्रन्थकार के कुलदेवता भी थे क्योंकि सूर्य से ही उत्पन्न उनका कुल था[1]।

काल

तीसटाचार्य को शिवदाससेन (१५वीं शती), विजयरक्षित, निश्चलकर, हेमाद्रि (१३वीं शती) तथा चक्रपाणिदत्त (११वीं शती) ने उद्धृत किया है। इसका पुत्र चन्द्रट भट्टारहरिश्चन्द्र (६ठीं शती) सुधीर और जेज्जट (९वीं शती) को उद्धृत करता है[2]। चन्द्रट ने सुश्रुत की पाठशुद्धि जेज्जट—टीका के आधार पर की[3]। अतः तीसटाचार्य का काल ९वीं और ११वीं शती के बीच अर्थात् १०वीं शती है। डा० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने तीसट और चन्द्रट का काल क्रमशः ९०० ई० और ९५० ई० रक्खा है किन्तु इसे थोड़ा बढ़ा कर ९५० ई० और १००० ई० रखना चाहिए।

चक्रदत्त

चक्रपाणिकृत[4] इस ग्रन्थ का नाम 'चक्रसंग्रह' या 'चिकित्सासंग्रह' भी है। यह वृन्दकृत सिद्धयोग का आधार लेकर लिखा गया जैसा कि ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है। इसके पूर्व वृन्दकृत सिद्धयोग या वृन्दमाधव ही वैद्यसमाज में समादृत चिकित्साग्रन्थ था किन्तु चक्रदत्त की रचना के बाद वृन्दमाधव का प्रचार दब गया और उसका स्थान चक्रदत्त ने ग्रहण किया। इसका कारण परम्परा के साथ साथ नवीनता का सामञ्जस्य कर इसे युगानुरूपता प्रदान करना है। हमने देखा कि वृन्दमाधव में रसौषधों का प्रयोग नहीं है यद्यपि वज्रयान का तान्त्रिक संप्रदाय प्रबल हो रहा था इसकी सूचना मिलती है। इसी संप्रदाय में रसशास्त्र का विकास हुआ और रसौषधों का प्रयोग चिकित्सा होने लगा। चक्रदत्त (११वीं शती) ने पहली बार रसौषधों का समावेश अपने ग्रन्थ में किया। यह उस युग की माँग थी जिसकी पूर्ति करने के कारण यह ग्रंथ शीघ्र ही चिकित्सकों का करग्रंथ बन गया। यह प्रभाव ऐसा चिरस्थायी हुआ कि आज का वैद्यसमाज वृन्दमाधव को तो भूल गया किन्तु चक्रदत्त को न भूल सका।

---

१. तथा कुलदेवताऽस्माकं, कुलदेवतात्वं तु तत्तेजःसमुत्पन्नत्वात्।

२. व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धार्ष्ट्यं समावहति॥

३. पाठशुद्धिः कृता तेन टीकामालोक्य जैज्जटीम्।

४. चक्रपाणिदत्त का परिचय तृतीय अध्याय में देखें।

ग्रंथ के उपक्रम[1] से ज्ञात होता है कि चक्रपाणि ने इसके पूर्व 'गूढवाक्यबोध' नामक कोई ग्रन्थ बनाया जिसका समावेश यत्र-तत्र इस ग्रंथ में किया।

चक्रदत्त की विशेषतायें

१. पारद के अनेक योगों का वर्णन किया है। ग्रहणीप्रकरण में रसपर्पटी के के विषय में लिखा है कि इसे चक्रपाणि ने निबद्ध किया[3]। इसके अतिरिक्त ग्रहणी में ताम्रयोग, अर्श में रसगुटिका, राजयक्ष्मा में रसेन्द्रगुटिका, अम्लपित्त में क्षुधावती-गुटिका, अग्निमांद्य में पानीयभक्तवटी, मसूरिका में कज्जलीप्रयोग, प्लीहयकृत् में लोकनाथरस का विधान है। इस प्रसंग में रस और गंधक के शोधन की विधि भी वर्णित है।

२. धातुओं तथा अन्य खनिजों के अनेक औषधयोग दृष्टिगत होते हैं यथा—

अर्श—अग्निमुख लौह, भल्लातकलौह।

पाण्डु—नवायस, योगराज, मण्डूर, पुनर्नवामण्डूर।

राजयक्ष्मा—ताप्यादिलौह, विन्ध्यवासियोग।

शूल—लौहभस्म।

परिणामशूल—सप्तामृतलौह, धात्रीलौह, शतावरीमण्डूर, तारामण्डूर प्रभृति।

स्थौल्य—विडंगाद्यलौह, लौहरसायन।

कुष्ठ—नवायस रसायन।

नेत्ररोग—सीसकशलाका।

रसायन—अमृतसारलौह रसायन, अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म, शिलाजतु।

गर्भधारण—स्वर्णरजतादियोग।

वमनार्थ—ताम्रभस्म।

बालरोग—स्वर्णगैरिक।

३. अनेक तान्त्रिक प्रयोग तथा टोटके भी हैं यथा प्रसव में विलम्ब होने पर गर्भच्यावन मंत्र के अतिरिक्त उभयत्रिंशक और उभयपंचदशक यंत्र धारण करने का विधान है। गर्भच्यावन मंत्र से सात बार अभिमंत्रित जल पीवे तथा उपर्युक्त मंत्रों (किसी पत्र या ताम्रपट्ट पर लिखकर) को देखें। इसी प्रकार पत्नीविद्वेषहर योग भी तांत्रिक प्रयोग ही है। शुक्रस्तम्भन के लिए एक प्रयोग है कि करञ्ज के बीज के भीतर पारद रखकर ऊपर से सोने से मढ़ कर मुख में धारण करे। अपस्मार की

---

१. नानायुर्वेदविख्यातसद्योगैश्चक्रपाणिना। क्रियते संग्रहो गूढवाक्यबोधकवाक्यवान्॥ १।२

२. हिन्दी टीका के साथ इसकी एक पाण्डुलिपि सरस्वतीभवन, वाराणसी में है (क्रमसं० ४४७६३)। बाद में हेरम्बसेन ने भी गूढवाक्यबोधक लिखा।

३. रसपर्पटिका ख्याता निबद्धा चक्रपाणिना।

चिकित्सा में बतलाया है कि जिस रस्सी से फाँसी दी जाती है उसकी भस्म बनाकर शीतल जल से लेने से अपस्मार निवृत्त होता है।[१] मनुष्य के शिरःकपाल तथा कुक्कुरजिह्वा का लेप क्षतरोहणार्थ और प्रासादमन्त्र से अभिमंत्रित विपरीतमल्लतैल का विधान (क्षुद्ररोग) भी तान्त्रिक प्रयोग ही हैं।

४. उपर्युक्त जान्तव द्रव्यों के अतिरिक्त भूनाग का प्रयोग बहुलता से हुआ है (देखें गण्डूपदाञ्जन प्रभृति योग)। मृगशृङ्गभस्म का प्रयोग हृद्रोग तथा कटिपृष्ठशूल में विहित है। शंखभस्म[२] का प्रयोग परिणामशूल में है। महाराजप्रसारणीतैल तथा महासुगंधितैल में अन्य गन्धद्रव्यों के साथ पूति (खट्टाशी) भी है।

५. कुछ नवीन चिकित्साविधियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं यथा ज्वर में काञ्जिकसिक्त वस्त्र का धारण, मूत्राघात में मूत्रमार्ग में कर्पूर का चूर्ण प्रविष्ट करना आदि। सिराव्यध का विस्तार से वर्णन है।

५. कुछ अन्य विशिष्ट प्रयोग यथा :—

ज्वर	शेफालीपत्रस्वरस
अतिसार	अंकोठवटक, वटप्ररोह, बब्बूलदलकल्क, तिलकल्क
अर्श	नागार्जुनयोग, विजयचूर्ण
पाण्डु	योगराज, नवायस
कास	कमलबीजचूर्ण, व्याघ्रीहरीतकी
हिक्काश्वास	मयूरपिच्छभस्म
अरोचक	कलहंस
छर्दि	अश्वत्थक्षारजल
उन्माद	धूर्त्तमूलपायस, ऐन्द्रीफलनस्य
गृध्रसी	शेफालिकाक्वाथ, विष्णुतैल (वातव्याधि), लक्ष्मीविलासतैल
आमवात	सिंहनादगुग्गुलु, रसोनसुरा
शूल	नारिकेलखण्ड, धात्रीलौह
उदावर्त्त	रसोन
गुल्म	रसोनक्षीर, कांकायनगुटिका
उदर	तण्डुलचूर्णपूप, मूलिकोत्पाटन
वृद्धि	ऐन्द्रीमूल, रूपिकामूल, रुद्रजटामूल

१. यही योग सोढल तथा रसरत्नसमुच्चय (२३।२३) में मिलता है :—
'उद्बद्धमानवगलव्यतिषक्तमग्नौ रज्जुं विदह्य निपुणेन कृता मषी या।
सा शीतलेन सलिलेन समं निपीता पुंसामपस्मृतिविनाशकरी प्रसिद्धा ॥
२. वृन्दमाधव में शंखचूर्ण है।

गलगण्डादि	वनकार्पासी-पूपिका
भगन्दर	भूनागचूर्णलेप
भग्न	पीतवराटिकाचूर्ण
मुखरोग	सहकारगुडिका
स्त्रीरोग	लोमशातनयोग, कुचकठिनीकरणयोग, कटितनूकरण, योनिगाढीकरण
बालरोग	स्नुहीदल, स्वर्णगैरिक
वाजीकरण	वाराहीकन्द, भूनागतैल, वस्त्रधूपन, ध्वजभंगहर योग, अधोवातहरयोग (बीजपूरत्वक्)

इस प्रकार चक्रदत्त में पारम्परिक योगों के साथ-साथ अनेक नवीन प्रयोगों का भी उल्लेख है। रसशास्त्रीय औषधों के प्रयोग की दृष्टि से भी चक्रदत्त का ऐतिहासिक महत्त्व है।[1]

वंगसेन

वैद्य गदाधर के पुत्र वंगसेन द्वारा विरचित 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक ग्रन्थ कर्ता के नाम पर 'वंगसेन' के नाम से प्रचलित है। वंगसेन कान्तिकाम का निवासी था। यह स्थान वंगप्रदेश में है।[2]

वंगसेन का एक संस्करण शालिग्राम वैश्यरचित हिन्दी टीका के साथ बम्बई (खेमराज श्रीकृष्णदास) से सं० १९६१ में प्रकाशित हुआ है। १८८४ ई० में कलकत्ता से छपा था।

त्रिविक्रम ने वंगसेन पर कोई टीका लिखी थी जिसका उल्लेख आढमल्ल ने शार्ङ्गधर टीका में किया है।[3]

---

१. इसका एक संस्करण शिवदाससेन की टीका के साथ कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। दूसरा पं० जगन्नाथशर्मा वाजपेयी, प्रोफेसर, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय की सुबोधिनी हिन्दी टीका के साथ खेमराम श्रीकृष्णदास, बम्बई (चतुर्थ आवृत्ति, १९५९) से निकला है। चौखम्बा, वाराणसी से भी एक संस्करण जगदीश्वरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दीटीकासहित प्रकाशित हुआ है (तृतीय आवृत्ति, सं० २०१७)।

२. ध्यात्वा गिरीशमपहाय वचः प्रपञ्चं वृद्धानुपास्य भिषजस्तदुदाहृतीश्च।
श्रीवङ्गसेनभिषजा खलु वैद्यवृद्धसिद्धप्रयोगनिवहो बहु लिख्यतेऽस्मिन्॥ १॥
नत्वा शिवं प्रथमतः प्रणिपत्य चण्डीं वाग्देवतां तदनु तातपदं गुरुं च।
संगृह्यते किमपि यत् सुजनैस्तदत्र चेतो विधातुमुचितं तदनुग्रहेण॥ २॥
कान्तिकावासनिर्जातश्रीगदाधरसूनुना। क्रियते वंगसेनेन चिकित्सासारसंग्रहः॥३॥

३. वंगसेनादयस्त्रिविधमाहुः—एतद् विवृणोति त्रिविक्रमः—शार्ङ्ग० मध्य० ११।६०

वंगसेन ने वृन्दमाधव और मुख्यतः चक्रदत्त का अनुसरण किया है किन्तु काल-क्रम से प्रचलित कुछ नवीन योगों का भी समावेश किया है। रसौषधों की संख्या इसमें अधिक है, विजया के योग भी हैं यद्यपि अहिफेन नहीं है। शंखद्राव भी है। नाडीपरीक्षा नहीं है यद्यपि मूत्रपरीक्षा है। श्लीपद में शाखोटक का प्रयोग है। स्त्रियों के नये रोग सोमरोग का सर्वप्रथम वर्णन यहीं मिलता है। वशीकरण के तांत्रिक प्रयोग भी हैं। द्रव्यगुणाधिकार में द्रव्यों के गुणकर्म वर्णित हैं जो संभवतः किसी पूर्ववर्त्ती निघण्टु से लिये गये हैं। परिभाषा-प्रकरण भी है तथा दीपन-पाचन आदि की परिभाषायें, जो आगे चलकर शार्ङ्गधर में दृष्टिगोचर होती हैं, यहाँ उपलब्ध है।

इसके कुछ विशिष्ट योग यहाँ निदर्शनार्थ दिये जा रहे हैं :—

१. तालीशादि योग तीन प्रकार के हैं—तालीशादिगुटिका, महातालीशादिचूर्ण, तालीशाद्यचूर्ण।

२. इसी (राजयक्ष्मा) प्रकरण में जातीफलाद्यचूर्ण है जिसमें भंगा का योग है। भंगा का योग सर्वप्रथम यहीं मिलता है।

३. सुगन्धित द्रव्यों में 'लवंगवल्ली' का उल्लेख है (वातव्याधि-अधिकार, चतुर्विंशतिका प्रसारिणीतैल)। लवंगलता[1] बंगाली कविराजों की एक खास चीज है। इसके सुगन्धित फल काकली नाम से बाजार में विकते हैं जिनका प्रयोग कविराज लोग तैलों को सुगन्धित करने के लिए करते आ रहे हैं। भावप्रकाश में इसी को 'गन्धकोकिला' के नाम से लिखा है।

४. शंखद्राव (उदररोगाधिकार) किसी रसशास्त्रीय ग्रन्थ से लिया गया प्रतीत है।

५. कुरंड और वर्ध्म में भेद बतलाया है कि कुरंड (अंडवृद्धि) वेदनारहित होता है जब कि वर्ध्म वेदनायुक्त होता है।

६. शाखोटक की छाल पीसकर गोमूत्र में मिलाकर पीने से श्लीपद निवृत्त हो जाता है। शार्ङ्गधर ने यह योग संभवतः यहीं से लिया है।

७. विस्फोटक से पृथक् स्नायुक रोग का प्रकरण दिया है, जो आगे चलकर शार्ङ्गधर में क्रिमिरोग में अन्तर्भूत हुआ। इसका 'तन्तुक' नाम भी दिया है। हिंगुमान, करैले का रस, निर्गुण्डीस्वरस, मञ्जिष्ठादि प्रलेप इसकी औषधियाँ कही गयी हैं।

८. सोमरोग का निदान और चिकित्सा स्वतन्त्र रूपसे यहीं मिलता है।

९. स्त्रियोंके वशीकरण के उपाय बतलाये गये हैं। पत्नीविद्वेष तीन प्रकार का कहा गया है—दैवकृत, अदत्तपुरुषोत्पन्न तथा सपत्नीकृत। इसका उपचार तन्त्र-

1. लवंगलता (Luvunga Scandens) काँटेदार लता है जिसमें हिमान्त में श्वेत सुगन्धित पुष्प आते हैं। फल भी सुगन्धित होते हैं।

मंत्र से विहित है जो नागार्जुनकृत योगसार से उद्धृत है। (इति नागार्जुनकृतौ योगसारे स्त्रीदोषचिकित्सापरिच्छेदः)।

१०. जलदोषादियोगाधिकार में नानादेशोद्भव जल से उत्पन्न होनेवाले विकारों की चिकित्सा के अतिरिक्त, वशीकरणयोग, वन्ध्याकरणयोग, निद्राप्रदयोग,[1] शिरोरुह-वर्धकयोग, स्तम्भनयोग, मुखसुगंधिकरण, स्तनवर्धक, क्लैब्यहर तथा वलिनाशनयोग विहित हैं।

११. रसायनाधिकार प्राचीन शैली से नितान्त भिन्न शैली पर है। प्राचीन 'रसायन' रसशास्त्र के विकास के बाद 'रस-रसायन' हो गया और बाद में 'रसायन' शब्द 'रस' का ही बोधक बन गया। इसी कारण इस ग्रन्थ में शिवागुटिका और गुग्गुलु रसायन के अतिरिक्त, गन्धकरसायन, गन्धकरसपर्पटी, ताम्ररसायन, पञ्चामृत-रस, अभ्रककल्प, महाबलविधानाभ्रक[2], पानीयभक्तवटी (सात प्रकारकी), सर्वतोभद्र लौह आदि योग निबद्ध किये गये हैं। अन्त में रोगानुसार (नैमित्तिक) रसायनों का विवरण है। खर्पराख्य रसायन के पाठ में खर्पर के स्थान पर 'यशद' छपा है जो अशुद्ध है। इसके बाद शिरोवस्ति का वर्णन, मर्मविवरण तथा नानात्मज रोगों की गणना है। नागार्जुनलौह का भी वर्णन है[3]।

१२. द्रव्यगुणाधिकार में द्रव्यों के गुण, प्रतिनिधिद्रव्य, गण तथा संशोधन-संशमन वर्ग कहे गये हैं। द्रव्यों के गुणकर्म सोढलनिघण्टु से मिलता जुलता है। ऋतुचर्या के बाद धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकफलवर्ग, व्यञ्जन-मांसव्यञ्जन हैं।

१३. अरिष्टाधिकार में ही नेत्र, जिह्वा, मूत्र आदि की परीक्षा है। नाड़ीपरीक्षा नहीं है।

१४. अन्तिम प्रकरण दीपनपाचनद्रव्यलक्षणाधिकार है जिसमें दीपन, पाचन आदि की परिभाषा कही गई है।

वंगसेन का काल

ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि श्रीकृष्ण ने पृथिवी को नीरोग कर दिया था किन्तु उनकी मृत्यु के बाद पुनः भयंकर रोगों का प्रसार होने लगा। यह देखकर मैं

---

१. चूर्णं हयगन्धायाः सितया सहितञ्च सर्पिषा लीढम्।
विदधाति नष्टनिद्रे निद्रामाश्वेव सिद्धमिदम्॥

२. नागार्जुनोदितरसायन संहितायामालोच्य चात्मनि समस्तरुजाविधाने।
राजानमेनमुपयुज्य रसायनानां श्रीविश्वरूपसंस्कृतवान् कृतार्थः॥
—रसायनाधिकार, १

३. नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद् विशदाक्षरैर्वदामः॥

गदाधर के घर में जन्म लिया और रोगों को दूर किया। पृथ्वी पर मेरे अवतरण को वैद्यगण कैसे जानेंगे इस विचार से मैंने लोकहित तथा अपने यश के लिए इस संहिता की रचना की। उसके बाद मैंने दक्षिण की ओर प्रयाण किया। मेरे जन्म से पूर्व अगस्तिसंहिता जो प्रसिद्ध थी, गदाधरगृह में जन्म लेकर मैंने इसका प्रतिसंस्कार किया। इसके बाद सर्वसिद्धान्तसार तथा शीघ्रफलप्रद ग्रन्थ वंगसेन के नाम से विख्यात हुआ।[1]

चक्रपाणिदत्त का इसने अनुसरण किया है किन्तु इसमें रसौषधों की स्थिति अधिक विकसित है, भंगा का प्रयोग भी मिलता है जो चक्रदत्त में नहीं मिलता अतः इसे उसके बाद रखना होगा। नाड़ीपरीक्षा इसमें नहीं है जब कि शार्ङ्गधर (१३वीं शती) में है। इसके अतिरिक्त, निश्चलकर (१३वीं शती) ने इसे उद्धृत किया है। अतः वंगसेन का काल ११वीं और १३वीं शती के बीच अर्थात् १२वीं शती होगा।

महाबलविधानात्मक रसायन के प्रसंग में कहा गया है कि इस रसायन का सेवन राजा विश्वरूप को कराया गया। यह विश्वरूप लक्ष्मणसेन का ज्येष्ठ पुत्र विश्वरूपसेन हो सकता है जो उसकी मृत्यु के बाद १२०६ ई० में गद्दी पर बैठा। अधिक दिनों तक यह भी नहीं रह सका। यह सेन-साम्राज्य की विपन्नावस्था थी। संभव है, इसके बाद वंगसेन बंगाल छोड़कर दक्षिण भारत की ओर चले गये हों। वंगसेनोत्पत्ति-प्रकरण में जो यह लिखा है कि श्रीकृष्ण जब स्वर्गीय हो गये तब वंगसेन ने जन्म लेकर समाज को आरोग्य प्रदान किया, यहाँ श्रीकृष्ण कोई वंगसेन के पूर्वज हो सकते हैं। जो भी हो, उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि वंगसेन १२वीं शती के अन्त में थे और विश्वरूपसेन के कुछ बाद (लगभग १२१५ ई०) तक रहे। यह ग्रन्थ लगभग १२१० ई० में लिखा गया होगा।[2]

भावप्रकाश

यह लटकनतनय भावमिश्र द्वारा विरचित एक लोकप्रिय वैद्यकग्रन्थ है जिसमें रोगानुसार चिकित्सा का वर्णन है। चिकित्सा के अतिरिक्त अनेक उपयोगी विषयों का समावेश होने के कारण इसका विवरण संहिताग्रन्थों के साथ (द्वितीय अध्याय, पृ० १८७-१९५) में दिया गया है।

भावप्रकाश की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता फिरंगरोग का वर्णन तथा रसकर्पूर और चोपचीनी का उसकी चिकित्सा में प्रयोग है। इस आधार पर इसका काल १६वीं शती निश्चित किया गया है।

---

1. वंगसेनोत्पत्तिः श्लो० १–४
2. इसकी प्राचीनतम पाण्डुलिपि १२७६ ई० की मिलती है (इण्डिया ऑफिस, ९५२)।

योगतरंगिणी

त्रिमल्लभट्टकृत बृहद्योगतरंगिणी के अतिरिक्त योगतरंगिणी नामक संक्षिप्त संस्करण भी है। पहला ग्रन्थ शैली में संहितावत् है[1] तथा दूसरा मुख्यतः चिकित्सा-ग्रन्थ है। द्रव्यगुणशतश्लोकी भी त्रिमल्लभट्ट की प्रसिद्ध रचना है। इनके अतिरिक्त, वैद्यचन्द्रोदय, वृत्तमाणिक्यमाला और अलंकारमञ्जरी भी उनकी रचनायें हैं। कुछ लोग सुखलताकृत शतश्लोक पर व्याख्या तथा रसदर्पण का रचयिता भी उन्हीं को मानते हैं[2]।

त्रिमल्लभट्ट का काल १६५० ई० के लगभग है। शंखिया का प्रयोग फिरंगरोग में सर्वप्रथम इन्होंने किया[3]।

योगतरंगिणी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं० २०१३ में छपी है।

योगरत्नाकर

यह मुख्यतः चिकित्सा का ग्रन्थ है किन्तु शारीर और शल्य को छोड़ आयुर्वेद के सभी विषय इसमें समाहित हैं। इस एक ही ग्रन्थ के रखने से निघण्टु, भैषज्य-कल्पना, शोधन-मारण, निदान-चिकित्सा सबका ज्ञान हो जाता है; इसी कारण यह अतीव विख्यात एवं लोकप्रिय है। पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों की रचनाओं से उत्तमोत्तम योग इसमें संकलित किये गये हैं।

इस ग्रन्थ की निम्नांकित विशेषतायें हैं—

१. भावमिश्र के समान योगरत्नाकर में भी रसकर्पूर का प्रयोग फिरंग में मिलता है। फिरंग के अतिरिक्त, 'चन्द्रक-व्रण' शब्द भी इसके लिए प्रयुक्त हुआ है। 'पूति-प्रमेह' शब्द गनोरिया के लिए आया है। चोपचीनी का प्रयोग भी चूर्ण और पाक के रूप में हुआ है।

२. योगरत्नाकर में तमाखु का वर्णन मिलता है जो इसके पूर्व किसी ग्रन्थ में नहीं है। तम्बाकू का प्रचार इस देश में पुर्तगालियों द्वारा १६वीं शती में हुआ।

३. भीमसेनी कपूर का नेत्ररोगों में प्रयोग भी योगरत्नाकर की देन है।

४. स्नायुक, शीतला, सोमरोग (भावप्रकाश) तथा स्पर्शवात, शीतवात (रसरत्नसमुच्चय) का वर्णन भी इसमें मिलता है। टायफायड का मधुर या मन्थर ज्वर के नाम से वर्णन किया है।

---

१. विशेष विवरण तथा त्रिमल्लभट्ट का परिचय द्वितीय अध्याय, पृ० १९५-१९६ में देखें।

२. विशेष विवरण के लिये देखें—P. V. Sharma—Trimalla Bhatta : His date and Works with Special reference to his Materia Medica in one hunderd Verses, I. J. H. S., Vol. 6, No. 1, 1971

३. देखें उपदंशान्धसूर्य, बृ० योगतरंगिणी, भाग २, तरंग ११७, श्लो० ३६-३७

लेखक और काल

ग्रन्थ में लेखक का कोई संकेत नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि नयनशेखर या नारायणशेखर नामक किसी जैनी पंडित ने इसकी रचना की। भ्रम का कारण यह है कि इसी नाम की एक पुस्तक हिन्दी चौपाइयों में किसी नयनशेखर की १६८० ई० में लिखी है[1]।

निम्नांकित ग्रन्थ एवं आचार्य योगरत्नाकर द्वारा उद्धृत हैं—

१. बोपदेवशत—२६३[2]
२. भट्टारहरिश्चन्द्र—२६३
३. भावप्रकाश—३९, ९४
४. भेड—१०१
५. चक्रदत्त—३२६
६. चन्द्रसेन—३२७
७. चरक—१३५
८. चिकित्साकलिका—१६१
९. चिकित्सासार—२००
१०. धन्वन्तरीयमत—१४३
११. गदनिग्रह—१२५
१२. हारीत—२५२
१३. हेमाद्रि—७९
१४. काश्यप—२६९
१५. लक्ष्मणोत्सव—३४९
१६. लोलिम्बराज—८८, ९७-९८; १८०-१८१
१७. मन्थानभैरव—१४२
१८. माधव—४२७
१९. राजनिघण्टु—३०, ४७
२०. राजमार्त्तण्ड—२८२
२१. रसमञ्जरी—२१२
२२. रसराजलक्ष्मी—१२६
२३. रसार्णव—१३९
२४. रसरत्नप्रदीप—१६६
२५. रससमुच्चय—२४८
२६. रसेन्द्रचिन्तामणि—१४१
२७. संग्रह—२७६
२८. शार्ङ्गधर—१०२
२९. सारसंग्रह—१९७
३०. सुश्रुत—२६६
३१. वंगसेन—१७६
३२. विदेह—३९७
३३. वीरसिंहावलोक—२१४
३४. विश्वामित्र—४२९
३५. वृद्धवाग्भट—९१
३६. योग—२००
३७. योगतत्त्व—१६८
३८. योगरत्नसमुच्चय—१००
३९. योगरत्नावली—१८२
४०. योगसार—३९
४१. योगशत—२२६
४२. योगतरंगिणी—१८२

लोलिम्बराज (१७वीं शती प्रारंभ) तथा योगतरंगिणी (१७वीं शती मध्य) को उद्धृत करने के कारण योगरत्नाकर १७वीं शती के अन्त का होना चाहिए। आनन्दाश्रम, पूना में इसकी एक हस्तलिखित प्रति है जिसका लिपिकाल १७४६ ई०

१. एक भव्यदत्तकृत योगरत्नाकर भी है।
२. ये अंक निर्णयसागर बम्बई संस्करण (चतुर्थ, १९३२ ई०) की पृष्ठसंख्या है।

है अतः कम से कम ५० वर्ष पूर्व इसे अवश्य रखना चाहिए। योगरत्नाकर में कमलाकरकृत निर्णयसिन्धु भी उद्धृत है जिसका काल १६१०-१६४० ई० है[1]।

१८८९ ई० में यह आनन्दाश्रम, पूना से छपा था। पूना से दीक्षितकृत मराठी अनुवादके साथ १९१७ ई० में निकला था। बम्बई से नवरे द्वारा १९०७ ई० तथा निर्णयसागर द्वारा भी प्रकाशित हुआ।

भैषज्यरत्नावली

कविराज विनोदलालसेन गुप्त ने अपने 'आयुर्वेदविज्ञानम्' की भूमिका में लिखा है कि भैषज्यरत्नावली की पाण्डुलिपि कहीं उन्हें प्राप्त हुई थी जिसे उन्होंने प्रकाशित कराया। इसकी पाण्डुलिपि केवल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के पुस्तकालय में मिलती है[2] जो यह सूचित करता है कि यह गोविन्ददास नामक किसी आधुनिक वंगीय विद्वान द्वारा विरचित ग्रन्थ है। इसका काल १८वीं शती माना जाता है। लेखक के पिता का नाम चन्द्रचूड तथा माता का नाम अम्बिका था[3]। यदि प्रियतमा न स्याद् बुधानां भिषजामियम्' यह श्लोक नरसिंहकविराजकृत सिद्धान्तचिन्तामणि से लिया गया है। इससे अधिक कोई परिचय नहीं मिलता।

इसमें गदोद्वेग, स्नायुरोग, ताण्डवरोग, खञ्जनिका, उरस्तोय, औपसर्गिकमेह, ओजोमेह, वृक्कामय, क्लोमरोग, शीर्षाम्बु, मस्तिष्करोग, अंशुघात, अपमुमूर्षु आदि आधुनिक रोगों का वर्णन किया गया है।

सम्प्रति वैद्यसमाज में यह प्रचलित ग्रन्थ है। मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर ने संस्कृत और हिन्दीटीका (जयदेवविद्यालंकारकृत) के साथ पृथक्-पृथक् संस्करण कविराज नरेन्द्रनाथमित्र द्वारा संपादित प्रकाशित किया था[4]। चौखम्बा, वाराणसी से भी पं० राजेश्वरदत्तशास्त्री द्वारा संपादित प्रकाशित हुआ है। कलकत्ता से १८९३ ई० में यह छपा था।

आतंकतिमिरभास्कर

यह काशीवासी बलराम द्वारा १८वीं शतीके प्रारंभ में लिखा गया। बलराम के पुत्र 'सोहमूजी' उत्तरभारत के एक प्रख्यात वैद्य थे[5]।

व्याधिनिग्रह

आचार्य विश्राम द्वारा यह रचित है (सं० १८३९)।

---

१. काणेः धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ९३
२. पा० सं० III ई० १३६; जी० १५२०
३. वन्देऽम्बिकाचन्द्रचूडौ जननीजनकावुभौ।
४. १९३२ का द्वितीय संस्करण (हिन्दीटीकासहित) मेरे पास है।
५. सिंह जी, पृ० १२२

वैद्यसारसंग्रह

रघुनाथशास्त्री दाते एवं कृष्णशास्त्री भटवडेकरकृत ।

चिकित्सादर्श

बीसवीं शती में कायचिकित्सा पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये जिनमें कुछ तो केवल सैद्धान्तिक विवेचन से भरे हैं, कुछ अदृष्ट पर अधिक विश्वास रखते हैं और कुछ में आधुनिकता के भार से आयुर्वेद दब गया है। अतः शास्त्र और व्यवहार तथा प्राचीन और नवीन का सामञ्जस्य देखते हुए दो ही रचनायें इस कोटि में आती हैं एक चिकित्सादर्श तथा दूसरा चिकित्साप्रदीप ।

चिकित्सादर्श आयुर्वेदशास्त्राचार्य पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री की रचना है। शास्त्रीजी काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कॉलेज में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे तथा आयुर्वेदविभाग के प्रमुख चिकित्सक थे। विद्वान् के साथ-साथ वह यशस्वी चिकित्सक थे। जीवन में चिकित्सा-संबन्धी जो अनुभव उन्होने प्राप्त किया उसका विवरण इस ग्रन्थ में दिया गया है। चिकित्सादर्श वैद्यक की काशी-परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

ग्रन्थ तीन खण्डों में पूरा हुआ है।[1] तृतीय खण्ड के अन्त में लेखक का परिचय दिया गया है। शास्त्री जी उत्तरप्रदेश में गोण्डा जिला के आटा नामक स्थान के मूल निवासी हैं, पुनः काशी में निर्मित कमलावास में जीवनपर्यन्त रहे। इनके पिता पंडितरामफलमिश्रात्मज पंडितरामनाथमिश्र शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। शास्त्रीजी का जन्म जून १९०१ ई० (ज्येष्ठ शुक्ल दशमी सं० १९५७, गुरुवार) को हुआ था तथा १२ जनवरी १९६९ ई० को स्वर्गवास हुआ।

इसके अतिरिक्त, स्वस्थवृत्तसमुच्चय भी इनकी रचना है।

चिकित्साप्रदीप

चिकित्सादर्श जिस प्रकार काशी-परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है उसी प्रकार चिकित्साप्रदीप पूना-परंपरा का प्रतिनिधि ग्रंथ है। इसके रचयिता आयुर्विद्या-पारंगत वैद्य भास्कर विश्वनाथ गोखले प्राध्यापक, आयुर्वेद महाविद्यालय, पूना हैं। आप जामनगर में स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्र के प्राचार्य भी अनेक वर्षों तक रहे थे जहाँ आपकी परम्परा की छाप गहरी पड़ी और वहाँ से निकले हुए विद्वान अभी भी आपके मौलिक वैदुष्य एवं अनुभव की गाथा गाते नहीं अघाते। यह ग्रंथ लेखक द्वारा प्रकाशित (द्वितीयावृत्ति, १९६१) हुआ है।

---

1. क्रमशः १९५७, १९६१ और १९६४ में लेखक द्वारा प्रकाशित।

'खनेत्राकाशयुग्मेऽब्दे जयाख्यदशमीतिथौ ।
राजेश्वरकृतो ग्रन्थो रुचिरः पूर्णतामगात् ॥

निम्नांकित उल्लेखनीय रचनायें भी प्रकाश में आईं—

१. रामरक्ष पाठककृत	कायचिकित्सा (प्रथम भाग, १९६२; द्वितीयभाग, १९६५)
२. रामनाथ द्विवेदीकृत	भिषक्कर्मसिद्धि (१९६३)
३. गंगासहाय पाण्डेयकृत	कायचिकित्सा (१९६३)

तीनों ग्रन्थ चौखम्बा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हैं।

४. महावीरप्रसाद पाण्डेयकृत	चिकित्सातत्त्वदीपिका (प्रथम भाग, १९६५ द्वितीयभाग, १९६६) प्रकाशक—शान्ति प्रकाशन, नई दिल्ली,
५. चिकित्सातत्त्वप्रदीप	कालेड़ा बोगला (अजमेर)
६. चिकित्सामञ्जरी	रघुनाथ मनोहर
७. चिकित्साप्रभाकर	ए० पी० ओगले (मराठी)
८. चिकित्साप्रदीप	(गुजराती)

पञ्चकर्म

रसशास्त्र के विकास एवं प्रसार ने जिस प्रकार त्रिदोषवाद को झकझोरा उसी प्रकार चिकित्सा की आर्ष प्रणाली को भी विचत किया। पञ्चकर्म इससे विशेष प्रभावित हुआ। इसके कारण इसका विधिवत् व्यवहार बन्द ही हो गया। दक्षिण भारत (केरल) के कोट्टकल नामक स्थान में वारियर वंश ने इसे जीवित रक्खा यद्यपि यह पञ्चकर्म आर्ष पञ्चकर्म से भिन्न है।

आधुनिक काल में आर्ष प्रणाली को पुनर्जीवित करने के जो प्रयास हुये उनमें पञ्चकर्म पर भी शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों स्तरों पर कार्य हुआ। इसके फलस्वरूप वैद्य हरिदास श्रीधर कस्तूरे द्वारा विरचित 'आयुर्वेदीय पञ्चकर्मविज्ञान' नामक ग्रन्थ (श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०; १९७०) प्रकाशित हुआ जो इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन है।

'केरलीय पञ्चकर्म-चिकित्साविज्ञानम्' (चौखम्बा, वाराणसी, १९७२) में केरलीय पञ्चकर्म-परम्परा का परिचय दिया गया है।

योगसंग्रह

नावनीतक

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि १८९० ई० में पूर्वी तुर्किस्तान के कुछार नामक स्थान में कर्नल एच० बावर के हाथ लगी जो भारत सरकार के काम से वहाँ गये थे। यह स्थान चीन जाने वाले महापथ पर स्थित है। इसकी लिपि का अध्ययन कर ए० एफ० रुडॉल्फ हार्नले ने २१ वर्षों तक (१८९१–१९२२ ई०) निरन्तर संलग्न

रह कर इस ग्रन्थ का संपादन किया। यह तीन बृहत् खण्डों में भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग द्वारा १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ। आयुर्वेद जगत् के समक्ष यह ग्रन्थ कविराज बलवन्त सिंह मोहन द्वारा संपादित होकर १९२५ ई० में आया।[1]

बावर द्वारा आविष्कृत होने के कारण यह बावर पाण्डुलिपि के नाम से प्रसिद्ध है। यह पाण्डुलिपि वस्तुतः सात विभिन्न पाण्डुलिपियों का समुच्चय है। यह भूर्जपत्र पर गुप्तकालीन लिपि में लिखी है। ऐसा समझा जाता है कि चार विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न काल में इसे लिखा। अन्तिम लेखक यशोमित्र नामक बौद्धभिक्षु था जो संभवतः स्थानीय बौद्धविहार का प्रधान था। पाण्डुलिपि मूल रूप में ऑक्सफोर्ड के बोडिलियन पुस्तकालय में सुरक्षित है जहाँ १८९८ ई० में कर्नल बावर से खरीद कर इसका संग्रह किया गया था।

उपर्युक्त सात पाण्डुलिपियों में १-३ चिकित्सासंबन्धी, ४-५ पाशककेवली (पाशे से भाग्यफल कहना); ६-७ महामायूरी विद्याराज्ञी से संबद्ध है जो विष या अन्य ग्रहों से रक्षा के लिए प्रयुक्त होती थी।

चिकित्सासंबन्धी तीन खण्डों में प्रथम खण्ड लशुनकल्प से प्रारंभ होता है जिसके अनन्तर सूत्रस्थान, परिभाषा, आश्च्योतन, मुखलेप, अञ्जन, शिरोलेप तथा अन्य योग दिये गये हैं। द्वितीय खण्ड ही वस्तुतः 'नावनीतक' है जो सोलह अध्यायों में विभक्त है जिनमें चौदहवें का कुछ अन्तिम अंश, पन्द्रहवाँ तथा सोलहवाँ अध्याय खण्डित है। तृतीयखण्ड में कुछ मिश्रकयोग और मोदक हैं। नावनीतक के वर्त्तमान संस्करण में उपर्युक्त सातों पाण्डुलिपियाँ प्रकरण के रूप में दी गई हैं।

यह ग्रन्थ योगसंग्रहों में सर्वप्रथम है जिसमें पूर्ववर्त्ती महर्षियों के ग्रन्थों से तथा तत्कालीन परंपरा से योगों का संकलन किया गया है और बाद में जिसका अनुसरण चन्द्रट, सोढल, शार्ङ्गधर आदि ने किया। ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का सारभाग होने के कारण यह 'नावनीतक' तथा अनेक तंत्रों से खींच कर सिद्धयोगों का संकलन होने के कारण 'सिद्धसंकर्ष' भी कहलाता है[2]। कायचिकित्सा के अतिरिक्त स्त्रीरोगों तथा कौमारभृत्य का भी इसमें वर्णन है। अध्यायों के विषय निम्नांकित हैं—

१. चूर्ण	५. वस्तियोग	९. अञ्जन	१३. चित्रककल्प
२. घृत	६. रसायन	१०. केशरञ्जन	१४. कौमारभृत्य
३. तैल	७. यवागू	११. अभयाकल्प	१५ वन्ध्याचिकित्सित
४. मिश्रक	८. वाजीकरण	१२. शिलाजतुकल्प	१६. सुभगाचिकित्सित[3]

१. मेहरचन्द लछमणदास, लाहौर द्वारा प्रकाशित।
२. प्राक्प्रणीतैर्महर्षीणां योगमुख्यैः समन्वितम्।
वक्ष्येऽहं सिद्धसंकर्षं नाम्ना वै नावनीतकम्॥
३. नावनीतक २.४-९

यह ग्रन्थ चिकित्सकों के व्यवहार के लिये बनाया गया था[1]। बौद्धभिक्षु रोगियों की सेवा भी करते थे। संभवतः उन्हीं के उपयोग के लिए प्रचलित योगों का यह संकलन किया गया था। इसमें भेलसंहिता के १५ तथा चरकसंहिता के २९ योग मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, निम्नांकित आचार्यों का एक-एक योग उद्धृत किया गया है—

१. कांकायन	३. निमि	५. वाड्वलि
२. सुप्रभ	४. उशनस्	६. बृहस्पति

निम्नांकित आचार्यों के दो-दो योग उद्धृत हैं—

१. अगस्त्य	२. धन्वन्तरि	३. जीवक

इनके अतिरिक्त, काश्यप के नाम से अनेक योग हैं। अन्य योगों के स्रोतों का निर्धारण संभव नहीं है किन्तु यह कहा जा सकता है कि प्राचीन योगों के अतिरिक्त कुछ स्वनिर्मित योगों का भी समावेश लेखक ने किया हो।

इस संबन्ध में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि चरक का नाम इस ग्रन्थ में नहीं आया यद्यपि आत्रेय तथा उनके अन्य शिष्यों हारीत, भेल आदि के नाम निर्दिष्ट हैं[2]। लशुन का प्रकरण सुश्रुत और काशिराज के संवाद के रूप में निबद्ध है। इससे स्पष्ट है कि चरक के नाम से संहिता उस समय तक लोक में प्रचलित न थी[3] जब कि सुश्रुत काशिराज के शिष्यरूप में लोकविदित था। दूसरे, लशुन की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उस काल में इसका पूर्ण प्रचार हो गया था जिससे आगे चलकर वाग्भट ने भी इसका विस्तृत वर्णन किया है। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में इसका ऐसा महत्त्व नहीं है। वाग्भट के वर्णन[4] से अनुमान होता है कि शकों के द्वारा लशुन-पलाण्डु का विशेष प्रचार इस देश में हुआ।

नावनीतक का काल

पाण्डुलिपि का काल ४थी शती का उत्तरार्ध निश्चित किया गया है किन्तु ग्रन्थ का प्रचार बहुत पहले से होगा। कनिष्क के काल में मध्य एशिया से चीन तक संपर्क बहुत बढ़ा था अतः अत्यधिक संभावना है कि उसी के राज्यकाल में इस ग्रन्थ की रचना हुई हो। इस प्रकार इसका काल पहली या दूसरी शती रखना चाहिए।

योगरत्नसमुच्चय

यह तीसटसुत चन्द्रट की रचना है जैसा कि अध्यायान्त पुष्पिकाओं से प्रकट

---

१. समासरतबुद्धीनां भिषजां प्रीतिवर्धनम्। योगबाहुल्यतश्चापि विस्तरज्ञं मनोनुगम्॥
—नावनीतक २।३

२. आत्रेयहारितपराशरभेलगर्ग-शांबव्यसुश्रुतवशिष्ठकरालकाप्याः।—१।८

३. देखें—मेरा चरकचिन्तन, पृ० ५४

४. अ० सं० उ० ४९

होता है[1]। इस ग्रन्थ की अनेक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं[2]। पूरा ग्रन्थ दस अधिकारों में विभक्त है—

१. घृताधिकार	२. तैलाधिकार	३. चूर्णाधिकार
४. गुटिकाधिकार	५. अवलेहाधिकार[3]	६. गदशान्ति अधिकार
७. (पञ्च)कर्माधिकार	८. कल्पाधिकार	

कल्पाधिकार में अम्लवेतस, सुवर्ण, चित्रक, काकमाची, शतावरी, भल्लातक, हरीतकी, त्रिफला, लशुन, गुग्गुलु, शिलाजतु, गुडूची, वाराही, कुक्कुटी, एरण्ड, कुङ्कुम, गोक्षुर, अलम्बुषा और कुष्ठ का वर्णन है।

योगरत्नसमुच्चय में निम्नांकित आचार्यों के वचन उद्धृत हैं :—

१. अग्निवेश	१६. चिकित्साकलिका	३१. महेन्द्रकल्प
२. अच्युत	१७. चिकित्सातिशय	३२. योगयुक्ति
३. अमितप्रभ	१८. चिकित्सासार	३३. रुद्रसेनक
४. अमृतप्रभा	१९. जातूकर्ण्य	३४. वङ्गदत्त
५. अमृतमाला	२०. द्रव्यावली	३५. वाग्भट
६. अश्विनीकुमारसंहिता	२१. धान्वन्तर	३६. वाहड
७. आर्यसमुच्चय	२२. नागार्जुन	३७. वृद्धवाहड
८. औपधेनव	२३. नावनीतक	३८. विदेह
९. काङ्कायन	२४. पराशर	३९. वृद्धविदेह
१०. कालपाद	२५. बिन्दुभट्ट (बिन्दुसार)	४०. शालिहोत्र
११. कृष्णात्रेय	२६. भद्रवर्मा	४१. शौनक
१२. क्षारपाणि	२७. भरद्वाज	४२. सिद्धसार
१३. खरनाद	२८. भालुकि	४३. सुश्रुत
१४. चक्षुष्येण	२९. भिषङ्मुष्टि	४४. हारीत
१५. चरक	३०. भेड	

१. 'इति तीसटसुतचन्द्रटविरचिते योगरत्नसमुच्चये घृताधिकारः समाप्तः ।'

२. के० अ० प०, सं० १०५८ में निर्दिष्ट पाण्डुलिपियों के अतिरिक्त का० हि० वि०, सं० ४२८२ तथा राजस्थान की अनेक पाण्डुलिपियाँ हैं (देखें, राजेन्द्रप्रकाश भटनागर का लेख, स्वास्थ्य, अगस्त '७४)। पूना की पाण्डुलिपि में केवल चूर्णाधिकार है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पाण्डुलिपि का पहला पृष्ठ लुप्त है, फिर पत्र २ से २३४ तक है। इस प्रकार घृतप्रकरण से मुखरोग तक है। बीकानेर (राजस्थान) की दोनों प्रतियाँ मिला देने से ग्रंथ पूर्ण हो जाता है।

३. भक्त्या प्रणम्य दिनकरमुद्योतितसकलदिग्भागम् ।
वैद्याश्विनौ सुरेन्द्रौ भिषग्वरं तीसटं पितरम् ॥

डा० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने इनके अतिरिक्त निम्नांकित आचार्यों का उल्लेख एक अन्य पाण्डुलिपि (रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, नं० ५१६८) के आधार पर किया है—

४५. आत्रेय ४६. गोपुर ४७. शिवसिद्धान्त

चिकित्साकलिका—व्याख्या में चन्द्रट ने निम्नांकित आचार्यों को उद्धृत किया है :—

१. अग्निवेश	११. चरक	२१. विदेह
२. अश्विन्	१२. जतूकर्ण	२२. विश्वामित्र
३. आत्रेय	१३. जेज्जट	२३. वृद्धभोज
४. औपधेनव	१४. निमि	२४. वृद्धविदेह
५. औरभ्र	१५. पराशर	२५. वैतरण
६. कपिलवल	१६. पौष्कलावत	२६. सिद्धसार
७. कांकायन	१७. भट्ट	२७. सुधीर
८. क्षारपाणि	१८. भेल	२८. सुश्रुत
९. खरनाद	१९. भोज	२९. हरिचन्द्र
१०. चक्षुष्येण	२०. रसवैशेषिक	३०. हारीत

इनके अतिरिक्त, वैयाकरणों,[1] कायचिकित्साकारों[2] का भी उल्लेख है। 'अन्ये' 'तन्त्रान्तरे', 'ग्रन्थान्तरं' करके भी अनेक ग्रन्थों एवं आचार्यों का उद्धरण है।

चन्द्रट का काल

तीसट के काल का विचार पहले किया जा चुका है। चन्द्रट तीसट का पुत्र है अतः वह तीसट का कनीय समकालीन है। चन्द्रट चक्रपाणि (११वीं शती) द्वारा उद्धृत है तथा स्वयं जेज्जट (९वीं शती) को उद्धृत करता है अतः उसका काल दोनों के बीच अर्थात् १०वीं शती लगभग १००० ई० है।

चन्द्रट की रचनायें

योगरत्नसमुच्चय के अतिरिक्त, चन्द्रट ने चिकित्साकलिका की व्याख्या लिखी—

उद्धृत्यामृतवत् सारमायुर्वेदमहोदधेः। क्रियते चन्द्रटेनैष योगरत्नसमुच्चयः॥

घृततैलचूर्णगुटिकावलेहगदशान्तिकर्मकल्पाख्यैः।

अधिकारैः प्रत्येकं वसुसंख्यैर्भूषितो भुवने॥

द्वितीय श्लोक के आधार पर इस ग्रंथ का नाम कहीं-कहीं 'चन्द्रटसारोद्धार' भी मिलता है।

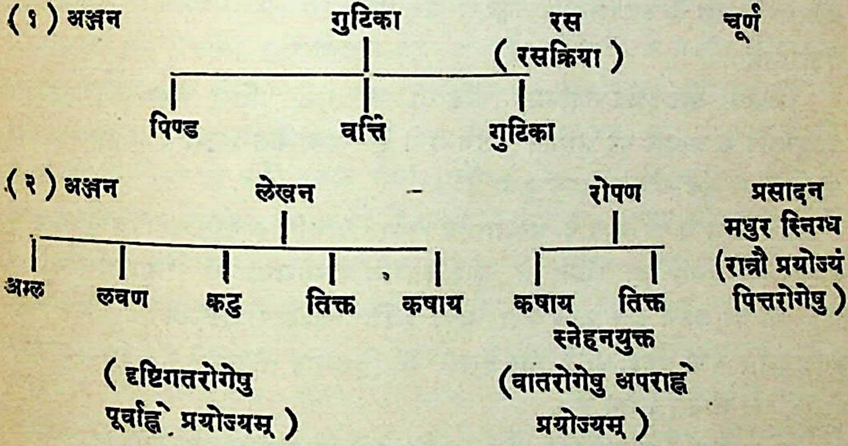
१. वैयाकरणास्तु क्रियालक्षणं कालं मन्यन्ते—श्लो० १६

२. कायचिकित्साकारैश्च पञ्चदशलक्षणं स्वास्थ्यमुक्तम्—श्लो० १९

तथा सुश्रुत की पाठशुद्धि की।[१] कहते हैं, यह पाठशुद्धि उसने जेज्जट की टीका के आधार पर किया[२]। जेज्जट की टीका का उपयोग उसने व्याख्या में भी किया है।[३] यह स्मरणीय है कि चक्रपाणि-टीका के पूर्व जेज्जट-टीका का ही प्रचार था।

चन्द्रट के अवदान

चन्द्रट ने योगसंग्रह के पथ को प्रशस्त बनाया जिसका अनुसरण आगे सोढल ने किया। मौलिक सिद्धान्त, द्रव्यगुण, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में चन्द्रट ने महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। १६वें श्लोक (चि० क०) की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या जो १८ पृष्ठों में की गई है विद्वज्जनों के लिए अवलोकनीय है।[४] शास्त्रीय विवेचन के अतिरिक्त, तत्कालीन परंपरा का भी उल्लेख किया है यथा श्वित्र-प्रकरण में 'क्रियाक्रमश्च वृद्धभिषजां' से परंपरागत प्रणाली का निर्देश किया है। अञ्जन तीन प्रकार का कहा है गुटिका, रस और चूर्ण। इसके और भी अवान्तर भेद किये गये हैं यथा :—



इस प्रकार चन्द्रट की रचनाओं में शास्त्र और परम्परा का उत्तम समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

---

१. चिकित्साकलिका—व्याख्यां योगरत्नसमुच्चयम्।
सुश्रुते पाठशुद्धिं च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात्॥ चि० क०

२. पाठशुद्धिः कृता तेन टीकामालोक्य जैज्जटीम्।

३. श्रीजेज्जटाचार्येणाप्ययमेव व्याख्यात इति दर्शनादस्माभिरेवं व्याख्यातम्
—चि० क० श्लो० २२२

४. देखें—P. V. Sharma : Son's Commentary on Father's work, II, J. R. I. M., Vol. VII, No 3, 1972

राजमार्त्तण्ड

यह योगसारसंग्रह राजा भोज ने बनाया है[1]। यह राजा भोज संभवतः धारा के परमारवंशीय हैं। अतः इसका काल ११वीं शती होगा।

शिरोरोग से प्रारम्भ कर शालाक्यरोग, स्तनरोग, कुष्ठ, प्रदर, अतीसार, प्रमेह, वृद्ध्युपदंश, ज्वर, अपस्मारोन्माद, स्त्रीरोग, बालरोग में उपयोगी योगों का संक्षेपतः निर्देश कर पशुरोगाधिकार से ग्रन्थ की समाप्ति हुई है। यह ग्रन्थ लघुकाय होने पर भी उत्तम योगों का संकलन है। इसे १९२४ में यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रकाशित किया था। पुनः चौखम्बा, वाराणसी द्वारा १९६६ में हिन्दी टीका के साथ निकला।

अस्थिभग्न एवं वातव्याधि में अस्थिसंघात (हड़जोड़) की पकौड़ी बनाकर खाने का विधान इसी में हैं (वातरोग ५)। अपस्मार में पाशरज्जुमसीयोग के संबन्ध में जो श्लोक (उद्बद्धमानवगलव्यतिपक्तमग्नौ···) रसरत्नसमुच्चय में अक्षरशः मिलता है वह संभवतः यहीं से उद्धृत है।

गदनिग्रह

भिषग्वर सोढलकृत गदनिग्रह चिकित्सा का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पूना की पाण्डुलिपि के आधार पर आचार्य यादवजी ने इसे प्रकाशित किया था। इधर हाल में वाराणसी से एक और प्रकाशन हुआ है[2]।

इस ग्रन्थ में दो खण्ड हैं प्रयोगखण्ड और कायचिकित्साखण्ड। प्रयोगखण्ड में कल्पानुसार योगों का संग्रह है और कायचिकित्साखण्ड में रोगानुसार अष्टाङ्ग-चिकित्सा का वर्णन है। पहले कहा गया है कि चिकित्सावाङ्मय में एक परम्परा कल्पानुसार योग-संग्रह की है और दूसरी रोगानुसार। सोढल ने इस रचना में दोनों धाराओं का आधार लिया है।

प्रयोगखण्ड में छः अधिकार हैं—घृताधिकार, तैलाधिकार, चूर्णाधिकार, गुटिका-धिकार, लेहाधिकार और आसवाधिकार। स्पष्टतः इस क्रम के निर्धारण तथा विषय-वस्तुयोजना में चन्द्रटकृत योगरत्नसमुच्चय[3] का आधार लिया गया है। योगरत्न-समुच्चय में ८ अधिकार हैं—घृत, तैल, चूर्ण, गुटिका, अवलेह, गदशान्ति, पञ्चकर्म और कल्प। इस प्रकार इसमें भी कल्पानुसार और रोगानुसार क्रम का समन्वय हुआ है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि सोढल के समक्ष चन्द्रट का ही आदर्श था। गदनिग्रह में विशेषता यह है कि इसमें एक आसवाधिकार है जो योगरत्नसमुच्चय में

---

१. शिरोरोग ११२; पशुरोग० १८

२. चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी—प्रयोगखण्ड, १९६८; काय-चिकित्साखण्ड, १९६९; तृतीय खण्ड, १९६९

३. देखें पृ० २८४-२८७

नहीं है। गदनिग्रह का जो कायचिकित्साखण्ड है वह योगरत्नसमुच्चय के गदशान्ति अधिकार का विस्तार है। कल्पाधिकार में योगरत्नसमुच्चय के कुछ द्रव्यों को हटाकर उनके स्थान पर नवीन द्रव्य रक्खे गये हैं यथा शिलाजतु, वाराही, कुक्कुटी और अलम्बुषा के बदले पिप्पली, आमलक, पलाण्डु, वृद्धदारु, तुवरक, सोमराजी और बीजपूर का वर्णन है। शेष द्रव्य अम्लवेतस, सुवर्ण आदि दोनों में समान हैं।

प्रयोगखण्ड में निम्नांकित आचार्यों एवं ग्रन्थों के योग उद्धृत किये गये हैं :—

१. हारीत	५. कृष्णात्रेय	९. खरनाद
२. अग्निवेश	६. वैदेह	१०. सिद्धसार
३. भेड	७. जतूकर्ण	११. चिकित्साकलिका
४. वाग्भट	८. क्षारपाणि	

ये उद्धरण आचार्यों के नामग्राह से घृताधिकार श्लो० २४८ तक ही मिलते हैं। उसके बाद तीन श्लोक तंत्रान्तर करके हैं। इसके बाद किसी योग में संदर्भग्रन्थ या ग्रन्थकर्ता का उल्लेख नहीं मिलता यह आश्चर्य का विषय है जबकि योगरत्नसमुच्चय में आद्योपान्त मिलता है। अतः शैली में ऐसा आकस्मिक एवं अस्वाभाविक परिवर्त्तन यह सूचित करता है कि संभवतः योगरत्नसमुच्चय की जो पाण्डुलिपि सोढल को मिली हो वह इसी प्रकार अंशतः खण्डित हो। यह भी अनुमान होता है कि सोढल ने स्वयं अधिकांश आचार्यों के ग्रन्थों को नहीं देखा बल्कि योगरत्नसमुच्चय से ही योगों को ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया। उदाहरणार्थ, 'सिद्धसाराद् विश्वाद्यं-घृतम्' चिकित्साकलिकातः बिन्दुघृतम्' दोनों में है। इससे विशिष्ट इन ग्रन्थों का कोई योग सोढल ने नहीं दिया। इसके अतिरिक्त, वृन्दमाधव से कैशोरगुग्गुलु आदि, चक्रदत्त से कांकायनगुटिका आदि का ग्रहण किया है। कांकायनवटक मूलतः माधवचिकित्सा का है जो वृन्दमाधव में कांकायनमोदक हो गया। कल्याणकारक की एक कल्याणगुटिका पित्तरोग में निर्दिष्ट है किन्तु यह योग उग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक में नहीं है। सम्भवतः यह पूज्यपाद या अन्य आचार्य द्वारा रचित इस नाम के ग्रन्थ में हो। च्यवनप्राश का पाठ वृन्दमाधव, चक्रदत्त आदि में जो है[1] वह शार्ङ्गधर में किंचित् परिवर्त्तित हो गया है[2]। गदनिग्रह में शार्ङ्गधर से पहले वाला पाठ है। आभाद्यचूर्ण, जातीफलादिचूर्ण आदि कुछ योग वंगसेन और गदनिग्रह में समान हैं।

औद्भिद कल्पों की प्रधानता होने के कारण रसयोगों की संख्या कम है फिर भी पञ्चामृतरस (ग्रहणी), खदिरगुटिका (मुखरोग), कर्पूरादिगुटिका (प्रमेह),

१. ज्ञात्वा गतरसान्येतान्यौषधान्यथ तं रसम्।
२. ग्राह्यमष्टांशशेषितम्।

रसांगहरीतक्यवलेह (क्षय) आदि कुछ योग उल्लेखनीय हैं। उदकवास के प्रसंग में (वाजीकरण, श्लोक १३५) 'सूतसेवी' का भी उल्लेख है।

यद्यपि वंगसेन में विजया का योग जातीफलादि चूर्ण उपलब्ध होता है तथापि मध्यकाल में मुसलमानी चिकित्सकों के सम्पर्क से जो यूनानी द्रव्य यहाँ प्रविष्ट हुये उनका सर्वप्रथम विशद उपयोग सोढलकृत गदनिग्रह में मिलता है। राजयोग (कामवृद्धौ) में अहिफेन, वत्सनाभ, धत्तूर, अकरकरा आदि द्रव्य हैं। विशल्या गुटिका (अतीसारे) में धत्तूर, विष और अकरकरा हैं। आवर्त्तकाद्यासव में मस्तकी, कूष्माण्डासव में अमृतासत्त्व, बलाबीज, अकरकरा, उटिङ्गण, गजशेलु (बड़ा लसोड़ा) आदि द्रव्य हैं। कुलिञ्जनाद्य अवलेह में कुलिंजन का प्रयोग स्वरभङ्ग में है। माचिकासव में माचिका संभवतः माई है। कुछ नये कल्प भी समाविष्ट हुये यथा मधुपक्वामलकी (आँवले का मुरब्बा), गण्डिकाद्रोण (ईख का सिरका), फलरस और पानक। खर्जूरासव में विशिष्ट यंत्र से अर्क निकालने का विधान है। अर्क का संदर्भ मेरी दृष्टि में यह सर्वप्रथम है। वरुणासव सोढल का विरचित योग है[1]।

कायचिकित्साखण्ड में निम्नांकित विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं—

१. विषमज्वरों में एक पञ्चाह ज्वर का उल्लेख है।

२. कृमिरोग में पारिभद्रपत्रस्वरस, छोहाराद्यचूर्ण।

३. वातपित्त, कफ के अतिरिक्त रक्त को भी विकारहेतु माना है (वातव्याधि, निदान ८८)

४. वातरोगाधिकार में—शृंग्यादि चतुःषष्टिक कषाय।[2]

५. अम्लपित्त के प्रकरण में श्लेष्मपित्त का भी लक्षण है।[3]

६. स्नायुकरोग को 'गण्डस्थ' भी कहा है और इसके लिए सर्पकञ्चुकभस्म कटुतैल में मिलाकर लगाने का विधान है।

७. मसूरिका को शीतली या शीतलिका पहली बार यहाँ कहा गया है।

८. सोमरोग का वर्णन इसमें और वंगसेन में समान रूप से मिलता है।

९. वाजीकरण-प्रकरण में रसाला, शिखरिणी, फलद्राव, पानक, मोदक, पुष्पालय, घृतवरा, खाडव, दधि, उदकवास, लिंगवर्धनयोग, स्तम्भनयोग आदि विस्तार से वर्णित हैं।

---

१. ग्रन्थान् समालोक्य चिकित्सकानां हिताय नूनं कथितो मया हि।

२. यह नारसिंह वैद्य द्वारा आविष्कृत योग है—'शृंग्यादिस्त्वथ नारसिंहभिषजा सर्वामयोन्मूलने' —श्लो० २१८

३. भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा।
प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम्॥

सोढल का परिचय एवं काल

सोढल की एक अन्य रचना गुणसंग्रह है जो सोढलनिघण्टु के नाम से विदित है। यह अद्यावधि अप्रकाशित है। गुणसंग्रह में लेखक ने जो अपना परिचय दिया है उसके आधार पर यह सूचना मिलती है कि सोढल वत्सगोत्रीय[1], रायकवालवंशज, स्वच्छवैद्यानन्दननन्दन[2], शिष्यसंघदयालु तथा भानु के चरणसेवक थे[3]। यह आयुर्वेद के अतिरिक्त, साहित्य, ज्योतिष और व्याकरण के भी प्रौढ़ विद्वान थे[4]। स्वच्छवैद्यानन्दननन्दन का अर्थ कुछ लोग स्वच्छ वैद्य का आनन्ददायक पुत्र करते हैं तो कुछ लोग 'वत्सगोत्रान्वयस्तत्र वैद्यनन्दननन्दनः' यह पाठ कर नन्दन वैद्य का पुत्र अर्थ करते हैं। एक पाण्डुलिपि में 'नन्दन' के स्थान पर 'चंदन' है अतः यहाँ इसका अर्थ होगा वैद्यों को चन्दन के समान आनन्द (शीतलता) प्रदान करनेवाला। शिष्यसंघदयालु को भी कुछ लोग 'शिष्यः संघदयालोः' पढ़ कर सोढल को संघदयालु का शिष्य बतलाते हैं, कुछ लोग इसे 'असोढ' का शिष्य बतलाते हैं। किन्तु यह सब खींचा-तानी का अर्थ है। ग्रन्थ के प्रारंभ में लेखक ने यह कहा कि शिष्यसमूह के क्लेश का सहन न कर सकने के कारण उनकी सहायता के लिए यह ग्रन्थ बनाया गया। अतः उसकी शिष्यता के संबन्ध में उपर्युक्त कल्पनायें निराधार हैं। अब सबका सारांश होगा कि वैद्य सोढल वत्सगोत्रीय, रायकवालवंशज, वैद्यसमाज का प्रिय, शिष्यों का हितैषी तथा भानु का चरणसेवक था। भानु से यदि 'भास्कर' लें तो यह उसके पिता का नाम हो सकता है।

कश्मीर में वृषगण ऋषि से उत्पन्न (वच्छ या वत्स) वंश में भास्कर नामक एक विद्वान हुये जो दक्षिण भारत चले गये। इनका पुत्र सोढल हुआ जो राजा भिल्लम का श्रीकरण (महालेखापाल) था तथा उसके वंशजों-जैत्र और सिंघण-की भी सेवा की। सोढल का पुत्र शार्ङ्गदेव हुआ जो विद्वान, संगीतज्ञ तथा चिकित्सक

---

१. वच्छगोत्रान्वयः (No. 61)

२. चन्दनः (No. 61)

३. वत्सगोत्रान्वयः स्वच्छवैद्यानन्दननन्दनः। शिष्यसंघदयालुः श्रीरायकवालवंशजः॥
सोढलाख्यो भिषग्भानुपादपंकजषट्पदः। चिकित्सांगं चकारेमं समग्रं गुणसंग्रहम्॥

४. आयुर्वेदसुधारहस्यरसिकीसाहित्यसौहित्यधी-
ज्योतिःशास्त्रविचारसारचतुरो यो लक्षणे दक्षिणः॥
श्रीमान् रायकवालवंशतिलकः स्फारोपकारोद्यतो
जीयान्नित्यमसावसोढललितः प्रज्ञोज्ज्वलः सोढलः॥
—No. 61, Des. Cat. of Mss., B. O. R. I., Poona, Vol. XVI. Pt I, 1939.

था और संगीतरत्नाकर एवं अध्यात्मविवेक नामक ग्रन्थों की रचना की। ऐसा उल्लेख संगीतरत्नाकर के प्राक्कथन में शार्ङ्गदेव ने स्वयं किया है।[1]

भिल्लम देवगिरि के यादव राजाओं में था। इसकी वंशावली इस प्रकार है:—

भिल्लम	११७५—११९१ ई०
जैतुगि (जैत्र)	११९१—१२१० ई०
सिंघण	१२१०—१२४७ ई०
कृष्ण	१२४६—१२६० ई०
महादेव	१२६०—१२७० ई०
अम्मन	१२७०—१२७१ ई०
रामचन्द्र	१२७१—१३११ ई०
शंकरदेव	१३११—१३१२ ई०[2]

इसके अनुसार सोढल का संबन्ध भिल्लम, जैत्र और सिंघण तीनों के साथ होने के कारण उसका काल ११७५-१२१५ ई० मानना चाहिए। सिंघण प्राचीन विद्याओं का बड़ा प्रेमी था। विशेषतः आयुर्वेद के क्षेत्र में उसकी बड़ी रुचि थी और स्वयं भी आयुर्वेदज्ञ एवं चिकित्सक था। अनेक विद्वान वैद्य उसके आश्रय में थे। सोढल ने

१. अस्ति स्वस्तिगृहं वंशः श्रीमत्काश्मीरसंभवः।
ऋषेर्वृषगणाज्जातः कीर्त्तिक्षालितदिङ्मुखः॥
यत्राभूद्भास्करप्रख्यो भास्करस्तेजसां निधिः।
अलंकर्त्तुं दक्षिणाशां यश्चक्रे दक्षिणायनम्॥
तस्याभूत्तनयः प्रभूतविनयः श्रीसोढलः प्रौढधी
र्येन श्रीकरणप्रवृद्धविभवं भूवल्लभं भिल्लमम्।
आराध्याखिललोकशोकशमनी कीर्त्तिः समासादिता
जैत्रे जैत्रपदं न्यधायि महती श्रीसिंघणे श्रीरपि॥
तस्माद्दुग्धाम्बुधेर्जातः शार्ङ्गदेवः सुधाकरः।
उपर्युपरि सर्वान्यः सदौदार्यस्फुरत्करः॥
धनदानेन विप्राणामार्त्तिं संहृत्य शाश्वतीम्।
जिज्ञासूनां च विद्याभिर्गदार्त्तानां रसायनैः॥—१।२-१३
इति प्रत्यंगसंक्षेपो विस्तरस्त्विह तत्त्वतः।
अस्मद्विरचितेऽध्यात्मविवेके वीक्ष्यतां बुधैः। २।११९
—Sangitaratnaksara, Vol. I, Adhyaya I, Adyar Library, Madras, 1943

२. G. yazdani : Early History of the Deccan. Vol. I. Part VIII, P. 513

दो चूर्णों के प्रसंग में लिखा है कि ये सिंघण राजा के बनाये हैं[1]। इससे भी सोढल का सिंघण के साथ सम्पर्क सूचित होता है। मेरा अनुमान है कि वंगसेन भी अपने आश्रयदाता विश्वरूपसेन की मृत्यु के बाद सिंघण के दरबार में ही चला गया। यह गदनिग्रह तथा वंगसेन में उपलब्ध अनेक समानताओं का कारण हो सकता है। मेरी धारणा है कि शार्ङ्गधर भी सिंघण के दरबार से संबद्ध थे। वह सोढल के उत्तराधिकारी और उसके पुत्र शार्ङ्गदेव के समकालीन थे। उनके पिता दामोदर उसके कोई आश्रित पंडित रहे होंगे। सिंघण के परवर्त्ती राजाओं महादेव और रामचन्द्र के राज्यकाल में हेमाद्रि और वोपदेव हुये। हेमाद्रि ने शार्ङ्गधर को अपनी आयुर्वेद रसायन-व्याख्या (अ० हृ०) में उद्धृत किया तथा वोपदेव ने उस पर टीका लिखी। रसरत्नसमुच्चय के भी एक योग में सिंघण का नाम आता है। इससे अनुमान होता है कि उसके आश्रय में रसशास्त्र के सम्बन्ध में भी अनेक विद्वान कार्यरत थे।

सोढल डल्हण के कुछ बाद हुआ क्योंकि उसने डल्हण के मत को उद्धृत किया है[2] तथा शार्ङ्गधर के कुछ पूर्व हुआ क्योंकि सोढल की शैली का अनुसरण शार्ङ्गधर ने किया है और नाड़ीपरीक्षा शार्ङ्गधरसंहिता में मिलती है, जो सोढल में नहीं है।

शार्ङ्गधरसंहिता

यह योगप्रधान संहिता[3] है जिसमें योगों के अतिरिक्त शारीर, रोगगणना आदि

---

१. 'श्रीमत्सिंहणभूमिपालकथितं सेव्यं सदैवं बुधैः'-मन्दाग्नौ सिंहणचूर्णम्, चूर्णाधिकार, श्लो० ३९४

एक और सिंहणचूर्ण है—'सिंहणं चूर्णमेतच्च मन्दाग्निविनिवारणम्'

—श्लो० ४३५-४३६

इसीका किंचित् परिवर्त्तित रूप सुषेणकृत आयुर्वेदमहोदधि में मिलता है 'चूर्णं सिंहणभूभुजा निगदितं तक्रेण संयोजितम्'

(देखें—Des Cat. Mss. B. O, R. I., Poona, Vol Xvl, Pt, I, P. 21)

२. 'त्ववर्याद्ध्यं मधु प्राहुः श्वेतकं मालवे जनाः'—'उद्दालकाः कपिलकीटाः स्वल्पाः प्रायशो वल्मीकेष्वन्तर्मधु चिन्वन्ति, तद्भवमौद्दालकम्—' डल्हण, सु० सू० ४५।१३३

'आर्घ्यं मालवके प्रायो निर्दिष्टं पूर्वसूरिभिः।
कुर्वन्त्यौद्दालकं कीटा वल्मीकान्तरमाश्रिताः ॥—सोढलनिघण्टु

देखें—P. V. Sharma : The Nighantu of Sodhala, A. B. O. R. I,, Poona, Vol. LII, 1972.

३. इसका विस्तृत परिचय संहिताप्रकरण (द्वितीय अध्याय, पृ० १८०-१८६) में देखें।

उपयोगी विषयों का समावेश किया गया है। इसका काल १३वीं शती का पूर्वार्ध है।"

सोढल का अनुसरण करते हुए भी शार्ङ्गधर ने कुछ विशिष्ट कल्पों का वर्णन किया है यथा क्वाथ, स्वरस आदि। रसौषधों का भी सन्निवेश अधिक है[1]। विजया, अहिफेन आदि का भी प्रयोग बढ़ा है। नाडीपरीक्षा का वर्णन सर्वप्रथम यहीं मिलता है। जयपाल के प्रयोग भी हैं।

इसमें औषधकल्पों का क्रम इस प्रकार है—

१. स्वरसादिकल्पना	७. वटककल्पना
२. क्वाथादिकल्पना	८. अवलेहकल्पना
३. फाण्टादिकल्पना	९. घृततैलकल्पना
४. हिमकल्पना	१०. आसवारिष्टकल्पना
५. कल्ककल्पना	११. धातुशोधनमारण
६. चूर्णकल्पना	१२. रसकल्पना[2]

शतश्लोकी (वोपदेवशतक)

हेमाद्रि के मित्र एवं कृपापात्र विद्वद्वर वोपदेव ने शार्ङ्गधरसंहिता पर टीका ही नहीं लिखी अपितु योगसरणी पर 'शतश्लोकी' नाम से एक ग्रन्थ भी लिखा जिसकी 'चन्द्रकला' व्याख्या स्वयं की[3]। सूर्य की वन्दना से ग्रंथ का प्रारम्भ हुआ है। शतश्लोकी में निम्नांकित प्रकरण हैं—

१. चूर्ण	३. अवलेह	५. तैल
२. गुटिका	४. घृत	६. क्वाथ

प्रत्येक प्रकरण सोलह श्लोकों में वर्णित है। उस काल में प्रचलित योगों का समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना परिचय दिया है[4]।

---

१. रसौषधों के मूल स्रोत के लिए देखें—दामोदर जोशी : शार्ङ्गधर का रसशास्त्रीय ज्ञान एवं उसके आधार स्रोत, सचित्र आयुर्वेद, मार्च १९७४.

२. शार्ङ्गधरसंहिता, मध्यमखण्ड।

३. आयुर्वेदविदां देवमायुरारोग्यदं रविम्।
नत्वा निजां शतश्लोकीं व्याख्यार्थं भिषजां मुदे।
इसके अतिरिक्त, वासुदेवपौत्र, भोलिपुत्र वेणीदत्त कवीन्द्र द्वारा विरचित भावार्थदीपिका व्याख्या भी है। वेणीदत्त न्याय, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद का विद्वान तथा संगीतज्ञ एवं कवि था (तंजोर, पा० सं० ११९४१)।

२. वोपदेव का परिचय द्रव्यगुण-प्रकरण (पंचम अध्याय) में देखें।

वोपदेव का काल शार्ङ्गधर के बाद १३वीं शती का अन्तिम भाग है।

शतश्लोकी का प्रकाशन चन्द्रकला-व्याख्यासहित कोट्टयम से हुआ है[1]।

वीरसिंहावलोक

यह ग्रंथ[2] तोमरवंशीय कमलसिंह के पौत्र, देववर्मा के पुत्र वीरसिंह द्वारा विरचित है। वीरसिंह ने ग्वालियर में एक राजवंश की स्थापना १३७५ ई० में की थी। इस ग्रंथ की रचना १३८३ ई० में हुई। एक पाण्डुलिपि में ऐसा उल्लेख है कि सारंग नामक व्यक्ति ने वीरसिंह के लिए इसे लिखा[3]।

इसमें भोज, तीसट, चन्द्रट के अतिरिक्त इन कृतियों एवं आचार्यों का उल्लेख है—सारावली, माधव (रुग्विनिश्चय), चक्रदत्त, चरक, सुश्रुत, वाग्भट, श्रीपति, वृन्दसंग्रह, जातक, शिवगीता, गौतम, ब्रह्मगीता, बौधायन, दामोदरमत, योगरत्नावली, शौनक, वृद्धगौतम, पद्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, महाभारत, हारीत, उमामहेश्वर-संवाद, वायुपुराण, कल्याणकारक, वाचस्पति, भेड, विष्णु, लिंगपुराण, कूर्मपुराण। यद्यपि शार्ङ्गधर का नामतः उल्लेख नहीं है तथापि उसके कुछ वचन उद्धृत हुये हैं।

इस ग्रन्थ में ज्योतिष, धर्मशास्त्र (कर्मविपाक) तथा वैद्यक इन तीनों के अनुसार रोगों का उपचार कहा गया है[4]।

वसवराजीयम्

कर्णाटक में लिंगायत (वीरशैव) मत के संस्थापक-प्रचारक वसवराज का बनाया यह ग्रन्थ है। नीलकण्ठ कोट्टुरु वसवराज आन्ध्रनिवासी, आराध्य रामदेशिक का शिष्य, नमःशिवाय का सत्पुत्र था। वैद्यजनशिरोभूषण के साथ-साथ वह कविता-चातुरीधुरीण भी था। यह ग्रन्थ पचीस प्रकरणों में समाप्त हुआ है[5]।

कृतयुग में चरक, त्रेता में रसार्णव, द्वापर में सिद्धविद्या तथा कलि में वसव प्रधान कहा गया है[6]। चरक, माधव, भैरवकल्प, वाग्भट, रसार्णव, भेषजकल्प,

---

१. संपादक वयस्कर एन० एस० मूस, वैद्यसारथिप्रेस, कोट्टयम, १९६२

२. प्रकाशक—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, सं० १९८१; बम्बई से एक संस्करण १८८८ ई० में निकला।

३. Des. Cat. Mss, B. O. R. I.. Poona, Vol. XVI, Pt I. No. 239

४. दैवज्ञागमधर्मशास्त्रनिगमायुर्वेददुग्धोदधीनामध्य—१।२

५. इति श्रीनीलकण्ठचरणारविन्द'''आराध्यरामदेशिकशिष्योत्तमनमःशिवायसत्पुत्र-पवित्रकविताचातुरीधुरीणवैद्यजनशिरोभूषणनीलकण्ठकोट्टुरुववसवराजनामधेयप्रणीश्रीवसवराजीये (आन्ध्रतात्पर्यसहिते) पंचविंशप्रकरणं समाप्तम्।

६. कृते तु चरकः प्रोक्तस्त्रेतायां तु रसार्णवः।
द्वापरे सिद्धविद्या तु कलौ वसवकः स्मृतः॥

काशीखंड, कर्मविपाक, रेवणकल्प आदि ग्रन्थों का आधार इसमें लिया गया है। पूज्यपाद के अनेक योग उद्धृत है। शंखद्राव का पाठ है तथा पुष्पावरोध की निदान-चिकित्सा लिखी है। नित्यनाथ के भी कुछ योग उद्धृत किये गये हैं। अहिफेन का प्रयोग हुआ है तथा रसौषधों की संख्या अधिक है, नाडीपरीक्षा भी है अतः यह १३वीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता। हेमाद्रि को उद्धृत किया है तथा रसकर्पूर का भी प्रयोग है यद्यपि फिरंगरोग का वर्णन नहीं है। अतः १६वीं शती से पूर्व लगभग १५वीं शतीका यह प्रतीत होता है।

श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी नागपुर ने इसे १९३० में प्रकाशित किया है।

वैद्यामृत

यह माणिक्यभट्टसुत मोरेश्वरविरचित ग्रंथ है। इसमें चार अलंकार हैं। अहमद-नगर में यह १५४७ ई० में लिखा गया[1]।

इसमें अहिफेन और इसबगोल का प्रयोग है। यह ज्योतिःस्वरूपकृत आयुर्वेद-दीपिका हिन्दी टीका के साथ बनारस से प्रकाशित हुआ है (१८६७)। एक रामनाथ भट्टकृत हिन्दी टीका भी है। कृष्णशास्त्री भटवडेकरकृत मराठी अनुवाद के साथ बम्बई से प्रकाशित है (चतुर्थसंस्करण, १८६२, बम्बई)। सिंहली भाषा में कोलम्बो से प्रकाशित हुआ है (१८७०)।

वैद्यमनोत्सव

वंशीधरमिश्र विरचित यह ग्रंथ है। इसकी दो पाण्डुलिपियाँ दृष्टिगत हुई हैं (सरस्वतीभवन, सं० ४५३२९, और के. आ. प. सं. ९२६)

केशवदासतनय नयनसुख द्वारा यही ग्रन्थ हिन्दी छन्दों में विरचित है और सात समुद्देशों में पूर्ण है। यह खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई (सं० १९६१) ने प्रकाशित किया है। नयनसुख सम्राट् अकबर के राज्यकाल में था और उसने सं० १६४९ (१५९२ ई०) यह ग्रन्थ पूरा किया।

योगचिन्तामणि

इसका नाम 'सारसंग्रह' भी है। इसमें सात अध्याय हैं[2]। इसका रचयिता जैन हर्षकीर्त्ति है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में जिन को तथा गुरु मानकीर्त्ति को नमस्कार किया

---

१. 'इति श्रीमदहमदनगरस्थितमाणिकभट्टवैद्यात्मजमोरेश्वरवैद्यविरचिते वैद्यामृते प्रथमोऽलंकारः'।

'हुताशनाकाशरसेन्दुयुक्ते संवत्सरे दुर्मतिनामभाजि।
वैद्यामृतं नाम दधान एष ग्रन्थः स्मरारेः कृपया समाप्तः॥

२. पाकचूर्णगुटीक्वाथघृततैलाः समिश्रकाः।
अध्यायाः सप्त वच्यन्ते ग्रन्थेऽस्मिन् सारसंग्रहे॥ १।७

है।[1] प्रथम अध्याय के अन्त में जो श्लोक है उससे पता चलता है कि हर्षकीर्ति नागपुर का रहनेवाला था, यहाँ ग्रन्थ का नाम 'वैद्यकसारोद्धार' लिखा है[2]। द्वितीय अध्याय के अन्त में पुष्पिका इस प्रकार है :—'इति योगचिन्तामणिवैद्यकग्रन्थे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।' तृतीय अध्याय के अन्त में 'इति श्रीभट्टारकश्रीहर्षकीर्त्युपाध्यायसंकलिते योगचिन्तामणौ वैद्यकसारसंग्रहे गुटिकाधिकारस्तृतीयः'। चतुर्थ अध्याय के अन्त में 'इति श्रीमन्नागपुरीयतापगच्छीयश्रीहर्षकीर्त्युपाध्यायसंकलिते योगचिन्तामणौ वैद्यकसारसंग्रहे क्वाथाधिकारश्चतुर्थः'। पञ्चम, षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों की पुष्पिकायें ऐसी ही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि लेखक का पूरा नाम हर्षकीर्ति उपाध्याय है; ग्रन्थ का नाम योगचिन्तामणि है जिसमें वैद्यक के सार का संग्रह किया गया है तथा लेखक नागपुर के तापगच्छ स्थान का निवासी था। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपने को प्रवरसिंह (सम्भवतः कोई राजा) के शिर का अवतंस कहा है तथा गुरु का नाम चन्द्रकीर्त्ति बतलाया है।[3] अन्त में यह कामना की है कि जिस प्रकार योगप्रदीप तथा योगशत है उसी प्रकार योगचिन्तामणि प्रख्यात हो[4]। इससे पता चलता है कि हर्षकीर्त्ति के समय ये दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रचलित थे।

लेखक ने ग्रन्थरचना में आत्रेय, चरक, सुश्रुत, वाग्भट, अश्विनू, हारीत, वृन्द, चिकित्साकलिका, भृगु, भेड, निदान (माधव), कर्मविपाक आदि ग्रन्थों का उपयोग किया है। इस सम्बन्ध में वह लिखता है कि नूतन पाठविधान का पण्डितगण आदर नहीं करेंगे इस कारण आर्ष वचनों को निबद्ध कर रहा हूँ न कि सामर्थ्य के अभाव से[5]।

प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में नाडीपरीक्षा शार्ङ्गधरसंहिता के आधार पर दी गई है। उसके बाद नेत्र आदि की परीक्षा, मान-परिभाषा तथा शारीर है। पाक-प्रकरण की भूमिका में लिखा है कि चिकित्सा में दो ही सारभाग हैं एक पाकविद्या और

---

१. श्रीसर्वज्ञं प्रणम्यादौ मानकीर्त्ति गुरुं ततः।
योगचिन्तामणिं वक्ष्ये बालानां बोधहेतवे ॥ १।४

२. नागपुरीययतिगणश्रीहर्षकीर्त्तिसंकलिते।
वैद्यकसारोद्धारे प्रथमः पाकाधिकारोऽयम् ॥

३. सूरीश्वरः प्रवरसिंहशिरोऽवतंसः श्रीचन्द्रकीर्त्तिगुरुपादयुगप्रसादात्।
गंभीरचारुतरवैद्यकशास्त्रसारं श्रीहर्षकीर्त्तिवरपाठक उद्दधार ॥

४. यथा योगप्रदीपोऽस्ति पूर्वयोगशतं यथा।
तथैवायं विजयतां योगचिन्तामणिश्चिरम् ॥

५. नूतनपाठे विहिते नादरमिह पण्डिता यतः कुर्युः।
तस्मादार्षवचोभिर्निर्बध्यते न स्वसामर्थ्यात् ॥—१।६

दूसरा रसायन[1]। इससे इन दोनों कल्पनाओं का अधिक प्रचार द्योतित होता है। रतिवल्लभपूगपाक, कामेश्वरमोदक आदि योग सम्भवतः भावप्रकाश से लिये गये हैं। इनमें अकरकरा, खुरासानी अजवायन, धत्तूरबीज, समुद्रशोष, माजूफल, पोस्तादाना, विजया आदि औषधियाँ पड़ती हैं। विजयापाक तथा अफीमपाक पृथक् भी हैं। चूर्णाधिकार में अम्लवेतसचूर्ण महत्त्वपूर्ण है। यह अम्लवेतस के फलों के भीतर पंचलवण, हिंग्वष्टक या भास्करलवण भर कर धूप में सुखा कर बनाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि उस काल तक अम्लवेतस के फलों का ही प्रचार था न कि तत्स्थानीय रवेन्द्रचीनी के पत्रवृन्तों का जो आजकल इस नाम से व्यवहृत हो रहे हैं। गुटिकाप्रकरण में अनेक रसयोगों का भी वर्णन है जिनमें घोड़ाचोली (अश्वकञ्चुकी) उल्लेखनीय है। मिश्रक प्रकरण में गुग्गुलु, शंखद्राव, शोधन-मारण, पारदसंस्कार, रसकर्पूर, रसौषध, आसव-अरिष्ट, लेप, मलहम, रक्तमोक्षण-नस्य आदि, मधुराज्वर (टायफायड), चोबचीनी आदि का वर्णन है। अन्त में कर्मविपाकप्रमाण है।

काल

भावप्रकाश के योगों तथा रसकर्पूर, चोबचीनी आदि को उद्धृत करने के कारण इसका काल १७वीं शती (१५७५-१६२५ ई०) है[2]।

हर्षकीर्त्ति की अन्य रचनायें

वैद्यक के अतिरिक्त शारदीयाख्यानाममाला कोश भी हर्षकीर्त्तिनिर्मित है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित रचनायें भी हर्षकीर्त्तिकृत कही जाती हैं[3]—

१. बृहच्छान्तिस्तोत्रिक
२. कल्याणमन्दिरस्तोत्रिक
३. सिन्दूरप्रकरणटीका
४. सारस्वतदीपिका
५. सेटनिट्कारिकाविवरण
६. धातुपाठतरंगिणी
७ धातुपाठविवरण
८. श्रुतबोधटीका
९. ज्योतिःसार
१०. ज्योतिःसारोद्धार

योगचिन्तामणि दत्तरामकृत माथुरीमञ्जूषा भाषाटीकासहित खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई (सं० १९६६) से प्रकाशित हुआ था।

इसकी अनेक पाण्डुलिपियाँ[4] भी हैं जिनसे इसकी बालबोध तथा स्तवक[5] इन

---

१. चिकित्सायां द्वयं सारं पाकविद्या रसायनम्। पाकाधिकार, १
२. M. M. Patkar, Introduction, P. IX, Śāradīyākhyanāmamālā, Poona, 1951
३. वही।
४. के० आ० प०, सं० १०४०
५. नरसिंहकृतस्तबक (जोधपुर, २४०३)

दो टीकाओं का पता चलता है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'सारसंग्रह' नाम से इसकी दो पाण्डुलिपियाँ हैं[1] एक देवनागरी तथा दूसरी वंगीय लिपि में। वंगीय प्रति पूर्ण है।

योगरत्नाकर में सारसंग्रह के कुछ उद्धरण (वातरोगे माषतैलम्) इसमें नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि इस नाम का और भी कोई ग्रन्थ होगा।

वैद्यवल्लभ

हस्तिरुचि कवि द्वारा विरचित इस ग्रंथ में आठ विलास हैं। अनेक योगों में 'एतद्हस्तकवेर्मतम्', 'कारितं कविना', 'कविना कथितं' आदि का निर्देश होने से ये योग लेखक के अनुभूत हैं ऐसा प्रतीत होता है। स्त्रियों के लिए गर्भपात तथा गर्भनिवारण अनेक योग हैं। स्त्रियों का धातुरोग (२।१७) सम्भवतः श्वेतप्रदर है। सोरा (४।१६) सूर्यचार के नाम से है। विजया (५।४) अहिफेन (४।२०,५।४) और अकरकरा (४।२३) भी हैं। इच्छाभेदी, सर्वकुष्ठारि आदि अनेक रसयोग भी हैं। अहिफेन, सोमल (शंखिया), रक्तिका, धत्तूर आदि के विष को शान्त करने के उपाय कहे गये हैं। पादव्रण में एक लेप का विधान है जिसमें मोम, राल, साबुन और मक्खन हैं (८।२६)। कुछ सरल योग बड़े उत्तम और परीक्षणीय हैं यथा—

१. स्नुहीदुग्ध गुड के साथ—कासश्वास, क्षय और हृद्रोग में।

२. सैन्धवलवण को अर्कक्षीर से भावित कर-क्षयरोग में।

३. शोरा चीनी के साथ—उष्णवात, मूत्रकृच्छ्र।

४. महानिम्बपत्रस्वरस—क्रिमिरोग में।

काल—ग्रन्थ के अन्त में एक वटी मुरादिसाहवटी है[2] जिससे लेखक मुराद साह का समकालीन या परवर्त्ती प्रतीत होता है। मुराद औरंगजेब का भाई था जो १६६१ ई० में मारा गया। पूना की एक पाण्डुलिपि[3] में प्रदत्त सूचना के अनुसार लेखक महोपाध्याय हितरुचिगणि का शिष्य था और तपागच्छ का निवासी था। इसमें ग्रन्थरचना का काल सं० १७२६ (१६७३ ई०) दिया है[4]। यह स्मरणीय है कि तपागच्छ का निवासी योगचिन्तामणि का प्रणेता हर्षकीर्त्ति भी था। संभवतः ये दोनों समकालीन हों किन्तु योगचिन्तामणि पहले बना होगा क्योंकि उसका एक श्लोक तत्रस्थ दूसरी पाण्डुलिपि (सं० २८२) में उद्धृत है (मखे मखभुजां गणं किल निमन्त्र्य दक्षः पुरा)।

यह ग्रन्थ खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई ने सं० १९७८ में प्रकाशित किया।

---

१. सं० ३७४८, ५३२२ (वंगीय)

२. रूपाग्निबुद्धिबलवीर्यवर्धिनी मुरादिसाहेन विनिर्मिता स्वयम्। ८।४०

३. Des, Cat. Mss. B. O. R. I., Poona, Vol. XVI. Pt I, No. 281

४. रसनयनमुनीन्दुवर्षे परोपकाराय विहितोऽयम्।

वैद्यविनोद

इस ग्रन्थ का रचयिता शंकरभट्ट[1] (गौड़) अनन्तभट्ट का पुत्र था तथा जयपुर के महाराजा रामसिंह का आश्रित था। उसीकी आज्ञा से यह ग्रन्थ लिखा गया (१।२-७)। ग्रन्थ १६ उल्लासों में पूर्ण हुआ है और कुल १७४१ श्लोक हैं (१८।१९४)।

प्रारम्भ में नाडीपरीक्षा है। चैतन्यरोटिका का सन्निपातज्वर में विधान अवलोकनीय है। शीतला और स्नायुक की चिकित्सा भी है।

रामसिंह के काल तथा इसकी एक पाण्डुलिपि का काल (सं० १७६२) के आधार पर लेखक का काल १७ वीं शती का अन्तिम चरण रखना चाहिए।

वैद्यरहस्य

वंशीधरसुत उपाध्यायविद्यापतिकृत यह ग्रन्थ है। एक पाण्डुलिपि (का० हि० वि०, वी० २७७०) में 'चन्द्रभानुं नमस्कृत्य महादेवाभिधं गुरुम्' है जिससे अनुमान होता है कि उनके गुरु का नाम चन्द्रभानु महादेव था। इसका लिपिकाल सं० १८०२ है। दूसरी पाण्डुलिपि (का० हि० वि०, वी० २७७६) में यह पद्य नहीं है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७५४ लिखा है[2]।

इसमें अफीम, भांग, अकरकरा, माजूफल आदि के योग है। कुछ योग भावप्रकाश के भी उद्धृत प्रतीत होते हैं। फिरङ्गरोग भी है। एक मानसोल्लास चूर्ण है जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि यह राजाराम द्वारा प्रकाशित है।[3]

हरिधारितग्रन्थ

हरिराय शर्माकृत यह ग्रन्थ सात अध्यायों में है। वासुदेवशर्माकृत भाषाटीकासहित पं० विश्वेश्वरदयालु जी वैद्यराज, बरालोकपुर, इटावा ने इसे प्रकाशित किया (१९२६ ई०)। इसकी पाण्डुलिपि जम्मू-कश्मीर में मिली थी, सम्भवतः लेखक उधर के ही निवासी हों।

अहिफेन आदि के होने के कारण यह ग्रन्थ लगभग १४वीं-१५वीं शती का होगा।

वैद्यचिन्तामणि

यह अमरेश्वरभट्टपुत्र वल्लभेन्द्र इन्द्रकण्ठी की रचना है।[4] इसमें नाडी, मूत्र

---

१. वनौषधिदर्पण में शंकरसेन कृत वैद्यविनोद का उल्लेख है।

२. चतुःपञ्चाशद्भिर्मुनिविधुशतेनाधिसहितैर्गतेऽब्दे भूपार्काद्भमसि सितपक्षे फणितिथौ। इतिश्रीमद्वंशीधरतनुजविद्यापतिकृतोऽभवत् पूर्णो ग्रन्थः सकलभिषगानन्दजनकः॥

३. वृष्यं वह्निप्रदं चैतद् राजारामप्रकाशितम्'

४. के० आ० प० ८७६

आदि परीक्षा के साथ ज्वरादि रोगों की निदानचिकित्सा है। पी० वेंकटकृष्णरावकृत तेलुगु अनुवाद के साथ यह मद्रास से प्रकाशित हुआ है (षष्ठ संस्करण, १९२१)।

वैद्यमनोरमा

वैद्यकालिदासकृत यह योगसंग्रह उत्तम चुटकुलों का सङ्कलन है। धाराकल्प के साथ १९२३ ई० में आचार्य यादवजीने इसे प्रकाशित किया था। सुखदेव वैद्य की भाषाटीका के साथ गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास (बम्बई, सं० १९७३) ने छपवाया है। ग्रन्थ में कुल २० पटल हैं।

सोमरोग (२।१३); अहिफेन और कुपीलु (६।३); शय्यामूत्र[1] (७।१४) आदि का वर्णन होने के कारण यह १३वीं शती या उसके कुछ बाद का होगा। स्थान-स्थान पर 'गुह्य' 'रहस्य' आदि शब्दों का प्रयोग तान्त्रिक युग के परिचायक हैं। रुद्राक्ष का मसूरिका में, (११।१९); अर्कक्षीर का पामा[2] में तथा स्थौल्य में असनसार (१२।३०) का प्रयोग उल्लेखनीय है।

पर्पटी आदि औषधों का प्रयोग होने से तथा धाराकल्प के साहचर्य के कारण लोग इसके लेखक को केरलवासी बतलाते हैं।

भैषज्यमणिमाला (सिद्धभेषजमणिमाला)

यह जीवनराम (कुन्दनराम) भट्ट के ज्येष्ठ पुत्र कृष्णरामभट्ट की रचना है। कृष्णरामभट्ट के पूर्वज अहमदाबाद से जयपुर के राजा प्रतापसिंह देव (१७७८–१८०३ ई०) के द्वारा राजवैद्य पद पर प्रतिष्ठित होकर जयपुर आये थे। कृष्णराम-भट्ट का जन्म श्रीकृष्णजन्माष्टमी, सं० १९०५ को हुआ और ४९ वर्ष की आयु में वैशाखकृष्ण प्रतिपदा, सं० १९५४ को दिवंगत हुये। आप आयुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित तथा यशस्वी चिकित्सक थे और जयपुर के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में आयुर्वेद के प्रधानाध्यापक थे। आपकी शिष्यपरम्परा अतीव प्रशस्त थी जिसमें स्वामी लक्ष्मीराम जी, नारायणशंकर देवशंकर शास्त्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जीवनाथ गुरु से काव्यप्रकाश तथा चन्दनदास से छन्द और गणित तथा अपने पिता से वैद्यक पढ़ा। पारद के संस्कार स्वयं अनेक बार तथा अनेक प्रकार से किये[3]।

---

१. इसका सर्वप्रथम उल्लेख शार्ङ्गधर ने किया है।

२. भगवन् भास्करक्षीर पामाऽहमभिवन्दये।
यत्र देशे भवान् प्राप्तस्तद्देशं न व्रजाम्यहम्॥ ११।४८

३. येनाशिक्षि स जीवनाथगुरुतः काव्यप्रकाशाशय-
श्छन्दश्चन्दनदासतः सगणितं वैद्यागमस्तातततः।
सूते गन्धकजारणावधि कृता येन क्रिया नैकशः
सोऽहं नैकनवीनकाव्यकृदिह श्रीकृष्णशर्मा कविः॥

इसके अतिरिक्त इनकी प्रमुख रचनायें निम्नांकित हैं—

१. विद्वद्वैततरंगिणी
२. गोपालगीतम्
३. जयपुरविलासम्
४ गप्पसमाधानम्
५. सारशतकम्
६. मुक्तकमुक्तावली
७. आर्यालंकारशतकम्
८. छन्दोगणितम्
९. जयपुरमेलककुतुकम्
१०. पलाण्डुराजशतकम्
११. काशीनाथस्तवः
१२. माधवपाणिग्रहोत्सवः
१३. होलामहोत्सवः

इन रचनाओं से स्पष्ट है कि वह एक उच्च कोटि के कवि भी थे[1]।

सिद्धभेषजमणिमाला (आ)मुख, द्रव्य, चित्र, उपाय (चिकित्सा) और रसायन (वाजीकरण) इन पांच गुच्छों में विभक्त है[2]। चतुर्थ और पञ्चम गुच्छ चिकित्सा-विषयक हैं।

इस ग्रन्थ में शास्त्रीय तथा अनुभूत योगों का संकलन है। अधिकांश अनुभूत योग ही हैं जो जयपुर-परम्परा में प्रचलित थे। १९वीं शती तक देश में मेडिकल कालेजों की स्थापना हो चुकी थी और रोगों के विषय में आधुनिक धारणायें प्रचलित हो रही थीं जिनसे वैद्यसमाज भी अछूता न रहा। दूसरी ओर शतियों तक मुसलमानों का शासन रहने के कारण यूनानी चिकित्सा का प्रभाव भी स्थायी हो चुका था और वैद्यवर्ग अपनी चिकित्सा में अनेक यूनानी द्रव्यों का प्रयोग करने लगे थे। अफीम, भाँग, अकरकरा आदि मध्ययुगीन द्रव्यों के अतिरिक्त, शंखिया-कुचला, तम्बाकू, सोरा आदि के योगों का व्यवहार बढ़ा था। विषमज्वर, श्वास, वातव्याधि आदि में शंखिया के योगों का प्रयोग होता था। ये सब तथ्य सिद्धभेषजमणिमाला में मिलते हैं। अनेक यूनानी औषधकल्प शर्बत, गुलकन्द, मलहम आदि तथा आधुनिक कल्प तेजाब (तेजोऽम्बु—४।३६८) आदि का भी समावेश इसमें हुआ है। नवीन रोगों में टायफायड को मौक्तिकज्वर (मोतीझरा-४।२०) कहा है और न्यूमोनिया को गौर्जरी (४।३१९)। अमीररस, शीतलपपंटी, मल्लसिन्दूर, मल्लतैल, रसचन्द्रवटी, फलासपा, सिद्धाहिफेन, भङ्गावटक, फणिफेनपुटपाट, रामठाफूकचक्रिका, विषमुष्टिक-योग, ऐलवटी, दयाकुन्जी, खाखसावलेह, ममायिका, सुरनायिकायोग, कुमारिकार्क,

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें—भूमिका, सिद्धभेषजमणिमाला, मणिच्छटा व्याख्या-सहित (जयपुर, १९६८)

२. गुच्छैरच्छा मुखद्रव्यचित्रोपायरसाह्वयैः।
भैषज्यमणिमालाऽसौ कण्ठस्थां क्रियतां बुधैः ॥ (१-२१)
ग्रन्थ के प्रारम्भ में जयपुर के राजाओं की वंशावली इस प्रकार दी है—
मानसिंह→जयसिंह→रामसिंह→माधवसिंह (लेखक का आश्रय)

समीरपन्नगतैल, स्नायुकान्तक वटी, साबुयोग, अम्बरतैल आदि इसके कुछ प्रमुख योग हैं। तांत्रिक प्रयोग भी अनेक हैं।

अनेक योगों में प्रयोक्ता चिकित्सकों के नाम भी दिये गये हैं यथा छगन (४।१७०); श्याम (४।१८६); आसामयोगी (४।२२६); जुगलदास (२।३३९), आदित्यराम (४।४३५; १०२९); महादेव (४।४३७); श्यामराम (४।५१४); दामोदर (४।६९२); रघुनाथस्वामी (४।७६७); जीवनाथ (४।१११६); शंभुदत्त (५।५३)। इनमें ग्रन्थकार के कुछ हितैषी और कुछ शिष्य हैं।

यह ग्रन्थ सं० १९५३ (१८९६ ई०) में पूरा हुआ[1]।

सिद्धयोगसंग्रह

२०वीं शती में अनुभूत तथा शास्त्रीय योगों के अनेक संकलन प्रकाशित हुये जिनमें ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा संकलित तथा श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेदभवन द्वारा प्रकाशित (द्वितीयावृत्ति, जनवरी १९४६) इस ग्रन्थ में शास्त्रीय योगों में भी युगानुरूप किंचित् संशोधन-परिवर्धन किये गये हैं। सन्दिग्ध और अप्राप्य द्रव्यों के स्थान पर तत्सम उपलब्ध द्रव्य रक्खे गये हैं। कुछ आधुनिक और नवीन योग यथा हृद्यचूर्ण (डिजिटेलिस), अपतंत्रकारि (गाँजा) सर्पगन्धायोग, गोजिह्वादिक्वाथ, पञ्चगुणतैल, सोमयोगा, जवाहरमोहरा, याकूती, ब्राह्मीवटी, मदयन्त्यादिचूर्ण, तुवरकतैलयोग, सवीरवटी, वालार्करस, सुधाषट्कयोग द्रष्टव्य हैं।

अनुभूत योग एवं घरेलू चिकित्सा

सरल प्रयोगों के चुटकुलों को संकलित कर इधर प्रभूत वाङ्मय का आविर्भाव हुआ है। इनमें निम्नांकित ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—

१. अनुभूतयोग — श्यामसुन्दराचार्य
२. अनुभूतयोगचर्चा—वंसरीलाल साहनी
३. अनुभूतयोगचिन्तामणि—गणपति सिंह
४. अनुभूतयोगप्रकाश ,,

---

१. त्रिपञ्चनवचन्द्राब्दे फाल्गुनस्य सिते दले। भैषज्यमणिमालाऽसौ परिपूर्णाऽभवत् खलु॥
श्रीलल्लुरामात्मजकुन्दनाख्यो लेभे जनिं कृष्णकवेर्हि तस्य।
भैषज्यरत्नस्रजि सद्गुणायां पूर्णोऽभवत् पञ्चमगुच्छ एष॥—५।१९२-१९३
'इति राजवैद्यमहाकविश्रीकृष्णरामभट्टविरचितायां सिद्धभैषज्यमणिमालायां पञ्चमो गुच्छः'।

५. अनुभूतयोगसंग्रह—रामस्वरूप वैद्यशास्त्री
६. घर का वैद्य—अमोलचन्द्र शुक्ल
७. घरगथ्थू वैद्यक—वैद्य बापालाल (गुजराती)
८. घरेलू इलाज—चन्द्रशेखर गोपाल जी ठाक्कुर
९. घरेलू इलाज—रमेश वर्मा
१०. ग्राम्य चिकित्सा—केदारनाथ पाठक
११. गृहद्रव्यचिकित्साविज्ञान—रामनाथ वैद्य

इस क्षेत्र में 'अनुभूतयोगमाला' पत्रिका का प्रकाशन कर वैद्य विश्वेश्वरदयालु जीने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। समय-समय पर अन्य आयुर्वेदीय पत्रों ने भी अनुभूत योगों के विशेषांक प्रकाशित किये।

९वीं से १६वीं शती तक के ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का कालानुसार वर्गीकरण

चन्द्रट (१०वीं शती) में निम्नांकित चिकित्साग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है अतः ये १०वीं शती के पूर्ववर्त्ती हैं—

१. चिकित्सासमुच्चय
२. आर्यसमुच्चय
३. वंगदत्त
४. रुद्रसेनक
५. महेन्द्रकल्प
६. विन्दुसार (विन्दुभट्टकृत)
७. चिकित्सासार
८. चिकित्सातिशय
९. अमृतमाला
१०. अच्युत (आयुर्वेदसारकृत)
११. योगयुक्ति
१२. भिषङ्मुष्टि

निम्नांकित ग्रंथ एवं ग्रन्थकार चक्रपाणि (११वीं शती) द्वारा उद्धृत है अतः वे उसके पूर्व संभवतः १०वीं शती के होंगे—

१. हरमेखला[1]
२. शिवसिद्धान्त
३. कालपाद
४. उग्रसेन
५. अमृतमाला
६. योगशतक
७. योगपञ्चाशिका
८. भद्रवर्मा

विजयरक्षित (१२वीं शती) ने निम्नांकित ग्रन्थ एवं ग्रंथकार को उद्धृत किया है अतः इसका काल उसके पूर्व ११वीं शती होगा—

१. कल्याणविनिश्चय
२. सुदान्तसेन

विजयरक्षित, श्रीकण्ठदत्त तथा निश्चलकर द्वारा इसके चिकित्साविषयक श्लोक उद्धृत हैं। इससे प्रतीत होता है कि यह कोई चिकित्साग्रंथ होगा, टीका नहीं।

---

१. चक्रसंग्रहे हरमेखलसमानः श्लोकः पठितः—व्याख्याकुसुमावली, ५७।८४

निश्चलकर (१३वीं शती) ने चक्रदत्त की रत्नप्रभाव्याख्या में निम्नांकित ग्रन्थों एवं ग्रंथकारों का उल्लेख किया है अतः ये इसके पूर्व ११वीं या १२वीं शती के होंगे—

१. वार्त्तामाला—नागार्जुनकृत
२. योगशतक— ,,
३. योगशतक—अत्तदेवकृत
४. कर्ममाला— ,,
५. योगव्याख्या—माधवकरकृत
६. योगरत्नाकर—भव्यदत्तकृत
७. योगरत्नसारसमुच्चय
८. योगमाला
९. योगमञ्जरी—नागार्जुनकृत
१०. अमोघज्ञानतंत्र
११. अमृतसार
१२. अमृतवल्ली—श्रीकण्ठकृत
१३. अमृतघट
१४. नरदत्त
१५. विभाकर
१६. सन्ध्याकर
१७. पुत्रोत्सवालोक
१८. वैद्यप्रदीप—भव्यदत्तकृत
१९. भिषग्युक्ति
२०. वैद्यसार
२१. सारोच्चय—वकुलकृत
२२. गोपति
२३. गदाधर
२४. कौमुदी
२५. कामरूप
२६. कल्याणसिद्धि
२७. कलहदास
२८. कर्मदण्डी—जिनदासकृत
२९. उमापति
३०. नरदेव
३१. आयुर्वेदप्रकाश
३२. वैद्यप्रसारक (आढमल्ल, शा० मध्य० ७।१६२ तथा व्याख्याकुसुमावली १।१२८) द्वारा उद्धृत[1]
३३. शुकतन्त्र

श्रीकण्ठदत्तकृत व्याख्याकुसुमावली में निम्नांकित ग्रन्थों एवं आचार्यों का उल्लेख है। जैसा कहा जा चुका है, यह व्याख्या परवर्ती नारायण द्वारा उपबृंहित है अतः इसमें निर्दिष्ट ग्रन्थ एवं आचार्य १४वीं शती के पूर्ववर्त्ती हैं :—

१. वृद्धवैद्यव्यवहारोद्भट[2]
२. वैकारण
३. प्राजापत्य
४. पाखण्डिक

१. पुनश्च—'लेह इत्यस्य स्थाने लेप इति पाठो न युक्तः, वैद्यप्रसारके भल्लचूर्णप्रस्तावेऽस्य पाठात् ।—व्याख्याकुसुमावली, ५।१२२

२. वृद्धवैद्यव्यवहारोद्भटव्याख्यातो वृन्देन श्लोकं कृत्वा लिखितः—१।४९

शिवदाससेन (१५वीं शती) ने निम्नांकित ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है अतः ये उसके पूर्ववर्ती हैं :—

१. जीवनाथ
२. विन्ध्यवासी
३. प्रयोगरत्नाकर
४. महेश्वरपत्रिका
५. लोकव्यवहार
६. तत्त्वकलिका
७. परमेश्वररक्षित

भावप्रकाश (१६वीं शती) ने निम्नांकित आचार्यों एवं ग्रन्थों को उद्धृत किया है अतः ये १६वीं शती के पूर्ववर्त्ती हैं—

१. चन्द्रमौलि
२. त्रिशती

त्रिमल्लभट्ट (१६वीं शती) के द्वारा निम्नांकित आचार्य एवं ग्रन्थ उद्धृत हुये हैं—

१. वैद्यालंकार
२. वैद्यदर्पण
३. सौगतसिंह—बौद्धसर्वस्व
४. सारसंग्रह
५. सर्वसंग्रह
६. नारायणीय
७. मतिमुकुर
८. धन्वन्तरिमत
९. चिकित्सादीप
१०. चर्पटी
११. आरोग्यदर्पण
१२. योगसार
१३. योगरत्नावली
१४. योगरत्नप्रदीप
१५. योगरत्न

कुछ अन्य ग्रन्थ

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक ग्रंथ कालवश दृष्टिपथ से ओझल हो गये हैं जिनकी एक सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। जब तक इनका निरीक्षण न किया जाय तब तक यह कहना सम्भव नहीं कि इनमें कौन ग्रंथ योगसंग्रह मात्र हैं और कौन चिकित्सापरक हैं अतः सबकी एक सम्मिलित सूची बनाई गयी है। यह अनुमान किया जा सकता है कि जिन ग्रंथों के नाम 'योग' से प्रारम्भ होते हों वह योगप्रधान हैं और जिनका नाम चिकित्सा से प्रारंभ होता है वे चिकित्सापरक हैं किन्तु ऐसा नियम लागू करना सम्भव नहीं क्योंकि वास्तव में दोनों में दोनों कोटि के ग्रंथ हैं। रोगानुसार चिकित्सा के वर्णनक्रम में जहाँ योगों का विवरण है उन्हें

चिकित्सापरक और जहाँ घृत, तैल आदि कल्पों के अनुसार वर्णनक्रम है उन्हें योगसंग्रह कहना चाहिए। अत एव विना उन्हें देखें उनके स्वरूप का निर्णय एवं वर्गीकरण न सम्भव है और न उचित ही।

१. अनन्तप्रकाश—यह केशवसुत अनन्त के द्वारा विरचित है। जयपुर के राजा प्रतापसिंह के आदेश से यह सं० १८२९ में लिखा गया। इसे 'प्रतापकल्पद्रुम' भी कहते हैं (के० आ० प० ५७३)।

२. अभिनवचिन्तामणि—चक्रपाणिदास (व० द०)।

३. आयुर्वेदसार—काशीनाथ भट्टाचार्यकृत यह ग्रन्थ 'काशीनाथपद्धति' के नाम से भी ज्ञात है। इसमें मान-परिभाषा, नाड़ी, भैषज्यकल्पना, संज्ञा, कालज्ञान, रोगानुसार निदानचिकित्सा, वमन-विरेचन तथा धातुशोधन आदि का वर्णन है।

उपक्रमपद्य—'सुश्रुतादीन् मुनीन् नत्वा स्ववैद्यादिचिकित्सकान्।
आयुर्वेदस्य सारोऽयं काशीनाथेन गृह्यते ॥
उपसंहारपद्य—'मुनीनां मतमालोक्य काशीनाथेन पद्धतिः।
रचिता कल्पवल्लीव सेव्येयं रोगनाशिनी'[1] ॥

४. आयुर्वेदसुधानिधि—(के० आ० प० ११६)

५. उपचारसार—मुकुन्ददैवज्ञकृत; दिनकरज्योतिषकृतगूढप्रकाशिका व्याख्या (सं० १७४०) सहित। इस पर दिवाकर की भी कोई टीका है।[2]

६. औषधयोगग्रन्थ (के० आ० प० ९२)

७. औषधसंग्रह—अभिधानसरस्वती (के० आ० प० ९०)

८. कंकालीग्रन्थ (के० आ० प० ३७०)—१५००-१५१० ई० मालवा के नसीरशाह खिलजी के किसी आश्रित द्वारा लिखा गया।

९. कापालिक तन्त्र (,, ३७९)

१०. कापिञ्जल तन्त्र (,, ३८१)

११. गूढवाक्यबोधक—चक्रपाणि (सरस्वतीभवन, ४४७६३)

१२. गूढबोधक—हेरम्बसेन (रा० ला० मि०—२०६)

इसमें चक्रपाणि, महेश्वर, माधव और नित्यनाथ को नमस्कार किया गया है। संभवतः यह चक्रपाणिकृत गूढवाक्यबोधक के आधार पर बना है।

१३. गोरक्षसंहिता—(के० आ० प० ३०६)

यह ग्रन्थ पाँच खण्डों में है जिसका प्रथम पटल रसायनविधि है। यह संहिता 'शतसाहस्री' कही गई है, संभवतः इसमें एक लाख श्लोक हों। रसौषधों एवं तान्त्रिक प्रयोगों की प्रधानता हैं। सिंह (सिंहण) राजा के लिए यह लिखी गयी।

---

१. का० हि० वि०, सं० ३७५२; ३८०५

२. आनन्दाश्रम, पूना (पाण्डुलिपि), के० आ० प०, ८६४

सिंहण का राज्यकाल १३वीं शतीका पूर्वार्ध है अतः इसका भी काल यही होगा[1]।

१४. चिकित्साक्रमकल्पवल्ली—(वेंकटेश्वर, बम्बई से प्रकाशित)

१५. चिकित्सातिलक—कौशिकगोत्रीय आरवेल्लवंशीय ऐजनगर्यपौत्र रघुनाथपुत्र श्रीनिवासाचार्य द्वारा विरचित। (के० आ० प० २१०)

१६. चिकित्सादीपिका—हरानन्द (व० द०)

१७. चिकित्सामञ्जरी—रघुनाथपंडित (१६९९ ई०)

१८. चिकित्सामालतीमाला—रामहोशिंग (स० भ०, ४५११०)

१९. चिकित्सामृत—मिल्हण (का० हि० वि० वी ३८०६)

यह शमसुद्दीन इल्तुतामिश (१२११-१२३६ ई०) के राज्यकाल में लिखा गया है अतः इसका काल १२२४ मानते हैं।

२०. चिकित्सामृतसंग्रह—गणेशभिषक् (स० भ०, ४४९०६) साररत्नावली (स० भ०, ४५१३८) भी इसीकी रचना है। माधवनिदान पर इसने टीका की है (देखें माधवनिदान)।

२१. चिकित्सामृतसागर—देवदास (के० आ० प०, १८६)

आफ्रेक्ट ने इसका नाम चिकित्सासार दिया है।

२२. चिकित्सारत्न—जगन्नाथदत्त (व० द०)

२३. चिकित्सारत्नावली—राधामाधववैद्य (ए० सो० क०)

२४. „ कविचन्द्र „ । इसका समय १६६१ ई० है।

२५. चिकित्सार्णव—महेश्वर (के० आ० प० १९३)

२६. „ सदानन्द शुक्ल (आफ्रेक्ट)

२७. चिकित्सार्णवसंहिता—लोहट (जम्मू ३२५९)

२८. चिकित्सालेश—गोवर्धनवैद्य (राघवन)

२९. चिकित्सासंग्रह—भोलानाथमिश्र कृत (पी० जी० आइ० ३)

लेखक ग्राम मुस्तफापुर, पो० खगौल, जि० पटना (विहार) के निवासी थे तथा प्रस्तुत लेखक के प्रपितामह थे[2]। इस ग्रन्थ की रचना सं० १९४७ में हुई।

---

१. 'पञ्चखण्डमिदं शास्त्रं नामसंज्ञा पृथक् पृथक्।'
सरसो योगवाहोऽयं नन्दिना परिकीर्त्तितः। सिंहभूपहितार्थाय नाथेन प्रकटीकृतः॥
'इत्याद्ये स्वच्छन्दे शक्त्यवतारे शतसाहस्त्र्यां गोरक्षसंहितायां भूतिप्रकरणे शिवसूत्रे रसायनविधिः पटलः समाप्तः'—का० हि० वि० वी २०९१ (लिपिकाल—सं० १७१७)

२. यह वंशपरंपरा इस प्रकार है—
रामप्रसादमिश्र→भोलानाथमिश्र→प्रभुनाथमिश्र→रामावतारमिश्र→प्रियव्रतशर्मा।

३०. चिकित्सासंग्रह—प्रभुनाथमिश्रकृत (पी. जी. आइ. ४)

इस ग्रन्थ के रचयिता उपर्युक्त ग्रन्थकर्ता के पुत्र थे। ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १९२८ है।

३१. चिकित्सासागर—वत्सरेश्वर ठक्कुर (का० हि० वि०, बी० ३८४७)

गरुड और अग्निपुराण से आयुर्वेद के वचन इसमें संग्रहीत हैं। के० आ० प० १९४ में लेखक का नाम वत्सेश्वर ठाकुर दिया है।

३२. चिकित्सासार—हरिभारती (व० द०)

का० हि० वि० की पाण्डुलिपि (सी १९९९) में जो चिकित्सासार है उसमें लेखक का नाम नहीं है। इसमें अहिफेन, अकरकरा, चोपचीनीपाक, फिरंग, रसकर्पूर आदि है अतः यह भावप्रकाश के बाद का ही है।

इसी नाम के ग्रन्थ और हैं—एक गोपालदासकृत[1] (के० आ० प० १९६; स० भ० ४४८१७ सटिप्पण) तथा दूसरा क्षेमशंकरमिश्रकृत (जम्मू ३११८) सरस्वती-भवन की पाण्डुलिपि (४४८८९) में क्षेमशंकरमिश्र नाम है।

तीसरा चिकित्सासार—हररामकृत (के० आ० प० १९७) है।

३३. चिकित्सासारकौमुदी (,, १९८)

३४. चिकित्सासारसमुच्चय (,, १९९)

३५. चिकित्सासुधा (,, २०७)

३६. चिकित्सासुन्दर—सुन्दरदेव (स० भ० ४५२०५)

योगोक्तिविवेकचन्द्र भी इसी की रचना है।

३७. ज्ञानभास्कर (का० हि० वि० सी ४७९७)

३८. ज्ञानार्णव (,, बी ८९३)

३९. धन्वन्तरिविलास—तुळजराज (तञ्जोर. १७२९-१७३५)

४०. नवरत्नमाला (सटीका)—मल्लिनाथ (स० भ० ४५३३८)

४१. नारायणविलास (उदयपुर, ४६३)

वनौषधिदर्पण में इसके लेखक का नाम नारायणराज दिया है।

४२. नारायणावलोकन—नारायण (कर्मविपाकसंबन्धी चिकित्साग्रन्थ)

४३. नाडीपरीक्षादि चिकित्साकथन—(व० द०)

संजीवेश्वरशर्मात्मज रत्नपाणिशर्माकृत।

४४. नीलकण्ठवैद्यक—(दरभंगा)

४५. नृसिंहोदय—वीरसिंह

४६. प्रयोगचिन्तामणि—माधव (प्रकाशक राममाणिक्यसेन, कलकत्ता)

---

१. यह प्रकाशित हो चुका है।

४७. प्रयोगसार—(बालतन्त्र में कल्याण द्वारा उद्धृत)—आफ्रेक्ट

४८. प्रयोगामृत—वैद्यचिन्तामणि (जम्मू, ३३०९)

४९. भावसार—श्रीनिधि (का० हि० वि० ५१६४)

५०. भिषक्सर्वस्व

५१. भीमविनोद—(सरस्वतीभवन, ४५१७४; का० हि० वि० सी २५७१

इसके कर्त्ता दामोदर हैं। अध्यायान्त पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ बड़ा और कई खंडों में है जिसका यह चिकित्साखण्ड है।[1] इसमें भावप्रकाश से फिरंग और रसकर्पूर का वर्णन है अतः यह १६वीं शती से बाद का ग्रन्थ है।

५२. मनोरमयोगग्रन्थ—(के० आ० प० ४४३)

५३. मल्लप्रकाश—कायस्थ लोकनाथ (१५६८ ई०)

५४. मुग्धबोध—रघुनन्दन (व० द०)

५५. यशश्चन्द्रिका—पुरुषोत्तम (जम्मू ३२७१; पी० जी० आइ० ३०९)

लेखक पबेठीपुर का निवासी तथा शंकर का पौत्र और ज्ञानकर का पुत्र था।[2]

५६. योगज्ञान—आनन्दसिन्धु (के० आ० प० १०४२)

५७. योगचन्द्रिका—लक्ष्मण (ए० सो० क०, स० भ० ४४८२३, ७३७४१)

राजेन्द्रलालमित्र ने जो सूचना दी है उसके अनुसार लक्ष्मण ब्रह्मज्ञानीवंशीय दत्त का पुत्र था।[3] योगचन्द्रिका पर व्याख्या भी थी (के० आ० प० १०३७)। योगचन्द्रिकाविलास (के० आ० प० १०३९) संभवतः इसकी व्याख्या है।

५८. योगचिन्तामणि—धन्वन्तरि (के० आ० प० १०३९)

५९. योगचिन्तामणि—हरिपाल सुकवि (ए० सो० क०)

६०. योगदीपिका (के० आ० प० १०४१)

६१. योगनिधान (,, १०५१)

६२. योगनिबन्ध (,, १०५०)

यह हरिपालदेव की रचना है।

६३. योगप्रदीप—रामनारायण कण्ठहार (का० हि० वि० सी ५३०५)

६४. योगमञ्जरी (के० आ० प० १०४६)

---

१. इति श्रीदामोदरकृतभीमविनोदे चिकित्साखण्डे एकोत्तरशतज्वरनिदानचिकित्साधिकारः प्रथमः।

२. देखें—प्रियव्रतशर्माः आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें, चौखम्बा, वाराणसी, १९६२.

३. 'इति श्रीमद्ब्रह्मज्ञानिवंशावतंसदत्तसुतलक्ष्मणविरचिता योगचन्द्रिका समाप्तिमगमत्।' —रा० ला० मि० I, १७९)

६५. योगमुक्तावली—वल्लभदेव (वैद्यचिन्तामणि में उद्धृत)[1]
६६. ,, —नागार्जुन (के० आ० प० १०४७)
६७. ,, —हमीरराज (आनन्दाश्रम)
६८. योगरत्न[2]—(वैद्यचिन्तामणि में उद्धृत)
६९. योगरत्नमाला[3]—नागार्जुनकृत, गुणाकरविवृति (१२४० ई०) सहित इस पर अमृतरत्नावली टीका भी है (के० आ० प० १०५५, १०५६)।
७०. योगरत्नावली—नागार्जुन (के० आ० प० १०६०)
७१. योगरत्नावली—दासतनय गंगाधरकृत।

यह अकबर के राज्यकाल में अहमदाबाद में १५७४ ई० में लिखी गई। पूरा ग्रन्थ बारह अध्यायों में है।[4]

७२. योगरत्नसंग्रह (के० आ० प० १०५९)

७३. योगशतक

पाण्डुलिपि-सूचियों में अनेक कर्त्ताओं के नाम से इस ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः यह वररुचिकृत है जैसा टीकाकार के कथन से ज्ञात होता है यद्यपि अन्यत्र कहीं इसका उल्लेख नहीं है। रूपनयन, पूर्णसेन तथा अमितप्रभ की टीकायें इस पर हैं। 'समन्तभद्राय जनाय हेतोः' यह देखकर कुछ लोग भ्रम से समन्तभद्र से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं किन्तु वस्तुतः यह कथन पूर्णसेन टीकाकार का है जो वररुचि को इस ग्रन्थ का कर्त्ता मानता है। अतः समन्तभद्र न तो इसका लेखक हो सकता और न टीकाकार। उपर्युक्त वाक्यांश का अर्थ 'भद्राभिलाषी लोक के लिए' यही हो सकता है।[5] इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आठ अंगों में वाजीकरण के स्थान पर पञ्चकर्म रक्खा है।[6]

आफ्रेक्ट ने इसके अतिरिक्त मदनसिंहकृत तथा लक्ष्मीदासकृत योगशतकों का भी उल्लेख किया। वैद्यनाथपुत्रकृत (के० आ० प० १०७२ तथा वामनकृत (जोधपुर ७२१) योगशतक भी हैं। आनन्दाश्रम, पूना में एक अनन्त योगीश्वरा-

---

१. ऑफ्रेक्ट, जोधपुर (९६४०); के० आ० प० १०४३
२. ऑफ्रेक्ट, दरभंगा, मिथिला शोधसंस्था
३. आफ्रेक्ट
४. राघवन
५. सरस्वतीभवन, ४५१७३; का० हि० वि०, बी० ४२८१, सी० ३१४६, ३८११, ३५६७;
६. शरीरनेत्रव्रणरोहणानि विषाणि भूतानि च बालतन्त्रम्।
रसायनं पञ्चविधं च कर्म अष्टांगमाद्यं कथितं च वैद्यैः॥ १।३

चार्यविरचित योगशतक है जिसकी टीका (आमयचन्द्रिका) नन्दलाल ने की है। चक्रपाणिसुत गोवर्धनकृत टीका को निश्चलकर ने उद्धृत किया है[1]।

७४. योगसमुच्चय—नवनिधिराय (के० आ० प० १०६४)

७५. योगसग्रह—जगन्नाथ (आफ्रेक्ट)—१६१६ ई०

७६. योगसंग्रह (का० हि० वि०, बी. ८९६)

कहीं पुष्पिका में ग्रन्थ का नाम वैद्यकसार ('इति वैद्यकसारे क्षयरोगस्य चिकित्सा') और कहीं 'सुश्रुतसारसंग्रह' (इति सुश्रुतसारसंग्रहः समाप्तः') दिया है। भावप्रकाश से नाडीपरीक्षा उद्धृत की है (अथनाडीपरीक्षा भावप्रकाशे) अतः यह १६वीं शती के बाद का है।

७७. योगसार (का० हि० वि०, बी २०९६)

वाणारतनय दत्त ने इसकी रचना की। इसमें विजयायुक्त मदनमोदक है अतः यह १४वीं शती के बाद का ग्रन्थ है।

७८. योगसारसमुच्चय—गणपति व्यास (आफ्रेक्ट)

७९. „ —शिवदास (स० भ० ४४८०३)

८०. योगसारसंग्रह—तुलसीदास (आफ्रेक्ट)

८१. योगसारावली (के० आ० प० १०६९)

८२. योगसुधानिधि—जगदीशपुत्र बद्रि (बदरी) मिश्र (जम्मू, ३३२०)

८३. योगाञ्जन—मणि ? (आफ्रेक्ट)

८४. योगामृत—गोपालदाससेनकृत (रा० ला० मि०, IV, १६१८)

यह ग्रन्थ शाक सं० १६६३ में लिखा गया।[3] इस पर सुबोधिनी टीका है।[4]

८५. योगोक्तिलीलावती—गोविन्ददेव (स० भ० ४४९१२)

८६. योगोक्तिविवेकचन्द्र—सुन्दरदेव

८७. योगाञ्जन (चिकित्साञ्जन)—उपाध्यायविद्यापति—(पी० जी० आइ १०)

प्रारम्भिक पद्य में इसका नाम योगाञ्जन और अन्तिम पुष्पिका में चिकित्साञ्जन है—'इति श्रीमदुपाध्यायविद्यापतिकृतं चिकित्साञ्जनं समाप्तम्'। उपसंहार-पद्य से ऐसा प्रतीत होता है कि नयनसुखकृत वैद्यमनोत्सव (१६४३ ई०) को यह जानता था।[5] अतः इसका कर्त्ता वही विद्यापति है जिसने वैद्यरहस्य की रचना की है।

---

१. राघवन

२. इसे गोंडल के जीवराम कालिदास ने प्रकाशित किया है (१९२० ई०)।

३. शाके रामाङ्कतर्कक्षितिपरिगणिते मासि शुक्रे वलक्षे···गोपालदासः'

४. आफ्रेक्ट

५. नयनसुखमनोमहोत्सवस्य प्रभवति मूलमिदं मुनिवर्णितैः।
अतिसुभगसिद्धयोगवाक्यैः रचितमतोऽञ्जनमस्तु सर्वतुष्ट्यै ॥ श्लो० ३३२

८८. योगार्णव—(के० आ० प० १०६३)

८९. योगेश्वर—श्यामदत्त (के० आ० प० १०८१)

९०. रत्नमाला[1]—नरसिंह कविराज (स० भ० ४४९९२)

९१. रत्नाकरौषधयोगग्रन्थ—पूज्यपाद (के० आ० प० ६८७, ६८८)

९२. रत्नावली—राधामाधव

९३. रामविनोद—रामचन्द्र पण्डित (जम्मू, ३२४६) पद्मरंगशिष्य[2]

९४ लक्ष्मणोत्सव—लक्ष्मण (पूना, २३४)

इस ग्रन्थ की रचना १४५० ई० में हुई। मथुरा के कायस्थ अमरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मण (रावण के पिता) इसके कर्त्ता हैं। सुश्रुत, भेड, चरक, नित्यनाथ आदि के ग्रन्थों को देखकर यह ग्रन्थ लिखा गया[3]। ६४ अध्यायों का यह गन्थ महमं (मू) द खाँ के राज्यकाल में लिखा गया।

सरस्वतीभवन, वाराणसी की पाण्डुलिपि (४४८७३) में लेखक का नाम लक्ष्मणसेन है। यह सम्भव है कि सेनवंश के प्रसिद्ध राजा लक्ष्मण.सेन के काल में भी कोई लक्ष्मणोत्सव लिखा गया हो।

९५. लङ्कावतार (तान्त्रिक चिकित्साग्रन्थ)—९०८ ई०

९६. लघुचिकित्साचिन्तामणि (के० आ० प० ४०९)

९७. विद्याप्रकाशचिकित्सा—धन्वन्तरिकृत (रा० ला० मि०, IV, १४४६)

९८. विद्वन्मुखमण्डन (सारसंग्रह)—विनयमेरु (के० आ० प० ९९४)

९९. विवेकचन्द्र—(के० आ० प० १००९)

१००. विश्ववल्लभ—चक्रपाणिमिश्र (जोधपुर ४९०९)

१०१. वीरभट्टीय—रेवनसिद्ध (के० आ० प० ९९८)

१०२. वीरमित्रोदय—मित्रमिश्र (१६०२ ई०[4])

१०३. वीरवैद्यरत्नहार—सालिग्राम पण्डित (जम्मू ३२१०)

१०४. वीरहारलतिका—दिल्लारामपुत्र काश्मीरक (जम्मू, ३२११)

---

१. गोपालदास ने इसे उद्धृत किया है (राघवन)

२. के० आ० प० (५९४) में रामविनोद का कर्त्ता रामचन्द्रमिश्र केशवदास का शिष्य कहा गया है।

३. दृष्ट्वा सुश्रुतवाग्भटात्रिचरकाचार्योदिताः संहिता,
मेडाचार्यमितं विलोक्य बहुशः श्रीनित्यनाथादिभिः।
प्रोक्तं चापि विचार्य सर्वमखिलं सारं गृहीत्वा ततो
ग्रन्थं नाम सुलक्ष्मणोत्सवमिमं ब्रूते सुधीर्लक्ष्मणः॥

४. जीवानन्द, कलकत्ता (१८७५ ई०) तथा चौखम्बा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित।

१०५. (वैद्यक) चिकित्सासारकौमुदी (के० आ० प० ८३८)
१०६. वैद्यकरत्नमालिका (दरभंगा)
१०७. वैद्यकल्प (दरभंगा ८९३)
१०८. वैद्यकल्पतरु—सैंगनाथपुत्र मल्लिनाथ (जम्मू, ३२४४)
१०९. वैद्यकल्पतरु—केशवपंडितपुत्र, मल्लरि पण्डित—(के० आ० प० ८९७)
११०. वैद्यकल्पद्रुम (दरभंगा ८९५)
१११. वैद्यकल्पद्रुम--रामचन्द्रवैद्य (स० भ० ४५१६८)
११२. वैद्यकल्पद्रुम—शुकदेव (स० भ० ४५३३६)
११३. ,, —रघुनाथप्रसाद
११४. वैद्यकसर्वस्व—महेशचन्द्र (ए० सो० क०)
११५. वैद्यकसार (शंकराख्य)–(का० हि० वि०, सी० १९७७)

सप्तशृङ्गस्थित देवी की आराधना कर यह ग्रन्थ पांच अध्यायों में लिखा गया है। इसका लेखक शंकर सम्भवतः इसी प्रदेश का निवासी था। इसने मतिमुकुर को उद्धृत किया है।

११६. वैद्यकसार-राम (हिन्दीटीकासहित बम्बई से प्रकाशित, १८९६ ई०)
११७. वैद्यकसारसंग्रह—बल्लाल (के० आ० प० ९१२)
११८. ,, —व्यासगणपति (,, ९११)
११९. वैद्यकसारोद्धार (सटीक)—(स० भ० ४५१०१)
१२०. वैद्यकुतूहल—वंशीधर—(,, ४४९१७)
१२१. वैद्यचन्द्रोदय—त्रिमल्ल—(,, ४५१६७;)
आनन्दाश्रम, पूना में इसकी तीन पाण्डुलिपियाँ हैं।
१२२. वैद्यचिकित्सामृत (के० आ० प० ८७४)
१२३. वैद्यचिन्तामणि—यशवन्त (के० आ० प० ८७५)
इसका निर्माणकाल शाक सं० १७१४ है।
१२४. वैद्यतंत्र (प्राकृत)—(आनन्दाश्रम)
१२५. वैद्यदर्पण—प्राणनाथ (स० भ० ४५१६६)
इसकी एक सटीक प्रति (स० भ० ४४९८८) तथा हिन्दीटीकासहित प्रति (के० आ० प० ८७८) भी है।

१२६. वैद्यप्रदीप—हिमकरसुत उद्धवमिश्र—(के० आ० प० ९३५)
१२७. वैद्यभास्करोदय—धन्वन्तरि (स० भ० ४४८८१; ८३६२६)
१२८. वैद्यमुक्तावली—माणिक्यचन्द्रसुत मौक्तिक (का० हि० वि०, बी ३८०१)
यह लेखककृतटीकासहित है।
मौक्तिक (मोतीराम) रामनाथ का शिष्य था। अन्त में लेखक ने अपनी

वंशावली दी है जिसमें पौत्र का नाम सदानन्द कहा है। लेखक ने नाडीप्रकाश, भावप्रकाश, हिकमतप्रकाश आदि ग्रन्थों को उद्धृत किया है अतः यह ग्रन्थ हिकमतप्रकाश के बाद का ही है। इस पाण्डुलिपि का काल सं० १९०८ है।

१२९. वैद्यरत्न—गोस्वामी शिवानन्दभट्ट (के० आ० प० ९४०)

यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है (व० द०)। इसका हिन्दी छन्दों में संस्करण गोस्वामी जनार्दनभट्टकृत है (पी० जी० आइ० १७)।

१३०. वैद्यरत्नावली—रामानुज यतिवर (स० भ० ४५२७४)

बंगला में भी एक वैद्यकरत्नावली है (के० आ० प० ९०२)

१३१. वैद्यरसायन—(आनन्दाश्रम)

१३२. वैद्यवल्लभ—लक्ष्मणसूरि (के० आ० प० ९५५)

१३३. „ —मैथिल हरिहर („ ९५६)

वैद्यवल्लभविवृति कृष्णपुत्र नारायणकृत का भी निर्देश है (जम्मू, ३१५७)।

१३४. वैद्यविद्याविनोद—धन्वन्तरि (जम्मू, ३३२६)

१३५. वैद्यविनोद—अकलङ्क स्वामी (के० आ० प० ९६२)

१३६. वैद्यविनोदसार—महादेवभिषक्—(„ ९६६)

१३७. वैद्यसंक्षिप्तसार—सोमनाथ महापात्र (व० द०)

१३८. वैद्यसंग्रह—गोपालदास (व० द०)

१३९. वैद्यसर्वस्व—लक्ष्मणसुत मनु (स० भ० ४५१६४, जम्मू ३३४६)

१४० „ —काशीराम (के० आ० प० ९४८)

१४१. वैद्यकसार—पुरुषोत्तम („ ९०५)

१४२. „ —राम („ ९०६)

१४३. वैद्यसार—सीताराम सोमनाथ (आनन्दाश्रम)

१४४. वैद्यकसारसमुच्चय—शिवराम कायस्थ (के० आ० प० ९०९)

१४५. वैद्यसौख्य („ ९५०)

१४६. वैद्यहृदयानन—नीलकण्ठसुत योगिप्रहरज (के० आ० प० ८८२)

इसने वैद्यालंकार की भी रचना की।

१४७. वैद्यामृत—नारायण (सिंहजी)

१४८. वैद्यामृतमञ्जरी—मथुरानाथ शुक्ल (व० द०)

१४९. वैद्यादर्श—गोकुलनाथ (के० आ० प० ८७९)

१५०. व्याधिनिग्रह—विश्राम (जोधपुर, ४१६१)

पीताम्बरशिष्य विश्राम ने अनुपानमञ्जरी भी लिखी है। व्याधिनिग्रह सं० १८३९ में लिखा गया। के० आ० प० (१०२६) की पाण्डुलिपि स्तबकसहित है।

१५१. व्याधिविध्वंसिनी—भावसिंह—(जोधपुर, २९३३)

यह भावसिंह संभवतः शार्ङ्गधरदीपिकाकार आढमल्ल का पिता है।

१५२. शतौषधानि (के० आ० प० ७९३)

१५३. शतयोगग्रन्थ („ ७९४)

१५४. सद्योगकण्ठिका – वेहिथदेव (स० भ० ७९१५३)

१५५. सद्योगचिन्तामणि—रामेश्वर (के० आ० प० ७१८)

१५६. सद्वैद्यभावावली—जगन्नाथ गुप्त (व० द०)

१५७. सहस्रयोग—(के० आ० प० ७२०)

१५८. साध्यरोगरत्नावली—श्यामलाल (व० द०)

१५९. सारकलिका—उदयकर (के० आ० प० ७३६)

१६०. सारकौमुदी („ ७३७)

१६१. साररत्नावली—गणेश (स० भ० ४५१३८)

१६२. सारसंग्रह—गण (जम्मू, ३२५२)

१६३. सारावली—शिवदास (जम्मू ३७६३)

१६४. सिद्धयोगमाला—(के० आ० प० ८१७)

१६५. सिद्धयोगरत्नावली („ ८१८)

१६६. सिद्धयोगसमुच्चय („ ८१९)

१६७. सूचमप्रसार (का० हि० वि०, सी १५०)

यह पाण्डुलिपि शारदालिपि में है।

१८६. हरमेखलातन्त्र[1]— माहुक (पी. जी. आइ, ५)—९६५ ई०[2]

१६९. हरिवन्दनसंग्रह—दामोदरमिश्र (स० भ० ४४८०६)

१७०. हितोपदेश—श्रीकण्ठशंभु (के० आ० प० ३२९)

कहीं वैद्यहितोपदेश भी यह कहा गया है (के० आ० प० ८८१)। लेखक का नाम कहीं शिवपण्डित (जोधपुर, ६८०१) और कहीं शिवचन्द्र परमशैवाचार्य (जोधपुर ९०४३) है। वनौषधिदर्पण में बाल स्त्री-विषरोगविषयक एक हितोपदेश है जिसका लेखक श्रीकान्तदास कहा गया है। हितोपदेश खेमराज, बम्बई से प्रकाशित है।

विशिष्टरोग-सम्बन्धी ग्रन्थ

सामान्यतः सभी रोगों पर संग्रहग्रन्थ के अतिरिक्त एक-एक रोग पर भी निदान-चिकित्सा के ग्रन्थ लिखे गये। इनमें ज्वर की प्रधानता के कारण ज्वर पर उसमें भी सन्निपात के सर्वोपरि महत्त्व के कारण सन्निपात पर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। निम्नांकित ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—

१. त्रिवेन्द्रम से दो खण्डों में प्रकाशित।
२. जौली।

१. ज्वरसमुच्चय—काश्यपसंहिता के उपोद्घात (पृ० १४-१५) में पण्डित हेमराज शर्मा ने लिखा है कि ज्वरसमुच्चय की रचना एक सहस्र वर्ष पूर्व हुई होगी। इसमें प्राचीन संहिताओं के ज्वरसंबन्धी वचन संकलित हैं। इसके अनुसार इसका काल ९वीं या १०वी शती होगा।

२. त्रिशती—तीन सौ तीस पद्यों में ज्वर की निदान-चिकित्सा का वर्णन है। इसके कर्त्ता देवराजपुत्र शार्ङ्गधर हैं। यह नागरवंशीय गुजरात के निवासी थे[१] और यतिवर वैकुण्ठाश्रम के शिष्य थे[२]। इसमें अहिफेन का प्रयोग है। भावप्रकाश (१६वीं शती) में इसके वचन उद्धृत हैं अतः यह उससे पूर्व १५वीं शती का होगा। यह शार्ङ्गधरसंहिताकार भिन्न है।

इसकी संस्कृत टीका (वैद्यवल्लभा) वैद्यवल्लभभट्ट ने की है[३] जिसमें चक्रपाणि, विजयरक्षित, आढमल्ल के अतिरिक्त लक्ष्मणोत्सव के वचन उद्धृत हैं (श्लोक २०)। इस टीका के साथ त्रिशती का एक संस्करण खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से सं० १९६८ में प्रकाशित हुआ है। इसमें साथ-साथ किशोरीवल्लभविरचित भाषाटीका भी है। इस पर कोई दासपंडित की भी टीका है।[४]

३. ज्वरतिमिरभास्कर—कायस्थचामुण्ड (स० भ०, ४४८९९)

कृष्णपुत्र चामुण्ड नैगम कायस्थ था और राजस्थान में योगिनीपत्तन (आधुनिक जावर, उदयपुर के पास) का निवासी था। महाराणा कुम्भा के पुत्र रायमल्ल या राजमल्ल का दरबारी था[५]।

ज्वरतिमिरभास्कर सोलह अध्यायों में है। इसकी रचना १४८९ ई० में हुई। मोतीलाल बनारसीदास (लाहौर) ने नानकचन्द्र शास्त्री की हिन्दी टीका के साथ १९३६ ई० में छपवाया गया था।

कायस्थचामुण्ड की दो और रचनायें हैं—वर्णनिघण्टु और रससंकेतकलिका।

४. ज्वरनिर्णय—कृष्णपण्डितपुत्र नारायणकृत (के० आ० प० ३४७); ज्वरनिर्णयटीका (के० आ० प० ३४८)

---

१. सुधीरभूत् संसदि भूपतीनां सम्मानभाङ्नागरवंशजन्मा।
दोषज्ञमान्यः सुकविः कलावान् दयानिधानं भुवि देवराजः॥
तस्यात्मजः शार्ङ्गधरस्त्रिलोकीपतिं त्रिनेत्रं त्रिपुरां च शश्वत्
ध्यायन्निमां वैद्यमुदे त्रिदोषज्वरच्छिदे च त्रिशतीं चकार॥

२. श्लोक ४

३. जम्मू, ३२५७ में कृष्णपुत्र मेघभट्ट द्वारा रचित यह टीका कही गयी है। सम्भव है, वैद्यवल्लभ के पिता का नाम कृष्ण हो।

४. के. आ. प. ८५९

५. वर्णनिघण्टु में उसने अपने को करणाग्रणी (महालेखापाल) कहा है।

५. ज्वरपराजय—जयरविकृत (के० आ० प० ३५१)

इसकी रचना १७९४ ई० में हुई[1]।

६. गदांकुश (सर्वज्वरचिकित्सा)

नेपाली अनुवाद के साथ बनारस से १८९२ ई० में प्रकाशित हुआ था[2]।

७. सन्निपातार्णव (के० आ० प० ७३५)

८. सन्निपातार्णव-व्याख्या (सन्निपातचन्द्रिका)—पद्मनाथपुत्र माणिक्यकृत (के० आ० प० ७३४)

९. सन्निपातचिकित्सा (के० आ० प० ७२५)

१०. सन्निपातकलिका[3]—अश्विनौ (के० आ० प० ७२७)

११. ,, —धन्वन्तरि (,, ७२८)

१२. ,, —मथनसिंह वैद्य (,, ७२९)

१३. सन्निपातनिदानचिकित्सा (,, ७३१)

१४. सन्निपातलक्षणचिकित्सा (,, ७३०)

१५. सन्निपातमञ्जरी—गोविन्द वापट (स० भ० ४५३७७)

१६. अजीर्णमञ्जरी—काशीनाथ (स० भ० ४४८८३)

इसका नाम अमृतमञ्जरी भी है जैसा कि इसके उपसंहारपद्य से प्रकट होता है[4]। काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में एक पाण्डुलिपि (सी ३७८६) राजानक भगवन्तकृत सुबोधिनी व्याख्या के साथ है। इसका लिपिकाल सं० १८८३ है।

१७. अर्शोघ्नसुधाकर या विचारसुधाकर—रंगज्योतिर्विद् (के० आ० प० ९९२)

इसका लेखक छठे पेशवा, रघुनाथ राव के काल में हुआ था।

आधुनिक काल में भी अनेक ग्रन्थ विशिष्ट रोगों पर प्रकाशित हुये हैं यथा—

१. ज्वरमीमांसा—हरिशरणानन्द

२. मंथरज्वरविज्ञान—हरिशरणानन्द

३. ज्वरविज्ञान—कालेड़ा (अजमेर)

४. कैंसरचिकित्सा—प्रभाकर चटर्जी, कलकत्ता

५. त्वचारोगचिकित्सा—अमरनाथ शास्त्री, पटियाला (१९६४ ई०)

---

१. सिंह जी

२. राघवन

३. का० हि० वि० में एक पाण्डुलिपि (सी ३८१०) सन्निपातकलिकाचिकित्सा नाम से हिन्दीटीकासहित है। इसका लिपिकाल स० १९०३ है।

४. तत्तनूमहाजीर्णविनाशकर्त्री जीयाच्चिरायामृतमञ्जरीयम्।
सदा सदानन्दमयीमसन्तो घुणा इवैनामवधीरयन्तु ॥—पी. जी. आइ. २; और भी देखें—जम्मू, ३१६१

६. राजयक्ष्माचिकित्सा—पारसनाथ पाण्डेय, सीतामढ़ी (विहार)
७. प्लीहारोगचिकित्सा—विश्वेश्वरदयालु वैद्य, बरालोकपुर, इटावा, (१९२५ ई०)
८. मधुमेह-निदान और उपचार—महेन्द्रनाथ पाण्डेय, इलाहाबाद (१९६५ ई०)
९. अम्लपित्त-प्रकरणम्—संपादक, रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी। प्रकाशक—श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेदभवन, (१९७२ ई०)। यह ७ से १६ जून १९६८ तक संपन्न शास्त्रचर्चा-परिषद् की गोष्ठियों का विवरण है।
७. उपदंशविज्ञान—बालकराम शुक्ल

मानसरोग पर कम ही ग्रन्थ लिखे गये। इस दिशा में डा० बालकृष्णजी अमर पाठक, प्राचार्य, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय ने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'मानसरोगविज्ञान'[1] लिखकर पहल की। यह एक प्रकार से मानसरोगविवेचन के लिए प्रौढ पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई थी किन्तु स्रष्टा के अकालकवलित हो जाने के कारण भवन का निर्माण न हो सका।

इस विषय पर पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल की भी पुस्तक है जिसमें मानसरोगों का निदान और चिकित्सा दोनों है।

वैद्यक-काव्य

आयुर्वेद के प्राचीन और नवीथ ग्रन्थ अधिकांश पद्यबद्ध हैं जिनमें विविध छन्दों का विन्यास कवित्वमयी शैली में किया गया है। इनके द्वारा रचयिताओं के कवि-हृदय की झलक मिलती है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि की रचनाओं में अनेक ऐसे पद्य देखे जा सकते हैं जो कवित्व की दृष्टि से उत्कृष्ट नमूने हैं। प्राचीनतम उपलब्ध संग्रहग्रन्थ 'नावनीतक' में भी रसोन का वर्णन कवित्वपूर्ण है। आगे चलकर इस प्रवृत्ति ने एक विशेष दिशा ग्रहण की जिसमें वैद्यक के साथ-साथ कवित्व का विशेष पुट या चमत्कार रहने लगा। ऐसे ग्रन्थों के रचयिता भी अपने को कवि कहने में गौरवान्वित एवं विशिष्ट समझते थे। ऐसी रचनाओं को 'वैद्यक-काव्य' कहना समीचीन है। इनमें कुछ प्रमुख कृतियों का उल्लेख यहाँ किया जायगा।

१. वैद्यजीवन

वैद्यककाव्यों में यह सर्वाधिक प्रचलित हुआ। इसका कारण उत्तम चिकित्सा-योगों के साथ-साथ पद्यों का लालित्य एवं मनोहारिता है। इसके रचयिता लोलिम्ब-राज दिवाकर भट्ट के पुत्र[2] पूना जिले में जुन्नार नामक स्थान के निवासी थे। किसी सूबेदार की कन्या सुरासा से इनका विवाह किया था। सम्भवतः रत्नकला उसी का दूसरा नाम हो या इस नाम की कोई अन्य प्रेयसी या पत्नी हो जिसे संबोधित कर पद्यों की रचना हुई है। यह महाराष्ट्र की सप्तश्रृंगस्थ देवी के आराधक थे।

१. प्रकाशक—श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेदभवन, १९४९ ई०
२. आदि-अन्त के श्लोकों में इसका उल्लेख हुआ है।

वैद्यजीवन के अतिरिक्त इनकी निम्नांकित रचनायें हैं—

१. वैद्यावतंस (मोतीलाल बनारसीदास, १९६७)

२. चमत्कारचिन्तामणि (सम्पादक, ब्रह्मानन्दत्रिपाठी, चौखम्बा, वाराणसी, १९७३)

३. हरिविलास

मराठी में निम्नांकित ग्रन्थ हैं—

४. रत्नकलाचरित

५. लोलिम्बराज आख्यान

६. लोलिम्बराज वैद्यककाव्य

वैद्यजीवन पर टीकायें

अनेक परवर्ती वैद्य पण्डितों ने अपने पाण्डित्य को निखारने के लिए टीका के लिए इस ग्रन्थ को चुना। अतः विभिन्न भाषाओं में इस पर अनेक टीकायें लिखी गयीं।

१. गूढार्थदीपिका—गोस्वामी हरिनाथकृत। यह सं० १७३० में लिखी गई। लेखक वितस्ता (झेलम) के तट पर स्थित कुशपुर नामक स्थान का निवासी था।[1] हरिनाथ लक्ष्मीदास का पौत्र और मनोहर का पुत्र था।

२. दीपिका—कोनेरिभट्टसुत रुद्रभट्टकृत गोदावरीतट पर स्थित खट्टेटकनगरवासी रुद्रभट्ट ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है[2]—

माण्ड (रामदेवनृप का आश्रित)
|
श्रीकृष्ण (वैद्य, चरकभाष्य एवं साहित्यसुधासमुद्र ग्रन्थों का प्रणेता)
|
हरिभट्ट (वैद्य)
|
नारायण (ओंकारग्रन्थकर्ता) — विष्णु
|
कोनेरिभट्ट (ग्रन्थः कृतो येन च लक्षसंख्यः)
|
रुद्रभट्ट

---

१. श्रीमद्भूपतिविक्रमाब्दगणना संवह्निसप्तेन्दुभि-
र्मासेभाद्रपदे सितेऽष्टमतिथौ वारे हिमांशोरियम्।
टीका वैद्यकजीवनस्य रचिता श्रीनाथगोस्वामिभिः
वैतस्त्यं तटमास्थिते कुशपुरे धार्या भिषग्भिः सदा॥
—का० हि० वि०, ३७८५ (लिपिकाल, सं० १८५५)

२. का. हि. वि., बी० २७७८

कोनेरिभट्ट अबदुर्रहीम खानखाना (१५५७-१६३० ई०) का राजवैद्य था।[1] अतः रुद्रभट्ट का काल १७ वीं शती का उत्तरार्ध है। रुद्रभट्ट ने पाँच ग्रन्थों पर टीका लिखी (टीका कृता येन च पंचसंख्या[2])। शार्ङ्गधरसंहिता पर भी इसकी टीका है।

रुद्रभट्ट ने निम्नांकित रचनाओं एवं आचार्यों को उद्धृत किया है—

१. रत्नप्रभाकार (निश्चलकर) १।२९
२. वाग्भट ,,
३. विश्वकोष—१।३१
४. अमर—१।३२
५. निघण्ट—१।६३, १।६७
६. वंगसेन—१।६३; २।५; हिक्का १
७. वृन्द—ग्रहणी, १
८. अमितप्रभ—ग्रहणी, २
९. चक्रदत्त—प्रदर, ४
१०. आयुर्वेदसार—हिक्का, १

रुद्रभट्ट आयुर्वेद के साथ-साथ संस्कृत का उद्भट विद्वान था।

३. विद्वद्वैद्यरञ्जनी (के० आ० प० ९९३)
४. कृष्णपण्डितीय (,, ८८३)
५. यतिवर्यसुखानन्दकृत दीपिका

सुखानन्द ने अपनी टीका श्रीनाथजी के चरणों में समर्पित की है। सम्भवतः यह राजस्थानी थे। यह परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीहरिहरानन्द भारती के शिष्य थे। इस टीका की रचना सं० १९२० में हुई[3]।

इस टीका में विश्वकोष, मार्कण्डेयपुराण, मत्स्यपुराण, वंगसेन, चक्रदत्त, मेदिनीकार, भावप्रकाश, माण्डवीय, माधवकर, चरक, जेज्जट, हेमचन्द्र, चक्रपाणिदत्तमिश्र आदि उद्धृत हैं।

---

१. अपने पिता कोनेरभट्ट या कौणेरभट्ट का उल्लेख मंगलाचरण और अध्यायान्त पुष्पिकाओं में किया है।

२. मिर्जाखाँनियोगेन टीकाः पञ्च मया कृताः।
तेन पुण्येन सकलं जगदस्तु निरामयम्॥

३. इस टीका तथा पं० मिहिरचन्दकृत भाषाटीका के साथ एक संस्करण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं० १९६७ और पुनः१९७७ में छपा। बनारस से संस्कृत और हिन्दी टीकाओं के साथ १८८० ई० में निकला। १९११ ई० में हिन्दी टीकासहित कानपुर से प्रकाशित हुआ। बनारस से पुनः १९३७ में मास्टर खेलाड़ीलाल और १९४० में चौखम्बा से हिन्दी टीका के साथ निकला।

उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त, प्रयागदत्त, भवानीसहाय, दामोदर, भगीरथ आदि विद्वानों ने इस पर टीका लिखी है। गुजराती में इसका पद्यानुवाद प्राणलाल बलदेवजी मुंशी ने किया जो बम्बई से १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ।

लोलिम्बराज का काल

लोलिम्बराज को त्रिमल्लभट्ट ने योगतरंगिणी में उद्धृत किया है। त्रिमल्लभट्ट का काल १६५० ई० के आसपास है अतः लोलिम्बराज इससे पूर्व होंगे। वह महाराज हरिहर का आश्रित था तथा उसकी आज्ञा से हरिविलास काव्य बनाया[1]।

जॉली ने १६०८ ई० की एक पाण्डुलिपि का उल्लेख किया है किन्तु उपर्युक्त साक्ष्य के समक्ष इसकी प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

लोलिम्बराज को भावमिश्र तथा त्रिमल्लभट्ट के बीच में अर्थात् १७वीं शती के प्रथम चरण में १६२५ ई० के लगभग रखना चाहिए।

२. वैद्यकौस्तुभ

यह शूकरक्षेत्रनिवासी वैद्य मेवाराममिश्र की रचना है। लेखक ने इसे चित्रकाव्य कहा है[2]। मेवाराममिश्र के गुरु लक्ष्मण थे।[3] वैद्यजीवन की तुलना में यह काव्य क्लिष्ट है संभवतः इसी कारण इसका उतना प्रचार न हो सका।

पूरा ग्रन्थ सोलह सर्गों में विभक्त है। फिरंगरोग का उल्लेख है और उसकी चिकित्सा में पारद, चोपचीनी और अकरकरा का प्रयोग है। कुछ पद्य लोलिम्बराज के अनुकरण पर हैं[4] अतः यह स्पष्ट है कि वैद्यकौस्तुभ की रचना वैद्यजीवन के बाद हुई।

यह ग्रन्थ १९२८ ई० में छपा।

३. वृत्तमाणिक्यमाला—त्रिमल्लभट्टकृत[5]

त्रिमल्लभट्ट भी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। यों तो उनकी सभी रचनाओं में प्रौढ कवित्व के दर्शन होते हैं तथापि इस ग्रन्थ में उनकी प्रतिभा विशेष रूप से स्फुरित हुई है।

---

१. 'इति श्रीमत्सूर्यपण्डितकुलालंकार-श्रीहरिहरमहाराजाधिराजद्योतित-लोलिम्बराज विरचितं हरिविलासकाव्यं सम्पूर्णम्—(रा० ला० मि० I, ८३)

२. श्रीमेवाराममिश्रेण शूकरक्षेत्रवासिना। सतां प्रीत्यै चित्रकाव्यः कृतोऽयं वैद्यकौस्तुभः। —१६।६०

३. १।२

४. 'श्रीखण्डमण्डितकुचस्थलनीरजानाम्' —वैद्यकौस्तुभ   'श्रीखण्डपण्डितकलेवरवल्लरीणाम्' —वैद्यजीवन

५. के० आ० प०, १०२२

४. वृत्तरत्नावली—मणिरामकृत[1]

इसमें प्रत्येक रोग का वर्णन पृथक्-पृथक् छन्दों में किया गया है। इसका रचनाकाल १६४१ ई० कहा जाता है।

५. वैद्यविलास—कविराघवकृत[2]

लेखक का नाम कहीं रघुनाथ पण्डित भी दिया है।[3] इसका काल १६९७ ई० है। यह प्रकाशित हो चुका है। ग्रन्थ में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है और कुल १० सर्ग हैं। इसमें धातुओं का शोधन-मारण, रसौषधियाँ, पाक, भाँग, अफीम, शंखद्राव आदि का वर्णन है।

६. सिद्धभैषज्यमञ्जूषा—जयदेवशास्त्रीकृत (१९३२)।

७. जीवानन्दन—आनन्दरायमखीकृत

आनन्दरायमखी का पिता नरसिंहराय तञ्जोर के महाराजा शाहजी (१६८४-१७१७ ई०) और सरफोजी (१७११-१७२० ई०) का मन्त्री था। आनन्दरायमखी की मृत्यु तुकोजी प्रथम के राज्यकाल (१७२९-१९३५ ई०) के अन्त में हुई। आनन्दराय सम्भवतः इन राजाओं का धर्माधिकारी था।

यह नाटक सात सर्गों में है जिसमें नाटकशैली से चिकित्सा के तथ्यों का सजीव चित्रण किया गया है। पात्रों में एक ओर जीव, बुद्धि, विज्ञान-ज्ञान, राजमृगांक, पूर्णचन्द्रोदय आदि औषधियाँ हैं तो दूसरी ओर राजयक्ष्मा, विषूचिका, पाण्डु, सन्निपात आदि रोग हैं। नाटक अतीव रोचक तथा तत्कालीन स्थिति का द्योतक है।

इसका प्रकाशन पहले निर्णयसागर और जयपुर से हुआ था। १९५५ ई० में अत्रिदेवकृत हिन्दीटीका के साथ पुस्तकभवन, बनारस ने प्रकाशित किया।

८. दिल्लगन चिकित्सा

यह हिन्दी छन्दों में हठीसिंहसुत सीताराम द्वारा विरचित है। यह गौड़ ब्राह्मण सहनपुर का रहनेवाला था। संवत् १८७० में ग्रन्थ की रचना हुई। जैसे लोलिम्बराज ने रत्नकला को संबोधित कर पद्यों की रचना की है वैसे ही प्रस्तुत लेखक ने दिल्लगन को संबोधित किया है जो उसकी काल्पनिक प्रेयसी थी[4]। क्या पता, लोलिम्बराज की रत्नकला भी ऐसी ही हो। यह ग्रन्थ छप चुका है।

९. कूटमुद्गर—माधवकृत

---

१. ए० सो० क० (१२१२), लिपिकाल सं० १८६८

२. के० आ० प०, ९६०, ९६१; का० हि० वि०, सी० १९८५

३. 'इति श्रीवैद्यविलासे महाकाव्ये कविकुलावतंसरघुनाथपंडितकृतौ द्वितीयः सर्गः।'

४. और भरम भूलो मत कोई सुन दिल्लगन पियारी।
है दिल्लगन उर्वशी नभ की सुन्दर कुदरत न्यारी॥
आवे इकली और न कोई निशा समय वह बाला।
किये श्रृंगार अभरण बतीसो ओढ़े सुरस दुशाला॥

इसे काव्य तो नहीं कह सकते, एक प्रहेलिकामय रचना है।

अनुपान तथा पथ्यापथ्य

आयुर्वेदीय चिकित्सा में अनुपान तथा पथ्यापथ्य का विशेष महत्त्व है। अतः इन पक्षों पर भी वाङ्मय की रचना समय-समय पर हुई है।

अनुपान के विषय में निम्नांकित ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—

१. अनुपानमञ्जरी—विश्रामकृत

यह ग्रन्थ १९७२ में सम्पादित होकर गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। आचार्य विश्राम कच्छप्रदेश (गुजरात) के अंजार नामक नगर के निवासी थे। इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं अनुपानमंजरी और व्याधिनिग्रह। ये दोनों ग्रन्थ १८वीं शती के अन्तिम चरण में लिखे गये।[१]

यह ग्रन्थ पांच समुद्देशों में विभक्त है। इसमें अहिफेन, दन्तीबीज, भंगा, यशद आदि के साथ प्लेग का भी उल्लेख है। इसमें सामान्य अनुपान का विवरण न होकर धातु-उपधातु तथा विषों के विकारों की शान्ति के लिए सामान्य प्रयोग बतलाये गये हैं[२]। इन अनुपानों का यदि सेवन कराया जाय तो ये विकार उत्पन्न नहीं होंगे और यदि उत्पन्न हुये हैं तो शान्त हो जायेंगे।

२. अनुपानतरंगिणी—रघुनाथप्रसाद

३. अनुपान-विधि—श्यामसुन्दराचार्य वैश्य

(श्यामसुन्दर रसायनशाला, वाराणसी द्वारा प्रकाशित)

४. अनुपानकल्पतरु—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल

५. अनुपानदर्पण

पथ्यापथ्य के सम्बन्ध में निम्नांकित ग्रन्थ प्रमुख हैं—

१. पथ्यापथ्य

द्विवेदिकेशवप्रसाद शर्मा विरचित पथ्यापथ्य भाषाटीकासहित खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से सं० १९५३ में प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ या पुष्पिका में कहीं लेखक का नाम नहीं है। का० हि० वि०, (सं० २७११) पाण्डुलिपि में लेखक का नाम शिवदास दिया है—'इति श्रीशिवदासविरचिते सर्वरोगे पथ्यापथ्याधिकारः।' इसका लिपिकाल सं० १९१९ है। यहीं की पाण्डुलिपि सं० ३७०८ तथा ३७५३ का लिपिकाल क्रमशः सं० १८७२ और सं० १८७१ है। ये दोनों राजस्थान (रनथंभौर) के निकट माधवपुर में लिखित हैं।

---

१. अनुपानमंजरी सं० १८२४ में तथा व्याधिनिग्रह सं० १८३९ में लिखा गया।

२. धातुस्तथोपधातुश्च विषं स्थावरजंगमम्।
तद्विकारस्य शान्त्यर्थं वक्ष्येऽनुपानमञ्जरीम्॥—१।२

२. पथ्यापथ्यविनिश्चय

इसके कर्त्ता विश्वनाथसेन उड़ीसा के महाराज प्रतापरुद्र गजपति के चिकित्सक थे[1]।

३. लंघनपथ्यनिर्णय

यह दयातिलकोपाध्याय के शिष्य दीपचन्द्र वाचक की रचना है। इस ग्रन्थ में प्रारम्भिक पद्य[2] हंसराजनिदान के हैं। यह संवत् १७९२ में जयसिंह के राज्यकाल में जयपुर में लिखा गया[3]।

इसमें निम्नांकित ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का उल्लेख है :—

१. वैद्यविनोद	१०. वाग्भट	१९. चक्रदत्त
२. गारुडीसंहिता	११. सुश्रुत	२०. वृन्द
३. वैद्यसंजीवन (वैद्यजीवन)	१२. लक्ष्णोत्सव	२१. भेड
४. चिकित्सारत्नभूषण	१३. चरक	२२. माधवनिदान
५. हारीत	१४. वृद्धसुश्रुत	२३. टोडरानन्द
६. चिकित्सामृतसागर	१५. वैद्यसारसंग्रह	२४. वृद्धवृन्द
७. दामोदरग्रन्थ	१६. हितोपदेश	२५. सिद्धान्तशिरोमणि
८. ज्वरतिमिरभास्कर	१७. भिषक्चक्रचित्तोत्सव	२६. सुषेणग्रन्थ
९. भावप्रकाश	१८. वंगसेन	२७. सूपकारग्रन्थ
		२८. क्षेमकुतूहल

४. लंघनपथ्यनिर्णय—लक्ष्मीनाथकृत (के० आ० प० ४१०)

५. पथ्यापथ्य—रघुदेवकृत (रा० ला० मित्र, II, ५६७)

यूनानी वैद्यक

मुसलमानी हकीमों के संपर्क से वैद्यों ने उनकी विशिष्ट चिकित्साविधियों और औषधों को तो आत्मसात् किया ही, उनके शास्त्रीय विषयों को संस्कृत छन्दों में बाँध

---

१. व० द०

२. आत्रेयधन्वन्तरिसुश्रुतानां नासत्यहारीतकमाधवानाम्'।

३. द्विनन्दमुनिभूवर्षे मासे च माघसंज्ञके।
शुक्ले च प्रतिपदायां वारे च भृगुवासरे ॥
सम्पूर्णः क्रियते ग्रन्थः निर्णयः पथ्यलंघनम्।
श्रीजैपुरे महाराजे राज्ये जैसिंहभूपके॥
......वाचकदीपचन्द्रेण एकत्रीकृत्य शास्त्रतः।
...............कृतोऽयं पथ्यनिर्णयः ॥

—का० हि० वि०, सी ३७९२ (लिपिकाल सं० १८६९)

कर संस्कृतीकरण का भी प्रयास किया। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य नृसिंहदेव-पौत्र, बालकृष्णदेवपुत्र महादेव ने किया। उन्होंने दो ग्रन्थ लिखे जिनमें यूनानी चिकित्सा के सिद्धान्तों, द्रव्यगुण तथा औषधयोगों का वर्णन किया। पहला ग्रन्थ हिकमतप्रकाश है जिसकी रचना सं० १८३० में हुई[1] (३।६८९)। यह तीन खण्डों में है। प्रथम खण्ड में दोषधातुविवेचन, मूत्रपरीक्षा और नाडीपरीक्षा है; द्वितीय खण्ड में द्रव्यगुण और तृतीय खण्ड में औषधयोग हैं। दूसरा ग्रन्थ हिकमतप्रदीप है। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख एवं पूरा उपयोग वैद्यमुक्तावली में किया गया है।[2]

आधुनिक काल में वैद्यराज हकीम ठा० दलजीत सिंह (जन्म १९०३ ई०) ने हिन्दी में यूनानी चिकित्सा पर अनेक ग्रन्थ लिखकर वैद्यों को उससे परिचित कराया है। इनमें यूनानी सिद्धयोगसंग्रह (तृतीय संस्करण, १९६३); यूनानी द्रव्यगुण विज्ञान (१९४९ ई०), यूनानी द्रव्यगुणादर्श तीन खण्डों में (प्र० खं० १९७३, द्वि० खं० १९७४) प्रमुख हैं। अन्तिम ग्रन्थ आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी, लखनऊ से प्रकाशित हुआ है।

---

१. खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित, सं० १९७०।

२. महादेवाख्यभट्टोऽभूच्छन्दशास्त्री भिषग्वरः।
पारसीयान् समालोक्य द्वौ ग्रन्थौ तेन निर्मितौ॥
हिकमतप्रकाशोऽन्यो हिकमतप्रदीपो द्वितीयो वरः।

पञ्चम अध्याय

द्रव्यगुण एवं रसशास्त्र

द्रव्यगुण

मानवजीवन के लिए द्रव्य सर्वाधिक महत्त्व का पदार्थ है। द्रव्य में ही गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से स्थित होते हैं तथा सामान्य-विशेष के क्रम से इसका उपयोग किया जाता है। इस प्रकार षट्पदार्थ द्रव्य को ही केन्द्र बनाकर स्थित हैं। जीवन के लिए हितकर-अहितकर द्रव्यों का ज्ञान प्रदान करना आयुर्वेद का एक विशिष्ट प्रयोजन है[1] क्योंकि आहार एवं औषध के रूप में प्रयुक्त होकर ये स्वास्थ्य-रक्षण एवं विकारप्रशमन का कार्य करते हैं। चिकित्सा के चतुष्पाद में भी द्रव्य का विशिष्ट स्थान है[2] क्योंकि ज्ञानवान् एवं कुशल योद्धा जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र के बिना लक्ष्यवेध नहीं कर सकता उसी प्रकार दक्ष चिकित्सक भी बिना साधनभूत द्रव्य के अकिञ्चित्कर होता है। अतएव प्राचीन् काल से द्रव्य, उसके गुणकर्म तथा विविध प्रयोगों के संबन्ध में अध्ययन-अनुसंधान होता रहा है।

मौलिक सिद्धान्त

आधार—सृष्टि के अन्य पदार्थों की भाँति शरीर पाञ्चभौतिक है। द्रव्यों के आहरण तथा परिहार से क्रमशः शरीर की वृद्धि और ह्रास होता है अतः स्वभावतः यह अनुमान किया गया कि द्रव्य भी पाञ्चभौतिक हैं और इनमें जो गुण हैं वही शरीर में भी हैं। अतः प्रकृति-साधर्म्य के कारण विभिन्न द्रव्यों के प्रयोग से शरीर का साम्य, वृद्धि और क्षय होता है।[3]

पञ्चमहाभूतों के ही जैविक प्रतिनिधि हैं त्रिदोष जिनके द्वारा विविध शारीर व्यापारों का संचालन होता है। अतः उपर्युक्त गुणों के कारण ये त्रिदोष को भी प्रभावित करते हैं। रसों का संघटन महाभूतों के द्वन्द्व से होता है। विपाक भी महाभूतों के न्यूनाधिक्य का परिणाम है।[0] वीर्य की भी वही स्थिति है चाहे उसे

1. च० सू० ३०।२१
२. च० सू० ९।३
३. सु० सू० ४१।१४

गुणात्मक मानें या द्रव्यात्मक। इस प्रकार आयुर्वेदीय द्रव्यगुणशास्त्र मूलतः पञ्चमहाभूतवाद पर अवलम्बित है।

निर्धारण—रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव का निर्धारण प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा किया गया है। द्रव्यस्थित रस का परिज्ञान रसनेन्द्रिय से साक्षात् संपर्क के द्वारा करने का उपदेश है। इससे स्पष्ट है कि किसी द्रव्य को जीभ से चखकर विविध उत्पन्न लक्षणों के आधार पर रस का निर्धारण किया जाता था। आहारद्रव्यों में सर्वप्रथम छः रसों का निर्धारण हुआ होगा तथा तत्तद् रसों के सेवन से शरीर-मन पर जो प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ उस आधार पर रसों के गुणकर्म निर्धारित किये गये।

विपाक का निर्धारण प्रकृति-पर्यवेक्षण तथा कर्म-परीक्षण के आधार पर किया गया। प्रकृति में यह देखा जाता है कि अग्नि (ताप) के कारण द्रव्य के रस एवं गुण में परिवर्त्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, आम का फल बाल्यकाल में कषाय, तारुण्य में अम्ल, प्रौढ़ता में मधुराम्ल तथा पक्व होने पर मधुर हो जाता है। इसी प्रकार चावल पकाने पर उसका माधुर्य अतिशयित एवं अभिव्यक्त हो जाता है। इन बाह्य प्राकृतिक पदार्थगत प्रक्रियाओं को देखने से अनुमान किया गया कि मानव-शरीर में भी आहृत द्रव्यों का रस जाठराग्नि के द्वारा पक्व होने पर परिवर्तित या अभिव्यक्त हो जाता है। इसी परिणाम को विपाक कहा गया। अस्थायी त्रिविध अवस्थापाक (प्रपाक) से पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए, इसे 'विपाक' संज्ञा दी गई क्योंकि इसका स्वरूप अन्तिम एवं स्थायी होता है जिससे शरीर के दोष-धातु-मल प्रभावित होते हैं। ऐसा लगता है कि सुश्रुत संभवतः विपाक से जाठराग्निजन्य पाक का भी ग्रहण करते थे।[1] रस के समान विपाक का ज्ञान भी आहारद्रव्यों से ही प्रारम्भ हुआ होगा। इसके अतिरिक्त शारीरिक प्रभाव को देखकर भी विपाक का निर्धारण किया गया। उदाहरण के लिए, पिप्पली का रस कटु है किन्तु यह वृष्य एवं रसायन-कर्म करती है। इस आधार पर यह विमर्श किया गया कि कटुरस तो अवृष्य और धातुक्षपण है किन्तु इसके विपरीत कर्म को देखने से ऐसा अनुमान होता है कि उसका रस अवश्य ही (जाठराग्नि द्वारा) परिवर्त्तित होकर मधुर हो जाता है जिससे ये कर्म होते हैं। अतएव पिप्पली का विपाक मधुर निर्धारित किया गया। चरक ने विपाक त्रिविध (मधुर, अम्ल और कटु) कहा किन्तु द्रव्य के सभी कर्मों का पर्यवसान बृंहण या लंघन में होने के कारण विपाक भी दो (गुरु और लघु) माने गये जैसा कि सुश्रुत का कथन है।

औषधद्रव्यों का प्रयोग करने पर शरीर-मन पर स्पष्टतः उनका कर्म दृष्टिगोचर होता

---

१. प्रियव्रतशर्मा : विपाक का स्वरूप, सचित्र आयुर्वेद, १९६९

है। इस कर्म के लिए कारणभूत जो शक्ति द्रव्य में निहित होती है उसे 'वीर्य' संज्ञा दी गई। यह निष्कर्ष अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर निकाला गया[1]। ऐसा देखा गया कि इस शक्ति के रहने पर ही कर्म होता है और इसके नष्ट हो जाने पर कर्म नहीं होता। द्रव्य के किसी विशिष्ट अंग में वह शक्ति निहित होने से उसी का प्रयोग होता है तथा द्रव्य जीर्ण होने पर या सड़-गल जाने पर निर्वीर्य होने के कारण निष्क्रिय हो जाता है।

शक्तिरूप वीर्य का स्वरूप गुणात्मक है। यह द्रव्य के सारभाग में रहता है और विविध कर्मों का सम्पादन करता है। इस आधार पर यद्यपि वीर्य के गुणात्मक, द्रव्यात्मक और कार्यात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है तथापि वस्तुतः यह गुणात्मक ही है। बीस गुर्वादि गुणों में जो शक्तिसम्पन्न और कार्मुक होते हैं वही वीर्य की कोटि में पहुँच पाते हैं। इन बीस गुणों में आठ गुण इस प्रकार के माने गये हैं जिन्हें वीर्य कहा गया है। सुश्रुत और नागार्जुन ने आगे चलकर कर्मण्य गुणों की संख्या दस कर दी। इन सबका समाहार कर शीत और उष्ण दो वीर्य माने गये जो ब्राह्मणकालीन अग्नीषोमीय सिद्धान्त पर आधारित है। त्रिदोषवाद की दृष्टि से अग्नि पित्त तथा सोम कफ का प्रतिनिधि है। (वायु योगवाह होने के कारण दोनों का गुण अवस्थानुसार धारण करता है)। चरक ने यद्यपि शक्तिमात्र को वीर्य कहा तथापि अष्टविध तथा द्विविध वीर्य का वर्णन कर उनको भी स्वीकृत किया।

चरक के शक्तिमात्रवीर्यवाद का मीमांसकों के शक्तिवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह स्मरणीय है कि मीमांसा शक्ति को एक पृथक् पदार्थ के रूप में मान्यता देती है।

जिन कर्मों की व्याख्या न की जा सकी उनमें प्रभाव को आधार बनाया गया। चिन्त्य शक्ति को वीर्य तथा अचिन्त्य शक्ति को प्रभाव कहा गया। शारीरज्ञान एवं विकृतिविज्ञान विशद न होने के कारण विशिष्ट व्याधियों में द्रव्यों की कर्मप्रक्रिया की व्याख्या न की जा सकी। ऐसे द्रव्यों को व्याधिप्रत्यनीक कहा गया और ऐसा कर्म प्रभावजन्य माना गया यथा अर्जुन की हृद्यता, शिरीष की विषघ्नता, खदिर की कुष्ठघ्नता आदि। दो समान द्रव्यों में भी जो कर्म का अत्यधिक अन्तर दृष्टिगत हुआ वहाँ भी विशिष्ट द्रव्य में स्थित कार्यकारी तत्त्व का परिज्ञान न होने के कारण कर्म प्रभावजन्य माना गया यद्यपि 'द्रव्यस्वभाव' के रूप में प्रभाव द्रव्य के स्वाभाविक संघटनवैशिष्ट्य का भी बोधक हो सकता है। उस काल में रसायनशास्त्र का विकास न होने के कारण यह स्वाभाविक भी था। चरक ने प्रभाव को अचिन्त्य (प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते—च० सू० २६।६७) कह कर अपनी सीमा स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी किन्तु सुश्रुत ने हेतु से विरत होकर शास्त्र एवं परम्परा में अन्ध श्रद्धा रखने का जो उपदेश किया वह भविष्य के लिए अतीव हानिकर सिद्ध हुआ यद्यपि परवर्ती

1. च. सू. २६।६२

कुछ आचार्यों ने ऐसे तथ्यों की व्याख्या का प्रयत्न किया है। यह स्मरणीय है कि सुश्रुत ने प्रभाव का पृथक् वर्णन न कर वीर्य के अन्तर्गत ही प्रभावजन्य कर्मों का भी उल्लेख किया है[1]।

मनुष्य ने पार्श्ववर्ती पशु-पक्षियों द्वारा औषधों का ज्ञान प्राप्त किया। अनेक वनस्पतियों के पत्र, कन्द, मूल-फल आदि का तो वह आहाररूप में स्वयं ग्रहण कर अनुभव करता था, साथ-साथ पशु जिन वनस्पतियों का ग्रहण करते थे उनके प्रभाव का भी पर्यवेक्षण किया जाता था। रुग्ण होने पर पशु-पक्षी एक विशेष प्रकार की वनस्पति खाकर नीरोग हो जाते थे। ऐसे द्रव्यों का मनुष्य भी अपने ऊपर प्रयोग करने लगा होगा। चरक ने जिन स्तन्यजनन ओषधियों की गणना की है वे पशु और मनुष्य दोनों में समान रूप से कार्यकर हैं। सम्भवतः इन तृणों का पशुओं में स्तन्यजनन कर्म देख कर मनुष्यों में प्रयोग प्रारंभ हुआ होगा इसमें तनिक भी संदेह नहीं[2]। अथर्ववेद में यह लिखा है—जितनी ओषधियाँ चरकर गायें, भेंड़ें और बकरियाँ स्वस्थ होती हैं वे सभी तुम्हारा कल्याण करें। इसके अतिरिक्त, अनेक ओषधियों के नाम पशु-पक्षियों के आधार पर रक्खे गये हैं। इस प्रायोगिक कार्य में रूपसाधर्म्य का सिद्धान्त भी सहायक हुआ होगा यथा लाक्षा का रक्तस्राव में, हरिद्रा का कामला में इत्यादि। वैदिक काल में अनेक औषधीय कर्मों का निर्धारण प्रयोग के द्वारा हो चुका था। अथर्ववेद में ऐसे अनेक कर्मों और प्रयोगों का उल्लेख मिलता है।[3]

प्रकृति का कार्यकलाप स्वतः होता रहता है वह किसी पूर्वनिर्धारित नियम की प्रतीक्षा नहीं करता। नियमों का निर्धारण बाद में इन कर्मों की व्याख्या के लिए होता है। पके हुये फल न जाने कब से पेड़ से टपकते रहे हैं किन्तु न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का नियम हाल में ही निर्धारित किया। प्रयोग पहले होते हैं, सिद्धान्त बाद में बनते हैं यही स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसी प्रकार औषधों का प्रयोग परम्परा से चला आ रहा होगा जिसकी व्याख्या के लिए रस-गुण-वीर्य-विपाक का सिद्धान्त निर्धारित हुआ।

छः या सात पदार्थ, पञ्चमहाभूत, रस-गुण, शक्ति, विपाक, स्वभाव आदि का भारतीय दर्शनों में भी पर्याप्त विवेचन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैद्यों और दार्शनिकों के पारस्परिक सहयोग से एक ओर आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों का विकास हुआ और दूसरी ओर दर्शनों की सैद्धान्तिक विचारधारा की संपुष्टि

१. प्रियव्रतशर्मा: प्रभाव की अचिन्त्यता चिन्तनीय, सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७३
२. वीरणशालिषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटकत्तृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति—च० सू० ४।२०।
३. देखें प्रथम अध्याय, पृ० ३१–३६

व्यावहारिक धरातल पर हुई। आयुर्वेद प्रत्यक्षसाध्यता के कारण वेद के प्रामाण्य में सहायक बना और सम्भवतः इसी प्रकार समस्त दर्शनों का भी।

द्रव्य

आयुष्य और अनायुष्य द्रव्यों के परिज्ञान से आयुर्वेद का आरंभ होता है अतः द्रव्यों का कालनिर्णय एक कठिन कार्य है। संभवतः यह आयुर्वेद ही के समान अनादि है। किन्तु व्यावहारिक अनुभव के द्वारा नये-नये द्रव्यों का परिज्ञान होता गया जिसके कारण क्रमशः उपयोगी द्रव्यों की संख्या में वृद्धि होती गई। इसके अतिरिक्त, पारस्परिक संपर्क के कारण एक देश से दूसरे देश में द्रव्यों का आयात-निर्यात होता रहा है जिससे अन्य देशों में होने वाली ओषधियों का प्रवेश अन्यत्र हुआ जो कालक्रम से आत्मसात् कर ली गई। भारत का संपर्क अन्य देशों से अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। असीरिया, बैविलोन, मिस्र आदि देशों के साथ इसका व्यापारिक संपर्क चिरकाल से रहा है जिसके माध्यम से द्रव्यों का आदान-प्रदान होता रहा है। सुमेर और हड़प्पा का सीधा संपर्क २३०० ई० पू० से कहा जाता है। सिन्ध का बना सूती कपड़ा समुद्री मार्ग से बाबुल पहुँचता था। अथर्ववेद के 'तैमात, अलगी-विलगी, उरुगूला और ताबुव' शब्द भी बाबुली भाषा के कहे जाते हैं।[1] बावेरुजातक (३३५) से भी इसकी पुष्टि होती है। स्थल और जलमार्गों से द्रव्य एक देश से दूसरे देशों में जाते रहे हैं। मधुक और मरिच स्थलपथ से आते थे (काशिका ५।१।७७)। सुप्पारकजातक (४६३) से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय नाविकों को एक ओर सुवर्णद्वीप। (मलयेशिया), रत्नद्वीप (लंका) और दूसरी ओर फारस की खाड़ी, लालसागर और भूमध्यसागर का पता था। अतः द्रव्यों के इतिहास के अध्ययन के लिए देश की प्राकृतिक संपदा के अतिरिक्त अन्य देशों के साथ संपर्क, वाणिज्य के केन्द्र एवं मार्ग, समय-समय पर विदेशियों का आक्रमण एवं प्रभुत्व आदि बातों पर भी विचार करना आवश्यक होता है। वाङ्मय इस ज्ञान का प्रमुख स्रोत है। इसमें सांस्कृतिक वाङ्मय, यात्रा-विवरण, राजाओं का रोजनामचा (आईन-ए-अकबरी आदि), अन्य देशों का इतिहास, वाणिज्यवृत्त, राजनीतिक इतिहास आदि प्रमुख हैं।

भारत में प्राचीनकाल में यूनानियों तथा शक-कुषाणों का संपर्क हुआ। गुप्तकाल में रोम के साथ व्यापार बढ़ा। मध्यकाल में अरब के व्यापारी सर्वत्र छा गये; उनके माध्यम से द्रव्य एक देश से दूसरे देश में जाने लगे। यह स्मरणीय है कि उनका संबन्ध एक ओर युरोप और अफ्रीका तथा दूसरी ओर चीन और भारत से था। कुस्तुनतुनिया एक समय में विश्व का प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था जहाँ युरोप, अरब,

1. मोतीचन्द : सार्थवाह, पृ० ३१, ४३

चीन, मध्य एशिया और भारत के व्यापारी परस्पर मिलते थे और द्रव्यों का विनिमय करते थे। प्राचीनकाल में वाल्हीक भी ऐसा ही केन्द्र था।

मध्यकाल में तुर्कों, अफगानों और मंगोलों का भारत पर आधिपत्य भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इनके साथ अनेक ऐसे द्रव्य यहाँ प्रसिद्ध हुये जो पहले अज्ञात थे। वे अपने साथ अरब के देशों से हकीम भी लाये जिनके संपर्क से तत्कालीन चिकित्साविधियाँ भी प्रभावित हुईं। यह स्वाभाविक है कि विजेता जिन द्रव्यों का व्यवहार करते हैं उनकी प्रजा भी उनका अनुसरण करने लगे। जो पद्धति राजा को प्रिय होती है उसका प्रचार आसानी से हो जाता है। उसी प्रकार आधुनिक काल में पुर्तगाली, फ्रांसीसी, डच और अंगरेजों का आगमन एक विशिष्ट घटना है। इसी समय कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की थी और इसके बाद वहाँ के अनेक द्रव्य जो अब तक बाहर अज्ञात थे, प्रविष्ट हो गये।

बौद्ध जातकों के अनुसार पश्चिमी समुद्रतट पर भरुकच्छ, सुप्पारक तथा सौवीर और पूर्वी समुद्रतट पर करम्बिय, गंभीर और सेरिव मुख्य बन्दरगाह थे जहाँ से जलमार्ग द्वारा वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था। अन्तर्देशीय और विदेशी व्यापार में चन्दन का विशिष्ट स्थान था। अगुरु, तगर तथा कालीयक की भी माँग थी। सिंहल और दूसरे देशों से नानाविध रत्न आते थे यथा नीलम, ज्योतिरस, सूर्यकांत, चन्द्रकांत, माणिक्य वैडूर्य, हीरक और यशव आदि। हाथीदाँत भी प्रचलित था। महाभारत (२।२७।२५-२६) के अनुसार दक्षिणसागर के द्वीपों से चन्दन, अगुरु, रत्नमुक्ता, स्वर्ण, रजत, हीरक और प्रवाल आते थे। इनमें से चन्दन, अगुरु, स्वर्ण और रजत तो संभवतः बर्मा और मध्य एशिया से आते थे; मोती और रत्न सिंहल से (सिंहल रत्नद्वीप कहा गया है) और प्रवाल भूमध्यसागर से। हीरक, शायद बोर्नियों से आते थे। कपिश (काबुल) से शराब आती थी। उत्तरापथ का व्यापारिक मार्ग हैमवत मार्ग और दक्षिणापथ का दक्षिणपथ है। हैमवत मार्ग बलख से हिन्दुकुश होकर भारत आता था और दक्षिणापथ कौशाम्बी, उज्जयिनी और प्रतिष्ठान को जोड़ता था। दक्षिणापथ शंख, हीरक, रत्न, मोती और सोने के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में व्यापारिक वस्तुओं पर शुल्क का विधान है। इस प्रसंग में शंख, हीरक, मुक्ता, प्रवाल, रत्न, हरताल, मनःशिला, सिन्दूर, धातुएँ, चन्दन, अगुरु, कटुक, मद्य, हाथीदाँत, कपास, गंधद्रव्य, औषध, लवण, क्षार, तैल आदि का उल्लेख है जिससे इनके प्रचलित व्यापार का बोध होता है। कौटिल्य के अनुसार मौर्यकाल में रत्नों का व्यापार खूब चलता था। अनेक रत्न-उपरत्न देश के कोने-कोने से तथा अनेक विदेशों से आते थे। कीमती रत्न बलूचिस्तान के मूला दर्रा और सिंहल से आते थे। बिल्लौर विन्ध्यपर्वत और मलाबार से आता था। नीलम

और जमुनिया लंका से आते थे। हीरे बरार, मध्यप्रदेश, अश्मक (गोलकुण्डा) और कलिंग से आते थे। अलसन्दक नामक प्रवाल सिकन्दरिया से आता था। मौर्य-युग में गन्ध द्रव्यों की भी बड़ी माँग थी। चन्दन के अनेक प्रकार दक्षिण भारत, जावा, सुमात्रा, तिमोर और मलयएशिया (सुवर्णद्वीप) तथा आसाम से आते थे। अगुरु आसाम, मलयएशिया, हिन्दचीन और जावा से आता था।

कनिष्क का साम्राज्य उत्तर में पेशावर लेकर बुखारा, समरकन्द और ताशकन्द तक फैला था। मर्व से खोतान और सारनाथ तक उसकी सीमा थी तथा वह सीर-दरिया से ओमान के समुद्र तक फैला था। उस युग में कुषाणों और रोमन-साम्राज्य का संबन्ध काफी दृढ़ हुआ। इस काल में हाथी दाँत, रेशमी कपड़े, रत्न, जड़ी-बूटियाँ, मसाले आदि रोम को जाने लगे और वहाँ से सोना भारत में आने लगा। दक्षिण भारत में कोलकइ, काबेरीपट्टनम्, मुचिरि आदि प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे जहाँ से समुद्री मार्ग खुलते थे। रोम में भारतीय मोती की बड़ी माँग थी। काली मिर्च, जटामांसी, दालचीनी, कूठ और इलायची अधिकतर अरब यात्री स्थलमार्ग से लाते थे। औषधद्रव्यों में इनके अतिरिक्त सोंठ, गुग्गुलु, लवंग, हींग, अगुरु का स्थान था। नील, शक्कर और तिल का तेल भी जाता था। भारतीय नींबू, केले, आडू और जर्दालु खाने तथा औषध के काम में आते थे। हीरा, अकीक, स्फटिक, जमुनिया, वैदूर्य, नीलम, माणिक्य, पेरोजा आदि रत्नों की माँग रोम में बहुत थी। रोमन व्यापारी मालो से मुरा और लोहवान का निर्यात करते थे। अदन और मोजा लोहवान के व्यापार के बड़े केन्द्र थे। लोहवान यहाँ हद्रमौत (लोहवान का देश) से आता था। यहाँ तुरुष्क का व्यापार भी होता था। मोजा अरब व्यापारियों का मुख्य अड्डा था जहाँ से बोल आदि बाहर भेजे जाते थे। रोमन व्यापारी भारतीय माल के लिए अदन या सकोतरा जाते थे, जहाँ यूनानी, अरबी और भारतीय व्यापारियों से उनकी भेंट होती थी। फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में भारत से ताँबा, चन्दन, सागवान तथा शीशम की लकड़ियाँ आती थीं। भारतीय व्यापारी लालसागर होकर सिकन्दरिया तक पहुँचते थे। और रोम साम्राज्य के यूनानी व्यापारी क्रमशः सीधे भारत तक आने लगे। बार्बरिकोन के बन्दरगाह से कुष्ठ, गुग्गुलु, दारुहरिद्रा, जटामांसी, पिरोजा, लाजवर्द, नील आदि बाहर भेजे जाते थे।

भड़ोच (भृगुकच्छ) के बन्दरगाह से निर्यात होने वाले द्रव्यों में जटामांसी, कुष्ठ, गुग्गुलु, हाथीदाँत, अकीक, दारुहरिद्रा (रसाञ्जन), पीपल आदि प्रमुख थे। अयातित द्रव्यों में ताँबा, राँगा, सीसा, प्रवाल, पुखराज, तुरुष्क, संखिया, अञ्जन आदि मुख्य थे। भड़ौच सातवाहनों की राजधानी पैठन (प्रतिष्ठान) और दक्षिणापथ के प्रसिद्ध नगर तेर (तगर) से संबद्ध था जहाँ से दक्षिण का माल वहाँ पहुँचता था। सुपारा के अतिरिक्त, कल्याण का बन्दरगाह भी काम में आने लगा था। दक्षिण

में केरल का बन्दरगाह मुजिरिस अत्यन्त प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ रोमन और अरब जहाज़ लगे रहते थे। यहाँ से काली मिर्च, तेजपात, मोती, हाथी दाँत, जटामांसी, रत्न, कछुए की खोपड़ियाँ आदि बाहर जाती थीं और बाहर से सिंगरिफ आदि आता था। कोयम्बटूर में वैडूर्य की खानें थीं। संभवतः चेरों (केरलीयों) के हाथ में काली मिर्च के व्यापार का एकाधिकार था, पाण्ड्यों के हाथ में मोती का और चोलों के हाथ में वैडूर्य का। पाण्ड्यों के राज्य में समुद्रतट पर एलानकोट (क्विलोन) और कोलकोई दो बन्दरगाह थे। रोमन और यूनानी व्यापारी पूर्वी समुद्रतट पर भी जाते थे जहाँ पाण्डिचेरी, कावेरीपट्टनम्, मसुलीपट्टन आदि बन्दरगाह थे। कलिंग में भी हीरे मिलते थे और वहाँ से तेजपात, जटामांसी और मोती आदि बाहर भेजे जाते थे। संभवतः यूनानी व्यापारी वहाँ जाते थे। टॉलेमी ने उन्नीस नगरों का नाम दिया है जिनमें ताल्मुक (ताम्रलिप्ति) और पाटलिपुत्र प्रमुख हैं। अरबों ने भारत से कपूर, हरड़, बहेड़ा, जायफल, नारियल, इमली, देवदारु-निर्यास, पान-सुपारी, शीतलचीनी, कालीयक आदि का भी निर्यात करना प्रारंभ कर दिया था। द्रवतुरुष्क, अंजन, मैनसिल और संखिया का आयात होता था। मूँगा भूमध्यसागर से, सीसा स्पेन से, ताँबा साइप्रस से, राँगा लुसिटानिया और गलेशिया से आता था। तक्कोल या कक्कोल (मलय प्रायद्वीप के पश्चिमी तट का एक स्थान) से बड़ी इलायची, लवंग और अगुरु का निर्यात होता था। तक्कोलम् नामक एक गाँव मद्रास के पास भी है जिससे 'श्रीकाकुलम्' बना है। सबसे अच्छा चन्दन मैकासार और तिमोर से और सर्वोत्तम अगुरु चम्पा और अनाम से आता था। गोशीर्षचन्दन मैकासिरी चन्दन है।

जैन वाङ्मय में व्यापार की वस्तुओं में केशर, अगर, चोआ, कस्तूरी, इङ्गुर शंख और नमक का मुख्यतः उल्लेख है। जैन साधु यात्रा में कुछ आहार द्रव्य, औषधियाँ, मलहम-पट्टी साथ लेकर चलते थे। उस काल में चम्पा से ताम्रलिप्ति और वहाँ से सुवर्णद्वीप और कालियद्वीप (जंजीबार) तक जहाज बराबर चला करते थे। अनेक सुगन्धित द्रव्य, रत्न और सुवर्ण यहाँ आते थे और यहाँ से दालचीनी, मुरा (लोहबान), जटामांसी, अगर, तगर, नख, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, कूठ आदि द्रव्य बाहर भेजे जाते थे। ईरान से भी व्यापारिक संबन्ध था। वहाँ शंख, चन्दन, अगर और रत्न भारत से जाते थे और ईरान मंजीठ, चाँदी, सोना, मोती और मूंगे भेजता था।

गुप्तयुग में चीन और भारत का सम्बन्ध और निकटतर हुआ जो सन् ६१ ई० में हान राजा मिंग के काल में स्थापित हुआ था। अधिक संख्या में भारतीय मलय-एशिया और हिन्दचीन भी जाने लगे। इस काल में भी भृगुकच्छ, सुपारा, कल्याण और ताम्रलिप्ति मुख्य बन्दरगाह थे। कॉसमस (छठी शती) लिखता है कि सिंहल

उस समय व्यापार का प्रमुख केन्द्र था और समुद्री मार्ग में वह चीन और भारत की मध्यस्थता करता था। कल्याण का बन्दरगाह ताँबा, तीसी और एरण्ड के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था तो सिन्ध के बन्दरगाह में कस्तूरी, एरण्ड और जटामांसी का व्यापार प्रमुख था। कॉसमस ने लवंगप्रदेश और चीन का भी उल्लेख किया है।

७वीं शती में चीन ने अपना समुद्री व्यापार बढ़ाया। इधर अरबों का भी प्रभुत्व बढ़ा, उन्होंने फारस की खाड़ी पर अधिकार कर लिया और भारत में भड़ोच तथा थाने पर धावा भी बोल दिया। नवीं शती तक अरब इतने प्रबल हो गये कि १४वीं शती तक लालसागर से लेकर दक्षिण-चीन के समुद्र तक इन्हीं का बोलबाला रहा। अरबी व्यापारी चीन तथा पूर्वी द्वीपसमूह के स्थानों से सामान भारत के बन्दरगाहों पर लाते थे और वहाँ से पुनः युरोप आदि देशों में भेजते थे। सिन्ध पर अधिकार होने के बाद अरबों का व्यापार और बढ़ा। बसरा भारतीय व्यापार का केन्द्र बन गया। यहाँ से अरब जाने वाले द्रव्यों में प्रमुख थे—कपूर, लवंग, जायफल, बकम, चन्दन, कस्तूरी, कबाबचीनी, नारियल, हाथीदाँत, रत्न, कालीमिर्च, अगुरु, शंख, कुलंजन, दालचीनी, हर्रे, तूतिया, बेंता, सुपारी तथा अन्य जड़ी बूटियाँ और गन्धद्रव्य। बसरा से खजूर आता था। तांकिन में अगर, सीप, नमक, लोहा, सोना, चाँदी, इंगुर आदि; अनाम में कपूर, कस्तूरी, चन्दन, सीसा, रांगा आदि, कम्बुज में हाथी दाँत, विविध अगुरु, डामर, सोंठ; मलयप्रायद्वीप में इलायची, अगर, विजयसार की गोंद; पूर्वी सुमात्रा में कच्छपपृष्ठ, कपूर, अगुरु, लवंग, चन्दन और इलायची; बोर्नियो में चार तरह के कपूर, कछुए की खोपड़ी; जावा में हाथीदाँत, मोती, कपूर, सौंफ, लवंग, इलायची, पीपल, मिर्च, सुपारी, गंधक, केसर; सिंहल में रत्न का व्यापार प्रमुख था। भारत में मलाबार के समुद्रतटीय व्यापार में निर्यात की सामग्री रत्न, शीशा, इलायची आदि अन्य गंधद्रव्य तथा आयात के द्रव्यों में चन्दन, लवंग, कपूर रवेन्दचीनी, इलायची और अगुरु प्रमुख थे। गुजरात से नील, विजयसार की गोंद, हरड़ अरब देशों को जाती थी। चोलमंडल से मोती, हाथीदाँत, मूँगा, शीशा, इलायची आदि द्रव्य बाहर जाते थे।[१]

१३वीं शती में बेनिस नगर विश्व का एक प्रधान व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ का एक व्यापारी मार्कोपोलो मध्य एशिया के राजा किबलइ खाँ के आमन्त्रण पर मध्य एशिया, चीन और भारत के कुछ भाग का भ्रमण किया और १२९५ ई० में उसके एक मित्र ने उसके वृत्तान्त को लिपिबद्ध किया[२]। इस यात्राविवरण से तत्कालीन

१. मोतीचन्द : सार्थवाह (बिहार राष्ट्रभाषापरिषद्, पटना, १९५३) पृ० ६७-२११
२. The Travels of Morco Polo (The arion Press, New york)

व्यापारिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है अतः उसके कुछ संबद्ध अंश उद्धृत किये जा रहे हैं।

१. ऑर्मस (फारस) के बन्दरगाह पर भारत के सभी भागों से व्यापारी पहुँचते थे जो मसाले, औषधियाँ, रत्न, मोती, हाथियाँ आदि लाते थे। (पृ० ४१)

२. बसरा में संसार भर में सबसे अच्छे खजूर होते थे। भारत से जो मोती यूरोप को जाता था वह बसरा में बेधा जाता था। (पृ० २६)

३. सपर्गन में सर्वोत्तम खरबूजे होते थे। (पृ० ५२)

४. कैकन में सैन्धव लवण की पहाड़ियाँ हैं जो विश्वभर में सर्वोत्तम माना जाता है। (पृ० ५३)

५. सक्खर से रेवन्दचीनी संसार के सभी भागों में भेजी जाती है। (पृ० ७६)

६. कनबलु (मध्य एशिया) नामक स्थान विश्व का एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। (पृ० १५३)

७. कचानफु में अदरख, कुलिंजन और अनेक औषधियाँ होती हैं जो विश्व के अन्य भागों में अज्ञात हैं। (पृ० १७८)

८. तिब्बत में कस्तूरी और अनेक औषधियाँ होती हैं। (पृ० १८५)

९. कन-गिड नगर के बाद कपूर के जंगल हैं (पृ० २५२)

१०. चीन के समुद्र में अनेक द्वीप हैं जहाँ सुगन्धित वृक्ष, मसाले, औषधियाँ, अगुरु तथा पीपल और काली मिर्च होती हैं। (पृ० २६६)

११. जावा में पीपल, जायफल, कुलंजन, पालक, कबाबचीनी, लवंग, मसाले और औषधद्रव्य होते हैं। (पृ० २७०)

१२. निकोबार द्वीप—श्वेत और रक्तचन्दन, नारियल, लवंग, बकम और औषधियाँ (पृ० २८०)

१३. सिंहल—सर्वोत्तम बकम, रत्न (पृ० २८२)

१४. मलाबार—पीपल, सोंठ, नारियल, कबाबचीनी (पृ० ३०५)

१५. गुजरात—नील, पीपल, सोंठ, कपास (पृ२ ३०६)

१६. सकोतरा—अम्बर (पृ० ३११)

१७. मडागास्कर—अम्बर, लालचन्दन, हाथीदाँत (पृ० ३१२)

१८. जंजीबार—हाथीदाँत (पृ० ३१५)

मध्यकाल में अरब की शक्ति के कारण सिकन्दरिया पर यूरोपवासियों का प्रमुत्व प्रायः समाप्त हो गया और इसके विकल्प में कुस्तुनतुनिया चीनी और भारतीय मालों की मण्डी के रूप में उभरा। कुस्तुनतुनिया के पतन के बाद वेनिस व्यापारिक उत्कर्ष पर आया और वेनिस के व्यापारी विश्व भर में छा गये।

मलाबार प्राचीन काल से एक प्रमुख बन्दरगाह रहा है। विशेषतः कालीकट

मसालों, पीपल, सोंठ और अन्य भारतीय सामानों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध रहा। पुर्तगाल से वास्को डि गामा नामक नाविक १४९८ ई० में कालीकट पहुँचा। वहाँ के राजा ने उपहारस्वरूप उसे बहुत-सा लोहवान और ५० थैलियाँ कस्तूरी की दीं। १५०५ ई० में इन लोगों ने कालीकट में एक किला बना लिया। भारत में फिरंगियों का यह प्रथम केन्द्र बना। धीरे-धीरे सैनिक शक्ति के सहारे पुर्तगालियों ने अरब व्यापारियों को वहाँ से खदेड़ दिया और समस्त व्यापार अपने हाथों में कर लिया। १५०६ ई० में इन लोगों ने सिंहल, मडागास्कर और सकोतरा की खोज की। इसके पूर्व १४९४ ई० में कोलम्बस अमेरिका की खोज कर चुका था जिससे अनेक नये द्रव्य विश्व भर में प्रचलित हुये। १५०० ई० में ब्राजिल की खोज हुई जहाँ से बकम (ब्राजिल वुड) यूरोप को भेजा जाता था। इसके पूर्व यह भारत से जाता था। १५१० ई० में पुर्तगालियों ने अपनी राजधानी गोवा में स्थापित कर ली। १५११ ई० में मलक्का पर आक्रमण किया और १५१६ ई० में चीन पहुँचे। १५६४ ई० में मोलक्कस पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सारा समुद्री व्यापार पुर्तगालियों के अधिकार में आ गया। वेस्पुच्ची का कथन है कि जब पुर्त्तगाली कालीकट पहुँचे उस समय वहाँ प्रभूत मात्रा में पीपल, दालचीनी, अदरख, सोंठ, लवंग, जायफल, जावित्री, कस्तूरी, जवाद, तुरुष्क, लोबान, सनाय, मस्तकी, धूप, बोल, सफेद और लालचन्दन, अगुरु, कपूर, अम्बर, लाह, अफीम, मुसब्बर और अनेक जड़ी बूटियाँ एकत्रित थीं। रत्नों में हीरा, माणिक्य और मुक्ता प्रमुख थे।

पुर्त्तगालियों की सफलता से प्रेरित होकर १५९४ ई० में डचों का आगमन हुआ। १५८० ई० में अंग्रेजों की योजना प्रारम्भ हुई। १६३३ ई० में फ्रांसीसी बेड़ा भी पहुँचा। अपनी कूटनीति से अंगरेजों ने अन्ततः भारत पर आधिपत्य स्थापित कर लिया।[1]

द्रव्यों के कालनिर्धारण का आधार निम्नांकित रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है :—

१. ऋग्वेद—ऋग्वेद में उल्लिखित द्रव्य[2] प्राचीनतम हैं। इनका अस्तित्व लगभग ४००० ई० पू० से है यथा सोम आदि।

२. अथर्ववेद—अथर्ववेद में जिन द्रव्यों[3] का निर्देश है वे १००० ई० पू० से हैं।

३. चरकसंहिता—चरकसंहिता में निर्दिष्ट द्रव्य ई० पू० के हैं—यथा प्रियंगु आदि।

---

1. F. C. Danverse : The Portuguese in India (London, 1874)
२. पृ० ३७
३. पृ० ३८

४. दृढबल तथा वाग्भट—चरकसंहिता के दृढ़बलकृत अंश तथा अष्टांगहृदय में निर्दिष्ट द्रव्य छठीं शती के पूर्व के हैं। वराहमिहिर की रचना (बृहत्संहिता) में निर्दिष्ट द्रव्य निश्चित रूप से इसकी पुष्टि करते हैं—यथा तुरुष्क आदि।

५. वृन्दमाधव—मध्यकाल का यह प्रथम चिकित्साग्रन्थ है। इनमें निर्दिष्ट द्रव्यों का अस्तित्व ९वीं शती के पूर्व से होगा—यथा पारसीक यवानी आदि।

६. सोढल और शार्ङ्गधर—१२-१३वीं शती के इनके ग्रन्थ मध्यकाल की प्रतिनिधि रचनायें हैं। मुसलमानों के साथ जो द्रव्य भारत में आये उनका उल्लेख इसमें हुआ है—यथा अहिफेन, आकारकरभ आदि।

७. भावप्रकाश—१६वीं शती में मुगलों के उत्कर्ष के साथ-साथ युरोपवासियों का संपर्क भी हो चुका था। अतः इसमें निर्दिष्ट विशिष्ट द्रव्यों का संबन्ध इससे जोड़ना चाहिए—यथा चोपचीनी।

८. योगरत्नाकर एवं शालिग्रामनिघण्टु—१७वीं से १९वीं शती तक अंग्रेज इस देश में प्रतिष्ठित हो चुके थे अतः युरोपवासियों के साथ जो द्रव्य यहाँ आये वे पूर्णतः प्रचलित होकर निघण्टुओं में समाविष्ट हो गये—यथा तमाखु, पपीता आदि।

कतिपय विशिष्ट द्रव्य

भारतवर्ष एक प्राचीनतम देश है जिसकी सीमा अद्यतन सीमा से बड़ी थी; आज के पड़ोसी देश कभी भारत के ही अङ्ग थे। इसके अतिरिक्त जल एवं स्थल मार्गों के द्वारा इसका संपर्क सुदूर देशों से था। प्राचीनकाल में मिस्र, असीरिया, बैबिलोन आदि जो सभ्यतासंपन्न देश थे उनसे भारत का व्यापारिक संपर्क था। अनेक भारतीय उन देशों में जाकर बस भी गये थे जिनके द्वारा इस देश के अनेक द्रव्य वहाँ प्रचलित हुये। तत्तद् भाषाओं में उनके नाम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।[1] इस संपर्क के माध्यम से अनेक द्रव्य अन्य देशों से यहाँ आयातित हुये। विनिमय का यह क्रम स्वाभाविक, उपयोगी एवं आवश्यक होने के कारण निरन्तर चलता रहा जिसके फलस्वरूप अनेक भारतीय द्रव्य विदेशों में प्रविष्ट हुये और अनेक विदेशी द्रव्य भारत में आकर यहाँ की मिट्टी में घुल मिल गये। यहाँ तक कि आज यदि ऐसे द्रव्यों को विदेशी कहा जाय तो लोगों को आश्चर्य ही होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे अध्ययन का महत्त्व है अतः यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण द्रव्यों की चर्चा की जायगी।

वानस्पतिक द्रव्य

औषधवर्ग

१. अकरकरा (Anacyclus pyrethrum Dc)—यह पौधा उत्तरी अफ्रीका

१. पूना से प्रकाशित शिवकोष की भूमिका में अनेक आयुर्वेदीय द्रव्यों के असीरियन नाम दिये गये हैं।

का मूल निवासी है जहाँ से दक्षिणी युरोप में प्रविष्ट हुआ। मुख्यतः अलजीरिया में इसके मूलों का संग्रह कर बाहर भेजा जाता है।[1] भारत में यह मुसलमानों के साथ पहुँचा। मध्यकालीन ग्रन्थ सोढलकृत गदनिग्रह में 'आकल्लक' नाम से इसका प्रयोग सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है।[2] भावप्रकाश में इसका वर्णन 'आकारकरभ' नाम से दिया गया है। किसी ने 'आकुलकरा' भी लिखा है।

२. अजमोदा (Apium Graveolens Linn)—इसका उल्लेख चरक, सुश्रुत और वाग्भट तीनों की संहिताओं में मिलता है। वाट के मत में इसके नाम पर संप्रति जो द्रव्य प्रचलित है वह युरोप का निवासी है और युरोपवासियों के साथ यहाँ आया। उन्हीं के उपयोग के लिए यह बागों में लगाया जाता रहा।[3] कण्डोल ने बलूचिस्तान तथा भारत के पार्वत्य प्रदेशों में भी इसका मूल स्थान माना है।[4] बृहत्त्रयी में उल्लेख होने से यह द्रव्य प्राचीन प्रतीत होता है।

३. अपायान (Eupatorium ayapana Vent)—यह दक्षिण अमेरिका का निवासी है। 'अपायान' ब्राजिल में प्रचलित संज्ञा है जो भारत में अपनाई गई।[5] संभवतः युरोपवासियों के साथ यह द्रव्य यहाँ आया। बंगाल में इसका विशेष प्रचलन था। वहाँ के कविराज और डॉक्टर इसका प्रयोग करते रहे। १९वीं शती के आयुर्वेदविज्ञानम् (द्रव्यस्थान, आर्त्तवसंग्राहिवर्ग) में विशल्यकरणी नाम से इसका वर्णन है।

४. अहिफेन (Papaver Somniferum Linn)—'अहिफेन' शब्द अरबी 'अफ्यून' का संस्कृत रूपान्तर है। १२वीं शती के सोढलकृत गदनिग्रह (भाग १, पृ० २०८) में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। निघण्टुओं में सर्वप्रथम धन्वन्तरिनिघण्टु में 'अफूक' नाम से इसका वर्णन किया गया है। संभवतः इसी समय मुसलमानों के साथ यह इस देश में आया और इसकी गुणकारिता के कारण वैद्यसमाज ने इसे पूर्णतः अपना लिया। वेदनास्थापन, निद्राजनन, स्तंभन आदि कर्मों में इसका विशेष प्रयोग होने लगा। यह भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेशों—स्पेन, अलजीरिया, सिसिली, ग्रीस और साइप्रस में स्वतः उत्पन्न होता है। इसकी खेती संभवतः युरोप या उत्तरी अमेरिका में प्रारंभ हुई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि पौधा पहले से ज्ञात था जो शाक के

---

१. George Watt : A Dictionary of The Economic Products of India, Vol. I, P. 237

२. भाग १, पृ० २०८, ३९५ (चौखम्बा संस्करण, १९६८)

३. वाट : वही पृ० २७१

४. A. D. Candolle : origin of Cultivated Plants, P. 89

५. वाट : भाग ३, पृ० २९३

रूप में प्रयुक्त होता था और उसके फलनिर्यास (अहिफेन) का ज्ञान बाद में हुआ। प्रारम्भिक ग्रीक तथा रोमन वाङ्मय में पौधे का उल्लेख मिलता है। ग्रीक विद्वान थियोफ्रेस्टस (३री शती ई० पू०) ने फलनिर्यास की जानकारी प्राप्त की जिसका अनुसरण परवर्ती विद्वानों ने किया। इस प्रकार अहिफेन की खोज का श्रेय ग्रीक विद्वानों को है। प्राचीन मिस्र में इसके अस्तित्व का कोई संकेत नहीं मिलता, प्लिनी (प्रथम शती) ने सर्वप्रथम मिस्री अहिफेन का उल्लेख किया है। डायस्कोरिडस (२री शती) के काल में एशिया माइनर का प्रमुख उद्योग अहिफेन का उत्पादन था। यद्यपि इसकी खोज का श्रेय ग्रीकों को है तथापि इसका सुदूर पूर्वी देशों में प्रसार अरबों द्वारा हुआ; फारस होते हुए भारत और चीन में इसका प्रवेश हुआ। भारत के समान चीन में भी इसका प्रवेश लगभग १२वीं शती के प्रारम्भ में हुआ; उस काल के लिन हुंग नामक विद्वान की रचना में सर्वप्रथम इसका उल्लेख मिलता है। अरब व्यापारी भारत के कालीकट नामक बन्दरगाह पर अफीम लेकर आते थे। वे व्यापारी मलक्का पहुँच कर चीनी वस्तुओं से अफीम का विनिमय करते थे। १५वीं शती में भारत में मुसलमानों ने काम्बे तथा मालवा में इसकी खेती प्रारंभ की जिस पर राज्य का नियंत्रण था। अकबर के काल में इसके अतिरिक्त, फतेहपुर, इलाहाबाद और गाजीपुर में भी इसकी खेती होने लगी थी जिसका उल्लेख अबुल फजल ने किया है[1]।

५. इसबगोल (Plantago ovata Forsk)—यह फारस और पश्चिमोत्तर प्रदेश में होता है। इसका विशेष प्रयोग मुसलमान हकीम करते रहे। यही कारण है कि आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं है। हाल के निघण्टुओं में नामान्तर से इसका वर्णन किया गया है यथा शीतबीज (आयुर्वेदविज्ञान), ईषद्गोल (शालिग्रामनिघण्टु), ईश्वरबोल (सिद्धभेषजमणिमाला)। ये संस्कृत रूपान्तर ध्वनिपरक हैं, वस्तुतः फारसी 'अस्पगोल' शब्द का अर्थ है अश्वकर्ण क्योंकि इसके बीज तदाकार होते हैं।

६. उच्चटा—चरकसंहिता के दृढ़बलकृत अंश (सिद्धि० १२।४५,४६,५४) में उच्चटा का उल्लेख एवं वृष्य बस्तियों में प्रयोग हुआ है। आगे सुश्रुत तथा वाग्भट ने भी इसका प्रयोग किया है। वात्स्यायनकृत कामसूत्र में भी इसका उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इस द्रव्य का वाजीकरणार्थ प्रयोग प्रारंभ हुआ। बाद में भी यद्यपि यह नाम चलता रहा किन्तु मूल द्रव्य अज्ञात होकर इसके स्थान पर मध्यकाल में गुञ्जा और आधुनिक काल में उटंगन लिया जाने लगा। अष्टांगनिघण्टु, धन्वन्तरिनिघण्टु आदि निघण्टुओं में इसका वर्णन किया गया है।[2]

१. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २३-३६
२. देखें—उच्चटा : भृगुनाथसिंह एवं प्रियव्रतशर्मा, सचित्र आयुर्वेद, अक्टूबर, ७१

७. कङ्कोल (Piper Cubeba Linn F.)—मूलतः यह जावा का निवासी कहा जाता है किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में ही इसका प्रवेश और प्रसार समस्त भारत में हुआ होगा क्योंकि इसका उल्लेख चरक आदि प्राचीन संहिताओं में है।

८. करवीर (Nerium odorum Soland)—मदनपाल और धन्वन्तरि निघण्टुओं में श्वेत और रक्त द्विविध करवीर का वर्णन है। पीतकरवीर (Thevetia Nerifolia Juss) मूलतः अमेरिका और पश्चिमी द्वीपसमूह का वासी है[१]। सम्भवतः १६वीं शती के लगभग इसका प्रवेश भारत में हुआ। राजनिघण्टु ने पीतकरवीर का वर्णन किया है।[२]

९. कर्पूर—यह एक प्राचीन द्रव्य है जिसका बृहत्त्रयी में उल्लेख है। भारत में इसके वृक्ष नहीं होते; सुमात्रा, बोर्निओ, मलाया आदि द्वीपों में होते हैं। कर्पूर इसी वृक्ष (Dryobalanops Camphora Colbr.) का निर्यास है। चरक ने कर्पूर-निर्यास का उल्लेख किया है। यह बरास (सुमात्रा के तन्नामक नगर के आधार पर), बोर्निओ या मलयकर्पूर कहा जाता है, लोकभाषा में इसे भीमसेनी कपूर कहते हैं। बाद में चीन और जापान के एक वृक्ष (Cinnamomum Camphora Nees-Eberm) की शाखाओं को उबाल कर जो कर्पूर निकाला जाता है वह भारत में प्रविष्ट हुआ, इसे निघण्टुकारों ने पक्व कर्पूर की संज्ञा दी। धन्वन्तरिनिघण्टु में एक ही कर्पूर का उल्लेख है, पक्व कर्पूर का नहीं। सोढलनिघण्टु (१२वीं शती) में कर्पूरत्रितय (पक्व, अपक्व और चीनक का वर्णन है। 'चीनक' संज्ञा विशेषतः चीन से आनेवाले कर्पूर के लिए प्रयुक्त हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि ११वीं शती के आसपास पक्व कर्पूर का समावेश भारत में हुआ। इसके अतिरिक्त, कुकरौंधा, तुलसी, तमाखु, वन अजवाइन आदि से भी कर्पूर निकाला जाता था। यह स्मरणीय है कि राजनिघण्टु में अनेक प्रकार के कर्पूरों का उल्लेख है। यह भी ध्यातव्य है कि प्रारम्भ में कर्पूर का प्रयोग बाह्यरूप में, नस्य, लेप, मुखशुद्धि आदि में तथा तैल को सुवासित करने के लिए होता था। बाद में क्रमशः इसका प्रयोगक्षेत्र बढ़ा और कर्पूरवटी, कर्पूरासव आदि का व्यवहार होने लगा।

यद्यपि भारत में इसका प्राचीन काल से उपयोग हो रहा था, ग्रीक और रोमन चिकित्सकों को इसका ज्ञान न था। छठीं शती में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। १३वीं शती में मार्को पोलो ने कर्पूर के वृक्षों का जंगल देखा और १५६३ ई० में गार्सिया डी ओर्टा ने बतलाया कि युरोप के कर्पूर का स्रोत चीन है और यह कि कर्पूर दो प्रकार का होता है।[३]

१. वाट : भाग ६, खण्ड ४, पृ० ४२
२. पीतकरवीरकोऽन्यः पीतप्रसवः सुगन्धिपुष्पश्च—करवीरादिवर्ग, ७
३. वाट : भाग २, पृ० ८४-८७

१०. कलम्बा—'कलम्बक इति लोके' करके भावप्रकाशनिघण्टु में पीतचन्दन का वर्णन किया गया है और कालेयक पर्याय दिया है कालेयक चरक में निर्वापण लेप में प्रयुक्त हुआ हैं, अतः यह प्राचीन द्रव्य है किन्तु 'कलम्बक' (Jatcorhiza Palmata miers) भारत में यूरोपवासियों के आगमन के बाद प्रचलित हुआ और तब शायद कालेयक से सीलोन या नकली कलम्बा (Coscinium fenestratum (Gaertn) Colbr) का इसके अभाव में ग्रहण किया जाने लगा।

११. कुपीलु (Strychnos nuxvomica Linn) बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है अतः इसका प्रवेश उसके बाद ही हुआ होगा। धन्वन्तरिनिघण्टु में काकपीलु और कुपीलु शब्द तिन्दुक के प्रसंग में आये हैं। विषतिन्दुक के नाम से कुचला का वर्णन सोढलनिघण्टु में तथा कारस्कर नाम से राजनिघण्टु में किया गया है। भावप्रकाश में कुपीलु मर्कटतिन्दुक तथा कुचला दोनों के लिए है। कहीं विषमुष्टि या क्षुद्रमुष्टि भी कहा गया है। मुसलमानों ने भारत से इसका ज्ञान प्राप्त किया। १६वीं शती के मध्य में इसकी जानकारी युरोप में हुई[1]। सम्भवतः रसाचार्यों द्वारा इसका विशेष प्रचार-प्रसार हुआ।

१२. कुमारी (Aloe Sp.)— बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं मिलता इससे स्पष्ट है कि बाद में इसका प्रवेश हुआ। सर्वप्रथम अष्टांगनिघण्टु और उसके बाद भोजकृत राजमार्त्तण्ड में (केवल बाह्य प्रयोग) यह द्रव्य दृष्टिगोचर होता है। आभ्यन्तर प्रयोग के लिए इसका प्रचलित योग कुमार्यासव सोढलकृत गदनिग्रह (१२वीं शती) में वर्णित है। धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका उल्लेख नहीं है। हेमचन्द्रकृत निघण्टुशेष में भी नहीं है। सम्भवतः १०वीं शती के लगभग भारत में इसका आयात हुआ; ११वीं शती में बाह्य प्रयोग प्रारम्भ हुआ और पूर्ण परिज्ञात होने पर १२वीं शती में इसके अन्य औषधयोगों का निर्माण होने लगा और आभ्यन्तर प्रयोग भी प्रचलित हुआ[2]।

यह द्रव्य मूलतः अफ्रीका के पार्श्ववर्त्ती द्वीपों का निवासी है। पूर्वपार्श्व में स्थित सकोतरा और पश्चिमपार्श्व के कनारी[3] द्वीपसमूह में प्रचुरता से पाया जाता है जहाँ इसके जंगल हैं। सिकन्दर के नेतृत्व में यूनानी जब सकोतरा द्वीप के स्वामी बने तब इसका ज्ञान उन्हें हुआ। यूनानी चिकित्सकों ने इसका प्रयोग प्रारम्भ किया और तदनन्तर अरबी चिकित्सकों ने इसे अपनाया किन्तु ब्रिटेन तथा भारत में १०वीं शती तक इसका पता नहीं था। जब अमेरिका का पता लगा तब देखा गया कि जमायका,

१. वाट : भाग ६, खण्ड ३, पृ० ३८०
२. रसार्णव में कुमारी का उल्लेख होने से वह १०वीं शती से पूर्व का नहीं हो सकता।
३. इस द्रव्य की 'कुमारी' संज्ञा का संबन्ध सम्भवतः इसके मूलस्थान 'कनारी' से है।

बारवेडोस आदि द्वीपों में भी यह बहुत होता है। सम्भवतः कनारी द्वीपसमूह से इसका निर्यात वहाँ हुआ[१]।

१३. कुलिंजन—प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं है। चीनी भाषा का लियांग-कियांग और अरबी का खलञ्जान हिन्दी में कुलञ्जन बना। अंगरेजी में यही गलङ्गल हुआ। यह दो प्रकार का होता है बड़ा और छोटा। बड़ा कुलञ्जन (Alpinia galanga willd) जावा और सुमात्रा में होता है; इसका फल भी इलायची के समान व्यवहृत होता है। छोटा कुलञ्जन (Alpinia officinarum Hance) चीन का वासी है और वहाँ से युरोप और भारत में भेजा जाता है। छोटा कुलंजन अधिक कार्यकर होता है। परवर्त्ती ग्रीक चिकित्सकों तथा अरबी हकीमों ने इसका व्यवहार प्रारम्भ किया। १२वीं शती में यह उत्तरी युरोप पहुँचा। उस काल में यह भारत में भी था क्योंकि सोढलकृत गदनिग्रह में इसका योग 'कुलिञ्जनाद्यावलेह' वर्णित है (भाग १, पृ० ३४४)। १३वीं शती में पूर्वी मसालों के साथ-साथ यह अदन, लालसागर और मिस्र होते सीरिया पहुँचता था जहाँ से भूमध्यसागर के क्षेत्रों में वितरित होता था। १६वीं शती में गोवा में पुर्त्तगाली वायसराय के चिकित्सक गार्सिया डी ओर्टा ने इसके उपर्युक्त दो भेदों का परिज्ञान किया।[२] इसी काल में लिखे गये भावप्रकाशनिघण्टु में भी कुलञ्जन के दो भेदों का वर्णन किया गया है एक महाभरी वचा के नाम से और दूसरा स्थूलग्रंथि के नाम से। पहली उग्रगन्धा और दूसरी सुगन्धा है। स्पष्टतः पहला भेद चीनी (छोटा) कुलञ्जन है और दूसरा जावा (बड़ा) कुलञ्जन। राजनिघण्टु ने कुलञ्जन के नाम से इसका वर्णन किया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका वर्णन नहीं मिलता। यह संभव है कि जावा कुलञ्जन का चिरकाल से दक्षिणभारत में एलापर्णी (रास्ना) के नाम से प्रयोग होता रहा हो और चीनी कुलञ्जन मध्यकाल में अरबी व्यापारियों के द्वारा आया हो।

१४. कृष्णबीज (Ipomoea hederacea Linn Jacq)—यद्यपि यह भारत में होता है तथापि इसका प्रयोग बहुत बाद में प्रारंभ हुआ क्योंकि इसका वर्णन प्राचीन निघण्टुओं में उपलब्ध नहीं होता। राजनिघण्टु में कालाञ्जनी नाम से इसका वर्णन है। सिद्धभेषज-मणिमाला में यही नाम (कालाञ्जनिका) दिया है। आयुर्वेदविज्ञान में श्यामबीज नाम से है।

---

१. वाट : भाग १, पृ० १९९-१८०

२. वाट, भाग १, पृ० १९२-१९६
इसका 'अल्पीनिया' नाम इटालियन वनस्पतिशास्त्री प्रॉस्पर अल्पिनस के नाम पर पड़ा।

१५. केशर (कुङ्कुम) (Crocus sativus Linn)—वाह्लीकदेश (बल्ख) से आने के कारण इसका एक पर्याय बाह्लीक है। यह ज्ञातव्य है कि वाह्लीक उस काल में विश्व का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था जहाँ युरोप, अरब, मध्य एशिया, चीन आदि के व्यापारी इकट्ठे होकर द्रव्यविनिमय करते थे। चरक और सुश्रुत में काश्मीरज पर्याय इसके लिए नहीं आया है। संभवतः तबतक काश्मीर में इसकी खेती प्रारम्भ नहीं हुई हो। सर्वप्रथम उत्तरगुप्तकाल में वाग्भटकृत अष्टांगहृदय में 'काश्मीरज' शब्द कुङ्कुम के लिए प्रयुक्त हुआ। उसके बाद धन्वन्तरि निघण्टु तथा अमरकोश में भी 'काश्मीरज' और 'काश्मीरजन्मा' शब्दों का प्रयोग कुङ्कुम के लिए हुआ है। जहाँगीर ने पाम्पुर और किश्तवार में केशर की खेती का वर्णन किया है। वह लिखता है कि विश्व में सबसे अधिक केशर पाम्पुर में होता है और इससे भी अच्छा केशर किश्तवार का है।[1]

१६. क्षीरचम्पक (गुलाचीन) (Plumeria acutifolia Poirel)—यह अमेरिका का निवासी पौधा है जो संभवतः युरोप से संपर्क होने पर आधुनिक काल में इस देश में प्रविष्ट हुआ। मन्दिरों के आसपास अधिक होने से इसे मन्दिरपुष्प (Temple flower) भी कहते हैं।

१७. चन्द्रशूर (Lepidium Sativum Linn)—यह फारस देश का पौधा है जो मुसलमानों के साथ यहाँ आया और उन्हीं के द्वारा सीरिया, ग्रीस, मिस्र और अबीसीनिया में फैला[2]। संभवतः भावप्रकाशनिघण्टु के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं इसका वर्णन नहीं मिलता। हिन्दी में इसे चनसुर और हालिम तथा फारसी में सिपंदान या तुख्म इस्पंदान कहते हैं।

१८. चव्य (Piper Chaba Hunter)—मूलतः मोलक्कस द्वीप का वासी पौधा है।[3] बृहत्त्रयी में इसका प्रयोग होने से स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में भारत में इसका प्रचार-प्रसार हो गया था।

१९. चोपचीनी (Smilax China Linn)—यह चीन जापान में होने वाला पौधा है। फिरंग-रोग के औषध के रूप में चीन से इसका आयात भारत में १६वीं शती में हुआ। युरोप में भी इसी काल में यह ज्ञात हुआ।[4] भावमिश्र ने फिरंगरोग के साथ-साथ अपने निघण्टु में चोपचीनी का वर्णन द्वीपान्तरवचा के नाम से किया है। यह विशेषतः 'फिरंगामयनाशनी' कही गई है।

---

१. तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ९२-९३; भाग २, पृ० १३८
२. वाट, भाग ४, पृ० ६२८; कण्डोल, पृ० ८६-८७
३. वाट, भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५६
४. वाट : भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५३-२५४
जॉली : इण्डियन मेडिसिन, पृ० १५५-१५६

२०. चौहार (Artemisia maritima Linn)—यद्यपि हिमालय प्रदेश में यह वनस्पति उत्पन्न होती है तथापि बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरि निघण्टु में यवानीविशेष के रूप में इसका वर्णन है। यह एक उत्तम क्रिमिघ्न द्रव्य है। इससे सैण्टोनिन निकाला जाता है जो केंचुए के लिए रामबाण है।

२१. जयपाल (Croton tiglium Linn)—यह जमालगोटा के नाम से प्रसिद्ध है। इसका छोटा वृक्ष मलक्का, वर्मा और लंका में होता है।[1] प्राचीनकाल में संभवतः भारत में सर्वत्र मिलने वाली वनस्पति 'दन्ती' (Baliospermum montanum Muell-Arg) के मूल का प्रयोग रेचनकर्म के लिए होता था। बाद में बीजों का भी प्रयोग होने लगा। जयपाल के बीज दन्तीबीज की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण एवं कार्यकर होते हैं। चीन के माध्यम से जयपाल अरब और फारस होता हुआ मुसलमानों के साथ भारत पहुँचा। इसका फारसी नाम 'दन्दचीनी' यह बतलाता है कि यह चीन देश का दन्तीबीज है। मध्यकाल के पूर्व यह नाम नहीं मिलता। धन्वन्तरिनिघंटु में दन्ती के प्रकरण में 'रेचक' शीर्षक से जयपाल का वर्णन है। क्षिप्रकार्यकारी रसौषधों में इसका प्रयोग प्रचलित हुआ। रसरत्नसमुच्चय में जयपाल के योग मिलते हैं।

२२. जातीफल (Myristica fragrans Houtt)—चरक, सुश्रुत और वाग्भट में मुखशुद्धि आदि के लिए जातीफल का प्रयोग विहित है। प्रीतिकर गन्ध होने के कारण इसका नाम 'जाती' है और फल (बीज) का प्रयोग होने से यह द्रव्य जातीफल (जायफल) नाम से प्रचलित हुआ। इसके वृक्ष, मोलक्कस द्वीप के मूल निवासी हैं, वहीं से इनका प्रवेश प्राचीन काल में ही भारत में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य प्रयोग होने के बावजूद भी इसका औषधीय प्रयोग मध्यकाल के पूर्व प्रारंभ नहीं हुआ। सोढलकृत गदनिग्रह (१२वीं शती) में सर्वप्रथम कास में जातीफलादिचूर्ण का विधान है। इसके बाद दीपन-पाचन, ग्राही तथा शुक्र स्तम्भन के रूप में शार्ङ्गधर (१३वीं शती) में इसका प्रयोग हुआ। भोजकृत राजमार्त्तण्ड में जातीफल के बाह्यत्वक् का लेप व्यङ्गरोग में विहित है। संभवतः उस समय बीज के साथ-साथ संपूर्ण फल भी आता हो क्योंकि शुष्क बीज का बाह्यत्वक् पृथक् करना कठिन है। धन्वन्तरिनिघण्टु तथा अमरकोश में जातीफल का वर्णन मिलता है।

२३. तमाखु (Nicotiana tabacum Linn)—इसका पौधा मूलतः मध्य या दक्षिण अमेरिका का वासी है। इसकी जाति का नामकरण (Nicotiana) जीन निकॉट ऑफ निस्मस के सम्मान में किया गया जिसने इस पौधे का प्रवेश फ्रांस में

१. वाट : भाग २, पृ० ६१८

कराया था। स्पेन के व्यापारी जो फिलिपाइन द्वीपसमूह में बसे थे अपने साथ तमाखु वहाँ लेते गये थे क्योंकि अमेरिका से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ से व्यापारियों द्वारा मनीला होते यह १६२० ई० में चीन पहुँचा। भारत में यह पुर्त्तगालियों के माध्यम से १६वीं शती के अन्त में प्रविष्ट हुआ। १६०५ ई० में इसका प्रथम उल्लेख मिलता है[1]। आयुर्वेद में सर्वप्रथम इसका वर्णन १७वीं शती के ग्रन्थ योगरत्नाकर में मिलता है।

२४. ताम्बूल (Piper betle Linn)—धन्वन्तरिनिघण्टु में 'वहुला' शीर्षक से इसका वर्णन है; नागवल्ली इसका एक प्रमुख पर्याय कहा गया है। प्राचीन संहिताओं में केवल मुखशुद्धि आदि के लिए इसका स्वल्प उल्लेख है। इसका पौधा जावा का आदिवासी है।[2] उन द्वीपों में सर्प अधिक होते हैं अतः संभवतः उद्भव-स्थान के आधार पर इसका नाम 'नागवल्ली' हुआ। वहाँ से संभवतः दक्षिण भारत में आया। 'ताम्बूल' शब्द दक्षिण भारतीय भाषा से निष्पन्न प्रतीत होता है। मध्यकाल में इसका औषधीय प्रयोग प्रारम्भ हुआ, पारद के संस्कारों में भी इसका उपयोग होने लगा। राजनिघण्टु में अनेक प्रकार के ताम्बूल कहे गये हैं। बाद में 'पर्ण' से 'पान' शब्द विशेष प्रचलित हुआ। पर्णखण्डेश्वर रस प्रसिद्ध है (भैषज्य-रत्नावली, ज्वराधिकार)।

२५. ताल (Borassus flabellifer Linn)—यह अफ्रीका का मूल निवासी है।[3] प्राचीन संहिताओं में इसका प्रचुर उल्लेख होने से स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रवेश अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ होगा। ताल की एक जाति 'हिन्ताल' का उल्लेख केवल एक ही स्थल (च० क० ११८) पर दृढ़बल ने किया है।

२६. तुरुष्क (Styrax Officinale Linn)—चरक के दृढबलकृत अंश में केवल एक ही स्थल (चि० २८।१८३) पर गन्धद्रव्यों में इसका पाठ है। सुश्रुत ने एलादिगण में इसे समाविष्ट कर लिया है। तुरुष्क (Solid storax) उपर्युक्त वृक्ष का निर्यास है। यह वृक्ष एशिया माइनर के आसपास होता है। हैनबरी ने यह सिद्ध किया है कि प्राचीन तुरुष्क ठोस होता था और बहुत थोड़ा निकलने के कारण कीमती

---

१. कण्डोल : पृ० १३९-१४३
वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २३-३६; भाग ५, पृ० ३५१-३५२
पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ४१०-४३८
२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २४८
गोडे : वही, पृ० ११३-१६८
३. वाट : भाग ५, पृ० ४३२

था[1] अतः क्रमशः बाद में तरल शिलारस (Liquid storax) इसके स्थान पर प्रचलित हुआ। प्रथम शती तक लालसागर द्वारा भारत में तुरुष्क के आने का प्रमाण मिलता है। शिलारस (सिल्हक) एक भिन्न वृक्ष (Liquidamber orientalis Miller) का तरल निर्यास है जो एशिया माइनर में होता है[2]।

धन्वन्तरिनिघण्टु में तुरुष्क का वर्णन है; यह 'यावन' (यवनदेशोत्पन्न), कल्क और पिण्डक (ठोस) कहा गया है। सिल्हक भी इसका एक पर्याय है। सोढलनिघण्टु में तुरुष्क से पृथक् सिल्हक का पाठ है। भावप्रकाश में 'कपितैल' शब्द इसकी तरलता का द्योतक है। इससे स्पष्ट है कि प्रारंभ में तुरुष्क और सिल्हक भिन्न होते हुए भी बाद में पर्यायवाची बन गये यहाँ तक कि संस्कृत 'तुरुष्क' शब्द का अरबी रूपान्तर 'उस्तुरक' शिलारस के लिए प्रचलित हुआ।

२७. तुवरक (Hydnocarpus wightiana Blume)—चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत ने इसका प्रभूत उपयोग किया है। इसके वृक्ष पश्चिमार्णवभूमि (पश्चिमी घाट) के जंगलों में होते हैं। इसके बीजों के तैल का उपयोग कुष्ठ और प्रमेह में किया गया है। आश्चर्य है कि निघण्टुओं में भी इसका वर्णन नहीं मिलता केवल आयुर्वेदविज्ञान में 'कुष्ठवैरी' नाम से वर्णित है। यह तथ्य सुश्रुत का दक्षिण-भारत से विशेष सम्पर्क सूचित करता है। गदनिग्रह में सुश्रुत के अनुसार ही तुवरक-कल्प का विधान है।

२८. धत्तूर (Dhatura metel Linn)—चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में केवल दो प्रयोग बीज के हैं एक बाह्य, नाडीव्रण में उपयोगी तैल में और दूसरा आभ्यन्तर अलर्कविष में। अष्टांगहृदय में अलर्कविष वाले प्रयोग के अतिरिक्त, धत्तूरपत्रस्वरस का उपयोग खालित्यरोग में किया गया। राजमार्तण्ड में सर्पविष में भी धत्तूर का प्रयोग है। चक्रदत्त में धत्तूरमूल की खीर बनाकर उन्माद में प्रयोग करने का विधान है। रसरत्नसमुच्चय में ज्वर, यक्ष्मा, ग्रहणी, शूल आदि में धत्तूर का प्रचुर उपयोग है। गदनिग्रह में धत्तूरमद के प्रतीकार का विधान है जिससे प्रतीत होता है कि मादक द्रव्य के रूप में भी सम्भवतः उपयोग होता था। धन्वन्तरिनिघण्टु, सोढलनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में यह रक्तदोषहर, व्रणघ्न एवं ज्वरघ्न कहा गया है। उपविषों में इसकी गणना है। इन सब तथ्यो से स्पष्ट है कि मध्यकाल में इसका प्रयोगक्षेत्र विशेषतः रसशास्त्रीय आचार्यों के निर्देशन में अधिक विकसित हुआ।

---

१. इत्सिंग (७वीं शती) ने अपने यात्रा-विवरण में सीरिया से आने वाले सम्भवतः इसी बहुमूल्य गोंद का निर्देश किया है।

२. वाट : भाग ५, पृ० ७८-७९

२९. धूम्रपत्रा (Aristolochia bracteata Retz)—इसे कीड़ामारी भी कहते हैं। कृमिघ्नी के नाम से सोढलनिघण्टु तथा धूम्रपत्रा के नाम से राजनिघण्टु में इसका वर्णन हैं। संभवतः मध्यकाल में भारत में इसका प्रचार हुआ।

३०. पर्णबीज (Bryophyllum Calycinum Salisb)—व्रणरोपण होने से इसे जख्मेहयात कहते हैं। यह मोलक्कस का मूलतः निवासी पौधा है। अंगरेजों के द्वारा भारत में लाया गया। कहते हैं, श्रीमती क्लाइव इसे १७९९ ई० में लायीं और तभी यह कलकत्ता के वानस्पतिक उद्यान में लगाया गया[1]।

३१. पर्णयवानी (Coleus aromaticus Benth)—यह मोलक्कस का मूल निवासी है। वहाँ से आधुनिक काल में यहाँ लाया गया और आजकल बागों और गमलों में लगाया मिलता है। पाषाणभेद के प्रतिनिधि द्रव्य के रूप में भी लोग इसका ग्रहण करते हैं और लोकभाषा में इसे पथरचूर कहते भी हैं।

३२. पारसीकयवानी (Hyoscyamus niger Linn)—यह युरोप और मध्य एशिया का मूल निवासी है। अरबी एवं फारसी ग्रन्थों में पहले देखा जाता है[2]। भारतीय चिकित्सा में लगभग ९वीं शती में प्रविष्ट हुआ। वृन्दमाधव में कृमिघ्न के रूप में इसका सर्वप्रथम उल्लेख है। धन्वन्तरिनिघण्टु में यवानीविशेष के रूप में इसका वर्णन है। यावनी, तुरुष्का आदि पर्याय तथा इसका लोकनाम 'खुरासानी अजवायन' इसका सम्बन्ध यवन या तुरुष्कदेश से बतलाते हैं। सम्भवतः अरबवासियों के सम्पर्क से यह यहाँ पहुँचा।

३३. पिपरमिण्ट (Mentha Piperata Linn)—यह युरोप, उत्तरी अमेरिका तथा एशिया के कुछ भागों में वन्य रूप में पाया जाता है। भारत में संभवतः आधुनिक काल में व्यवहृत होने लगा।

पुदीना इसीकी एक जाति है जो मूलतः पश्चिमी हिमालय, तिब्बत, अफगानिस्तान, युरोप तथा पश्चिमी और मध्य एशिया का निवासी है[3]। इसका प्रयोग भी यहाँ आधुनिक काल से प्रारंभ हुआ।

मध्यकालीन निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं मिलता। आधुनिककालीन शालिग्रामनिघण्टु (कर्पूरादिवर्ग) में पुदीना के गुणकर्म का उल्लेख है। सिद्धभेषजमणिमाला (शाकवर्ग) में भी 'पोदीनक' नाम से पठित है।

३४. पूग (Areca Catechu Linn)—मूलतः यह कोचीन-चीन और मलाया का निवासी है। वहींसे सर्वत्र फैला। लैटिन नाम (Areca) मलयभाषा के नाम

१. वाट: भाग १, पृ० ५४३
२. वही, भाग, पृ० ३१९-३२१
३. वाट: भाग ५, पृ० २२९-२२१

का ही रूपान्तर है[1]। सर्वप्रथम यह दक्षिण भारत, उसके बाद बंगाल-आसाम में प्रचलित हुआ। संस्कृत भाषा में इसके सभी नाम लोकभाषीय नामों के रूपान्तर हैं यथा गुवा (बंगाली आसामी) से गुवाक; कमुगु (तामिल) से क्रमुक तथा पोकवक्क (तेलुगु) से पूग शब्द निष्पन्न है। बृहत्त्रयी में चरक और अष्टांगहृदय में केवल एक ही स्थल पर पूग का उल्लेख है किन्तु सुश्रुत में अनेक स्थलों पर इसका पाठ है। इससे पता चलता है कि या तो सुश्रुत दक्षिण भारत से संबद्ध हों या उनका अस्तित्व ऐसे परवर्त्ती काल में हो जब पूग का प्रचुर प्रचार सर्वत्र हो चुका हो। धन्वन्तरिनिघण्टु में पूग का वर्णन है; राजनिघण्टु में दक्षिणभारतीय अनेक प्रदेशों के अनुसार इसके भेदों का वर्णन किया गया है। चरकसंहिता में उपलब्ध होने से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही भारत में पूग प्रचलित है।

३५. गन्धप्रियंगु (Prunus mahaleb Linn)—मराठी भाषा में यह गहुला के नाम से प्रसिद्ध है। गन्धद्रव्य के रूप में बम्बई के बाजार में बिकता है। कराँची में स्त्रियाँ इसकी माला बनाकर पहनती थीं। गहुला का वृक्ष मध्य एशिया तथा युरोप का मूल निवासी है; बलूचिस्तान और सिन्ध में इसके पेड़ लगाये गये हैं।[2] महर्षि चरक का संबन्ध विशेषतः पश्चिमोत्तर प्रदेश से था अतः संभवतः उनका गन्धप्रियंगु यही हो।

३६. बब्बूल (Acacia arabica Willd)—बृहत्त्रयी में बब्बूल का उल्लेख नहीं है इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में इसका औषधीय प्रयोग नहीं था।[3] सोढल निघण्टु में सर्वप्रथम बब्बूल और उसके फल का गुण निर्दिष्ट है। राजनिघण्टु में बर्बुर नाम से है। गदनिग्रह में बब्बूलपल्लव (अतिसार) तथा बब्बूलासव (राजयक्ष्मा) का विधान है। सोढलनिघण्टु में 'गुन्द्र' शब्द से अनेक गोंदों का उल्लेख हुआ है जिनमें संभवतः बब्बूल की गोंद भी अन्तर्भूत होगी। इस प्रकार लगभग ११वीं या १२वीं शती में मुसलमानों के संपर्क से इसका औषधीय प्रयोग प्रारम्भ हुआ। अरबी चिकित्सकों ने इसे मिस्रदेश से सीखा था जहाँ ईसा से १७०० वर्ष पूर्व से इसका प्रयोग होता रहा था। युरोप में बबूल की गोंद मिस्र और तुर्किस्तान से इटालियन व्यापरियों के द्वारा सर्वप्रथम १३४० ई० में पहुँची। इसके बाद १४४९ ई० से अफ्रीका के पश्चिमी तट से इसका नियमित व्यापार पुर्त्तगालियों द्वारा संचालित होने लगा।[4]

३७. बर्बरी (Ocimum basilicum Linn)—यह पौधा मध्यएशिया

---

१. वही, भाग १. पृ० २९०
२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ३४८
३. यद्यपि यह वृक्ष ज्ञात था। देखें पातञ्जल महाभाष्य १।१।७।४५
४. वाट : भाग १, पृ० ५८

और पश्चिमोत्तर प्रदेश का मूल निवासी है।[१] बृहत्त्रयी में बर्बरी का उल्लेख नहीं है और न धन्वन्तरि निघण्टु में। सर्वप्रथम संभवतः मदनपालनिघण्टु में बर्बरीत्रितय का वर्णन है। राजनिघण्टु में बर्बर नाम से संभवतः इसीका वर्णन है। अष्टांगहृदय में भी बर्बर है (उत्तर० ३।६०); दोनों यदि एक ही हैं तो वाग्भट के काल से ही इसका प्रयोग मानना होगा किन्तु इस विषय पर निघण्टुओं के मौनधारण से सन्देह होता है। अधिक संभावना है कि १२वीं शती के बाद ही इसका विशेष प्रचार हुआ।

३८. बोल (Balsamodendrom myrrha Nees)—बोल उपर्युक्त वृक्ष का निर्यास है। यह वृक्ष अरब तथा लालसागर के किनारे-किनारे अफ्रीका में मूलतः होता है।[२] 'रस' शब्द से चरक के दृढबलकृत अंश (चि० २८।१५०) में इसका उल्लेख है। पुनः अष्टांगहृदय में रस, जातीरस आदि शब्दों से इसका अभिधान है। इससे स्पष्ट है कि गुप्तकाल में आयुर्वेदीय क्षेत्र में उसका प्रवेश हुआ। धन्वन्तरिनिघण्टु में बोल का वर्णन है।

३९. मधुयष्टी (Glycyrrhiza glabra Linn)—यह पौधा दक्षिण युरोप, एशिया माइनर, अर्मीनिया, साइबेरिया, फारस, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान का मूल निवासी है। इसकी खेती इटली, फ्रांस, रूस, जर्मनी, स्पेन और चीन में होती है। भारत में भी इसका प्रयास किया गया है किन्तु अभी भी मध्य एशिया, फारस आदि देशों से इसका आयात होता है।[३] चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं में इसका प्रचुर प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के वैद्य इसका व्यवहार कर रहे हैं। बाहर से खरीद कर आयातित करने के कारण संभवतः इसका पर्याय 'क्लीतक' हुआ हो। उद्भवभेद से यह दो प्रकार की मानी गई है—शुष्क प्रदेश में होने वाली स्थलज और सजल प्रदेश में होने वाली जलज।

४०. मस्तगी (Pistacia lentischus Linn)—इसे रूमी मस्तगी कहते हैं क्योंकि यह भूमध्यसागरवर्त्ती प्रदेशों में बहुलता से होता है।[४] यह उपर्युक्त वृक्ष की गोंद है। यूनानी हकीम लोग इसका विशेष व्यवहार करते रहे उनके माध्यम से ही यह भारत में प्रविष्ट हुआ। सोढलकृत गदनिग्रह[५] (१२वीं शती) में सर्वप्रथम

---

१. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ७, पृ० ७९
२. वाट, भाग १, पृ० ३६७
३. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ४, पृ० १५१
 वाट : भाग ३, पृ० ५१२
४. वही, भाग ६, खण्ड १, पृ० २७०
५. भाग १, पृ० ३८५ (आवर्त्तकाद्यासव)

इसका प्रयोग मिलता है। सिद्धभेषजमणिमाला (सुगन्धिवर्ग) में भी इसका वर्णन है।

४१. महानिम्ब (Melia Azedarach Linn)—प्राचीन काल में इस शब्द से 'अरलु' (Ailanthus excelsa Roxb) का ग्रहण करते थे। मध्यकाल में इससे बकायन लेने लगे और अरलु श्योनाक का पर्याय हो गया। बकायन चिरकाल से अरब और फारस में व्यवहृत होता रहा। भारत में यह मुसलमानी हकीमों द्वारा संभवतः सर्वप्रथम दक्षिणी अञ्चल में प्रविष्ट हुआ। फारसी में इसे आज़ाद दरख्त कहते हैं[1] इसी आधार पर इसका हिन्दी-संस्कृत नाम (द्रेक, द्रेकी, द्रेक्का) तथा लैटिन नाम पड़ा है। धन्वन्तरिनिघण्टु में निम्बविशेष करके महानिम्ब (बकायन) का वर्णन है। डल्हण ने भी इसका उल्लेख किया है[2]।

४२. माजूफल (Quercus infectoria oliver)—'माजू' यह फारसी नाम है। यह वृक्ष ग्रीस, एशिया माइनर, सीरिया और फारस का मूल निवासी है[3]। इसकी शाखाओं पर उत्पन्न कीटगृह फलाकार होने से माजूफल कहते हैं। इसी का संस्कृतीकरण 'मायाफल' हुआ। भोजकृत राजमार्त्तण्ड (स्त्रीरोगाधिकार, ४४) में योनिशैथिल्यहर योग में मायाफल का प्रयोग है। गदनिग्रह में भी इसका उल्लेख है। राजनिघण्टु में मायाफल का वर्णन है। अरबी हकीमों के सम्पर्क से इसका प्रयोग प्रारंभ हुआ।

४३. मेंहदी (Lawsonia alba Lam)—अरबी और फारसी में इसे हिना कहते हैं। यह फारस के आसपास मूलतः होती है, वहाँ से अफ्रीका और भारत में इसका प्रसार हुआ[4]। संभवतः मुसलमानों के साथ यह भारत में आया। मिस्र में २००० ई० पूर्व इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।

सुश्रुत (चि० २५।४२) में मदयन्तिका के पत्रों का विधान अंगराग में किया है। डल्हण ने इसका अर्थ 'मेंहदी' किया है—'मदयन्तिका मेंहदी इति लोके, यस्याः पिष्टैः पत्रैर्नखानां रागं स्त्रिय उत्पादयन्ति'। निघण्टुकारों ने मदयन्तिका मल्लिका के पर्यायों में लिखा है। सुश्रुत का अभिप्राय चाहे जो हो, डल्हण द्वारा 'मेंहदी' का स्पष्ट उल्लेख होने से यह सिद्ध है कि १२वीं शती के पूर्व भारत में इसका प्रसार हो चुका था।

राजमार्तण्ड में मदयन्तिका, अश्वगन्धा और मोचरस के क्वाथ से योनिप्रक्षालन

---

१. वाट : भाग ५, पृ० २२१-२२२

२. देखें 'महानिम्ब' शीर्षक मेरा लेख धन्वन्तरि, संदिग्ध-वनौषधि विशेषांक, (प्रकाश्यमान)

३. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ३७६

४. वही, भाग ४, पृ० ५९७
गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३४७-३५६

का विधान है (योनिसंकोचनार्थ स्त्रीरोगाधिकार, ४५)। यहाँ 'मदयन्तिका' संभवतः मेंहदी है। यही योग गदनिग्रह में भी उद्धृत है। रसरत्नाकर (वादिखण्ड, अ० ६) में मेंहदीपत्रस्वरस से भावना देने का विधान है। किसी निघण्टु में इसका वर्णन उपलब्ध नहीं होता। संभवतः कोई विशेष औषधीय प्रयोग न होने से वैद्यों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। आधुनिक ग्रन्थों में नखरञ्जक (शालिग्रामनिघण्टु), गुच्छौघपुष्प (सिद्धभेषजमणिमाला) नाम से इसका वर्णन है। २०वीं शती में लिखे गये द्रव्यगुण के ग्रंथों में मदयन्तिका नाम से ही इसका वर्णन है[1]।

४४. यवासशर्करा (Manna)—फारस और अरब देशों में यवासा के पौधों से एक प्रकार की शर्करा निकलती है उसे इकट्ठा कर तुरञ्जबीन नाम से बाहर भेजते हैं[2]। यही यवासशर्करा है। चरक में इसका उल्लेख नहीं किन्तु सुश्रुत और अष्टांगहृदय में है। ऐसा लगता है कि संभवतः पूर्वगुप्तकाल में भारत में इसका प्रचार हुआ। धन्वन्तरिनिघण्टु में यवासशर्करा और राजनिघण्टु में तवराजशर्करा के नाम से इसका वर्णन है।

अरब और फारस में मदार से भी एक प्रकार की शर्करा निकाली जाती थी।

४५. युकेलिप्टस (Eucalyptus Sp.)—यह आस्ट्रेलिया का मूल निवासी है। अंगरेजों द्वारा नीलगिरि में १८६३ ई० में इसे लगाया गया।[3]

४६. रामबाँस (Agave)—यह मध्य अमेरिका विशेषतः मेक्सिको का मूल निवासी है। १६वीं शती में पुर्तगालियों द्वारा भारत में इसका प्रचलन हुआ।[4]

४७. रेवन्दचीनी (Rheum emodi wall)—अरबी और फारसी में यह रेवन्द कहलाता है, चीन से आने के कारण 'चीनी' शब्द इसमें जुट गया। यद्यपि यह भारत में उत्पन्न होता है तथापि चीनी द्रव्य भारतीय द्रव्य की अपेक्षा उत्तम माना जाता है। अतएव इसी का प्रयोग अधिक होने के कारण 'रेवन्दचीनी' नाम ही प्रचलित हो गया। राजनिघण्टु में वर्णित 'हिमावली' संभवतः रेवन्द ही है। हिमावली सर, तिक्त, कुष्ठघ्न, उदररोगहर कही गई है। इसका एक नाम ह्रद्धात्री भी है। ग्रन्थिक, रंगकुष्ठक आदि इसके पर्याय सार्थक हैं। आयुर्वेदविज्ञान और शालिग्रामनिघण्टु में 'पीतमूली' तथा सिद्धभेषजमणिमाला में 'रेवतिका' नाम से इसका वर्णन है।

---

१. यादवजी : द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध, खण्ड २, पृ० २०९
प्रियव्रत शर्मा : द्रव्यगुणविज्ञान, भाग २, पृ० १७३
२. वाट : भाग ५, पृ० १६५-१६६
३. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० २०३
वाट : भाग ३, पृ० २८०
४. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग १, पृ० ३८

४६. लवंग—(Syzygium aromaticum (Linn) Merr and M. Perry) यह मोलक्कस का मूल निवासी है।[१] चरक, सुश्रुत, वाग्भट में इसका प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रचार प्राचीन काल से ही है यद्यपि यह द्वीपान्तर[२] से ही आता रहा है। गन्धद्रव्यों में इसका प्रमुख स्थान रहा है। प्रारंभ में मुखशुद्धि के लिए तथा तैलों को सुगन्धित करने के लिए प्रयुक्त होता था। बाद में इसके अन्य औषधीय प्रयोगों का प्रारंभ हुआ।

४७. वत्सनाभ (Aconitum Chasmanthum Stapf ex Holmes) चरकसंहिता के दृढ़बलकृत अंश (चि० २३।११) में केवल एक स्थल पर मूलज स्थावर विषों में वत्सनाभ की गणना है। सुश्रुत में भी केवल कल्पस्थान में विषप्रकरण में इसका उल्लेख है। अष्टांगसंग्रह में विषोपयोग नाम एक स्वतंत्र अध्याय है। इससे प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में विषों का चिकित्सा में उपयोग प्रारम्भ हुआ जिनमें वत्सनाभ प्रमुख था। क्रमशः तान्त्रिक संप्रदाय में रसशास्त्र के साथ-साथ विषों का भी चिकित्सोपयोग बढ़ता गया। रसरत्नसमुच्चय में विस्तार से विषकल्प का वर्णन है।

४८. विजया—(Cannabis Sativa Linn) 'भंग' शब्द ऋग्वेद (९-६१-१३) में अभिषववाचक है। अथर्ववेद (११-८-१५) तथा कौशिकसूत्र (१४।२८, १६।१६; २२।१४, २५।२८, ४७।३८) में भी उपलब्ध है यद्यपि कौशिकसूत्र में यह केवल सूत्र के निमित्त प्रयुक्त है। कात्यायन ने भी पाणिनिसूत्र (५।२।२९) पर अपने वार्त्तिक में इसका विधान किया है। यह लगभग १००० ई० पू० चीनी सम्राट् शेन नाङ् के भेषज-संग्रह में भी निर्दिष्ट है। यह समस्त विश्व में सूत्रों एवं बीजों के लिए उगाया जाता रहा है। ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में इसकी उपयोगिता केवल सूत्रों तक ही सीमित थी जो कोशों में इसके पर्याय 'शण' से द्योतित होता है।[३] बाद में भंगा मादक द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होने लगी और तब 'मातुलानी' कहलाने लगी।[४] पर्यायरत्नमाला विजया से शिवा (हरीतकी) और जयन्ती (तर्कारी) लेता है, भंगा नहीं। धन्वन्तरिनिघण्टु अष्टवर्ग के अन्तर्गत मेदाविशेष के रूप में विजया का वर्णन करता है। यह सब इसके विकासक्रम में संक्रान्तिकाल का बोधक है। भंगा के औषधीय प्रयोग सोढलकृत गदनिग्रह से प्रारम्भ हुये हैं और उसके बाद क्रमशः बढ़ते गये हैं। भंगा के सम्बन्ध में यह विचित्र तथ्य है कि यद्यपि इसका

१. कण्डोल : पृ० १६२
२. द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैः-रघु० ६।५७
३. त्रिकाण्डशेष, ३।६५; निघण्टुशेष, ३९७; भानुजीदीक्षितव्याख्या, अमरकोश २।९।२०
४. अमरकोश २।९।२०; निघण्टुशेष ३९७

२३ आ०

अस्तित्व वैदिक काल से है तथापि इसका औषधीय प्रयोग मध्यकाल में तान्त्रिकों या अरबी चिकित्सकों के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। यह मध्य एशिया का मूल निवासी माना जाता है।[1]

४९. शल्लकी (Boswellia Serrata Roxb)—शल्लकी का उल्लेख बृहत्त्रयी के तीनों ग्रन्थों में है किन्तु इसके निर्यास (कुन्दुरु) का उल्लेख अपेक्षाकृत स्वल्प है। चरक में केवल दृढ़बलकृत अंश (चि० २६।६४; २८।१५१) में है; सुश्रुत में केवल एक स्थल पर है और अष्टांगहृदय में दो स्थलों पर है। यह स्मरणीय है कि निर्यासों का अधिक प्रयोग यूनानी हकीमों ने प्रचलित किया; कुन्दुरु का भी विशेष प्रयोग बाद में उन्हीं के द्वारा हुआ।

५०. सनाय (Cassia angustifolia Vahl)—मूलतः दक्षिणी अरब तथा सोमाली तट पर यह होता है।[2] अरबी चिकित्सकों ने लगभग ९वीं शती में इसका प्रयोग प्रारम्भ किया। भारत में मुसलमानों के संपर्क से आया। निघण्टुओं में इसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। राजनिघण्टु में भूर्याहुल्य को मार्कण्डीय, महौषध, कुष्ठकेतु आदि पर्यायों से कहा है। यह तिक्तरस है तथा ज्वर, कुष्ठ आदि में उपयोगी है। इसीको आगे निघण्टुकारों ने मार्कण्डिका करके वर्णन किया है[3] जो सनाय से भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि मार्कण्डिका वमन-विरेचन दोनों है तथा अत्यधिक तिक्त है जबकि सनाय केवल विरेचन है और उतना तिक्त भी नहीं है। मार्कण्डिका देवदाली की कोई जाति है। परवर्त्ती निघण्टुकारों ने मार्कण्डिका से पृथक् स्वर्णपत्री नाम से सनाय का वर्णन किया है।[4] भावप्रकाश में स्वर्णपत्री नहीं है। सिद्धभेषजमणिमाला में 'सनायकी' नाम से वर्णित है।[5] इससे संकेत मिलता है कि आधुनिक काल में ही इसका अधिक प्रचार हुआ।

सर्पगन्धा—इसका उल्लेख सुश्रुतसंहिता (क० ५।८४) में है। 'सर्पसुगन्धा' शब्द भी आया है (अ० हृ० चि० १४।१०४)। भारत में 'पागल की जड़ी' के नाम से चिरकाल से इसका प्रयोग परंपरा में होता रहा है। १७वीं शती में युरोपीय विद्वानों को इसकी जानकारी हुई। फ्रेन्च वनस्पतिविद् प्लुमियर ने १७०३ ई० में डॉ रॉवुल्फ के नाम पर इसका लैटिन नाम 'राबुल्फिया सरपेण्टिना' रखा। आयुर्वेदिक एवं तिब्बी कालेज, दिल्ली के डा० सलीमुज्जमा सिद्दीकी एवं रफत हुसेन सिद्दीकी

१. वाट : भाग २, पृ० १०३-१०८
२. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग २, पृ० ९३-९४
वाट : भाग २, पृ० २१२-२१४
३. भावप्रकाशनिघण्टु, गुडूच्यादि वर्ग, २८९-२९०
४. शालिग्रामनिघण्टु, गुडूच्यादि वर्ग; आयुर्वेदविज्ञान, विरेचनीय वर्ग
५. द्वितीय गुच्छ, हरीतक्यादि वर्ग, श्लो० ६३

ने सर्वप्रथम १९३१ ई० सर्पगन्धामूल से सक्रिय तत्वों को पृथक् कर इण्डियन क्रेमिकल सोसाइटी के जर्नल में इसका विवरण प्रकाशित किया था। सर्पगन्धामूल पटना के बाजार से मँगाये गये थे।[1] आज यह विश्वविख्यात औषध है। चिकित्साजगत् में विश्व के लिए भारत की यह ऐतिहासिक देन है।

५१. सिन्दूरी (Bixa orellana Linn)—यह अमेरिका का मूल निवासी है[2]। मदनपालनिघण्टु, राजनिघण्टु तथा भावप्रकाशनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि १४वीं शती के पूर्व भारत में इसका प्रसार हो गया था।

५२. सिनकोना (Cinchona succirubra pavon)—यह वृक्ष दक्षिण अमेरिका का मूल निवासी है। पेरु के स्पेनी वाइसराय की पत्नी, काउण्टेस ऑफ सिनकोन (Countess of Cinchon) ने इसके द्वारा रोगमुक्त होने के बाद १६३९ ई० में युरोप में इसे प्रविष्ट कराया था। पादरी लोग इसकी छाल का उपयोग अधिक करते थे अतः यह पेरुवियन बार्क, जेसुइट बार्क और काउण्टेस पाउडर के नाम से विदित था। १७४२ ई० में लिनियस ने 'सिनकोना' प्रजाति की स्थापना की[3]। अंगरेजों ने इसे भारत में भी लगाना शुरू किया। दक्षिणभारत (नीलगिरि) और उसके बाद बंगाल (दार्जिलिंग) में बड़े पैमाने पर इसका रोपण किया गया। १८२० ई० में पेलिटियर और कैवेण्टो (Pellitier and Caventow) ने सिनकोना छाल से क्विनीन को पृथक् किया[4] जो विषमज्वर के लिए रामबाण सिद्ध हुआ। आयुर्वेद के निघण्टुओं में सम्भवतः आयुर्वेदविज्ञान में 'शाखिमूल' करके इसी का वर्णन है। आचार्य यादव जी ने अपने द्रव्यगुणविज्ञान में इसे स्थान दिया है किन्तु निघण्टुकार इसे पूर्णतः आत्मसात् नहीं कर सके।

५३. सोम—यह ऋग्वेदकालीन अतिप्राचीन द्रव्य है। ऋग्वेद में इसका विधान विस्तार से वर्णित है जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय इसका प्रचार पर्याप्त था। सम्भवतः इसकी उपलब्धि सर्वत्र न होने के कारण ब्राह्मणकाल में इसके अभाव में प्रतिनिधि-द्रव्यों का विधान किया। सम्प्रति तो यह द्रव्य पूर्णतः सन्दिग्ध हो गया है[5]।

५४. हिङ्गु (Ferula foetida Regel)—इसके पौधे दक्षिणी तुर्किस्तान, पूर्वी

---

१. The Rauwolfia Story—CIBA Pharma, Bombay. 1945
२. वेल्थ आफ इंडिया, भाग १, पृ० १९६
३. वाट : भाग २, पृ० २९०
४. R. Ghosh's Pharmacology, Calcutta, 1969, P. 752
५. इस संबन्ध में देखें—आर० गॉर्डन वासन का लेख, जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, भाग ९१, सं० २, अप्रिल-जून, १९७१, पृ० १६९-१८७

फारस की वालुकामय मरुस्थली और पहाड़ियाँ, खोरासान, अफगानिस्तान तथा कैस्पियन सागर और अराल सागर के बीच मध्यएशिया के प्रदेश में होते हैं[1]। संस्कृत में इसके 'वाह्लीक' और 'रामठ' पर्याय देशवाचक ही हैं। चरक आदि संहिताओं में प्रचुर उपयोग होने से यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में ही हिंगु का प्रचार यहाँ हो गया था।

पुष्पवर्ग

१. गुलाब (Rosa Cenitifolia Linn)—यह काकेसस तथा असीरिया का मूल निवासी है[2]। संस्कृत में इसके लिए 'शतपत्री' शब्द व्यवहृत हो रहा है। धन्वन्तरिनिघन्टु में शतपत्री का वर्णन तरुणी से पृथक् है। इससे स्पष्ट है कि ये दो भिन्न द्रव्य हैं। चरक और सुश्रुत में तरुणी है, शतपत्री नहीं। आधुनिककालीन निघण्टुओं ने भी 'शतपत्री' नाम से ही इसका वर्णन किया है[3]। कुछ ग्रन्थों में तरुणी और शतपत्री दोनों गुलाब के वाचक हैं। 'शतपत्री' शब्द 'सेण्टीफोलिया' का संस्कृत रूप है। यद्यपि २००० ई० पू० से गुलाब के संकेत मिलते हैं तथापि प्लिनी (पहली शती) ने सर्वप्रथम इसका वानस्पतिक विवरण स्पष्ट रूप से दिया। गुलाबजल निकालने का कार्य फारस से प्रारम्भ हुआ। खलीफा मामून (८१०-८१७ ई०) के राज्यकाल में इसका निर्माण प्रचुरमात्रा में होता था जो चीन, भारत, मिस्र, स्पेन, मोरक्को आदि देशों में भेजा जाता था। अकबर के राज्यकाल में फारस से गुलाब के पौधे लाकर भारत में लगाये गये। १६१२ ई० में नूरजहाँ की माँ ने गुलाब के अतर का आविष्कार किया[4]। फिर भी जहाँगीर के समय देश में बहुत ज्यादा गुलाब नहीं थे[5]।

२. गुलब्बास (Mirabilis Jalapa Linn)—यह पौधा पेरु (दक्षिण अमेरिका) का आदिम वासी है। अतः इसे 'पेरु का चमत्कार' (Marvel of Peru) भी कहते हैं[6]। बागों में शोभा के लिए लगाते हैं। आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं है।

३. गेंदा (Tagetes erecta Linn)--यह अफ्रीका और फ्रांस का मूल निवासी

---

१. वाट : भाग ३, पृ० ३३५
२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ५६०
३. देखें आयुर्वेदविज्ञान, शालिग्रामनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला
४. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० १५-४२
५. तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ४३५
६. वाट : भाग ५, पृ० २५३

है¹। 'झण्डू' नाम से राजनिघण्टु तथा शालिग्रामनिघण्टु में वर्णित है। सिद्धभेषजमणिमाला में 'सहस्रा' (हजारा) नाम से है।

४. चम्पक (Michelia Campaca Linn)—चरकसंहिता में चम्पक का उल्लेख नहीं है। वाग्भट में केवल चम्पकाह्वय अगद में चम्पक का नाम मात्र है। सुश्रुत में ४-५ स्थलों पर उल्लेख है। इससे पता चलता है कि दृढबल के बाद ही चम्पक का प्रचार हुआ। अमरकोष और धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है। बृहत्संहिता में चम्पकगन्धि तैल का वर्णन है।[2]

५. जपा (Hibiscus rosa-sinensis Linn) बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी इसका उल्लेख नहीं है। अमरकोश, पर्यायरत्नमाला और राजनिघण्टु आदि में है। यह चीन का मूल निवासी कहा जाता है।[3] संभवतः गुप्तकाल में यह भारत में आ चुका था क्योंकि कालिदास ने मेघदूत में जपापुष्प का उल्लेख किया है।[4]

६. सूर्यमुखी (Helianthus annuus Linn)—यह मेक्सिको और पेरु का आदिम-निवासी है। युरोप में १६वीं शती के अन्त में प्रविष्ट हुआ। भारत में १६वीं शती के पूर्व ही इसका प्रचार हो चुका था क्योंकि आईन-ए-अकबरी में आफताबी' नाम से इसका उल्लेख है।[5] निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

७. स्थलकमल (Hibiscus mutabilis Linn)—यह मूलतः चीन का निवासी है[6] संप्रति भारत में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। धन्वन्तरिनिघण्टु में पद्मचारिणी नाम से इसका वर्णन है। भावप्रकाश में इसका स्पष्ट वर्णन है।

फलवर्ग

१. अंजीर (Ficus Carica Linn)—यह अफगानिस्तान, फारस तथा सीरिया से लेकर काकेसस तक के भूमध्यसागरवर्ती भूभाग में मूलतः होता है।[7] संहिताओं में फलवर्ग में तथा चरक में श्रमहर गण में जो फल्गु है वह अंजीर ही है। मगधसम्राट् विन्दुसार (३री शती ई० पू०) ने सीरिया के राजा अन्तियोकस से अंजीर मँगवाये थे। सुश्रुत की भद्रोदुम्बरी भी यही है। मलयू और काकोदुम्बरिका नाम से कथित द्रव्य इससे भिन्न (कठगूलर) है जो चरक के तिक्तस्कन्ध में पठित

१. वही, भाग ६, खण्ड ३, पृ० ४०२
२. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ५७-६७
३. वाट, भाग ४, पृ० २४०
४. सान्ध्यं तेजः तिनवजपापुष्परक्तं दधानः —मेघदूत, पू० ३८
५. वाट : भाग ४, पृ० २१०
६. वही, पृ० २४२
७. वाट : भाग ३, पृ० ३४७

है। मध्यकालीन निघण्टुओं में दोनों एक कर दिये गये हैं। आगे चलकर दोनों पुनः पृथक् हो गये। पी० के० गोडे ने गुणकर्म की दृष्टि से विचार नहीं किया अतः भ्रान्त हो गये।[1] फल्गु बृंहण है जबकि काकोदुम्बर कषाय-तिक्त और लेखन है। यह सही है कि अच्छे अंजीर उपर्युक्त प्रदेशों से आते थे किन्तु यहाँ भी अंजीर बुरे नहीं थे।[2]

२. अनानास (Ananas Sativa Linn)—यह दक्षिण अमेरिका (ब्राजिल) का मूल निवासी है। वहाँ यह नानस कहा जाता है इसीका लैटिन रूपान्तर 'अनानास' है। इसका प्रवेश युरोप में १५१३ ई० तथा भारत में १५९४ ई० में हुआ। यहाँ पुर्तगालियों द्वारा सर्वप्रथम बंगाल में प्रचलित हुआ। इसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी[3] और जहाँगीरनामा[4] में मिलता है। शालिग्रामनिघण्टु में अनानास का वर्णन किया गया है।

३. अमरुद (Psidium Guyava Linn) यह मूलतः अमेरिका का निवासी है। भारत में युरोपवासियों द्वारा आधुनिक काल में प्रविष्ट हुआ। 'पेरुक' नाम से शालिग्रामनिघण्टु में इसका वर्णन है। 'पेरुक' शब्द इसके मूल निवासस्थान (पेरु) का बोधक है। निघण्टुरत्नाकर में 'अमरुफल' नाम से है। 'अमरुद' वस्तुतः नासपाती का फारसी नाम है, तदाकार होने में सम्भवतः वही नाम इसका पड़ गया। बाबरनामा (पृ० ५०३-५१४) में अमरुदफल (अमृतफल ?) संभवतः नासपाती है।

४. आरुक (Prunus sp.)—आडू चीन का आदिवासी है। वहाँ से ग्रीस, रोम होते हुए अतिप्राचीन काल में ही भारत पहुँचा। चरकसंहिता में इसका उल्लेख है। धन्वन्तरिनिघण्टु में आरुक चतुर्विध कहा गया है। जहाँगीर लिखता है कि उसके पिता (अकबर) के पूर्व भारत में शाह-आलू नहीं थे[5], वे काबुल से मँगाकर कश्मीर में लगाये गये। उस समय १०-१५ पेड़ फल से लदे थे। इसके अतिरिक्त, उसने कश्मीर में जर्दालु, नासपाती, सेव, अमरुद, अंगूर, अनार, तरबूज और खर्बूज के फलों का उल्लेख किया है (वही, भाग २, पृ० १४६)। बर्नियर लिखता है कि सेव, नासपाती, अंगूर और

१. गोडे। स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० २९५-३१३
२. जहाँगीर अहमदाबाद के अंजीर की तारीफ करता है—देखें तुजुक-ए-जहाँगीरी भाग १, पृ० ४१३, ४२०

सबसे बड़ा अंजीर ७½ तो० का था— वही, पृ० ४३५

३. पृ० ७०
४. 'फलों में अनानास, जो फिरङ्गी बन्दरगाहों पर होता है, सुगन्धि एवं सुस्वादु है। हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष आगरा के गुल-अफ्शां में होते हैं।'

—तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ५-६

५. बुखारा से आलू का निर्यात भारत और चीन को होता है—इब्नबतूता, भाग ३, पृ० ५५० (इसीं कारण उसका नाम 'आलूबुखारा' पड़ गया)।

खर्बूजे के ताजे फल तथा सूखे फल, आलूबुखारा, जर्दालु, किशमिश, मुनक्का (काला और सफेद) मुख्यतः उजबेक से दिल्ली आते थे (यात्राविवरण, पृ० ११८-११९)। इसके अतिरिक्त, फारस, बल्ख, बुखारा और सकरकन्द से भी आते थे (वही, पृ० २४९)।

५. कर्मरंग (Averrhoa Carambola Linn)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु तथा पर्यायरत्नमाला में भी नहीं है। मदनपालनिघण्टु, राजनिघण्टु, भावप्रकाश आदि में है। इससे स्पष्ट है कि लगभग १३वीं शती में इसका प्रचलन भारत में हुआ।

६. काजू (Anacardium Occidentale Linn)—यह अमेरिका का मूल निवासी है। युरोपवासियों द्वारा भारत में इसका प्रचलन हुआ। निघण्टुरत्नाकर तथा सिद्धभेषजमणिमाला में काजूतक नाम से इसका उल्लेख है।

७. खर्बूज (Cucumis melo Linn)—यह पश्चिमोत्तरप्रदेश, बलूचिस्तान और पश्चिमी अफ्रीका का मूल निवासी है। बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। मदनपालनिघण्टु और उसके बाद भावप्रकाशनिघण्टु में इसका वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि मुसलमानी काल में लगभग १२वीं-१३वीं शती में इसका भारत में प्रचार हुआ। ख्वारिज्म (खुरासान) के खर्बूजे बहुत प्रसिद्ध थे। उसके टुकड़े सुखाकर भारत और चीन भेजे जाते थे।[1]

८. खर्जूर (Phoenix dactylifera Linn)—बृहत्त्रयी में खर्जूर का प्रचुर प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि इसका भारत में प्रचलन प्राचीन काल में ही हो गया था। यों इसका मूल निवास अफ्रीका, मिस्र, सीरिया और अरब है। पिण्डखर्जूरिका का उल्लेख धन्वन्तरिनिघण्टु में खर्जूरीविशेष करके है। भावप्रकाश में खर्जूर, पिण्डखर्जूर और छोहारा तीनों का वर्णन है। सोढलकृत गदनिग्रह में छोहाराद्यचूर्ण (क्रिमिरोग) है। 'खर्जूर' शब्द संभवतः अरबी-फारसी (खुर्मा) से निष्पन्न है। यह निश्चित है कि 'पिण्डखर्जूर' शब्द उत्तम जाति के खर्जूर के लिए है जो बाहर से आता था। मार्कोपोलो लिखता है कि बगदाद के पास बसरा में संसार का सर्वोत्तम खजूर होता है (यात्राविवरण, पृ० २६)।

९. चिलगोजा (Pinus gerardiana wall)—यह निकोचक है जिसका

१. वही, पृ० ५४७

जहाँगीर लिखता है—'फारस के व्यापारी यज्द के अनार और करीज के खर्बूजे लाते थे। ऐसे फल मेरे पिता के समय नहीं आते थे। उस समय जहाँगीरी इत्र (इत्र गुलाब) भी नहीं था। जहाँगीर करीज के खर्बूजों की तारीफ करते नहीं अघाता।—तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० २७०,४२२

२. चक्र० च० सू० २७।१५७, डल्हण, सु० सू० ४६।१८७

अपभ्रंश 'नेवजा' पहाड़ी नाम है। बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख है अतः यह प्राचीन-काल से ही प्रचलित है। यह विशेषतः ईरान, अफगानिस्तान में होता है और उन्हीं प्रदेशों से भारत में आता रहा है। टीकाकारों ने इसे उत्तरापथ में उत्पन्न और वहीं प्रसिद्ध कहा है।'

१०. तरबूज (Citrulus Vulgaris schrad)—यह अफ्रीका का मूल निवासी है। चरकसंहिता में नहीं है। सुश्रुतसंहिता में कालिन्द नाम से तथा अष्टांग-हृदय में कालिंग नाम से है। कैयदेवनिघण्टु तथा भावप्रकाशनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है। संभवतः गुप्तकाल के आसपास इसका प्रवेश यहाँ हुआ और क्रमशः इसका प्रचलन बढ़ता गया।

११. नारिकेल (Cocos nncifera Linn)—यह मलयद्वीप तथा इण्डोनेशिया का मूल निवासी है किन्तु अत्यन्त प्राचीनकाल में ही दक्षिणभारत तथा बंगाल में इसका प्रवेश हुआ। बृहत्त्रयी में इसके प्रयोग उपलब्ध हैं। नारिकेलोदक चरक में नहीं है, सुश्रुत और वाग्भट में है। सम्भवतः गुप्तकाल में इसका प्रचार बढ़ा। अरब और फारस में भारत के माध्यम से ही नारिकेल गया; अरबी नारगील और फारसी नारगील शब्द नारिकेल से ही निष्पन्न हैं।

१२. नासपाती (Pyrus communis Linn)—चरक और सुश्रुत में 'टंक' शब्द से उल्लेख है। यह मदनपाल तथा भावप्रकाश निघण्टुओं में 'अमृतफल' कहा गया है। नासपाती को फारसी में अमरूद कहते हैं, संभवतः इसी का संस्कृत रूपान्तर अमृतफल[2] है। इसका स्थान पश्चिमी एशिया है। प्राचीन संहिताओं में उल्लेख होने से यह ज्ञात होता है कि इसका प्रचार प्राचीनकाल से था।

१३. नारंग (Citrus reticulata Blanc)—यह सुश्रुत में 'नारंग' नाम से तथा चरक में 'नागरंग' नाम से है। कुछ लोग इसे चीन और कोचीन-चीन का मूल निवासी मानते हैं और भारत में वहाँ से आयातित बतलाते हैं किन्तु कुछ लोग इसे मूलतः भारतीय मानते हैं। जो भी हो, संहितोक्त होने से यह प्राचीन द्रव्य है इसमें कोई सन्देह नहीं[3]।

१४. पपीता (Carica papaya Linn)—यह मेक्सिको तथा पश्चिमी भारतीय

---

१. बाबरनामा (पृ० ५०३-५१४) में भी 'अमरदफल' है।
२. Ranjit singh : Fruits, National Book Trust, 1969, P. 65
३. यह औत्तरापथिक फलों में परिगणित है और फारस आदि देशों से आता था। मार्कोपोलो ने खुरासान में पिश्ता और बादाम के पेड़ देखे थे। इब्न बतूता ने हेरात में इसके पेड़ों का उल्लेख किया है।

द्वीपसमूह का मूल निवासी है। अमेरिका में इसे 'पपाया' कहते हैं उसी से 'पपीता' शब्द निष्पन्न हुआ है। आधुनिक काल में इसका प्रवेश युरोपवासियों के माध्यम से हुआ है। केवल शालिग्रामनिघण्टु में 'एरण्डचिर्भट' नाम से इसका वर्णन हुआ है।

१५. पिश्ता (Pistacia vera Linn)—यह मुख्यतः सीरिया में होता है। इसके अतिरिक्त, दमस्कस, मेसोपोटानिया तथा खुरासान में होता है। कुछ लोग 'अभिषुक' और कुछ लोग 'मुकूलक' शब्द से पिश्ता का ग्रहण करते हैं। दोनों शब्द प्राचीन संहिताओं में मिलते हैं अतः प्राचीनकाल से ही भारत में इसका प्रचलन रहा है।

१६. राजबदर (उन्नाव)—(Zizyphus Vulgaris Linn) यह चीन का मूल निवासी कहा जाता है। चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सम्भवतः उसके बाद ईरान और फिर सिन्ध में इसका प्रवेश हुआ। 'सौवीर' (सुवीरदेशोत्पन्न) शब्द से सुश्रुत और अष्टांगहृदय में इसका वर्णन है। राजनिघण्टु में राजबदर शब्द भी है।

१७. बादाम (Prunus amygdalus Baill)—फारस और उसके पश्चिम एशिया माइनर, सीरिया और अल्जीरिया में यह मूलतः होता है। 'वाताम' शब्द से बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख है अतः यह अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है। वाताम आदि कुछ फलों को टीकाकारों ने औत्तरापथिक–उत्तरापथ में उत्पन्न तथा वहीं प्रसिद्ध कहा है।[1] इब्नबतूता (१३२५-१३५४ ई०) जब इस देश में पहुँचा तब मुलतान के गवर्नर को किशमिश और बादाम भेंट किया। इस सम्बन्ध में उसकी टिप्पणी है कि ये द्रव्य भारत में नहीं होते और खुरासान से आयातित होते हैं अतः भारतवासियों के लिए ये सर्वोत्तम उपहार हैं।[2] जहाँगीर के समय बादाम के कुछ पेड़ भारत में (कश्मीर में और उसके बाहर भी) थे। वह लिखता है कि कश्मीर के पेड़ १० मार्च को और बाहर के पेड़ १० फरवरी को फूलते हैं।[3] मार्कोपोलो ने खुरासान में थैकन की पहाड़ियों में बादाम और पिश्ता के पेड़ देखे थे[4]।

१८. बिही (Cydonia vulgaris Pers)—फारस के उत्तर में कास्पियन सागर के निकट, काकेसस के दक्षिण और आनातोलिया में यह स्वतः उगता है और वन्य रूप में पाया जाता है। उधर से ही सम्भवतः मुसलमानों के साथ भारत में आया। किसी निघण्टु ने इसका वर्णन नहीं किया है।

१९. बीजपूर (Citrus medica Linn)—चरक सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं

---

१. चक्र० च. सू. २७।१५७; डल्हण, सु. सू. ४६।१८६
२. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३५७-३६४
३. तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग २, पृ० १४४
४. यात्रा-विवरण, पृ० ५३

में वर्णित है। यह मूलतः भारतीय है और यहीं से मेसोपोटामिया, मीडिया और वहाँ से युरोप में फैला [1]।

२०. मधुकर्कटी (Citrus decumana Linn)—यह मलय द्वीपसमूह की मूल निवासिनी कही जाती है। भारत में इसका प्रवेश जावा से हुआ [2]। बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है, धन्वन्तरिनिघण्टु तथा परवर्ती मदनपाल, कैयदेव तथा भावप्रकाशनिघण्टुओं में वर्णित है। सम्भवतः भारत में इसका प्रवेश ८वीं-९वीं शती में हुआ।

२१. रसभरी (Physalis pnruviana Linn)—यह अमेरिका की मूल निवासी है। आधुनिक काल में पुर्त्तगालियों द्वारा भारत में इसका प्रवेश हुआ। सिद्धभेषजमणिमाला में चिरपोटिका नाम से इसका वर्णन है। अन्य निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं मिलता।

२२. लवली—संहिताओं में इसका फल, कटु, तिक्त और सुगन्धि कहा गया है। आजकल जो द्रव्य लिया जाता है उसका फल कच्चा होने पर कषायाम्ल और पकने पर मधुराम्ल हो जाता है। इसे लोक में हरफारेवड़ी (Cicca acida (Linn) Merrill) कहते हैं। इसका स्पष्ट वर्णन भावप्रकाश के पूर्व नहीं मिलता अतः यह उत्तर मध्यकाल में प्रचलित हुआ प्रतीत होता है।

२३. लीची (Nephelium litchi Camb.) यह दक्षिणी चीन का मूल निवासी है। सर्वप्रथम बंगाल में यह १८वीं शती के अन्त में आयातित हुआ। वहाँ से देश में अन्यत्र फैला। अभी भी मुजफ्फरपुर (संप्रति विहार में किन्तु पहले बंगाल का भाग) लीची का प्रमुख केन्द्र है। सिद्धभेषजमणिमाला में 'एलचीफल' के नाम से इसका वर्णन है।

२४. लोकाट (Eryobotrya Japanica Lindl) यह जापान का मूल निवासी है। वहीं से भारत में प्रचलित हुआ [3]।

२५. सीताफल (Anona squamosa Linn) यह क्यूबा, जमायका आदि पश्चिम भारतीय द्वीपों का मूल निवासी है। धन्वन्तरिनिघण्टु आदि में इसका उल्लेख नहीं है केवल १९वीं शती के निघण्टुओं में 'गण्डगात्र' नाम से वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रचलन आधुनिक काल में युरोपवासियों के माध्यम से हुआ।

२६. सेव (Pyrus malus Linn)—यह मूलतः युरोप, अनातोलिया, काकेशस का दक्षिणी अञ्चल तथा गिलन (फारसी भूभाग) में होता है। सेव का वर्णन

१. वाट : भाग २, पृ० ३४९
२. Ranjit singh : Fruits, National Book Trust, 1969, P. 65
३. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० १८६

सर्वप्रथम भावप्रकाश में मिलता है। संभवतः यह युरोपवासियों के माध्यम से भारत में आया।

शाकवर्ग

१. अलाबु (Lageneria Vulgaris ser)—कुछ लोग इसे अमेरिका[१] और कुछ लोग अफ्रीका या एशिया[२] का मूलनिवासी कहते हैं। जो भी हो यह भारत में प्राचीन काल से प्रचलित है क्योंकि प्राचीन संहिताओं में इसका वर्णन उपलब्ध है।

२. अश्वबला (Medicago sativa Linn)—इसे अरबी में फिसफिसत और फारसी में इस्फिशत कहते हैं। इसीसे 'हिस्पिरथ' शब्द यहाँ भी प्रचलित हुआ।[३] इसका मूलस्थान काकेसस के दक्षिण अनातोलिया, फारस, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान आदि है। संभवत एशिया माइनर से इसका विशेषरूप से प्रारम्भ हुआ यद्यपि भारत में भी पश्चिमोत्तर प्रदेश में होता है। ग्रीक इसे मेडिकाई और रोमन मेडिका कहते थे क्योंकि यह उस समय मीडिया से लाया गया था। क्योंकि चरक-संहिता में इसका उल्लेख केवल एक स्थान पर दिव्य औषधियों के प्रकरण में हुआ है (च० चि० १।४।७) इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि उस काल में यह ओषधि ज्ञात थी तथापि यह सुलभ न थी। संभवतः इसका कारण इसका सुदूर देश में होना या देश में भी दुर्गम स्थान में होना था। सुश्रुत में तीन स्थलों पर इसका उल्लेख है[४], दो स्थलों पर चिकित्सा के प्रसंग में और एक स्थल शाकवर्ग में है जहाँ अश्वबला के शाक का विधान है। इससे उस काल में इसके विकसित प्रचार की सूचना मिलती है। संभवतः इस देश में इसका प्रचार प्रसार मध्यकाल के प्रारम्भिक भाग में हुआ क्योंकि सुश्रुत के टीकाकार ब्रह्मदेव (११वीं शती) और डल्हण (१२वीं शती) ने इसे तुरुष्कदेश में होनेवाला लिखा है।[५]

४. आलू (Solanum Tuberosum Linn)—यह चिली (अमेरिका) का आदिनिवासी है। चिरकाल से वहाँ चिली से जिराण्डा तक इसकी खेती की जाती

१. वाट, भाग ४, पृ० ४७२-४७४

२. Wealth of India, Vol. VI, P. 16-18

३. अश्वबला तुरुष्कदेशे वृहत्पत्रा मेथिकाभेद एव हिस्फित्थ इति लोके

—डल्हण, सु. सू. ४६, शाकवर्ग, ४६

४. अश्वबला हिस्फिरथो मेथिकाभेदः—ड० सु० चि० ६।५

५. 'ब्रह्मदेवस्तु अश्वबला यवनभूमौ मेथिकाकारबीजा भवतीत्याह'

—ड० सु० चि० ११।८३

देखें—गोडेः स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १. पृ० ३८४-४०९

वैद्य बापालाल : अश्वबला और मेथी, यादव-स्मृतिग्रन्थ, उत्तरार्ध, पृ० १०८-११४

थी। अमेरिका की खोज के बाद वहाँ से युरोप में सर्वप्रथम स्पेन में १५८० और १५८५ के बीच पहुँचा। भारत में यह पुर्त्तगालियों द्वारा १६वीं या १७वीं शती में आया[1]। शालिग्रामनिघण्टु और सिद्धभेषजमणिमाला में 'अल्लुक' नाम से इसका वर्णन है। इसका अंगरेजी नाम 'पोटैटो' भ्रम के कारण इसे 'वटाटा' (शकरकन्द) समझ कर दिया गया। शकरकन्द का अमेरिकी नाम 'वटाटास' है। बम्बई में अभी भी आलू को वटाटा कहते हैं।

५. कोंहड़ा (काशीफल या पीतकूष्माण्ड) (Cucurbita maxima Duchesne)—रोमन और मध्ययुग में इसका प्रयोग युरोप में होता था। कैण्डोल इसे अमेरिका का मूलनिवासी मानते हैं। भारत में संभवतः आधुनिक काल में इसका प्रवेश हुआ। शालिग्रामनिघण्टु ने पीतकूष्माण्ड का वर्णन किया है।

६. गाजर (Daucus Carrota var. Sativa Dc.)—यूनानी हकीम इसे 'डुकुस' कहते थे और 'कैरो' का अर्थ होता है मांस। इसीसे इसका लैटिन नाम निष्पन्न हुआ है। यह युरोप, अबीसीनिया, उत्तरी अफ्रीका, अरब और साइबेरिया का मूलनिवासी कहा जाता है यद्यपि हूकर इसे कश्मीर और पश्चिमी हिमालय का मानते हैं। सम्भवतः मुसलमानों के साथ मध्यकाल में इसका प्रवेश भारत में हुआ क्योंकि आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में 'गृञ्जर' नाम से वर्णन है[2]। भावप्रकाश ने गृञ्जन (गाजर) नाम से वर्णन किया है।

७. गोभी (Bassica oleracea Linn)—यह युरोप का मूलनिवासी है और युरोपवासियों के साथ १६वीं १७वीं शती में भारत में आया[3]। फ्रेञ्च भाषा में इसे 'कैबस' कहते हैं जिससे कैबेज, कोबी आदि शब्द निष्पन्न है। शिर (कैपुट) के समान आकृति होने के कारण संभवतः यह नाम पड़ा। शालिग्रामनिघण्टु में पुष्पगोभी, पत्रगोभी, ग्रन्थिगोभी नाम से इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया है।

८. टमाटर (Lycopersicum esculentum mill)—यह पेरू (अमेरिका) का मूलनिवासी है। अमेरिका की खोज के बाद युरोप में इसका प्रसार हुआ और वहाँ से भारत में लगभग १७वीं शती में आया।

९. पालक (Spinach oleracea Linn)—युरोपियन विद्वान इसे फारस का मूल निवासी मानते हैं। कैण्डोल का कथन है कि इसका कोई संस्कृत नाम नहीं है किन्तु चरक और सुश्रुत में पालङ्क्य या पालङ्की शब्द से इसका उल्लेख हुआ है। भारत में यह प्राचीन काल से व्यवहृत हो रहा है।

---

१. जॉर्ज वाट, भाग ६, खण्ड ३, पृ० २६६
२. करवीरादिवर्ग, ६९–७०। इससे अनुमान होता है कि १०वीं शती के पहले इसका प्रचार हो चुका था।
३. देखें आईन-ए-अकबरी, पृ० ६६

१०. बैंगन (Solanum melongana Linn)--इसे कुछ लोग भारत[1] और कुछ अरब का मूलनिवासी है। अरबी में इसे बादंगन और फारसी में बादिंगान कहते कहते हैं। इसीसे 'बैंगन' शब्द निष्पन्न है। प्राचीन आयुर्वेदीय निघण्टुओं में वृन्ताक नाम से और परवर्त्ती निघण्टुओं में 'वार्तिगन' नाम से इसका वर्णन है। अरबवासियों के संपर्क से इस देश में 'बैंगन' नाम का प्रचार-प्रसार हुआ।

११. भिण्डी (Abelmoschus esculentes (L) Moench)—यह अफ्रीका का मूल निवासी है। मिस्र में १२१६ ई० में उपलब्ध था। संभवतः मध्य-काल में इसका प्रचार भारत में हुआ। केवल शालिग्रामनिघण्टु में भिण्डा नाम से इसका वर्णन मिलता है। इसकी एक अन्य जाति ढेड़स (Hibiscus ficulneus Linn) का वर्णन संभवतः डिण्डिश नाम से है। बंगाल में भिण्डी को ही ढेढस कहते हैं।

१२. मूँगफली (Arachis hypogaea Linn)—मूलतः यह दक्षिण अमेरिका का निवासी है। वहाँ से भारत में १६वीं शती के बाद ही इसका आगमन हुआ होगा। इसका उल्लेख निघण्टु में नहीं मिलता।

१३. शकरकन्द (Ipomoca batatas Poir)—यह दक्षिण अमेरिका का मूल निवासी है। 'बटाटास' इसका अमेरिकन मूल नाम है। इसीके सादृश्य के कारण आलू को भी 'बटाटा' और अंगरेजी में 'पोटैटो' कहा जाने लगा। यह संभवतः पुर्त्तगालियों द्वारा यहाँ लाया गया तथा १७वीं या १८वीं शती से इसकी खेती होने लगी। निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं है।

अन्नपान

१. कुट्टू (Fagopyrum esculentum Moench)—इसके आँटे का आजकल लोग फलाहार में प्रयोग करते हैं। यह मूलतः मध्यएशिया-मन्चुरिया और साइबेरिया का निवासी है। ग्रीक और रोमन लोगों को यह अज्ञात था। युरोप में मध्यकाल में रूसी और तातारी लोगों के द्वारा पहुँचा। संभवतः तातारियों के माध्यम से यह भारत में पहुँचा। इसकी एक दूसरी जाति (F. emarginatum Meissner) चीन तथा पूर्वोत्तर भारत में ऊँचे पार्वत्य प्रदेश में होती है।[2]

२. चणक (Cicer arientinum Linn)—यह मूलतः काकेसस पर्वत के दक्षिण और फारस के उत्तरवाले भूभाग का निवासी है। फारस से ग्रीस तक के क्षेत्र में यह फैला था। ग्रीस में इसका प्रचार बहुत था, वे इसकी खेती भी करते थे। ग्रीक भाषा में इसे 'एरिबेन्थस' (Erebinthos) और क्रिओस (Krios) तथा

1. B. Chaudhary : Vegetables, National Book Trust, 1967, P. 50
वाट : भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५८-२५९
२. कण्डोल : पृ० ३४८-३५०

लैटिन में साइसर कहते थे[१]। संभवतः यूनानियों के माध्यम से चौथी शती ई० पू० में इसका प्रवेश भारत में हुआ। संस्कृत का 'हरिमन्थ' शब्द संभवतः ग्रीक एरिबेन्थस का रूपान्तर है।[२] चरक के काल (ई० पू० २री शती) तक यह भारत में पूर्णतः प्रचलित हो गया और इसका समावेश आयुर्वेदीय संहिताओं में हुआ।

३. चीनक (Panicum miliacum Linn)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख होने से यह अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है। यह मूलतः मिस्र और अरब का निवासी माना जाता है।[३] इसके नाम से प्रतीत होता है कि इसका संबन्ध चीन से भी हो।

४. ज्वार (Hordeus sorghum Linn)—मिस्र देश में २२०० ई० पू० में इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। प्राचीन संहिताओं में जूर्ण शब्द से तथा मध्यकालीन एवं आधुनिक ग्रन्थों में 'यावनाल' शब्द से इसका उल्लेख किया गया है।[४] इससे सिद्ध है कि भारत में यह प्राचीन काल से प्रचलित है। संभवतः मिस्र देश से अत्यन्त प्राचीनकाल में इसका प्रवेश भारत में हुआ। मगध के प्रदेश में 'मसुरिया जिनोर' इसकी संज्ञा इसके मिस्रदेशीय स्रोत की स्मारक है।

५. तवक्षीर (Curcuma angustifolia Roxb)—इसे लोकभाषा में तिखुर कहते हैं। यह विलायती अरारोट (Maranta arundinacea Linn) का भारतीय प्रतिनिधि द्रव्य है। दक्षिण भारत में विशेषतः आन्ध्र और मलाबार में प्रचुरता से होता है। चरक और सुश्रुत में यह नहीं मिलता। वाग्भट[५] में सर्वप्रथम मिलता है। संभवतः वंशलोचन की अनुपलब्धि के कारण उसके स्थान पर इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। 'वंशरोचनानुकारि पार्थिकं द्रव्यम्' करके मध्यकालीन टीकाकारों ने इसका उल्लेख किया है।[६]

६. त्रिपुट (Lathyrus sativus Linn)—इस नाम से इसका उल्लेख सुश्रुत (सू० ४६।२७) में तथा खण्डिका नाम से चरक (सू० २७।२७) में है। लोकभाषा में इसे 'खेसारी' कहते हैं। यह सतीन (बड़ी मटर), तथा कलाय (छोटी मटर)

---

१. वही, पृ० ३२३-३२५
२. पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० १९३-२४०
३. कण्डोल : पृ० ३७८
४. वही, पृ० ३८३
P. K. Gode : studies in Indian Cultural History, Vol. I, P. 277-282
५. अ० सं० सू० १२।२९
अ० हृ० सू० ३०।५१
६. वाट : भाग ४, पृ० ५९१

से भिन्न द्रव्य हैं। वाग्भट ने 'कलाय' से ही त्रिपुटक का ग्रहण किया और मटर के लिए 'सतीन' शब्द रक्खा। कलाय (त्रिपुट) के अतिसेवन से उत्पन्न खञ्जरोग 'कलायखञ्ज' कहा जाने लगा। इसका क्षेत्र मूलतः काकेसस पर्वत का दक्षिणी अंचल तथा भारत का उत्तरी भाग है।[१]

८. मक्का (Zey mays Linn)—इसका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। यह अमेरिका का मूलनिवासी है। पेरू और मेक्सिको में चिरकाल से इसकी खेती होती थी[२]। अमेरिका की खोज के बाद इसका प्रसार सर्वत्र हुआ। भारत में सम्भवतः १६वीं शती में पुर्तगालियों के साथ आया। रघुनाथ गणेश नवहस्त (१५७५-१७०० ई०) कृत भोजनकुतूहल तथा लोलिम्बराजकृत वैद्यावतंस में इसका उल्लेख है। कतोभट्ट ने अपने निघण्टुसंग्रह (जूनागढ़, १८९३) में इसका नाम नाम 'महाकाय' दिया है[३]।

९. अतियव (Avena orientalis schreber)—यह पूर्वी समशीतोष्ण युरोप तथा मध्य एशिया का मूलनिवासी है। प्राचीनकाल से इटली और ग्रीस में इसकी खेती होती थी[४]। चरक में इसका उल्लेख नहीं है, सुश्रुतसंहिता में है।

१०. राजमाष (Vigna sinensis Savi)—चरक और वाग्भट में 'राजमाष' तथा सुश्रुत में 'अलसान्द्र' शब्द से इसका उल्लेख हुआ है। 'अलसन्द' शब्द प्राचीन ग्रन्थों में अलेक्जेण्ड्रिया के लिए प्रयुक्त हुआ है अतः इसका 'अलसान्द्र' पर्याय उस स्थान से इसका सम्बन्ध सूचित करता है।[५] सम्भवतः सिकन्दर के आक्रमणकाल के बाद इसका प्रवेश भारत में हुआ। इसकी मुख्यतः तीन जातियाँ होती हैं। भावप्रकाश ने भी तीन जातियों का उल्लेख किया है।

११. साबूदाना (Manihot utilissima Pohl)—इसके वृक्ष अमेरिका के मूलनिवासी है। यह ब्राजिल से लेकर पश्चिमी द्वीपसमूह तक प्रचुर पाया जाता है[६]। इसके तने के स्टार्च से दाने बनाकर बाजार में बिकते हैं। पथ्य और फलाहार में इसका प्रयोग होता है। युरोपवासियों के साथ यह भारत में आया। सिद्धभेषजमणिमाला में[७] इसका उल्लेख मिलता है।

१. चक्र० च० चि० २।१।३०
२. वाट : भाग ६, खण्ड ४, पृ० ३२८
३. पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० २८३–२९४ मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित (१९६७) वैद्यावतंस में यह अंश उपलब्ध नहीं है।
४. कण्डोल, पृ० ३७३–३७६
५. प्रियव्रत शर्मा : चरकचिन्तन, पृ० ६५
६. कण्डोल, पृ० ५९
७. २।१७९

१२. सोयाबीन (Dolichos soja Linn)—इसका मूल क्षेत्र कोचीन-चीन से लेकर जापान और जावा तक है। प्राचीन काल से इसकी खेती चीन और जापान में होती रही है। सर्वप्रथम मोलक्कस से इसका पौधा कलकत्ता बोटानिकल गार्डेन में लाया गया था[१]। सम्प्रति पौष्टिक आहार के सम्बन्ध में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है। आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

१३. कॉफी (Coffea arabica Linn)—यह अबीसिनिया, सूडान, गिनी तथा मोजाम्बिक में मूलतः होता है। मिस्र देश में प्राचीन काल से इसका व्यवहार होता था। वहाँ इसे 'कवे' कहते थे जिससे फ्रांसीसी 'काफे' और बाद में 'कॉफी' शब्द निष्पन्न हुआ। ग्रेट ब्रिटेन में कॉफी की पहली दूकान १६५२ ई० में खुली। भारत में यह किसी मुसलमान द्वारा १८वीं शती में सर्वप्रथम मैसूर में लाया गया। इसकी खेती १८३० ई० में प्रारंभ हुई[२]।

१४. चाय (Thea sinensis Linn)—इसका मूल स्थान चीन तथा भारत (आसाम, मणिपुर) माना जाता है किन्तु चीन में इसका प्रचार अत्यन्त प्राचीन काल से है जब कि भारत में इसका प्रचलन आधुनिक काल में हुआ। चीन में पेंत्से (२७०० ई० पू०) तथा राई (३०० ई० पू०) ने चाय का उल्लेख किया है। चीनी यात्री इत्सिंग (७वीं शती) भी भारतयात्रा में चाय साथ लाया था और उसका सेवन करता था। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाय की खेती प्रारम्भ की। १६६४ ई० में उसने तत्कालीन इंगलैण्ड के सम्राट् को चाय का एक डब्बा उपहारस्वरूप भेजा था।[३] आयुर्वेदविज्ञान में 'श्यामपर्णी' तथा शालिग्रामनिघण्टु में 'चाय' नाम से इसका वर्णन है।

जान्तव द्रव्य

जन्तुओं के अवयवों-शृंग, खुर, नख, पित्त आदि तथा उनसे प्राप्त अन्य द्रव्यों का प्रयोग[४] चिरकाल से चिकित्सक करते आ रहे हैं किन्तु यह क्षेत्र भी सीमित नहीं रहा। इसमें भी नये द्रव्यों का समावेश होकर उनकी संख्या बढ़ती रही। यहाँ कुछ विशिष्ट द्रव्यों का ही वर्णन किया जायगा।

१. अम्बर (Ambergris)—'अग्निजार' शब्द से इसका वर्णन धन्वन्तरिनिघण्टु (६।२१-२२) में मिलता है किन्तु संहिताग्रन्थों में नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि

---

१. वही, पृ० ३३०–३३२

२. वाट : भाग २, पृ० ४६१-४६५

३. वही, भाग २, पृ० ७५-७७
   कण्डोल, पृ० ११७-११९
   पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३७०-३७६

४. च० सू० १।६९-७०

संहिताकाल के बाद मध्ययुग में इसका समावेश आयुर्वेद में किया गया। अन्य निघण्टुओं में भी इसका वर्णन प्रायः नहीं मिलता। रसरत्नसमुच्चय में साधारण रसों में इसका वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि वैद्य इसका प्रयोग कम ही करते थे, इसका विशेष प्रयोग यूनानी हकीम करते रहे। यह मुसलमानों के साथ १०वीं शती के कुछ पूर्व भारत में प्रविष्ट हुआ। 'अम्बर' शब्द अरबी 'अनबर' का रूपान्तर है। अनेक कोषों ने सुगन्धि द्रव्य करके इसका उल्लेख किया है। अमरकोष में यह नहीं है।[1] मैडागास्कर, मोजाम्बिक, सोकोतरा, निकोबार आदि द्वीपों में यह समुद्र से एकत्रित किया जाता रहा है।

२. कस्तूरी—प्राचीन संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं है इससे प्रतीत होता है कि चिकित्सा में इसका प्रयोग मध्यकाल में प्रचलित हुआ। लेप में भी पहले शीतकाल में कुङ्कुम और अगुरु तथा उष्णकाल में चन्दन का लेप करते थे।[2] बाद में उष्णलेप में कस्तूरी का प्रयोग होने लगा।[3] यह एक उत्तम गंधद्रव्य है जिसकी माँग सारे संसार में रही। औषध में भी इसका प्रयोग प्रायः सभी चिकित्सापद्धतियों में उत्तेजक के रूप में हुआ। यह स्पष्ट है कि पहले लेप के रूप में इसका बाह्य प्रयोग और उसके बाद औषधीय आभ्यन्तर प्रयोग प्रारम्भ हुआ। तिब्बत, नेपाल, आसाम, कश्मीर आदि प्रदेशों में कस्तूरीमृगों से यह प्राप्त होता था। भारत के व्यापारिक द्रव्यों में यह प्रमुख था। १४९८ ई० में जब वास्को डि गामा कालीकट पहुँचा तो वहाँ के राजा ने भेंटस्वरूप कस्तूरी की ५० थैलियाँ उसे दीं।[4] अफजल खाँ ने बिहार से जहाँगीर को अगुरु और चन्दन आदि के साथ कस्तूरी का कोष भेंट किया था।[5]

३. नख (Helix aspera)—यह एक गन्धद्रव्य है। बृहत्संहिता में उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इसका प्रयोग होता था। सुश्रुतसंहिता के एलादिगण के गंधद्रव्यों में व्याघ्रनख और शुक्ति (नख) दोनों हैं किन्तु चरक में इसका उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि चरकोत्तर काल में इसका प्रचलन हुआ।

---

१. P. K. Gode : History of Ambergris in India, Studies in Indian Cultural History, Vol. I, PP. 9-18

२. देखें ऋतुचर्याप्रकरण च० सू० ६, अ० हृ० सू० ३

३. बृहत्संहिता और हर्षचरित आदि में कस्तूरी का उल्लेख और प्रयोग है जिससे सूचित होता है कि गुप्तकाल में इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया था।

४. Danverse : The Portuguese in India, P. 56

५. तुजुक-ए-जहाँगीरी, पृ० २०६

४. पूति (Civet)—गन्धमार्जार की वृषणवत् ग्रन्थि से एक सुगन्धित पदार्थ निकाला जाता है यही पूति या गन्धमार्जारवीर्य के नाम से वर्णित है। प्राचीन संहिताओं में यह उपलब्ध नहीं होता। गन्धद्रव्य के रूप में बृहत्संहिता के गन्धयुक्ति प्रकरण में भी नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में लोमशविडाल, भावप्रकाश में गंधमार्जारवीर्य तथा राजनिघण्टु में 'जवादि' नाम से इसका वर्णन है। सोमेश्वरकृत मानसोल्लास में विलेपन तथा धूपद्रव्यों में इसका उल्लेख है (१।३।९९६; १९।३।१६९७-९९)। इससे अनुमान है कि १०वीं शती के लगभग इसका व्यवहार प्रारम्भ हुआ। भारत में यह मलाबार प्रान्त में होता है; अफ्रीका और दक्षिण एशिया में अधिक है। इसका औषधीय प्रयोग मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ। इसकी ग्रन्थि सुखाकर 'खट्टाशी' नाम से बेचते थे, इसमें भी कुछ गन्ध होती है अतः तैल को सुवासित करने के लिए इसका व्यवहार होता था। हकीम लोग इसका व्यवहार करते थे। भारत में गन्धद्रव्यों का जो व्यापार था उसमें इसका प्रमुख स्थान था।

बर्नियर ने अपनी यात्रा (१६५६-१६६८ ई०) के क्रम में इसका वर्णन किया है।[1] इथिओपिया का राजदूत जब औरंगजेब के दरबार में आया तब उसे राजा की ओर से एक बड़े (आधा फुट व्यास) वृषशृंग में भरकर जवाद भेंट किया गया (वही, पृ० १३५)।

५. प्रवाल-मुक्ता आदि—समुद्र से प्राप्त प्रवाल, मुक्ता और शंख, का प्रयोग ई० पू० से हो रहा है क्योंकि चरकसंहिता में इसका उल्लेख और प्रयोग है। रोमन स्त्रियाँ हिन्दमहासागर से ये द्रव्य प्राप्त कर विदेशों में भी भेजे जाते थे। रोमन स्त्रियाँ भारतीय मोती बड़े चाव से पहनती थीं। मध्यकाल में बसरा में भारतीय मोतियों का वेधन होकर तब युरोप भेजा जाता था। भूमध्यसागर से भी प्रवाल भारत में आता था। इन समुद्री पदार्थों का व्यापार दक्षिणभारत से विशेष होता रहा। चरककाल में इनके चूर्ण का प्रयोग था, बाद में रसशास्त्र के आविर्भाव के बाद इनकी भस्म बनने लगी। हकीमों के संपर्क से गुलाबजल से घोंटकर मुक्ता और प्रवाल की पिष्टि बनाई जाने लगी।

चरक में प्रवाल का प्रयोग तो है (१।१।५८ आदि) किन्तु मुक्ता का प्रयोग एक ही स्थल (चि० १७।१२५) पर केवल दृढबलकृत अंश में है। इससे अनुमान होता है कि प्रवाल का प्रयोग पहले प्रारम्भ हुआ और मुक्ता का औषधीय प्रयोग गुप्तकाल में प्रचलित हुआ। शंख का प्रयोग भी चरक में है। शुक्ति का प्रयोग

---

१. बंगाल का वर्णन करते हुए लिखा है—यहाँ सर्वोत्तम लाह, अफीम, जवाद, पीपल, और अनेक औषधियाँ होतीं हैं।
एफ० बर्नियर : ट्रैवल्स इन दी मुगल इम्पायर (ए० डी० १६५६-१६६८), दिल्ली (द्वि० सं०, १९६८) पृ० ४३७-४४०

वाग्भट से प्रारम्भ होता है (अ० हृ० सू० १५।४३, ३०।१६ आदि)। वराटक और शम्बूक का प्रयोग संभवतः मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ।

६. शरीरधातु—रक्त, मांस, मेद, शुक्र आदि का चिकित्सार्थ प्रयोग चरककाल से ही होता रहा।[1] अत्यधिक रक्तस्राव होने पर अजा का रक्त पीने का विधान है। क्षय-शोष के मांसाहारी प्राणियों का मांसाहार विहित है। चतुःस्नेहों में मेद और मज्जा समाविष्ट हैं। शुक्रक्षय में अनेक प्राणियों के शुक्र और अण्ड का सेवन करने का विधान है। मांसवर्ग में विभिन्न जन्तुओं के मांस का गुणधर्म बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि उनका औषधीय प्रयोग अवश्य था और लोग आहार में भी उसका सेवन करते थे। बौद्धधर्म के प्रभाव से मांसाहार सीमित हो गया। सम्राट् अशोक ने अपनी पाकशाला में मांस प्रायः वर्जित कर दिया था। धर्मशास्त्रों में भी मांसाहार को निकृष्ट माना गया। तब भी मांसाहार अब तक चला ही आ रहा है।

७. शारीरमल—विभिन्न प्राणियों के मूत्र का प्रयोग चिकित्सा में चिरकाल से होता रहा है।[2] मध्यदेश में गौ की बहुलता के कारण गोमूत्र का ही प्रयोग विशेष हुआ। मरुप्रदेश में विशेषतः ऊँट, बकरी और भेंड़ के मूत्र का प्रयोग होता रहा। पुरीष में गोबर (गोमय) का प्रयोग पञ्चगव्य के रूप में हुआ है। अश्वशकृत् का भी प्रयोग क्रिमिघ्नरूप में विहित है[3]। अजा-शकृत् का यक्ष्मा[4] और नेत्ररोगों में प्रयोग है। नरमूत्र का भी प्रयोग विष आदि में हैं।

८. स्तन्य—नारी तथा अनेक पशुओं के स्तन्य का प्रयोग भी चरकसंहिता (सू० १।१०७) में विहित है अतः ई० पू० से इसका प्रचलन है। मध्य एशिया तथा मरुप्रदेशों में ऊँट का दूध व्यवहृत है। गुजरात में बकरी का दूध अधिक प्रयुक्त होता है।[5]

---

१. च० शा० ६।९

२. च० सू० १।९५

३. च० वि० ७।२४

४. सु० उ० ४१।५४

५. जहाँगीर को श्वासकष्ट और हृच्छूल हुआ तब हकीम रूहुल्ला के निर्देशानुसार उसने ऊँटनी और बकरी का दूध लेना शुरु किया। तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग २, पृ० २२२। जहाँगीर ने लिखा है—'एक हिरनी दुहने पर चार सेर दूध देती थी जो गाय या भैंस के दूध के समान ही लगता था। लोग कहते हैं, यह श्वास-रोग में लाभकर हैं।—वही, भा० १, पृ० १४८

हकीम अली ने ऊँटनी का दूध बतलाया जो लाभकर हुआ।

—वही, भाग २, पृ० ४६

द्रव्यगुण का वाङ्मय

प्राचीनकाल

वैदिक वाङ्मय द्रव्यगुण का प्राचीनतम स्रोत है। ऋग्वेद में भारत की प्राचीनतम वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में इनकी संख्या और भी अधिक हो गई[१]। भारत जैसे विशाल देश में यह स्वाभाविक ही था कि जैसे-जैसे वनस्पतियों का परिचय तथा उनके गुणकर्मों का ज्ञान होता गया वैसे-वैसे ग्रन्थों में उन्हें स्थान मिलता गया। वैदिक वाङ्मय में भी निघण्टु से द्रव्यगुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसके कारण आज भी द्रव्यगुण के ग्रन्थ 'निघण्टु' नाम से प्रचलित हैं। निघण्टु एक प्रकार के शब्दकोष हैं जो पर्यायों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। इन्हीं की व्याख्या निरुक्त है जो छः वेदांगों में अन्यतम है। पर्यायों के माध्यम से द्रव्यों के सम्बन्ध में जानकारी देने की परम्परा आगे भी चलती रही। कुछ काल बाद द्रव्यों के गुणकर्म भी उसमें समाविष्ट किये जाने लगे और निघण्टुओं की दूसरी धारा प्रवाहित हुई। इस प्रकार द्रव्यगुण का वाङ्मय दो रूपों में उपलब्ध होता है एक जिनमें केवल द्रव्यों के पर्याय होते हैं, गुणकर्म नहीं होते यथा पर्यायरत्नमाला और दूसरे जिनमें पर्याय के साथ गुणकर्म भी होते हैं यथा मदनपालनिघण्टु। वाग्भटकृत अष्टांगसंग्रह से ही औषधद्रव्यों के गुणकथन की विधिवत् परंपरा प्रारम्भ होती है यद्यपि चरक और सुश्रुत में भी इनके गुणकर्म छिटपुट वर्णित हैं।

सौश्रुतनिघण्टु—काश्यपसंहिता के उपोद्घात में पं० हेमराज शर्मा ने यह सूचना दी है कि उनके पास सुश्रुतसंहिता की कोई हस्तलिखित प्रति है जिसके अन्त में लिखा है 'अतः निघण्टुर्भविष्यति' और फिर इसके अन्त में 'इति सौश्रुतायां संहितायां महोत्तरायां निघण्टुः समाप्तः' है। यद्यपि इस ग्रन्थ के स्वरूप, विषयवस्तु आदि के सम्बन्ध में कोई सूचना इस प्रसंग में नहीं दी गई तथापि इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन संहिताओं के पीछे परिशिष्ट में निघण्टुभाग जोड़ने की परम्परा रही हो और सम्भवतः इसी कारण ग्रन्थ के मुख्य कलेवर में

१. देखें—प्रियव्रत शर्मा : वैदिक वाङ्मय में वनौषधियां (चौखम्बा, प्रकाशनाधीन)
G. P. Mazumdar : Vedic Plants, B. C. Law Vol. Pt. I
P. P. 645-666

Jyotir Mitra : Medicinal Plants of Vedic Antiquity, Nagarjuna, Vol. XIII, No. 12; Vol, XIV, Nos. 1–3, August—November. 1970

दिनेशचन्द्र शर्मा : वेदों में द्रव्यगुणशास्त्र (आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर, १९६८-६९ ई०)

द्रव्यगुण का वर्णन पृथक् से नहीं किया गया। किन्तु ऐसा कोई निघण्टु अद्यावधि दृष्टिपथ में नहीं आने के कारण इसके विषय में कुछ निश्चयात्मक कहना कठिन है।

रसवैशेषिक—सम्भवतः सुश्रुतप्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुनद्वारा इसकी रचना ५वीं शती में की गई (देखें पृ० ५५)। यह नरसिंहकृत भाष्य के साथ त्रिवेन्द्रम से १९२८ में प्रकाशित हुआ है। चिकित्सिकलिका-व्याख्या में चन्द्रट ने रसवैशेषिक को अनेक बार (पृ० १७, १८, २२) उद्धृत किया है किन्तु यह सम्भवतः उससे भिन्न कोई चिकित्सा-ग्रन्थ प्रतीत होता है।

मध्यकाल

अष्टांगनिघण्टु—वाहटाचार्यकृत अष्टांगनिघण्टु या अष्टांगहृदयनिघण्टु की पाण्डुलिपियाँ दक्षिणभारत के पुस्तकालयों में हैं। इनके आधार पर प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित होकर यह हाल ही में प्रकाश में आया है[१]। इसमें अष्टांगहृदय में कथित गणों के द्रव्यों का पर्यायशैली से वर्णन है। इसके बाद कुछ प्रकीर्ण द्रव्यों का भी वर्णन किया गया है।

इसके प्रणेता वाहटाचार्य अष्टांगहृदयकर्ता वाग्भट ही हैं या अन्य कोई इसका विवेचन उपर्युक्त प्रकाशन की भूमिका में किया गया है जिससे यह निष्कर्ष निकला है कि यह वाहटाचार्य उस वाग्भट से भिन्न व्यक्ति हैं। यह वाग्भट प्रथम हो नहीं सकते क्योंकि इसमें अष्टांगहृदय के भी द्रव्य हैं। कुछ द्रव्य इसमें ऐसे भी हैं जो अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय दोनों में नहीं है यथा पूति[२]। अतः निश्चय ही यह वाहटाचार्य उन दोनों का परवर्ती है जब ऐसे द्रव्यों का प्रवेश आयुर्वेद में हो चुका था। जेज्जट, पर्यायरत्नमाला (दोनों ९वीं शती), चक्रपाणि (११वीं शती) आदि ने इस निघण्टु का उपयोग किया है[३] अतः यह उनसे पूर्व ८वीं शती का है।

पर्यायरत्नमाला—यह शिलाहृदनिवासी इन्द्रकरसूनु माधव की रचना है। अनेक विद्वान इसे इन्दुकर मान तदात्मज माधव को रुग्विनिश्चय (माधवनिदान) कर्ता के रूप में ग्रहण करते हैं किन्तु, जैसा पिछले अध्यायों में दिखाया गया है, अनेक माधवों के मध्य कम से कम तीन माधव स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् उभरते हैं—

१. कुप्पुस्वामी शास्त्री शोध-संस्थान, मद्रास—४, १९७३
२. इसके अतिरिक्त अन्य ऐसे तथ्य हैं जो भिन्नता प्रदर्शित करते हैं। देखें—उपर्युक्त ग्रन्थ की भूमिका, पृ० २२
३. अमरकोशव्याख्याकार सर्वानन्द (१२वीं शती) ने भी वाहट (निघण्टु) को उद्धृत किया है—
'मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुरुवत्तराः इति तु वाहटः'—वैश्यवर्ग ९।४३

१. रुग्विनिश्चयकर्त्ता माधव (चन्द्रकरात्मज)

२. पर्यायरत्नमालाकार माधव (इन्द्रकरसूनु)

३. द्रव्यगुणकर्त्ता माधव

इस प्रकार पर्यायरत्नमाला के रचयिता माधव उपर्युक्त दोनों माधवों से भिन्न हैं। इनके पिता का नाम इन्द्रकर था और निवासस्थान शिलाह्नद था। शिलाह्नद भागलपुर के पास पुरातन विक्रमशिला विश्वविद्यालय का अधिष्ठान पथरघट्टा नामक स्थान है। संभव है, माधव इस विश्वविद्यालय में अध्यापक रूप से संबद्ध हों।

तारापद चौधरी ने इन्हें रुग्विनिश्चयकर्ता मानकर इनका काल ७वीं शती निर्धारित किया है[२] किन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न होने के कारण इसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता। रुग्विनिश्चय सर्वप्रथम वृन्द (९वीं शती) द्वारा उद्धृत ही नहीं अपितु अनुसृत है जबकि पर्यायरत्नमाला को सर्वानन्द[3] (१२वीं शती) के पूर्व किसी ने उद्धृत नहीं किया। आभ्यन्तर साक्ष्यों के आधार पर यह धन्वन्तरिनिघण्टु के पूर्व ठहरता है क्योंकि धन्वन्तरिनिघण्टु में अहिफेन, भंगा और यशद का वर्णन है तथा रसरत्नसमुच्चय के वचन भी उसमें मिलते हैं[४] जब कि पर्यायरत्नमाला में इनका अभाव है। यह स्मरणीय है कि पर्यायरत्नमाला में 'विजया' शब्द हरीतकी और तर्कारी के लिए आया है[५], भंगा के लिए नहीं। पर्यायरत्नमाला में वार्त्ताक के लिए 'वार्तिंगन' शब्द आया है जो फारसी 'वादिंगान' से निष्पन्न है। इसमें पारद, गंधक, अभ्रक आदि का वर्णन है जो रसशास्त्र की विकसित स्थिति का द्योतक है जब कि माधवचिकित्सित में कोई रसयोग नहीं है। ब्रध्नरोग का वर्णन माधवनिदान में नहीं है जब कि वृन्दमाधव में है; पर्यायरत्नमाला में भी यह शब्द आया है। यह सब तथ्य पर्यायरत्नमालाकार को ८वीं शती के बाद ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इस ग्रंथ का उपसंहारपद्य 'सुरूपा सुपदन्यासा सत्कुलोत्था सुभाषिणी' महाकवि माघ के एक पद्य[६] की अनुकृति है। माघ ७वीं या ८वीं शती के थे।

---

१. भिषजा माधवेनैषा शिलाह्नदनिवासिना। यत्नेन रचिता रत्नमालेन्द्रकरसूनुना॥

२. पर्यायरत्नमाला—तारापदचौधरीसंपादित, पटना युनिवर्सिटी जर्नल, भाग २, १९४६, भूमिका, पृ० १–२

३. अमरकोश—भाग २, पृ० ९१; ८१ भाग ३, पृ० २३९, २४५, २८२ आदि। 'माधव', 'रत्नमाला', 'वैद्यकरत्नमाला' नामों से इसके उद्धरण हैं।

४. धन्वन्तरिनिघण्टु ६।४,२७,२८

५. शिवाजयन्त्योर्विजया।

६. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥—शिशुपालवध २।११२

इस प्रकार पर्यायरत्नमाला का काल धन्वन्तरिनिघण्टु (१०वीं शती) के कुछ पूर्व तथा ८वीं शती के बाद अर्थात् ९वीं शती सिद्ध होता है।

निघण्टु—चक्रपाणि ने दो स्थलों पर निघण्टु के वचन उद्धृत किये हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि यह निघण्टु चक्रपाणि (११वीं शती) के पूर्व का होगा। यह इतना प्रचलित रहा होगा कि केवल 'निघण्टु' कहने से उसीका बोध होता होगा जैसे निदान कहने से माधवनिदान का। अमरकोश के व्याख्याकार क्षीरस्वामी[2] (११वीं शती) और सर्वानन्द[3] (१२वीं शती) ने भी अनेक स्थलों पर निघण्टु को उद्धृत किया है। श्रीकण्ठदत्त ने वृन्दमाधव की व्याख्या में 'निघण्टु' (३९।६) और 'निघण्टुकार' (१।२०१) का उल्लेख किया है। आढमल्ल की शार्ङ्गधरसंहिता-व्याख्या में भी निघण्टु उद्धृत है (खण्ड २, ६।९-११)। शिवदाससेन (१५वीं शती) ने भी इसे उद्धृत किया है।[4]

धन्वन्तरिनिघण्टु[5]—अब तक यह प्राचीनतम निघण्टु माना जाता रहा। कुछ विद्वान् कहते हैं कि अमरकोष का वनौषधिवर्ग धन्वन्तरिनिघण्टु पर आधारित है[6] अतः उसका काल अमरकोष (५वीं या ६ठीं शती) के बहुत पूर्व होगा जबकि कुछ लोग अमरकोष को ही १०वीं शती में मानते हैं[7]। अस्तु, किसी निर्णय पर पहुंचने के पूर्व विभिन्न साक्ष्यों पर विचार करना चाहिए।

बाह्य साक्ष्य—१. हेमाद्रि एवं अरुणदत्त (१३वीं शती) ने इसे उद्धृत किया है अतः १३वीं शती के बाद का नहीं हो सकता।

---

१. पिण्याकः तिलकल्कः, निघण्टुकारस्त्वाह—पिण्याको हरितशिग्रुः—च० सू० २७।४
'लेलीतकः पाषाणभेदः औत्तरापथिकः, उच्यते हि निघण्टौ—
आसीद् दैत्यो महाबाहुर्लेलिहानो महासुरः।
योजनानां त्रयस्त्रिंशत् कायेनाच्छाद्य तिष्ठति॥
विष्णुचक्रेण संछिन्नः पपात धरणीतले।
वसा तस्य समाख्याता लेलीतक इति क्षितौ॥'—च० चि० ७।७०

२. अमरकोश (क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द की व्याख्याओं के सहित), त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, १९१५ (भाग २), १९१७ (भाग ३), भाग २, पृ० २,१००, २९२; भाग ३ पृ० २१६, २४३।

३. वही, भाग ४ (१९१७)—पृ० ११३

४. चक्रदत्त (कलकत्ता संस्करण), पृ० ७०, १३७

५. आनन्दाश्रम पूना, १९२५

६. Amarakosa, Oriental Book Agency, Poona, 1941, Introducbtion PP. VII-VIII

७. त्रिकाण्डशेष, प्रस्तावना, पृ० ७

२. हेमचन्द्र (१२वीं शती) ने अभिधानचिन्तामणि की व्याख्या में तथा वर्धमान (१२वीं शती) ने गणरत्नमहोदधि में इसे उद्धृत किया है अतः यह १२वीं शती के पूर्व का है। मंख (१२वीं शती) ने भी अपने पूर्ववर्त्ती कोशों में इसका उल्लेख किया है।[१]

३. अमरकोष के व्याख्याकार क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने इसे उद्धृत किया है अतः यह ११वीं शती के पूर्व का है।

आभ्यन्तर साक्ष्य—१. ग्रन्थकर्त्ता के प्राक्कथन से पता चलता है कि इसके पूर्व कई निघण्टुओं की रचना हो चुकी थी जिनका सार लेकर यह निघण्टु बनाया गया है।[२] इससे सिद्ध है कि धन्वन्तरिनिघण्टु आद्यनिघण्टु नहीं है बल्कि अनेक निघण्टुओं की अनुगामिनी रचना है।

२. ग्रन्थ के प्रारम्भ में धन्वन्तरि को नमस्कार किया गया है तथा ग्रन्थ को धन्वन्तरि के मुख से प्रादुर्भूत कहा गया है[३]। इसके अतिरिक्त धन्वन्तरि के कर्तृत्व का कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे इसकी प्राचीनता प्रमाणित हो। ऐसा आख्यान अपनी कृति का महत्त्व स्थापित करने के उद्देश्य से किसी परवर्ती लेखक द्वारा जोड़ा गया होगा।

३. इसके विपरीत, इसमें अहिफेन[४], जयपाल[५], अग्निजार[६], विजया[७] आदि ऐसे द्रव्यों का वर्णन मिलता है जो मध्यकाल में मुसलमानों के सम्पर्क से यहाँ प्रचलित हुए। 'म्लेच्छ'[८] और 'यवन'[९] शब्द संभवतः इन्हीं के लिए व्यवहृत हुआ है।

४. पारद के संस्कारों[१०] का वर्णन रसशास्त्र की विकसित अवस्था का बोधक है जो लगभग १३वीं शती में थी। तत्कालीन प्रमुख ग्रन्थ रसरत्नसमुच्चय के कुछ पद्य[११] इसमें मिलते भी हैं।

---

१. भागुरिकात्यहलायुधदुर्गामरसिंहशाश्वतादिकृतान्।
कोशान्निरीक्ष्य निपुणं धन्वन्तरिनिर्मितं निघण्टुञ्च॥

२. तथा निघण्टाम्बुनिधेरनन्ताद् गृह्णाम्यहं किञ्चिदिहैकदेशम्।

३. उपक्रम-पद्य, १, गुडूच्यादि वर्ग, १; गणद्रव्यावली ६।१६

४. ६।१२०-१२१;

५. १।२२७-२२८; ७।१३१-१३२

६. ६।२१-२२

७. १।३०-३१

८. ४।६६; ६।९,४०,९७

९. ४।७१

१०. ६।३७-३९; ३।१०९-११३

११. ६।१,५

रसरत्नसमुच्चय का काल १२५० ई० है अतः १३वीं शती के अन्त के पूर्व धन्वन्तरिनिघण्टु को नहीं रख सकते।

संप्रति जो धन्वन्तरिनिघण्टु प्रचलित है उसमें द्रव्यावलि नामक ग्रन्थ भी मिला हुआ है। वस्तुतः आद्यभाग द्रव्यावली ही है जैसा कि उपक्रम एवं उपसंहार पद्यों से स्पष्ट होता है।[1] सातों वर्गों की औषधियों की गणना कर चुकने पर ग्रन्थकार ने कहा कि अब द्रव्यों के पर्यायकथन से वर्णन करेंगे किन्तु ऐसा न होकर पुनः धन्वन्तरि की वन्दना के पश्चात् द्रव्यों के गुणकर्म का निरूपण होने लगता है। इस सहसा क्रमभंग से पता चलता है कि द्रव्यावलि नामक मूल ग्रन्थ का उद्देश्य पर्यायशैली से द्रव्यवर्णन का था न कि गुणकर्मशैली से। इससे भिन्न इतर ग्रन्थ द्रव्यों के गुणकर्म का विवरण था। धन्वन्तरिनिघण्टु इन दोनों ग्रन्थों का सम्मिलित रूप है जिसमें संभवतः पर्याय तो हैं द्रव्यावलि के और गुणकर्म हैं इतर ग्रंथ के। यह संभव है कि इतर ग्रंथ की संज्ञा धन्वन्तरिनिघण्टु ही हो जो गुणकर्म-वर्णन के कारण प्रमुख होकर द्रव्यावलि को अपने में समाविष्ट किये हैं। यदि पूरा ग्रन्थ एक होता तो पुनः बीच में नमस्कारात्मक मंगल की भी आवश्यकता न होती। ऐसा भी स्पष्ट होता है कि द्रव्यावलि पूर्ववर्त्ती रचना है और धन्वन्तरिनिघण्टु परवर्त्ती। आभ्यन्तर साक्ष्य में जो तथ्य ऊपर दिये गये हैं उनमें कोई भी द्रव्यावलि में नहीं मिलता। यह सम्भव है कि क्षीरस्वामी ने द्रव्यावलि भाग को दृष्टि में रखकर लिखा हो क्योंकि अमरकोष में पर्यायों का ही प्रसंग था, गुणकर्म का नहीं। अरुणदत्त के काल तक धन्वन्तरिनिघंटु का रूप पूर्ण हो चुका होगा यद्यपि कुछ तथ्य बाद में भी समाविष्ट हुये। यशद का प्रसंग इसी प्रकार का है। यशद द्रव्यतः 'खर्परसत्व', रीतिहेतु आदि शब्दों के द्वारा ज्ञात था तथापि 'यशद' शब्द फारसी 'जस्त' का संस्कृत रूपान्तर है जो सर्वप्रथम आढमल्ल (१४वीं शती) की टीका में मिलता है। उसके पूर्व किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। भावप्रकाश (१६वी शती) के पूर्व उसे सप्तधातुओं में भी स्थान नहीं मिला। यदि यशद का उल्लेख करनेवाला प्रथम ग्रन्थ धन्वन्तरिनिघंटु को ही मानें तब भी इसे १३वीं शती से पूर्व रखना कठिन है।

---

१. द्रव्यावलिं विना वैद्यास्ते वैद्याः हास्यभाजनम्।
द्रव्यावल्यभिधानानां तृतीयमपि लोचनम्॥
द्रव्यावलिनिविष्टानां द्रव्याणां नामनिर्णयम्।
लोकप्रसिद्धं वक्ष्यामि यथागमपरिस्फुटम्॥ १५-१६
'शतत्रयं च द्रव्याणां त्रिसप्तत्यधिकोत्तरम्।
हिताय वैद्यविदुषां द्रव्यावल्यां प्रकाशितम्॥ उपक्रम ७४
द्रव्यावलि की पांडुलिपियाँ मिथिला शोधसंस्थान, दरभंगा में है।

इस प्रकार आद्य भाग और उत्तर भाग दोनों को मिलाकर देखने से धन्वन्तरिनिघण्टु का काल १०वीं से १३वीं शती होता है।

जैसा पहले कहा गया है, धन्वन्तरि इस ग्रंथ के कर्त्ता नहीं हैं। पूना की अनेक पाण्डुलिपियों में इसका कर्त्ता महेन्द्रभोगिक लिखा है[1]। सम्भव है, ग्रंथ को वर्त्तमान रूप इसी ने दिया हो।

धन्वन्तरिनिघंटु की विषयवस्तु सात वर्गों में विभाजित है—

१ गुडूच्यादि	२. शतपुष्पादि
३. चन्दनादि	४. करवीरादि
५. आम्रादि	६. सुवर्णादि
	७. मिश्रकादि[2]

इन्दुनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने इन्दुनिघण्टु के अनेक उद्धरण दिये हैं*

---

१. Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss., B, O. R. I., Vol, XVI, Pt. I, Serials 105–111

२. देखें—P. V. Sharma : The date of Dhanwantari Nighantu, I. J. H, S., Vol. 5, No. 2, 1970, PP, 364-370

* १. उदुम्बरस्तु यज्ञांगः सुचक्षुः श्वेतवल्कलः।
हेमदुग्धः कृमिफलः क्षीरवृक्षः स काञ्चनः॥

२. तुंगः पुष्पकसंज्ञः स्यात् पुंनामा रक्तकेसरः।
पुंनागः पुरुषाह्वश्च केषांचित् पद्मकेसरः॥

३. त्रिष्वर्थेषु नादेयी तर्कारी जलेवतसी भूमिजम्बूश्च।
चतुर्ष्वर्थेषु अक्षीवः समुद्रलवणं नीली महानिम्बः सौभाञ्जनश्च॥

४. रोधः कषायकृद् वल्लश्चिल्लको मधुपुष्पकः।
व्रणौषधं कालहीनो हिमपुष्पोऽक्षिभेषजम्॥
उत्सादनो घनत्वक्कस्तरः शबरपादपः।
रोध्रः शाबरकः श्वेतत्वगतीसारभेषजम्॥
द्वितीयः पट्टिकारोध्रो बृहत्पत्रस्तिरीटकः।
उत्तालकस्तिलकश्च पट्टी लाक्षाप्रसादनः॥

५. शेलुः श्लेष्मातकः शीतो वसन्तकुसुमस्तथा।
उद्दालकः कुर्बुरटः शेलुको भूतवृक्षकः॥
पिच्छिलः शापितः शेलुस्तथासत्बीजकुत्सितः। लेखबाटो बहुवारः—

६. ककुभस्त्वर्जुनः पार्थो नदीसर्जो धनंजयः।
अश्रीफलश्चित्रयोगी वीरो वीरान्तकस्तथा॥
त्र्यर्थे-इन्द्रद्रुः कुटजोऽर्जुनश्च।

जिससे प्रतीत होता है कि यह उस काल में प्रचलित निघण्टु रहा होगा। अष्टांगसंग्रह

७. वन्दनी पुष्पशोभना। गंधप्रियंगुः कारम्भालता, गौर्वर्णं भेदिनी॥

८. आहार्यं बहुवीर्यं च तुमुलं च विभेदकम्।

९. अग्निमन्थोऽग्निमथनस्तर्कार्यरणिको जयः।
अरणिः कणिका सैव तपनो वैजयन्तिकः॥

१०. संज्ञेया हेमनामभिः

११. स्निग्धच्छदा मधुश्रेणी पृथुत्वग्रसवाहिनी।
स्वश्रेणी मधुमती मुरुंगी द्विजमेखला॥
आलोलनी योगवहा मोरटा च मधुस्रवा।
सुपोषिता स्निग्धपर्णी गोकर्णी सा मधूलिका॥
पीलुपर्णी कर्मकरी प्रमथा मधुमतीति च।

१२. ऋष्यप्रोक्ता स्वयंगुप्ता कपिकच्छूश्च कण्डुरा।
आत्मगुप्ता दुरालम्भा जंगलिर्दुरभिग्रहा॥
अभ्यङ्गा वृषभी गुप्ता कण्डुरा शूकशिम्बिका।
कपिरोमफला चैव समाना प्रावृषायणी॥
ज्ञेया जांगलिका चैव साजहा प्रावृषायणी।

१३. ब्रह्मरीतिस्तथा स्पृक्का भार्ङ्गी च ब्राह्मणी मता।

१४. विकसा कालमेपी तु कालमेष्टी च जिंगिका।
रक्ता भाडीरिका चेति—

१५. पिप्पली तण्डुलफला वैदेही कृष्णतण्डुला।

१६. कोलदलं बदरीपत्राख्यया उक्तम्।

१७. स्पृक्का माला पंकमुष्टिर्नीला देवी लतागुरुः।
देवपुत्री च लंकोपी शीता पंकजमुष्टिका॥
स्रग्मारुता कोटिवर्षा निर्माल्याशावधूः स्मृता।

१८. कर्कशाख्यः करंजः स्यात् स काम्पिल्यः पटोलकः।

१९. चक्रमर्दः स्मृतश्चक्री प्रपुन्नाडश्च नामतः।
एकरेतो दद्रुहरो मेषाचैडगजश्च सः॥

२०. अवदत्तं रणप्रियम्।

२१. त्रिपुटेतीन्दुः (एला)

२२. बदरी स्निग्धपत्रा च राष्ट्रवृद्धिकरी तथा।
फलं तस्याः स्मृतं कोलं कोकिलं फेनिलं कुहम्॥
लोलं सूक्ष्मफलं तत्तु ज्ञेयं कर्कन्धु कन्दुकम्।
स्वादुः कटुः सिंचितिका तच्च कोलं फलं मतम्॥
कोलिफलत्वात् कोलिकमिति सम्यः पाठः, कोकिलमिति तु वैद्याः ॥

तथा अष्टांगहृदय का टीकाकार इंदु इससे भिन्न व्यक्ति हैं क्योंकि हेमाद्रि (१३वीं शती) के पूर्व किसी ने उसे उद्धृत नहीं किया। शिवकोष में भी इन्दुनिघण्टु के तीन उद्धरण मिलते हैं[1] अतः १७वीं शती में यह उपलब्ध रहा होगा। सम्प्रति इसका कोई पता नहीं चलता।

चन्द्रनन्दननिघंटु—यह क्षीरस्वामी (११वीं शती) द्वारा उद्धृत* होने के कारण उसके पूर्व का है। संभवतः अष्टांगहृदय के व्याख्याकार चन्द्रनन्दन की ही यह रचना है।

चन्द्रनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने चन्द्र** और चन्द्रनन्दन दोनों

---

१. पूतीकरञ्जः सुमनास्तथा कलहनाशन इतीन्दुः—शिवकोष, पूना संस्करण (१९५२), पृ० १६४। शेष दो क्षीरस्वामी द्वारा निर्दिष्ट उद्धरणों में से ही हैं।

* १. अग्निमन्थोऽग्निमथनस्तर्कारी वैजयन्तिका।
वह्निमन्थोऽरणिः केतुर्जयः पावकमन्थनः॥
तर्कार्यां वैजयन्ती च वह्निनिर्मथनी जया।
अरणिका जयन्ती च विजया च जयावहा॥

२. कुर्यकस्तरणिर्वल्ली कुमार्यलिकुलप्रिया।

३. 'व्यर्थे सहा मुद्गपर्णी वला तरणी च'

४. चव्या कोला च चविका श्रेयसी गजपिप्पली।
यवना कोलवल्ली तु चव्यं कुञ्जरपिप्पली॥

५. वला भद्रौदनी ह्वया तथा वाट्यालकः स्मृतः।

६. चण्डा धनहरी चौरी चोरपुष्पा च तस्करी।
तथा निशाचरी च स्यात् केशिनो ग्रन्थिकेत्यपि॥

** १. पलाशः किंशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः।
क्षारश्रेष्ठो वातपोथो ब्रह्मवृक्षः समिद्वरः॥

२. वेतसो विदुलो नम्रो वञ्जुलो दीर्घपत्रकः।
नादेयी गंधपत्रश्च जलौकाः समृतस्तथा॥
नदीकूलप्रियस्त्वन्यः सुशीतो घनपुष्पकः।
जलजातस्तोयकामो विदुलो जलवेतसः॥
निचुलो वेतसादन्यो वध्यते स्थलवेतसः।

३. अरिष्टस्तु सुमंगल्यः कृष्णबीजोऽर्थसाधनः।
रक्षाबीजः शीतफेनः फेनिलो गर्भपातनः॥

४. वदरी गोपघोण्टा च घोण्टा घुण्टाथ कोकिला।
स्निग्धच्छदा कोलफला राष्ट्रवृद्धिकरी तथा॥

निघण्टुओं के पृथक् उद्धरण दिये हैं जिससे ये दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। ११वीं शती में उद्धृत होने के कारण यह उसके पूर्व का ही है।

निमिनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने निमि के कुछ वचन उद्धृत किये हैं[1] जिनके आधार पर अनुमान होता है कि निमि का भी कोई निघण्टु था।

हरमेखलानिघण्टु—यह क्षीरस्वामी (११वीं शती) द्वारा उद्धृत है[2] अतः उसके पूर्व १०वीं शती का है। निश्चलकर और शिवदाससेन ने भी इसे उद्धृत किया है।

द्रव्यगुणसंग्रह—यह चक्रपाणिदत्त की द्रव्यगुणसम्बन्धी कृति है। इसमें आहारद्रव्यों का प्रतिपादन मुख्यतः किया गया है। चक्रपाणिदत्त ने अनेक तन्त्रों का सार लेकर इसमें संकलित किया है[3]। इसकी विषयवस्तु १५ वर्गों में विभाजित है यथा—धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, लवणादिवर्ग, फलवर्ग, पानीयवर्ग, क्षीरवर्ग, तैलवर्ग, इक्ष्वादिवर्ग, मद्यादिवर्ग, कृतान्नवर्ग, भक्ष्यवर्ग, आहारविधि, अनुपानविधि, मिश्रक। धान्यवर्ग के प्रारम्भ में रसगुणवीर्यविपाक के लक्षण दिये गये हैं[4]।

चक्रपाणिदत्त का परिचय एवं कालसंबन्धी विचार पृ० २१० पर देखें।

अरुणदत्तनिघण्टु—वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि (पृ० २७७) में अरुणदत्त के अनुसार रसोन के गुणकर्म किये हैं[5]। इससे स्पष्ट है कि अरुणदत्त का कोई निघण्टु भी था जिसमें द्रव्यों के गुणकर्म वर्णित थे। यह अरुणदत्त कोशकार था या अष्टांगहृदय का व्याख्याकार यह कहना कठिन है। यदि गणरत्नमहोदधि का रचनाकाल

---

५. अम्लिका चुक्रिका चुक्रा साम्ला शुक्ताथ शुक्तिका।
अम्लिका चाम्लिका चिञ्चा तित्तिडीकं च तिन्तिडी॥

६. रोहितको रोचनकः प्लीहघ्नो रक्तपुष्पकः।
रक्तघ्नो रोहितो रक्तो रोही दाडिमपुष्पकः॥

७. शिवाऽन्यथा पूतनेति।

१. 'पाटली कृष्णवृन्तेति निमिः'—भाग २, ११० (त्रिवेन्द्रम संस्करण)
'माक्षिकं तैलवर्णं स्याद् घृतवर्णं तु पौत्तिकम्।
भ्रामरं तु भवेच्छुक्लं क्षौद्रं तु कपिलं भवेत्॥—वही, पृ० २४२

२. अमरकोष, क्षीरस्वामी-व्याख्यासहित, पूना संस्करण, १९४१, पृ० १०१

३. तन्त्राणां सारमाकृष्य द्रव्याणां गुणसंग्रहः। भिषजामुपकाराय रचितश्चक्रपाणिना॥

४. द्रव्यगुणसंग्रह के दो प्रकाशन उपलब्ध हैं—एक पं० ज्वालाप्रसादमिश्रकृत भाषाटीकासहित गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित (१९२५), और दूसरा कलकत्ता से प्रकाशित।

५. 'रसोनः रिनरधश्चोष्णश्च लशुनः कटुको गुरुः।'
अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिताः।—गणरत्नमहोदधि, पृ० २७७

११४० ई० स्वीकृत किया गया तो यह निघंटु अवश्य ही १०वीं या ११वीं शती का होगा। अधिक सम्भावना है कि कोशकार अरुण ने ही आयुर्वेद का भी कोई निघण्टु लिखा हो जैसे हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि के अतिरिक्त निघण्टुशेष की रचना की।

वाप्पचन्द्रनिघण्टु—वोपदेव ने सिद्धमन्त्र की प्रकाशव्याख्या में वाप्पचन्द्रकृत निघण्टु के अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं[1]। इससे पता चलता है कि व्याख्याकार के साथ-साथ वाप्पचन्द्र निघण्टुकार भी थे। इनके काल का विचार तृतीय अध्याय में किया गया है।

निघण्टुशेष—यह जैन आचार्य हेमचन्द्र की रचना है[2]। यह पर्यायशैली पर आधारित निघण्टुग्रन्थ है। इसमें छः काण्ड हैं—वृक्षकाण्ड, गुल्मकाण्ड, लताकाण्ड, शाककाण्ड, तृणकाण्ड और धान्यकाण्ड। हेमचन्द्र का काल १२वीं शती है। इसके अतिरिक्त, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह और देशीनाममाला उनकी रचनायें हैं। रुद्राक्ष, पुत्रंजीव, चाणक्यमूलक, यावनाल आदि का वर्णन द्रष्टव्य है।

सोढलनिघण्टु

यह अभी तक अप्रकाशित है[3]। इसकी एक पांडुलिपि[4] में 'गुणसंग्रह' और दूसरी[5] में 'नामसंग्रह' नाम है। संभवतः ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों मिलकर 'नामगुणसंग्रह' सोढलनिघंटु का पूर्णरूप हो[6]।

---

१. अम्लिकाकन्दः—'अम्लिका स्वल्पविटपा सुकुमाराम्लनालिका। प्रायेण कामरूपादौ तत्कन्दश्चार्शसे हितः॥ इति वाप्पचन्द्रोक्तः।
'रामठं काण्डीरभेदः—यदाह वाप्पचन्द्रः' हरितो द्विविधः प्रोक्तः काण्डीरस्तत्त्वदर्शिभिः। कटुकः कच्छदेशादौ भक्ष्यन्त्यामभेव तु। द्वितीयस्तूदकोद्भूतः रामठ इति गीयते॥'
'गृञ्जनः पलांडुभेदः, तथा च वाप्पचन्द्रः'—गन्धाकृतिरसैस्तुल्यो गृञ्जनस्तु पलांडुना। दीर्घनालाग्रपत्रत्वाद् भिद्यतेऽसौ पलांडुतः॥

२. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित (१९६८)। इसमें वल्लभगणि की टीका भी है। टीका में धन्वन्तरिनिघण्टु, इन्दुनिघण्टु, मदनपाल, चन्द्रनन्दन, चन्द्र, चामुंड, वोपदेव आदि के उद्धरण हैं।

३. बड़ौदा प्राच्य शोधसंस्थान द्वारा प्रकाशनाधीन। इसका सम्पादन प्रस्तुत लेखक ने किया है।

४. पा. सं. ३४९।१८८०-८१, भंडारकर संस्थान, पूना; लिपिकाल १४१२ ई०

५. पा. सं. ९२७।१८८४-८७, ,, ,, ,, १६५५ ई०

६. नामगुणसारसंग्रह की पांडुलिपियाँ यत्र तत्र मिलती हैं—देखें, पा० सं० ९२५। १८८४-८७, पूना। पुष्पिकाओं में इसका नाम कहीं नामसंग्रह और कहीं नाम-

सोढल रायकवालवंशीय भास्कर के पुत्र और गुजरात के निवासी थे। इनके पुत्र शार्ङ्गदेव संगीतरत्नाकर के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। सोढल आयुर्वेद के अतिरिक्त, साहित्य, व्याकरण और ज्योतिष के प्रौढ विद्वान तथा एक सुकवि थे। प्रारंभिक मंगलाचरण से वह सूर्यभक्त प्रतीत होते हैं।

विषयवस्तु—सोढलनिघण्टु ने धन्वन्तरिनिघण्टु का अनुसरण किया है। द्रव्यावलि प्रायः समान ही हैं, लक्ष्मणादि वर्ग सोढलनिघण्टु में विशिष्ट है। इसमें निम्नांकित वर्ग हैं—

१. गुडूच्यादि	१०. क्षीर	१९. मूत्र
२. शतपुष्पादि	११. दधि	२०. शूकधान्य
३. चन्दनादि	१२. तक्र	२१. जूर्णा
४. करवीरादि	१३. नवनीत	२२. तृणधान्य
५. आम्रादि	१४. घृत	२३. शिम्बीधान्य
६. सुवर्णादि	१५. तैल	२४. कृतान्न
७. लक्ष्मणादि	१६. मधु	२५. अनुपान
८. पानीयादि	१७. इक्षु	२६. मांस
९. पानीय	१८. मद्य	२७. मिश्रकाध्याय

इसके बाद अष्टांगहृदय आदि के आधार पर रसगुणवीर्यविपाक आदि का वर्णन है।

द्रव्यों के प्रमुख गुणकर्म व्यावहारिक आधार पर दिये गये हैं। अधिकांश द्रव्यों का गुणकर्म एक ही पंक्ति में कह दिया गया है यथा 'वासकः क्षयकासघ्नो रक्तपित्तकफापहः'। इस प्रकार यह चिकित्सकों के लिए अतीव उपयोगी है। द्रव्यों के प्रकारभेदों का भी निरूपण किया गया है यथा कर्पूरत्रितय, पाठाद्वय, खदिरद्वय आदि। चन्दन आठ प्रकार का कहा गया है। अरलु, मेथिका, तवक्षीर, श्वेतमरिच, पारसीकयवानी, वेतसाम्ल, बोल, कुन्दुरु, सिल्हक, कंकुष्ठ, धत्तूर, विषतिन्दुक, तुवरक, गृञ्जन, वाताम, खर्जूर, मानक, कुमारी, बब्बूली आदि द्रव्य महत्त्वपूर्ण हैं। धातुओं में यशद का वर्णन नहीं है।

काल—धन्वन्तरिनिघण्टु (१०वीं शती) का अनुसरण करने के कारण इसका काल उसके बाद का ही है। शार्ङ्गधर (१३वीं शती) और मदनपाल (१४वीं शती) ने सोढल का अनुसरण किया है। शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में जो परिचय दिया है वह इसके कालनिर्णय में सर्वाधिक सहायक है। उसमें सोढल का सम्पर्क देवगिरि के यादव राजाओं—भिल्लम, जैत्र और सिंहण—इन तीनों से बतलाया गया है।

गुणसंग्रह मिलता है—'इति नामगुणसंग्रहाभिधाने गुडूच्यादिः प्रथमो वर्गः समाप्तः', 'निघण्टुसारसर्वस्वे धन्वन्तरिमतोद्धृते। चन्दनादिरयं वर्गस्तृतीयो नामसंग्रहे॥

सिंघण के नाम से दो योग भी गदनिग्रह में दिये गये हैं। संभव है, लेखक ने स्वयं बनाकर राजा के सम्मान में उसका नाम रख दिया हो। यह स्मरणीय है कि सिंघण एक उदार विद्याप्रेमी और आयुर्वेदभक्त था जिसके आसपास चिकित्सकों का एक विशाल वर्ग विद्यमान था। सोढल सम्भवतः इस समाज का शिरोमणि था। इस प्रकार सोढल के जीवन का अधिकांश भाग १२वीं शती में बीता और सिंघण के राज्यकाल (१२१२-१२४७ ई०) में उसका देहावसान हुआ[1]।

संभवतः सोढलनिघण्टु की रचना गदनिग्रह के पूर्व हुई क्योंकि गदनिग्रह में अहिफेन और भंगा आदि का प्रयोग है किन्तु निघण्टु में उसका वर्णन नहीं है। यह भी संभव है कि मुसलमानों के संपर्क से हाल ही में इन द्रव्यों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ हो और तब तक इन द्रव्यों के गुणकर्म पूर्णतः निर्धारित न हुये हों।[2]

माधवद्रव्यगुण—[3]कई पाण्डुलिपियों में इसका नाम 'भावस्वभाववाद'[4] भी दिया है किन्तु पुष्पिका में 'माधव-द्रव्यगुण' है। माधव अनेक हैं जिनकी चर्चा चतुर्थ अध्याय में की गई है। द्रव्यगुण के रचयिता माधव रुग्विनिश्चयकार तथा पर्यायरत्नमालाकार दोनों से भिन्न हैं। यह माधवकवि[5] संभवतः द्रव्यगुणकर्त्ता पुरुषोत्तम के पिता तथा श्रीकण्ठदत्त के पौत्र थे। यह वंशपरम्परा इस प्रकार है:—

श्रीकण्ठदत्त (विजयरक्षित-शिष्य)
|
चक्रदत्त
|
माधव
|
पुरुषोत्तम

---

१. और देखें चतुर्थ अध्याय में गदनिग्रह का प्रकरण (पृ० २८८)

२. विशेष विवरण के लिए देखें—P. V. Shrma : The Nishantu of Sodhala, A. B. O. R. I. Voi. LII, Poore, 1972

३. यह ग्रन्थ प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित होकर चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९७३ ई० में प्रकाशित हुआ है।

४. उपक्रमपद्य इस प्रकार है :—
'रसवीर्यविपाकाद्यैः सिद्धः सद्वैद्यपूजितः।
भावस्वभाववादोऽयमार्षः संह्रियते मया॥

५. सुश्रुतचरकपराशरवाग्भटहरिचन्द्रभेडवैदेहैः।
हारीताद्यैरपरैरुक्तं यद् यन् महामुनिभिः॥
आकृष्य सर्वशास्त्राण्युमयुक्तसमस्तवस्तुगुणदोषः।
माधवकविना रचितः सुखहेतोः सर्वसत्त्वानाम्॥—उपसंहार—पद्य

काल—शिवकोष (१७वीं शती), शिवदाससेन (१५वीं शती), आढमल्ल (१४वीं शती) तथा बोपदेव ने सिद्धमन्त्र की प्रकाश-व्याख्या (१३वीं शती) में माधवद्रव्यगुण को उद्धृत किया है। चक्रपाणि (११वीं शती) ने इसे उद्धृत नहीं किया है तथा माधव ने सोढल (१२वीं शती) का अनुसरण किया है।[1] टोडरानन्द (१६वीं शती) ने द्रव्यगुण-प्रकरण में समस्त माधवद्रव्यगुण को समाहित कर लिया है केवल लेखक का नाम हटा दिया है। अतः इसका काल १२५० ई० के लगभग निर्धारित किया गया है।

विषयवस्तु—माधव-द्रव्यगुण में २९ वर्ग है जिनमें प्रथम (विविधौषधिवर्ग) और अन्तिम (प्रकीर्णवर्ग) सबसे बड़े हैं। ग्रन्थ में कुल लगभग ९०० श्लोक हैं। इसमें जयपाल, विजया तथा अहिफेन का वर्णन है।

सिद्धमन्त्र—जैसे किसी सिद्ध मन्त्र का उच्चारण करते ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है वैसे ही इसके अभ्यास से यथेष्ट ओषधियाँ समक्ष उपस्थित हो जाती हैं और चिकित्सा में सफलता प्राप्त होती है। सिद्ध मन्त्र अल्पाक्षर होने पर भी प्रभूत फल देनेवाला होता है वैसे ही यह ग्रन्थ लघुकाय होने पर भी द्रव्यों का ज्ञान शीघ्र कराता है।[2]

इस ग्रन्थ के कर्त्ता वैद्याचार्य केशव महादेव के पुत्र और प्रसिद्ध विद्वान वैद्य वोपदेव के पिता हैं। यह वरदा नदी के तट पर स्थित वेदपद नगर के निवासी थे जो दण्डक क्षेत्र के राजा सिंहराज की राजधानी थी। केशव सिंहराज के राजवैद्य थे। आयुर्वेद की शिक्षा इन्होंने भास्कर से प्राप्त की थी।[3] यदि सिंहराज प्रसिद्ध सिंहण ही हैं तो भास्कर शार्ङ्गदेव के पितामह और सोढल के पिता होंगे।

काल—सिंघण का काल १२०० ई० से १२४७ ई० है, इस प्रकार केशव का काल १३वीं शती का पूर्वार्ध होगा। यह इस तथ्य से भी संपुष्ट होता है कि इनके पुत्र वोपदेव महादेव (१२६०-१२७१ ई०) और रामचन्द्र (१२७१-१३०९ ई०) के प्रधानामात्य हेमाद्रि के समकालीन थे।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें उपर्युक्त ग्रन्थ की भूमिका।

२. येनोच्चारणमात्रेण पुरः स्फुरति भेषजम्।
सोऽयं चिकित्सकप्रीत्यै सिद्धमन्त्रः प्रकाश्यते॥
ग्रन्थः संग्रथ्यतेऽत्यल्पः सिद्धमन्त्राह्वयो मया।
वैद्याः सुखेन द्राग् द्रव्यशक्तितत्त्वं विदन्त्विति॥
मदनपाल के 'अतिलघु' निघण्टु का अभिप्रायः संभवतः इसी से है।

३. लेभे जन्म महादेवादायुर्वेदं च भास्करात्।
संमानं सिंहराजाद्यः केशवः कारकोऽस्य सः॥—उपसंहारपद्य

विषयवस्तु—सिद्धमन्त्र[1] का विषय आठ वर्गों में व्यवस्थित है :—

१. वातघ्न वर्ग
२. पित्तघ्न वर्ग
३. कफघ्न वर्ग
४. वातपित्तघ्न वर्ग
५. कफवातघ्न वर्ग
६. कफपित्तघ्न वर्ग
७. दोषघ्न वर्ग
८. दोषल वर्ग

दोषों की अंशांशकल्पना के अनुसार उन पर द्रव्यों के प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए ५७ वर्ग निर्धारित किये गये हैं। एक 'उदासीन' वर्ग भी रखा गया है यथा वातोदासीन, पित्तोदासीन, कफोदासीन। वातोदासीन द्रव्य न वातघ्न है और न वातकर है। जिन द्रव्यों के संबन्ध में आचार्यों का मतभेद है उसके समाधान में भी इसी मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया गया है।

विषयवस्तु की स्थापना का आधार नितान्त मौलिक है। सामान्यतः रसगुणवीर्यविपाक के आधार पर द्रव्यों के दोषप्रभाव की व्याख्या की जाती है किन्तु इस ग्रन्थ में विपरीत शैली अपनाई गई है—दोषप्रभाव का वर्णन किया गया है और उसके आधार पर रसगुणवीर्यविपाक की कल्पना का निर्देश किया गया है।

निदानपञ्चक जैसे माधवनिदान का महत्त्वपूर्ण है वैसे ही नवश्लोकी (प्रारम्भिक नौ-श्लोकों) में मौलिक सिद्धान्तों का विवरण है। मधुकोशव्याख्या के समान इस स्थल पर वोपदेवकृत प्रकाशव्याख्या भी माननीय है।

वाताम, मृगलेण्डिक, शुकनाश, मांसरोहा, कर्कास, हिस्पत्थ, मेथिका आदि द्रव्य अवलोकनीय हैं।

प्रकाशव्याख्या—केशवपुत्र वोपदेव ने सिद्धमन्त्र पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश-व्याख्या लिखी है।[2]

हृदयदीपक—यह वैद्याचार्य केशव के पुत्र वोपदेव की रचना है। वह तत्स्थानीय धनेश्वर के शिष्य थे।[3] वोपदेव देवगिरि के यादव राजा महादेव (१२६०-१२७१)

१. यह ग्रन्थ १८९७ ई० में वैद्य शंकरदाजी शास्त्री पदे द्वारा संपादित होकर ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। उसकी फोटो कॉपी प्रस्तुत लेखक ने इण्डिया ऑफीस, लन्दन से प्राप्त की।

२. देखें—P. V. Sharma : Son's Commentary on Father's Work. J. R. I. M., Vol. VI, No. 3, 1971.

३. हृदयदीपक, शतश्लोकी तथा सिद्धमंत्रव्याख्या में ग्रन्थकार ने अपना परिचय

के पण्डित थे और उसके प्रधानामात्य हेमाद्रि के घनिष्ठ एवं संमानार्ह सखा थे। वोपदेव ने हेमाद्रि की तृष्टि के लिए 'हरिलीला' तथा उसके जीवनचरित्र की रचना की तो हेमाद्रि ने भी वोपदेव के ग्रन्थों—हरिलीला और मुक्ताफल पर टीका लिखी। इस प्रकार दोनों ने सखाधर्म अच्छी तरह निभाया। वोपदेव संभवतः हेमाद्रि से आयु में बड़े थे।

वोपदेव आयुर्वेद के अतिरिक्त, ज्योतिष, साहित्य और धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। आयुर्वेद में उनकी रचनायें निम्नांकित हैं—

१. शतश्लोकी चन्द्रकलाव्याख्यासहित
२. हृदयदीपकनिघण्टु
३. सिद्धमन्त्र की प्रकाशव्याख्या
४. शार्ङ्गधरसंहिता पर गूढार्थदीपिका व्याख्या¹

विषयवस्तु—यह ग्रन्थ हृदय (अष्टांगहृदय) में पठित द्रव्यों पर प्रकाश डालने के लिए बनाया गया है अतएव इसकी संज्ञा 'हृदयदीपक' है। यह शुद्ध पर्यायशैली पर है, द्रव्यों के गुणकर्म नहीं हैं। यह आठ वर्गों में विभाजित है—

१. चतुष्पाद वर्ग	५. द्विनाम वर्ग
२. त्रिपाद वर्ग	६. एकनाम वर्ग
३. द्विपाद वर्ग	७. नानार्थ वर्ग
४. एकपाद वर्ग	८. मिश्रक वर्ग

अनेक पुस्तकालयों में उपलब्ध इसकी पाण्डुलिपियों की अत्यधिक संख्या से प्रतीत होता है कि यह उस समय का एक लोकप्रिय ग्रन्थ था।

काल—यादव राजा महादेव (१२६०-१२७१ ई०) का राजपण्डित होने के कारण वोपदेव का काल १३वीं शती का उत्तरार्ध है।

दिया है। सरस्वतीभवन, वाराणसी की पाण्डुलिपि (सं० ४५१०५) में संक्षेप में सुन्दर परिचय दिया है :—

विद्वद्धनेश्वरच्छात्रो भिषक्केशवनन्दनः। वोपदेवश्चकारेदं विप्रो वेदपदास्पदम्"

उनकी माता का नाम आरोग्य था और पिता को वह वैद्यनाथ (वैद्याचार्य ?) कहते थे—'आरोग्यवैद्यनाथाभ्यां नमः सत्त्वादिसद्मना। मातापितृभ्यां दातृभ्यामायुः सुखहितामितम्॥—प्रकाशव्याख्या। हृदयदीपक के मंगलाचरण में भी 'श्रीवैद्यनाथ' से भङ्ग्या अपने पिता का ही स्मरण किया है।

१. Weber's Catalogue of Berlin, 1853 (Jolly)

अन्य रचनाओं के लिए देखें—

प्रियव्रत शर्मा : बोपदेवरचित हृदयदीपकः, भूमिका पृ० २, J. R. I. M., Vol. 3, No. 2, 1969

सिद्धमन्त्र की प्रकाश-व्याख्या में अष्टांगनिघण्टु, चक्रपाणि और डल्हण के वचनों को अनाम्ना उद्धृत करने के अतिरिक्त, निम्नांकित आचार्यों को उद्धृत किया है—

१. चरक	१०. माधव
२. सुश्रुत	११. वाप्पचन्द्र
३. अष्टांगसंग्रह	१२. असंकर
४. वाग्भट	१३. सूदशास्त्र
५. अष्टांगहृदय	१४. नल
६. हरिश्चन्द्र	१५. रुद्रट
७. खारनादि	१६. कार्त्तिकेयपुराण
८. जेज्जट	१७. राघव
९. हारीत	१८. अमर

वाप्पचन्द्र के अनेक द्रव्य-सम्बन्धी श्लोक उद्धृत किये हैं जिससे पता चलता है कि वाप्पचन्द्र का कोई निघण्टु भी उस समय प्रचलित था।

आयुर्वेदमहोदधि (सुषेणवैद्यक)—यह वस्तुतः द्रव्यगुण का ही ग्रन्थ है। यह अन्नपानविधि[१] के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि आहारद्रव्यों का ही इसमें विशेष वर्णन है। जलवर्ग, दुग्धवर्ग आदि के सामान्य वर्णन के अतिरिक्त, जलाधिवास, ताम्बूलविधि, अनुलेपनवर्ग, वस्त्रवर्ग, मुखवास, धूप, वाजीकरण का विशिष्ट विवरण है। इससे स्पष्ट है कि किसी राजवैद्य द्वारा राजा के प्रीत्यर्थ[२] यह लिखा गया। ऋतुहरीतकी के समान मातुलुंग का विधान दिया है[३]।

पिण्डखर्जूर, सुवर्णकदली आदि का वर्णन है तथा शिखरिणी (रसाला) बनाने की अनेक विधियाँ हैं। वाजीकरण में धत्तूर का प्रयोग है किन्तु अफीम का नहीं। पूना की एक पाण्डुलिपि (सं० २३) में सिंहणचूर्ण का उल्लेख है इससे १३वीं शती के बाद का यह ग्रन्थ है। इसकी एक पाण्डुलिपि[४] सं० १७३९ (१६८२ ई०) की है। कैयदेवनिघण्टु ने इसके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। इसके कुछ पद्य मदनपाल निघण्टु में भी मिलते हैं। दीपचन्दवाचककृत लंघनपथ्यनिर्णय तथा हंसराज-

१. नत्वा धन्वन्तरिं देवं गणाध्यक्षं दिवौकसाम्।
अन्नपानविधिं वक्ष्ये समस्तमुनिसंमतम्॥
यह ग्रन्थ रविदत्तवैद्यकृत भाषाटीकासहित गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई से १९४० ई० में प्रकाशित है।

२. 'जलाधिवासः पृथिवीश्वराणाम्'—जलवर्ग, ८५

३. फलवर्ग, ८

४. उदयपुर,

निदान में सुषेण का नाम आया है। इस प्रकार इसका काल १४वीं शती का पूर्वार्ध है।

इसके कर्त्ता का नाम कहीं केवल सुषेण, कहीं सुषेणदेव और कहीं सुषेणपण्डित दिया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक निघण्टु की पाण्डुलिपि (सं० बी० २०२४) है जो सुषेणकृत प्रतीत होता है। इसमें अहिफेन तथा अभ्रक आदि का वर्णन है, यशद नहीं है। संभवतः सुषेण ने अन्नपानविधि के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का वर्णन किसी अन्य निघण्टु में किया हो।

सुषेणवैद्यक पर दामोदरकृत आरोग्यचिन्तामणि व्याख्या है। यह दामोदर विदर्भवासी तथा विष्णुभट्ट का पुत्र था।

मदनविनोद

यह मदनपालनिघण्टु के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कर्त्ता मदनपाल काष्ठा नगर के टीकावंश के राजा थे। ग्रन्थ के अन्त में उनकी वंशावली इस प्रकार दी गई है—

रत्नपाल
|
भरणपाल
|
हरिश्चन्द्र
|
साधारण
|
सहजपाल — मदनपाल

रसरत्नदीप (का० हि० वि०, सी ३७७३) के कर्त्ता रामराज ने निम्नांकित प्रकार से दी है—हरिश्चन्द्र→साधारण ↓

लक्षणसिंह — सहजपाल — मदनपाल
मदनपाल → रत्नपाल
|
रामराज

काल—इस ग्रन्थ के कालनिर्णय में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ रचनाकाल दे दिया है। यह ग्रन्थ सं० १४३१ (१३७४ ई०) माघ शुक्ल षष्ठी, सोमवार को पूर्ण हुआ।[1]

१. अब्दे ब्रह्मजगद्युगेन्दुगणिते श्रीविक्रमार्कप्रभो-
माघे मासि वलक्षपक्षललिते षष्ठ्यां सुधांशोर्दिने।

विषयवस्तु—यह निघण्टु अभयादि, शुण्ठ्यादि, कर्पूरादि, सुवर्णादि, वटादि, द्राक्षादि, शाक, द्रव, मधुर, धान्य, कृतान्न, मांस और मिश्रक इन १३वर्गों में विभाजित इसमें अहिफेन का वर्णन है किन्तु यशद नहीं है। बम्बई वाले संस्करण[1] में गलती से किसी ने यशद का वर्णन प्रक्षिप्त कर दिया है। मैंने लगभग एक दर्जन पाण्डुलिपियों का परीक्षण किया, किसी में यशद नहीं मिला। वाराणसी वाले संस्करण[2] में भी नहीं है। इसके अतिरिक्त भंगा, कंकुष्ठ, जयपाल, पारसीकयवानी, चौहार, मर्जारी, सिन्दूरी, सिलेमानी खर्जूर, खर्बुज, अमृतफल, बादाम, अंजीर, मधुकर्कटी, गृञ्जन, यावनाल, कुण्डलिका आदि द्रव्य द्रष्टव्य हैं।

प्रारम्भ में लिखा है कि कुछ निघण्टु अतिलघु, कुछ महान्, कुछ दुर्गम नामक और कुछ द्रव्यगुण से रहित थे। अतः लेखक ने नातिलघु, नातिविपुल, ख्यातनाम सहित तथा द्रव्यगुणसमन्वित यह ग्रन्थ लिखा।

कैयदेवनिघण्टु

इस ग्रन्थ का नाम पथ्यापथ्यविबोधक है। इसके कर्ता कैयदेव पण्डित भारद्वाजगोत्रीय पद्मनाभ के पौत्र तथा शार्ङ्ग (या सारंग) के पुत्र थे जैसा कि उन्होंने स्वयं ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त नामरत्नाकर नामक ग्रन्थ उन्होंने लिखा था जिसमें संभवतः वस्तुओं के पर्यायमात्र होंगे। उन्होंने गुणकर्म के विवरण के लिए इस ग्रन्थ की रचना की।[3] ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में

दीनानां परितापपापदलनो ग्रन्थं निघण्टुं किल
श्रीदः श्रीमदनो व्यधत्त चतुरः सच्चक्रचूडामणिः॥

मदनपाल के आश्रय में विश्वेश्वरभट्ट (१३६०-१३९० ई०) ने मदनपारिजात नामक ग्रन्थ लिखा। रसरत्नदीप का रचनाकाल १४२० ई० दिया है।

१. पं० रामप्रसाद शर्मा कृत भाषा टीकासहित, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास बम्बई, १९५४।

२. नन्दकिशोर शास्त्री द्वारा संपादित, वाराणसी, सं० १९९० (तृतीत संस्करण) इसका १२वां संस्करण इनके अतिरिक्त, शक्तिधरशुक्ल कृत अनुवाद के साथ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १९१७ में निकला।

३. भारद्वाजपवित्रगोत्रतिलकः श्रीपद्मनाभोऽभवत्,
वेदव्याकृतिनाटकागमकथालंकारपारंगतः॥
तत्पुत्रो गुणभूषितः समभवत् श्रीशार्ङ्गनामा द्विजो,
येन प्राणिगदोऽगदैरपऽहृतोसौ सर्वविद्यालयः॥
तत्पुत्रः कैयदेवोऽस्ति वैद्यविद्याविशारदः।
नामरत्नाकरो येन कृतोऽन्यो नामसागरः॥
नामरत्नाकरोक्तानां द्रव्याणां च रसादिषु।
ग्रन्थोऽयं लिखितस्तेन पथ्यापथ्यविबोधकः॥

भी इस बात का संकेत है।[१]

काल—गोडे ने इसका काल १४५० ई० के पूर्व निर्धारित किया है। इसका प्रमुख आधार यह है कि राघवभट्ट ने शारदातिलक (लक्ष्मणदेशिकेन्द्रकृत) की टीका में कैयदेवनिघण्टु को उद्धृत किया है। राघवभट्ट ने उपर्युक्त ग्रन्थ पर पदार्थादर्श-व्याख्या काशी में १४९३ ई० में लिखी। अतः कैयदेव १४५० ई० के बाद के नहीं हो सकते[२]। किन्तु अब यह विचारना है कि उसके पूर्व की सीमा क्या होगी? अफीम, भाँग, यशद का ग्रहण यद्यपि चिकित्साग्रन्थों में १२वीं शती में ही हो गया था किन्तु निघण्टुओं में १३वीं शती के पूर्व नहीं आया। मदनपालनिघण्टु (१३७४ ई०) में अफीम और भाँग दोनों का वर्णन है किन्तु कैयदेवनिघण्टु में अफीम का वर्णन नहीं है। भाँग का वर्णन भी प्रारम्भिक रूप में है क्योंकि वह धान्यवर्ग (शणरूप में) तथा ओषधिवर्ग दोनों में है। यह ज्ञातव्य है कि भाँग का प्रारम्भिक प्रयोग सूत्रों के लिए होता था और बाद में मादक द्रव्य के रूप में। शीतलिका, सोमरोग आदि रोग १२वीं शती के गदनिग्रह, वंगसेन आदि ग्रन्थों में मिलते हैं इसके पूर्व नहीं मिलते। कैयदेवनिघण्टु के विहारवर्ग में इन दोनों का उल्लेख है। अतः यह १२वीं शती के बाद का ही है। मदनपालनिघण्टु से इसके वर्णन मिलते-जुलते हैं। यद्यपि इसमें अहिफेन नहीं है तथापि इसमें पीतकरवीर का वर्णन है जो अवश्य ही बाद का है। मदनपालनिघण्टु में करवीरद्वय में श्वेत और रक्त दो ही का वर्णन है। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी ऐसा ही है। अतः कैयदेव-निघण्टु को मदनपालनिघण्टु के बाद ही रखना चाहिए। इस प्रकार इसका काल १५वीं शती (लगभग १४२५ ई०) ठहरता है।

कैयदेव गुजरात के निवासी प्रतीत होते हैं। इन्होंने झूले (आन्दोलिका श्रमहरा) का वर्णन लिखा है। गुजराती लोग झूले के प्रेमी हैं। तिलपर्णी, वेल्लन्तर आदि द्रव्य तथा द्रव्यों के कुछ नाम भी उसी तरह के हैं।

विषयवस्तु—कैयदेवनिघण्टु की विषयवस्तु ९ वर्गों में व्यवस्थित है यथा—ओषधिवर्ग, धातुवर्ग, धान्यवर्ग, द्रववर्ग, पक्वान्नवर्ग, मांसवर्ग, विहारवर्ग, मिश्रकवर्ग और नानार्थवर्ग। १९२८ ई० में आचार्य सुरेन्द्रमोहन ने विवेचनात्मक टिप्पणी

---

१. छिन्नादिकानां द्रव्याणां रसवीर्यादयः कृताः।
सूरिणा कैयदेवेन यथाशास्त्रानुसारतः॥
पाण्डुलिपि सं० बी २०९२ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) की पुष्पिकाओं में लेखक का नाम कैयदेवपंडित तथा ग्रन्थ का नाम पथ्यापथ्यविबोधक दिया है यथा 'इति श्रीवैद्यकैयदेवपंडितविरचिते पथ्यापथ्यविबोधके मांसवर्गः'।

२. P. K. Gode : Kaiyadeva and a Medical or Botanical Glossary ascribed to him. A. B. O. R. I., Vol XIX, (1938-39), PP. 188-190

के साथ इसका प्रथम भाग मेहरचन्द लछमणदास लाहौर से प्रकाशित कराया था जिसमें केवल ओषधिवर्ग है। इसके संपादन में उन्होंने तीन पाण्डुलिपियों का आधार लिया था। बम्बई की पाण्डुलिपि के संबंध में वह लिखते हैं कि वह सर्वोत्तम और सम्पूर्ण था किन्तु वह कहाँ तक था यह पता नहीं। मेरे देखने में अभी तक जो पाण्डुलिपियाँ आई हैं[1] उनमें अन्तिमवर्ग (नानार्थवर्ग) उपलब्ध नहीं हो सका है। आचार्य जी का संकल्प द्वितीय भाग में इसे पूर्ण कर देने का था किन्तु यह पूरा न हो सका।

ओषधिवर्ग में मधुकर्कटी, पिण्डखर्जूर, कण्टकरंज, बब्बूल, सिन्दूरी, मार्कण्डी आदि का वर्णन है। गृञ्जन से गाजर तथा पलाण्डुभेद दोनों का ग्रहण किया गया है। बलाचतुष्टय, कस्तूरी आदि के प्रकरण भावप्रकाश से मिलते-जुलते हैं। संभवतः भावमिश्र ने कैयदेवनिघण्टु का अनुसरण किया। महानिम्ब से बकायन का ग्रहण किया है। अम्लवेतस का एक पर्याय 'शाखाम्ल' है जिससे प्रतीत होता है कि उस समय अम्लवेतस के नाम पर रेवन्दचीनी की शाखावत् डंठलें प्रचलित हो गई थीं।

आधुनिक काल

भावप्रकाशनिघण्टु—संहिताप्रकरण में भावप्रकाश के संबन्ध में विचार किया जा चुका है।[2] इसका निघण्टुभाग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका प्रभाव पिछले चार सौ वर्षों से अभी तक अक्षुण्ण बना हुआ है। इसने अनेक लोकोपयोगी देशी-विदेशी द्रव्यों को एक साथ मिलाकर निघण्टु को व्यावहारिक रूप दिया। इसका उदार एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण ही इसकी सफलता का कारण है।

इसके रचयिता लटकनमिश्रतनय भावमिश्र हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्होंने विष्णुपद की वन्दना की है इससे प्रतीत होता है कि वह मगध में गया के निवासी थे जहाँ विष्णुपद का मन्दिर अभी भी विख्यात है। कदली के चम्पक, स्वर्ण आदि जो भेद उन्होंने किये हैं वह बिहार में हाजीपुर के क्षेत्र में होते हैं। इससे भी उनका बिहार प्रान्त में निवास सूचित होता है।[3] क्षेत्रीय नाम भी बिहार के दिये हैं।

मदनपाल ने भावमिश्र के लिए पथ प्रशस्त कर दिया था। उसका अनुसरण करते हुए इन्होंने आकारकरभ, द्वीपान्तर वचा (चोपचीनी), पुदीना, छोहारा,

१. पाण्डुलिपि संख्या बी २०९२ तथा बी ३०९१, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय। दोनों का लिपिकाल क्रमशः १५७१ सं० और १७८५ सं० है। इनके अतिरिक्त सरस्वतीभवन, वाराणसी की पाण्डुलिपि सं० ११५७।८७०६३।

२. पृ० १८७-१९५

३. प्रायः समकालीन जहाँगीर ने लिखा है :—'इब्राहिम खाँ ने बिहार से ४१ हाथी और कुछ सोनाकेला मेरे लिए भेजे। मैंने ऐसे स्वादिष्ट केले पहले कभी नहीं खाये थे। वे अंगुलि के बराबर हैं किन्तु अत्यन्त मधुर और सुगन्धि'।
—तुजुक-ए-जहाँगीरी, पृ० ३९७-३९८

कलम्बक, चन्द्रशूर, कुलिंजन, गंधकोकिला, चर्मकारालुक[1] मखान्न[2], कुमुदबीज[3] आदि विशिष्ट द्रव्यों का वर्णन किया है। यशद का सप्तधातुओं में वर्णन किया है।

इसका काल १६वीं शती (उत्तरार्ध) निर्धारित किया गया है। भावमिश्र मुगलसम्राट् अकबर के समकालीन या कुछ ही बाद हुये होंगे।

निघण्टुभाग निम्नांकित वर्गों में विभाजित है—

१. हरीतक्यादि	९. शाकवर्ग	१७. घृतवर्ग
२. कर्पूरादि	१०. मांस	१८. मूत्रवर्ग
३. गुडूच्यादि	११. कृतान्न	१९. तैलवर्ग
४. पुष्पवर्ग	१२. वारिवर्ग	२०. सन्धानवर्ग
५. वटादि	१३. दुग्धवर्ग	२१. मधुवर्ग
६. आम्रादि	१४. दधिवर्ग	२२. इक्षुवर्ग
७. धात्वादि	१५. तक्रवर्ग	२३. अनेकार्थनामवर्ग
८. धान्यवर्ग	१६. नवनीतवर्ग	

निघण्टुभाग पर शिवशर्मा, विश्वनाथद्विवेदी (१९४१), कृष्णचन्द्रचुनेकर (चतुर्थ सं० १९६९) आदि की टीकायें हैं। चुनेकर की टीका सम्प्रति लोकप्रिय है। इसमें वानस्पतिक विवरण विस्तृत एवं स्पष्ट है। कृष्णचन्द्रचुनेंकर काशी के प्रसिद्ध वैद्य स्व० पं० श्रीनिवासशास्त्री के सुपुत्र हैं और सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में द्रव्यगुण के अध्यापक हैं। वानस्पतिक अनुसंधान-दर्शिका (चौखम्बा, १९६९) उनकी अन्य रचना है। 'ग्लासरी' के निर्माण में भी यह बलवन्त सिंह के सहयोगी है।

राजनिघण्टु

इसका नाम निघण्टुराज या अभिधानचूडामणि भी है। कश्मीरी नरहरि पण्डित ने इसकी रचना की है। यह काश्मीर की आद्यवंशीय आचार्यपरम्परा में प्रसूत श्री ईश्वरसूरि के पुत्र थे। यह शैव तथा सभी शास्त्रों में पारंगत थे[4]। ग्रन्थ के प्रारंभ में गणेश, शंकर, सरस्वती आदि की वन्दना कर अश्विनौ, आत्रेय, धन्वन्तरि, चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदाचार्यों का स्मरण किया है। कर्नाटक, महाराष्ट्र, आन्ध्र, लाट

१. सुथनी के नाम से बिहार में प्रचलित है।
२. मखाना बिहार के तिरहुत क्षेत्र में होता है।
३. कुमुदबीज का प्रयोग 'भेंट का लावा' के नाम से ज्वर के बाद पथ्य में बिहार के वैद्य देते थे।
आईन-ए-अकबरी में मखाना और कलम्बक का उल्लेख है (पृ० ७०,८७)।
४. यह सूचना ग्रन्थ के उपक्रम-पद्यों तथा पुष्पिकाओं से मिलती है।

आदि भाषाओं का प्रयोग किया है जिससे प्रतीत होता है कि यह उन प्रदेशों में चिरकाल तक रहे होंगे या वहाँ यात्रायें की होंगी।

काल—ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की प्रस्तावना में स्वयं लिखा है कि उसने धन्वन्तरि, मदन, हलायुध, विश्वप्रकाश, अमरकोश, शेष (त्रिकाण्डशेष), राजकोश आदि निघंटुओं एवं कोशों को देखकर इसकी रचना की है। विशेषतः धन्वन्तरिनिघण्टु का आधार लिया है[२]। मदनपालनिघण्टु का रचनाकाल १३७४ ई० है अतः राजनिघण्टु का काल १४वीं के बाद ही होगा। इसे भावप्रकाश के पूर्व रखना चाहिए या पश्चात् यह विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भावप्रकाश के कुछ बाद ही होगा इसके निम्नांकित कारण हैं—

१. भावप्रकाश ने करवीर के श्वेत और रक्त दो ही भेद किये हैं, किन्तु राजनिघंटु में पीतकरवीर का भी वर्णन किया है जो बाद में इस देश में बाहर से आया। आईन-ए-अकबरी (पृ० ८२) में श्वेत और रक्त दो ही करवीरों का उल्लेख है। बाबरनामा (पृ० ५०३–५१४) में भी यही है। तुजुक-ए-जहाँगीरी (भाग १, पृ० ९७) में कनेर के फूलों का जो वर्णन है उससे प्रतीत होता है कि उस काल में पीतकरवीर का प्रवेश हो गया था। यह स्मरणीय है कि तब तक युरोपीय जन इस देश में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

२. कर्पूरतैल, तैलपिपीलिका, कालाञ्जनी (कृष्णबीज), कामवृद्धि, सर्वक्षार आदि राजनिघण्टु के द्रव्य भावप्रकाश में नहीं हैं।

३. कुलञ्जन का स्पष्ट उल्लेख है जब कि भावप्रकाश में महाभरी वचा करके दिया है। राजनिघंण्टु का हिमावली संभवतः द्वीपान्तरवचा है।

इस प्रकार राजनिघण्टु का काल १७वीं शती ठहरता है।

४. राजनिघण्टु में झण्डू (गेंदा फूल) का वर्णन है जो भावप्रकाश में नहीं है। यह विदेशी पुष्प १६वीं शती के अन्त में भारत में आया। इसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी में नहीं है।

धन्वन्तरिनिघण्टु सहित इसका प्रकाशन आनन्दाश्रम, पूना से हुआ है (१९२५)। कलकत्ता से इसका स्वतंत्र संस्करण भी निकला है (द्वि० सं०, १९३३)

विषयवस्तु—प्रस्तुत निघण्टु में नामों पर विशेषरूप से विचार किया गया है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा क्षेत्रीय नामों को दृष्टि में रक्खा गया है। नामों के विषय में कहा है कि ये रूढ़ि, प्रभाव, देश्योक्ति, आकृति, उपमा, वीर्य तथा

---

२. धन्वन्तरीयमदनादिहलायुधादीन् विश्वप्रकाश्यमरकोशसशेषराजौ।
आलोक्य लोकविदितांश्च विचिन्त्य शब्दान् द्रव्याभिधानगणसंग्रह एष सृष्टः॥
आयुः श्रुतीनामतुलोपकारकं धन्वन्तरिग्रन्थमतानुसारकम्।
आचक्ष्महे लक्षणलक्ष्यधारकं नामोच्चयं सर्वरुजापहारकम्॥

उत्पत्तिस्थान इन सात आधारों पर निर्धारित होते हैं। इसमें अनूपादि, भूम्यादि, गुडूच्यादि, शताह्वादि, पर्पटादि, पिप्पल्यादि, मूलकादि, शाल्मल्यादि, प्रभद्रादि, करवीरादि, आम्रादि, चन्दनादि, सुवर्णादि, पानीयादि, क्षीरादि, शाल्यादि, मांस, मनुष्यादि, सिंहादि, रोगादि, सत्वादि, मिश्रकादि, एकार्थादि इन २३ वर्गों में विषय-वस्तु व्यवस्थित है।

भूमि के विभाग वर्णानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा महाभूतानुसार पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और आन्तरिक्ष ये पाँच किये गये हैं। विभिन्न वर्णों की भूमि में उत्पन्न ओषधियाँ उन्हीं वर्णों के रोगियों को दी जानी चाहिए। स्थावर-द्रव्यों के पाँच विभाग किये गये हैं—वनस्पति, वानस्पत्य, क्षुप, वल्ली और ओषधि। पुं-स्त्री-नपुंसक भेद से ये तीन प्रकार के होते हैं जिनका प्रयोग रोगी के लिंगानुसार करना चाहिए। यों पुंलिंग द्रव्य सभी में प्रयोज्य होता है। वनस्पतियों में चेतना तथा पाञ्चभौतिकता की सिद्धि सयुक्तिक की गई है। लिंगिनी, सोमवल्ली, कैवर्त्तिका, कट्वी, अमृतस्रवा, धूम्रपत्रा, रुदन्ती, हस्तिशुण्डी, दुग्धफेनी, झण्डू, कुलञ्जन, माया-फल, कारस्कर आदि का वर्णन द्रष्टव्य है। राजनिघण्टुकार ने द्रव्यगुण को अष्टांग में समाविष्ट ही नहीं किया अपि तु आद्य स्थान दिया[1] इससे द्रव्यगुण के उत्कर्ष का बोध होता है।

वैद्यावतंस—कविराज लोलिम्बराज द्वारा विरचित यह लघु निघण्टुग्रन्थ[2] है जिसमें प्रसिद्ध आहारद्रव्यों का संक्षिप्त-सरस वर्णन है।

इसमें निम्नांकित वर्ग हैं :—

१. फलवर्ग	३. पत्रशाकवर्ग	५. धान्यवर्ग
२. फलशाकवर्ग	४. कन्दशाक	६. मांसवर्ग
		७. दुग्धवर्ग

पत्रशाकों में अश्वबला का वर्णन किया है। कुल ५७ श्लोकों में ग्रन्थ पूर्ण है। लोलिम्बराज का काल १७वीं शती का प्रथम चरण है।

द्रव्यगुणशतक—द्रव्यगुणशतक या द्रव्यगुणशतश्लोकी योगतरंगिणीकर्त्ता त्रिमल्लभट्ट की प्रसिद्ध रचना है। इसमें मुख्यतः आहारद्रव्यों का वर्णन है। प्रथम मंगल-श्लोक में शिव-पार्वती और गणेश की वन्दना की गई है। दूसरे श्लोक में छः

---

१. द्रव्याभिधानगदनिश्चयकायसौख्यं, शल्यादिभूतविषनिग्रहबालवैद्यम्।
विद्याद् रसायनवरं दृढदेहहेतुमायुः श्रुतेर्द्विचतुरङ्गमिहाह शम्भुः॥ २०।४२
द्रव्यगुण, निदान, कायचिकित्सा, शल्य, शालाक्य, भूतविद्या, अगदतंत्र, कौमार-भृत्य ये आयुर्वेद के आठ अङ्ग हैं।

२. यह ब्रह्मानन्दत्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्यासहित मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी द्वारा १९६७ में प्रकाशित है।

रसों का दोषों पर प्रभाव वर्णित है। शेष श्लोकों का विभाजन इस प्रकार है :—

	श्लोकसंख्या
१. जलवर्ग	३–१०
२. दुग्धवर्ग	११–२१
३. धान्यवर्ग	२२–२६
४. मांसवर्ग	२७–३८
५. शाकवर्ग	३९–४९
६. इक्षु-मधुवर्ग	५०–५२
७. तैलवर्ग	५३–५५
८. फलवर्ग	५६–६७
९. शुण्ठ्यादिवर्ग	६८–७३
१०. कृतान्नवर्ग	७४–८९
११. संधानवर्ग	९०
१२. मद्यवर्ग	९१
१३. अभ्यंगादिवर्ग	९२
१४. ताम्बूलादिवर्ग	९३–९५
१५. सुवर्णादिवर्ग	९६–१००

एक उपसंहारपद्य है। इस प्रकार कुल १०१ पद्यों में ग्रंथ पूर्ण हुआ है।

सुवर्णादिवर्ग में धातुओं के प्रकरण में सुवर्ण, रजत, ताम्र, वंग, अभ्रक और लौह हैं, नाग और यशद नहीं हैं। दुग्ध-प्रकरण में गौ, महिषी और अजा इन्हीं तीन का उल्लेख है जिससे इनके दुग्ध का ही प्रचलन सूचित होता है। अन्य वर्णनों में मदनपालनिघण्टु का अनुसरण किया गया है। गाजर के लिए गृञ्जन से पृथक् गर्जर शब्द दिया गया है। खाद्यान्नों के कुछ नये शब्द मिलते हैं यथा पुष्पवटी (फुलौड़ी), कचवती (कचौड़ी), जलवलिवलय (जलेबी) आदि। जलेबी के लिए अधिकांश ग्रन्थकारों ने कुण्डलिनी शब्द दिया है।'

परिचय एवं काल—लेखक के अन्य ग्रन्थ योगतरंगिणी में परिचय एवं काल दिया है[2] (देखें पृ०)।

---

१. देखें—P.V. Sharma : Trimalla Bhatta : His Date and works with special Reference to his Materia Medica in one hundred Verses, I: J. H. S., Vol. 6, No. 1, 1971

२. द्रव्यगुणशतक का संस्करण खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से सं० १९५३ में शालिग्रामवैश्यकृत भाषाटीकासहित प्रकाशित है।

शिवकोष के कर्त्ता शिवदत्त के पुत्र कृष्णदत्त ने द्रव्यगुणशतक पर द्रव्यदीपिका व्याख्या लिखी है।

शिवकोष—यह शिवदत्तमिश्र की रचना है जो पर्यायशैली पर आधारित है। पण्डित शिवदत्तमिश्र कर्पूरीय (कपूरिया) कुल के अवतंस थे। यह आयुर्वेद के विद्वानों का कुल था। इनके पिता का नाम चतुर्भुज था जो स्वयं आयुर्वेद तथा अनेक शास्त्रों में पारंगत थे। पण्डित शिवदत्तमिश्र ने अपने पिता से ही आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की थी। इसका निर्देश उन्होंने अपनी एक रचना 'संज्ञासमुच्चय' में की है—

संज्ञासमुच्चयममुं लघुवाग्भटादिग्रन्थप्रकाशनपरं विषमस्थलेषु।
तातादधीतविधिवद्वरवैद्यविद्यः चक्रे चतुर्भुजसुतः शिवदत्तमिश्रः॥

इसी प्रकार दूसरी रचना 'शिवकोष' के अन्तिम पद्य तथा शिवकोष-व्याख्या की पुष्पिका में भी इसका उल्लेख किया गया। आफ्रेक्ट ने अपनी प्रसिद्ध विवरणिका में चतुर्भुजमिश्र के नाम पर रसकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ तथा गोविन्द भगवत्पाद विरचित रसहृदय की व्याख्या का उल्लेख किया है। स्टीन की कश्मीर-सूची के अनुसार चतुर्भुज ने संवत् १७०५ (१६४९ ई०) में रसकल्पद्रुम की रचना की। जहाँ तक रसहृदय की व्याख्या का प्रश्न है, यह कुरलवंशीय महेश मिश्र के पुत्र चतुर्भुज मिश्र द्वारा रचित है अतः यह कहना कठिन है कि यह वही चतुर्भुज हैं क्योंकि उन्होंने अपने को कर्पूरीयकुलीय लिखा है। रसहृदयतन्त्रका संस्करण जो मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित हुआ है (१९२७ ई०) उसमें चतुर्भुज मिश्र द्वारा रचित मुग्धावबोधिनी व्याख्या भी सम्मिलित है। इसकी भूमिका में त्र्यम्बकनाथ गुरुनाथ काले ने लिखा है—

'रसहृदयटीकाकारः श्रीचतुर्भुजमिश्रः खण्डेवालब्राह्मणजातीयः कुरलसंज्ञककुलोत्पन्नः, हरिहरमिश्रस्य पौत्रः, महेशमिश्रस्य च पुत्र आसीदिति तेन ग्रंथारम्भ एवोक्तादात्मवृत्तान्तात्प्रतीयते। खण्डेवालब्राह्मणानां वसतिः जयपुर-सीकर-बीकानेर-प्रभृतिषु स्थलेषु विशेषत उपलभ्यते, अतश्चतुर्भुजमिश्रोऽपि तेषामन्यतमस्थलनिवासो भवेदित्यनुमीयते।'

इस प्रकार कुल, पितृपरम्परा तथा देशकी भिन्नताके कारण यह कोई अन्य चतुर्भुज प्रतीत होते हैं।

जैसा कि कहा गया है, पं० शिवदत्त मिश्र पं० चतुर्भुज मिश्र के पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था यह उनकी विभिन्न रचनाओं में प्रदत्त सूचनाओं से ज्ञात होता है। इनकी तीन रचनाओं का पता चलता है—

संज्ञासमुच्चय—यह निदान, चिकित्सा तथा द्रव्यगुणसम्बन्धी विषम स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए लिखा गया है। आफ्रेक्ट ने इसका उल्लेख किया है। राजेन्द्रलाल मित्र ने अपनी संस्कृत पांडुलिपियों की सूची में इसकी एक पाण्डुलिपि का उल्लेख किया है जिसका लिपिकाल शाक १६४१ (१७१९ ई०) है।

शिवकोष—यह आयुर्वेदीय निघण्टु का ग्रन्थ है जो ५४० श्लोकों में पूर्ण है। इसमें औषध-द्रव्यों के पर्याय-पदों का अकारादिक्रम से वर्णन है। लेखक ने इसे नानार्थौषधकोष कहा है। यह तत्कालीन अनेक कोषों का आधार लेकर लिखा गया है जिनमें मुख्य हैं—शब्दार्णव, अजय, अमर, वोपालित, सिंह, मेदिनी, विश्व, हारावली, हलायुध, शाश्वत, हेम तथा त्रिकाण्डशेष।

'शब्दार्णवाजयामरवोपालितसिंहमेदिनीविश्वान् ।
हारावलीहलायुधशाश्वतहेमत्रिकाण्डशेषांश्च ॥
प्रीत्यै विविच्य भिषजो विविधौषधनामसंदिहानस्य ।
नानार्थौषधकोशो विरच्यते लिंगभेदेन ॥'

लेखक ने शिवकोष के अन्त में इसका रचनाकाल शक १५९९ (१६७७ ई०) दिया है।

'नवग्रहतिथिप्राप्ते हायने हालभूभुजः ।
चक्रे चातुर्भुजिः कोषं शिवदत्तः शिवाभिधम् ॥'

ग्रंथ की पुष्पिका में ग्रंथकार तथा उसके कुल का निर्देश है—
'इति कर्पूरीयशिवदत्तकृतः शिवकोषः पूर्णः।'

यह ग्रंथ श्री आर० जी० हर्षे द्वारा सम्पादित तथा डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित है (१९५२) जो पुना तथा आक्सफार्ड की दो पाण्डुलिपियों पर आधारित है।

शिवप्रकाश (शिवकोष-व्याख्या)—लेखक ने यह व्याख्या अपने कोष के विशदीकरण के लिए लिखी है। इसमें शताधिक कोशों, टीकाओं तथा ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं जिससे लेखक के व्यापक पाण्डित्य का तो पता चलता ही है, उसके काल तथा तत्कालीन आचार्यों के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इन उद्धृत रचनाओं तथा आचार्यों में इन्दु, कैयदेव, केशव, गुणरत्नमाला, डल्हण, धन्वन्तरि, वोपदेव, मदनविनोद, रसरत्नसमुच्चय, राजनिघण्टु, रामाश्रम, लोलिम्बराज और हेमाद्रि प्रमुख हैं। व्याख्या के प्रारम्भिक पद्य में यह कहा गया है कि वाग्भट के ग्रंथों, टीकाओं तथा कोषों का मनन कर यह व्याख्या लिखी गयी है। संज्ञासमुच्चय में भी वाग्भट का संकेत है। इससे उस काल में वाग्भट विशेषतः स्वल्पवाग्भट (अष्टांगहृदय) की लोकप्रियता का पता चलता है। व्याख्या के अन्त में पुष्पिका है—'इति श्रीकर्पूरीयचतुर्भुजात्मजशिवदत्तकृतः शिवप्रकाशः पूर्णः।'

उपर्युक्त ग्रन्थों की जो पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं उनमें संज्ञासमुच्चय की पाण्डुलिपि प्राचीनतम है। इस आधार पर यह ग्रन्थ उनकी आद्य रचना मानी जाती है।

शिवदत्तमिश्र काशीनिवासी थे। कवीन्द्राचार्य सरस्वती की प्रशस्ति करनेवाले

काशीस्थ पण्डितों में इनका भी नाम है। ये प्रशस्तियां कवीन्द्रचन्द्रोदय नामक ग्रंथ में संगृहीत हैं जो पूना से १९३९ में प्रकाशित हुआ है। कवीन्द्राचार्य ने मुगल बादशाह शाहजहाँ (१६२८–१६५८ ई०) से अनुरोध कर काशी में यात्री-कर को निरस्त करने में सफलता प्राप्त की थी।

शिवकोष की रचना का काल १६७७ ई० लेखक ने स्वयं लिखा है। डाक्टर पी० के० गोडे शिवदत्त मिश्र का काल १६२५–१७०० ई० मानते हैं। शिवकोष की व्याख्या में लेखक ने 'रामाश्रमाः' शब्द से अमरकोश की व्याख्या-सुधा के रचयिता तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजीदीक्षित को उद्धृत किया है। भानुजीदीक्षित का काल १६००–१६५० ई० है। अतः शिवदत्तमिश्र उसके परवर्ती सिद्ध होते हैं। इन सब तथ्यों से भी प्रतीत होता है कि शिवदत्त मिश्र कवीन्द्राचार्य के कनीय समकालीन हों और उनकी प्रशस्ति में सम्मिलित हुए हों।[1]

कृष्णदत्त मिश्र—पण्डित कृष्णदत्त मिश्र, पण्डित शिवदत्त मिश्र के पुत्र थे। इन्होंने त्रिमल्लभट्टविरचित द्रव्यगुणशतश्लोकी (द्रव्यगुणशतक) पर द्रव्यदीपिका नामक टीका की है। यह स्मरणीय है कि त्रिमल्लभट्ट काशीवासी तैलंग ब्राह्मण थे। अतः काशीस्थ पण्डित कृष्णदत्तमिश्र द्वारा इसकी टीका की रचना अत्यन्त स्वाभाविक है। संभव है, कुछ विद्या का भी सम्बन्ध हो। प्रो० एच० डी० वेलंकर त्रिमल्लभट्ट का काल १३८३-१४४९ ई० मानते हैं किन्तु अन्तरंग साक्ष्यों के आधार पर इनका काल सत्रहवीं शताब्दी ठहरता है। पण्डित कृष्णदत्त ने अपनी व्याख्या का प्रारम्भ और अन्त क्रमशः इस प्रकार किया है।

त्रिमल्लभट्टरचितो यो द्रव्यगुणसंग्रहः।
कृष्णदत्तेन तट्टीका द्रव्यदीपिका।
विश्ववन्दितचतुर्भुजतातावाप्तविद्यशिवदत्तसुतस्य ।
कृष्णदत्तकृतिनः कृतिरेषा, जायतामखिललोकहिताय।

पण्डित कृष्णदत्त ने अपनी व्याख्या में द्रव्यगुणके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला। द्रव्यस्थित पांच धर्मों—रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने इनका संक्षिप्त एवं साधु लक्षण दिया है यथा 'रसनेन्द्रियग्राह्यो रसः। द्रव्याश्रयो गुणः, कायाग्निपाकजो विशिष्टो गुणो वीर्यम्, जठराग्निद्रव्यपाकोत्तरभावी रसो विपाकः, द्रव्यस्यात्मा प्रभावः। विवेचन के प्रसंग में लेखक ने निम्नांकित आचार्यों तथा रचनाओं को उद्धृत किया है—

अग्निवेशशास्त्र, अभिधानचूडामणि, अमर, अरुणदत्त, कैयदेव, खारणादि, गयदास, चक्रपाणि, चरक, जैज्जट, डल्हण, त्रिकाण्डशेष, त्रिविक्रम, त्रिशती टीका,

1. P. K. Gode : Karpuriya Sivadatta and his medical treatises, Poona Orientalist, Vol, VII, Nos. 1–2

धन्वन्तरिनिघण्टु, निघण्टु, नैरुक्त, ब्रह्मदेव, भावमिश्र, माधवकार (द्रव्यगुण), मिताचरा, मुनि, मेदिनी, लोचन, वाग्भट, वाग्भटीय संग्रहबोध, वाप्यचन्द्र, व्याडि, शब्दार्णव, संग्रह, संग्रहबोध, सारसंग्रह, सिद्धमन्त्रप्रकाश, सिंह, सुश्रुत, हारीत, हेमाद्रि। इनमें अग्निवेशशास्त्र, अरुणदत्त, खारणादि, गयदास, चरक, त्रिविक्रम, त्रिशतीटीका, नैरुक्त, ब्रह्मदेव, मुनि, वाग्भटीयसंग्रहबोध, सारसंग्रह तथा हारीत शिवदत्तकी अपेक्षा इसमें अधिक है।

द्रव्यों का वर्णन भी कृष्णदत्त ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

१—गोधूम (गेहूँ) तीन प्रकार का बताया गया है—महागोधूम, मधूली और नन्दीमुखी।

२—मुद्ग (मूंग) दो प्रकारका है—क्षेत्रमुद्ग और वनमुद्ग।

३—मसूर दो प्रकार का है—कृष्ण और पाण्डूर, कृष्णवर्ण को मसूर तथा पाण्डुवर्ण को मंगल्य कहा है।

४—कलाय दो प्रकार का कहा गया है—त्रिपुट और वर्त्तुल। त्रिपुट खञ्जनक है।

५—शण दो प्रकार का है—शण और पटशण।

६—कोद्रव दो प्रकार का है—कोद्रव और वनकोद्रव वनकोद्रव को ही उद्दालक या यावनाल (बाजरा) कहते हैं।

७—श्यामाक त्रिविध कहा है—तोयश्यामाक, उष्ट्रश्यामाक और हस्तिश्यामाक।

८—द्राक्षा तीन प्रकारकी है, मधुर, मधुराम्ल और अम्ल।

९—दाडिम तीन प्रकार का है—मधुर, मधुराम्ल और अम्ल।

१०—लवण आठ प्रकार का कहा गया है—सैंधव, सौवर्चल, विड, सामुद्र, औद्भिद, कृष्ण, रोमक, पांशुज।

पाठ का निर्णय अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के आधार पर किया है यथा 'अपाषोऽयं पाठः जेज्जटोपेक्षितत्वात्'। प्राचीन आचार्यों के आपातविरोध के परिहार का भी यत्र-तत्र प्रयत्न किया है, किन्तु युक्तियाँ हृदयग्राही नहीं हैं। यथा शालि के वाग्भटोक्त मधुरपाक तथा सुश्रुतोक्त कटुपाक के विरोध का परिहार करते हुए लिखा कि रस के समान इसमें अविरोध है। जिस प्रकार एक द्रव्य में अनेक रस स्थित होते हैं, उसी प्रकार अनेक विपाक भी हो सकते हैं क्योंकि विपाक वस्तुतः रसविशेष ही है, किन्तु ऐसा मानने से अनवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। यही युक्ति तिल के प्रसंग में भी दी गयी है। मधु के गुण के विषय में एक रोचक शास्त्रार्थ किया गया है। चरक मधु को गुरु एवं सुश्रुत लघु मानते हैं। इसका समाधान यह किया गया है

कि चरक ने केवल गुण की दृष्टि से विचार किया है, जब कि सुश्रुत ने पाक की दृष्टि से भी देखा है। सुश्रुत के मत में जो देर से पचता है, मूत्र-पुरीषके उत्सर्ग में सहायक होता है तथा कफ की वृद्धि करता है वह गुरु है। इसके विपरीत, जो शीघ्र पच जाय, मूत्र-पुरीषका विबन्ध करे और वात की वृद्धि करे वह लघु है। कुछ लोग पुराण और नवीन की दृष्टि से इसका परिहार करते हैं यथा चरक ने मधु का सामान्य गुण गुरु बतलाया जब कि सुश्रुत ने मधु की पुराणता को ध्यान में रखते हुए उसे लघु कहा। इसी प्रकार अतसी को वाग्भट ने कफकरी तथा खारणादि ने कफहरी लिखा है। लेखक ने इसका परिहार विषयभेद से किया है और इसके लिए सुश्रुत का भी आधार लिया है। बदर (बेर) को वाग्भट ने भेदन तथा खारणादि ने ग्राही लिखा है इसका समाधान यह किया गया है कि बेर का ताजा पका फल ग्राही तथा सूखा फल सर होता है।

द्रव्यों के परिचय के सम्बन्ध में अनवधानता एवं भ्रान्ति मध्यकाल से ही चली आ रही है जो सर्वविदित है। डल्हण (१२वीं शती) के काल में अनेक द्रव्य सन्दिग्ध हो गये थे यह उनके उद्धरणों से ज्ञात होता है पण्डित कृष्णदत्त भी इसके अपवाद नहीं थे। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। तुवरी (तोरी) एक प्रसिद्ध तैलयोनि द्रव्य है। इसे तुवरक समझकर इन्होंने परिचय दिया है—'पश्चिमार्णवतीरजो वृक्षः'।

पण्डित कृष्णदत्त आयुर्वेद के अतिरिक्त व्याकरण के भी प्रौढ़ पण्डित थे। यह स्थान-स्थान पर प्रकृति-प्रत्यय, समास आदि का निरूपण करने से पता चलता है। एक स्थल पर परिभाषेन्दुशेखर की एक परिभाषा भी दी गयी है—तैलशब्देन तिलोद्भवः स्नेह एव मुख्यत्वेन गृह्यते नतु पत्रकांडादि, गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति न्यायात्।' यह साहित्यशास्त्र में भी निष्णात एक उच्चकोटि के कवि थे। ग्रन्थ में आये छन्दों का भी विवेचन इन्होंने किया है।

'लाभपुर' शब्द संभवतः लाहौर के लिए है। लांवण आदि शब्द भी पंजाबी शैली के हैं। कपूरिया परिवार सारस्वत ब्राह्मणों का है जो पंजाब में अधिकांश होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डित कृष्णदत्त संभवतः काशी से पंजाब चले गये हों या कालिक सम्बन्ध से भी ऐसा सम्पर्क स्वाभाविक है।

राजवल्लभनिघण्टु—यह राजवल्लभ वैद्य द्वारा निर्मित तथा नारायणदास द्वारा प्रतिसंस्कृत है।[1] यह छः परिच्छेदों में विभाजित है यथा—प्राभातिक,

1. राजवल्लभवैद्येन निर्मितो राजवल्लभः।
द्रव्याणां गुणख्यातित्वाद् भिषजां हि सुखावहः॥
और देखें उमेशचन्द्रगुप्तकृत वैद्यकशब्दसिन्धु की भूमिका।

पौर्वाह्णिक, मध्याह्णिक, अपराह्णिक, निशाभव और औषधीय। स्पष्टतः यह दिनचर्या में व्यवहृत होने वाले द्रव्यों के गुणकर्मों को प्रमुखता देता है।

राजवल्लभ का काल स्पष्ट नहीं है किन्तु इसने मदनपालनिघण्टु[1] तथा भावप्रकाश[2] के पद्यों को उद्धृत किया है अतः १७वीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता इसके प्रतिसंस्कर्त्ता नारायणदास का काल १७६० ई० कहा जाता है।[3] इस प्रकार वर्त्तमान ग्रन्थ १८वीं शती का है।

शालिग्रामवैश्यकृत टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं० १९५२ में तथा रामप्रसादवैद्यकृत टीका के साथ सं० १९६८ में प्रकाशित हुआ।

हिकमतप्रकाश—यह नृसिंहदेवात्मज बालकृष्ण के पुत्र महादेवदेव की विचित्र रचना है जिसमें उन्होंने फारसी हिकमत (यूनानी) को संस्कृत छन्दों में बाँधकर उपस्थित किया है।[4] इसमें तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में दोष, वीर्य, मूत्रपरीक्षा, नाडीपरीक्षा आदि का वर्णन है। द्वितीय खण्ड में वर्णानुक्रम से द्रव्यों का गुणकर्म और प्रयोग वर्णित है। तृतीत खण्ड में औषधयोग हैं। यह ग्रन्थ सं० १८३० (१७७३ ई०) में पूर्ण हुआ।[5] खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से यह सं० १९७० में प्रकाशित हुआ हे। मौक्तिककृत वैद्यमुक्तावली में हिकमतप्रकाश तथा हिकमतप्रदीप दोनों के उद्धरण हैं।

निघण्टरत्नाकर (विष्णु वासुदेव गोडवोलेकृत)—पं० कृष्णशास्त्री नवरे द्वारा संपादित यह ग्रन्थ १९३६ ई० में दो खण्डों में निर्णयसागर, बम्बई से प्रकाशित हुआ। मूल ग्रन्थ सं० १८६७ ई० में प्रकाशित हुआ था (देखें पृ० २०२)। संस्कृत पद्यों का मराठी भाषान्तर भी है। इसके प्रारम्भिक गुणदोष-प्रकरण में (१९४ पृ० तक) द्रव्यगुण का वर्णन है। इसके बाद शारीर, अष्टस्थानपरीक्षा, मान-परिभाषा, रसशास्त्र, अर्कप्रकाश, अजीर्ण-मञ्जरी आदि है। द्वितीय खण्ड में निदान-चिकित्सा है।

इसमें अकरकरा, अमरुद, अंजीर, पीतकरवीर, काजूतक, कुलञ्जन, कंकुष्ठ (मुर्दासिंग), अग्निजार, तुवरक, तमाखु, कर्पूरतैल, पुदीना, मखाना, रक्तांगी (मेंहदी), रसकर्पूर, रुदन्ती, सीताफल, सर्वंचार, नबसादर आदि का वर्णन है।

१. हरीतकी की निरुक्ति आदि
२. षड्विधशाक आदि।
३. वैद्यकशब्दसिन्धु, भूमिका
४. नृसिंहदेवात्मजबालकृष्णदेवात्मभूर्भैषजकर्मदक्षः।
देवो महादेव उदारकीर्त्यैं हिकमतप्रकाशं तनुते विचित्रम्।
५. वियद्बृहद्भानुकरीन्दुसंख्ये श्रीविक्रमादित्यनृपेन्द्रवर्षे।
पूर्त्तिं तपः कृष्णशिवे हरौ च यातोऽद्भुतो वैद्यकसारबन्धः॥
'इति चिकित्सानिबन्धे पारसीप्रतिबिम्बो हिकमतप्रकाशाभिधानो ग्रन्थः संपूर्णः।'

निघण्टुसंग्रह—इसके रचयिता रघुनाथजी इन्द्रजी उर्फ कतोभट्ट हैं। इनके पितामह मुरारि पोरबन्दर में रहते थे किन्तु पिता इन्द्रजी जूनागढ़ चले आये। इन्द्रजी के यह मध्यमपुत्र थे। कनिष्ठ पुत्र प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता भगवानलाल इन्द्रजी थे। ये प्रश्नोरा नागर ब्राह्मण थे जो आयुर्वेद और भागवत पुराण के विद्वान माने जाते थे[1]।

निघण्टुसंग्रह की रचना १९ मार्च १८९३ को पूर्ण हुई। इसमें कुल ६०७ द्रव्यों का वर्णन है जिनमें ५७८ औद्भिद द्रव्य हैं और शेष जान्तव और खनिज हैं। इस निघण्टु में अनेक नवीन द्रव्यों का समावेश किया गया है। सम्प्रति यह अत्युपयोगी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

शालिग्रामनिघण्टु—मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश) के लाला शालिग्रामवैश्य द्वारा विरचित शालिग्रामनिघण्टुभूषण खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई द्वारा प्रकाशित बृहन्निघण्टुरत्नाकर का ७-८ वाँ भाग है। यह ग्रन्थ १८९६ ई० में पूर्ण हुआ। इस प्रकार १९वीं शती का यह अन्तिम निघण्टु है। चूँकि २०वीं शती में अभी तक प्राचीन शैली पर कोई निघण्टु लिखा नहीं गया अतः अभी भी इसी को लोग अन्तिम निघण्टु मानते हैं।

---

१. लेखक ने ग्रन्थ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

आसीद्दैवज्ञचूडामणिरमृतरसस्यंदिसूक्तिप्रणेता।
मीमांसापूर्वभागे निपुणतरमतिः श्रीमुरारिर्द्विजाग्र्यः॥
श्रीमत्सौदामपुर्यां विरचितवसतिः तस्य पुत्रास्त्रयोऽस्मिन्।
लोके ख्याता बभूवुः हरिचरणरताः शास्त्रनैपुण्यभाजः॥
इन्द्रजित् गणकश्रेष्ठो ज्येष्ठस्तस्याभवत् सुतः।
यो जीर्णदुर्गे न्यवसन्नागरैः सतताहतः॥
ज्येष्ठस्तस्यात्मजोऽभूत् फणिभणितिपटुः पाठशालाधिकारी।
वेदान्तार्थैकनिष्ठः सकरुणहृदयो वत्सलः शिष्यवर्गे॥
पुत्रे तु स्वानुरूपे गृहधुरमखिलां संनिवेश्यातिहर्षात्।
निश्चिन्तो निर्विशेषं शमसुखमनिशं सेवमानो बभूव॥
कनिष्ठस्तत्पुत्रः समजनि यशःपूरितधरो।
युरोपियैर्विद्वन्मणिभिरपि मान्यो गुणनिधिः॥
प्रसिद्धोऽस्मिन्नाम्ना जगति भगवल्लाल इति यः।
चिरन्ता................भवत् पंडितवरः॥
मध्यमस्तस्य तनुजो रघुनाथाभिधः सुधीः।
निघण्टुसंग्रहो येन रचितो विदुषां मुदे॥

ग्रन्थकार ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

वालमुकुन्द
|
गोवर्धनदास
|
हरियशराम
|
गोपालदास
|
पुरुषोत्तमदास
|
मोतीराम
|
घनश्यामदास
|
सीताराम
|
दिलेराम — रामजीदास — आनन्दरूप (खुसालराम)
|
शालिग्राम (आनन्दरूप के पुत्र)

यह ग्रंथ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खण्डों में विभक्त है। पूर्वार्ध में निम्नांकित २३ वर्ग हैं—

१. कर्पूरादि
२. हरीतक्यादि
३. गुडूच्यादि
४. पुष्पवर्ग
५. फलवर्ग
६. वटादि
७. धातूपधातु
८. विषवर्ग
९. धान्यवर्ग
१०. शाकवर्ग
११. वारिवर्ग
१२. दुग्धवर्ग
१३. दधिवर्ग
१४. तक्रवर्ग
१५. नवनीतवर्ग
१६. घृतवर्ग
१७. मूत्रवर्ग
१८. तैलवर्ग
१९. अर्कवर्ग
२०. मधुवर्ग
२१. इक्षुवर्ग
२२. संधानवर्ग
२३. संख्यावर्ग

उत्तरार्ध में दो वर्ग हैं—अनूपादि और मिश्रवर्ग। अन्त में परिशिष्ट भाग है।

१९वीं शती तक विदेशियों के माध्यम से अनेक नवीन द्रव्यों का प्रचलन इस देश में हो गया था। इन द्रव्यों का यथासंभव समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है।

शालिग्रामौषधशब्दसागर भी आपके द्वारा विरचित है जो १९२५ में खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों की टीका आपने की है। आयुर्वेद-वाङ्मय की श्रीवृद्धि में आपका महत्वपूर्ण योगदान है।

शंकरदाजी शास्त्री पदे—'वनौषधि-गुणादर्श' सात भागों में आपने बनाया जिसका तृतीय संस्करण १९०९-१९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। केशवकृत सिद्धमन्त्र का भी संपादन कर १८९८ ई० में प्रकाशित कराया था।

जगन्नाथप्रसादशुक्ल का 'निघण्टुशिरोमणि' प्रयाग से १९१४ में निकला।

आचार्य यादवजी त्रिकमजी—आचार्य जी का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा सं० १९३८ (१८८१ इ०) को पोरबन्दर में हुआ। आपके पिता वैद्य त्रिकम जी मोरधन जी थे। और माता माणक बाई थीं। आपका प्रारम्भिक अध्ययन पोरबन्दर की राजकीय संस्कृत पाठशाला में पं० हरिहर कालीदास शास्त्री के सान्निध्य में हुआ। १८८१ ई० में आपके पिता वैद्यक-व्यवसाय के प्रसंग में बम्बई चले आये तब आपका अध्ययन बम्बई के श्री देवकर्ण नानजी संस्कृत पाठशाला में हुआ और वहाँ अनेक धुरंधर विद्वानों से व्याकरण, साहित्य का ज्ञान आपने प्राप्त किया। तदनन्तर आयुर्वेद का अध्ययन अपने पिताजी के चरणों में किया। राजस्थान के पं० गौरीशंकर शास्त्री से आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया। हकीम रामनारायण जी से उर्दू भाषा का ज्ञान प्राप्त कर यूनानी चिकित्सा का भी पूर्ण अध्ययन किया। इस सन्दर्भ में मराठी, बंगला आदि भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त कर तत्तद् भाषाओं में लिपिबद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। आप जब अठारह वर्ष के थे, आपके पिता दिवंगत हो गये। २-३ वर्षों तक अपने पितृव्य के संरक्षण में रहने के बाद आपने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया और तब से ७५ वर्ष की आयु तक निरन्तर कार्य करते रहे। चिकित्सा के साथ साथ आपका शास्त्राभ्यास और लेखनकार्य भी द्रुतगति से बढ़ने लगा। प्राचीन ग्रन्थों के पुनरुद्धार का अपूर्व कार्य आपने किया जिससे आपके अध्यवसाय एवं वैदुष्य का पता चलता है। मधुकोषव्याससहित माधवनिदान आपके द्वारा संपादित, होकर १९०१ ई० में निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित हुआ। 'आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत, रसप्रकाशसुधाकर, गदनिग्रह, राजमार्त्तण्ड, नाडीपरीक्षा, वैद्यमनोरमा, धारापद्धति, आयुर्वेदप्रकाश, रसायनखण्ड, रसपद्धति, लोहसर्वस्व, रससार, रससंकेतकलिका, रसकामधेनु, क्षेमकुतूहल। चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता का संपादन कर निर्णयसागर, बम्बई से प्रकाशित कराया जो अद्यावधि सर्वोत्तम संस्करण है।

अनेक आयुर्वेदीय पाण्डुलिपियों का संकलन आपने किया था जिनमें कुछ

का प्रकाशन आपने किया और कुछ अन्य प्रकाशकों और विद्वानों को प्रकाशनार्थ दिये।

सिद्धमन्त्रनिघण्टु (वोपदेवकृतव्याख्यासहित), वातघ्नत्वादिनिर्णय (पं० श्रीनारायणविरचित) और त्रिशती (शार्ङ्गधरकृत) पं० ज्येष्ठारामजी मुकुन्दजी पणिया को प्रकाशनार्थ दिये। अनंगरंग, पंचसायक और कन्दर्पचूडामणि स्वयं संपादित कर न्यू गुजराती प्रिंटिंग प्रेस को दिये। इसी प्रकार मोतीलाल बनारसीदास को रसेन्द्रचूडामणि, चौखम्बा को काकचण्डीश्वर कल्पतंत्र और रसाध्याय सटीक, पं० गोवर्धनशर्मा छांगाणी को वसवराजीय और वैद्यचिन्तामणि, पं० ठाकुरदत्त मुलतानी को रसरत्नदीपिका की पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ दी। पं० हरिप्रपन्न जी वैद्य को रसयोगसागर की रचना में सहायतार्थ ३६ रसग्रन्थ दिये। आनन्दकन्द आयुर्वेदमहासम्मेलन की ओर से प्रकाशित हुआ।

डा० वामन गणेश देसाई द्वारा विरचित मराठी भाषा के ग्रंथों-औषधिसंग्रह और भारतीय रसशास्त्र—को स्वयं प्रकाशित किया। शशिभूषणसेन विरचित कर्मयंत्र तथा गणनाथसेनकृत प्रत्यक्षशारीर का गुजराती अनुवाद प्रकाशित कराया।

इनके अतिरिक्त आपके निम्नांकित ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं :—

१. आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान (पूर्वार्ध)—वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन (१९५४)
२. ,, ,, (उत्तरार्ध) ,, (१९५६)
३. रसामृतम्—मोतीलाल बनारसीदास (१९५१)
४. द्रव्यगुणविज्ञान (पूर्वार्ध)—वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, तृ० सं०, १९५३
५. द्रव्यगुणविज्ञान (उत्तरार्ध, प्रथम खण्ड)—निर्णयसागर, द्वि० सं०, १९४८
६. ,, ,, (,, द्वितीय खण्ड) ,, ,, १९५०

आचार्य यादवजी ने आधुनिक युग में द्रव्यगुण को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।[1]

आचार्यजी ने संभाषापरिषदों के माध्यम से आयुर्वेद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को वैज्ञानिक धरातल पर बोधगम्य बनाने का स्तुत्य प्रयास किया। इसका द्वितीय अधिवेशन हरिद्वार में २०–२७ मई १९५३ ई० में आपकी अध्यक्षता में हुआ जिसमें द्रव्यगुण के मौलिक सिद्धान्तों पर विचार हुआ[2]।

कविराज विरजाचरणगुप्त—इनकी प्रसिद्ध रचना वनौषधिदर्पण है। यह ग्रन्थ कूचविहार के राजा के संरक्षण में लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि लेखक राजा द्वारा सम्मानित थे। वनौषधिदर्पण का प्रथम भाग १९०८ ई० तथा

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें—यादवस्मृति ग्रन्थ, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १९६१

२. इसका पूर्ण विवरण देखें—सचित्र आयुर्वेद, जुलाई-अगस्त, १९५३

इस परिषद् के लिए स्वीकृत निबन्धों का एक संग्रह-ग्रंथ भी वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन की ओर से प्रकाशित है (१९५३)।

द्वितीय भाग १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी प्रस्तावना कलकत्ता के विख्यात कविराज विजयरत्नसेन ने लिखी है। अकारादिक्रम से अ से द तक, प्रथम भाग में तथा शेष द्वितीय भाग में है। प्रथम भाग में इसके अतिरिक्त १ से ५४ पृष्ठ तक वैद्यकग्रन्थों का विवरण तथा उसके बाद ६४ पृष्ठों तक निघण्टुओं का विवरण दिया है। इसमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री है। द्वितीय भाग में पारिभाषिक शब्दों के लक्षण तथा रसवीर्यविपाकादि का स्पष्टीकरण प्रारंभ के २४ पृष्ठों में है। द्रव्यों के संस्कृत नाम, बंगला नाम तथा कूचविहार के नाम दिये गये हैं। द्रव्यों के लैटिन नाम तथा रोगानुसारिणी सूची भी है। परिशिष्ट में अनानास, ईषद्गोल, ओलटकंबल, कौफी, कालादाना, गञ्जा, गण्डगात्र, चा, ताम्रकूट (तम्बाकू), पपीता, पेयारा, मेंहदी, लंकामरिच आदि द्रव्यों का वर्णन किया है। लंकामरिच और गन्धाबिरोजा के सम्बन्ध में आत्रेयसंहिता के उद्धरण हैं। संभवतः ये श्लोक लेखक द्वारा रचित हैं। चोपचीनी के सम्बन्ध में शिवनिघण्टु का यह श्लोक उद्धृत है—

अश्वगंधासमं पत्रमोषधिः ग्रन्थिसंयुता।
वर्णतः पाटलाभा च दृढा च मधुरा रसे॥

इसके अतिरिक्त, लेखक ने निघण्टुसंग्रह, वैद्यामृत, निघण्टुरत्नाकर तथा आयुर्वेद-विज्ञान को उद्धृत किया है।

जयकृष्ण इन्द्रजी ठाकर—आपका जन्म कच्छ के एक निर्धन गिरनावा ब्राह्मण परिवार में हुआ। दरिद्रता से क्षुब्ध होकर बालक जयकृष्ण घर से भाग निकला किन्तु दैव ने उसका सम्पर्क भारतीय विद्या के मूर्धन्य विद्वान पं० भगवानलाल इन्द्रजी से करा दिया। वह उनके साथ रसोइये के रूप में रहने लगा। पंडित भगवानलालजी प्रायः ऐतिहासिक महत्व के स्थानों में यात्रा करते रहते जहाँ जयकृष्णजी भी उनके साथ जाते। वहाँ पं० भगवानलालजी जयकृष्णजी को पौधों के विषय में कुछ बातें बतलाते। बाद में उन्होंने इनका परिचय डा० भाऊ दाजी और डा० सखाराम अर्जुन से करा दिया। डा० भगवानलालजी के पास अनेक युरोपीय विद्वान प्रायः आते रहते जिनके संपर्क से जयकृष्णजी ने अंगरेजी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। डा० सखाराम अर्जुन से उन्होंने वनस्पतिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। क्रमशः वह इस शास्त्र के कुशल वेत्ता हो गये और जब कभी कोई विदेशी किसी वनस्पतिवेत्ता की तलाश में होता तो यही बुलाये जाते। उन्होंने इस प्रकार अनेक विदेशी विद्वानों की सहायता की जिनकी सिफारिश पर वह पोरबन्दर वन-विभाग के संरक्षक (कन्जर्वेटर) हो गये। 'इण्डियन मेडिसिनल प्लॉण्ट्स' के रचयिता श्री कीर्त्तिकर को भी इनसे पर्याप्त सहायता इस कार्य में मिली थी जिसके कारण वह इन्हें गुरुवत् मानने लगे थे। वैद्य बापालाल ने भी उनके पास महीनों रहकर वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया। जयकृष्ण जी को वनस्पतिजगत् से अटूट प्रेम था, किसी वृक्ष

की छाल छिल जाने से द्रवित हो जाते थे। निरन्तर साहचर्य से उनमें ऐसी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि विकसित हो गई थी कि केवल काच की सहायता से ही वनस्पतियों की पहचान कर लेते थे। देशभर के लोग संदिग्ध वनस्पतियों की पहचान के लिए उनके पास पहुँचते थे।

उनकी दोनों प्रसिद्ध रचनायें गुजराती में हैं—

१. वनस्पतिशास्त्र (बरडा डुंगरनी जड़ीबुटीओ) (१९१० ई०)

२. कच्छसंस्थाननी जड़ीबुटीओ (१९२६ ई०)

वैद्य बापालाल—गुजरात के पंचमहाल जिले में सणसोली नाम का एक गाँव है। इस गाँव में ता० १७-९-१८९६ के दिन श्री बापालाल भाई का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में, माता-पिता की वात्सल्यमय छाया में रहकर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षण प्राप्त किया। बड़ौदा आकर बड़ौदा कालेज में इन्टरसायन्स तक शिक्षण प्राप्त करके एम० बी० बी० एस० की शिक्षा प्राप्त करने के लिए बम्बई के मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हुए। इस समय बम्बई में संक्रामक इन्फ्लुएन्जा फैला और श्री बापालाल भाई भी इसके ग्रास बन गए। परिणामतः डॉक्टरों ने इन्हें बम्बई छोड़ कर चले जाने का परामर्श दिया। अतः बम्बई छोड़कर ये पुनः बड़ौदा आए। उन दिनों गुजरात में पुराणी भाइयों ने अखाड़ा-प्रवृत्ति प्रारम्भ की थी। श्री बापालाल भाई इस प्रवृत्ति से संलग्न हो गए। इस पुराणी-मंडल का मुख्य उद्देश्य भारत को स्वतन्त्र बनाना था। आवश्यकता पड़े तो, हिंसक-आन्दोलन द्वारा भी स्वतन्त्रता सिद्ध करने की इस मंडल की तैयारी थी। इस प्रकार के आन्दोलन के लिए सुदृढ़ शरीर और तीव्र बुद्धि की आवश्यकता प्रथम है। पुराणी भाइयों के अखाड़े बुद्धि और शरीर दोनों को सुदृढ़ और सक्षम बनाने वाले थे। इस कारण बम्बई से आने के बाद श्री छोटुभाई पुराणी ने बापालाल भाई को डॉक्टर बनाने की अपेक्षा एक संनिष्ठ एवं योग्य वैद्य बनने की सलाह दी। पुराणी भाइयों की नूतन शिक्षण-पद्धति में भविष्य में आयुर्वेद महाविद्यालय चलाने की एक योजना भी थी। बापालाल भाई को भविष्य में इस कालेज का संचालन करना है, तथा गाँवों में जाकर वैद्य के रूप में सेवा करनी है, ये दोनों हेतु इनको समझाये गये। श्री बापालाल भाई पुराणी-भाइयों के भक्त थे, अतः इन्होंने कुटुम्बों में किसी से पूछे बिना बड़ौदा कॉलेज छोड़ दिया। और भड़ौंच में आकर पुराणी बन्धुओं के साथ कार्यरत हो गए।

श्रीयुत् बापालाल भाई ने अपने वृद्ध कुटुम्बीजनों की सलाह को मान्य न रखकर आयुर्वेद सेवा का मार्ग अङ्गीकार किया और इस दिशा में कठोर तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी।

भड़ौंच से लगभग चार मील दूर झाड़ेश्वर नाम का एक गाँव है। वहाँ के एक धर्मार्थ आयुर्वेदिक औषधालय में वैद्य के रूप में श्री अमृतलाल प्राणशंकर पट्टणी नाम

के एक पारंगत वैद्य कार्य करते थे। वे आयुर्वेद के संनिष्ठ स्वाध्यायप्रिय एवं कट्टर आग्रही होने पर भी नवीन ज्ञान, चाहे जहाँ से मिले, वहाँ से प्राप्त करके आयुर्वेद को संपुष्ट करने के समर्थक थे। श्री पुराणी ने बापालाल भाई को पट्टणी जी के पास आयुर्वेदाध्ययन के लिए भेजा। झाड़ेश्वर में रहकर, औषधालय और चिकित्सालय में पूर्वाह्न के कार्य में करते हुए, प्रातः सायं गुरु के पास आयुर्वेद का गहन ज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ किया। वे प्रतिदिन झाड़ेश्वर से भड़ौंच में स्थित पुराणी-स्कूल में भी नौकरी के लिए जाया करते थे। उन दिनों वहाँ से इन्हें बीस रुपये प्रतिमास मिलते थे। वहाँ से सायंकाल वापिस आकर रात के समय और प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर गुरु जी के पास आयुर्वेद का अध्ययन किया करते थे। भड़ौंच से झाड़ेश्वर दिन में दो बार दौड़ते जाना और दौड़ते आना बापालाल भाई का उन दिनों नित्य का कार्यक्रम था।

विरजाचरण गुप्त का 'वनौषधिदर्पण' नामक बंगला भाषा में लिखा निघण्टु गुरुजी ने इन्हें पढ़ाना शुरू किया। बापालाल भाई कुछ दिनों में ही बंगला भाषा सीख गये, और भलीभाँति बंगला समझने लगे। उसी समय से इनको आवश्यक प्रतीत हुआ कि गुजराती भाषा में भी ऐसा समृद्ध निघण्टु होना चाहिए। अमृतलाल भाई (गुरुजी) को वनस्पतियों का उत्तम परिचय था। संदिग्ध द्रव्य-सम्बन्धी ऊहापोह वे गुजरात के वैद्यक मासिक पत्रों में समय-समय पर लेखों द्वारा किया करते थे। बापालाल भाई पर इन संस्कारों की गहरी छाप पड़ी। आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ भी वे गुरुजी के पास से सीखते थे। इस प्रकार बापालाल भाई ने आयुर्वेद साहित्य एवं संस्कृत-साहित्य दोनों में ही श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शन प्राप्त किया।

श्री बापालाल जी प्रातःकाल चिकित्सालय में दवा देने का कार्य करते थे, परिणामतः उन्हें द्रव्यों और उनके गुणों का उत्तम परिचय प्राप्त हुआ। सारी औषधियाँ यहीं बनाई जाती थीं, अतः औषध-निर्माण-सम्बन्धी ज्ञान का लाभ भी इन्हें प्राप्त हुआ। इस प्रकार डेढ़ वर्ष तक आप झाड़ेश्वर में रहे और भड़ौंच से आते जाते रहे।

सौराष्ट्र में एक लीमड़ी नामक राज्य है। वहाँ के महाराजा के आग्रह से वैद्यराज श्री अमृतलाल भाई (गुरुजी) राजवैद्य के रूप में नियुक्त हुए, और डेढ़ वर्ष के बाद वे झाड़ेश्वर छोड़कर लीमड़ी चले गये। अतः उनके परम शिष्य श्री बापालाल भाई भी उनके साथ लीमड़ी चले गये। वहाँ भी गुरुजी ने धर्मार्थ चिकित्सालय खोला था; औषध निर्माण तथा चिकित्साकर्म दोनों का विशेष अनुभव श्री बापालाल भाई को यहीं प्राप्त हुआ। आयुर्वेद के प्रत्येक द्रव्य का प्रत्यक्ष परिचय और उसके गुणों का गूढ़ ज्ञान उन्हें यहीं प्राप्त हुआ। औषध निर्माण के क्षेत्र में सभी प्रकार के शारीरिक

कष्ट सहन करके भी उन्होंने सम्पूर्ण विधिपूर्वक औषधियाँ तैयार कीं, और रोगियों पर उनके गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव किया। यह सब कार्य बापालाल भाई स्वयं अपने हाथों करते थे। यहाँ रहकर ही उन्होंने 'चरकसंहिता' का स्वाध्याय प्रारम्भ किया। साथ ही अन्य ग्रन्थों का भी अवलोकन प्रारम्भ किया। लीमड़ी में दो-ढाई वर्ष रहकर, आयुर्वेदीय संहिताओं, द्रव्यों, औषधों आदि का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करके वे अहमदाबाद में एक एफ० आर० सी० एस० डाक्टर के पास आपरेशन आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए आये। आठ-दस मास वहाँ रहकर श्री बापालाल भाई गुजरात के प्रखर वनस्पति-शास्त्री जयकृष्ण इन्द्रजी के पास अन्य वनस्पतियों के ज्ञान के लिए पोरबन्दर गये। पोरबन्दर में श्री जयकृष्ण भाई के साथ आप आस-पास के पर्वतों एवं जंगलों में खूब घूमे। इस परिभ्रमण में उन्होंने अनेक नवीन वनस्पतियों का परिचय प्राप्त किया। और यहीं उन्होंने 'वनस्पतिशास्त्र' का श्रीगणेश किया।

तीन-चार वर्ष के इस आयुर्वेदीय अभ्यास के बाद, अब क्या करना चाहिए? यह प्रश्न उनके सामने उपस्थित हुआ। चिकित्सा-व्यवसाय के लिए वे किसी स्थान पर स्थिर होने ही वाले थे कि इसी समय गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ। बापालाल भाई इस दिशा में भी सक्रिय बने। इधर भड़ौंच में स्थापित पुराणी की शाला बन्द हो गई थी। अतः पुराणी जी ने बापालाल भाई को भड़ौंच जिले के हांसोट नामक गांव में वैद्य के रूप में जाने, रहने और प्रचार कार्य करने के लिए कहा। पुराणी भक्त श्री बापालाल भाई बिलकुल अपरिचित हाँसोट गांव में गये; और अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। पुराणी के स्वयंसेवक जहाँ कहीं जाते वहाँ अखाड़ा तो शुरू हो ही जाता। अतः हाँसोट में भी चिकित्सालय के साथ-साथ अखाड़ा (व्यायामशाला) का भी प्रारंभ हुआ। हाँसोट की प्रजा में उस समय एक नवीन प्राण का संचार हुआ। अखाड़े में युवकों को कुश्ती-लाठी-लेजिम-लकड़ी-पाटा आदि का शिक्षण दिया जाने लगा। प्राणो की परवाह किये बिना श्री वैद्य बापालाल भाई ने वहाँ गुंडों और आततायियों का मुकाबला किया और एक वैद्य के रूप में सांप्रदायिक भावना से सर्वथा पृथक् रहकर रोगियों की लगभग निःशुल्क सेवा की। इन्होंने फीस के नाम पर बड़ों से केवल दो आना, और बच्चों से केवल एक आना लेने का नियम रखा था। कितने ही गरीब रोगियों को निःशुल्क भी दवा देते थे, जिनमें बड़ी संख्या मुसलमानों की ही रहती। दवा लेने के लिए उनके पास आया हुआ रोगी रोगी के रूप में ही होता था—हिन्दु-मुसलमान या ईसाई नहीं। इसी शुद्ध और सात्त्विक वृत्ति ने आपको एक उत्तम और सच्चा वैद्य बना दिया, जिससे इनकी कीर्ति-चन्द्रिका चारों ओर प्रसृत हो गई।

राजकीय एवं सामाजिक क्षेत्र के प्रत्येक सेवाकार्य में इन्होंने भाग लेना प्रारम्भ

कर दिया। परिणामतः महात्मा गांधी जी के स्वराज्य-आन्दोलन में शामिल होकर नमक सत्याग्रह के समय आपको कैद किया गया, और जेल की सजा भोगनी पड़ी। जेल से छूटने के बाद भी इनकी उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ चलती रहीं। इन्हीं दिनों आपने हाँसोट में एक पुस्तकालय की स्थापना की, जिससे प्रजा का सांस्कृतिक और मानसिक विकास हो सके। आज तो वह पुस्तकालय एक वटवृक्ष के रूप में पुष्पित-पल्लवित एवं विकसित होकर एक विशाल लाइब्रेरी के रूप में जनता की साहित्य-वाचन की क्षुधा की पूर्ति कर रहा है।

इन्हीं दिनों इतनी व्यस्तता में भी रिक्त समय निकाल कर आपने निघण्टु-आदर्श लिखने की सामग्री एकत्र करनी शुरू कर दी। साथ ही आयुर्वेदीय मासिक, पाक्षिक या साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी देने प्रारम्भ किए। साथ ही घरगथ्थु वैद्यक, दिनचर्या, वृद्धत्रयी की वनस्पतियां, अभिनव कामशास्त्र, जयकृष्ण इन्द्रजी का जीवनचरित्र आदि कितनी ही पुस्तकें गुर्जरगिरा में लिखी। इन सब पुस्तकों का लेखन स्थान 'हाँसोट' ही था। अनेक राष्ट्रीय एवं सामाजिक आन्दोलनों में भाग लेकर जेलयात्रा भी की। हाँसोट-वास के ये १९ वर्ष अनेक प्रवृत्तियों में आपने व्यतीत किए। जीवन के इतने वर्ष इस 'अवधूत' वैद्य ने गाँठ की रोटी खाकर और धन-प्राप्ति की लेशमात्र चिन्ता न करके लोकहित में एवं आयुर्वेद के गूढ़ अध्ययन में व्यतीत किये। हाँसोट छोड़ कर छ वर्ष तक भड़ौंच में रहे, और एक सद्वैद्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करके पुनः १९४२ के आन्दोलन में ब्रिटिश सरकार के अतिथि बने। तथापि आयुर्वेद का अध्ययन तो चलता ही रहा। लगभग १८ मास बाद वे छूटे। उन दिनों वहाँ शिरःशूल के एक रोगी को 'गुडशुण्ठी' नस्य के प्रयोग से अच्छा किया। जेल में आपने आयुर्वेदविषयक व्याख्यान देने शुरू किए और वहाँ भी आपके स्वाध्याय तथा लेखनकार्य दोनों चलते ही रहे। एक श्रेष्ठ वैद्य के रूप में आपकी ख्याति जेल से बाहर भी फैल गई थी। नासिक जेलवास के बाद आप फिर भड़ौंच आ पहुँचे। नासिक जेल में ही आपने वाल्मीकिरामायण, महाभारत, योगवासिष्ठ, उपनिषद्, टैगोर और साने गुरु जी की पुस्तकों का अध्ययन भी किया'।

भड़ौंच में थोड़े ही समय स्थिर रह सके। सूरत में 'तापी ब्रह्मचर्याश्रम सभा' द्वारा संचालित एक आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना के लिए श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जैसे सन्यासी ने संकल्प किया। आचार्यपद के लिए किसी आयुर्वेद के विद्वान एवं उत्तम व्यवस्थापक की खोज शुरू हुई। नासिक जेल में सूरत के भी अनेक भाई थे, जो श्री बापालाल भाई के कार्य, साहित्य, विद्याव्यसन, विद्वत्ता तथा व्यवस्था-शक्ति आदि गुणों से भलीभाँति परिचित थे। उन सबके आग्रह से सभा के तत्कालीन प्रमुख और उपप्रमुख ने भड़ौच आकर श्री बापालाल भाई को आचार्य-

पद सम्भालने का आग्रह किया। परिणामस्वरूप सन् १९४६ के अप्रैल मास में आप भड़ौंच छोड़कर सूरत आ गए।

यहाँ तो शून्य में महल का सृजन करना था। अतः आपने प्रारम्भ में तो शहर की प्रायः सभी संस्थाओं में आयुर्वेद-विषयक भाषण देने शुरू किए जिससे लोगों में आयुर्वेद के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो। बापालाल भाई के इस कार्य में डा० प्राणजीवन मेहता का भी विशेष सहकार प्राप्त हुआ। दोनों ने अनेक सभाओं में अनेक भाषण दिये। सन् १९४६ के जुलाई महीने में आयुर्वेदिक 'महाविद्यालय' का प्रारम्भ हुआ। लोकमानस के लिए अपरिचित ऐसे नवीन क्षेत्र का प्रारम्भ छोटी संख्या से ही हो, यह स्वाभाविक था ही। श्री बापालाल भाई ने घर-घर घूमकर, अनेक उत्त नागरिकों से मिलकर, अत्यन्त उत्साह एवं निष्ठापूर्वक आयुर्वेद का प्रचार किया। इस प्रकार यथाशक्ति, यथामति तन-मन एवं धन से अपने इस कार्य को बढ़ाना शुरू किया। धीरे-धीरे विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी और आयुर्वेद के शिक्षण की ओर लोगों की अभिरुचि जागृत होने लगी।

कुछ समय बाद बम्बई राज्य में आयुर्वेदीय बोर्ड की तथा फैकल्टी की स्थापना हुई और डी० ए० एस० एफ० का पाठ्यक्रम शुरू किया गया, और २५ शय्या वाले आतुरालय का भी प्रारम्भ किया गया। जिस महाविद्यालय का प्रारम्भ एक किराये के मकान में हुआ था, उसका अपना विशाल भवन सूरत रेलवे स्टेशन के पास बन गया। आज भी ६० शय्या वाले अस्पताल के साथ महाविद्यालय इसी भवन में चल रहा है। 'आउटडोर' विभाग भी खूब चलने लगा; अस्पताल भी भरा रहने लगा। सूरत के प्रायः सभी प्रसिद्ध डाक्टरों की मानद सेवायें इस हास्पिटल को प्राप्त होने लगीं। इन डाक्टरों ने एवं अन्य सेवा-भावी संमान्य वैद्य भाइयों ने महाविद्यालय तथा चिकित्सालय में कार्य करना आरम्भ कर दिया। देखते-देखते महाविद्यालय तथा संबद्ध चिकित्सालय की कीर्त्ति सूरत जिले में ही नहीं, अपितु समस्त गुजरात में फैल गई।

श्री बापालाल भाई बम्बई राज्य की आयुर्वेद फैकल्टी के और बोर्ड के सभ्य रूप में नियुक्त हुए थे। राज्य सरकार तथा केन्द्र सरकार की अनेक समितियों तथा कमेटियों के चेयरमैन के रूप में आप कार्य करते रहे।

आपने अपने संपादकत्व में 'भिषक्-भारती' नामक मासिक पत्र १० ११ वर्ष तक चलाया भारत के वैद्यकीय मासिक पत्रों में जिसका स्थान उच्चतर रहा।

वनस्पतिपरिचय एवं संदिग्ध-औषधनिर्णय के क्षेत्र में आपका योगदान ऐतिहासिक रहा है। आप भारत सरकार द्वारा नियुक्त संदिग्धद्रव्य-निर्णयसमिति के अध्यक्ष रहे हैं। गुजरात आयुर्वेदमण्डल के भी आप अध्यक्ष रह चुके हैं।

प्रकाशित रचनायें

१. निघण्टुआदर्श (पूर्वार्ध व उत्तरार्ध)
 प्रथम संस्करण (१९२८)
 द्वितीय संस्करण (संशोधित एवं परिवर्धित) (१९६६)
 पूर्वार्ध (हिन्दी) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी द्वारा प्रकाशित (१९६८)
२. वृद्धत्रयीनी वनस्पतिओं (वैद्यमंडल, अहमदाबाद, १९३१)
३. दिनचर्या
४. घरगथ्थु वैद्यक
५ अभिनव कामशास्त्र
६. संस्कृत साहित्य मा वनस्पतिओं (१९५३)
७. भारतीय रसशास्त्र
८. वनस्पति-वर्णन-प्रवेश
९. गुजरात नी वनस्पतियों
१०. आयुर्वेद व्याख्यानमाला
११. आयुर्वेद विहंगावलोकन
१२. आयुर्वेद वैज्ञानिक विचारणा
१३. खोराकनां तत्त्वो
१४. आपणो खोराक
१५. आयुर्वेद पाठावली
१६. दिनचर्या (समाजशिक्षण तरफथी)
१७. दम
१८. मधुप्रमेह
१९. मानवी आरोग्य
२०. द्रव्यगुणशास्त्र
२१. नस्यचिकित्सा
२२. चरक नो स्वाध्याय, भाग १ (प्राच्यविद्यामन्दिर, बड़ौदा, (१९७३) ।

आपकी अध्यक्षता में बम्बई सरकार ने प्रामाणिक औषधियों के सम्बन्ध में एक समिति नियुक्त की थी । उसके प्रतिवेदन में आपने महत्वपूर्ण सामग्री दी है जो द्रव्यगुण के अध्येताओं के लिए अवलोकनीय है ।[1]

'कन्ट्रोवर्शियल ड्रग्स इन इण्डियन मेडिसिन' लेखमाला आयुर्वेद अनुसन्धान-

---

1. Report of the Committee for Standard and genuine Ayurvedic Herbs and Drugs, 1955

पत्रिका (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही है[1]।

आप १९२१ से ही लिखते आ रहे हैं और यदि आपके समस्त लेखों को इकट्ठा एकत्र कर सके तो उनकी संख्या एक सहस्र से कुछ ही कम होगी।

अभी भी ८० वर्ष की आयु में आप अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वाध्याय और लेखन में लगा रहे हैं।

वैद्य बापालाल द्रव्यगुण की गुजरात-परंपरा के देदीप्यमान रत्न हैं जिन्होंने आयुर्वेदीय औषधि-शास्त्र को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त किया।

पुरुषोत्तमशास्त्री हिर्लेकर—'आयुर्वेदीय ओषधिविज्ञान' आपकी प्रसिद्ध रचना है।

पु० वि० धामणकर—आपकी रचना 'आयुर्वेदीय औषधिसंशोधन' आयुर्वेद सेवासंघ, नासिक से प्रकाशित हुआ है (१९५१, पंचम संस्करण)।

हिरामणिजी मोतीरामजी जंगले—आपके द्वारा विरचित 'सचित्र वनस्पति गुणादर्श' के दो भाग वाघली (महाराष्ट्र) से प्रकाशित हुये हैं।

आचार्य सुरेन्द्रमोहन—आप दयानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय, लाहौर में प्राचार्य थे। आपने कैयदेवनिघण्टु का सम्पादन कर विवेचनात्मक हिन्दी टीका के साथ उसे प्रकाशित किया। आपकी इच्छा दो खण्डों में उसे पूरा करने की थी किन्तु औषधिवर्ग तक एक ही खण्ड प्रकाशित हो सका। तथापि भूमिका में जो मौलिक विचार तथा द्रव्यों के सम्बन्ध में जो विमर्श आपने दिया है उससे आपके वैदुष्य का बोध होता है।

गंगाधरशास्त्री गुणे—पं० गंगाधर गोपाल गुणे अहमदनगर आयुर्वेदाश्रम फार्मेसी के संचालक, आयुर्वेदमहाविद्यालय के अध्यक्ष तथा 'भिषग्विलास' पत्र के संपादक थे। आप निखिल भारतवर्षीय वैद्यसम्मेलन के २७वें अधिवेशन (नागपुर) के अध्यक्ष हुये थे।

आपके द्वारा विरचित 'आयुर्वेदीय औषधिगुण धर्मशास्त्र (१-४ खण्ड) मराठी भाषा में अहमदनगर से प्रकाशित हुआ है। कुछ खण्डों का हिन्दी अनुवाद भी हुआ है। द्रव्यगुण का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।

चन्द्रराज भण्डारी—आपने बड़े परिश्रम से 'वनौषधिचन्द्रोदय' नामक विशाल ग्रन्थ को दस भागों में पूरा किया[2] जिसमें द्रव्यों के संबन्ध अनेक आवश्यक जानकारी संकलित है।

---

१. J. R. I. M., Vol. V, No. I, Vi, No 1–2, VII, No 1–3.

२. भानपुरा (इन्दौर स्टेट) द्वारा प्रकाशित। इसका द्वितीय संस्करण, १९४५-४६ ई० में प्रकाशित हुआ।

रूपलाल वैश्य—'रूपनिघण्टु' आपकी रचना है।[1] वनौषधियों के आप अच्छे ज्ञाता थे। 'रूपनिघण्टुकोश' भी आपने लिखा है। सन्दिग्धबूटी चित्रावली, प्रथम भाग (मैनेजर; बूटी दर्पण, लाहौर द्वारा १९०७ ई० में प्रकाशित) से सूचना मिलती है कि वैश्य जी बनारस छावनी रेलवे में हेड क्लर्क थे और इंगलिशिया लाइन—में उनका बूटीप्रचारक कार्यालय था। आपने अपना सारा जीवन वनस्पतियों की खोज में लगाया।

आपकी उपर्युक्त रचना से पता चलता है कि पं० ठाकुरदत्त शर्मा (अमृतधारा, लाहौर) साल में एक बार वनौषधियात्रा करते थे और अपने पत्र देशोपकारक में उसका विवरण प्रकाशित करते थे। वास्तविक मूर्वा पर सर्वप्रथम इन्होंने ही प्रकाश डाला था। इनके अतिरिक्त, चन्द्रशेखरधर मिश्र[2] (चम्पारन, विहार), महन्त सुखरामदास,[3] (रतलाम निवासी) प्रभृति वनौषधियों के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे।

शंकरनिघण्टु—जबलपुर के वैद्यराज हरप्रसाद गौड़ के पुत्र शंकरदत्त गौड़ की यह रचना वनौषधिभंडार, जबलपुर से १९३५ में प्रकाशित हुई है। इसमें अनेक यूनानी द्रव्यों का भी वर्णन है। प्रथम और द्वितीय भागों में द्रव्यों का विवरण तथा तृतीय भाग में शोधन-मारण, आसव-अरिष्ट, माजून-मुरब्बा आदि कल्पों का वर्णन है।

अभिनवनिघण्टु—यह दत्तरामचौबेकृत अभिनव निघण्टुग्रन्थ है।

आयुर्वेदचिन्तामणि—सुखानन्दमिश्रात्मज बलदेवप्रसादमिश्रकृत यह निघण्टुग्रन्थ गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई से १९३७ ई० में प्रकाशित हुआ है।[4] यह मुख्यतः भावप्रकाश पर आधारित है। उसमें आतृप्य (शरीफा) और बहुनेत्र (अनानास) का भी वर्णन है।

शिवदत्तनिघण्टु—इस निघण्टु के कुछ श्लोक वनस्पति-परिचय सम्बन्धी यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं किन्तु यह ग्रन्थ मेरे दृष्टिपथ में नहीं आया।

पं० भगीरथस्वामी—स्वामीजी आयुर्वेदमहामहोपाध्याय कहे जाते थे। सन्दिग्धनिर्णय (वनौषधशास्त्र) आपकी महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें द्रव्यों का विवेचन कर सप्रमाण सन्दिग्धता-निवारण का प्रयास किया गया है। इस क्षेत्र में यह प्रथम और ऐतिहासिक कार्य है। ग्रन्थ में अनेक चित्र भी दिये गये हैं। यह कलकत्ता से १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ था। 'आत्मसर्वस्व' भी आपकी रचना है (कलकत्ता, सं० १९८६)।

---

१. पुस्तक नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित (१९४०)।
२. 'गूलरगुणविकास' के रचयिता।
३. 'बूटीप्रचार' के रचयिता।

ग्रन्थ में जो परिचय दिया है उसके अनुसार इनके पिता हनुमान और गुरु नृसिंह, जयदेव आदि थे।[1] स्वामी जी ने अनेक प्रदेशों का भ्रमण कर वनौषधियों का प्रत्यक्ष ज्ञान किया था और निघण्टुओं का भी सूक्ष्म अध्ययन किया था। आप्तोपदेश और प्रत्यक्ष का अद्भुत संयोग आपके वैदुष्य की विशेषता थी।

भगीरथ स्वामी का जन्म सं० १९६३ में जयपुर जिले के मामोद ग्राम में हुआ। कानपुर में आपका अध्ययन हुआ। कलकत्ते के विशुद्धानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय में अध्यापक और बागला अस्पताल में प्रधान चिकित्सक अनेक वर्षों तक रहे।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त, लघु आयुर्वेदविज्ञान तथा सिद्धौषधमणिमाला भी आपने लिखी।

कविराज विश्वनाथद्विवेदी—आपका जन्म बलिया जनपद के ओझवलिया ग्राम में सन् १९१० ई० में एक ब्राह्मणपरिवार में हुआ। आप के पिता श्री पं० राजकिशोर द्विवेदी थे। आप की प्रारम्भिक शिक्षा समीप के प्राइमरी स्कूल में हुई। बाद में आप काशी चले आए, और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से क्रमशः आयुर्वेद-शास्त्राचार्य उपाधि प्राप्त की।

आपका कार्य-क्षेत्र सर्वप्रथम ललितहरि आयुर्वेदमहाविद्यालय पीलीभीत के प्रधानाचार्य पद से आरम्भ हुआ, जहाँ बीस वर्ष तक आपने कार्य किया।

उत्तर प्रदेश-शासन ने जब लखनऊ विश्वविद्यालय के किंग जार्ज मेडिकल कालेज में आयुर्वेद के पाठ्यक्रम का श्री गणेश १९५२ ई० में किया, तब आप उसमें प्रविष्ट हुये। पुनः राजकीय आयुर्वेद कालेज बनने पर उसके उपप्राचार्य, तत्सम्बन्धित आतुरालय के उपाधीक्षक एवं कायचिकित्सा के प्राध्यापक पदों पर कार्य किया। इसके साथ ही राजकीय आयुर्वेद औषधि-निर्माणशाला अधीक्षक पद पर भी कार्य किया।

तदनन्तर स्नातकोत्तर आयुर्वेद—शिक्षणकेन्द्र जामनगर (गुजरात) में द्रव्यगुण के प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुये और बाद में निदेशक भी रहे। १९६८ में आप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष हुये और पांच वर्षों तक इस पद पर रहे। भारत सरकार द्वारा गठित संदिग्धद्रव्य-निर्णयसमिति के आप सदस्य थे। भारतीय चिकित्सापरिषद् उत्तरप्रदेश के आप अध्यक्ष भी रहे हैं।

आपकी निम्नांकित रचनायें हैं—

(१) त्रिदोषालोक

(२) वैद्यसहचर

---

१. हेरम्बं, निजपितरं हनुमन्तं श्रीगुरुं नृसिंहञ्च।
धन्वन्तरिं तथान्यान् जयदेवादीन् गुरून् नमस्कृत्य॥

(३) वेदों में जीवाणुवाद (अंग्रेजी)
(४) तैलसंग्रह
(५) अभिनव नेत्ररोगविज्ञान
(६) प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण
(७) क्रियात्मक औषधिपरिचयविज्ञान (चौखम्बा, १९६६)
(८) आयुर्वेद की औषधियाँ और उनका वर्गीकरण (जामनगर, १९६६)
(९) हरीतक्यादि निघण्टु की हिन्दी व्याख्या (मोतीलाल बनारसीदास, १९७१)
(१०) नाड़ी-विज्ञान
(११) औषधिविज्ञानशास्त्र (वैद्यनाथ प्रकाशन, १९७०)

द्रव्यगुणविज्ञान—प्रस्तुत लेखक द्वारा विरचित द्रव्यगुणविज्ञान दो खण्डों में (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५, १९५६) प्रकाशित हुआ। १९६८-६९ में इसका द्वितीय संस्करण निकला और अब तृतीय संस्करण निकलने जा रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मौलिक सिद्धान्तों की विशद विवेचना के साथ-साथ द्रव्यों के गुणकर्म को वैज्ञानिक शैली पर व्यवस्थित करने का श्रेय इसी कृति को है। सम्प्रति देश और विदेश के आयुर्वेद महाविद्यालयों में यह लोकप्रिय पाठ्यग्रन्थ है।

ठाकुर बलवन्त सिंह—ठाकुर साहब जौनपुर जिला (उत्तर प्रदेश) के ग्राम सखोई में एक अत्यन्त साधारण क्षत्रिय परिवार में १ जुलाई १९०३ को अवतीर्ण हुए। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी जिले में हुई तथा हाई स्कूल की परीक्षा आपने जौनपुर से उत्तीर्ण की। इसके बाद महाविद्यालयीय स्तर का शिक्षण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राप्त किया। १९२७ में आपने अपनी शिक्षा पूरी कर वनस्पति विज्ञान में एम० एससी० की उपाधि प्राप्त की। इसी वर्ष से विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कालेज का नया पाठ्यक्रम (ए० एम० एस०) प्रारम्भ हुआ। यह अदृष्ट द्वारा घटित एक संयोग ही था जिसने ठाकुर साहब को आयुर्वेद के क्षेत्र में आमन्त्रित किया। इस कालेज में आप वनस्पतिविज्ञान के व्याख्याता के रूप में नियुक्त हुए। आयुर्वेद के विद्यार्थियों को प्रारम्भिक एक वर्ष में इसकी शिक्षा दी जाती थी, किन्तु आपको इतने मात्र कार्य से सन्तोष न हुआ, आपकी प्रतिभा कुछ और भी करना चाह रही थी। आयुर्वेद के वातावरण में वह स्फुटित हुई और ठाकुर साहब ने आयुर्वेद के उन्नयन तथा इसकी समस्याओं के समाधान में वनस्पतिविज्ञान का उपयोग करने का निश्चय किया। इसके लिए आपका ध्यान आयुर्वेदीय संदिग्ध एवं अज्ञात औषधियों की ओर आकृष्ट हुआ जिसमें अभी काम नहीं के बराबर हुआ था। उस समय पूर्व में पण्डित भगीरथ स्वामी तथा पश्चिम में श्री जयकृष्ण इन्द्रजी की परम्परा इस क्षेत्र में काम कर रही थी किन्तु मध्यदेश सूना ही था। फिर

कार्यकर्ताओं में उस वैज्ञानिक प्रौढ़ता की भी कमी थी जो इस कार्य के लिए अपेक्षित है।

इस गम्भीर एवं महती समस्या के समाधान का संकल्प आपने लिया और उसकी पूर्ति में जुट गये। आपकी अध्ययन-शैली में आपका विलक्षण व्यक्तित्व सहायक हुआ। आप प्रकृत्या संवेदनशील तथा भावुक हैं और शिक्षण से आप वैज्ञानिक बने। सहृदयता और वैज्ञानिकता का यह अद्भुत एवं दुर्लभ संयोग आपके व्यक्तित्व की सर्वोत्तम उपलब्धि है।

कठिन समस्याओं के समाधान के लिए आपने आर्ष पद्धति का अनुसरण किया। सर्वप्रथम आप्तोपदेश का आधार आवश्यक था जिससे औषधियों के सम्बन्ध में मौलिक विचार उपलब्ध हो सकें। इसके लिए आपने बृहत्त्रयी (चरक, सुश्रुत, वाग्भट) में निर्दिष्ट सभी औषधियों की सूची संदर्भ-सहित तैयार की। इसके अनन्तर विभिन्न टीकाकारों तथा निघण्टुकारों के मत भी संगृहीत किये। इस प्रकार प्रत्येक ओषधि के सम्बन्ध में नाम, रूप, गुणकर्म, प्रयोग आदि की आवश्यक जानकारी एकत्रित हो गयी। संस्कृत की अपेक्षित पृष्ठभूमि न रहने पर भी इस कार्य को आपने इतनी सफलता एवं दक्षता के साथ सम्पन्न किया कि आपके कठोर अध्यवसाय पर कोई भी आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता।

आप्तोपदेश या शास्त्रज्ञान प्रत्यक्ष के बिना अधूरा रह जाता है। अतः आपने ओषधियों के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए वनौषधि-यात्राओं का आयोजन किया। इस सम्बन्ध में भी शास्त्रकारों ने जो उपदेश किया है तथा मार्ग दर्शाया है उसी का अनुसरण आपने दृढ़ता से किया। चरक तथा सुश्रुत ने स्पष्टतः कहा है कि जंगलों में रहनेवाले जो लोग हैं उनसे ओषधियों का परिचय प्राप्त करना चाहिये। परिचय के प्रसंग में चरक ने नामज्ञान, रूपज्ञान तथा योगज्ञान इन तीनों की महत्ता बतलाई है (योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते); ठाकुर साहब ने इसी आधार पर सर्वप्रथम ओषधियों के नाम पर सर्वाधिक ध्यान दिया। वनेचर आदिम जातियों में प्राचीन नाम कुछ परिवर्तित रूप में ही सही पाये जाते हैं। इनके आधार पर प्राचीन द्रव्यों का निर्णय आसान हो जाता है। इसके अतिरिक्त, ओषधियों के विविध प्रयोगों का अध्ययन कर उनका सामञ्जस्य ओषधि के स्वरूप के साथ घटित कर देखा गया। जो पर्याय इनमें समुचित रूप से विन्यस्त न हो सके उन्हें सन्दिग्ध कोटि में रखकर पृथक् विवेचन के लिए रखा गया। इस प्रकार आपके वनौषधि-निर्णय का मुख्य आधार नामज्ञान रहा है। इसी आधार पर आपने तिलक, तिल्वक, मयूरशिखा, मूर्वा आदि अनेक संदिग्ध द्रव्यों का निर्णय किया है। किन्तु इसके साथ-साथ रूपज्ञान भी आवश्यक था अतः वनस्पतिशास्त्र के अनुसार द्रव्यों के कुल-परिचय के साथ स्वरूप-विवरण भी देखा गया। इसके अतिरिक्त जिन रोगों में उसका शास्त्र में

प्रयोग विहित है, वही प्रयोग यदि परम्परा में प्रचलित है तो उसकी संपुष्टि हो जाती है। इस प्रकार नामज्ञान, रूपज्ञान तथा योगज्ञान इन तीनों के समुचित सामञ्जस्य के आधार पर ही आपने द्रव्यों का निर्णय किया।

कालेज द्वारा आयोजित यात्राओं के अतिरिक्त अन्य संस्थानों द्वारा आयोजित यात्राओं का भी आपने नेतृत्व किया। ठाकुर साहब ने बिहार तथा उत्तराखण्ड के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों का भी वनौषधि-सर्वेक्षण किया। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसंधान-परिषद् के अधीनस्थ वनौषधिसर्वेक्षण-केन्द्र हरिद्वार में जब आप वनस्पति-विशेषज्ञ के रूप में थे तब भी आपने अनेक महत्त्वपूर्ण यात्रायें कीं। इस प्रकार विगत चालीस वर्षों में आपने भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में जाकर वनौषधियों का प्रत्यक्ष सम्पर्क किया और उन्हें प्रकाश में लाये। प्रत्यक्ष से जो परिचय प्राप्त होता उसे शास्त्र से मिलाते और इस प्रकार शास्त्र तथा कर्म, आप्तोपदेश और प्रत्यक्ष दोनों को साथ लेकर आप अपने मार्ग में बढ़ते गये और पद्धति शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक होने के कारण सफलता मिलनी ही थी।

रचनायें

हिमालयप्रदेश की यात्राओं में जिन वनौषधियों का परिचय विशेष रूप से उपलब्ध हुआ उन्हें क्रमबद्ध कर आपने 'वनौषधिदर्शिका' का रूप दिया जो आयुर्वेदिक कालेज के छात्रसंघ द्वारा १९४७ में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार 'बिहार की वनस्पतियाँ' (श्री वैद्यनाथ आयुर्वेदभवन, १९५५) में बिहार के छोटा नागपुर तथा जमुई के वन्य प्रदेशों में उपलब्ध वनस्पतियों का विवरण दिया गया है। 'प्रारम्भिक उद्भिद्शास्त्र' (चौखम्बा, वाराणसी, १९४९) नामक एक पुस्तक आपने आयुर्वेद कालेज के छात्रों के लिए लिखी है जिन्हें वनस्पतिविज्ञान का ज्ञान अपेक्षित है। यह अत्यन्त लोकप्रिय हुई और इसके अनेक संस्करण निकल चुके। इसके अतिरिक्त, दर्जनों महत्त्वपूर्ण शोध-लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी अभिनव सद्यः प्रकाशित रचना है 'ग्लॉसरी ऑफ वेजिटेबुल ड्रग्स इन बृहत्त्रयी' (चौखम्बा वाराणसी, १९७२) जिसमें आपके अब तक के विचारों का सार संगृहीत है।

ठाकुर बलवन्त सिंह के मौलिक अवदानों को आचार्य यादवजी, वैद्य बापालालजी प्रभृति वनौषधिविशेषज्ञों ने स्वीकारा तथा अपनी रचनाओं में उद्धृत किया है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त संदिग्धद्रव्य-निर्णयसमिति के सदस्य के रूप में जो आपने विचार व्यक्त किये वे महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, आप आयुर्वेदिक फार्माकोपिया कमिटी, यूनानी संदिग्ध-द्रव्य-निर्णय समिति आदि के सदस्य भी रह चुके हैं। यों तो अनेक वनस्पतियों पर आपने मौलिक विचार दिये हैं फिर भी एला, दूर्वा, तिलक, तिल्वक, प्रियंगु, मयूरशिखा, नागदन्ती, मांसरोहिणी, विष्णुकन्द, सैरेयक,

अर्जक, वेतस, केबुक, क्रमुक, वसुक आदि पर आपके विचार अत्यन्त ही मौलिक हैं।

अपनी सद्यः प्रकाशित रचना 'ग्लासरी' में आपने बृहत्त्रयी के संदर्भों के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण द्रव्यों के परिचय के लिए एक विवेचनात्मक टिप्पणी भी दी है जिसमें आपके अद्यावधि चिन्तन का फल समाहित हो गया है।

अन्तू भाई वैद्य—आप श्री वल्लभराम विश्वनाथ वैद्य के अनुज हैं। 'वनस्पति-परिचय' नामक आपका ग्रन्थ बम्बई से १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें एक-एक पृष्ठ में एक वनस्पति का सचित्र वर्णन गुणकर्म-प्रयोग आदि के साथ किया गया है। इस प्रकार इसमें कुल २१५ ओषधियों का विवरण है। स्त्रीविज्ञान, स्वयंभिषक् आदि अन्य ग्रन्थों की भी रचना आपने की। 'वन्दे मातरम्' गुजराती दैनिक के आरोग्यविभाग के भी आप संपादक रहे।

ठाकुर दलजीतसिंह—आपका जन्म ११ जुलाई सन् १९०३ ई० तहसील चुनार, जिला मीरजापुरान्तर्गत रायपुरी ग्राम के एक जमींदार परिवार में हुआ। आप श्री महावीरप्रसाद जी के वरिष्ठ सुपुत्र हैं।

वैद्यराज हकीम दलजीतसिंह आयुर्वेद एवं यूनानी वैद्यक के ज्ञाता और हिन्दी के सुलेखक हैं। संस्कृत और हिन्दी के साथ-साथ अरबी-फारसी के भी आप ज्ञाता हैं। अतएव यूनानी ग्रन्थों को हिन्दी में आपने प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है।

आपकी निम्नांकित रचनायें प्रकाशित हैं—

१. सर्पविष-विज्ञान (१९३१)
२. आयुर्वेदीय कोष—भाग १-४ (१९३२-१९६९)
३. यूनानी सिद्ध-योग संग्रह (१९४७)
४. यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान (१९४९)
५. यूनानी वैद्यक के आधारभूत सिद्धान्त (कुल्लियात)—पूर्वार्ध, (१९५०)
६. यूनानी चिकित्सा-विज्ञान (पूर्वार्ध) (१९५१)
७. रोगनामावलीकोष तथा वैद्यकीय मान-तौल (१९५१)
८. यूनानी चिकित्सासार—(वैद्यनाथ, १९५३)
९. यूनानी द्रव्यगुणादर्श—भाग १-२ (१९७२-७४) आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी उत्तरप्रदेश द्वारा प्रकाशित।

इनके अतिरिक्त आपकी अनेक रचनायें हैं जो प्रकाश में नहीं आ पाई हैं।

कविराज महेन्द्रकुमारशास्त्री—उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले के सदरपुर गांव में जमीदार श्री चौधरी रूपचन्द्रजी तथा लेखादेवी के पुत्र के रूप में आपका जन्म ४-४-१९१४ को हुआ।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इन्फ्लुएञ्जा के भयंकर आक्रमण में दुर्भाग्य से, पहले माता तथा तत्पश्चात् पिता का भी साया सिर पर से उठ गया। उस कठिन बाल्या-

वस्था में इनका लालन-पालन बड़ी बहिन श्री शिवदेवीजी तथा चाचा श्री शिवराज सिंह जी ने किया।

इनकी शिक्षा का अधिकांश श्रेय ताऊजी के सुपुत्र श्री पण्डित विमलदेवजी शास्त्री (अब देहलीनिवासी) जी को है। वे काफी दिन पहले गांव से निकल पंजाब में अमृतसर में जा चुके थे। उस समय अमृतसर संस्कृत शिक्षा की दृष्टि से पञ्जाब की 'काशी' समझा जाता था और आर्यसमाज का भी वहां पर्याप्त प्रभाव था। वह उन्हें कई अन्य बालकों के साथ वहां ले गये और फिर ये लोग पञ्जाब के ही हो गए। स्वर्गीय श्री पण्डित श्रीधर मायाधारीजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य अमृतसर के प्रख्यात पण्डितों में थे। वे श्री गागरमल्ल संस्कृत पाठशाला के प्राचार्य थे। उनसे अध्ययन कर पञ्जाब विश्वविद्यालय से 'शास्त्री' परीक्षा पास की। इसके पूर्व संस्कृत व्याकरण विशेषतः अष्टाध्यायी का अध्ययन दो महान् वैयाकरणों के चरणों में बैठ कर किया। वे हैं पदवाक्यप्रमाणज्ञ स्वर्गीय श्री पण्डित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु जिन्होंने काशी में पाणिनि संस्कृतविद्यालय की स्थापना की और जिसका संचालन अब उनकी शिष्या सुश्री प्रज्ञादेवीजी कर रही हैं। दूसरे हैं दिवंगत श्रीस्वामी शुद्धबोध तीर्थजी जो गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में आचार्य थे। वे पहले आश्रम में पण्डित गंगादत्तजी के नाम से गुरुकुल कांगड़ी में भी अध्यापन कर चुके थे।

१९३१ में शास्त्री परीक्षा पास कर अपने भ्राता पण्डित विमलदेवजी शास्त्री के परामर्श से श्रीमद्दयानन्द आयुर्वेद विद्यालय, लाहौर में प्रविष्ट होकर वहां से 'वैद्य-वाचस्पति' प्रथम श्रेणी में प्रथम पद प्राप्त कर उत्तीर्ण किया। १९३६ में निखिल भारतीयायुर्वेद विद्यापीठ से 'आयुर्वेदाचार्य' प्रथम श्रेणी में समग्र भारत में प्रथम पद प्राप्त कर सुवर्ण पदक तथा प्रथम पारितोषिक प्राप्त किया। इस विद्यालय में स्वर्गीय आचार्यवर्य श्री सुरेन्द्रमोहनजी, श्री डाक्टर आशानन्दजी पञ्चरत्न, श्री कविराज हरदयालजी गुप्त तथा एक वर्ष तक स्वर्गीय कविराज गणनाथसेनजी कलकत्ता के सान्निध्य में आयुर्वेद का स्वाध्याय तथा अनुभव प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसी काल में पञ्जाब विश्वविद्यालय से बी० ए० भी उत्तीर्ण किया। बम्बई में आनेपर यहां की उस समय की मेडिकल काउन्सिल (अब समाप्त) से एल० एम० पी० (४ वर्ष का कोर्स) उत्तीर्ण की और एक वर्ष तक, श्री हाजी बच्चू अली, फ्री आई हास्पिटल में नेत्र शालाक्य में शिक्षा तथा विशेष अनुभव प्राप्त किया।

दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज लाहौर में अध्यापन करने के बाद श्रीरामविलास-पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुण विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर वर्षों कार्य कर १९७१ में सेवानिवृत्त हुये। आप उक्त संस्था के आचार्य भी रह चुके हैं।

रचनायें हिन्दी—

(१) आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास
(२) सचित्र लघु द्रव्यगुणादर्श (द्वि० सं० १९५७)
(३) सचित्र उद्भिद्शास्त्र (आधुनिक वनस्पतिविज्ञान)
(४) त्रायमाण-विनिश्चय
(५) मूर्वानिर्णय
(६) बृहद द्रव्यगुणादर्श (आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी लखनऊ से प्रकाश्यमा
प्रभृ

अंग्रेजी

(१) फिलासफी आफ आयुर्वेद
(२) प्रिंसिपल आफ आयुर्वेद फार्मकालोजी
(३) बेसिक कान्स्पेट्स आफ आयुर्वेद
(४) आयुर्वेदिक कान्स्पेट्स आफ डायबिटीज
(५) आरिजिनेलिटी एण्ड ऐन्टीक्विटी ऑफ हिन्दु मेडिसिन।

रामेश वेदी—अपने जीवन का बड़ा अंश दुरूह यात्राओं में लगाकर वेदीजी ने वनस्पतियों को अत्यन्त निकट से देखा और उनसे साहचर्य स्थापित किया। एक द्रव्यों पर आपकी दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं[1]। भूटान सरकार के आमंत्र पर आपने वहाँ जाकर भूटान की वनस्पतियों का संकलन किया है, उसका विवर अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है। आप हाल में ही स्वास्थ्य-मंत्रालय में वरि अनुसन्धान पदाधिकारी पद से सेवानिवृत्त हुये हैं।

ग्राम्यौषधि

वनौषधियों के अतिरिक्त गाँवों के आसपास पाई जानेवाली लोकोपयोगी औष धियों पर भी प्रभूत वाङ्मय का सृजन हुआ है। घरों में प्रचलित द्रव्यों के औपयो प्रयोग भी लिखे गये हैं। इसी क्रम में अनेक 'शतकों' तथा 'बूटीदर्पणों'[2] की रचना हुई। गुरुकुलकांगड़ी के वैद्य रामनाथ ने वनौषधिशतक (तृतीय संस्करण, १९७२)

१. अञ्जीर (आत्माराम, दिल्ली), मिर्च (१९५०), त्रिफला (१९५१), तुलसी (१९५५), तुवरक और चालमोगरा (१९५६), पेठा (१९५८), अशोक (१९५९), सर्पगन्धा, सोंठ, तोरी (१९६१), पलाश (१९६२), लशुन-प्याज (१९६३), नारियल (१९६४), खैर (१९६६) प्रभृति।

२. रूपलाल वैश्यकृत 'बूटीदर्पण', रामलगन पाण्डेकृत 'बृहद् बूटीप्रचार (ठाकुर प्रसाद, वनारस), हरिनारायणशर्माकृत 'बृहद् बूटीप्रचार' (भार्गव पुस्तकालय, बनारस, १९३९) आदि।

गृहद्रव्यविज्ञान आदि अनेक उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन किया है। बिहार (गायघाट, पटनासिटी) के गोस्वामी शंकर गिरि ने जंगलों की अनेक वर्षों तक निरन्तर यात्रायें कर वनौषधियों का अच्छा अध्ययन एवं संकलन किया है यद्यपि इनकी कोई रचना प्रकाशित न हो सकी। कृष्णगोपाल औषधालय, अजमेर द्वारा प्रकाशित 'गांवों में औषधरत्न' इस दिशा में उत्तम प्रकाशन है।

कल्प-ग्रन्थ

निघण्टुओं के अतिरिक्त, एक-एक ओषधि पर भी विवरणात्मक वाङ्मय का सृजन हुआ। इनमें कल्पग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें एक-एक द्रव्य का परिचय तथा प्रयोग दिये गये हैं। विशेषतः रसायन के रूप में इन औषधियों का प्रयोग है, कुछ तान्त्रिक प्रयोग भी हैं। मध्यकाल में अधिकांश ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

१. औषधकल्पसमूह (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता)
२. औषधिकल्प (पूना, काशी)
३. औषधिकल्पलतिका (आनन्दाश्रम)
४. औषधिवाड ,,
५. कल्पभूषण (राघवन)
६. कल्पचिन्तामणि (पूना)
७. कल्पद्रुमसारसंग्रह-जयरामगिरिकृत (के० आ० प० ३६५)
८. कल्पनासागर (आनन्दाश्रम)
९. कल्पलता (मद्रास)
१०. कल्परत्न (बड़ौदा)
११. कल्पार्णव (राघवन)
१२. कल्पसागर (जम्मू)
१३. कल्पसंग्रह (पूना)
१४. कल्पसार (त्रिवेन्द्रम्)
१५. कल्पसिन्धु (राघवन)
१६. कल्पवल्ली (,,)
१७. नानाविधौषधकल्प (के० आ० प० ४९१)
१८. बृहत् भेषजकल्प (,, १६३)
१९. भेषजकल्प—भरद्वाजकृत (,, १४४)
२०. भेषजकल्पसंग्रह (,, १४५)
२१. भेषजकल्पसंग्रह व्याख्या—वेंकटेशकृत (के० आ० प० १४६)
२२. भेषजकल्पसारसंग्रह (के० आ० प० १४७)

कल्पसंग्रहों के अतिरिक्त, एकल ओषधियों के कल्प पर भी ग्रन्थ लिखे गये। यथा—

१. करंजककल्प (त्रिवेन्द्रम्)
२. कृष्णधत्तूरकल्प (के० आ० प० ३९९)
३. गुग्गुलुकल्प (शार्ङ्गधर की गूढार्थदीपिका में उद्धृत, खण्ड २, ७५६-६९)
४. ज्योतिष्मतीकल्प (के० आ० प० ३५६)
५. मण्डूकब्राह्मीकल्प (,, ४३९)
६. मदस्नुहीरसायन—पूज्यपादमुनिकृत (के० आ० प० ४२३)
७. मुण्डीकल्पादयः (के० आ० प० ४५२)
८. रुदन्तीकल्प (,, ७११)
९. विजयाकल्प (,, ९९६)
१०. श्वेतार्ककल्प (,, ८०२)

एक-एक द्रव्य पर स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गईं। श्री रमेश वेदी ने दर्जनों ऐसी पुस्तकें लिखी हैं। श्यामसुन्दर रसायनशाला, वाराणसी से भी उमेदीलाल वैश्य तथा केदारनाथ पाठक द्वारा विरचित ऐसी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। गणपति सिंह वर्मा, रामसनेही दीक्षित और अमोलचन्द्र शुक्ल ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। पं० चन्द्रशेखरधर शर्मा (चम्पारन, विहार) द्वारा रचित गुलरगुणविकास अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसका १५वाँ संस्करण चौखम्बा द्वारा १९६५ में प्रकाशित हुआ। हाल ही में आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा द्वारा रचित 'तुलसी' ग्रन्थ डाबर, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है (१९७५)।

पत्रिकाओं के विशेषांक

आयुर्वेदीय पत्रिकाओं ने समय-समय पर वनौषधि-विशेषांक प्रकाशित किये हैं जिनमें औषधियों के सम्बन्ध में उपयोगी सूचनायें संकलित हैं। इस सम्बन्ध में धन्वन्तरि के वनौषधि-विशेषांक (१९६७, १९६९, १९७१) अवलोकनीय हैं। इसका एक और सन्दिग्धवनौषधि-विशेषांक १९७५ में प्रकाशित हुआ है।

द्रव्यगुण के अन्य ग्रन्थ

द्रव्यगुण के अधिकांश ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं, अनेक पाण्डुलिपियों के रूप में पुस्तकालयों में बन्द हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो बहुत पहले प्रकाशित हुये थे किन्तु पुनः लुप्त हो गये।

हाल में निम्नांकित नवीन पुस्तकें प्रकाश में आई हैं—

१. महौषध-निघण्टु—आर्यदास कुमारसिंहकृत (चौखम्बा, १९७१)
२. अभिनव वनौषधि-चन्द्रिका—बनवारीलाल मिश्र एवं रामभरोसी मिश्रकृत, (जयपुर, १९६९)

३. द्रव्यपरीक्षा—बनवारीलालमिश्रकृत (जयपुर, १९७१)
४. आयुर्वेदीय द्रव्यगुणविज्ञान—शिवकुमारव्यासकृत (दिल्ली, १९६४)

द्रव्यगुण के अन्य ग्रन्थों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

१. अभिधानचन्द्रिका—भीमसेन
२. अभिधानरत्नमाला (षड्रसनिघण्टु)—(मद्रास, १८८१, १९२८, १९३९)
३. अभिधानमञ्जरी—भिषगाचार्य (१९५२)
४. अगस्त्यनिघण्टु—अगस्त्य
५. अकारादिनिघण्टु (धन्वन्तरिनिघण्टु)—अमृतनन्दिन्
६. अष्टाङ्गहृदय-द्रव्यविज्ञान
७ अथर्वनिघण्टु
८. औद्भिदद्रव्य—नामगुणविमर्श
९. औषधगुणपाठ
१०. औषधनामावली—गोवर्धन
११. „ —वैद्य विजयशंकर
१२. औषधनिघण्टु
१३. औषधिकोष
१४. औषधिनाममाला (लघुनिघण्टु)—व्यास केशवराम (इण्डियन ड्रगरिसर्च एसोसियेशन, पूना, १९६२)
१५. आयुर्वेदोक्त द्रव्यगुणविज्ञानम्—भोलानाथ मुखोपाध्याय
१६. आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान—के० वी० लाल सेनगुप्त (कलकत्ता, १८७५)
१७. भैषज्यगुणार्णव—पूज्यपाद
१८. भैषज्यविज्ञान—ईशानचन्द्र विशारद (कलकत्ता)
१९. भेषजनाममाला (द्रव्यनिर्णयनिघण्टु)
२०. भेषजरहस्य
२१. भेषजसर्वस्व
२२. भोरयद्रव्यगुणविषय
२३. भोजराजनिघण्टु
२४. चिकित्साभिधान—गन्ध उपाध्याय
२५. दक्षिणामूर्त्तिनिघण्टु
२६. दिव्यौषधिप्रकाश
२७. दिव्यौषधिवर्णन
२८. द्रव्यचिह्न
२९. द्रव्यदशार्थनिरूपण

३०. द्रव्यगुण—पुरुषोत्तम, माधवपुत्र, चक्रदत्तप्रपौत्र
३१. द्रव्यगुण—नारायणदास
३२. द्रव्यगुण—गोपाल
३३. द्रव्यगुणादर्शनिघण्टु
३४. द्रव्यगुणाधिराज
३५. द्रव्यगुणकल्पवल्ली
३६. द्रव्यगुणाकर—हरिशाणसेन
३७. द्रव्यगुणपाठ
३८. द्रव्यगुणसंग्रह
३९. द्रव्यगुणसंकलन
४०. द्रव्यगुणविचार—त्रिमल्लभट्ट
४१. द्रव्यगुणविमर्श
४२. द्रव्यगुणमुक्तावली
४३. द्रव्यमुक्तावली
४४. द्रव्यनामगुणकथन
४५. द्रव्यनामनिर्णय
४६. द्रव्यनिश्चयसारसंग्रह
४७. द्रव्यपदार्थप्रतिनिधि
४८. द्रव्यपरीक्षा
४९. द्रव्यप्रकाश
५०. द्रव्यरत्नाकर—मुद्गल
५१. द्रव्यरत्नावली
५२. द्रव्यसंग्रह
५३. द्रव्यसारसंग्रह
५४. द्रव्यवैशेषिक
५५. द्रव्यावली माधव (महादेव ?)
५६. द्रव्यावली (द्रव्यकोष) चन्द्रट
५७. एकाक्षरनिघण्टु—सदाचार्य
५८. " —माधव
५९. एकाक्षरी निघण्टु—कृष्णात्मज प्रीतिकर
६०. गन्धशास्त्रनिघण्टु—पृथ्वीसिंह
६१. गुणचन्द्रिका—घनश्याम सूरि
६२. गुणचिन्तामणि

६३. गुणादर्श
६४. गुणज्ञाननिघण्टु
६५. गुणकर्मनिर्देश
६६. गुणनिघण्टु
६७. गुणपटल
६८. गुणपाठ
६९. गुणरत्नाकर—व्रजभूषण
७०. गुणयोगप्रकाश
७१. हनुमन्निघण्टु
७२. हरमेखला (औषधप्रकरण)
७३. इन्द्रकोश (राजेन्द्रकोश)–प्रभाकरसुत रामचन्द्र गौड़ाधीश इन्द्रसिंह के आदेश से रचित
७४. इन्द्रनिघण्टु
७५. कोशकल्पतरु—नारायणसुत विश्वनाथ वैद्य (१६२९-७६)
७६. मुक्तावली—कालीप्रसन्न विट् (कलकत्ता, १८९१)
७७. नाममाला—शब्दसंकेतकलिका—धन्वन्तरि
७८. नामसंग्रहनिघण्टु
७९. निघण्टुप्रकाश—जोशी वैद्य बापू गंगाधर
८०. निघण्टुसमय—धनंजय
८१. निघण्टुसारसंग्रह—राधाकृष्ण
८२. निघण्टुसार—रघुनायक
८३. ,, अशोकमल्ल
८४. निर्णयनिघण्टु—वैद्यनाथ
८५. ओषधिकोश
८६. पञ्चशन्निघण्टुसार
८७. पर्यायमञ्जरी
८८. पर्यायमुक्तावली—हरिचरणसेन (J. B. R. S. Patna, 1947)
८९. पर्यायार्णव—नीलकण्ठ मिश्र
९०. रसनिघण्टु—कोदण्डराजसुत माधव
९१. रसमूलिकानिघण्टु—बाहट
९२. रत्नमाला—गोवर्धन
९३. शब्दचन्द्रिका—चक्रपाणि
९४. शब्दप्रदीप—सुरपाल

९५. शब्दरत्नप्रदीप—कल्याणमल्ल
९६. शब्दसंग्रहनिघण्टु—अगस्त्य
९७. शाकनिघण्टु—सीताराम शास्त्री
९८. संज्ञासमुच्चय—शिवदत्त मिश्र
९९. सरस्वतीनिघण्टु—शाश्वत
१००. सारोत्तरनिघण्टु
१०१. शतौषधानि
१०२. शेषराजनिघण्टु
१०३. सिद्धसार निघण्टु
१०४. सिद्धौषधनिघण्टु
१०५. सूर्यरामाख्यनिघण्टु
१०६. ताम्बूलमञ्जरी
१०७. उपवनविनोद—शार्ङ्गधर
१०८. ,, —मलयसूरि
१०९. उपवनविनोदकौतुक—कवीन्द्राचार्य
११०. वैद्यकगुणसार
१११. वैद्यकोश—दाऊजी
११२. वैद्यकनिघण्टुविशेष
११३. वैद्यामृत—मोरेश्वर भट्ट, माणिक्यभट्टात्मज (१५४७ ई०)
११४. वैद्यनिघण्टुसार—छिक्कन पंडित
११५. वामननिघण्टु—वामन
११६. वस्तुगुणागुण
११७. वस्तुगुणकल्पवल्ली
११८. वस्तुगुणनिर्णय
११९. वृक्षायुर्विज्ञान
१२०. वृक्षायुर्वेद

हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में निम्नांकित ग्रन्थ अवलोकनीय हैं :—

१. निघण्टुशिरोमणि—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल—सुधानिधि प्रेस, इलाहाबाद, (१९१९)
२. द्रव्यसंग्रहविज्ञान— ,, — ,,
३. गुणपरिज्ञान— ,, ,,
४. प्राणिज औषधि ,, ,,
५. निघण्टुकल्पद्रुम—सुदर्शनलाल त्रिवेदी—भार्गव पुस्तकालय, बनारस (तृ० सं० १९५८)

६. औषधगुणधर्म विज्ञान — हरिशरणानन्द
७. गुणपरिज्ञान—मोहनलाल गटोचा
८. लघुद्रव्यगुणादर्श—चन्द्रशेखर गोपालजी ठक्कर
९. निघण्टुविज्ञान—जगन्नाथ शर्मा
१०. औषधिविज्ञान—धर्मदत्त
११. द्रव्यकल्पद्रुम (उड़िया)—व्रजवन्धु त्रिपाठी
१२. औषधाकार—धनजी शाह
१३. द्रव्यगुणविज्ञान—रविशंकर पुरोहित
१४. जंगलनी जड़ी बूटी (गु०) वैद्यशास्त्री श्यामलदास गोर
१५. वनौषधिप्रकाश—वासुदेवशास्त्री बापट
१६. भारतीय भैषजतत्त्व—कात्तिकचन्द्र वसु

आयुर्वेदेतर वाङ्मय में द्रव्यगुण

आयुर्वेद के अतिरिक्त अन्य वाङ्मय में भी द्रव्यगुण की प्रचुर एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। दर्शनों में द्रव्यगुण-कर्म के सैद्धान्तिक पक्ष का विमर्श किया गया है। वनस्पतियाँ प्रकृति की रमणीयता में सहयोगिनी हैं अतः रमणीयार्थ-प्रतिपादक काव्य में वनस्पतियों का वर्णन स्वाभाविक है। इससे तत्कालीन वानस्पतिक अवधारणाओं का पता चलता है। कोशों के वनौषधिवर्ग में द्रव्यों के पर्यायरूप में वर्णन मिलते हैं।

वेदों के अतिरिक्त, पुराणों, स्मृतियों, बौद्ध वाङ्मय (त्रिपिटक, जातक आदि), जैन ग्रन्थ, रामायण और महाभारत में भी द्रव्यगुण की महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है। विशेषज्ञ विद्वानों ने विभिन्न पक्षों पर कार्य कर प्रकाशन किये हैं उनका अवलोकन करना चाहिए।[1]

---

1. इस सम्बन्ध में देखें—
बापालाल : संस्कृत साहित्य में वनस्पति (गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५३)
प्रियव्रत शर्मा : अमरकोष का वनौषधिवर्ग, सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७४
Jyotirmitra : Medicinal Plants of the Ramayana of Valmiki, Nagarjuna, Feb, 1669
P. V. Sharma : Indian Medicine in the Classical Age, Section II (Chowkhamba, 1972)
B. C. Law : Ancient Indian Flora (Indian Culture, Vol XV, Nos. 1–4, July 1948—June 1949)

वैद्येतर विद्वानों द्वारा विरचित ग्रन्थ

१. भारतीय वनौषधि—कलकत्ता वानस्पतिक उद्यान के अधीक्षक डा० कालीपद विश्वास की यह रचना है। इसमें ६७२ वानस्पतिक द्रव्यों का विवरण प्रयोगसहित दिया है। सभी वनस्पतियों के रेखाचित्र भी दिये हैं यह पुस्तक की बड़ी विशेषता है। यह ग्रन्थ कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित है (१९५०)।

२. इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स—कीर्तिकर एवं बसु द्वारा निर्मित यह बृहत्काय ग्रन्थ भारतीय औषधियों के लिए एक प्रामाणिक आकर-ग्रन्थ है[1]। प्रायः सभी ओषधियों के चित्र भी दिये गये हैं।

३. इकोनोमिक बाटनी ऑफ इण्डिया—इसके रचयिता भीमचन्द्र चटर्जी प्रोफेसर, इञ्जीनियरिंग कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जड़ी-बूटियों में बड़ी रुचि रखते थे। उपर्युक्त ग्रन्थ के निर्माण में भी आपका योगदान था।[2]

३. इण्डियन मेटिरिया मेडिका—के० एम० नादकर्णी द्वारा विरचित यह ग्रन्थ इस क्षेत्र में लोकप्रिय रहा है। इसका तीसरा संस्करण १९५४ में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ[3]। इसमें वानस्पतिक, जान्तव एवं खनिज सभी प्रकार की ओषधियों का विस्तृत विवरण है। उनके प्रयोगों का भी वर्णन विस्तार से है।

४. इण्डिजिनस ड्रग्स ऑफ इण्डिया[4]—कर्नल रामनाथ चोपड़ा ने भारतीय ओषधियों का परीक्षण कर उनका विवरण इस ग्रंथ में दिया है। इस दिशा में अपने ढंग का यह प्रथम प्रयास होने पर भी भावी कार्यकर्त्ताओं के लिए पथप्रदर्शक हुआ।

प्वायजनस प्लाण्ट्स ऑफ इण्डिया[5] भी आपकी महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके अतिरिक्त, अन्य सहयोगियों के साथ आपने 'ग्लॉसरी ऑफ इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स'[6] की रचना की। इसका सप्लिमेंट भी प्रकाशित हो चुका है[7]।

---

१. K. R. Kirtikar and B. D. Basu : Vol I–IV, Allahabad, (1st ed. 1918, 2nd ed. 1933)

२. रूपलाल वैश्य : सन्दिग्ध बूटी चित्रावली, भाग १, पृ० ५६

३. ए० के० नादकर्णी द्वारा सम्पादित तथा पापुलर बुक डिपो एवं धूतपापेश्वर पनवेल, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

४. कलकत्ता, १९३३

५. Chopra, Badhwar & Ghosh : I. C. A. R. 1949

६. Chopra, Nayar & Chopra—C. S. I. R., 1956

७. Chopra, Chopra & Varma : Delhi, 1969

इनके अतिरिक्त, निम्नांकित रचनायें भारतीय ओषधियों के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं—

Sakharam Arjun : Bombay Drugs (1879)
U. C. Dutt : Materia Medica of the Hindus (2nd ed. 1922)
R. N. Khoury : Materia Medica of India and their therapeutics.
Kanailal De : Indigenous drugs of India
Ainsle : Materia Medica of Hindustan (1813)
Roxburgh : Flora Indica (1874)
Dymock & Gadgil : The Vegetable Materia Medica of the Hindus.
Dymock et al.: Pharmacographia Indica (1883)
Moodeen Sherriff : Supplement fo Pharmacopoea Medica
Idem : Materia Medica
George watt : Dictionary of Economic Products of India, (1908)
K. C. Bose : Pharmacopoea Indica (1932)
H. V. Savnur : A Handbook of Ayurvedic Materia Medica (Belgaon, 1950)

स्वतन्त्र भारत में सी० एस० आई० आर० द्वारा प्रकाशित 'वेल्थ ऑफ इण्डिया' एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। इसके ९ खण्ड निकल चुके, १० वां अन्तिम खण्ड प्रकाशनाधीन है।

वनौषधि-सर्वेक्षण

भारतीय वनौषधियों का सर्वेक्षण कर अनेक विवरणात्मक ग्रंथ (फ्लोरा) प्रस्तुत हुये। युरोपीय विद्वानों ने यह ऐतिहासिक कार्य किया। रॉक्सबर्ग तथा वालिच का 'फ्लोरा इण्डिका' प्रारम्भिक रचनाओं में महत्त्वपूर्ण है। हूकर का 'फ्लोरा आफ ब्रिटिश इण्डिया' अभी भी प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। प्रादेशिक स्तर पर भी ऐसे ग्रंथ लिखे गये जिनमें हेन्स, डथी, काञीलाल, कुक, ब्राण्डिस, माहेश्वरी आदि की रचनायें उल्लेखनीय हैं[1]। ठाकुर बलवन्तसिंह ने हिमालयप्रदेश की वनस्पतियों के लिए

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें—प्रस्तावना, पृ० १३-१९, वैद्य बापालालकृत निघण्टु-आदर्श (चौखम्बा, १९६८)

'वनौषधिदर्शिका' तथा छोटा नागपुर और जमुई क्षेत्रों के लिए 'विहार की वनस्पतियाँ' (१९५५) की रचना की। वैद्य मायाराम उनियाल ने उत्तराखण्ड की वनस्पतियों पर उत्तम कार्य किया है। भारतीय वनस्पतियों के अध्ययन-सर्वेक्षण में बोटानिकल सर्वे आफ इण्डिया विशेषतः फादर सन्तापो का योगदान ऐतिहासिक रहा है।

कुछ वर्षों से भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसंधान परिषद् के तत्वावधान में विभिन्न प्रदेशों में वनस्पति-सर्वेक्षण के लिए केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें प्रादेशिक स्तर पर कार्य हो रहा है।

भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय

वनस्पतियों का सर्वेक्षण-कार्य प्रारम्भ होने पर भैषज्योद्यानों एवं संग्रहालयों की स्थापना होने लगी। कलकत्ता का वानस्पतिक उद्यान प्राचीन है जहाँ अंग्रेजों ने देश-विदेश से पौधे लाकर लगाये। राक्सवर्ग, वालिच आदि विश्वविख्यात वनस्पतिविद् उसके अधीक्षकपद को अलंकृत कर चुके हैं[1]। लखनऊ का राष्ट्रीय वानस्पतिक उद्यान भी उल्लेखनीय है। इस दिशा में सिम्पो (Cimpo) नामक संस्था ध्यान दे रही है। ओषधियों की दृष्टि से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदीय भैषज्योद्यान अवलोकनीय है। देहरादून का उद्यान और संग्रहालय तो विख्यात है ही।

शोधकार्य

जब से अंगरेजी राज स्थापित हुआ तभी से इस देश के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी का प्रयास यूरोपीय विद्वान करने लगे। मेडिकल कालेज स्थापित होने पर उनमें पहले फार्माकोलोजी की पढ़ाई मेडिसिन विभाग के ही अन्तर्गत होती थी किन्तु बाद में भारतीय ओषधियों में अनुसन्धान की दृष्टि से यह विभाग स्वतंत्र कर दिया गया। इसी परम्परा में चोपड़ा, मुखर्जी, बोस, गुजराल आदि विद्वानों ने कार्य किया। स्वतन्त्रता के बाद यह कार्य तेजी से बढ़ा और प्रायः सभी मेडिकल कालेजों में भारतीय ओषधियों पर अनुसन्धान कार्य होने लगा। इस निमित्त स्वतन्त्र शोध-संस्थान भी स्थापित हुये यथा लखनऊ का केन्द्रीय भेषज शोधसंस्थान। इण्डियन कौंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च तथा भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धानपरिषद् स्थापित होने पर इस कार्य में और प्रगति आयी। इस प्रकार

---

1. इस शती के प्रथम चरण में कलकत्ता के कई कविराजों ने वनौषधिवाटिका लगा रक्खी थी। रूपलाल वैश्य ने कविराज हेमचन्द्रदेव और हेमचन्द्र मित्र, कार्तिक... की कृषिशाला का निर्देश किया है। (सन्दिग्ध बूटीचित्रावली, पृ० ७,२४)

शताधिक औषधियों पर कार्य हुआ और उनके सम्बन्ध में शोधपत्र एवं मोनोग्राफ प्रकाशित हुये।[1]

भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धान-परिषद् द्वारा कुछ संयुक्त द्रव्य-अनुसन्धान-कार्यक्रम भी संचालित हो रहे हैं जिनमें द्रव्यों के वानस्पतिक, रासायनिक, गुणकर्मात्मक तथा आतुरीय इन सभी दृष्टियों से अध्ययन होते हैं। इसके अतिरिक्त, अन्य अनुसन्धान इकाइयों में भी कार्य हो रहा है। इस अनुसन्धान-परिषद् के द्वारा तय्यिरल कुमारकृष्णकृत एक विशाल 'आयुर्वेदीय औषधिनिघण्टु' (१९६६) प्रकाशित हुआ है। पीतकरवीर पर एक मोनोग्राफ (अरोड़ा एवं रंगस्वामी, १९७२) प्रकाशित हुआ है। के० नारायण ऐयर एवं उनके सहयोगियों द्वारा प्रस्तुत 'आयुर्वेदीय औषधियों का परिचयविज्ञान' क्रमबद्ध रूप में ९ खंडों में प्रकाशित हुआ है (केरल विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम, १९५१-१९६६) जिसमें ९२ द्रव्यों का सचित्र विवरण है। यह वनस्पतियों के रूपज्ञान के सम्बन्ध में अत्युपयोगी प्रकाशन है। वनस्पति-परिचयविज्ञान के क्षेत्र में हुये कार्यों का विवरण मेहरा, भटनागर एवं हण्डा ने अपने लेख 'रिसर्चेज इन फार्माकोग्नोसी इन इण्डिया' में दिया है (पंजाब विश्वविद्यालय की अनुसंधान पत्रिका (एन० एस०), भाग २०, अंक ३-४, पृ० २६१-३३७, सितम्बर, १९७०)।

जामनगर में केन्द्रीय आयुर्वेदीय शोध संस्थान की स्थापना से आयुर्वेदीय द्रव्यों के सम्बन्ध में अनुसंधान का जो श्रीगणेश हुआ वह वाराणसी के स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान द्वारा विकसित एवं उपबृंहित हुआ। इन संस्थाओं द्वारा औषधियों के सम्बन्ध में अनेक शोधपत्र तथा शताधिक शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं।

स्वतन्त्र संस्थाओं में इण्डियन ड्रग रिसर्च एसोसियेशन, पूना का नाम उल्लेखनीय है जहाँ डा० जी० एस० पेण्डसे के नेतृत्व में कार्य हो रहा है और चित्रक, बाकुची (१९६३) आदि पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी हुए हैं। वाग्भटीय औषधियों की संदर्भसूची भी यहाँ से प्रकाशित हुई है।[2]

कृष्णचन्द्र चुनेकर की 'वानस्पतिक अनुसंधानदर्शिका' (चौखम्बा, १९६९) में इन शोधकार्यों का विवरण उत्तम रीति से संकलित है।

---

१. आर० बी० अरोड़ा का जटामांसी पर उल्लेखनीय कार्य हुआ है। देखें—Nardostachys Jatamamsi—A. Chemical, Pharmacological and Clinical appraisal (I. C. M. R., 1965)

२. Godbole, Pendse & Bedeker : Glossary of Vegetable Drugs in Vagbhata, I. D. R. A., Poona, 1666.

धन्वन्तरिनिघण्टु के द्रव्यों की भी एक विवरणिका प्रकाशित हुई है (कामत एवं महाजन, १९७२)

२८ आ०

भेषजकल्पना

द्रव्यों का इस रूप में प्रस्तुतीकरण जिससे वे अपना कर्म करने में समर्थ हो कल्पना कहलाती है। भेषजकल्पना का प्राचीन स्वरूप कषाय है। 'कषाय' शब्द वस्तुतः खींचने (Extraction) के अर्थ में है। जिसमें द्रव्य का कार्यकर अंश खिंचकर चला आवे वह कषाय है। ऋग्वेद में सोम के स्वरस एवं अभिषव कल्पों का विशद वर्णन है। इससे स्पष्ट है अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय भैषज्य-कल्पना का विकसित रूप दृष्टिगत होता है। चरक (सू० ४) में पञ्चविध कषाय-कल्पनाओं का वर्णन है।[1] ये ही मौलिक कल्पनायें हैं, इन्हीं से क्रमशः अन्य कल्पनाओं का विकास हुआ है। क्वाथ और कल्क से ही तैल-घृत सिद्ध किये जाते हैं जिनमें स्नेह-विलेय कार्यकर अंश विशेष रूप से आ जाते हैं और स्नेह का अपना कर्म तो होता ही है। आसव-अरिष्ट भी हिम एवं क्वाथ के रूपान्तर हैं। क्वाथ अधिक दिनों तक रह नहीं सकता। अभिषवक्रिया द्वारा मद्य बनने से क्वाथ का सुरक्षण होता है; मद्य-विलेय कार्यकारी सत्व इसमें आ जाते हैं तथा मद्य की योगवाहिता से औषध के कर्म में उत्कर्ष आ जाता है। चूर्ण और कल्क से क्रमशः एक ओर वटक और गुटिका का और दूसरी ओर अवलेह-मोदक-पाक का विकास हुआ।

सुश्रुतसंहिता में अनेक कल्पों का वर्णन है जिससे स्पष्ट है कि उस काल तक भेषजकल्पना का पर्याप्त विकास हो चुका था। एक रोग (कुष्ठाधिकार) में ही सुश्रुत ने मन्थ, अरिष्ट, आसव, सुरा, अवलेह, चूर्णक्रिया, अयस्कृति, सारसार कल्पनाओं का वर्णन किया है और यह संकेत किया है कि इस आधार पर सहस्रों कल्पनाओं की कल्पना की जा सकती है।[2] इनके अतिरिक्त, मसी, तैल, घृत, लेह, वर्त्ति आदि विविध कल्पनाओं का प्रयोग किया गया है। क्षारकल्पना का विशद वर्णन मिलता है।[3] अष्टांगसंग्रह[4] में स्नेह, स्वेद, बस्ति, नस्य, धूमपान, गण्डूष, प्रतिसारण, मुखालेप, मूर्धतैल, शिरोबस्ति, आश्च्योतन, अञ्जन, तर्पण, पुटपाक[5] आदि

---

१. भल्लातक के प्रसंग में चरक ने क्षीर, क्षौद्र, तैल, गुड, यूष, घृत, पलल, सक्तु, लवण, तर्पण कल्पनाओं का विधान किया है (च. चि. १।२।१३-१६) कल्पस्थान में वर्त्तिक्रिया, उत्कारिका, मोदक, लेह, रागषाडव, शष्कुली, पूप, सुरा, पानक, गन्धयोग आदि अनेकविध कल्पनाओं का विधान किया गया है।

२. सुरामन्थासवारिष्टांलेहांश्चूर्णान्ययस्कृतीः ।
सहस्रशोऽपि कुर्वीत बीजेनानेन बुद्धिमान् ॥ सु० चि० १०।१४

३. सु० सू० ११

४. अ० सं० सू० १५-२३

५. पुटपाकविधि से वनस्पतियों का स्वरस निकालने का विधान सुश्रुत (उ० ४०।७७-७९) में भी है।

विविध कल्पनाओं का विधान है। भेषजकल्पाध्याय में कषाय-कल्पना, स्नेहपाक आदि का वर्णन किया है।[१]

कल्पानुसार योगों का वर्गीकरण एवं वर्णन प्राचीन काल से चला आ रहा है। नावनीतक में सर्वप्रथम यह शैली दृष्टिगत होती है। इसके बाद चन्द्रट, सोढल, शार्ङ्गधर आदि आचार्यों ने इसे विकसित किया। मध्यकाल में सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना हुई मुसलमानों से सम्पर्क जिसके माध्यम से कुछ नवीन कल्पनाओं का समावेश आयुर्वेद में हुआ। इनमें 'अर्क-कल्पना' महत्त्वपूर्ण है जिसके द्वारा उड़नशील तैलों का निष्कासन किया जाने लगा और इस विधि से अन्य द्रव्यों का भी अर्क निकाला जाने लगा। मद्य भी इस विधि से खींचा जाने लगा। सोढल (१२वीं शती) ने सर्वप्रथम अर्क-कल्पना का विधान किया है[२]। इसके बाद इसका प्रयोग तेजी से बढ़ा और इस पर अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गये। मद्य भी इस विधि से निकाला जाता था जो तीक्ष्ण होता था, लोक में इसके लिए 'अरक' शब्द प्रचलित था।[3] यूनानी मलहम भी 'मलहर' के रूप में आयुर्वेदीय बन गया।

द्रव्य को तीक्ष्ण करने के लिए भावना देने का विधान है।[४] किसी योग में तीक्ष्णता या मन्दता करने के लिए संयोग, विश्लेष, काल, संस्कार और युक्ति का अवलम्बन करने का विधान किया गया है।[५]

सुरा में किसी द्रव्य को अभिषुत कर उसका सुराविलेय सत्त्व निकालने की विधि चरक के दृढबलकृत अंश में है।[६] सम्भवतः गुप्तकाल में यह विधि प्रचलित थी।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के सुराध्यक्ष-प्रकरण में अनेक प्रकार की सुराओं का वर्णन है। रोगों में प्रयुक्त होनेवाले मद्यविकार को अरिष्ट कहा है।[७] इस प्रकार 'आसव' शब्द मद्यसामान्य का वाचक हुआ। आसव-अरिष्ट में यह भेद ध्यान देने योग्य है। मध्यकाल में जब आसव-अरिष्ट दोनों रोगों में प्रयुक्त होने लगे तब उनका भेदक लक्षण भी बदल गया। जो औषध के क्वाथ से बनाया जाय वह अरिष्ट और जो

---

१. वही, क० ८, अ० हृ० क० ६

२. प्रयोगखण्ड, खर्जूरासव (निष्कासयेदर्कमतो यथावद् दत्त्वा जलं चोपरियन्त्रकस्य) (श्लो० २७२)

३. वर्नियर : पृ० २५३

'शौण्डिक' (मद्यविक्रयी) में 'शुण्डा' शब्द सम्भवतः मद्यपातनार्थ प्रयुक्त शुण्डाकार यन्त्र (भभका) का बोधक है। अमरकोष में 'शौण्डिक' शब्द आया है।

४. च० क० १२।५१-५२

५. वही, ५२-५३

६. च० क० २।८

७. चिकित्सकप्रमाणाः प्रत्येकशो विकाराणामरिष्टाः—अर्थ० २।२५।१४

अपक्व औषध से सिद्ध हो वह आसव कहलाया[1]। सम्प्रति यही लक्षण प्रचलित है।

आहारकल्पना

औषधकल्पना के अतिरिक्त, अनेकविध आहारकल्पों का भी वर्णन है। यूष, पेया, यवागू, विलेपी, ओदन, कृशरा प्रभृति कल्प व्याधियों में पथ्य के रूप में बहुशः प्रयुक्त हुये हैं।

औषधयोग

एकल द्रव्यों की तुलना में औषधयोगों की संख्या अत्यधिक है। भैषज्यकल्पना के विकास के साथ-साथ इन योगों की संख्या भी बढ़ती गई और इसी ने आगे चलकर पेटेण्ट का रूप धारण किया।

योगों का नामकरण प्रायः प्रमुख-द्रव्य के आधार पर होता है यथा चित्रकादि गुटिका। रोगों के अनुसार भी नामकरण किया गया है यथा शूलवज्रिणी, विषम-ज्वरान्तक आदि। कहीं-कहीं गुणधर्म के अनुसार नाम है यथा, कामेश्वर, मृतसंजी-वनी आदि और कहीं योग के आविष्कर्ता देवी-देवता या ऋषि के नाम पर हैं यथा भास्करलवण, काङ्कायनमोदक आदि। धर्म का प्रभाव भी इस पर पड़ा है, सिंहनाद गुग्गुलु, तारामंडूर आदि नाम स्पष्टतः बौद्धतन्त्र से प्रभावित हैं।

योगों का इतिहास अपने आप में एक रोचक विषय है। स्थायित्व की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं:—

१. ऐसे योग जो सहस्राब्दियों से अद्यावधि अक्षुण्ण रूप से चले आ रहे हैं यथा च्यवनप्राश।

२. ऐसे योग जो बीच-बीच में आते हैं और लुप्त हो जाते हैं। समशर्करा गुटिका गुप्त एवं उत्तरगुप्त काल में अत्यन्त प्रचलित योग था जिसका उल्लेख चीनी यात्री इत्सिंग (७वीं शती) ने भी किया है किन्तु सम्प्रति इसका प्रचार नहीं है।

३. कुछ ऐसे योग जो मध्यकाल या आधुनिक काल में प्रविष्ट हुये यथा चोपचीनी-पाक, आकारकरभादिवटी, अहिफेनासव, मृतसंजीवनी सुरा आदि।

किसी एक योग को उसके उद्भव से लेकर वर्तमान स्वरूप तक देखें तो उसके उतार-चढ़ाव का पता चल जाता है। कभी कोई द्रव्य उसमें से निकाल दिया जाता है और कभी कुछ द्रव्य और मिला दिये जाते हैं। इस प्रकार उसके अनेक योग बन जाते हैं। प्रत्येक योग स्थितिविशेष में उपादेय होता है। रास्नापञ्चक, रास्नासप्तक, महारास्नादि प्रभृति योग इसी प्रकार बने। हिंग्वष्टकचूर्ण ऐसे भाग्यशाली कुछ योग होंगे जो हजारों वर्ष बाद भी अक्षुण्ण रूप से अपना स्थान बनाये हैं।

१. शार्ङ्ग० मध्य० १०।२

परिभाषा

भेषजकल्पना-सम्बन्धी तकनीकी बातों के स्पष्टीकरण के लिए परिभाषाओं का निर्माण किया गया यथा यदि वनस्पति के अङ्ग का उल्लेख न हो तो क्या लेना, शुष्क और आर्द्र द्रव्यों का अनुपात, द्रवपदार्थों का योग किस प्रकार किया जाय इत्यादि बातों का विचार इसमें किया गया है। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये।

मान

अमरकोष (२।९।८५) में यौतव, द्रुवय और पाय्य इन तीन प्रकार के मानों का उल्लेख है। तुला, अंगुलि और प्रस्थ से क्रमशः भार, दैर्घ्य और आयतन का मान किया जाता था (मानं तुलाङ्गुलिप्रस्थैः—अमर०, वही)। इस प्रकार इन्हें तुलमान, अंगुलिमान तथा प्रस्थमान[1] भी कहा जाता है। अमरकोष में इन तीनों का विवरण मिलता है। काशिका (५।१।१९) में इनके लिए क्रमशः उन्मान, प्रमाण और परिमाण शब्द हैं। मान का मानकीकरण संभवतः प्राङ्मौर्यकाल में पाटलिपुत्र के राजा नन्द ने किया[2]। कौटिल्य अर्थशास्त्र (२।१९२) मनुस्मृति (८।१३२-१३७), याज्ञवल्क्य-स्मृति (आचार ३६२-३६५), बृहत्संहिता (अ० ५८,६८,८०) आदि में मान का विवरण मिलता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में चरक, (क० अ० १२), सुश्रुत (चि० ३१), वाग्भट, (अ० हृ० ९६) और शार्ङ्गधर (पूर्व० १) में मान-प्रकरण अवलोकनीय है। सुदृढ राजतन्त्र में अर्थव्यवस्था एवं वाणिज्य को सुचारु रूप से सञ्चालित करने के लिए मान का मानकीकरण आवश्यक होता है। अतः मौर्यकाल, गुप्तकाल, मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल में मान की सुचारु व्यवस्था की गई। मगध में प्रचलित या मगध-साम्राज्य द्वारा मान्य मान मागध और कलिंग में प्रचलित मान कालिंग कहलाता था। कालिंग मान से मागध मान श्रेष्ठ कहा गया है। सम्भवतः इसका कारण कलिंग पर मगध का आधिपत्य है जो अशोक की कलिंगविजय के बाद स्थापित हुआ।

राज्य द्वारा निर्धारित मान के अनुसार व्यवहार न करने तथा ठीक से न तौलने

---

१. आदिवासियों में अभी भी प्रस्थमान से व्यवहार होता है। तुलामान प्राचीनकाल में कर्ष-पल, मध्यकाल में सेर-छँटाक और अब ग्राम-किलो में परिणत हो गया। अंगुलिमान बाद में इञ्च-फीट और अब मीटर हुआ। इसी प्रकार प्रस्थमान भी क्रमशः घन-इञ्च, घनसेण्टीमीटर में विकसित हुआ।

२. नन्दोपक्रमणानि मानानि —काशिका, २।४।२०; ६।२।१४
देखें – मेरा 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज, पृ० ४१

पर वणिक् दण्ड का भागी होता था ।[1] छः छः मास पर मान का पुनः परीक्षण करने का विधान था ।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ काल बाद तुलामान तथा प्रस्थमान परस्पर मिलकर एक हो गये जिसके कारण इनका भेद प्रायः समाप्त हो गया और प्रस्थ आदि शब्द भी तौल के ही वाचक बन गये ।

भेषजागार

कच्ची ओषधियों तथा सिद्ध औषधों को सम्यक् रूप से सुरक्षित रखने के लिए उत्तम भेषजागार होना चाहिए क्योंकि यदि ओषधियाँ जल, कीट आदि से दूषित हो जायँ तो उनकी तीक्ष्णता कम हो जाती है[3] ।

भेषजागार, पूरब या उत्तर मुख का होना चाहिए । इसमें अधिक वायु का प्रवेश न हो किन्तु पर्याप्त वायुसंचार होता रहे । उसकी सफाई कर उसमें पूजन, धूप आदि नित्य होना चाहिए । उसकी बनावट ऐसी हो जहाँ अग्नि, जल, सीलन, धुआँ, धूल, चूहे तथा अन्य चौपाये न आ सके । वह सभी ऋतुओं के लिए अनुकूल हो ।

वहाँ फलक, शिक्य और शंकु पर्याप्त होने चाहिए जिन पर थैलों और भाण्डों में ढँककर औषधें रक्खी जा सकें[4] ।

भेषजकल्पना के उपकरण

भेषज-निर्माण में मुख्यतः ताम्र, लौह और मिट्टी के पात्र व्यवहृत होते रहे हैं। प्राचीनकाल में व्यवहृत इन उपकरणों का उल्लेख मिलता है यथा खल्व, शिला, मुशल-उदूखल, चलनी, तुला, शुक्ति, कटाई, संधानयन्त्र, शुण्डापात्र आदि । भेषज संग्रहण के लिए थैले, घड़े, हाथीदाँत, श्रृङ्ग आदि के पात्र विहित है[5] । ऋग्वेद में सोमाभिषव-प्रकरण में त्रिकद्रुक यन्त्र का वर्णन अवलोकनीय है ।

निर्माणशाला एवं फार्मेसियाँ

प्राचीनकाल में वैद्य अपने रोगियों के लिए स्वयं औषध बनाता था और उसे अभियंत्रित कर प्रयोग करता था जिससे उसमें अधिकतम शक्ति रहे । राजाओं के रुग्ण होने पर विशेषतः अत्यधिक स्थिति में राजभवन में ही वैद्य औषधनिर्माण की व्यवस्था करता था । राजा प्रभाकरवर्धन की अत्यधिक रुग्णता की स्थिति में औषध

१. याज्ञवल्क्य० व्यवहाराध्याय, २४०
२. मनु० ८।४०३
३. च० क० १२।५७-५८
४. च० क० १।११, सु० सू० ३७।१३; ३८।७३
५. देखें—जी० पी० श्रीवास्तव : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फार्मेसी, पृ० १६७-१७३

निर्माण राजभवन के एक खण्ड में हो रहा था[1]। संपन्न वैद्य अपने भवन के ही एक खण्ड में औषधनिर्माणशाला रखते होंगे तथा वहीं कुछ ओषधियाँ भी लगाते होंगे। आतुरालयों तथा औषधालयों से संलग्न निर्माणशाला भी होगी। चरक ने आतुरालय का जो वर्णन दिया है उससे भी यही प्रतीत होता है। औषधपेषक औषधियों को कूटते-पीसते थे।

निर्माणशाला के स्वरूप का अनुमान भेषजागार के विवरण से ही होता है, इसका स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता।

आधुनिक काल में अंगरेजी फार्मेसियों की शैली पर अंगरेजों के केन्द्र—कलकत्ता, बम्बई जैसे नगरों में आयुर्वेदिक फार्मेसियाँ भी स्थापित हुई जिनका काम औषध बनाकर विक्रय करना हुआ। इस प्रकार चिकित्सकों से पृथक् इनका वर्ग बना। इस व्यवसाय में लाभ देखकर अनेक रसायनशास्त्री, पूँजीपति तथा वैद्य इस क्षेत्र में आये और क्रमशः सारे देशों में उनका जाल बिछ गया। इससे अनेक वैद्य भी प्रभावित हुये किन्तु अभी भी अच्छे चिकित्सक स्वयं औषध-निर्माण ही श्रेयस्कर समझते हैं।

पूर्वी क्षेत्र में ढाका और कलकत्ता में अनेक फार्मेसियों का उदय हुआ। ढाका का शक्ति औषधालय, साधना औषधालय तथा ढाका आयुर्वेदीय फार्मेसी प्रमुख हैं। कलकत्ता में डावर (डा० एस० के वर्मन) तथा श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का क्रमशः १८३३ और १९१८ में प्रादुर्भाव हुआ जो सम्प्रति आयुर्वेदीय फार्मेसियों में अग्रगण्य हैं। पश्चिमी अञ्चल में पनवेल (बम्बई) का धूतपापेश्वर, गुजरात की झंडू फार्मेसी तथा ऊंझा फार्मेसी प्रसिद्ध रही है। मथुरा के हरिदास वैद्य की सुखसंचारक कम्पनी भी एक समय में बहुत लोकप्रिय थी। वैद्य ठाकुरदत्त शर्मा (लाहौर) अमृतधारा के कारण विख्यात हुये। इस प्रकार से छोटी-बड़ी अनेक फार्मेसियों का उदय १९वीं शती के आसपास हुआ। शिक्षणसंस्थाओं ने भी फार्मेसियाँ चलायीं जिनमें गुरुकुल कांगड़ी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की फार्मेसी प्रमुख हैं। कुछ फार्मेसियाँ सहकारिता के आधार पर भी संचालित हुई। इनमें मद्रास का 'इंडियन मेडिकल प्रैक्टिशनर्स कोआपरेटिव फार्मेसी ऐण्ड स्टोर्स लिमिटेड' प्रमुख है जिसकी शाखायें दक्षिण भारत के प्रायः सभी नगरों में हैं। इसके द्वारा एक योगसंग्रह (वैद्ययोगरत्नावलि) १९६८ में प्रकाशित हुआ है।

जैसे-जैसे आयुर्वेदीय औषधियों के गुणधर्म एवं उपयोगिता का ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिकों को होता गया वैसे वैसे उनका प्रचार भी आधुनिक जगत में बढ़ने लगा। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय[2] द्वारा १९०० ई० में संस्थापित बंगाल केमिकल ऐण्ड

१. विविधौषधिद्रव्यद्रवगन्धगर्भमुत्क्वथतां क्वाथानां सर्पिषां तैलानां च प्रपच्यमानानां गन्धमाजिघ्रन्नवाप तृतीयं कक्ष्यान्तरम्—हर्षचरित, पृ० २६६

२. आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का जन्म २ अगस्त १८६१ ई० को जिला खुलना (अब

फार्मस्युटिकल वर्क्स में अनेक आयुर्वेदीय औषधियों के सत्त्व तथा योग प्रस्तुत किये गये जिनका प्रयोग डाक्टरी वर्ग में प्रचलित हुआ। इसी शैली से हिमालय ड्रग्स, चरक फार्मस्युटिकल्स, अलेम्बिक आदि फार्मेसियाँ आधुनिक रूप में आयुर्वेदीय योग प्रस्तुत कर रही हैं जो देश-विदेश में प्रसारित हो रहे हैं।

औषधिविक्रय

पहले यह बतलाया जा चुका है कि भारत के व्यापार-वाणिज्य में ओषधियों का प्रमुख स्थान रहा हैं। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतीय ओषधियाँ स्थल और जल मार्ग से विदेशों में जाती रही हैं तथा बाहर से इस देश में आती रही हैं। देश बड़ा होने तथा जलवायु, भूमि आदि की विभिन्नता के कारण सर्वत्र सब ओषधियाँ नहीं उगतीं अतः एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में इनका यातायात भी होता रहा। यह सब व्यापारियों के माध्यम से होता रहा है। ओषधियों के उद्भवस्थान में उन्हें एकत्रित कर बड़ी मण्डियों में भेजा जाता था जहाँ से देश-विदेश में उसका प्रसार होता था। उत्तरभारत में कुष्ठ, रेवन्द्चीनी, जटामांसी आदि तथा दक्षिण भारत में चन्दन, पिप्पली, मरिच, शुण्टी, जातीफल, दालचीनी आदि ओषधियों के केन्द्र प्रमुख थे। हर्षचरित में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है[१]।

धर्मशास्त्र में औषधविक्रय निन्द्य माना गया है, चिकित्सक का अन्न पूयसदृश कहा गया है[२]। मध्यकाल में वैद्य रोगी के निमित्त प्रस्तुत कच्ची ओषधियों तथा निर्मित औषधों का एक नियत अंश अपने लिए रखने लगा जिसे रुद्रयाग और धन्वन्तरियाग की संज्ञा दी गई। किन्तु चरक के कथन[३] से संकेत मिलता है कि उस काल में भी कुछ लोग चिकित्सा के लिए शुल्क लेते थे और सम्भवतः औषध का भी विक्रय करते थे। किन्तु प्राचीनकाल में 'पण्यभेषज' से कच्ची ओषधियों का ही

बंगला देश) में हुआ था। देश-विदेश में अध्ययन के बाद प्रेसिडेन्सी कालेज कलकत्ता में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुये। उन्होंने 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री' की रचना की जिसका प्रथम और द्वितीय खण्ड क्रमशः १९०२ और १९०८ में प्रकाशित हुये। वह इंडियन केमिकल सोसाइटी के संस्थापक थे जिसकी स्थापना १९२४ में हुई। १६ जून, १९४४ को उनका स्वर्गवास हुआ।
—P. Ray : History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Indian Chemical Society, Calcutta, 1956

१. भेषजसामग्रीसंपादनव्यग्रसमग्रव्यवहारिणि—हर्षचरित, पृ० २६७

२. पूयं चिकित्सकस्यान्नम्—मनु० ४।२२०

३. कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्—च० चि० १।४।५९

ग्रहण होता था, बनी ओषधियाँ आजकल की तरह बाजारों में नहीं विकती थीं; वैद्य अपने रोगियों के लिए औषध की व्यवस्था करता था या आतुरालयों में प्रयोगार्थ औषध बनती थी।

अधिक लाभ के लिए वणिक् ओषधियों में मिलावट भी करते थे तथा उनके स्थान पर अन्य नकली द्रव्यों को तद्रूप बनाकर व्यवहार भी करते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा व्याख्या में इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं यथा मिट्टी में मल्लिकासुगंध मिश्रित कर सुगन्धामलक बनाना, लोहे को वर्णान्तरकरण से रजत बनाना, बिल्वकाष्ठ में चन्दनगंध मिलाकर चन्दन कहना। लवंग आदि में भी ऐसा किया जाता था। कस्तूरी आदि भी कृत्रिम बनाकर बेची जाती थी। इन सबके लिए दण्ड का विधान था।[१]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा के दुर्ग का वर्णन करते हुए लिखा है कि पण्यभेषज का आगार पश्चिमोत्तर भाग में होना चाहिए। औषधद्रव्य का समावेश कुप्यवर्ग में किया गया है। इनका संग्रह पर्याप्त मात्रा में किया जाता था तथा बीच-बीच में पुरानी ओषधियों को हटाकर उनके स्थान पर नई रख दी जाती थीं। पण्यभेषज तथा गन्धद्रव्यों के व्यापार पर शुल्क लगता था।[२] आर्द्र ओषधि तथा गन्ध द्रव्य बेचना ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध था। मिताक्षरा व्याख्या में लिखा है कि यह निषेध ताजी ओषधियों के लिए है, सूखी के लिए नहीं[३] इससे स्पष्ट है कि विज्ञानेश्वर (११-१२वीं शती) के काल में ब्राह्मण भी ओषधियों का व्यापार करते थे।

वायुपुराण में उल्लेख है कि ओषधियों का व्यापार त्रेतायुग में प्रारम्भ हुआ।[४] गुप्तकाल तक यह व्यापार पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया था इसका संकेत बृहत्संहिता के विभिन्न प्रकरणों से भी मिलता है।

भेषजसंहिता (फार्माकोपिया)

ब्रिटिश शासन में आधुनिक चिकित्सा के क्षेत्र में भारत ब्रिटिश फार्माकोपिया को ही आदर्श मानने लगा। भारत के स्वाधीन होने पर इण्डियन फार्माकोपिया अस्तित्व में आया। इसके पूर्व १९४६ में भारत सरकार ने एक 'इण्डियन फार्माकोपियल लिष्ट' प्रकाशित की थी जिसमें उपयोगी द्रव्यों की सूची थी। यह वस्तुतः

१. याज्ञवल्क्य० व्यवहाराध्याय, २४५-२४७
२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २।४।३, २।१७।२-१४; २।२०।४; २।१५।२७-२८; २।२२।६; ५।२।८-१०।
३. याज्ञवल्क्य० प्रायश्चित्ताध्याय, ३६-३९।
४. प्रादुर्भावश्च त्रेतायां वार्त्तायामौषधस्य तु।
तेनौषधेन वर्त्तन्ते प्रजास्त्रेतायुगे तदा॥—वायु० ८।१२८

ब्रिटिश फार्माकोपिया के पूरक रूप में था। स्वाधीनता के बाद १९४८ में भारत सरकार ने इण्डियन फार्माकोपिया कमिटी गठित की और तदनुसार १९५५ में इण्डियन फार्माकोपिया प्रस्तुत एवं प्रकाशित हुआ। इसका पूरक अंश १९६० में प्रकाशित हुआ। फार्माकोपिया का संशोधन कर उसका द्वितीय संस्करण १९६६ में प्रकाशित हुआ।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें अनेक आयुर्वेदीय ओषधियों का समावेश किया गया।

आयुर्वेदीय भेषजसंहिता के लिए चोपड़ा समिति ने सिफारिश की थी। तदनुसार यत्र-तत्र राज्यों में फार्माकोपिया कमिटी गठित कर कार्य किया गया। कुछ राज्यों (गुजरात, आन्ध्र आदि) ने इसे प्रकाशित भी किया किन्तु केन्द्रीय स्तर पर यह बाद में लिया गया। स्वास्थ्यमंत्रालय भारत सरकार के अन्तर्गत एक आयुर्वेदिक फार्माकोपिया कमिटी १९६२ में गठित की गई जिसके अधीन अनेक उपसमितियाँ बनाकर कार्य प्रारम्भ किया गया। १९७२ में इसका पुनः संघटन हुआ। अभी संहिता प्रस्तुत नहीं हो सकी है किन्तु योगसंग्रह (फार्मुलरी) का कुछ रूप आया है जो निकट भविष्य में प्रकाशित होने की आशा है। द्रव्यों एवं योगों के मानकीकरण के लिए अनेक केन्द्र स्थापित हुये हैं जो केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसंधान परिषद् के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं। प्रारम्भिक फार्माकोपियल लिष्ट के सहकारी प्रकाशन के रूप में बी० मुकर्जी, निदेशक, केन्द्रीय-भेषज-अनुसंधान संस्थान लखनऊ, द्वारा विरचित 'इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स उल्लेखनीय रचना है। इसका प्रथम भाग आयुर्वेदीय ओषधियों पर प्रकाशित हुआ (सी० एस० आइ० आर०, १९५३)। इसी शैली पर रामसुशील सिंह नें वनौषधि-निदर्शिका लिखी (हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ १९६९)। अत्रिदेव गुप्त की भैषज्यसंहिता भी है (हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५)।

राजनियन्त्रण

ओषधियों की शुद्धता तथा विक्रय पर प्राचीन काल से नियन्त्रण रहा है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। स्मृतियों में भेषजसंबन्धी अपराधों के लिए दण्डविधान भी है।

आधुनिक काल में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत जब भारत में अंगरेजी दवाओं की खपत बढ़ी और औषधों की शुद्धता एवं मानक औषधों की आपूर्ति का प्रश्न उठा तब भारत सरकार ने १९३० में ड्रग्स इनक्वायरी कमिटी का गठन डा० रामनाथ चोपड़ा की अध्यक्षता में किया। इसका प्रतिवेदन १९३१ में प्रकाशित हो गया। भारत में फार्मेसी के नये युग का श्रीगणेश यहीं से होता है। इसी के बाद भारत

१. फार्माकोपिया ऑफ इण्डिया, १९६६, प्रस्तावना, पृ० ९

के विभिन्न स्थानों में फार्मेसी का शिक्षण प्रारम्भ हुआ। १९३२ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में डा० महादेवलाल शर्राफ के नेतृत्व में इसकी स्थापना हुई। डा० शर्राफ भारत में फार्मेसी के शिक्षण एवं संघटन के जनक कहे जाते हैं।

यद्यपि प्वायजन्स ऐक्ट १९१९, ओपियम ऐक्ट १८७८ तथा डैन्जरस ड्रग्स ऐक्ट १९३० थे तथापि इससे पूरा काम नहीं हो पाता था अतः १९४० में ड्रग्स ऐक्ट पारित किया गया। १९४५ में ड्रग रूल्स प्रकाशित हुये। मोरकमिटी की संस्तुति के अनुसार १९४८ में फार्मेसी ऐक्ट पारित हुआ जिसके अन्तर्गत फार्मेसी कॉन्सिल आफ इण्डिया १९४९ में गठित हुई। इस ऐक्ट में यह प्रावधान है कि राज्यों में भी फार्मेसी कॉन्सिल बने और फार्मेसी के शिक्षण-सम्बन्धी निर्णय भी निर्धारित हों[1]।

आधुनिक भेषजकल्पना के लिए यह सब होने पर भी आयुर्वेदीय भेषजकल्पना को नियन्त्रित करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं हुई। न तो कच्ची ओषधियों के क्रय-विक्रय पर कोई नियन्त्रण है और न सिद्ध औषधों पर। १९६४ में ड्रग्स ऐण्ड कौस्मेटिक्स ऐक्ट का जो संशोधित रूप बना उसमें आयुर्वेदिक एवं यूनानी द्रव्यों का भी समावेश किया गया (अध्याय ४ ए)। इसके अन्तर्गत एक आयुर्वेदिक एवं यूनानी ड्रग्स टेक्निकल ऐडवाइजरी बोर्ड गठित है जो प्राविधिक विषयों पर भारत सरकार तथा राज्य सरकारों को परामर्श देता है[2]।

शिक्षण एवं अनुसन्धान

आयुर्वेदीय भेषजकल्पना के शिक्षण के लिए भारत में एक ही कालेज राजपीपला (गुजरात) में है। यों यह विषय आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में ही अन्तर्भूत है, उसमें भी इसे रसशास्त्र का अङ्गभूत ही बना दिया गया है, इसे स्वतन्त्र रूप प्राप्त नहीं है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने आयुर्वेदिक फार्मेसी एवं रसशास्त्र में स्नातकोत्तर डिप्लोमा की व्यवस्था की है। स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्रों में इस विषय पर कुछ अनुसन्धान कार्य भी हो रहा है।

अनेक राज्य सरकारों ने ओषधिवितरकों के लिए एक पाठ्यक्रम प्रचलित किया है।

भेषज्यकल्पना का वाङ्मय

संहिताओं के तथ्यों में पारम्परिक विचारों को मिलाकर भैषज्यकल्पना के ग्रन्थ लिखे गये। वस्तुतः यह वाङ्मय आधुनिक काल में ही प्रस्तुत हुआ। इन ग्रन्थों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

1. Mittal : A Text book of Forensic Pharmacy (1978), Ch. 1, P. 5-11

२. प्रस्तुत लेखक भी इसका सदस्य रह चुका है।

१. द्रव्यगुणविज्ञान (उत्तरार्धं, प्रथम खण्ड)—आचार्य यादवजी (निर्णयसागर, बम्बई, १९५३)
२. द्रव्यगुणविज्ञान (प्रथम भाग, कल्पखण्ड)—प्रियव्रतशर्मा (चौखम्बा, वाराणसी, १९६८, द्वि० सं०)
३. भैषज्यकल्पना—अत्रिदेवगुप्त (हिन्दीसाहित्यसम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८)
४. भैषज्यकल्पनाविज्ञान—अवधविहारी अग्निहोत्री (चौखम्बा, वाराणसी, १९५९)
५. औषधनिर्माण—ए० मण्डके, (सुमति प्रकाशन, पूना, १९६७)
६. वनस्पतिकल्प—वही (१९६९)
७. प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण—विश्वनाथ द्विवेदी (सं० २००६)

भैषज्यकल्पना के विशिष्ट अङ्गों पर भी ग्रन्थ निर्मित हुये यथा—

कषायकल्पना

१. पञ्चविधकषायकल्पनाविज्ञान—अवधविहारी अग्निहोत्री (चौखम्बा, वाराणसी, १९५७)
२. क्राथमणिमाला—आर्यदासकुमार सिंहकृत (चौखम्बा, १९७०)
३. क्राथशतक—वाग्भट आत्रेयी (के० आ० प० ४०८)
४. कषायादिपाकविधि—(राघवन, पा०)
५. कषायचूर्णमात्राप्रयोग („ „)

आसव-अरिष्ट

१. आसवारिष्टसंग्रह—जगदीशप्रसाद गर्ग (मुरादाबाद, १९२९).
२. आसवारिष्टसंग्रह—पक्षधर झा (चौखम्बा, वाराणसी, १९६२)
३. आसव-अरिष्ट—सत्यदेव विद्यालंकार
४. बृहत् आसवारिष्टसंग्रह—देवीसिंह
५. „ „ —कृष्णप्रसाद त्रिवेदी
६. आसवविज्ञान—हरिशरणानन्द

अर्क

१. अर्कप्रकाश[1]—रावण (वेंकटेश्वर, बम्बई, १९५६, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३५, मथुरा, १९३०, गोपालाचार्लु, मद्रास, १९१४)
२. अर्कप्रकाश—व्यासपंडित (जम्मू, पा०)

---

१. इसमें यशद का उल्लेख है तथा शंखद्रावकविहित पारद का प्रयोग फिरंगरोग में है अतः इसका काल १६वीं शती है।

क्षार

१. क्षारनिर्माणविज्ञान — हरिशरणानन्दकृत (पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर १९२७)

तैल

१. तैलसंग्रह—विश्वनाथ द्विवेदी

पाक

१. औषधपाकावली (जम्मू, पा०)
२. पाकदर्पण – नल (चौखम्बा, वाराणसी, १९१५)
३. पाकाधिकरण (बड़ौदा, पा०)
४. पाकाधिकार (,, ,,)
५. पाकमार्त्तण्ड (पूना, पा०)
६. पाकार्णव (,, ,,)
७. पाकशास्त्र – विन्दु (पूना, पा०)
८. पाकप्रदीप—रविदत्तवैद्य (खेमराज, बम्बई, १९२४)
९. पाकविधि—दिवाकरचन्द्र (नेपाल, पा०)
१०. पाकावली—माधव उपाध्याय
११. सूपशास्त्र—भीमसेन (मद्रास, पा०)
१२. भोजनकुतूहल—रघुनाथसूरि (बड़ौदा, पा०)
१३. क्षेमकुतूहल—क्षेमशर्मा (आयुर्वेदीयग्रन्थमाला, १९२०)
१४. पाकप्रदीप—रविदत्त (खेमराज, बम्बई, १९२०)
१५. बृ० पाकसंग्रह—कृष्णप्रसादत्रिवेदी (अलीगढ़, १९५०)

मान

१. कर्षादिपरिमाणम्—केशवसुत गोविन्दकृत

परिभाषा

१. परिभाषा—नारायणदास (राजेन्द्रलाल मित्र, पा०)
२. आयुर्वेदीय परिभाषा (बं०) (बरहमपुर, १८६९)
३. वैद्यकपरिभाषाप्रदीप—गोविन्दसेन (कलकत्ता, १९०६; गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९३३)
४. परिभाषा-प्रबन्ध—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल (चौखम्बा, १९५५)
५. आयुर्वेदीय परिभाषा
६. नवपरिभाषा —उपेन्द्रनाथदास

सिद्धयोगसंग्रह[1]

१. रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह, भाग १,२ (कालेड़ा, अजमेर, ८वाँ संस्करण, १९५६)

२. सिद्धभेषजसंग्रह—युगलकिशोर गुप्त (चौखम्बा, वाराणसी, १९५३)

३. राजकीय औषधियोगसंग्रह—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदीकृत (चौखम्बा, १९५०)

४. सिद्धभेषजमंजूषा—जयदेवशास्त्री (रामपुर, १९३२)

५. भारतभैषज्यरत्नाकर—ऊँझा आयुर्वेदिक फार्मेसी के संचालक रसवैद्य श्रीनगीनलाल छगनलाल शाह ने इस बृहत् ग्रन्थ का संकलन किया है। इसमें अकारादि क्रम से वानस्पतिक एवं रसयोग संगृहीत हैं जिनकी कुलसंख्या ५५६८ है। ग्रन्थ पाँच भागों में पूर्ण हुआ है। आरोग्यदर्पण के सम्पादक वैद्य गोपीनाथ गुप्त ने इसकी भावप्रकाशिका हिन्दी टीका की है। १९२४ ई० में प्रथम भाग तथा १९३७ ई० में पञ्चम भाग इस प्रकार १३ वर्षों के अनवरत परिश्रम से यह विशाल ग्रन्थ पूरा हो सका। ग्रन्थ के प्रारम्भ में रोगानुसारिणी सूची भी दी हुई है जिससे यह ग्रन्थ वैद्यसमाज के लिए अत्युपयोगी बन गया है।

६. श्रीशरभेन्द्रवैद्यरत्नावली—(तन्जैर, १९६२)

७. सहस्रयोग

अन्तिम दोनों ग्रन्थ दक्षिणभारत में प्रचलित हैं।

रसशास्त्र

रसशास्त्र का विकास

रसशास्त्र का संबन्ध खनिज पदार्थों से है। ताम्रयुग में ताम्र का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद में ताम्र के साथ हिरण्य (सुवर्ण) और कांस्य का प्रयोग मिलता है[2]। वहाँ 'अयस्' शब्द ताम्र का वाचक है। बाद में 'लोहितायस्' और 'कृष्णायस्' शब्दों से क्रमशः ताम्र और लौह का ग्रहण किया जाने लगा। यजुर्वेद में हिरण्य, अयस्, श्याम, लोह, सीस और त्रपु का उल्लेख है[3]। अथर्ववेद में रजत[4], लोहित

---

१. योग-ग्रन्थों का विवरण चिकित्साप्रकरण में दिया गया है।

२. ऋ० १।५६।३; १।१२२।२ आदि

३. अश्मा च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पताम्—यजु० १८।१३

यहाँ प्रफुल्लचन्द्र राय अयस्, हिरण्य, लोह और श्याम से क्रमशः सुवर्ण, रजत, ताम्र, लौह का ग्रहण करते हैं किन्तु रजत का स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद के पूर्व नहीं मिलता।

४. हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि—अथर्व० ५।२८।१। सुवर्ण, रजत और ताम्र इनका प्रयोग सिक्कों तथा मान में आगे तक किया जाता रहा—मनु० ८।१३१

यस् और श्याम अयस् , (११।३।७-८) तथा सीस (११।६।२-४) का उल्लेख है।

सिन्धुघाटी सभ्यता में रजत, सुवर्ण, ताम्र, वंग और नाग के प्रमाण उपलब्ध हुये है, लौह का अस्तित्व नहीं था वह उसके बाद आया। वंग ताम्र के साथ मिलाकर कांस्य के रूप में व्यवहृत होता था।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में खनिजों और धातुओं का विशद वर्णन है। सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, लौह, त्रपु और सीस का वर्णन अनेक भेदों के साथ मिलता है। इनके अतिरिक्त मुक्ता और मणियों का विस्तृत वर्णन है। मनुस्मृति में मणियों सुवर्ण, तथा रजत, ताम्र, लौह, कांस्य, पित्तल, त्रपु और सीस से बने पात्रों का उल्लेख है (५।१११–११४)।

चरकसंहिता (सू० १।७१-७२) में सुवर्ण, पञ्चलोह तथा लोहभस्म सिकता, सुधा, मनःशिला, हरताल, मणि, लवण, गैरिक और अञ्जन की गणना, भौम द्रव्यों में की गई है। सुश्रुतसंहिता के ३७ द्रव्यगणों में दो में खनिज द्रव्यों का पाठ है। त्रप्वादि गण में त्रपु, सीस, ताम्र, रजत, कृष्णलोह, सुवर्ण और लोहमल हैं। ऊषकादि गण में ऊषक, सैन्धव, शिलाजतु, कासीसद्वय और तुत्थ हैं। अञ्जनादिगण का 'अञ्जन' वृक्ष प्रतीत होता है क्योंकि इतर सभी द्रव्य वानस्पतिक हैं। सुश्रुत में पारद, अयस्कान्त, फेनाश्म, टंकण और सीस विशिष्ट हैं। अयस्कृति यद्यपि चरकसंहिता (चि० १।३।१५-२०) में भी है तथापि सुश्रुतसंहिता (चि० १०।११) में इसका विधान अधिक स्पष्ट है। धातुओं में सुवर्ण. रजत, ताम्र और लौह का अन्तः प्रयोग विहित है, वंग और सीस का नहीं। इन धातुओं के चूर्ण (रज) का प्रयोग होता था।[1] यद्यपि भस्म[2] शब्द प्रचलित था किन्तु वह संभवतः तब तक वानस्पतिक द्रव्यों की राख के लिए प्रयुक्त होता था, धातुओं की भस्म के लिए नहीं। यह कहना कठिन है कि इस चूर्ण का स्वरूप क्या था, इसमें अग्निसंयोग होता था या नहीं किन्तु चरक के कथन से स्पष्ट है कि आग के निरन्तर प्रयोग से जब वह अञ्जनाभ (मृत) हो जाता था तभी उसका चूर्ण करते थे। घृत-मधु में लेह बनाकर एक वर्ष तक रखने के बाद भी प्रयोग किया जाता था। ऐसा नहीं करने से उसका मनुष्यों पर प्रयोग निरापद भी कैसे होता? अष्टांगसंग्रह (सू० १२।१३-२६) में अनेक धातुओं, रत्नों एवं अन्य खनिज द्रव्यों का वर्णन है। लौह के कृष्ण लौह और तीक्ष्ण लौह दो प्रकार कहे गये हैं। पाकों में स्थालीपाक (सु० चि० १०।१०) और आदित्यपाक (सं० उ० २८।३२, ५३) का उल्लेख आता है। इसके अतिरिक्त, वाग्भट में 'मूषान्तर्ध्मातचूर्णिताम्' (सं० उ० १६।१३-१४) का उल्लेख है जिससे

१. सुवर्ण को घिसकर भी चटाने का विधान था। जातकर्मसंस्कार में ऐसा ही विधान है।

२. सु० सू० ११।६; सु० क० ६।१ आदि।

मूषा के भीतर रखकर फूँककर उसका चूर्ण बनाने की प्रक्रिया का पता चलता है। भेषजागार के उपकरणों में भी घटीमूषा का उल्लेख है (सं० सू० ८।५९)। इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट के काल में धातुओं की भस्म बनाने का प्रारम्भ हो गया था। अत एव कहीं कहीं इनके लिए 'भस्म' शब्द का प्रयोग हुआ है (सं० उ० ४०।८४; ६।३०)। संभवतः वर्तमान अर्थ में 'भस्म' शब्द का प्रयोग यहीं से प्रारम्भ होता है। संहिताओं की अयस्कृति ने ही आगे विकसित होकर लोहशास्त्र का रूप ग्रहण किया जिस पर नागार्जुन, पतञ्जलि आदि आचार्यों के ग्रन्थ निर्मित हुये। चक्रदत्त में नागार्जुन के लोहशास्त्र के उद्धरण विस्तार से हैं।[1]

रसशास्त्र का विकास मुख्यतः पारद को केन्द्र बनाकर हुआ। 'रस' शब्द से यहाँ पारद अभिप्रेत है। चरकसंहिता में कुष्ठचिकित्सा-प्रकरण में एक स्थल पर निगृहीत रस का प्रयोग गन्धक या सुवर्णमाक्षिक के योग से निहित है।[2] इस वचन के आधार पर चरक-काल में पारद-प्रयोग के अस्तित्व की सिद्धि की जाती है किन्तु निम्नांकित कारणों से यह युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता—

१. चक्रपाणि ने इस श्लोक पर कोई टीका नहीं की। सम्भव है, उसके बाद रसशास्त्र के प्रौढ़ि-काल में किसी ने इसका प्रक्षेप कर दिया हो।

२. उपर्युक्त श्लोक में 'रस' शब्द पारद के लिए है, यह कहना कठिन है क्योंकि पूर्ववर्ती श्लोक में 'रस' का प्रयोग (जाती के) 'स्वरस' के लिए हुआ है। प्रसंगतः यहाँ भी जाती के निगृहीत (निचोड़े हुये) रस का ग्रहण उपयुक्त है।

३. यदि 'रस' से पारद का ग्रहण किया भी जाय और यह मान लिया जाय कि चरक के काल में पारद का अन्तःप्रयोग प्रचलित था तब भी 'निगृहीत' (बद्ध या मृत) शब्द के आधार पर पारद का बन्धन या मारण उस काल में होता था इसकी सम्भावना अत्यल्प है। पारदसंस्कारों का विकास मध्यकाल में ही हुआ।

४. 'पारद' शब्द का प्रयोग चरक में नहीं है।

---

१. आढमल्ल ने भी नागार्जुनकृत लोहशास्त्र को उद्धृत किया है (शार्ङ्ग० मध्य० ११।४४।४५)। गूढार्थदीपिका में भी लोहकल्प के उद्धरण हैं (वही, ११।४८-५२)। भद्रेश्वरात्मज सुरेश्वरकृत लोहसर्वस्व भी है (आचार्य यादव जी, चौखम्बा, १९६५)। इसने अनेक लोहतन्त्रों को देखकर इस ग्रन्थ की रचना की। इससे स्पष्ट है कि उसके पूर्व इस विषय पर अनेक ग्रंथों की रचना हो चुकी थी।

२. श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद् वा।
सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥—च० चि० ७।७१

सुश्रुतसंहिता[1] में पारद का स्पष्ट उल्लेख है किन्तु केवल बाह्य प्रयोग के लिए। वाग्भट (अ० हृ० उ० १३।३६) में पारद) नाग, अञ्जन और कर्पूर मिला कर तिमिर रोग में अञ्जन का प्रयोग है। पारद का आभ्यन्तर प्रयोग सर्वप्रथम अष्टांगसंग्रह के रसायन-प्रकरण में मिलता है। यहाँ पारद स्वर्णमाक्षिक, लोह, शिलाजतु आदि के साथ मधु-घृत से लेने का विधान है।[2] यह स्मरणीय है कि यहाँ पारद के साथ गन्धक का योग न कर माक्षिक का योग किया गया है। यों भी अष्टांगसंग्रह में माक्षिक का प्रयोग अधिक है। संभवतः प्रारंभिक काल में ऐसा ही प्रयोग था, बाद में गन्धक का प्रयोग प्रचलित हुआ। यह ध्यान देने योग्य है कि यह योग रसहृदयतन्त्र (१९।१९), रसार्णव (१८।१४) तथा रसरत्नसमुच्चय (२६।१८) में भी है। काल की दृष्टि से देखें तो इसका स्रोत वाग्भट ही प्रतीत होता है। इस प्रकार रसशास्त्र की स्वतंत्र पीठिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय वाग्भट को ही है जिसे परवर्त्ती आचार्यों ने और विकसित किया। 'वाग्भट' का नाम रसशास्त्र में प्रथम प्रतीक बना।[3]

'रस' शब्द का प्रयोग 'विष' के लिए भी प्रचलित था। सुश्रुत के युक्तसेनीय अध्याय (सू० ३४) में कहा है कि राजा की रक्षा रसविशारद वैद्य और मन्त्रविशारद पुरोहित करें। इस श्लिष्ट अर्थ के कारण रसशास्त्र में पारद के साथ-साथ विषों का भी प्रयोग होने लगा। इसी कारण रसशास्त्र के ग्रन्थों में विष-उपविष का भी वर्णन किया जाता है। इस दिशा में भी वाग्भट ने नेतृत्व किया और चिकित्सा में विषों के उपयोग का सर्वप्रथम वर्णन किया (अ० सं० उ० ४८)।

उपकरणों की दृष्टि से भी, यद्यपि मूषा का प्रयोग सुश्रुत में है तथापि अन्धमूषा का प्रयोग वाग्भट ने ही सर्वप्रथम किया[4]। इसके बाद क्रमशः अनेक यन्त्रों का आविष्कार हुआ जिनके विकासक्रम का अध्ययन एक रोचक विषय होगा। स्वेदन के लिए दोलायन्त्र, मर्दनार्थ अनेकविध खल्वयंत्र, पातनार्थ अनेक यन्त्र तथा पाकार्थ अनेक पुटों और मूषाओं की उद्भावना की गई। रसकर्म में उपयुक्त अनेक खनिजों को महारस, उपरस एवं साधारण रस की कोटि में वर्गीकृत किया गया। इसी प्रकार

---

१. वक्त्राभ्यंगे लाक्षादिघृत—सु० चि० २५।३७-४१

२. शिलाजतुक्षौद्रविडंगसर्पिर्लोहाभयापारदताप्यभक्षः।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपञ्चरात्रेण यथा शशांकः॥ अ० सं० उ० ५०।२४५
वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता (७६।३) में यही योग किंचित् परिवर्तित रूप में उद्धृत है।

३. रसरत्नसमुच्चयकार के रचयिता का नाम भी 'वाग्भट' कहा जाता है। रसरत्नाकरकार नित्यनाथ ने भी स्मरण किया है—'यदुक्तं वाग्भटे तन्त्रे सुश्रुते वैद्यसागरे'।

४. अ० हृ० उ० १३।२०-२१

अनेक उपयुक्त वनस्पतियों की खोज की गई जो पारदकर्म में सहायक थीं।

रसशास्त्र के विकास में सर्वाधिक योगदान तन्त्र ने किया। यों तान्त्रि परंपरा का प्रारम्भ अथर्ववेद में ही मिलता है तथापि बौद्धों के महायान संप्रदाय से इसमें प्रगति आई। गुप्तकालीन वसुबन्धु के भ्राता असंग (४थी शती) को बौद्धतन्त्र का जनक मानते हैं। यह योगाचार का प्रवर्तक है। इन्द्रभूति (७००-७५० ई०) के काल से वज्रयान का विकास हुआ। वस्तुतः अथर्ववेदीय परम्परा, शैव, शाक्त एवं बौद्ध परंपराओं के संयोग से मध्यकालीन तन्त्र का विकास हुआ जिसे हम साधारणतः 'तन्त्र' के नाम से जानते हैं। अष्टांगसंग्रह में शिव, शक्ति आदि हिन्दू देवी-देवताओं के साथ-साथ अवलोकितेश्वर, तारा आदि बौद्ध देवी-देवताओं के भी दर्शन होते हैं। वैदिक मन्त्रों में साथ-साथ बौद्ध धारणियों का भी विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि ६ठीं शती के अन्त तक तन्त्र और रसशास्त्र का शिलान्यास सुदृढ हो चुका था। वृन्द और चक्रपाणि की रचनाओं के बहुत पूर्व ७वीं शती में बाणभट्ट की रचनाओं में इसका रूप दृष्टिगोचर होता है। भैरवाचार्य तथा जरद्द्रविड धार्मिक के रूप में तन्त्र का तथा रस-रसायन के रूप में रसशास्त्र का स्वरूप उपलब्ध होता है। रसायन के साथ 'रस' शब्द[1] पारदीय रसायनों का ही बोधक है जिसका उल्लेख अष्टांगसंग्रह में हुआ है। पारद और गन्धक का बहुत उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त हिंगुल, मनःशिला, हरताल, अभ्रक, रत्न-उपरत्न धातु-उपधातुओं का उल्लेख गुप्त-उत्तरकालीन ग्रन्थों में हुआ है।[2] बाणभट्ट के ग्रन्थों में एक धातुवादविद् विहंगम था। कादम्बरी का जरद्द्रविड धार्मिक भी धातुवादी था। रसौषधों का ठीक से निर्माण न होने पर उनसे उपद्रव उत्पन्न होता था। जरद्द्रविड धार्मिक को इसी प्रकार कालज्वर हो गया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी धातुशोधन (२।१२।७) और धातुमार्दवकर (२।१२।८-९) प्रयोग हैं। गुप्तकालीन विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३।४०।२९) में अभ्रकद्रुति है। मार्कण्डेयपुराण (६५।६४) औषध में रस 'रस' का प्रयोग चिकित्सार्थ हुआ है (ततस्तयोः स तत्त्वज्ञो रोगघ्नैरौषधैः रसैः। चक्रे नीरुजे देहे)। शंकराचार्य ने मूषा में द्रुत ताम्र से प्रतिमानिर्माण का उल्लेख किया है।[3] इससे स्पष्ट है कि ८ वीं शती तक धातुवाद और रसायन जोर पकड़ चुका था। नवीं शती में राजशेखर (९वीं शती) ने काव्यमीमांसा में 'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः' कहा है तथा

---

१. रसायनरसाभिनिवेशिनश्च वैद्यव्यञ्जनाः—हर्षचरित, पृ० ३५४
   रसायनरसोपयुक्तं तारत्वं चतजमिव चरन्तम्—वही, पृ० ४१४
   रस-रसायन बौद्धतन्त्र की आठ सिद्धियों में से एक है।
२. देखें—मेरा 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज', पृ० २१७-२२७
३. ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१२; और देखें—तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य २।२-१;
   कौटिल्य २।१३।२२; २।१४।१२

कवियों का एक भेद कविराज (रससिद्ध) बतलाया है। स्पष्टतः उनके ये वचन रसशास्त्र से प्रभावित है। इसके बाद तो आयुर्वेदीय तथा आयुर्वेदेतर वाङ्मय में रसशास्त्र के प्रभूत संदर्भ उपलब्ध होते हैं।

पारद का उपयोग धातुवाद और देहवाद दोनों में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि धातुवाद पहले प्रारंभ हुआ और देहवाद बाद में। निकृष्ट कोटि की धातु को अपने संपर्क से सुवर्ण में परिणत करने वाला पारद शरीर को भी उत्तम कोटि का बनाने वाला समझा गया। बाद में तान्त्रिक और फिर उसे दार्शनिक रूप देकर उसे मोक्षदायक कहा गया। इसी पृष्ठभूमि में रसेश्वरदर्शन की स्थापना हुई जिसका वर्णन सर्वप्रथम माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह (१४वीं शती) में मिलता है। इसके अतिरिक्त, कौतुक, इन्द्रजाल आदि अनेक चमत्कारों का प्रदर्शन पारद के माध्यम से होने लगा। इस प्रकार तान्त्रिक क्रियाओं में पारद का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया।

पारद और हिंगुल तिब्बत और उससे लगे प्रदेशों में होता है। पारद का प्रवेश गुप्तकाल में हो गया था जैसा कि तत्कालीन वाङ्मय से ज्ञात होता है किन्तु इसका विशेष विकास तिब्बत के संपर्क से हुआ। यह कार्य सरहपा के शिष्य सिद्ध नागार्जुन ने लगभग ८वीं शती में किया। रसशास्त्र और तन्त्र के अनेक चमत्कार इसी के व्यक्तित्व में केन्द्रित है। संभवतः अलबरूनी ने भी इसी की ओर इङ्गित किया है। नालन्दा विश्वविद्यालय में धातुविद्या और रसायन का शिक्षण होता था। खुदाई से निकले एक प्रखण्ड में इसके लिए बनी भट्टियाँ इसका प्रमाण है। सिद्ध नागार्जुन ने ही रसशास्त्र को प्रारम्भिक स्थिति से निकाल कर सुदृढ पीठिका पर प्रतिष्ठित किया जो क्रमशः विकसित होता गया। बाद में पाल और सेन राजाओं के संरक्षण में संचालित विक्रमशिला (शिलाह्द या सिरिहट्ट) विश्वविद्यालय जो तान्त्रिक शिक्षण एवं साधना का प्रमुख केन्द्र था, भी संभवतः रसशास्त्र के शिक्षण की उत्तम व्यवस्था रही होगी।

अलबरूनी (११वीं शती) ने भारत में प्रचलित तत्कालीन रसविद्या का वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि धातुवाद (किमियागिरी) तथा देहवाद (रसायन) की क्रियायें पर्याप्त विकसित थीं किन्तु गुप्त रहने के कारण यह यात्री इसके विषय में वास्तविक जानकारी न प्राप्त कर सका। धातुवाद का इसने मजाक ही उड़ाया है, देहवाद से अवश्य प्रभावित था। इससे स्पष्ट है कि रसौषधों के द्वारा मनुष्य को नीरोग एवं दीर्घायु बनाने का कार्य पर्याप्त प्रचलित था।[1]

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि भारतीय रसशास्त्र अरबी चिकित्सा से प्रभावित

1. Sachaw : Alberuni's India, Ch. XVII, P, 187-193
इसका हिन्दी अनुवाद अत्रिदेवकृत 'रसशास्त्र' (पृ० ८०-८६) में देखें।

होकर बढ़ा है किन्तु आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने यह सिद्ध किया है यह शि
बाह्य प्रभाव से नहीं अपितु आन्तरिक शक्ति से विकसित हुआ है। फिर भी य
मानना कि यह इस प्रभाव से बिलकुल अछूता रहा, सत्य से परे होगा। मुसलमा
के आने पर उनकी राजकीय चिकित्सापद्धति से जैसे हिन्दू चिकित्सा प्रभावित
वैसे रसशास्त्र भी प्रभावित हुआ। अहिफेन के व्यापक प्रभाव से सभी परिचित
रत्नों का चूर्ण प्राचीनकाल से चला आ रहा है किन्तु गुलाबजल से घोंटकर र
पिष्टि बनाने की परम्परा संभवतः यूनानी चिकित्सा के संपर्क से प्रारम्भ हुई। कु
(भस्म) बनाने की प्रक्रिया हकीमों ने वैद्यों से सीखी। विभिन्न चिकित्सापद्ध
के पारस्परिक विनिमय के अतिरिक्त, आयुर्वेद में ही प्राचीन वनस्पतिप्रधान
मध्यकालीन रसप्रधान पद्धतियों में परस्पर आदान-प्रदान हुआ। चिकित्सा के प्र
में रसौषधों का समावेश हुआ तथा रसप्रक्रियाओं में अनेक वनस्पतियों का उप
किया गया। कुषाण-गुप्तकाल में चीन से भी संपर्क बढ़ा।

नालन्दा विश्वविद्यालय से ८वीं शती में अनेक विद्वान तिब्बत गये जो ता
और सिद्धों का एक प्रसिद्ध केन्द्र बना। नेपाल और भूटान में भी इनका केन्द्र
१२वीं शती में बख्तियार खिलजी के आक्रमण से जब नालन्दा और विक्रमशिला वि
विद्यालय विध्वस्त हुये तब यहाँ के विद्वान एवं वैज्ञानिक भागकर कुछ नेपाल,
और तिब्बत चले गये तथा कुछ ने दक्षिण भारत में विशेषतः देवगिरि के यादव रा
के दरबार में शरण ली। इन राजाओं में सिंघण का नाम सर्वोपरि है जिसने आयु
रसशास्त्र और तन्त्र आदि को विशेषतः प्रोत्साहित किया। दक्षिण भारत के सि
के संरक्षण में रसशास्त्र विकसित होता रहा। सिद्धों की संख्या १८ कही जाती
जिनके प्रवर्त्तक ऋषि अगस्त्य हैं। सिद्धों का काल १०वीं शती और उसके बाद
जाता है।[1] उत्तर भारत के ८४ सिद्ध प्रसिद्ध हैं।

१५वीं शती में युरोपवासियों के आगमन से जैसे सामान्य आयुर्वेदीय चिकि
प्रभावित हुई वैसे रसशास्त्र में भी फिरंग रोग और उसकी चिकित्सा का विधान कि
गया। आयुर्वेदप्रकाश (१७वीं शती), सिद्धभेषजमणिमाला (१९वीं शती
तथा रसतरंगिणी (२०वीं शती) में इसका क्रमिक विकास देखते हैं जिसमें कई
नवीन द्रव्यों का समावेश किया गया। आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय खनिजाम्ल का प्र
१६वीं शती में मानकर इस काल की महत्त्वपूर्ण घटना मानते हैं किंतु शंखद्रा
का वर्णन वंगसेन में भी है।

इस प्रकार मूलभूत प्रवृत्तियों के आधार पर रसशास्त्र के विकास को निम्नलि
रूप में विभाजित किया जा सकता है :—

१. P. Ray : History of Chemistry, PP. 125-126

१. प्रारंभिक काल—५वीं—८वीं शती
२. मध्य काल—९वीं—१२वीं शती
३. प्रौढिकाल—१३वीं—१५वीं शती
४. आधुनिक काल—१६वीं शती—वर्त्तमान तक

सम्प्रति रसशास्त्र का ह्रास ही देखने में आता है। इसके तीन प्रमुख कारण हैं—एक तो आधुनिक चिकित्साविज्ञान के आशुकारी औषधों का प्रचार। यह स्मरणीय है कि आशुकारिता के कारण (क्षिप्रमारोग्यदायित्वात्) रसौषधों का महत्त्व एवं प्रचार बढ़ा था। उस काल के लिए यही ऐण्टीबायटिक था जो समस्त चिकित्साजगत् पर छा गया था। दूसरे, रस-द्रव्यों की दुर्लभता, महर्घता और निर्माणप्रक्रिया की जटिलता एवं व्ययसाध्यता भी इस आर्थिक युग में इसके प्रचार में बाधक हुई। तीसरे, यदि रसौषध विधिवत् न बनी हो तो शरीर के लिए विशेषतः यकृत, वृक्क आदि मर्मांगों के लिए हानिकर भी हो जाती है।

खनिज द्रव्यों का इतिवृत्त एवं यातायात

ताम्र अत्यन्त प्राचीन धातु है। प्राक्-हड़प्पा युग में ताम्र के अस्त्र एवं उपकरण उपलब्ध हुए हैं। शवों के साथ ताम्र और कांसे के पदार्थ रक्खे मिलते हैं। छोटा नागपुर, राजस्थान तथा नेपाल से ताम्र की उपलब्धि होती थी। हड़प्पा युग में वर्तन बनाने में अभ्रक, बालू और चूने का उपयोग होता था। हड़प्पा की नागरिक सभ्यता काँस्ययुग की है क्योंकि इसमें ताम्र और काँस्य का प्रयोग अस्त्र बनाने के काम आता था। प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा में ताम्र, रजत और सोना पर्याप्त मात्रा में उपयुक्त होता था। सीस और वंग का प्रयोग भी था किन्तु वंग मुख्यतः ताम्र से मिश्रित कर काँस्य के रूप में व्यवहृत होता था। धातुक्रिया में प्रयुक्त मूषा के चिह्न मोहन-जोदड़ो उत्खनन में मिले हैं। वंग संभवतः बाहर से प्रायः फारस से आता था। ताम्र का स्रोत राजपुताना और बलूचिस्तान की खानें थीं; कुछ अफगानिस्तान और फारस से भी आता होगा। स्वर्ण मैसूर और मद्रास की खानों से प्राप्त होता था तथा रजत उपर्युक्त स्थानों से या बर्मा से मिलता था। रजत अफगानिस्तान और फारस से भी प्राप्त होता था। फारस से सोना, वंग और सीस भी आते होंगे।

सिन्धुघाटी सभ्यता में राजावर्त्त, पेरोजा, स्फटिक, सुधा, दुग्ध पाषाण, अफीम, शिलाजतु, संगेयशव, हिंगुल, सफेद सुरमा, सौवीराञ्जन आदि पाये गये हैं। इनका उपयोग आभूषण, प्रसाधन और औषध में होता था। शिलाजतु संभवतः बलूचिस्तान से आता था। पेरोजा और राजावर्त्त फारस या अफगानिस्तान से, अकीक और स्फटिक काठियावाड़ से और कुछ द्रव्य राजस्थान से भी उपलब्ध होते थे।

ऋग्वेद में, स्वर्ण रजत, ताम्र और कांस्य का प्रयोग है। आगे चलकर लौह
प्रयोग होनेपर अयस् (ताम्र) लोहितायस् और कृष्णायस् में विभक्त हो गया। लो
तायस् से ताम्र और कृष्णायस् से लौह का ग्रहण किया जाने लगा। यजुर्वेद में स्व
हिरण्य, लोह, श्याम, सीस और त्रपु का उल्लेख है। अथर्ववेद के काल तक धातु
के विषय में पर्याप्त ज्ञान हो चुका था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में सुवर्ण, रजत, ता
सीस, वंग और लौह की खानों का विस्तृत वर्णन है। काच से प्रफुल्लचन्द्र रा
शीशा का ग्रहण करते हैं और इससे यह सिद्ध करते हैं कि कौटिल्य के काल
शीशा बनाने की विधि ज्ञात थी किन्तु निश्चयात्मक रूप से इस सम्बन्ध में कु
कहना कठिन है। काच एक क्षुद्र पाषाणविशेष (शेषाः काचमणयः) भी
सकता है। पारद का भी उल्लेख है तथा अनेक प्रकार के रत्न भी हैं। इस
तत्कालीन धातुवाद की विकसित स्थिति का ज्ञान होता है।[1] रजत, वंग त
पारद, जो भारत में नहीं होते, का वर्णन होने से स्पष्ट है कि इनका आय
पार्श्ववर्त्ती देशों से होता था। संभवतः हिंगुल चीन से, वंग मलाया और फा
से तथा रजत अफगानिस्तान और फारस से आता था।[2]

बौद्ध वाङ्मय से भी इन द्रव्यों के यातायात पर प्रकाश पड़ता है। सिंह
से रत्न आते थे अतः इसे रत्नद्वीप कहते थे। इनमें नीलम, ज्योतीरस, सूर्यका
चन्द्रकान्त, माणिक्य, वैडूर्य, हीरक प्रमुख हैं। महाभारत के अनुसार भी द
सागर के द्वीपों से रत्न, मुक्ता, सुवर्ण, रजत, हीरक और प्रवाल आते थे। इनमें
सुवर्ण, रजत बर्मा और मध्य एशिया से; मोती और रत्न सिंहल से तथा प्रवा
भूमध्यसागर से आता था। हीरक शायद बोर्नियो से आता था। पूर्वी भारत
आसाम से और बर्मा से यशव आता था। तिब्बती-बर्मी किरातगण सीमान्त प्रदे
से सुवर्ण, रत्न लाते थे।[3]

अर्थशास्त्र से पता चलता है कि उस समय रत्नों का व्यापार खूब चलता था
अनेक रत्न-उपरत्न विभिन्न प्रदेशों और विदेशों से आते थे। मोती सिंहल, पाण्ड
पाश (ईरान ?), कुल और चूर्ण (मुरुचिपट्टन के पास), तथा बर्बर के समुद्र
से आते थे। उपर्युक्त देशों की तालिका से पता चलता है कि मोती मनार की खाड़ी
फारस की खाड़ी और सोमाली देश के समुद्रतट से आते थे। मुरुचि के उल्लेख
पता चलता है कि मुरुचि का प्राचीन बन्दरगाह भी मोती के व्यापार के लिए प्रसि
था। कीमती रत्न मूल (बलूचिस्तान में मूला दर्रा) और सिंहल से आते थे। मूल

१. आकराध्यक्ष और लोहाध्यक्ष इन कार्यों की देखभाल करते थे—देखें कौटिल्य
अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ११-१२।

२. P. Ray : History of Chemistry, Ch I—VII.

३. मोतीचन्द्र : सार्थवाह, पृ० ६७-६८।

आसपास कोई रत्न नहीं मिलता किन्तु संभवतः प्राचीनकाल में इस मार्ग से ईरानी रत्न यहाँ आते हों। माणिक्य संभवतः अफगानिस्तान, सिंहल और बर्मा से आता था। बिल्लौर विन्ध्यपर्वत और मलावार से, नीलम और जमुनिया लंका से तथा हीरे बरार, मध्यप्रदेश, गोलकुंडा और कलिंग से आते थे। 'अलसन्दक' नामक मूँगा सिकन्दरिया से आता था।[1]

कुषाणों के काल में भारत का व्यापारिक सम्बन्ध रोम-साम्राज्य से सुदृढ़ हुआ। भारत से वहाँ चीनी बर्त्तन, चीनी रेशमी कपड़े, हाथी दाँत, कीमती रत्न, मसाले और सूती कपड़े जाते थे और वहाँ से सोना यहाँ आता था।[2] अनेक रत्नों यथा हीरा, अकीक, स्फटिक, जमुनिया, वैडूर्य, नीलम, माणिक्य, पेरोजा की माँग रोम में बहुत थी[3]। फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में भारत से ताम्र जाता था। सिन्धु-प्रदेश के बार्बरिकोन बन्दरगाह में पर्याप्त मात्रा में पुखराज, शीशे एवं चाँदी-सोने के बर्तन आते थे और पेरोजा तथा लाजवर्द बाहर भेजे जाते थे।[4] भृगुकच्छ (भडोच) का बन्दरगाह प्रसिद्ध था। वहाँ विदेशों से ताँबा, राँगा और शीशा (इटली और अरब); मूँगा, पोखराज, संखिया, सुरमा और चाँदी के कीमती बर्तन आते थे। अकीक, लोहितांक, हाथीदाँत आदि पदार्थ बाहर जाते थे। पैठन और तेर से लोहितांक भड़ोंच पहुँचता था। दक्षिण भारत के बन्दरगाहों में भी इन पदार्थों का व्यापार होता था। कोयम्बटूर में वैडूर्य की खानें प्रसिद्ध थीं। पाण्ड्यों के हाथ में मोती का, चोलों के हाथ में वैडूर्य और मलमल का तथा चेरों के हाथ में काली मिर्च के व्यापार का एकाधिकार था। संभलपुर में भी हीरे मिलते थे। ईसा की आरम्भिक शतियों में मदुरा के बाजार बहुमूल्य रत्नों के लिए प्रसिद्ध थे।

प्राचीन काल में सर्वोत्तम अकीक रतनपुर से आता था। माचिक, जहरमोहरा, ज्योति रस, खंभात और सिंहल की लहसुनिया; भारत और सिंहल का पीला एवं सफेद स्फटिक; सिंहल, कश्मीर और बर्मा का नीलम; बर्मा, सिंहल और स्याम के माणिक्य; बदख्शां का लाल और लाजवर्द; कोयम्बटूर का वैडूर्य; सिंहल, बंगाल और बर्मा का वैक्रान्त भारत से रोम को जाता था। भारत में स्पेन से शीशा, साइप्रस से ताँबा, लुसिटानिया और मलेशिया से राँगा, किरमान और पूर्वी अरब से अञ्जन तथा फारस और किर्मानी से मैनसिल और संखिया आते थे।[5]

जैनसाहित्य के आधार पर गुप्तयुग में भारत का ईरान से व्यापारिक संबन्ध

---

१. सार्थवाह, पृ० ८७

२. वही, पृ० ९७

३. वही पृ० ११२

४. वही, पृ० ११५

५. वही, पृ० ११७-१२९

पर्याप्त बढ़ गया था। भारत से वहाँ रत्न, शंख, अगर और चन्दन जाते थे तथा ईरान से यहाँ मजीठ, चाँदी, सोना, मोती और मूँगा आते थे।[1]

मध्यकाल में अरबी व्यापारियों का प्रवेश हुआ। हिन्द महासागर में चीनी, अरबी तथा भारतीय व्यापारियों का घनिष्ठ संपर्क था। तांकिंग में सोना, चाँदी, लोहा, हिंगुल, कौड़ी, सीप, नमक का व्यापार होता था। अनाम में सीसा, राँगा का व्यापार था। खनिज द्रव्यों का व्यापार विशेषतः बोर्निओ, जावा, सिंहल और चोल मंडल से होता था।[2]

इब्नबतूता (१४वीं शती) तिब्बत के ऊपर कराकिल पहाड़ों में सोने की खानों का उल्लेख करता है।[3]

मार्को पोलो (१३वीं शती) ने भी अपने यात्राविवरण में- इस संबन्ध में उपयोगी जानकारी दी है। वह लिखता है कि फारस के पूर्वी छोर पर किरमान की पहाड़ियों में पेरोजा, लोहा और ऐण्टमिनी होता है। आर्मस के बन्दरगाह पर भारत के सभी भागों से व्यापारी आते हैं जो बहुमूल्य रत्न, मसाले, ओषधियाँ, मोती, हाथीदाँत आदि लाते हैं। कोबियान में यशद, लौह, ऐण्टयिनी, अञ्जन तथा पालिशदार लोहेके आइने होते थे। सपर्गन के पास थैकन में सैन्धव लवण की पहाड़ियाँ थीं जहाँ विश्व भर में सर्वोत्तम नमक प्राप्त होता था। बलाशान में उत्तम माणिक्य, राजावर्त्त तथा रजत, ताम्र और नाग की खान हैं। सिंहल में उत्तम माणिक्य, पुखराज, नीलम आदि रत्न मिलते थे। मलाबार में मोतियों का व्यापार था, मुर्फिलि में हीरे थे।[4]

अभ्रक का उल्लेख प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता। न्यायदर्शन (२री शती) में सर्वप्रथम काच और स्फटिक के साथ अभ्रक का उल्लेख हुआ। उसके बाद रसशास्त्र का क्रमशः विकास होनेपर रसकर्म में इसकी उपयोगिता के कारण इसका महत्त्व बढ़ा। इसे पार्वतीबीज और महारस कहा गया।

यद्यपि खर्परसत्त्व के रूप में यशद का ज्ञान था किन्तु यशद का धातुओं में स्थान बहुत बाद में मिला। भावप्रकाश में सप्त धातुओं में यशद की गणना की गई है। आयुर्वेदप्रकाश में भी इसका उल्लेख है। 'यशद' शब्द संभवतः फारसी 'जस्त' का संस्कृत रूपान्तर है। यह १४वीं शती के पूर्व नहीं मिलता। शार्ङ्गधर के टीकाकार आढमल्ल ने इसका प्रयोग किया है। रसकामधेनु में भी 'यशद' है जो खर्पर का

१. वही, पृ० १७३
२. वही, पृ० २०९-२११
३. यात्राविवरण, पृ० ७६३
४. यात्राविवरण, पृ० ३७-५६; २८२,-२९५

पर्याय माना गया है। इस प्रकार कालनिर्णय में 'यशद' शब्द महत्त्वपूर्ण साधन है। जिस ग्रन्थ में यह शब्द मिले वह १४ वीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता।

शोरक (शोरा) का प्रवेश मध्यकाल में हुआ। सूर्यक्षार, सौरक्षार, कर्पूरशिलाजतु आदि नाम इसे दिये गये। सोमदेव ने रसेन्द्रचूडामणि में इसका वर्णन किया है। आईन-ए-अकबरी में यह पानी ठंडा करने के लिए व्यवहृत होने का उल्लेख है। इसका मुख्य उपयोग विस्फोटक के रूप में तोप-बन्दूकों में होता था।

रस-वाङ्मय

प्रारम्भिक काल

५वीं शती

१. नागार्जुन—'नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके' वृन्द द्वारा निर्दिष्ट यह नागार्जुन संभवतः गुप्तकालीन है जिसने सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कार किया। संभव है, इसने भी रसशास्त्र पर कुछ लिखा हो। हुंग द्वारा चौथी या ५वीं शती में रसरत्नाकर के अस्तित्व की जो बात है,[1] वह यदि सत्य है तो इसी के सम्बन्ध में संभाव्य है।

२. कुब्जिकातन्त्र—नेपाल में इसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई है। इसमें पारद-संस्कार, ताम्र का रसवेध आदि विषय वर्णित हैं।[2]

मध्यकाल

८-१०वीं शती

२. नागार्जुन—सरहपा का शिष्य सिद्ध नागार्जुन ८वीं शती का तथा नारोपा का गुरु नागार्जुन १०वीं शती का है। नागार्जुन के नाम से प्रचलित रचनायें इन्हीं दो में से किसी की हो सकती है।

रसरत्नाकर और कक्षपुटतंत्र इसके प्रमुख ग्रन्थ माने जाते हैं। नागार्जुन ने कोई लोहशास्त्र पर ग्रन्थ भी लिखा था जिसका उद्धरण चक्रपाणि (११वीं शती) के द्वारा होने के कारण वह निश्चित ही १०वीं शती का है। नागार्जुनकृत आश्चर्ययोगमाला नामक एक ग्रन्थ भी है जिस पर जैन श्वेताम्बर गुणाकर ने १२३९ ई० में वृत्ति लिखी।[3] रसरत्नाकर में माक्षिक से ताम्र तथा खर्पर से यशद निकालने की विधि है। अनेक यंत्रों और उपकरणों का भी उल्लेख है।

नन्दी (नन्दिकेश्वर) (८वीं शती)—यह रसरत्नसमुच्चय, रसप्रकाशसुधाकर और रसेन्द्रचूडामणि द्वारा उद्धृत है। इसने संभवतः नन्दीतन्त्र की रचना की थी जिसका उल्लेख कवीन्द्राचार्य-सूची में है। काव्यमीमांसा में राजशेखर (९वीं शती) ने

---

१. P. Ray : History of Chemistry, P. 115

२. देखें पृ० ५५-५६

३. दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय तथा मिथिला शोध संस्थान (दरभंगा) में इसकी पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं।

'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः' कहा है। अतः नन्दी का समय ८वीं शती के बाद नहीं हो सकता।[1]

व्याडि (९वीं शती)—विधुशेखर भट्टाचार्य ने तिब्वती तंजूर में व्याडि के दो रसग्रन्थों का विवरण किया है—(१) रससिद्धिशास्त्र इसका तिब्वती अनुवाद भारतीय विद्वान नरेन्द्रभद्र तथा तिब्वती अनुवाद रत्नश्री ने किया था (२) धातु-वाद शास्त्र।

४. रसहृदयतन्त्र (१० वीं शती)—चन्द्रवंशी हैहयवंश में किरातदेश का राजा मदन था जो रसविद्या में पारंगत था। उसीका राजवैद्य रसाचार्य भिक्षुगोविन्द इस ग्रन्थ का कर्त्ता है। गोविन्द मंगलविष्णु का नाती और सुमनोविष्णु का पुत्र था।[2] किरातदेश भूटान या आसाम का प्रदेश है जो तांत्रिक क्रियाओं के लिए चिरकाल से विख्यात है। कुछ लोग गोविन्द से शंकराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्-पाद का ग्रहण करते हैं किन्तु नागार्जुन से पूर्व रसशास्त्र संभवतः इतना विकसित नहीं था और न शंकर-परंपरा का इस क्षेत्र से कोई सम्बन्ध ही रहा है। रसरत्न-समुच्चयकार ने २७ रसाचार्यों में गोविन्द का स्मरण किया है, वह संभवतः रस-हृदयकर्त्ता ही है।

ग्रन्थ में १९ अवबोध (अध्याय) हैं[3] अन्य विषयों के साथ पारद के ऊर्ध्वपातन, विड, क्षेत्रीकरण आदि वर्णित हैं।

१२वीं शती

रसार्णव—यह रसशास्त्र का एक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है जिसे परवर्त्ती रसरत्न-समुच्चय आदि ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है। विभिन्न धातुओं को आग में रखने

---

१. 'नन्दी मध्यदेश के रहनेवाले एक बौद्ध भिक्षु थे। वे सिंहल में कुछ काल तक ठहरे थे और दक्षिण समुद्र के देशों की यात्रा करके उन्होंने वहाँ के रहनेवालों के साहित्य और रीति-रिवाज का अध्ययन किया था। ६५५ ई० में वे चीन पहुँचे। ६५६ ई० में चीनी सम्राट् ने उन्हें दक्षिण समुद्र के देशों में जड़ी-बूटियों की शोध के लिए भेजा। वे ६६३ ई० में पुनः चीन लौट आये।'

—सार्थवाह, पृ० १८८

२. श्लो० १९।७८-८०

३. इस ग्रन्थ का एक उत्तम संस्करण कुरलवंशीय हरिहरमिश्रपौत्र महेशमिश्रात्मज चतुर्भुजमिश्र कृत मुग्धावबोधिनी संस्कृत टीका के साथ प्रकाशित हुआ है (कृष्ण गोपाल आयुर्वेद भवन, कालेड़ा (अजमेर), १९५८)। यह चतुर्भुज मिश्र कुरलवंशीय होने के कारण कर्पूरवंशीय शिवदत्त मिश्र के पिता (चतुर्भुज मिश्र) से भिन्न है। इसके पूर्व त्र्यम्बक गुरुनाथ काले एवं आचार्य यादव जी द्वारा संपादित होकर मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित हुआ था (१९२७)।

पर विभिन्न वर्ण की ज्वाला निकलती है इसका वर्णन इसमें मिलता है। धातुओं का सत्वपातन, क्षार-लवण आदि भी है। इसका एक संस्करण आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय द्वारा सम्पादित होकर बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा १९१० में प्रकाशित हुआ। तारादत्तपन्तकृत अनुवाद के साथ चौखम्बा से १९३७ में प्रकाशित हुआ।

रसेन्द्रचूड़ामणि—इसका रचयिता सोमदेव है। यह करवाल भैरवपुर का अधिपति तथा महावीर का वंशज था जैसा कि ग्रन्थ की पुष्पिका एवं द्वितीय अध्याय की अवतारणा से पता चलता है। १६वें अध्याय की पुष्पिका में इसे 'नारायणसूनु' लिखा है। रसरत्नसमुच्चयकार ने इसको उद्धृत किया है[1] और स्वयं इसने नागार्जुन, नन्दी, मन्थानभैरव, गोविन्द भगवत्पाद, भास्कर आदि को उद्धृत किया है। ग्रन्थ १६ अध्यायों में पूर्ण है। आचार्य यादवजी द्वारा सम्पादित एवं मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित है (१९३२)।

रसप्रकाशसुधाकर—इस ग्रन्थ का रचयिता यशोधर भट्ट है जो सौराष्ट्र (जूनागढ़) का निवासी और गौडब्राह्मण पद्मनाभ का पुत्र था। रसरत्नसमुच्चय में इसे बहुशः उद्धृत किया है। रसाचार्यों की गणना में 'यशोधन' सम्भवतः 'यशोधर' है।[2] यशोधर ने सोमदेव को उद्धृत किया है (९।११)। ओषधियों के प्रकरण में सोढलनिघण्टु का अनुसरण किया है। शुक्रस्तम्भ प्रकरण में अहिफेन, अकरकरा, मस्तकी आदि द्रव्य हैं।

इसमें पारदसंस्कारों के अतिरिक्त, रसकर्पूर, खर्पर से यशद निकालने की विधि, सौराष्ट्री आदि का वर्णन है। ग्रन्थ १३ अध्यायों में पूर्ण हुआ है।

काकचण्डीश्वरकल्पतंत्र—रसरत्नसमुच्चय में निर्दिष्ट २७ सिद्धों में काकचण्डीश्वर भी हैं अतः यह उसके पूर्व की रचना है। यह चौखम्बा वाराणसी द्वारा प्रकाशित है।

१३वीं शती

रसरत्नसमुच्चय—इसके रचयिता ने अपने पिता का नाम सिंहगुप्त कहा है। स्वयं रचयिता का नाम वाग्भटाचार्य केवल पुष्पिका भाग में मिलता है। पिता और पुत्र का नाम समान देखकर अष्टांगहृदयकार और रसरत्नसमुच्चयकार को कुछ लोग एक ही मानते हैं किन्तु काल के विशाल अन्तराल के कारण यह सिद्ध नहीं होता।

---

१. र० र० स० ३।३७,४२;८।१,९।१।
२. यह ग्रन्थ रससंकेतकलिका के साथ आचार्य यादव जी द्वारा आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। इसका द्वितीय संस्करण १९२३ में प्रकाशित हुआ। गोंडल से भी १९४० में प्रकाशित हुआ।

अधिक से अधिक अन्य वाग्भटों से इसका पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए 'रसवाग्भट' कह सकते हैं।

इसके पहले ग्यारह अध्यायों में पारद-क्रिया और बारह से तीस अध्याय तक रोगानुसार निदान-चिकित्सा का वर्णन है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में आदिम, चन्द्रसेन, लंकेश, भास्कर, व्याडि, नागार्जुन, यशोधर (र), गोविन्द आदि २७ रससिद्धों[1] तथा भैरव, नन्दी, मन्थानभैरव, काकचण्डीश्वर आदि ग्रन्थकारों की गणना की गई है। इनके अतिरिक्त, भालुकी, रसेन्द्रतिलक, वासुदेव आदि के तन्त्रों के नाम लिये गये हैं जिनसे ग्रन्थ की रचना में सहायता ली गई है। रसशाला का विशद वर्णन है जिसमें रसलिंग स्थापित कर पूजन करने का विधान है। अघोरमंत्र तथा रसांकुशी विद्या का इस प्रसंग में उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इस काल में तन्त्र के साथ-साथ रसशास्त्र प्रौढ़ावस्था में था।

इसके काल-निर्णय के प्रसंग में निम्नांकित तथ्य ध्यातव्य हैं—

१. इसने नन्दी को उद्धृत किया है। यह नन्दी या नन्दिकेश्वर वही हो सकता है जो काव्यमीमांसा में उद्धृत है। अतः ८वीं शती के बाद का नहीं ही सकता।

२. इसने नागार्जुन को बहुशः उद्धृत किया है[2] जो लगभग १०वीं शती का है।

३. (क) इसने १२वीं शती के रसशास्त्रीय ग्रन्थों (रसार्णव, रसेन्द्रचूडामणि, रसप्रकाशसुधाकर आदि) का आधार लिया है।

(ख) सोमरोग का उल्लेख किया है जो वंगसेन (१२वीं शती) से पूर्व नहीं मिलता।

(ग) भास्कर द्वारा निर्मित एक रस (परहितरस-कुष्ठाधिकार) का वर्णन किया है। यह भास्कर सोढल (१२वीं शती) का पिता हो सकता है।

(घ) वैश्वानरपोटलीरस के प्रसंग में लिखा है यह योग सिंघण राजा द्वारा निर्मित है (१६।१२२) तथा भैरवानन्द योगी द्वारा उपदिष्ट है। सिंघण देवगिरि का राजा था जिसका काल १२००-१२४७ ई० है।[3] अतः रसरत्नसमुच्चयकार निश्चित रूप से १२०० ई० के बाद सम्भवतः सिंघण का समकालीन रहा। इस आधार पर इसका काल १२५० ई० के लगभग माना जा सकता है।

(च) अहिफेन, (२३।१५; २७।८५); विजया (२७।८५; ११६; १२४) का प्रयोग हुआ है जो चिकित्सा में १२वीं शती से पूर्व प्रयुक्त नहीं मिलते। गौरीपाषाण,

---

१. इनका पुनः उल्लेख षष्ठ अध्याय (श्लोक ५१-५५) में किया गया है।

२. २।१४४; १६।५६; २०।५९

३. The History and Culture of the Indian People, Bharatiya Vidya Bhavan, Vol. V, P. 188-192 (2nd ed. 1966)

नवसार, अग्निजार, मृद्दारश्रृङ्ग आदि द्रव्य भी प्रायः इसी काल में प्रविष्ट हुये। रुदन्ती जिसका उल्लेख शार्ङ्गधर ने रसायनद्रव्यों में किया है वह भी इसी काल में प्रचलित हुई। 'कालयवन' शब्द का प्रयोग (२६।३८) सम्भवतः किसी मुसलमान फकीर के लिए है।

(छ) पेटारी, गोबर, कटोरी, गोली आदि अनेक देशी शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका प्रयोग लगभग १२वीं शती में बढ़ा है। आचार्य हेमचन्द्र ने ऐसे ही शब्दों के लिए देशी नाममाला की रचना की। अनेक स्थलों में छन्द और व्याकरण की अशुद्धियाँ[1] भी हैं। सम्भवतः तान्त्रिक परम्परा में इन पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था। उनका व्यवहार अधिकांश लोकभाषा में होता था।

इसकी टीका दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी और हजारीलाल सुकुल (पटना) ने की है। चौखम्बा से यह १९३६ में तथा आनन्दाश्रम से १९४१ में प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व कलकत्ता से १९२७ में निकला।

कंकालीय रसाध्याय—इस पर १३८६ में मेरुतुंग जैन ने टीका लिखी है[2]। यह चौखम्बा, वाराणसी से १९३० में प्रकाशित है।

रसरहस्य—

रसेश्वरसिद्धान्त—ये दोनों ग्रन्थ माधवकृत सर्वदर्शनसंग्रह (१४वीं, शती) में उद्धृत हैं अतः उसके पूर्व के हैं।

रसकल्प[3]—

१४वीं शती

रसराजलक्ष्मी—यह विष्णुदेव की रचना है। इसने रसार्णव, काकचण्डीश्वर, दामोदर आदि को उद्धृत किया है।

रससार—इसके लेखक गोविन्दाचार्य हैं। इसमें पारद के अष्टादश संस्कारों के अतिरिक्त अहिफेन का भी वर्णन है।

१५वीं शती

रसरत्नप्रदीप—ग्रन्थ पाँच अधिकारों में पूर्ण है। इसका रचयिता रत्नपालसुत रामराज है। ग्रन्थकार ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

---

१. २६।५०; २२।१२८; २७।१३५

२. जॉली

३. उपर्युक्त ग्रन्थ पर काशीकरकृत परिशिष्ट।

हरिश्चन्द्र—(काष्ठानगरी के टाकावंशीय)
|
साधारण
|
लक्ष्मणसिंह सहजपाल मदनपाल रत्नपाल
|
रामराज

टीका के साथ इसका सम्पादन पं० ठाकुरदत्त शर्मा (मुलतानी) ने किया है। यह ग्रन्थ लाहौर से १९२५ में प्रकाशित है। मदनपाल ने निघण्टु में अपना समय १४वीं शती का अन्त दिया है अतः इसका काल १५वीं शती होगा।

रसपद्धति—महाराष्ट्रीय विन्दुविरचित यह ग्रन्थ तदात्मज महादेवकृत व्याख्या सहित आचार्य यादवजी द्वारा संशोधित-प्रकाशित हुआ है (१९२५)। इसके साथ सुरेश्वरविरचित लोहसर्वस्व भी है। रसकामधेनु और आयुर्वेदप्रकाश द्वारा उद्धृत होने के कारण उनसे पूर्व का है तथा रसरत्नाकर, रसराजलक्ष्मी और रसरत्नसमुच्चय के बाद का है। अतः इसका काल १५वीं शती है।

रससंकेतकलिका—नैगम कायस्थ चामुण्ड की यह रचना है। पाँच उल्लासों में पूर्ण है। योगिनीपुर में १५३१ सं० में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ[1]। चामुण्ड ने एक तन्त्रग्रन्थ 'वर्णनिघण्टु' भी लिखा है।

रसनक्षत्रमालिका—मालवा के राजवैद्य मथनसिंह की यह रचना है। इसकी एक पाण्डुलिपि का काल सं० १५५७ (१५०० ई०) दिया है अतः यह ग्रन्थ उससे पूर्व (१५वीं शती के प्रारम्भ) का ही है।

रसरत्नाकर—इसके कर्त्ता पार्वतीपुत्र सिद्ध नित्यनाथ हैं। इसमें रसखण्ड, रसेन्द्रखण्ड, वादिखण्ड, रसायनखण्ड और मन्त्रखण्ड ये पाँच खण्ड हैं। इसमें अहिफेन का प्रयोग है। जीवानन्द द्वारा १८७८ ई० में प्रकाशित हुआ। खेमराज, बम्बई से सं० १९५४ में निकला। इसका रसायनखण्ड आचार्य यादवजी ने प्रकाशित किया (१९१३)।

१६वीं शती

धातुरत्नमाला—यह गुर्जरीय देवदत्त की रचना है। इसमें यशद खर्पर का पर्याय कहा है।

रसेन्द्रचिन्तामणि—यह नित्यनाथ को उद्धृत करता है। यह कालनाथ के शिष्य ढुण्ढुकनाथ की रचना है। एक रसेन्द्रचिन्तामणि गुहकुलसंभव रामचन्द्र द्वारा

१. भ्वग्नितिथिमिते वर्षे चामुण्डो योगिनीपुरे।
रससंकेतकलिकां कृतवानिष्टसिद्धिदाम्॥ ५।४१

प्रणीत है (जीवानन्दविद्यासागर, कलकत्ता, १८७८)। ग्रन्थ ९ अध्यायों में पूर्ण है। रसेन्द्रचिन्तामणि बम्बई से सं० १९८१ में प्रकाशित हुआ।

रसेन्द्रसारसंग्रह—गोपालकृष्णभट्ट इसके रचयिता हैं। बंगाल में यह ग्रन्थ पर्याप्त प्रचलित रहा। रसमञ्जरी और चन्द्रिका इसमें उद्धृत हैं। इस पर वैद्य घनानन्दपन्त (दिल्ली) तथा रामप्रसाद वैद्य (बम्बई, १९५१) की टीकायें हैं। चौखम्बा (१९३७) और कलकत्ता (सं० १९६९) से भी इसके संस्करण निकले।

रसेन्द्रकल्पद्रुम—इसमें रसार्णव, रसमंगल, रसरत्नाकर, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय उद्धृत हैं। इसके रचयिता नीलकण्ठात्मज रामकृष्णभट्ट हैं।

रसप्रदीप—इसमें फिरंग और चोपचीनी का उल्लेख है। चोपचीनी का प्रवेश फिरंगरोग की चिकित्सा में चीनी व्यापारियों द्वारा गोवा में लगभग १५३५ ई० में हुआ[1]। रसप्रदीप प्राणनाथ वैद्य द्वारा रचित है।

रसकौमुदी—यह माधवकृत है। इसकी संरचना रसप्रदीप के समान ही है। इसमें अहिफेन तथा खनिजाम्ल दोनों हैं। चन्द्रशेखर मुनीश्वर के वंशज ज्ञानचन्द्र ने इसकी रचना की है। चार अधिकारों में विषय की स्थापना की गई है। इसमें नव नाथसिद्धों और नवदुर्गा की पूजा का विधान है (२।५०)। इसमें अहिफेन का प्रयोग देखने में नहीं आया। इस ग्रन्थ का संशोधन जीवानन्द शर्मा के पुत्र सदानन्द शर्मा घिल्डियाल ने किया और टिप्पणी भी दी है। मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर द्वारा १९२३ में प्रकाशित है।

रसकामधेनु—शाकद्वीपीय विप्र बलभद्रमिश्रपौत्र हरिराममिश्रपुत्र श्रीचूडामणिमिश्र ने इसकी रचना की[2]। ग्रन्थ चार पादों में है—उपकरणपाद, धातुसंग्रहपाद, रसकर्मपाद और चिकित्सापाद। चिकित्सापाद वैद्य जीवराम कालीदास शास्त्री (गोंडल) ने १९२५ में प्रकाशित किया और उसी वर्ष आचार्य यादवजी ने इसे बम्बई से प्रकाशित किया। रसपद्धति को उद्धृत करने के कारण इसका काल १६वीं शती है।

धातुक्रिया—(रुद्रयामलतन्त्रान्तर्गत)—इसमें फिरंगदेश तथा दाहजल (तेजाब) का उल्लेख है।

---

१. P. Ray : History of Chemistry in Ancient & Medieval India 1957, P. 162

रसप्रदीप, रसेन्द्रचिन्तामणि और रसामृत भावप्रकाश (१५५० ई०) में उद्धृत हैं अतः ये तीनों ग्रन्थ उसके पूर्व के हैं।

२. शाकद्वीपजविप्रमुख्यसुभिषक्संज्ञावदाख्यात्तिमान् ,
मिश्रश्रीबलभद्रसूनुहरिरामस्यात्मसंभूतिना।
श्रीचूडामणिना कृते सुकृतिना भैषज्यसंदर्भको
ग्रन्थेऽस्मिन् रसकामधेनुरचिते पादश्चतुर्थो मतः।

निम्नांकित ग्रन्थ टोडरानन्द (आयुर्वेदसौख्य) में उद्धृत हैं अतः ये १६वीं शती में उपलब्ध थे—

१. रसचिन्तामणि
२. रसदर्पण
३. रसरत्नप्रदीप
४. रसरत्नावलि
५. रसरहस्य
६. रसराजहंस
७. रससिन्धु
८. रसार्णव
९. रसालंकार
१०. रसावतार

१७वीं शती

आयुर्वेदप्रकाश—यह सौराष्ट्रनिवासी उपाध्याय माधव की रचना है। भाव प्रकाश इसमें उद्धृत है। इसका प्रथम भाग सोमदेवशर्मा की व्याख्या के सा १९४२ में व्याख्याकार द्वारा प्रकाशित हुआ है।

२०वीं शती

रसतरंगिणी—कविराज सदानन्दप्रणीत इस आधुनिकतम ग्रंथ में अनेक य योगों (रजतनन्नित, मुग्धरस, सोरकद्राव, लवणद्राव आदि) का संस्कृतीकरण क ग्रहण किया गया है। सदानन्दशर्मा घिल्डियाल के पिता जीवानन्द शर्मा तथा मा सरस्वती थीं। यह ग्रन्थ उनके गुरु नरेन्द्रनाथमित्र[1] द्वारा लाहौर से प्रकाशित (द्वि० सं० १९३५)। सदानन्दजी ने रसकौमुदी की व्याख्या तथा पारदयोगशा आदि अनेक रसग्रन्थों का संपादन किया है।

रसायनसार—काशी के राममिश्र शास्त्री तथा पं० अर्जुनमिश्र के शिष्य श्या सुन्दराचार्य वैश्य ने रसशास्त्र में अनेक प्रयोग किये जिनका विवरण इस ग्रंथ में दि है। छः वर्षों के परिश्रम तथा प्रभूत व्यय कर आपने ये अनुभव प्राप्त किये थे। श्या सुन्दररसायनशाला, काशी द्वारा यह ग्रन्थ प्रकाशित है (तृ० सं० १९३५)। श्या सुन्दराचार्य के पिता मारवाड़ी अग्रवाल वैश्य नन्दकिशोरजी थे। इनका जन्म आश्वि भाद्रशुक्ल चतुर्दशी सं० १९२८ को भरतपुर राज्यान्तर्गत कामवन नामक स्थान

---

१. आपका जन्म १८७४ ई० में हुआ था। आपने चिकित्साकलिका का भी संपाद किया है।

हुआ। आयुर्वेद की शिक्षा पं० अर्जुन मिश्र तथा उमाचरण कविराज से प्राप्त की। सर्वार्थकरी भ्राष्ट्री का आविष्कार किया। आपका देहान्त २६ मई १९१८ ई० को हुआ[1]।

पारदविज्ञानीयम्—जामनगर स्नातकोत्तर आयुर्वेद-शिक्षणकेन्द्र में रसशास्त्र एवं भैषज्यकल्पना के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष वैद्य वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी की यह रचना उनके प्रत्यक्ष प्रयोगों पर आधारित है। यह ग्रन्थ शर्मा आयुर्वेदमंदिर, दतिया से अप्रैल १९६९ में प्रकाशित है।

रसयोगसागर—पं० हरिप्रपन्न शर्मा (बम्बई) ने १९२७ में यह संकलन प्रस्तुत किया है। इसकी विस्तृत विद्वत्तापूर्ण भूमिका प्रसिद्ध है। प्रथम भाग में तवर्ग तक और द्वितीय भाग में अवशिष्ट रसयोगों का वर्णन किया गया है।

रसजलनिधि—भूदेव मुखोपाध्यायकृत यह ग्रन्थ अंगरेजी अनुवाद सहित पांच खण्डों में लिखा गया है और १९२६ से १९३८ की अवधि में प्रकाशित हुआ।

पं० जीवराम कालीदास शास्त्री[2]—(सम्प्रति आचार्य चरणतीर्थजी महाराज) आप गोंडल की प्रसिद्ध रसशाला के संस्थापक हैं और रसशास्त्र में आपने गहन अनुभव प्राप्त किया है। रसरत्नसमुच्चय की टीका आपने की है तथा रसोद्धारतन्त्र लिखा है। इनके अतिरिक्त, अनेक उपयोगी रसग्रन्थ आपने प्रकाशित किये हैं। पारद नामक मासिक पत्र भी आप निकालते थे।

बृहद् रसराजसुन्दर—दत्तराम चौबे ने इसकी रचना की। ज्ञानसागर प्रेस बम्बई द्वारा १८९४ ई० में प्रकाशित है। १९२४ में चतुर्थ संस्करण निकला।

भारतीय रसशास्त्र—वैद्य वामन गणेश देसाई का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मराठी में आचार्य यादवजी द्वारा १९२८ में प्रकाशित हुआ। ओषधिसंग्रह भी देसाईजी की महत्त्वपूर्ण रचना है। भारतीय रसशास्त्र की भूमिका दत्तात्रय अनन्त कुलकर्णी ने लिखी है।

आयुर्वेदीय खनिज विज्ञान—यह रसायनाचार्य कविराज प्रतापसिंह, अधीक्षक, आयुर्वेदिक फार्मेसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा रचित एवं प्रकाश आयुर्वेदीय औषधालय द्वारा प्रकाशित है (१९३१)। इसकी भूमिका गणनाथसेन ने लिखी है।

कविराज जी रसशास्त्र के माने हुए विद्वान थे। इनका जन्म उदयपुर में १८९२ ई० में हुआ था। मद्रास में पं० गोपालाचार्लु तथा कलकत्ता में क० गणनाथ सेन के साथ अध्ययन किया। ऋषिकेश, पीलीभीत में कार्य करने के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नियुक्त हुये। तदनन्तर राजस्थान सरकार में निदेशक और फिर

किया है।

१. गौरीशंकर गुप्त—आयुर्वेद विकास, जनवरी, १९७२

२. विस्तृत परिचय सप्तम अध्याय में देखें।

१९५४ में केन्द्रीय सरकार में देशी चिकित्सा के सलाहकार हुये। वैद्यसंघटन में भी आपकी बड़ी रुचि थी। १९३४ में २४वें निखिल भारतीय वैद्यसम्मेलन (शिकारपुर, सिन्ध) के आप अध्यक्ष थे। उपर्युक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त, प्रसूतिपरिचर्या, अच्चा, विषविज्ञान, आरोग्यसूत्रावली, प्रतापकण्ठाभरण आदि आपकी रचनायें हैं। आयुर्वेद महामंडल के रजतजयन्ती-ग्रन्थ के प्रकाशन (१९३५-३६ ई०) में आपका प्रमुख सक्रिय भाग रहा है।

भस्मविज्ञान—पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर के संचालक स्वामी हरिशरणानन्द की यह रचना दो खण्डों में १९५४ में प्रकाशित हुई है। आपने कूपीपक्वरसनिर्माणविज्ञान भी लिखा है (१९४१ ई०)।

रसामृत—आचार्य यादवजी त्रिकमजी द्वारा रचित यह ग्रन्थ मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित है (१९५१)। ९ अध्यायों में वर्ण्य विषय समाप्त कर ९ परिशिष्ट दिये गये हैं। अन्तिम परिशिष्ट में चरक-सुश्रुत में निर्दिष्ट खनिज द्रव्यों की सूची है।

रसेन्द्रसम्प्रदाय—राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, पटना में अनेक दशाब्दियों तक रसशास्त्र का अध्यापन एवं प्रत्यक्ष कर्माभ्यास में नैपुण्य प्राप्त करनेवाले पं० हजारी लाल सुकुल की रचना उन्हीं के द्वारा १९५५ में प्रकाशित हुई। इन्होंने रसरत्न समुच्चय पर टीका भी लिखी है।

रसायनसुधानिधि—दाधीचवंशीय बलदेवमिश्रात्मज ज्ञारसराम शास्त्री द्वारा विरचित एवं लेखक द्वारा प्रकाशित है (कामठी, १९२६)। ग्रन्थ में कुल ११ अध्याय हैं जिनमें नैसर्गिक, आचार, वानस्पतिक एवं पारदीय रसायनों का वर्णन है।

वैद्यक रसराजमहोदधि भाषा—भगतभगवानदास द्वारा विरचित तथा खेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित (१९२३)।

यहीं से सं० १९६६ में गौरीशंकर त्रिपाठीकृत रसराजमहोदधि तीन भागों में प्रकाशित हुआ।

रसतत्त्वविवेचन—कालेड़ा (अजमेर) द्वारा प्रकाशित।

अभिनव रसशास्त्र—सोमदेवशर्मा सारस्वत द्वारा रचित एवं प्रकाशित (१९७०) है। इसके पूर्व इनका रसचिकित्साविमर्श १९६९ में प्रकाशित हुआ। रसेन्द्र दर्शन, रसकामधेनु, रससंकेतकलिका की व्याख्या भी आपने की है। श्रीसारस्वत जी का जन्म ३१ अक्तूबर १९०७ को अलीगढ़ जिले के एक ग्राम में हुआ। वह हिन्दू विश्वविद्यालय से ए० एम० एस०, एम० ए० और साहित्याचार्य थे। पीलीभीत में अनेक वर्षों तक रहने के बाद शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, राय... [illegible] । १९६८ में वहाँ से सेवानिवृत्त होकर पुनः पीलीभीत आ गये वहाँ २ १ [illegible] न्थों का प्रणयन किया। उच्चकोटि का आयुर्वेदज्ञ होने के साथ-साथ

आप सुकवि भी थे। इतिहास में भी आपकी रुचि थी। आपका स्वर्गवास १ अप्रैल १९७१ को हुआ।

रसशास्त्र के अन्य ग्रन्थ—उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त, अन्य ग्रन्थों की सूची[1] यहाँ प्रस्तुत की जा रही है :—

क्र०	ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
१.	अगस्त्यसंहिता	अगस्त्य		
२.	आनन्दकन्द	मन्थानभैरव,	तंजोर प्रकाशन, मद्रास,	१९५२
३.	कंकाली	नशीर शाह		
४.	कामधेनुतंत्रम्			
५.	कौतुकचिन्तामणि	प्रतापरुद्रदेव		
६.	गन्धककल्प			
७.	गोरक्षसंहिता	गोरक्षनाथ		
८.	गौरीकाञ्चलिकीतंत्रम्	भैरव		
९.	चर्पटसिद्धान्त	चर्पट		
१०.	तंत्रराज	जावाल		
११.	तंत्रसारकोष	शङ्कुनाथ दत्त		
१२.	ताम्रवन	सुण्डी		
१३.	दत्तात्रेयतंत्रम्	दत्तात्रेय		
१४.	दत्तात्रेयसंहिता	,,		
१५.	दिव्य रसेन्द्रसार	,,		
१६.	दिव्य रसेन्द्रसार	धनपति		
१७.	धरणीधरसंहिता			
१८.	धातुपद्धति			
१९.	धातुरसायन			
२०.	नवरत्नधातुविवाद	बलभद्र		
२१.	नासत्यसंहिता			

---

1. पं० सिद्धिनन्दन मिश्र, अध्यक्ष, रसशास्त्रविभाग, आयुर्वेदमहाविद्यालय, संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रस्तुत सूची के आधार पर।
इसके अतिरिक्त देखें :—
रसकौमुदी, पारदसंहिता, आयुर्वेदीय खनिजविज्ञान, रसयोगसागर, रसरत्नाकर तथा अभिनव रसशास्त्र की भूमिका।
P. Ray : History of Chemistry in Ancient and medieval India, P. 128.

२२. पारदयोगशास्त्र — शिवराम योगीन्द्र, सदानन्द शर्मा सं०, १९२३ मोतीलाल बनारसीदास,

२३. पारदसंहिता — निरञ्जनप्रसाद गुप्त, खेमराज श्रीकृष्णदास, १९११ बम्बई

२४. पारदसंहिता — चित्तोद्भव हंसराज

२५. प्रयोगचिन्तामणि — राममाणिक्यसेन

२६. वन्धसर्वस्व — गोरक्षनाथ

२७. वाहट — गौरीपुत्र कार्तिकेय

२८. भारतीय रसपद्धति — अत्रिदेव — चौखम्बा, वाराणसी, १९४९

२९. भैषज्यसारामृत — उपेन्द्र

३०. मकरध्वज-रहस्य

३१. मन्थानभैरव — मन्थानभैरव

३२. महारसाकुंश — रसाकुंश

३३. महारसायनतंत्र

३४. महोदधि — शिवनाथ योगी

३५. योगरत्नाकर — केशवदेव

३६. योगरत्नाकर — मयूरपाद भिक्षु

३७. योगसुधानिधि — वन्दी मिश्र

३८. रत्नधातुविज्ञान — बद्रीनारायण पुरोहित — कालेड़ा बोगला, १९६८ अजमेर,

३९. रत्नपरीक्षा — के० एस० सुब्रह्मण्यम शास्त्री

४०. रत्नपरीक्षा — अगरचन्द्र नाहटा

४१. रत्नविज्ञान — पुरुषोत्तमदास स्वामी

४२. रत्नविज्ञान — राधाकृष्ण पाराशर — चौखम्बा, वाराणसी

४३. रत्नौषधयोग

४४. रसकङ्कालीय — कंकाल योगी

४५. रसकल्पतरु

४६. रसकल्पलता — नारायण मिश्र

४७. रसकल्पलता — मगनीराम

४८. रसकल्पलता — काशीराम (काशीनाथ)

४९. रसकषाय वैद्यक — वैद्यराज

५०. रसकिन्नर

•र१५सकौतुक — मल्लरि (१६८२)

५२. रसकौमुदी	माधव	
५३. रसकौमुदी	गोल्हदेव	
५४. रसकौमुदी	शक्तिवल्लभ	
५५. रसज्ञान	ज्ञानज्योति	
५६. रसगोविन्द	गोविन्द	
५७. रसचक्र	बृहस्पति	
५८. रसचण्डांशु	श्रीशंकर	
५९. रसचण्डांशु (मराठी)	दत्तोवल्लाल वोरकर	सतारा
६० रसचन्द्रिका	नीलाम्बर पुरोहित	
६१. रसचन्द्रिका		
६२. रसचन्द्रोदय	चन्द्रसेन	
६३. रसचिन्तामणि	मुरलीधर शर्मा	खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई
६४. रसचिन्तामणि	अनन्तदेव सूरि	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९६७
६५. रसतंत्र	गुह	
६६. रसतंत्र	वीरभद्र	
६७. रसतरंगमालिका	जनार्दनभट्ट	
६८. रसदर्पण	त्रिमल्लभट्ट	
६९. रसदर्पण	रेवणसिद्ध	
७०. रसदीपिका	आनन्दानुभव	
७१. रसनिघण्टु		
७२. रसनिबन्ध		
७३. रसनिर्माणविधि	अश्वघोष	
७४. रसपरमचन्द्रिका		
७५. रसपारिजात	लक्ष्मीधर सरस्वती	
७६. रसपारिजात	वैद्य शिरोमणि	
७७. रसप्रदीप	रामचन्द्र	
७८. रसप्रदीप (संग्रह)	रविदत्तकृत हिन्दी—टीका सहित	खेमराज श्रीकृष्णदास, १९३५
७९. रसप्रदीप	नागनाथ	
८०. रसप्रदीप	शंकरभट्ट	
८१. रसप्रदीपिका	मंगलगिरि सूरि	
८२. रसप्रबन्ध		

८३. रसप्रबन्ध चन्द्रोदय	वीसलदेव	
८४. रसप्रयोग		
८५. रसबोधचन्द्रोदय		
८६. रसभैरव	भैरव	
८७. रसभेषजकल्पदीपिका		
८८. रसभैषज्यरत्नावलि	सूर्यकवि	
८९. रसमञ्जरी	शालिनाथ (सिद्ध)	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं०१९
९०. रसमानस	दयाराम	
९१. रसमणि	हर	
९२. रसमित्र	त्र्यम्बकनाथ शर्मा,	बनारस, १९
९३. रसमुक्तावली		
९४. रसयामल		
९५. रसयोगमुक्तावली		
९६. रसयोगशतक	वैद्य निलंगेकर	
९७. रसरञ्जन		
९८. रसरत्न	श्रीनाथ	
९९. रसरत्नकौमुदी		
१००. रसरत्नप्रदीप	जंगबहादुर	
१०१. रसरत्नप्रदीप	राजराव	
१०२. रसरत्नमणिमाला	बावाभाई वैद्य	
१०३. रसरत्नमाला	नित्यनाथ सिद्ध	
१०४. रसरत्नसमुच्चय	सोमदेव	
१०५. रसरत्नसमुच्चय	शंकर	
१०६. रसरत्नाकर	नागार्जुन	
१०७. रसरत्नाकर	देवाचार्य	
१०८. रसरत्नाकर	चक्रपाणि	
१०९. रसरत्नावलि	चन्द्रराजकवि	
११०. रसरत्नावलि	गुरुदत्तसिद्ध	
१११. रसराज.	लक्ष्मीश्वर	
११२. रसराजमहोदधि	कपाली	
११३. रसराजमृगाङ्क	भोजराज	आचार्य यादवजी, बम्बई, १९
११४. रसराजलक्ष्मी	सर्वज्ञभट्ट	
११५. रसराजशंकर	रामकृष्ण	

११६.	रसराजशिरोमणि	परशुराम		
११७.	रसराजशिरोमणि	रेवण सिद्ध		
११८.	रसराजसुधानिधि	व्रजराज शुक्ल		
११९.	रसराजहंस			
१२०.	रसवर्णन			
१२१.	रसवारिधि	माण्डव्य		
१२२.	रसविद्यारत्न	शिवानन्द योगी		
१२३.	रसविश्वदर्पण	हरिहर		
१२४.	रसशास्त्र	अत्रिदेव गुप्त	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	१९६१
१२५.	रसशास्त्र	बंसरीलाल साहनी	दिल्ली	१९६३
१२६.	रससंग्रह			
१२७.	रससंग्रहसिद्धान्त	गोविन्दराम		
१२८.	रससंजीवनेश्वर	हरिहर		
१२९.	रससर्वेश्वर	वासुदेव		
१३०	रससागर	क्षेमादित्य		
१३१.	रससार	क्षेमादित्य		
१३२.	रससार	भोटजातीय सारस्वत ब्राह्मण गोविन्दाचार्य		
१३३.	रससारतिलक	रसेन्द्रतिलक योगी		
१३४.	रससारसंग्रह	गंगाधर		
१३५.	रससारसमुच्चय			
१३६.	रससारामृत	रामसेन		
१३७.	रससारोद्धारपद्धति			
१३८.	रससिद्धप्रकाश	माधवभट्ट		
१३९.	रससिन्धु	विष्णु पण्डित		
१४०.	रससुधाकर			
१४१.	रससुधानिधि	व्रजराज		
१४२.	रसस्वच्छन्दभैरव	स्वच्छन्द भैरव		
१४३.	रसहेमन्	हेमन्		
१४४.	रसांकुशतंत्रम्	चन्द्रनाथ		
१४५.	रसाधिकार	हरिहर		
१४६.	रसानन्दकौतुक	नरवाहन		
१४७.	रसामृत	जयदेव		
१४८.	रसायनपरीक्षा			१३८७
१४९.	रसायनप्रकरण	मेरुतुंग जैन		

१५०. रसायनविधान			
१५१. रसायनविधि			
१५२. रसार्णवकला			
१५३. रसायनसंग्रह	कृष्णशास्त्री भाटवडेकर		
१५४. रसायनसंहिता	प्रबोधानन्द	अलीगढ	१९२८
१५५. रसालंकार	रामेश्वर भट्ट		
१५६. रसावतार	माणिक्यचन्द्र जैन		
१५७. रसावलोक	शुक्राचार्य		
१५८. रसेन्द्रतिलक	चामुण्ड कायस्थ		
१५९. रसेन्द्रपुराण	रामप्रसाद वैद्य	वेंकटेश्वर, बम्बई, सं०	१९८३
१६०. रसेन्द्रभाण्डागार	रसेन्द्रनाथ		
१६१. रसेन्द्रभास्कर	सिद्ध भास्कर		
१६२. रसेन्द्रभास्कर	लक्ष्मीनारायण शर्मा	खेमराज, बम्बई, सं०	१९६७
१६३. रसेन्द्रभैरव	भैरव		
१६४. रसेन्द्रमंगल	नागार्जुन		
१६५. रसेन्द्ररत्नकोष	देवेश्वर उपाध्याय		
१६६. रसेन्द्रविज्ञान	रामादर्श सिंह	चौखम्बा	१९६५
१६७. रसेन्द्रसंभव	विश्वनाथ द्विवेदी	बनारस	सं २०१०
१६८. रसेन्द्रसंप्रदाय	हजारीलाल सुकुल	पटना	१९५५
१६९. रसेन्द्रसंहिता			
१७०. रसेन्द्रसुरप्रभाव	सूरसेन		
१७१. रसेश्वरदर्शन (सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत)	माधवाचार्य		
१७२. रसेश्वरनिधि			
१७३. रसोदय	विनायक		
१७४. रसोपनिषत्			
१७५. रुद्रयामलतंत्र	नागार्जुन	हरिशरणानन्द, अमृतसर	
१७६. लम्पटतंत्र	लम्पट		
१७७. सर्वेश्वररसायन		(तिब्बती ग्रन्थ)	
१७८. सहस्ररसदर्पण	भल्लास्वामी	मथुरा	
१७९. सिद्धलक्ष्मीश्वर तंत्र			
१८०. सुवर्णतंत्र			
१८१. सूतप्रदीपिका			
१८२. सूतराज			
१८३. स्वच्छन्दभैरव	बलभद्र		

षष्ठ अध्याय

अन्य अङ्ग

आयुर्वेद के आठ अङ्ग कहे गये हैं—कायचिकित्सा, शल्य, शालाक्य, कौमारभृत्य, भूतविद्या, अगदतन्त्र, रसायन और वाजीकरण। आत्रेयसंप्रदाय में कायचिकित्सा को प्रधान माना गया है और धान्वन्तर सम्प्रदाय ने शल्य को प्रमुखता दी है। राजनिघण्टु ने द्रव्यगुण, निदान, चिकित्सा, शल्य, भूतविद्या, विषतंत्र, कौमारभृत्य और रसायन ये आठ अङ्ग कहे हैं[1]। स्पष्टतः इन अङ्गों में द्रव्यगुण को आद्य अङ्ग माना है। इस प्रकार कालक्रम तथा सम्प्रदाय के अनुसार अङ्गों के स्वरूप तथा प्राधान्य में अन्तर होता रहा है। आधुनिक काल में पाश्चात्यविज्ञान की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण जब चिकित्साशास्त्र के अनेक नये-नये अङ्ग उभरे तब आयुर्वेद के क्षेत्र पर भी अनायास ही उसका प्रभाव पड़ा। इसी आधार पर आयुर्वेदपञ्चानन पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल आयुर्वेद को षोडशाङ्ग कहते थे।

संप्रति आयुर्वेद के प्रचलित अङ्गों में प्रमुख कायचिकित्सा, द्रव्यगुण, भैषज्यकल्पना एवं रसशास्त्र हैं जिनका यथासम्भव विवरण पिछले अध्यायों में दिया गया है। इस अध्याय में अन्य अवशिष्ट अङ्गों पर प्रकाश डाला जायगा।

मौलिक सिद्धान्त

जिस प्रकार शरीर त्रिस्थूण है उसी प्रकार आयुर्वेद पञ्चभूतवाद, त्रिदोषवाद और सप्तधातुवाद इन तीन मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है। त्रिदोषवाद में प्रकृति आदि तथा सप्तधातुवाद में अग्नि, स्रोत, ओज आदि के सिद्धान्त अन्तर्भूत हैं। इन सिद्धान्तों का आदिस्रोत वेद हैं। वेदों में इन सिद्धान्तों का संकेत मिलता है[2] जिसका विशदीकरण और उपबृंहण परवर्त्ती आचार्यों द्वारा किया गया। वस्तुतः ये सिद्धान्त

१. द्रव्याभिधानगदनिश्चयकायसौख्यं शल्यादिभूतविषनिग्रहबालवैद्यम्।
विद्याद्रसायनवरं दृढदेहहेतुमायुःश्रुतेर्द्विचतुरंगमिहाह शंभुः॥
—राजनिघण्टु, २०।४२

२. देखें पृ० १२–१५
'आपो ह श्लेष्म प्रथमं संबभूव-आप० श्रौ० ६।४

प्राचीन संहिताओं के काय में आद्योपान्त इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि उन्हें पृथक् करना कठिन हैं अतएव प्राचीनों ने इस विषय को स्वतन्त्र अङ्ग के रूप में नहीं रक्खा। यह विषय आधुनिक युग की उपज है। सम्प्रति स्नातकीय तथा स्नातकोत्तर स्थानों में मौलिक सिद्धान्त एक पाठ्य विषय के रूप में निर्धारित है।

मौलिक सिद्धान्तों के विकास की पृष्ठभूमि क्या है इस पर विचार करना चाहिए। प्राचीन काल में ऋषि-महर्षि प्रकृति के निकट सान्निध्य में रहते थे। एक ओर वे उसके इन्द्रधनुषी परिवर्तनों एवं कार्यकलापों को विस्मयविमुग्ध दृष्टि से निहारते थे, तो दूसरी ओर अपनी मर्मभेदी दृष्टि से उनके गूढ़ रहस्यों को हृदयंगम करने का प्रयत्न करते थे तथा इससे उत्पन्न प्रतिक्रिया को वे श्रद्धा-भयमिश्रित रूपों में अभिव्यक्त करते रहते थे। जीवन की सुविधाओं के लिए प्राकृतिक देवताओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए तथा असुरों से रक्षा के लिए प्रार्थना के रूप में वैदिक ऋचाओं का प्रणयन हुआ, किन्तु इसमें भावना का ही प्रभुत्व नहीं रहा प्रत्युत साथ-साथ उन्होंने बुद्धि का भी सहारा लिया जिससे इनके उपायों का अन्वेषण किया गया। रोगों के सम्बन्ध में भी यही बात है। यही कारण है कि ऋग्वेद में ओषधियों का निर्देश अल्प है जब कि अथर्ववेद में इनकी संख्या पर्याप्त बढ़ गई है।

प्रकृति के क्रीडांगण में मानव-शरीर का अवतरण क्यों और कैसे हुआ? यह प्रश्न आदि-मानव को दर्शन की ओर ले गया जिससे मानव-शरीर का निर्माण कैसे हुआ, उसकी जीवन,प्रक्रिया कैसे सञ्चालित होती है, उसमें अनेक विकार क्यों और कैसे उत्पन्न होते हैं तथा उनका निवारण किस प्रकार किया जाय आदि विचार आयुर्वेद के अवतरण का कारण बने। बाह्य प्रकृति के पर्यवेक्षण से उद्भूत तथ्यों का उपयोग ऋषि-महर्षियों ने शरीर के रहस्यों को समझने में किया और शारीरिक तथ्यों का उपयोग प्राकृतिक रहस्यों के उद्घाटन में किया। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर प्रकृति, लोक और पुरुष के साम्य का सिद्धान्त प्रादुर्भूत हुआ।

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ॥—च० शा० ५।१९

इसका स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि चरक ने कहा है :—

"पुरुषोऽयं लोकसंमित इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः यावन्तो हि लोके मूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तः लोके इति।"

"षड्धातवः समुदिता लोक इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा-पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते"।

—च० शा० ५।३, ५

इस प्रकार जब लोक-पुरुष-साम्य का सिद्धान्त निरूपित हो गया तब मानव-

शरीर के रहस्यों को समझने का एक सरल मार्ग मिल गया। पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश इन पंचतत्वों से निर्मित लोक का सञ्चालन जिस प्रकार अदृश्य चेतन तत्व द्वारा होता है उसी प्रकार इन पञ्च महाभूतों तथा आत्मा के समवायरूप षड्धात्वात्मक कर्मपुरुष (मानवशरीर) की अवतारणा की गई। इस प्रकार शरीर का भौतिक और स्थूल रचनात्मक आधार मिल गया किन्तु जीवन के व्यापारों की व्याख्या करने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था। इसके अतिरिक्त, इसके द्वारा निर्जीव और सजीव पदार्थों में भी अन्तर स्पष्ट नहीं होता था, विशेष कर जब आत्मतत्त्व को सर्वव्यापक माना जाता रहा। अतः इस चेतना की अभिव्यक्ति जिन विविध व्यापारों के माध्यम से होती है उनका युक्तियुक्त विश्लेषण अत्यावश्यक हुआ। इसके लिए भी प्रकृति का आधार लिया गया और यह देखा गया कि प्राकृतिक व्यापार किस प्रकार और किन तत्त्वों से सञ्चालित होते हैं। वैदिक काल में इन व्यापारों की दृष्टि से भूः, भुवः और स्वः इन तीनों लोकों के लिए क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य सञ्चालक माने गए हैं। किन्तु आयुर्वेदीय महर्षियों की जिज्ञासा का समाधान इतने से सम्भव नहीं था क्योंकि शरीर में बलाधायक किसी तत्त्व की अपेक्षा फिर भी रह गई। इसके लिए उनकी दृष्टि सोम पर गई। सोम वैदिक युग में बलाधायक रसायन ओषधि के रूप में बहुशः व्यवहृत था जिससे लोग बल, शक्ति और हर्ष प्राप्त करते थे। यह रसाधान का कर्म प्रकृति में चन्द्रमा के द्वारा होता है जो अपनी शीतल और अमृतमय रश्मियों से प्रकृति के कण-कण में शीतलता और रस का संचार करता है। इसीलिए उसे 'सुधांशु' और 'ओषधीश' कहते हैं। इसके अतिरिक्त, कालजन्य ऋतुपरिवर्तनों के द्वारा जिसमें मुख्यतः ताप का अन्तर विशेषरूप से अनुभवगम्य था शीत और उष्ण ये दो गुण स्पष्टतः क्रियाशील प्रतीत हुए जिनके द्वारा शरीर तथा उसके व्यापारों में पर्याप्त परिवर्तन का अनुभव होता था। इस आधार पर वैदिक काल में ही अग्नीषोमीय सिद्धान्त की स्थापना हो चुकी थी। इस प्रकार आग्नेय तथा सौम्य तत्त्व तो स्पष्ट थे ही एक मध्यवर्ती नियामक तत्त्व अपेक्षित था जो वायु के रूप में प्राप्त हुआ। जीवन के मुख्य व्यापार श्वास-प्रश्वास में शरीर में वायु का आवागमन तो स्पष्ट था ही, यह भी देखा गया कि यह शीत-उष्ण के नियामन में प्रमुख भाग लेता है और इस प्रकार योगवाह होने के कारण दोनों के गुणधर्म ग्रहण कर लेता है अतः आदर्श मध्यस्थ है :—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥—च० चि० ३।३८

यह भी अनुभव किया गया कि शीतऋतु में शरीर बलिष्ठ और पुष्ट रहता है तथा ग्रीष्मऋतु में कुछ क्षीण और दुर्बल हो जाता है। यह विसर्ग (रसाधान) और

आदान का कर्म प्रकृति में चन्द्रमा और सूर्य के द्वारा होता है। चन्द्रमा अपनी शीतल-स्निग्ध रश्मियों से प्रकृति में रसाधान करता है तो सूर्य अपनी तीक्ष्ण-प्रचण्ड किरणों से रस का शोषण कर लेता है। इन दोनों क्रियाओं का नियमन गति के माध्यम से वायु के द्वारा होता है जिसे विक्षेप कहा गया है। शीत-उष्ण का संचार तथा रस का यातायात वायु के द्वारा ही संपन्न होता है। इस प्रकार विसर्ग, आदान और विक्षेप ये तीन प्राकृतिक व्यापार क्रमशः चन्द्र, सूर्य और वायु के द्वारा संपन्न होते हैं। इसी आधार पर महर्षियों ने जीवन-व्यापारों के संचालन के लिए तीन तत्त्व स्थापित किए—कफ, पित्त और वात, जो क्रमशः चन्द्र, सूर्य और वायु के प्रतिनिधि रूप हैं और जो शरीर में विसर्ग, आदान और विक्षेप की क्रियाओं का संचालन करते हैं। महर्षि सुश्रुत ने इसको स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है :—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥—सु० सू० २१।६

इस प्रकार प्रकृति-पर्यवेक्षण के आधार पर आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त—त्रिदोषवाद की स्थापना हुई।

यज्ञ में बलि के लिए पशुओं का प्रयोग होता था। उनके शरीर के अंग-प्रत्यंगों का निरीक्षण कर उस आधार पर शरीररचना का प्रारम्भिक ज्ञान विकसित हुआ। प्रकृति में विभिन्न तत्त्वों की साम्यावस्था रहने पर कार्य ठीक-ठीक होता है तथा वैषम्य होने पर कार्यों का संपादन ठीक नहीं होता, इसी आधार पर स्वास्थ्य एवं विकार की कल्पना की गई। तत्त्वों की वृद्धि एवं ह्रास विकार का कारण होता है। जैसे वायु बिलकुल बन्द हो जाय या इतनी अधिक हो जाय कि आँधी-तूफान चलने लगे, ये दोनों ही वैकारिक हैं उसी प्रकार शरीर में वात के क्षय या वृद्धि से तज्जन्य विकार उत्पन्न होते हैं। ठीक इसी प्रकार पित्त (अग्नि) तथा कफ (शीत) के संबन्ध में है। चिकित्सा का भी अत्यन्त सरल लोक प्रचलित मार्ग है—बढ़े हुए को घटाना और क्षीण को बढ़ाना और इस प्रकार उन्हें साम्यावस्था में ले आना। इसका उपाय भी समानता से वृद्धि और विपरीत से ह्रास यथा शैत्य से शीत की वृद्धि और उष्णता का ह्रास। साम्यावस्था और प्रकोपावस्था में लोकगत एवं शरीरगत वात, पित्त और कफ का तुलनात्मक विवरण अत्यन्त सुगम शैली में महर्षि चरक ने (चरकसंहिता सूत्र० १२ अ०) दिया है। बाढ़ के दिनों में नदियों का पानी अपनी सीमा तोड़ कर बाहर फैल जाता है और उस प्रदेश में अनेक उपद्रव करता है उसी प्रकार दोष भी कुपित होकर शरीर में प्रसृत होते हैं :—

"यथा महान् उदकसंचयोऽतिवृद्धिः सेतुमवदार्य अपरेण उदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति। एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा अनेकधा प्रसरन्ति। —सु० सू० २१।२५

ऋतुओं के अनुसार दोषों के प्रकोप और प्रशमन का निरूपण लोकनिरीक्षण के आधार पर किया गया है। वर्षाऋतु में झंझावात की प्रमुखता, शरदृऋतु में कन्या-राशिस्थ सूर्य की प्रखरता तथा वसन्तऋतु में शीत की परिणति को देखकर उन ऋतुओं में क्रमशः वात, पित्त और कफ दोषों के प्रकोप का काल निर्धारित किया गया है।

लोक में जिस प्रकार शस्य की उत्पत्ति ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज के संयोग से होती है उसी प्रकार गर्भ की उत्पत्ति भी इन्हीं घटकों के संयोग से होती है।

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद् विधिपूर्वकः।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादंकुरोयथा ॥—सु० शा० २।२९

बीज के समान शरीरोत्पादक होने से शुक्र एवं रज को बीज संज्ञा दी गई है। गर्भ अंकुर है जिसमें सभी अंग-प्रत्यंग अव्यक्त रूप में होते हैं। बाल्यावस्था पुष्पमुकुलवत् है जिसमें शुक्र रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति प्रतीत नहीं होती।

शरीर में अन्न के पाचन-व्यापार का निरूपण लोक-व्यवहार के आधार पर ही किया गया है। बाहर भोजन बनाने की जो प्रक्रिया है – पात्र में जल रखकर उसमें चावल डालते हैं और उसमें नीचे से अग्नि देते हैं। साथ-साथ पर्याप्त वायु भी लगनी चाहिए—वैसी ही प्रक्रिया की कल्पना शरीरगत भोजन के पाचन में की गई है। आमाशय स्थाली है जिसमें भुक्त अन्न रहता है। जल के लिए क्लेदक कफ की कल्पना की गई है। पित्त अग्नि के स्थान पर है जो अन्न का पाचन करता है तथा समान वायु के द्वारा उसका संधुक्षण होता रहता है। भोजन बनने के बाद ग्राह्य अंश को रख लेते हैं तथा त्याज्य अंश को फेंक देते हैं वैसे ही मल भाग बाहर निकल जाता है और प्रसाद भाग से धातुओं की उत्पत्ति है।

भारत एक कृषिप्रधान देश है। कृषिकर्म में जल की सिंचाई से पौधों की वृद्धि और पोषण प्रत्यक्षतः देखा जाता है। यदि समय पर पानी न मिले तो फसल होना सम्भव नहीं। इसी आधार पर शरीर में रसधातु के संवहन और उससे उत्तरोत्तर धातुओं के निर्माण द्वारा उसके पोषण का निरूपण किया गया है। जल के संवहन के लिए जिस प्रकार नालियाँ बनाई जाती हैं उसी प्रकार शरीर में विविध पदार्थों के संवहन और स्थानान्तरण के लिए स्रोतों की स्थापना की गई है।

इसी प्रकार आयुर्वेद के अन्य क्षेत्रों में भी लोकव्यवहार के आधार पर विषय को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया गया है। आयुर्वेदीय महर्षियों ने प्रकृति-पर्यवेक्षण के द्वारा प्रकृति एवं विकृति के रहस्यों के उद्घाटन का प्रयास किया और विकृति के निवारण के द्वारा पुनः प्रकृति-स्थापन के लक्ष्य तक पहुँचने का उपक्रम किया। सांख्य-

दर्शन की प्रकृति और विकृति आयुर्वेदीय प्रकृति (स्वास्थ्य) और विकृति (रोग) का आधार है। जिस प्रकार विविधवर्णा प्रकृति अपने एकरूप निश्चित लक्ष्य की ओर निरन्तर प्रवाहित हो रही है उसी प्रकार आयुर्वेद भी विविध विकृतियों के पथ से होता हुआ प्रकृति-स्थापन के लक्ष्य की ओर आदिकाल से चला आ रहा है। आयुर्वेदीय महर्षियों ने प्रकृति-पर्यवेक्षण के आधार पर ऐसे मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना की है जो आज भी विज्ञान के लिए मूल्यवान पाथेय हो सकते हैं।[1]

त्रिदोषवाद की उद्भवभूमि क्या है यह अनुसंधान का विषय है। आयुर्वेदीय संहिताओं में तो यह वाद उपजीव्यतया स्वीकृत हैं, किन्तु आयुर्वेद के मूलभूत वैदिक वाङ्मय में किस स्थल से इसका उद्गम हुआ यह एक रोचक विषय है। आयुर्वेदीय संहिताओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि त्रिदोषवाद की स्थापना लोकपर्यवेक्षण के आधार पर एवं लोक-पुरुष-साम्य की भित्ति पर हुई है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है कि सोम, सूर्य और वायु के अनुसार कफ, पित्त और वायु की स्थापना की गई है। आधिदैवत दृष्टि से चन्द्र, सूर्य और वायु जिस प्रकार जगत का धारण करते हैं उसी प्रकार अध्यात्मलोक का धारण कफ, पित्त और वात करते हैं।

वैदिक वाङ्मय में भूः, भुवः और स्वः अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकों के लिए अग्नि, वायु और आदित्य ये तीन देवता स्वीकृत हैं। उपनिषदों के त्रिवृत् में भी तेज, जल और अन्न हैं। त्रिदेव में अग्नि के स्थान पर सोम कब और कैसे आया तथा सोम, वायु और आदित्य का त्रिक, जो त्रिदोष का आधार है, कैसे बना यह विचारणीय है। इसी प्रकार त्रिवृत् में अन्न के स्थान पर वायु आकर तेज, जल और वायु यह त्रिक कैसे और कब बना जिससे त्रिदोष का सिद्धान्त अंकुरित हुआ ?

ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिदेव के अतिरिक्त सोम को भी पर्याप्त महत्व दिया गया था। सोमयाग स्वतंत्र रूप से प्रचलित था, जो इसके महत्व को सूचित करता है। यह बलकारक तत्व है। शतपथब्राह्मण में एक कथा है कि इन्द्र का जब वृत्रासुर के साथ युद्ध होने लगा, तो वे बहुत दुर्बल और श्रान्त हो गये तब बलाधान के लिए सोम का प्रयोग किया गया। इस प्रकार सोम बलाधायक तत्व का प्रतीक है। यह न केवल ओषधियों का राजा है, बल्कि चन्द्रमा से भी इसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इसी आधार पर चन्द्रमा को ओषधीश कहा गया है, जो लोक में रस का

---

१. प्रियव्रत शर्मा: आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का आधार प्रकृतिपर्यवेक्षण, प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, Vol. XI (1), October, 1965.

संचार करते हैं। फिर अग्निषोमीय सिद्धांत के अनुसार भी सोमतत्व की प्रधानता हो जाती है। आग्नेय होने के कारण अग्नि और आदित्य समान हैं अतः आदित्य में ही अग्नि का अन्तर्भाव कर लिया गया होगा और वहां सोम को स्थान दिया गया होगा।

सूर्य एवाग्नेयः चन्द्रमाः सौम्यः।—श० ब्रा० १।५।२।२४

इस प्रकार सोम, सूर्य और अनिल का त्रिक निष्पन्न हुआ होगा जिस आधार पर आयुर्वेदीय आचार्यों ने त्रिदोषवाद की स्थापना की होगी। इसी प्रकार त्रिवृत् में तेज और जल तो अग्नि और सोम के प्रतीक हैं ही, अन्न प्राण रूप होने से वह वायु का प्रतीक हो जाता है। इस प्रकार इसका भी समाधान हो जाता है। अस्तु, जो भी हो, यह मनीषियों के लिए गवेषणा का विषय है।

सम्प्रति त्रिदोष के प्रकोप का विचार कैसे आया यह विचारणीय है। ऋतुओं के अनुसार दोषों के स्वाभाविक प्रकोप का वर्णन आयुर्वेदीय संहिताओं में किया गया है। यथा वर्षा में वायु, शरद् में पित्त तथा वसन्त में कफ का प्रकोप माना गया है। वैदिक काल में यज्ञों का विधान विशेषतः ऋतुसंधियों में होता था, क्योंकि ऋतुसंधियों में अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होती थीं।

गोपथब्राह्मण में ऐसा उल्लेख है :—

ऋतुसंधिषु व्याधयो जायन्ते ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते।

वर्षा, शरद् और वसन्त वस्तुतः ये तीनों ऋतुसंधियाँ हैं। शिशिर और ग्रीष्म के बीच की सन्धि वसन्त है, जब शीत समाप्त होकर उष्णता प्रारम्भ होती है। ग्रीष्म और शरद् के बीच की संधि वर्षा है, जब उष्णता का अन्त होकर सोमतत्व का प्रारम्भ होता है। वस्तुतः यह तेज और जल की सन्धि है। इसी प्रकार उष्णता और शीत की संधि शरद् है। ऋतुओं में पूर्वसंचित दोषों का विरुद्ध तत्व के संयोग से प्रकोप होता है। यथा शीतकाल में संचित सौम्य तत्व (कफ) का प्रकोप उष्णता के संपर्क से वसन्त में होता है। ग्रीष्म में संचित तेजःसमुद्भूत वायु का प्रकोप जलतत्व के संयोग से वर्षा में होता है। इसी प्रकार उष्णता के कारण संचित आग्नेय तत्व (पित्त) का प्रकोप शैत्य के सम्पर्क से शरद् में होता है। इन ऋतुओं में उत्पन्न लक्षणों को देखकर उस आधार पर दोषों के प्रकोप का नियम तथा तदनुसार उनके शमन की व्यवस्था आचार्यों ने निर्धारित की होगी। जैमिनीय ब्राह्मण में संधिकाल में आश्विन उक्थ का विधान है, जो वैद्य अश्विनीकुमारों में सम्बन्ध रखता है।

यत् समदधुः तत् संधेः संधित्वम्। आश्विनं खलु वै सन्धेरुक्थम्॥
—जै० ब्रा० १।२०९

यज्ञ से सम्बद्ध होने के कारण इनकी संज्ञा ऋतु हैं :—

यद् ऋत्वियाद् असृजत् तद् ऋतूनां ऋतुत्वम् ।—जै० ब्रा० ३।१

शतपथब्राह्मण में लिखा है :—

षट् वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः । —श० ब्रा० १।२।३।१२

इस संवत्सर-यज्ञ का समिध वसन्त, अग्नि ग्रीष्म, इड वर्षा, वहिं शरद् तथा स्वाहा हेमन्त है। (श० ब्रा० ११४१४) ऋतुग्रह-प्रकरण (४।२।५) में प्रत्येक ऋतु में विशिष्ट विधान किया गया है। अग्निषोमीय सिद्धान्त के अनुसार तीन मुख्य ऋतुयें मानी गई हैं :—ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त और शेष तीन ऋतुयें इनकी अङ्गभूत बतलाई गई हैं :—

त्रयो ह वा ऋतवोऽनृतवोऽन्ये । ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त एते ह वा ऋद्धा ऋतवः उपाश्लेषग। इवान्ये ।
—जै० ब्रा० २।३६०

शतपथब्राह्मण में वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा को देव-ऋतु और शरद् हेमन्त, शिशिर को पितृ-ऋतु कहा है (२।१।३) इसी आधार पर चरक ने काल को शीतोष्णवर्षलक्षण चन्द्रबल एवंकहा है। यह कफ, पित्त, वात का उपलक्षण है।

ऋतुष्टोमयज्ञ से ऋतुओं की पुनर्नवता होती है। —जै० ब्रा० २।२११

शतपथब्राह्मण में वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा है तथा इन ऋतुओं में क्रमशः ब्रह्मवर्चस्, धन के लिए यज्ञ का विधान किया है :—

तस्माद् ब्राह्मणो वसन्ते आदधीत ब्रह्म हि वसन्तः तस्मात् क्षत्रियो ग्रीष्म आदधीत क्षत्रं हि ग्रीष्मः तस्माद् वैश्यो वर्षास्वादधीत विड्ढि वर्षाः ।
—श० ब्रा० २।१।३।५

श्रौतसूत्रों में दोषप्रकोप के अनुसार वसन्त, वर्षा और शरद् इन ऋतुओं में यज्ञ का स्पष्ट विधान किया है। संवत्सरयाजी दो प्रकार के होते हैं—ऋतुयाजी और चातुर्मास्ययाजी। प्रथम वर्ग के लोग ऋतुओं की प्रधानता से कार्य करते हैं और दूसरे लोग मास की प्रधानता मानते हैं। वसन्त में वैश्वदेव (ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम या सोमयाग) प्रावृट् में वरुणप्रघास तथा शरद् में साकमेध यज्ञ करने का विधान है :—

"ऋतुयाजी वा अन्यश्चातुर्मास्ययाजी अन्यः । यो वसन्तोऽभूत् प्रावृडभूत् शरदभूदिति यजते स ऋतुयाजी । अथ यश्चतुर्षु मासेषु स चातुर्मास्ययाजी वसन्ते वैश्वदेवेन यजते प्रावृषि वरुणप्रघासैः शरदि साकमेधैरिति विज्ञायते।"
—आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ८।१।२८७-८८

वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजते । —आ० श्रौ० १०।१।२६३४

वर्षासु शरदि वादधीत —आ० श्रौ० ५।८।११५०

अग्निष्टोमः प्रथमयज्ञः —आ० श्रौ० १०।१।२६३२

के द्वारा अग्निष्टोम की प्रधानता बतलाई गई है। संभव है, शीतप्रदेश में रहने के कारण वसन्तकाल में कफप्रकोप से विशेष कष्ट का अनुभव होता होगा, वर्षा और शरद् से उतना नहीं अतः वसन्तऋतु और अग्निष्टोम की प्रधानता रक्खी गई हो। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में वर्षा पर विशेष जोर दिया गया है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है, वर्षा कृषि का समय है, अतः उस समय लोगों का स्वस्थ रहना विशेष आवश्यक है। अतः उसका महत्त्व बतलाते हुए यह कहा कि वर्षा में ही सभी ऋतुओं का अन्तर्भाव हो जाता है और वर्षा में यज्ञ अवश्य किया जाय।

"स वै वर्षास्वादधीत। वर्षा वै सर्व ऋतवः।......यदेव पुरस्तात् वाति तद् वसन्तस्य रूपं, यत्स्तनयति तद्ग्रीष्मस्य, यद्वर्षति तद्वर्षाणां यद् विद्योतते तच्छरदो यद् वृष्ट्योद्गृह्णाति तद् हेमन्तस्य।"

—श० ब्रा० २।२।३।७-८

अर्थात्—वर्षाऋतु में यज्ञ करें। वर्षा में सभी ऋतुओं का समावेश है। जो हवा चलती है वह वसन्त का रूप है, जो गरजता है वह ग्रीष्म का, जो बरसता है वह वर्षा का, जो बिजली चमकती है वह शरद का और वर्षा के बाद जो शीतलता आती है वह हेमन्त का रूप है। इस प्रकार एक ऋतु में अंशांशकल्पना द्वारा सभी ऋतुओं का समावेश किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के नवम काण्ड में वातहोम, रुक्मतीहोम तथा वारुणीहोम का लगातार वर्णन है। वातहोम वातशांति के लिए विहित है। रुक्मती होम रूप (कांति) के लिए उपादेय है। कान्ति भ्राजक पित्त का कार्य है अतः यह पित्तसम्बन्धी होम प्रतीत होता है। वारुणी होम वरुणदेवता (जल) से सम्बन्ध रखता है और वीर्यप्राप्ति के लिए विहित है। स्पष्टतः यह कफ की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार दिनरात में छः ऋतुओं का चक्र घूम जाता है और तदनुसार दोषों की स्थिति में भी परिवर्तन आता है। "वयोऽहोरात्रभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्" का वैदिक वाङ्मय में इसका आधार इस प्रकार मिलता है:—

"आदित्यस्त्वेव सर्वऋतवः। यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा यदापराह्णो शरद् यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तः।"

—श० ब्रा० २।१।१।६

यह और सूक्ष्म कल्पना है। दिन में ही छः ऋतुओं का निर्धारण किया गया है। इसी प्रकार रात्रि में भी छः ऋतुओं की कल्पना की जा सकती है। दोषों के सम्बन्ध में साम्यस्थापन का विधान आयुर्वेदीय संहिताओं में दिया है—बढ़े हुए दोषों को घटाना, क्षीण दोषों को बढ़ाना और सम का परिपालन। ऐसा ही एक वचन शतपथ ब्राह्मण में मिलता है:—

"इन्द्र एतत् सप्तचमपश्यत-न्यूनस्याप्त्यै, अतिरिक्तस्यानतिरिक्त्यै, व्यृद्धस्य समृद्ध्यै।"
—श० ब्रा० ६।४।३।१

इन संकेतों से प्रतीत होता है कि ऋतुसंधियों में व्याधियों के होने से उन-उन ऋतुओं में होने वाले विशिष्ट लक्षणों के अनुसार विभिन्न दोषों के प्रकोप का निर्धारण किया गया होगा और उनके लिए यज्ञों की व्यवस्था की गई होगी।[1]

मौलिक सिद्धान्त के क्षेत्र में कोई विशेष परिवर्तन या विकास नहीं हुआ। यह अवश्य है कि समय-समय पर इनका विशदीकरण और विस्तार होता रहा यथा चरक में वात के पाँच प्रकारों के नाम हैं किन्तु आगे चलकर सुश्रुत ने पित्त के तथा वाग्भट ने कफ के पाँच प्रकारों का नामकरण किया। दोषों में तीन (वात, पित्त, कफ) के अतिरिक्त यूनानी चिकित्सक रक्त को भी मानते थे। सुश्रुतसंहिता में इसका संकेत किया है।[2] शार्ङ्गधरसंहिता में रक्तज रोगों की गणना वातादिजन्य विकारों के समकक्ष किया है। यद्यपि चरकसंहिता के विधिशोणितीय अध्याय में इसका संकेत निहित है तथापि यूनानी चिकित्सकों के साहचर्य से बाद में इसका विशदीकरण प्रभावित होने की सम्भावना की जा सकती है।[3]

संहिताओं के टीकाकारों ने सैद्धान्तिक पक्ष की व्याख्या में अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है। इस सम्बन्ध में चक्रपाणि, डल्हण, अरुणदत्त, विजयरक्षित आदि के विचार अवलोकनीय हैं। विजयरक्षित ने अपनी मधुकोष-व्याख्या में दोष के लक्षण तथा कारणत्व पर अच्छा विमर्श किया है।[4] आधुनिक काल में कविराज गंगाधर राय ने शास्त्रीय सिद्धान्तों का विशेषतः दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में विद्वत्तापूर्ण विवेचनात्मक अध्ययन किया है।

वैयक्तिक प्रयत्नों के अतिरिक्त, सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए सामूहिक प्रयास भी आधुनिक काल में हुये। जिस प्रकार प्राचीनकाल में ऋषिपरिषदें[5] आयोजित होती थीं उसी प्रकार की संभाषापरिषदों का आयोजन प्रारम्भ हुआ जिनमें विभिन्न विचारों के विद्वान भाग लेते थे। आधुनिक विज्ञान के प्रचार-प्रसार का प्रभाव यह हुआ कि इन परिषदों में प्राचीन एवं नवीन मान्यताओं में संतुलन एवं समन्वय

---

१. प्रियव्रतशर्मा : त्रिदोषवाद का प्रकोपपक्ष, आयुर्वेदविकास, अप्रैल, १९६५ पृ० ९-११

२. सु० सू० २१।१-२

३. गुप्तकालीन स्थिति के लिए देखें मेरा 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज' पृ० १५-१९

४. देखें प्रस्तुत लेखक की रचना 'दोषकारणत्वमीमांसा' (चौखम्बा, १९५५)

५. च० सू० १,२५,२६, सि० ११

का भी प्रयास किया जाने लगा। निखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के मंच पर तो ऐसी गोष्ठियों का आयोजन होता ही था, इस प्रकार की सर्वप्रथम एवं उल्लेखनीय परिषद् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उसके कुलपति महामना मदनमोहन मालवीय द्वारा संयोजित 'पञ्चमहाभूत-त्रिदोष-चर्चापरिषद्' (२ से ८ नवम्बर तक १९३५) में हुई। इसके दो भाग थे—एक पञ्चमहाभूत के लिए और दूसरा त्रिदोष के लिए। पहले विभाग के अध्यक्ष महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषण तथा दूसरे विभाग के अध्यक्ष कविराज गणनाथसेन थे। मंत्री आचार्य यादवजी थे जिनकी सहायता वामनशास्त्री दातार, दुर्गादत्तशास्त्री और उपेन्द्रनाथदास कर रहे थे। इसमें प्राचीन विद्वानों के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी भाग लिया। इसके निम्नांकित निर्णय हुये—

पञ्चमहाभूतपरिषद्

१. प्रतीच्य वैज्ञानिकों के पदार्थ-वर्गीकरण का दृष्टिकोण एवं मुख्य लक्ष्य प्राचीन ऋषियों के दृष्टिकोण एवं मुख्य ध्येय से अत्यन्त भिन्न है। ऐसा होते हुये भी परिषद् में होनेवाले वादविवाद से हमलोग एक ऐसी भूमिका का अनुभव कर रहे हैं कि आगे चलकर हमलोग ऐसे सम्मेलन के द्वारा किसी एक उपादेय निर्णय को प्राप्त कर सकेंगे जो कि प्रत्यक्ष तथा अनुभवात्मक तर्क पर स्थित हो सकेगा।

२. इस समय तक प्रतीच्य वैज्ञानिकों के द्वारा किये हुये ९२ मूलतत्त्वों एवं तन्मूलभूत विद्युत्कणों के वर्गीकरण की दृष्टि से पञ्चमहाभूत वर्गीकरण सिद्धान्त का विचार करने से परिषद् इस निश्चित मत पर पहुँच चुकी है कि इन वर्गीकरणों का परस्पर कोई विरोध नहीं है।

त्रिदोषपरिषद्

१. त्रिदोषज्ञान सभी आयुर्वेदकार्यों का मूलभूत होने के कारण सप्रयोजन है।

२. वातादि का धातुत्व, दोषत्व और मलत्व अवस्थाविशेष से अभिव्यक्त होता है जो परस्पर अविरुद्ध है।

३-४. सभी प्राकृत कर्मों में कर्तृत्व और नियामकत्व के साथ-साथ स्वतन्त्रतया दूषणशीलत्व दोषत्व है, जो वातादि तीन में ही है अन्यत्र नहीं। अतः दोष तीन ही हैं।

५. शक्ति द्रव्याधिष्ठित होने से उसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती अतः वातादि का शक्तित्व नहीं किन्तु द्रव्यत्व ही है।

६. पित्त और कफ का अवस्थाभेद से स्थूलत्व (चक्षुरिन्द्रियग्राह्यत्व) और सूक्ष्मत्व (चक्षुरिन्द्रियाग्राह्यत्व), वायु का पित्त और कफ की अपेक्षा सूक्ष्मत्व है, 'अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च' इस कथन के आधार पर। उपाधिनिष्ठ वायु का 'नीलनभ' के समान बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व भी है।

७. अदृष्टोपगृहीत पञ्चमहाभूत ही वातादि के उपादान हैं उनकी उत्पत्ति का क्रम चरक शारीरस्थान (अ० ४) में निर्दिष्ट है।

८. वातादि का स्वरूप, गुण और कर्म चरकोक्त ही हैं।

९. वातादि प्रत्येक का पञ्चविधत्व वास्तविक है जो स्थान और कार्य के भेद पर आधारित है। उनके कार्य और स्वरूप का भेद उसी कारण से है।

१०. रोगों के प्रति दूष्यसहित वातादि समवायिकरण, सूक्ष्मरूप में निमित्तकारण और दोषदूष्यसंमूर्च्छना असमवायिकारण है। रोगविशेष के प्रति कीटादि भी निमित्त कारण हैं।

चोपड़ाकमिटी की वैज्ञानिक ज्ञापनसमिति की जो बैठक १५-२२ दिसम्बर १९४७ को हुई उसमें भी मौलिक सिद्धान्तों पर विचारविमर्श हुआ[1]।

पुनः नि० भा० आ० महासम्मेलन के निर्णयानुसार श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा आयोजित पञ्चमहाभूत एवं त्रिदोष पर शास्त्रचर्चापरिषद् २३ से ३१ दिसम्बर तक १९५० में पटना में हुई। इसके अध्यक्ष आचार्य यादवजी तथा मंत्री और संयोजक थे पं० रामरक्ष पाठक। इसका विवरण एवं निर्णय सचित्र आयुर्वेद (फरवरी, १९५१) में प्रकाशित है। आचार्य यादवजी का प्रयत्न इस दिशा में १९०७ से ही चल रहा था। इस प्रकार आधुनिक काल में मौलिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण एवं आधुनिक विज्ञान से समन्वय के कार्य में आचार्य यादवजी ने नेतृत्व प्रदान किया है।

आधुनिक काल में इस विषय पर वाङ्मय का भी सृजन हुआ जिसमें निम्नांकित रचनायें उल्लेखनीय हैं—

१. पञ्चभूतविज्ञानम्—(चौखम्बा, वाराणसी, १९६२, द्वि० सं०)
२. त्रिदोषविज्ञानम्—(वही, १९६६, च० सं०)

इन ग्रन्थों के रचयिता कविराज उपेन्द्रनाथदास हैं। कविराजजी का जन्म ७ अगस्त १८९१ को फरीदपुर जिला (बंगलादेश) के गच्चापाड़ा ग्राम में हुआ था। वह काशी के उमाचरण कविराज के शिष्य थे। दिल्ली के आयुर्वेदीय एवं तिब्बी कालेज में १९२५ से १९५८ तक प्राध्यापक रहे। आप आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् थे। २५ दिसम्बर १९६५ को आपका स्वर्गवास हुआ।

३. त्रिदोषमीमांसा—हरिशरणानन्द (अमृतसर, १९३४)
४. त्रिदोषवाद—भानुशंकर शर्मा (भावनगर, १९३५)
५. त्रिदोपालोक—विश्वनाथ द्विवेदी (पीलीभीत, १९४१)
६. त्रिदोषविज्ञानम्—(जामनगर, १९५१)
७. त्रिदोषतत्त्वविमर्श—रामरक्ष पाठक (वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १९६० द्वि०सं०)

---

१. इसके निर्णय चोपड़ाकमिटी रिपोर्ट, भाग २, पृ० १८३-१९२ पर देखें।

८. त्रिदोषसंग्रह—धर्मदत्तवैद्य[1] (चौखम्बा, १९६८)
९. प्राकृतदोषविज्ञान—कविराज निरञ्जनदेव (आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी, लखनऊ, १९७१)
१०. प्राकृत अग्निविज्ञान— ,, (वही)
११. आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त (गु०)—शोभन (अहमदाबाद, १९६९)

जबलपुर के वी० वी० डेग्वेकर का भी मौलिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में अच्छा योगदान है[2]।

अंग्रेजी में भी कतिपय ग्रन्थ प्रकाशित हुये जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं—

१. The Principles of Tridosa—D. N. Ray
२. The Dosha Siddhant—Lakshmipati
३. Fundamental Principles of Ayurveda (3 Vols, Bangalore, 1952–57)—C. Dwarkanath
४. Inroduction to Kayacikitsa (Popular Book Depot, Bombay, 1959)
५. Digestion and Metabolism in Ayurveda—C.Dwarkanath (Baidyanath Ayurved Bhavan, Calcutta, 1967)

अन्तिम तीन ग्रन्थों के प्रणेता च० द्वारकानाथ का जन्म १९०६ ई० में मद्रास के तंजोर जिले में हुआ। आयुर्वेद की शिक्षा मद्रास के स्कूल ऑफ इण्डियन मेडिसिन में प्राप्त की। तत्कालीन प्राचार्य कैप्टन जी० श्रीनिवास मूर्ति के व्यक्तित्व एवं वैदुष्य से आजीवन प्रभावित रहे। १९४९ में मैसूर आयुर्वेद कालेज के प्राचार्य हुये। तदनन्तर जामनगर आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्र में कायचिकित्सा के प्रोफेसर नियुक्त हुये। वहाँ वर्षों तक कार्य करने के बाद १९५९ में भारत सरकार में देशी चिकित्सा के परामर्शदाता हुये। सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्त विभाग में विजिटिंग प्रोफेसर हैं।

६. Concept of Agni in Ayurveda—Vd. Bhagwan Dash (Choukhamba, Varanasi, 1971)

आयुर्वेद की दार्शनिक पृष्ठभूमि के ऊहापोह एवं चिन्तन-मनन से एक नवीन

---

१. Ayurvedic interpretation of Medicine (1956) भी आपकी रचना है।

२. नि० भा० आयुर्वेदविद्यापीठ-शिक्षासम्मेलन (त्रिवेन्द्रम, २३-५-१९५५) का आपका अध्यक्षीय भाषण देखें।

शाखा 'पदार्थविज्ञान' का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें पदार्थों तथा प्रमाण[1] आदि का विवेचन होने लगा। पाठ्यक्रम में भी यह विषय समाविष्ट हुआ। इस विषय पर निम्नांकित ग्रन्थ प्रमुख हैं—

१. पदार्थविज्ञानम्—पं० सत्यनारायण शास्त्री (इसके कुछ ही फर्में छप सके)

२. पदार्थविज्ञान—रामरक्ष पाठक (वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १९४८)

यह ग्रन्थ अतीव लोकप्रिय हुआ और अनेक वर्षों तक इस विषय का एकमात्र पाठ्यग्रन्थ रहा। पाठकजी का जन्म नयाटोला छपरा (बिहार) में ३१ अक्तूबर १९०६ ई० को हुआ। राजकीय आयुर्वेदिक स्कूल, पटना के आप प्रथम स्नातकों में हैं। १९४४ में गुरुकुल कांगड़ी, आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य हुये। १९४६ में बेगूसराय आयुर्वेदिक कालेज के प्राचार्य हुये। उसी अवधि में १९४९ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त पंडितकमिटी के सदस्य हुये। १९५३ में जामनगर, आयुर्वेदिक अनुसन्धानकेन्द्र में सीनियर फिजिशियन और बाद में निदेशक हुये। १९६४ में वहाँ से विश्राम ग्रहण करने के बाद लंका में बन्दारनायक आयुर्वेदिक अनुसन्धानकेन्द्र के निदेशक पाँच वर्षों तक रहे। आहारविज्ञान, मर्मविज्ञान, त्रिदोषतत्त्वविमर्श, कायचिकित्सा प्रभृति आपकी अन्य रचनायें हैं।

३. पदार्थविज्ञान—काशीकर (बम्बई, १९५३)

४. पदार्थविज्ञान—रणजितराय (वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १९५०)

५. पदार्थविज्ञानम्—वागीश्वर शुक्ल (चौखम्बा, वाराणसी, १९६५)

६. आयुर्वेदीयविज्ञानमीमांसा—प्रसादीलाल झा (कानपुर, १९३३)

७. ,, ,, —महादेव चन्द्रशेखर पाठक (इन्दौर, १९३७)

८. आयुर्वेददर्शनम्—नारायणदत्त त्रिपाठी (इन्दौर, १९३८)

९. पदार्थविज्ञान—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल (प्रयाग, १९५०)

१०. आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—बलवन्त शर्मा (जयपुर, १९५०)

११. आयुर्वेद-दर्शन—राजकुमार जैन (इटारसी, १९७४)

कानपुर के डा० प्रसादीलाल झा ने १९५० में 'दर्शनों और एटामिक फिजिक्स में तुलनात्मक अनुसंधान' शीर्षक निबन्ध भी प्रकाशित किया था।

शारीर

वेदों में शरीर के अनेक अंग-प्रत्यंगों के नाम आते हैं। अस्थियों की संख्या ३६० अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। ऐसा विधान है कि यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु परदेश में अज्ञात रूप से हो जाय तो ३६० पलाशवृन्तों से उसकी प्रतिकृति

१. देखें प्रस्तुत लेखक का लेख—'Epistemology in Ayurveda—Nagarjuna, Dec. 1962, PP. 325–33

बनाकर अन्त्येष्टि कर देनी चाहिए[1]। स्पष्टतः यह अस्थियों की संख्या का ही बोधक है जिससे शरीर का ढाँचा बनता है। डॉ० हार्नले ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ में याज्ञवल्क्यस्मृति आदि में वर्णित तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। शल्यतन्त्र में अस्थियों की संख्या ३०० ही मानते हैं। यह केवल दृष्टिकोण का ही भेद है। अस्थियों के अतिरिक्त, पेशी, नाड़ी, धमनी, सिरा, मर्म, कोष्ठांग आदि का भी विवरण मिलता है। त्वचा के सूक्ष्म छः या सात स्तरों का भी विशद वर्णन (प्रमाण, उनमें होनेवाले विकार आदि के साथ) किया गया है। मर्मों का विस्तृत वर्णन जैसा सुश्रुत में मिलता है वैसा यद्यपि चरक में नहीं है तथापि त्रिमर्मीय प्रकरण का वर्णन चिकित्सा और सिद्धि दोनों स्थानों में करने से यह स्पष्ट है कि इनका महत्त्व चरक भी मानते थे। मर्मस्थानों का परिपालन स्वस्थवृत्त का एक आवश्यक अङ्ग था। स्रोतों का विचार भी दोनों सम्प्रदायों में अपनी-अपनी दृष्टि से किया है। फिर भी यह स्पष्ट है कि शल्य-संप्रदाय में शारीरज्ञान अधिक विकसित हुआ।

शरीररचना का ज्ञान महर्षियों ने कैसे प्राप्त किया होगा इसकी कल्पना सरल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ में पशुओं[2] की बलि के प्रसंग में उसके विभिन्न अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। गाय की पीठ की ओर से दोनों वृक्कों को निकालने का उल्लेख है (कौषीतक गृह्यसूत्र ५।३।३)। वृक्कों को निकाल कर हाथ में लेने का विधान है (वृक्का उद्धृत्य पाराद्योरादधाति—आ० गृ० ४।३।२०, का० श्रौ० २५।८।३४)। इसके अतिरिक्त, विभिन्न शारीर अवयवों के नाम भी मिलते हैं[3]। मर्मों का संकेत जैमिनीय ब्राह्मण (३।३५१) में किया है (एवमेव हृदये पादौ अधिहतौ, तौ यद् आच्छिन्नत्यथ म्रियते)। चरक ने त्रिमर्म पर विशेष बल दिया है, सुश्रुत ने १०७ मर्मों का विशद वर्णन किया। सुश्रुत में संक्षिप्त रूप में शवच्छेद का वर्णन उपलब्ध होता है[4]। उस स्थूल विधि से सूक्ष्म अवयवों का ज्ञान संभव नहीं है। अङ्गों की आभ्यन्तर रचना का वर्णन न होने से यह स्पष्ट है कि उन्हें काट कर नहीं देखा गया। ऐसी स्थिति में शारीर की ऐसी भूमिका प्रस्तुत

---

१. कौषीतक गृह्यसूत्र ५।६।५-६; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ९।३।५६, का०श्रौ० २५।८।१५।

२. युरोप में भी १३०० ई० तक पशुच्छेद के द्वारा शारीर का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। उसके बाद ही शवच्छेद प्रारम्भ हुआ।
—Hall : A Brief History of Science, PP. 113–123, New york, 1964

३. कौ० सू० ३४।४४-४५; बो० श्रौ० ४।८-९; आप० श्रौ० ७।७।२२।६; आ० श्रौ० उ० ६।९, बृहज्जातक (५।२४) में भी अनेक अवयवों के नाम हैं।

४. सु० शा० ५।४६

करना विस्मयजनक है जिससे डा० हार्नले जैसे आलोचक मनीषियों को भी चमत्कृत हो जाना पड़ा है। वस्तुतः यह तपःपूत महर्षियों की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का ही सुफल है अन्यथा उस युग में भौतिक साधनों के अभाव में ऐसे परिणामों की कल्पना भी अशक्य है। यद्यपि कभी-कभी यह सन्देह होता है कि सुश्रुत के काल में शवच्छेद प्रचलित था या नहीं (देखें पृ० ६८) किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि शारीरज्ञान के लिए शवच्छेदन आवश्यक समझा जाता था विशेषतः शल्यशास्त्रियों के लिए (सु० शा० ५।४३-४५)। और सम्भवतः इसी संप्रदाय में शवच्छेद प्रचलित था। इसी कारण चरकसंहिता में शवच्छेदन का वर्णन नहीं मिलता। शारीरशास्त्र का विशेष महत्त्व आज भी शल्यशास्त्र के अध्ययन के लिए समझा जाता है। सुश्रुतोक्त शवच्छेद वर्णन अन्य चिकित्सापद्धतियों की तुलना में प्राचीनतम भी अवश्य है।

शारीर के लिए सुश्रुत ही वैद्यसमाज का अवलम्बन रहा (शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः)। कोई नया ग्रन्थ नहीं लिखा गया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मध्यकाल में इसकी परम्परा समाप्त हो गई। प्रत्यक्ष का आधार न होने के कारण प्राचीन विचारों में कोई संशोधन करना शक्य नहीं था। किन्तु तान्त्रिकों ने षट्चक्र, नाड़ी, हृदय आदि पर गंभीर विचार कर शारीर को एक नया रूप दिया[1]। बर्नियर (१६५६–१६६८) ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है—"भारतीय ब्राह्मण (वैद्य) शारीर का ज्ञान नहीं रखते। वे मनुष्य या पशु का शवच्छेद नहीं करते। जब मैं किसी बकरे या भेड़ का छेदन करता तो लोग आश्चर्य या भय से भाग खड़े होते। (पृ० ३३९)

शारीर के क्षेत्र में भोजकृत ग्रन्थ तथा भास्करभट्टकृत शारीरपद्मिनी (१६७९ ई०) का नाम लिया जाता है[2]। अरुणदत्त ने अष्टांगहृदय (अ० ३) की टीका में शारीर के अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। शार्ङ्गधर की आढमल्लव्याख्या तथा गूढार्थदीपिका में भी ऐसे पद्य मिलते हैं। ये कहाँ से लिये गये, कहना कठिन है।

आधुनिक काल में शारीर में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया क० गणनाथसेनकृत प्रत्यक्षशारीरम् के प्रकाशन (कलकत्ता, १९१३) से। सेनजी की मान्यता थी कि जहाँ प्रत्यक्षविरोध पड़े वहाँ प्रतिसंस्कर्ता के प्रमाद की कल्पना कर पाठसंशोधन कर देना चाहिए और प्राचीनों ने जो सूत्रशैली में विषय का निर्देश किया है उसका विशदीकरण आधुनिक शारीरशास्त्र के तथ्यों से करना चाहिए। आधुनिक शारीर के तथ्यों को ही संस्कृत भाषा में रूपान्तरित कर इस ग्रन्थ में निबद्ध किया गया है।

---

१. गुप्तकालीन वाङ्मय में भी शारीर के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य मिलते हैं। देखें मेरा 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज', पृ० १९-३२

२. देखें—जॉली के इण्डियन मेडिसिन पर काशीकरकृत परिशिष्ट। दासगुप्तः हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, अ० १३, पृ० ४३५

महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन का जन्म आश्विन कृष्ण सप्तमी, सं० १९३४ (१८७७ ई०) को काशी में हुआ। इनके पिता विश्वनाथ कविराज काशी में ही आयुर्वेदाध्यापन एवं चिकित्सा करते थे। १९०३ में कलकत्ता मेडिकल कालेज से एल. एम. एस. की उपाधि प्राप्त की। १९०८ में एम. ए. (संस्कृत) उत्तीर्ण हुये। आयुर्वेद का गहन अध्ययन करने के बाद कलकत्ता में चिकित्साकार्य प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में आपका यश देश भर में फैल गया। आप नि० भा० आयुर्वेदमहासम्मेलन के तीन बार (१९११, १९२०, १९३१) अध्यक्ष हुये। १९१६ में आप महामहोपाध्याय की पदवी से विभूषित हुये। आयुर्वेद के शिक्षण में आपका महत्त्वपूर्ण नेतृत्व था। कलकत्ता में अपने पिता के नाम पर स्थापित विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय के तो आप अध्यक्ष थे ही, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद-संकाय के आप १९२७ से १९३८ तक अध्यक्ष रहे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयोजित त्रिदोषसंभाषापरिषद् (१९३५) के आप अध्यक्ष थे। प्रत्यक्षशारीरम् के अतिरिक्त सिद्धान्तनिदानम् (कलकत्ता, १९२६), संज्ञापञ्चकविमर्श (कलकत्ता, १९३१), शारीरपरिभाषा (कलकत्ता, १९३९) आदि आपकी रचनायें हैं। आपका स्वर्गवास १९४५ में हुआ।

प्रत्यक्षशारीरम् का अनुवाद हिन्दी और अन्य कई क्षेत्रीय भाषाओं में हुआ। इसका गुजराती अनुवाद डा० बालकृष्ण अमरजी पाठक ने किया। तीन खण्डों में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ। प्रथम भाग की विस्तृत भूमिका में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री निहित है।

आयुर्वेद की जो समन्वयवादी धारा प्रवाहित हुई उसके मूर्धन्य नेता कविराज गणनाथसेन थे। रूढ़िवादी पण्डित इनसे सहमत नहीं थे। बंगाल में इनकी मान्यताओं का विरोध करते थे कविराज ज्योतिषचन्द्र सरस्वती और काशी में डा० भास्कर-गोविन्द घाणेकर भी इनकी अतिवादी प्रवृत्तियों से सहमत नहीं थे। डा० घाणेकर का कथन था कि शीघ्रता में आधुनिक विज्ञान के प्रभाव में आकर प्राचीन आर्ष वचनों पर हमें आक्षेप नहीं करना चाहिए बल्कि उसके समाधान का प्रयत्न करना चाहिए चाहे वह कठिन ही क्यों न हो। गणनाथसेन सुश्रुत-शारीर के आपातिक विरोधाभासों के कारण 'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः' के बदले 'शारीरे सुश्रुतो नष्टः' कहना पसन्द करते थे जब कि घाणेकरजी की मान्यता थी कि—

'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठो न च नष्टः कथञ्चन।
व्याख्याने तु परं कष्ट इति मे निश्चिता मतिः॥

—प्राक्कथन, सुश्रुतशारीरव्याख्या

डाक्टर घाणेकर ने इसी शैली पर सुश्रुतसंहिता के शारीरस्थान पर व्याख्या[1] लिखी जो विद्वत्समाज द्वारा शिरसा समादृत हुई। अभी तक इसका महत्त्व अक्षुण्ण बना है। घाणेकर जी इसी व्याख्या के कारण आयुर्वेद-जगत् में लोकप्रिय हो गये। सुश्रुत सूत्रस्थान की भी व्याख्या ऐसी ही उत्तम है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान के ग्रन्थों को भी आपने हिन्दी में लिखा है जिनमें स्वास्थ्यविज्ञान, औपसर्गिक रोग, रक्त के रोग आदि प्रमुख हैं[2]।

दक्षिणभारत में वैद्यरत्न पी. एस. वारियर ने शारीर के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने अष्टांगशारीरम् लिखा (१९२५) तथा बृहच्छारीरम् (१९४२) की भी रचना की जिसका थोड़ा ही अंश प्रकाश में आ सका। वैद्य वारियर आर्यवैद्यशाला, कोट्टकल के संस्थापक थे। आपका जन्म १८६९ में हुआ था। भारत सरकार द्वारा १९३३ में वैद्यरत्न की उपाधि से सम्मानित हुये थे।

पुरुषोत्तमशास्त्री हिर्लेकर ने 'सारीरं तत्त्वदर्शनम्' प्रकाशित किया (अमरावती, १९४२)।

प्रत्यक्षशारीरम् के स्थान पर अनेक महाविद्यालयों में आधुनिक शारीर के हिन्दी भाषा में रचित ग्रन्थ प्रचलित थे। इनमें त्रिलोकीनाथ वर्मा का 'हमारे शरीर की रचना' (प्रयाग, १९१६) तथा मुकुन्दस्वरूपवर्माकृत 'मानवशरीररचनाविज्ञान' (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) प्रमुख हैं। शवच्छेद के लिए हरिस्वरूपकुलश्रेष्ठकृत 'अभिनव शवच्छेदविधि' उत्तम ग्रन्थ है। मर्मों के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन कर मद्रास आयुर्वेद विद्यालय के उपाध्यक्ष पी० वी० कृष्णराव ने एक उपयोगी ग्रन्थ की रचना की[3]। इसी आधार पर रामरक्ष पाठक ने मर्मविज्ञान लिखा (चौखम्बा, १९४९)। कलकत्ता के डा०. धीरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी आयुर्वेद पर एक समन्वयात्मक पुस्तक लिखी (कलकत्ता-मद्रास, १९५१)।

आचार्य यादवजी द्वारा प्रेरित एवं वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा आयोजित तृतीय शास्त्रचर्चापरिषद् शारीरशास्त्र पर दिल्ली में (२०-२९ जून, १९५८) और पुनः रतनगढ़ में (६-१० नवम्बर, १९५८) सम्पन्न हुई। इसके अध्यक्ष काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शारीरमर्मज्ञ प्राध्यापक पं० दामोदरशर्मा गौड़ थे। इसमें

---

१. मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९४० (प्र० सं०), चौखम्बा, वाराणसी (१९५० द्वि० सं०)

२. देखें पृ० २२४

३. Comparative study of the Marmas.

डा० राव का जन्म गोदावरी जिला में १८८९ में हुआ। मद्रास मेडिकल कौलेज से एम० बी० बी० एस० हुये। वहीं कुछ वर्षों तक अध्यापक रहने के बाद स्कूल ऑफ इण्डियन मेडिसिन में आये। आयुर्वेद का अध्ययन कर उपाधि प्राप्त की।

शारीरसंज्ञाओं के अर्थ निश्चित किये गये जो 'पारिषद्यं शब्दार्थशारीरम्' (वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता, १९६४)। इसकी विस्तृत भूमिका रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ने लिखी है। ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने 'शारीरविनिश्चय' लिखा था जो प्रकाशित न हो सका।

'मानव-शारीर पर एक नवीन ग्रन्थ दिनकर गोविन्द थत्ते (प्राध्यापक, आयुर्वेद कालेज, लखनऊ) का आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी, लखनऊ से प्रकाशित हुआ है। पं० दामोदरशर्मा गौड़ का 'अभिनवशारीरम्' वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा सद्य प्रकाशित हुआ है।

कुछ विद्वानों ने आयुर्वेदेतर वाङ्मय से शारीर की सामग्री संकलित की जिससे महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है[1]।

जहाँ तक शरीरक्रिया का प्रश्न है, प्राचीन संहिताओं में रक्तसंवहन, पाचन, मूत्रनिर्माण आदि क्रियाओं का निर्देश उपलब्ध होता है। पाचन में त्रिविध अवस्था-पाक तथा पाचनक्रिया में समानवायु, पाचकपित्त और क्लेदक कफ का सहयोग पूर्णतः विज्ञानसंमत है।

सन् १६२८ई० में विलियम हार्वे (१५७८-१६५७) ने रक्तसंवहन का अनुसन्धान किया। उसने यह देखा कि हृदय के संकोच के द्वारा रक्त धमनियों में प्रविष्ट होता है और शरीर की धातुओं में परिभ्रमण करता हुआ सिराओं द्वारा पुनः हृदय में लौट आता है। इस प्रकार रक्त के चक्रवत् परिभ्रमण का उसने निरीक्षण किया। हृदय की विशिष्ट रचना तथा उसमें और सिराओं में कपाटों की विशिष्ट व्यवस्था भी इस रक्तसंवहन के पक्ष में प्रमाणस्वरूप थी। इसके अतिरिक्त अपने सिद्धान्त की पुष्टि में निम्न प्रमाण उसने दिये :—

१—धमनियों के क्षत से रक्त स्पन्दन के साथ निकलता है, जब कि छिन्न सिराओं से सतत और सम प्रवाह होता है।

२—बाहु को हलके बाँधने से सिराओं द्वारा रक्त का प्रत्यावर्त्तन रुक जाने के कारण बाहु में शोथ उत्पन्न हो जाता है। यदि उसीको कसकर बाँधा जाय, तो धमनियों और सिराओं दोनों में रक्त-प्रवाह अवरुद्ध होने के कारण बाहु में शोथ तो उत्पन्न नहीं होता, बल्कि नाड़ी में क्षीणता तथा बाहु में शैत्य देखा जाता है।

इतना होने पर भी हार्वे को धमनियों और सिराओं के पारस्परिक सम्बन्ध का

---

1. B. B. Mishra : Human Anatomy according to the Agni Purana, I. J. H. S., Vol. 5, No 1, 1970.
Jyotirmitra : A Study of Anatomical Material in Visuddhimagga of Buddhaghosa, Sachitra Ayurved, March, 72.
P. V. Sharma : Indian Medicine in the Classical Age, PP.19-32

ज्ञान नहीं था। उनका अनुमान था कि वे अंगों में स्थित विशिष्ट छिद्रों के द्वारा परस्पर संबद्ध हैं। इस सम्बन्ध में १६६१ ई० में मैलपिजी (Malpighi) ने केशिकाओं का अनुसंधान कर इस कठिन समस्या का समाधान किया। उन्होंने बतलाया कि केशिकाओं के द्वारा धमनियाँ और सिरायें परस्पर संबद्ध हैं। १६६८ ई० में लिन वेनहिक (Leen wenhoek) ने सूचमदर्शक यन्त्र की सहायता से मेंढक के चरणजाल में केशिकाओं द्वारा रक्तसंवहन प्रदर्शित भी किया।

इसमें संदेह नहीं कि रक्तसंवहन के इस अद्भुत अनुसन्धान के कारण आधुनिक शरीरक्रिया-विज्ञान में एक नवीन क्रान्ति का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु हजारों वर्ष पूर्व आयुर्वेदीय संहिताओं में ऐसे वचन मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि प्राचीन मन्त्रद्रष्टा महर्षियों को शरीर में रक्तसंवहन का अत्यन्त स्पष्ट ज्ञान था। इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त होंगे—

हृदो रसः निःसरति तत एव च सर्वतः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात्तत्प्रभवाः सिराः॥

—भेलसंहिता

इस श्लोक में रस शब्द रक्त का भी वाचक है। इसका अभिप्राय यह है कि रक्त हृदय से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में फैलता है और पुनः सिराओं द्वारा हृदय में लौट आता है।

"स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्।"

—सु० सू० १४।११

अर्थात् रस शब्द, तेज तथा जल के सञ्चार की तरह समस्त शरीर में अत्यन्त सूचम रूप से अनुधावन करता है। डल्हण के अनुसार शब्दसन्तान से रस का तिर्यग्गामित्व, अर्चिःसन्तान से ऊर्ध्वगामित्व तथा जलसन्तान से अधोगामित्व सूचित होता है। रस रक्त में मिलकर हृदय से महाधमनी में जाता है और वहाँ से वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है; एक भाग महामातृका धमनी के द्वारा शिर में (ऊर्ध्वगामी), दूसरा भाग अक्षाधरा धमनी के द्वारा ऊर्ध्वशाखाओं में (तिर्यग्गामी) तथा तीसरा भाग अवरोहणी महाधमनी के द्वारा अधःशाखाओं में (अधोगामी) जाता है इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। इसके अतिरिक्त शब्दार्चिर्जल-सन्तान की उपमा से केशिकाओं के द्वारा रसनिःस्यन्दन की अनेक भौतिक विधियाँ यथा—Diffusion, Osmosis इत्यादि का भी संकेत मिलता है—

"ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात् सिराः।"—च० सू० ३०।१२

कविराज गणनाथसेन ने इसकी व्याख्या अपने 'प्रत्यक्षशारीरम्' में निम्न प्रकार से की है :—

"धमानं रक्तस्य बलाद् विक्षेपणं, स्रवणं स्यन्दनम्, सरणं मृदुगत्या हृदयाभिमुखं चलनमिति प्राचामभिसन्धिः सुस्पष्टः । स्रोतःपदं चात्र जालकपरम् ।"

—प्रत्यक्षशारीरम्, धमनीखण्ड

इस एक ही वाक्य में धमनियों, कोशिकाओं तथा सिराओं का पारस्परिक सम्बन्ध और रक्तसंवहन का कितना स्पष्ट विवेचन है।

"रस गतौ-अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः" "तस्य च हृदयं स्थानं स हृदयाच्चतुर्विंश-तिर्धमनीरनुप्रविश्य", "द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः"

—सुश्रुतसंहिता सू० १४

अर्थात्—"रस प्रतिक्षण गतिशील है। उसका स्थान हृदय है और वहाँ से धमनियों में प्रविष्ट होकर अपनी शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में उसी प्रकार फैलता है, जिस प्रकार वृक्ष के पत्र में सूक्ष्म सिरायें फैली हैं।"

शतपथब्राह्मण तथा तदन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् में आगत हृदय शब्द का निर्वचन भी प्राचीन आयुर्वेदज्ञों के हृदय तथा रक्तसंवहन-सम्बन्धी ज्ञान को अभिलक्षित करता है—

"तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति, हृ-इत्येकमक्षरम्,
द-इत्येकमक्षरम्, यमित्येकम्"
एवं हरतेर्ददातेरयतेर्हृदयशब्दः-निरुक्त (दुर्ग)

—शतपथ ब्राह्मण १४।८।४।१

'हृदय' शब्दमें तीन धातु हैं—हृ, दा और इण्। इन तीन धातुओं से बना 'हृदय' शब्द हरण, दान और अयन (गति) इन तीन क्रियाओंको सूचित करता है। अर्थात् हृदय रक्त का आहरण, सर्वधातुओं को रक्तप्रदान और संकोचप्रसारात्मक गतियां करता है—

"समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः।"—वा० सं०

अर्थात्—"जिस प्रकार समुद्र में नदियों के द्वारा जल पहुँचता है, उसी प्रकार तुम्हारे हृदय में ओषधिरूप (शरीरपोषणसमर्थ) रक्तधातु प्रविष्ट हो।" इस मन्त्र में हृदय की उपमा समुद्र से दी गई। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार नदियों का मूल कारण तथा निवेश स्थान दोनों समुद्र ही है, उसी प्रकार रक्तवह स्रोत भी हृदय से निकलते हैं और फिर उसी में मिल जाते हैं। इससे भी चक्रवत् रक्तसंवहन का संकेत मिलता है—

"अपो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णु कम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणां दृतेरिव।"—अथर्ववेद

अर्थात्—"हे ईर्ष्याग्रस्त पुरुष ! तुम्हारे हृदय में स्थित मन से ईर्ष्या को दूर करता हूँ—जैसे भाथी से ऊष्मा बाहर होती है।"

इस मन्त्र में हृदय की उपमा भस्त्रिका दी गई है। जिस प्रकार भस्त्रिका के संकोच-प्रसार के द्वारा वायु का आवागमन जारी रहता है, उसी प्रकार हृदय के संकोच-प्रसार से भी रक्त का संवहन (आयात-निर्यात) निरन्तर होता रहता है। एक समय में पाश्चात्य विद्वान भी धमनियों को वातपूर्ण समझते थे और उसी आधार पर रक्तसंवहन का प्रतिपादन करते थे। इसीलिये धमनी की संज्ञा 'Artery' है। लिखा भी है—

"धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ।"

यहाँ पर वायु से तन्त्र-यन्त्रधर वायु का ही ग्रहण करना चाहिये।

"यत्सारमादौ गर्भस्य यच्च गर्भरसाद्रसः।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा॥" च० सू० ३०।१०

अर्थात्—"जो गर्भ की आद्यावस्था में सारभूत वस्तु है, जो गर्भ का उपस्नेहन करने से रस कहलाता है और जो संपूर्ण शरीर में घूमता हुआ हृदय में पुनः प्रविष्ट होता है।"

उपर्युक्त श्लोक की द्वितीय पंक्ति में चक्रवत् रक्तसंवहन का स्पष्ट निर्देश मिलता है।

"यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः।
तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः॥"

—चरकसंहिता सू० ३०।११

अर्थात् "जो शरीरपोषक धातुओं का सार है तथा जहाँ प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। उनका फलरूप ओज होने से तथा शरीर में अनेक प्रकार के व्याप्त होने के कारण धमनियों की संज्ञा "महाफला" है।" पं० ज्योतिषचन्द्र सरस्वती अपनी 'चरक प्रदीपिका' में लिखते हैं :—

"सिराद्वारेणैव सर्वधातुभ्य आकृष्टमोजो हृदि गन्तुं प्रभवति इति सिराणां तत्फलत्वं सिध्यति।"

अभिप्राय यह है कि सब धातुओं से ओज सिराओं के द्वारा हृदय में पहुँचता है और वहाँ से ओजोवहा धमनियों के द्वारा संपूर्ण शरीर में भ्रमण करता है :—

"ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः।" च० सू० ३०।८

'महाफला' में 'फल' पद का व्यंग्यार्थ यह है कि जिस प्रकार फल से बीज और बीज से फल यह चक्र वनस्पति के धारणपोषण के लिए जारी रहता है, उसी प्रकार रक्तसंवहन का चक्र शरीर के धारणपोषण के लिए निरन्तर चलता रहता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आयुर्वेदज्ञ महर्षियों की रक्तसंवहन तथा उसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूर्ण वैज्ञानिक धारणा थी।[१]

रक्तसंवहन का यह कार्य विक्षेपकर्मा व्यानवायु के द्वारा संपन्न होता है।[२]

मूत्रनिर्माण के सम्बन्ध में भी सूत्र रूप में वर्णन है।[३]

प्रारम्भ में आयुर्वेदिक कालेजों में मुकुन्दस्वरूप वर्माकृत 'मानवशरीररहस्य' (२ खंडों में) चलता था किन्तु वह केवल आधुनिक विज्ञान का हिन्दी संस्करण था अतः आयुर्वेद के जिज्ञासु छात्रों को उससे तृप्ति नहीं होती थी। यह कार्य पूरा हुआ रणजितराय देसाई के 'शरीरक्रियाविज्ञान' (वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता, १९४६) के प्रकाशन से। इस ग्रन्थ में बड़ी ही सुन्दर रीति से आयुर्वेद एवं आधुनिक विज्ञान के तथ्यों को एक सूत्र में पिरोया गया है। यह अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ और इसके कई संस्करण निकल चुके। प्रस्तुत लेखक द्वारा रचित 'अभिनव शरीरक्रियाविज्ञान' चौखम्बा, वाराणसी द्वारा १९५४ में प्रकाशित हुआ। इसका द्वितीय परिवर्धित संस्करण १९६२ में निकला। तृतीत संस्करण निकलने जा रहा है।

प्रकृति के संबन्ध में पाटणकरकृत देहप्रकृतिविज्ञान जामनगर से १९६०-६१ में प्रकाशित हुआ है।[४]

स्वस्थवृत्त

वेदों में स्वस्थ रहकर दीर्घायु की कामना की गई है। सूर्य, अग्नि, जल, वायु आदि के द्वारा रोगोत्पादक राक्षसों और क्रिमियों के विनाश का निर्देश है[५] आयुर्वेदीय संहिताओं में इसका विशद वर्णन है। आयुर्वेद के दो उद्देश्य कहे गये हैं—स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगी के विकार का शमन। प्रथम उद्देश्य

---

१. प्रियव्रत शर्मा : संहिताओं में रक्तसंवहन का संकेत, सचित्र आयुर्वेद, वर्ष १, अंक १।

२. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा।
—च० चि० १५।३७

रसो यः स्वच्छतां यातः स तत्रैवावतिष्ठते।
ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्ने देहे प्रपद्यति॥—अ० हृ० सू० १२
(सर्वांगसुन्दरा)

३. देखें :—Ghanekar : The Concept of Formation of urine in Ayurveda
Report of the Panel Discussion on urine and urinary disorders.
J. R. I. M, Vol V, No 2, 1971

४. और देखें—Geoffrey Hodson : The Seven Human Temperaments, Adyar, Madras, 1956

५. देखे पृ० १६–१७

स्वस्थवृत्त के अन्तर्गत आता है। आयुर्वेद पुरुष के पूर्ण देहमानस स्वास्थ्य पर बल देता है। यह केवल रोगों के प्रतिषेध के लिए निषेधात्मक स्वरूप का नहीं है अपितु पुरुष को अपनी प्राकृतिक स्थिति में रखकर (स्व+स्थ) उसके बल, वर्ण ओज आदि की वृद्धि का उपाय करता है। अत एव आयुर्वेदोक्त स्वस्थ-लक्षण[1] विश्व का एक अद्भुत आविष्कार है। आयुर्वेद वैयक्तिक स्वस्थवृत्त पर विशेष बल देता है क्योंकि इसकी मान्यता है कि यदि पुरुष स्वस्थ है तो बाह्य और आभ्यन्तर हेतु इसमें विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। धातुसाम्य स्वास्थ्य है इसका अर्थ यह है कि इससे निज विकार तो उत्पन्न नहीं ही होंगे आगन्तु विकार भी असामर्थ्य का अनुभव करेंगे। आयुर्वेद क्षेत्र को प्रमुखता देता है, बीज को नहीं। यदि क्षेत्र प्रतिकूल और कठोर है तो बीज पड़ने पर भी वे सूख जायेंगे, अंकुर उत्पन्न नहीं होंगे। यही कारण है कि आयुर्वेद में वैयक्तिक स्वस्थवृत्त का विस्तार से वर्णन किया गया है: ब्राह्ममुहूर्त्त में उठने से लेकर रात में सोने तक दन्तधावन, अभ्यंग, व्यायाम, स्नान, आहार आदि का विशद विचार किया गया है। इसे दिनचर्या कहते हैं। रात्रिचर्या में मैथुन और शयन का विधान है। इसी प्रकार ऋतुचर्या प्रकरण के अन्तर्गत किस ऋतु में कैसा रहन-सहन होना चाहिए इसका उपदेश है। इस प्रकार दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या इस त्रिदण्ड पर वैयक्तिक स्वस्थवृत्त अवलम्बित है।

इसी प्रकार आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य ये तीन शरीर के उपस्तम्भ कहे गये हैं[2]। आहार के विषय में विस्तृत एवं सूक्ष्म विचार आयुर्वेद में किया गया है जो आधुनिक विज्ञान में नहीं मिलता। सर्वग्रह और परिग्रह के द्वारा आहारमात्रा के प्रसंग में सन्तुलित आहार का विधान है[3]। कौटिल्य अर्थशास्त्र[4] में भी 'आर्यभक्त' का उल्लेख है जो सन्तुलित आहार का ही रूप है। इसके अतिरिक्त, प्रकृति, करण, संयोग राशि, देश, काल, उपयोक्ता और उपयोगसंस्था इन आठ आहारविधि-विशेषायतनों का विचार किया गया है[5]। षड्रसों के साथ-साथ आहारद्रव्यों के गुणकर्म विस्तार से वर्णित हैं। चरकसंहिता के एक ही श्लोक[6] में पुरुष के लिए आवश्यक सभी आहारतत्त्वों का निर्देश कर दिया गया है यथा—

---

१. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यधीयते ॥ सु० सू० १५।३३

२. त्रय उपस्तम्भाः शरीरस्य-आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति—च० सू० ११।३५

३. च० वि० १।२१(४); अन्नस्य कुडवः, सूपस्य पलं, मांसस्य द्विपलमित्यादि—चक्र०

४. २।१५।२५-२६

५. च० वि० १।१८-३८

६. षष्टिकान् शालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्।
आन्तरीक्षं पयः सर्पिः जांगलं मधु चाभ्यसेत् ॥—च० सू० ५।१२

१. षष्टिक, शालि	=	कार्बोहाइड्रेट
२. मुद्ग	=	प्रोटीन
३. सैन्धव	=	लवण
४. आमलक	=	विटामिन
५. यव	=	सेलुलोज
६. आन्तरीक्ष (जल)	=	शुद्ध जल
७. दुग्ध-घृत	=	स्नेह
८. मधु	=	शर्करा

महानस (Kitchen) और उसके कर्मचारियों की विभिन्न श्रेणियों का भी वर्णन है। राजा के महानस का अध्यक्ष सुकुलोत्पन्न वैद्य होना चाहिए। सविष अन्न की परीक्षा की भी विस्तृत विचार किया गया है।[1]

अन्न प्राण कहा गया है तो जल जीवन है। शुद्ध जल के सेवन पर बल दिया गया है। आन्तरिक्ष जल सर्वोत्तम माना गया है। जलपात्र ताम्र का होना चाहिए अन्यथा मिट्टी का। शुद्धता के कारण गंगाजल का विशेष महत्व है। राजा तथा अन्य समृद्ध व्यक्ति कहीं भी हों गंगाजल मँगा कर सेवन करते थे। इसके लिए राजाओं के यहाँ एक स्वतंत्र विभाग ही रहता था। मुगलसम्राट् अकबर सदा गंगाजल का ही सेवन करता था और इसके लिए एक पूरा विभाग कार्यरत रहता था जिसे आवदार खान कहते थे। इसमें विश्वस्त अधिकारी और कर्मचारी रक्खे जाते थे। पात्रों में पानी भर कर मुहरबन्द कर दिया जाता था। जब दरबार आगरा और फतेहपुर में होता तो पानी सोरों से आता और जब सम्राट् लाहौर में होते तो हरद्वार से पानी लाया जाता। भोजन पकाने के लिए आन्तरिक्ष जल या यमुना या चेनाब का पानी व्यवहृत होता था किन्तु इसमें भी थोड़ा गंगाजल मिला लिया जाता। पानी ठंढा करने के लिए शोरा का प्रयोग होता था। १५८६ ई० से बर्फ से पानी ठंढा किया जाने लगा। यह उत्तरी पहाड़ों से प्राप्त किया जाता था[2]।

जल के प्रसादन, शीतीकरण और अधिवासन की विधियाँ प्राचीन ग्रन्थों में मिलती हैं। सुश्रुत में प्रसादन, निक्षेपण और शीतीकरण की विधियों का वर्णन है जो अन्यत्र नहीं मिलता।[3] सरोवरगत जल के विषाक्त होने पर उसके शोधन की विधि भी है[4]।

दुग्ध और घृत के नियमित सेवन को महत्व दिया गया है। इससे रसायन का फल मिलता है—'क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्—च० सू० २५।३८

१. सु. क. १
२. आईन-ए-अकबरी, पृ० ५८-५९
३. सु. सू. ४५।६-११
४. वही, क. ३।११-१४

इसी प्रकार भूमि और वायु-शोधन की विधियाँ भी हैं। प्राचीनकाल में विविध यज्ञों से यह कार्य सम्पादित होता था जिसमें गुग्गुलु, जटामांसी आदि रक्षोघ्न द्रव्य जलाये जाते थे। गोपथब्राह्मण ने तो इस रहस्य का यह कह कर उद्घाटन ही कर दिया कि ऋतुसन्धियों में अधिकांश व्याधियां होती हैं अतएव ऋतुसन्धियों में अधिकांश यज्ञ किये जाते हैं।[1] वायु के विपाक्त होने पर दुन्दुभिस्वनीय विधि से वायुगत विष का निराकरण किया जाता था[2]।

इतना होने पर भी मरक फैलते थे जिनसे जनपदोद्ध्वंस होता था, गाँव के गाँव उजड़ जाते थे[3]। चरकसंहिता के जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय (वि० ३) में इसका सम्यक् वर्णन है। भूमि, वायु, जल और काल के दूषित हो जाने के कारण मरक फैलते हैं। इसका मूल कारण अधर्म बतलाया गया है। जनता अपने स्वास्थ्यसंबंधी उपदेशों पर ध्यान नहीं देती और राज्य भी अपने सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी कर्त्तव्यों पर ध्यान नहीं देता तभी ऐसी दुःस्थिति उत्पन्न होती है। इसके निवारण के उपाय भी कहे गये हैं।

सञ्चारी (औपसर्गिक) रोगों की धारणा स्पष्ट थी। कुष्ठ, ज्वर, शोथ, नेत्राभिष्यन्द आदि रोग औपसर्गिक रोगों के साथ परिगणित हैं (पृ० २३७)। ऐसे संसर्गंत दोषों की शान्ति का विधान कौशिकसूत्र (३७।४६-४९) में दिया है। ऐसे रोगों को छिपाने पर दण्ड दिया जाता था।[4] ऐसे रोगियों के साथ याज्ञवल्क्य ने विवाहसंबंध निषिद्ध किया है[5]। अर्थशास्त्र ने भी कुष्ठ, व्रण आदि से पीड़ित व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने का निषेध किया है।[6]

जनपदोद्ध्वंस या मरक में स्थानपरित्याग का विधान है। महामारी फैलने पर लोग उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाते थे। इसके अतिरिक्त, दैवव्यपाश्रय उपचार होते थे[7]। देवी-देवताओं की पूजा होती थी। शीतला रोग में शीतला देवी की पूजा तथा शीतलास्तोत्र का पाठ किया जाता था[8]। हैजा में भी

१. देखें पृ० २२
२. वही, क. ३।१५-२२; क० ६
३. देखें पृ० २३७
४. द्विपदचतुष्पदानां तु कुष्ठव्याधिताशुचीनामुत्साहस्वास्थ्यशुचीनामाख्याने दण्डः। —अर्थशास्त्र ३।१५।
५. स्फीतादपि न सञ्चारिरोगदोषसमन्वितात्—या० स्मृ० आचाराध्याय, ५४
६. अव्यवहार्याः राजश्रोत्रियग्रामभृतककुष्ठव्रणिनः—अर्थशास्त्र, ३।११।१४
७. सु. सू. ६।१८
८. भावप्रकाश—शीतलाप्रकरण

सामूहिक रूप से देवी की पूजा होती थी। मलेरिया में भूताभिषंग होने पर तदर्थ उपाय किया जाता था। इन सब में सामूहिक रूप से यज्ञ किये जाते थे जिनसे कीटाणुओं का नाश होता था और वायुशुद्धि होती थी। गोपथ-ब्राह्मण ने जो यह कहा कि ऋतुसंधि में रोग होते हैं और उसी काल में यज्ञ किये जाते हैं इसका रहस्य यही है। इसके अतिरिक्त, वैयक्तिक सद्वृत्त तथा स्वस्थवृत्त के नियमों के पालन पर भी बल दिया जाता था क्योंकि महामारी फैलने पर भी दुर्बल व्यक्ति ही अधिकतर शिकार होते हैं "दैवो दुर्बलघातकः"। शीतला रोग के प्रतिषेध के लिए सम्भवतः छापने की परम्परा भी किसी न किसी रूप में थी। यह कार्य मालियों के सम्प्रदाय में होता था।[1] ब्रिटिश सरकार के तत्त्वावधान में जब टीका लगाने का कार्य प्रारम्भ हुआ तब माली ही इसमें आगे आये।

सामाजिक स्वस्थवृत्त में सद्वृत्त[2] का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसका वर्णन तो है ही, स्मृतियों और धर्मसूत्रों में भी इसे धार्मिक रूप दिया गया जिससे इसके पालन में अपरिहार्यता आ जाय। इस प्रकार भारतीय सामाजिक स्वस्थवृत्त में आयुर्वेद और धर्मशास्त्र दोनों का सहयोग है। सद्वृत्त का स्वयं पालन तथा दूसरों के लिए इसका उपदेश एक धार्मिक कर्त्तव्य था जिसका पालन भारत की धर्मप्राण जनता श्रद्धा से करती थी। उदाहरण के लिए, कुष्ठ, चेचक आदि रोगों में धार्मिकता का पुट देकर स्वतः ऐसे औपसर्गिक रोगियों का पृथक्करण हो जाता था। आचार-रसायन से सदाचारी को रसायन का फल मिलता है।

कुष्ठ, उन्माद, क्लैब्य आदि रोगों से पीडित व्यक्तियों के प्रति घृणा प्रदर्शित करने वालों के लिए दण्ड का विधान है (अर्थशास्त्र० ३।१८।४)। मलमूत्र आदि की सफाई सावधानी से की जाती थी। इस सम्बन्ध में लापरवाही करने वाले दण्डित होते थे (वही, २।३६।१७; ३।१९।३)। यौन जीवन भी नियंत्रित एवं अनुशासित

---

१. बुकनन ने इस कार्य में ६००-७०० व्यक्तियों को संलग्न देखा जो सफलतापूर्वक कार्य करते थे। संस्थाल परगना के सौतारों में भी यह प्रथा थी। देखें—

F. Buchanan : An Account of the District of Purnea in 1809-1810, B. O. R., Patna, 1928, P. 187.

Idem : An Account of the District of Bhagalpur, B. O. R., Patna, 1930, P. 44

जहाँगीर ने भी चेचक, प्लेग, जलसंत्रास (हाथियों का), यक्ष्मा का उल्लेख किया है। देखें—तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ४४२, २४२-२४३, ३२६-३२७, ३३०, ११४४, भाग २. पृ० २०३, ६५, ६६,

२. च० सू० ८।१९-२९; सु० चि० २४।८७-९८

महाभारत, अनुशासन० अ० १०४

था। इस सम्बन्ध में भी मिथ्या आचरण करने वालों को दण्ड दिया जाता था। (देखें—अर्थशास्त्र० ४।१३।२४; या० स्मृ० व्यवहार० २८९, २९३; प्रायश्चित्त० २७८; कामसूत्र० ५।६।२।५; बृ० संहिता० ४६।५६; ८६।६६)।

ग्रामयोजना, नगरयोजना, पानी के निकास आदि पर भी प्राचीनों ने विचार किया था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से जो भग्नावशेष उपलब्ध हुये हैं उससे यह पता चलता है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भी नगरयोजना पर्याप्त समुन्नत थी। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के उत्खनन से भी भूमिगत पक्की नालियाँ मिली हैं।[1] वास्तुविद्या के ग्रन्थों में भवनों के आरोग्यकर निर्माण की विधि वर्णित है। यह भी बतलाया है कि ग्राम में कहाँ पर किस वर्ण और वृत्ति के लोग रहें। इस प्रकार समस्त सामाजिक जीवन पर हितपरक विचार किया गया।[2]

आयुर्वेद के अष्टांग में यह परिगणित नहीं है। आधुनिक काल में इसका विकास हुआ है। इस विषय पर एकमात्र ग्रन्थ पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री का उपलब्ध है। इनके द्वारा विरचित स्वस्थवृत्तसमुच्चय शिवरात्रि सं० १९८६ (१९२९ ई०) को पूर्ण हुआ और १९३० में प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका आचार्य यादवजी ने लिखी। १९७३ में इसका आठवां संस्करण निकला है। इसमें स्वस्थवृत्त-सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों से तथ्यों के संकलन के अतिरिक्त नवीन विचार भी संस्कृत भाषा में निबद्ध कर प्रस्तुत किये गये हैं[3]।

आयुर्वेदोक्त औषधालय, प्रयाग के संचालक राजवैद्य पं० जगन्नाथ शर्मा ने 'आरोग्यदर्पण' पाँच खण्डों में प्रकाशित किया था जिसमें स्वस्थवृत्त के साथ-साथ चिकित्सा का वर्णन भी है। प्रथम खण्ड का तृतीय संस्करण १८९३ में और पञ्चम खण्ड १८९८ में प्रकाशित हुआ था।

क्षेमेन्द्रकृत चारुचर्या (चौखम्बा, १९६३) में दिनचर्या एवं सद्वृत्त का वर्णन है। दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, कृतान्न आदि का विस्तृत वर्णन दत्तरामसंकलित चर्याचन्द्रोदय (खेमराज, बम्बई, १९०४) में है। दामोदरशर्मागौड़कृत आयुर्वेदादर्श-संग्रह (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९५१) में सद्वृत्त तथा आयुर्वेदीय आदर्शों का सुन्दर संकलन है। इसी प्रकार का एक संकलन रणजितरायकृत आयुर्वेदीय हितोपदेश है (वैद्यनाथ आ० भवन, १९५५)। अपर्णा चट्टोपाध्याय के अनेक लेख स्वस्थवृत्त

---

१. इण्डियन नेशन (पटना), ५ अप्रिल, १९७५, पृ० ५

२. देखें—P. V. Sharma : Concept of Preventive and Social Medicine in Ayurveda, Nagarjune, November, 1972.
वही, इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज, पृ० ४३-५३

३. इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में देखें पृ० २८१। इनका जन्मकाल १५ जून १९०१ है।

करने में सफल नहीं हो पाते। वैदिक वाङ्मय में ही इसका बीज हम पाते हैं।[1] शतपथब्राह्मण से ही च्यवन की कथा आती है जो रसायनराज च्यवनप्राश का आधार है। 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार, न जीर्यति' अथर्ववेद (१०।८।३२) के इस मन्त्र में मनुष्य के अजर-अमर बनने की लालसा निहित है जो रसायन की आधारशिला है[2]। रसायन यदि अमर न बना सके तो अजर और दीर्घायु तो बना ही दे। वृद्धावस्था में मनुष्य कुछ भी कर सकने में असमर्थ हो जाता है और शरीर भार हो जाता है अतः जरा का प्रतिषेध होकर (Geriatrics) पुरुष की सशक्त युवावस्था बनी रहे यही रसायन का लक्ष्य है। इसी कारण इसे वयःस्थापन भी कहते हैं। वृद्धावस्था आने पर भी उसे दूर कर पुनः युवावस्था ला दे यह भी वर्णन के आधार पर इसका उद्देश्य ज्ञात होता है।

रसायन का जो लक्षण दिया गया है उसमें आधुनिक दृष्टि से निम्नांकित तीन बातों का समावेश होता है :—

१. रक्तादिधातुगत परिवर्तन (धातुवृद्धिजनक)
२. व्याधिक्षमत्वगत परिवर्तन (व्याधिप्रतिषेधक या व्याधिनिवारक)
३. अन्तःस्राव (हार्मोन) गत परिवर्तन (शक्तिदायक)

सभी संहिताओं में रसायन का प्रकरण मिलता है। चरक और सुश्रुत में दिव्य ओषधियों का इस कार्य में प्रयोग है। ऋग्वेद में जो सोम का वर्णन है वही आगे चल कर पूरे रसायन का प्रतीक बना। प्राणि-शरीर में रस का संचार करने के कारण रसायन और ओषधियों में रस का सञ्चार करने के कारण सोम (चन्द्रमा) ओषधीश कहलाया। गुप्तकालीन वाङ्मय में रसायन का उल्लेख बहुशः मिलता है[3]। परवर्ती ग्रन्थों में भी ऐसे कल्प मिलते है। रसायन औषधियों का ऐसा प्रयोग जो कायाकल्प कर दे 'कल्प' कहा गया। नावनीतक में अनेक कल्प इस प्रकार के हैं। मध्यकाल में भी अनेक स्वतन्त्र कल्पग्रन्थ लिखे गये[4]। सोढलकृत गदनिग्रह में भी अनेक कल्पों का समावेश है[5]। सोमेश्वरकृत मानसोल्लास (१२वीं शती) में भी राजा को रसायनसेवन का उपदेश किया गया है।[6]

---

१. देखें पृ० ९-१०, २१
२. जैमिनीय ब्राह्मण (१।५१) में एक जरामूरीय सत्र है जिसका विधान जरा और मृत्यु से बचने के लिए किया गया है—'एतद् ह वै सत्रं जरामूरीयम्। जरया वा ह्येवास्मान् मुच्यते मृत्युना वा।'
३. देखें मेरा 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज', पृ० ९९-१०१
४. देखें द्रव्यगुणप्रकरण अ० ५
५. देखें पृ० २८९
६. भाव्यं पथ्याशिना नित्यं नीरुजो जायते ततः।
व्याधिभिर्वर्जितो राजा राजकार्यक्षमो भवेत्॥

संबन्धी प्रकाशित हुये हैं[1]। वाल्मीकिरामायण, महाभारत तथा बौद्ध ग्रन्थों में तत्संबन्धी तथ्यों का संकलन डा० ज्योतिर्मित्र ने किया है।

आधुनिक हायजीन को हिन्दी में निबद्ध कर मुकुन्दस्वरूप वर्मा और भास्कर गोविन्द घाणेकर ने 'स्वास्थ्यविज्ञान' ग्रन्थ लिखे। पहले ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण १९४८ में और दूसरा ग्रन्थ १९२९ में निकला था।

व्यक्तिशः इस क्षेत्र में कार्य करनेवालों में अग्रणी थे डा० लक्ष्मीपति। १९५८ में इन्होंने आरोग्य-यात्रा प्रारम्भ की और गाँव-गाँव घूमकर आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त (अभ्यंग, स्नान, आसन, सद्वृत्त आदि) का प्रचार करते थे। आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त को ऊपर उठाने तथा प्रचलित करने में इनका बड़ा योगदान है। डा० ए० लक्ष्मीपति का जन्म १८८० ई० में आन्ध्र के पश्चिमी गोदावरी जिले में हुआ। बी० ए० करने के बाद मद्रास मेडिकल कालेज के स्नातक बने। मद्रास आयुर्वेद कालेज में सर्जरी के प्रोफेसर हुये। उस समय वहाँ डी० गोपालाचार्लु प्राचार्य थे जिनकी प्रेरणा और संगति से आयुर्वेद के अध्ययन की ओर आपका झुकाव हुआ। आप शरीर-संस्कार के प्रेमी थे, स्वयं भी व्यायाम करते और उसका प्रदर्शन कर लोगों में रुचि भी उत्पन्न करते। महात्मा गाँधी के साथ भी उन्होंने कार्य किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर एक आरोग्यसेना का संगठन आपने किया था। गोपालाचार्लुजी के निधन के बाद आप कालेज के प्राचार्य नियुक्त हुये। सेवानिवृत्त होने पर मद्रास में आन्ध्र आयुर्वेदिक फार्मेसी तथा अवाडी में आरोग्याश्रम की स्थापना की। अन्त में कुछ समय के लिए त्रिवेन्द्रम आयुर्वेदिक कालेज के प्राचार्य भी रहे। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के आप सक्रिय सदस्य रहे और दो बार उसके अध्यक्ष चुने गये (१९३३, १९५७)। आपका स्वर्गवास १९५९ में हुआ। आयुर्वेद की वाङ्मय-अभिवृद्धि में भी आपका बड़ा योगदान रहा। 'आयुर्वेद-शिक्षा सीरीज' के अन्तर्गत लगभग एक दर्जन पुस्तकें अंग्रेजी में प्रकाशित की। इनके आयुर्वेदिक इनसाइक्लोपिडिआ के दो खण्ड १९५९ में प्रकाशित हुये। तेलुगु में भी आपने अनेक ग्रन्थ लिखें। आपकी रचनाओं की पूरी सूची उपर्युक्त इनसाइक्लोपिडिया के भीतरी आवरण पृष्ठ पर दी हुई है।

रसायन

समस्त धातुओं को आप्यायित कर शरीर और मन को पूर्ण स्वस्थ रखना रसायन का उद्देश्य है। रोगों के प्रतिषेध की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है यद्यपि निवारण में भी यह कार्यकर होता है। यह ऊर्ज्स्कर विधान है जिससे शरीर में ओज की वृद्धि होकर व्याधिक्षमत्व समृद्ध होता है जिसके कारण रोग शरीर को आक्रान्त

1. नागार्जुन, अगस्त एवं दिसम्बर १९६७; जुलाई १९६८, जनवरी १९६९; J. O. I. B. Vol. XVII, No 1, September, 1967

इस विषय पर स्वतंत्र ग्रन्थ कम ही लिखे गये। पक्षधर झा का रसायनतन्त्र चौखम्बा, वाराणसी से १९७१ में प्रकाशित हुआ है।

वाजीकरण

वाजीकरण के अनेक प्रसंग वेदों में उपलब्ध होते हैं[१]। परवर्ती ग्रन्थों में औपनिषदिक प्रकरण के अन्तर्गत वाजीकरण के योग दिये गये हैं[२]। कामव्यापार (सेक्स) गुप्त होने के कारण सम्भवतः 'औपनिषदिक' (रहस्यात्मक) विशेषण दिया गया है। यौन जीवन को सुखी बनाना तथा स्वस्थ-प्रशस्त सन्तति का उत्पादन वाजीकरण का उद्देश्य है। स्वस्थ पुरुष के लिए विधान है कि वाजीकरण का सेवन करने के बाद मैथुन करे जिससे यौन सुख तो प्राप्त हो ही, अनावश्यक शुक्रक्षय भी न होने पावे, सम्भावित क्षय की आपूर्त्ति पहले ही कर ली जाय। विशेषतः कामशास्त्र के ग्रन्थों में इसका वर्णन किया गया है। कुचुमारतन्त्र, अनंगरंग, पञ्चसायक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। अद्यतन कामप्रधान युग में वाजीकरण की प्रभूत उपयोगिता है। परिवारनियोजन के अपर पक्ष को यह समृद्ध करेगा जिससे वस्तुतः सन्तुलित परिवार-नियोजन हो सकेगा।

मध्यकालीन ग्रन्थों में लिंगवृद्धि, योनिगाढीकरण, स्तनकठिनीकरण, रोमशातन आदि के लिए अनेक योगों का विकास हुआ है।

अगदतन्त्र

विष और निर्विषीकरण के विचार अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं[३]। आश्वलायन श्रौतसूत्र (उ० ४।७) में परिगणित विद्याओं में विषविद्या भी है। कौशिकसूत्र (२९।२–५; ३२।१९) में विषभैषज्य का वर्णन है।

महाभारत में काश्यप और तक्षक का संवाद-प्रसंग अवलोकनीय हैं (आदि पर्व, ४२।३३–४१, ४३।१–१९; ५०।१७-२७)। इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण (३।५१) में धन्वन्तरि और नागदेवी मनसा के संवाद-प्रकरण से तत्कालीन विषवैद्यक की स्थिति

तस्माद् रसायनान् योगान् यत्नात् सेवेत पार्थिवः।
दृढगात्रो भवेत् तेन वलीपलितवर्जितः॥
जीवेच्च सुचिरं कालं राजा रोगविवर्जितः।
तस्माद् रसायनं वक्ष्ये—२।१।१०-१३

१. देखें—पृ० ९-१०; २१-२२। कौशिकसूत्र (३७।१४-१६) में पुरुष के लिए वृष्य विधान तथा शिश्नस्थूलीकरण की विधि बतलाई है।

२. कामसूत्र, सप्तम अधिकरण; बृहत्संहिता (वराहमिहिरकृत) का कान्दर्पिक अध्याय।

३. देखें—पृ० १९

का ज्ञान होता है। बौद्धों की जांगुली देवी कालान्तर में 'मनसा' हो गईं[१]।

चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं में भी जांगम एवं स्थावर विषों के लक्षणों तथा चिकित्सा का वर्णन है। विष ओज को आक्रान्त कर प्राण का हरण करता है। कुछ विष सद्यःप्राणहर तथा कुछ कालान्तरप्राणहर (दूषीविष) होते हैं। प्राचीनकाल से ही राजाओं और सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन हमेशा खतरे में रहता है। उनके शत्रु विषप्रयोग द्वारा उनकी हत्या करने की ताक में रहते हैं। अतः अनेक प्रकार से विषप्रयोग करने के माध्यमों और विषनिवारण के उपाय बतलाये गये हैं। हत्या के लिए विषकन्या का भी प्रयोग मिलता है[२]। विषकन्या का क्या स्वरूप था यह स्पष्ट नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी सुन्दरी कन्या के योनिप्रदेश तथा अधरों, स्तनों आदि पर विष का लेप कर देते थे जिसके सम्पर्क से भोक्ता पुरुष के शरीर में विष का सञ्चार हो जाता था।

सुश्रुत ने स्थावर एवं जांगम विषों का वर्गीकरण विस्तार से किया है। कौटिल्य ने मादक विषों के लिए 'मदन' शब्द दिया है और अनेक स्थलों पर मदनयोगों का उल्लेख है।

विष की आशुकारिता देखकर इसका प्रयोग चिकित्साकार्य में भी होने लगा। सर्वप्रथम वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में विषोपयोगिक अध्याय (उत्तरस्थान, ४८) में इसका प्रारम्भ किया है। तान्त्रिकों ने रसशास्त्र के साथ-साथ विषविद्या तथा विषोपयोग दोनों को आगे बढ़ाया। यह महत्त्व की बात है कि 'रस' शब्द पारद के साथ-साथ विष का भी वाचक है और रसशास्त्र के ग्रन्थों में विष का प्रकरण भी है।

विशेषतः जांगम विष की चिकित्सा में मन्त्र और औषध दोनों का प्रयोग होता था। विषापहारक मन्त्रविद् गारुड मन्त्रों से सर्पविष का निवारण करते थे। बौद्धतंत्र में विषविद्या की देवी जांगुली थी अतः उसे सिद्ध करनेवाले वैद्य जांगुलिक कहलाते थे[3]। बाणभट्ट के साथियों में एक जांगुलिक था। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में

---

१. The Hindus are indebted to the Buddhists for borrowing gods like Mahācinatārā, Janguli, and Vajrayogini under the names of Tārā, Manasā and Chhinnamastā respectively.
—B. T. Bhattacharya, the Indian Buddhist Iconography: (Oxford University Press. 1924). Foreword.

२. सु. क. १।४

३. सर्पभये मन्त्रैरोषधिभिश्च जाङ्गलीविदश्चरेयुः—कौटिल्य० ४।३।२१
और देखें—विनयतोष भट्टाचार्यकृत साधनमाला (बड़ौदा, १९२५) भाग १, पृ० २४६-२४७

शास्त्रों की जो सूची दी है उसमें एक सर्पविद्या है। यही विषविद्या का मौलिक रूप है। कादम्बरी में 'विषापहरण' का उल्लेख है। सर्प के काटने से बहुत लोग मरते थे अतः इसके उपचार का उपाय यथासम्भव मन्त्र और औषध द्वारा किया जाता था[1]। वाग्भट ने इस प्रकरण में नग्नजित्, विदेहपति, आलम्बायन, धन्वन्तरि, कौटिल्य, उशना, काश्यप, शंकर, अस्थिक आदि आचार्यों को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि उस काल में इनके तन्त्र प्रचलित थे। सुश्रुत ने अनेक खनिज और वानस्पतिक विषों का वर्णन किया है। वाग्भट ने हरताल और धतूरे के विष का भी वर्णन किया है। सुश्रुत (क० ७।४०-६३) में जलत्रास रोग का विशद वर्णन है। इसे अलर्क-विष भी आचार्यों ने कहा है। सर्पविष के अतिरिक्त, पागल, सियार, कुत्ते आदि के काटने से उत्पन्न यह रोग भी एक समस्या बनी थी।

विषचिकित्सकों का एक पृथक् सम्प्रदाय था। दक्षिण भारत में आज भी ऐसे चिकित्सक विशेष रूप से प्रतिष्ठित हैं।

अगदतंत्र पर उपर्युक्त आचार्यों के ग्रन्थ थे[2] जो उपलब्ध नहीं है। सम्प्रति पं० रमानाथ द्विवेदी का ग्रन्थ प्रचलित है (चौखम्बा, १९५३)।

न्यायवैद्यक (व्यवहारायुर्वेद)

न्यायवैद्यक की सामग्री स्मृतियों में उपलब्ध हो सकती है किन्तु ऐसे मामलों के निर्णय में वैद्य का प्राविधिक स्थान कहाँ तक था यह संशयास्पद है। सम्भवतः ऐसे निर्णय राजाओं द्वारा अन्य पारिस्थितिक साक्ष्यों के आधार पर किये जाते थे। इस कारण यह अंग उपेक्षित रहा। कौटिल्य में मृत्यूत्तर परीक्षण (Postmortem examination) का वर्णन मिलता है[3]। सुश्रुत (सू० २७) में जल में डूबने, गला घोंटने तथा फांसी लगाने का उल्लेख और चिकित्सा का विधान है। धूमोपहत (दम घुटना) का भी वर्णन है। (सु० सू० १२।२५-३३)। आग्निवेश्य गृह्यसूत्र में अपमृत्यु से बचने के लिए अपमृत्युञ्जय कल्प का विधान है। सम्भवतः तत्कालीन राजव्यवस्था में न्यायवैद्यक का कुछ स्वरूप अवश्य होगा। ये आज पूर्णतः उपलब्ध

---

1. गुप्तकालीन विषवैद्यक की स्थिति के सम्बन्ध में देखें लेखक का 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज', पृ० ९४-९८
2. देखें पृ० १५५
3. इस सम्बन्ध में कौटिल्य अर्थशास्त्र का यह प्रकरण (अधिकरण ४, अध्याय ७) अवलोकनीय है। इसमें विभिन्न स्थितियों से मृत्यु के कारणों का ज्ञान करने का वर्णन है। इस प्रसङ्ग में आत्महत्या, नरहत्या तथा मृत्यु के विविध कारणों का भी उल्लेख है।
   वाल्मीकीय रामायण (अयोध्याकांड, ६६।१४) में दशरथ के शव को तैलद्रोणी में सुरक्षित रक्खा गया था इसका उल्लेख है।

नहीं है। यद्यपि वैद्यसाक्ष्य का संकेत स्पष्ट नहीं मिलता तथापि आशुमृतकपरीक्षण के विवरण से यह पता चलता है कि वैद्य को इस परीक्षा का भार दिया जाता था और परीक्षण का प्रतिवेदन वैद्य राजा को देता था। कुष्ठ और उन्माद में चिकित्सकों को प्रमाण माना गया है[1]। इससे स्पष्ट है कि इन या ऐसे ही अन्य रोगों में चिकित्सकों का प्रमाणपत्र आवश्यक होता था। फिर भी मुकदमे में वैद्य साक्षी नहीं होते थे। साक्षित्व से दूर रहने का आदर्श था (सु० चि० २४।९८)।

सम्प्रति आधुनिक चिकित्साविज्ञान के प्रभाव से यह विषय प्रादुर्भूत होकर आयुर्वेदिक कालेजों के पाठ्यक्रम में समाविष्ट हो गया। इसके लिए अंगरेजी ग्रन्थों के ही संक्षिप्त रूपान्तर हिन्दी में प्रस्तुत किये गये। युगलकिशोर गुप्त का व्यवहारायुर्वेद और विषविज्ञान (चौखम्बा, १९६८, पञ्चम संस्करण)।

भूतविद्या

भूतविद्या का मूल स्रोत अथर्ववेदीय अथर्वाङ्गिरस कृत्य हैं। उस काल में यह बड़ा प्रबल था किन्तु चरक के काल में यद्यपि युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा व्यवस्थित हुई तथापि दैवव्यपाश्रय उपक्रम भी समानान्तर चलते रहे। भूत-प्रेत, पिशाच-राक्षस इनका रोगों की उत्पत्ति में अदृष्ट कारणत्व माना जाता था। विशेषतः मानस रोगों (उन्माद, अपस्मार आदि) की उत्पत्ति में इनकी कारणता प्रमुख थी। अतः संहिताओं में भूतविद्या के प्रसङ्ग में इन रोगों का वर्णन है। शल्यतन्त्र में भूतों से व्रणों की रक्षा करने का विधान है। अतः आधुनिक विद्वानों में कुछ भूतविद्या से मानस रोगों का ग्रहण करते हैं और कुछ भूत से जीवाणु का ग्रहण कर जीवाणुविज्ञान लेते हैं। ऐसे विकार जिनमें अप्रत्याशित लक्षण सहसा उत्पन्न हों और जिनका हेतु बोधगम्य न हो उसे अदृष्ट भूतजन्य माना जाता था। सभी चिकित्साशास्त्रों की प्रारम्भिक स्थिति ऐसी ही रही है, अदृष्ट कारणों का महत्त्व सदा रहा है और जब स्थिति मानव की पकड़ में नहीं आती तो भूतों की ओर ध्यान जाता है। यही भूतविद्या का आधार है। आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में इसका वर्णन किया गया है और इसमें युक्तिव्यपाश्रय के साथ-साथ दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का भी विधान किया गया है।

प्रसूतितन्त्र एवं स्त्रीरोग

प्राचीन काल में प्रजोत्पादन का विशेष महत्त्व था जिस प्रकार आजकल प्रजा-निरोध का। प्रजोत्पत्ति का स्रोत एवं माध्यम के रूप में गर्भिणी, प्रसूति, स्त्रीरोग आदि का विचार किया गया है क्योंकि बिना स्त्री के स्वस्थ रहे तथा प्रसव सफलतापूर्वक हुये सन्तति का प्रादुर्भाव अभीष्ट रूप में नहीं हो सकता। अत एव यद्यपि

1. कुष्ठोन्मादयोः चिकित्सकाः। सन्निकृष्टाः पुमांसश्च प्रमाणम्—अर्थशास्त्र ३।१८।५

आयुर्वेद के अष्टांग में कौमारभृत्य को ही स्थान मिला, प्रसूतितन्त्र का भी स्थान एवं महत्व अक्षुण्ण है वैसे ही जैसे शिशु के लिए जननी का।

सृष्टि के लिए अनिवार्य विषय होने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से ही इस पर विचार होता आ रहा है[1]। अथर्ववेद में अन्य प्रजननांगों के साथ 'गवीनिके' शब्द से डिम्बनलिकाओं का निर्देश हुआ है और गर्भाधान में इनका महत्त्व बतलाया गया है (५।२५।१०)। सुखप्रसव के अनेक मन्त्र आये हैं। मूढगर्भ में गर्भाशयभेदन के द्वारा प्रसव का विधान है (१।११।५)। गर्भाधान एवं गर्भदृंहण के सम्बन्ध में भी अनेक मन्त्र हैं (५।२५।१-१३; ६।८१।१-३; ६।१७।१-४)। गर्भदोषनिवारण के सम्बन्ध में ८।६।१-२६ मन्त्र द्रष्टव्य हैं। गर्भिणी एवं प्रसूता स्त्रियों को आक्रान्त करनेवाले राक्षसों (जीवाणुओं) की भी चर्चा है (स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय—८।६।१३) कौशिकसूत्र में स्त्रीकर्म का विशद वर्णन है जिसमें पुंसवन, गर्भाधान, गर्भदृंहण और प्रजनन के सम्बन्ध में विधान बतलाये गये हैं[2]। अन्य गृह्यसूत्रों में भी गर्भलंभन, पुंसवन और अनवलोभन का वर्णन है[3]। पुंसवनकर्म में दो उड़द के दाने और उनके बीच में यव रखकर उसके अग्र भाग में दही लगाकर, प्राशन का विधान है। यह पुरुष प्रजननांग का प्रतीक है[4]।

आयुर्वेदीय संहिताओं में इस विषय का पर्याप्त वर्णन है। रजोदुष्टि से लेकर योनिव्यापत् तक का विस्तृत विवेचन एवं चिकित्साविधान किया गया है। गर्भिणी के लिए मासानुमासिक चर्या बतलाई गई है। पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारों का भी विवरण है। प्रसवकालिक व्यापदों का उपचार कहा गया है तथा प्रसवोत्तर विधान का उपदेश किया गया है। इस प्रकार प्राक्प्रसव (Antenatal), प्रसवीय (Natal) तथा प्रसवोत्तर (Postnatal) तीनों अवस्थाओं की व्यवस्था की गई है।

मूढगर्भ के अनेक प्रकारों का वर्णन है (सु०नि० ८)। दो विशिष्ट संज्ञाओं—उपविष्टक और नागोदर का वर्णन किया गया है (अ०हृ०उ० २)। इसमें शस्त्रकर्म

---

१. देखें पृ० ९-११

२. कौ० सू० २८।१५; ३२।२८; ३५।१-२०; ३३।२०

३. आ० गृ० १।१३।१ (उपनिषदि गर्भलंभनं पुंसवनमनवलोभनञ्च)

४. माषौ यवं च पुंलिंगं कृत्वा दधिद्रप्सेनैनां प्राशयेत्—जै० गृ० १।५
'माषौ च वृषणवत् यवं च शिश्नवत् सन्निवेश्य रेतोबिन्दुवत् अग्रेण दधिबिन्दुना सह प्राशयेत्'—टी०
देखें—B. C. Lele : Some Atharvanic Portions in the Gṛhyasutras (Bonn, 1927)

करने का विधान है। इसका विस्तृत वर्णन सुश्रुतसंहिता में स्पष्ट रूप से मिलता है यद्यपि यह एक कठिनतम कार्य था[1]।

उदरपाटन (Caeserian Section) कर गर्भ को बाहर निकालने का भी विधान है (सु० चि० ८।११)। कल्पसूत्रों में विधान है कि यदि गर्भिणी स्त्री का देहान्त हो जाय तो उसका कुक्षिपाटन कर गर्भ को निकाल ले और तब व्रण को सीकर उसकी अन्त्येष्टि करे[2]। यूरोप में यह शल्यक्रिया १६वीं शती के आसपास प्रारम्भ हुआ। ब्रिटेन में ऐसा प्रथम शल्यकर्म १८ वीं शती में हुआ।

सूतिकागार का वर्णन चरकसंहिता (शा० ८।३१-३२) में विस्तार से किया है जिससे तत्कालीन स्थिति का ज्ञान होता है। सुश्रुतसंहिता में भी प्रायः ऐसा ही है। कादम्बरी में भी बाणभट्ट ने तत्कालीन सूतिकागार का विशद वर्णन किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है[3]।

इस क्षेत्र में मानसिक भावों का महत्त्व विशेष रूप से बतलाया गया है। सौमनस्य गर्भधारण के लिए श्रेष्ठ कहा गया है। स्तन्य की प्रवृत्ति में माता का निरन्तर स्नेह हेतुभूत होता है। अन्य कारणों से स्तन्य कम होने पर स्तन्यजनन तथा स्तन्य दूषित होने पर स्तन्यशोधन औषधों का विधान है।

प्रसूतितन्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ कम उपलब्ध हैं। पं० दामोदरशर्मागौडकृत 'अभिनवप्रसूतितन्त्रम्' स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर से १९५० में प्रकाशित है। सम्प्रति रमानाथ द्विवेदी का प्रसूतिविज्ञान (चौखम्बा, १९५४) चलता है। बी० के० पटवर्धन का भी प्रसूतिविज्ञान है (जयपुर १९५७)। इसमें आयुर्वेद के साथ-साथ आधुनिक तथ्यों का भी समावेश है। आधुनिक प्रसूतिविज्ञान के अनेक ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गये हैं।

स्त्रीरोगविज्ञान पर १६वीं शती का देवेश्वरोपाध्यायकृत स्त्रीविलास है। रमानाथ द्विवेदी का भी ग्रन्थ प्रकाशित है। अन्तुभाई ने भी स्त्रीविज्ञान लिखा है (बम्बई, १९५२)। वसतिराय संगृहीत स्त्रीचिकित्सा वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से छपी है (सं० १९८६)। इस विषय पर स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के प्रसूतितन्त्र विभाग की तत्कालीन अध्यक्षा डा० (कु०) निर्मला जोशी ने अच्छी रचना

---

१. सु० चि० १५.

२. बौधायनगृह्यसूत्र, पितृमेध-प्रकरण, ३।१९।१-४, बौ० श्रौ० १४।१४

३. गुप्तकालीन स्थिति के लिए देखें मेरा 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज' पृ० ७१-९२

और भी देखें—'आग्निवेश्य गृह्यसूत्र, बृहज्जातक (५।१९)

प्रस्तुत की है[1]। हाल में उदयपुर (१९७३) से राजेन्द्रप्रकाश भटनागर का 'स्त्रीरोग-विज्ञान' प्रकाशित हुआ है।

गर्भनिरोध एवं गर्भपात

अथर्ववेद में ऐसे मन्त्र आये हैं (७।३५।२-३) जिनमें बीजवाहिनी सिराओं तथा अन्य स्रोतों को अवरुद्ध कर सन्ततिनिरोध करने का प्रसङ्ग है। बृहदारण्यक उपनिषद् (६।४।१०-११) में स्त्रीसंभोग करते हुये भी इच्छानुसार गर्भाधान हो या न हो इसका उपाय बतलाया गया है[2]। सन्तान कैसी हो इसके लिए भी उपाय बतलाये गये हैं (वही, १४-१८; हि० औ० ४।३।८; ८।१।४) मध्यकाल में अनेक योगों का बाह्य और आभ्यन्तर व्यवहार होने लगा जिनके द्वारा गर्भ का निरोध होता था। ऐसे अनेक योगों पर सम्प्रति अनुसन्धानकार्य चल रहा है।

गर्भस्राव या गर्भपात का वर्णन वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है[3]। आयुर्वेद में इसकी चिकित्सा भी बतलाई गई जिससे गर्भ नष्ट न हो। किन्तु वेश्यावृत्ति के बढ़ने पर तथा अन्य सामाजिक कारणों से गर्भपात इच्छानुसार भी किया जाने लगा और ऐसे अनेक योगों का वर्णन मध्यकालीन ग्रन्थों में मिलता है। पहले यह अपराध माना जाता था किन्तु अव विधानतः अनेक देशों में न्याय्य बना दिया गया है।

कौमारभृत्य

आयुर्वेद के आठ अंगों में इस अंग को काश्यपसंहिता में आद्य (श्रेष्ठ) अंग माना गया है।[4] वस्तुतः शिशु पर ही सारा जगत् आधारित है अतः उसका महत्त्व उचित ही है। 'कुमार' कार्त्तिकेय का भी एक नाम है। कार्तिकेय और कार्त्तिकेय-परिवार से कौमारभृत्य का घनिष्ठ संबन्ध है। प्रसूतितंत्र कौमारभृत्य का ही अंग है। महाकवि कालिदास ने 'कुमारसंभव' में कुमारोत्पत्ति का प्रसंग प्रस्तुत किया है।[5] कौमारभृत्य के अन्तर्गत कुमारभरण, धात्रीक्षीरदोषसंशोधन और दुष्टस्तन्य एवं ग्रहजन्य व्याधियों के उपशमन का वर्णन किया गया है।[6] वय के अनुसार शिशु

---

१. Ayurvedic Concepts in Gynaecology, Shubhada Prakashan, Poona, 1955

२. देखें—मेरा लेख 'परिवारनियोजन और आयुर्वेद'—सचित्र आयुर्वेद, जनवरी, १९६८

३. जै० ब्रा० २१२; अथर्व० २०।९६।१२

४. काश्यपसंहिता, वि० १।१०

५. V. S. Agrawal : Matsya Purana a Study (Varanasi, 1973), PP. 125-128

६. सु० सू० १।८

बाल और कुमार तथा आहार के अनुसार क्षीरप, क्षीरान्नाद और अन्नाद में त्रिविध विभाजन किया गया है। शिशु के जनमते ही जातकर्म संस्कार और स्वर्णादि मेध्य-आयुष्य द्रव्यों के लेह का विधान है।[1] अन्नप्राशन आदि संस्कारों का भी विधान है। बालरोगों के प्रकरण में बालग्रहों का विस्तार से वर्णन है। स्कन्द भी एक ग्रह है। स्कन्द, विशाख, नैगमेष और कुमार ये चार भाई चतुर्मूर्त्ति कहलाते हैं। कुषाण राजाओं के सिक्कों पर इनकी मूर्तियाँ अंकित हैं। उस काल में कुमार-पूजा अत्यन्त लोकप्रिय थी। काश्यपसंहिता में उनकी बहन षष्ठी का वर्णन है। षष्ठीपूजा गुप्तकाल एवं उत्तरगुप्तकाल में प्रचलित थी। काश्यपसंहिता के रेवतीकल्प में जातहारिणियों का वर्णन सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रह की स्थिति से ऊपर उठ कर स्कन्द देवरूप में पूजित होने लगे[2]। गुप्त राजाओं के भी यह परम आराध्य थे। पूतना भी एक ग्रह थी जिसका वध बालरूप में भगवान श्रीकृष्ण ने किया था। बालकों को त्रस्त करने वाली पूतना का वह प्रतीकात्मक वर्णन है।

आयुर्वेदीय कौमारभृत्य में बालग्रहों का विशेष महत्त्व है। बालकों के अनेक रोग जिनका कोई विशिष्ट नामकरण नहीं हुआ वे बालग्रह के अन्तर्गत कर दिये गये। सुश्रुतोक्त ९ ग्रहों में वाग्भट ने श्वग्रह, पितृग्रह और शुष्करेवती ये तीन और जोड़कर इनकी संख्या १२ कर दी। श्वग्रह सम्भवतः जलसंत्रास का ही रूप है। स्कन्दभैषज्य, जम्भ तथा ग्रहों की चिकित्सा का उल्लेख कौशिकसूत्र (२८।१-३) में मिलता है। गृह्यसूत्रों में नवग्रह का उपचार विहित है (पा० गृ० १।१६।२४; आ० गृ० २।७; आप० गृ० ७।१८।१-४; बो० गृ० ३।७।२७)।

गर्भ का पोषण नाभि के माध्यम से ही होता है अतः नाभि में प्राणों की स्थिति मानी गई—'नाभिष्ठता वै गर्भाः'—जै० ब्रा० (१।३०६)। सुश्रुत ने भी नाभि में ज्योतिःस्थान माना है जो गर्भ के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है (शा० ४।५७) तथा नाभि को सिराओं का मूल माना है (शा० ७।२-३)।

कुमारागार का वर्णन चरकसंहिता (शा० ८।६०-६८) आदि में किया गया है। कुमार के खिलौने, वस्त्र, शय्या आदि का विशद वर्णन है। बालक को विकारों से बचाने के लिए रक्षाविधान का निर्देश है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्तपुत्र भरत को मारीच कश्यप ने रक्षानिमित्त अपराजितामूल का मणिबन्ध दिया था। बाणभट्ट की

---

१. P. V. Sharma & N. G. Joshi : Kaumarbhritya of Ayurveda as Practised in Ancient and Present Times, Souvenier, PP. 9-16, The Indian Academy of Pediatrics, 2nd National Conference, Patna (1965)

२. V. S. Agrawal : Matsya Purana A Study PP, 68-71

रचनाओं में भी कुमारागार और कुमारसंवन्धी विधानों का चित्रण मिलता है।[1]

कश्यपसंहिता के अतिरिक्त वृद्धकश्यपसंहिता, पर्वतकतन्त्र, वन्धकतन्त्र, हिरण्याक्षतन्त्र तथा कुमारतन्त्र कौमारभृत्य के उपजीव्य तन्त्र थे। एक रावणकृत कुमारतन्त्र गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास बम्बई से १९५४ में प्रकाशित हुआ है। इसमें विजया (श्लो० ८४) और कर्पूर (श्लो० १६३) का प्रयोग है जो मध्यकालीन स्थिति का संकेत करता है। अनेक तांत्रिक मंत्रों का भी प्रयोग है। रविदत्त वैद्य ने इस ग्रन्थ की भाषाटीका की है (सं० १९४८)। रविदत्तवैद्य रोहतकप्रवेशान्तर्गत बेरीग्राम के निवासी गौडवंशीय शिवसहाय के पुत्र थे। लक्ष्मणोत्सव से संबद्ध लक्ष्मण कायस्थ का पुत्र रावण था। रावणकृत रचनाओं का सम्बन्ध इस व्यक्ति से कहाँ तक है, यह विचारणीय है। दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ कल्याणवैद्यविरचित 'बालतन्त्रम्' है। इसमें भावप्रकाशोक्त शीतलास्तोत्र है। लेखक ने इसका रचनाकाल संवत् १६४४ श्रावण-पूर्णिमा, रविवार दिया है[2]। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना सन् १५८७ ई० में हुई। आधुनिक प्रकाशनों में रघुवीरप्रसादत्रिवेदीकृत कौमारभृत्य (१९४८) प्रचलित है। अभिनवविकृतिविज्ञान (१९५७) भी त्रिवेदीजी की रचना है। ये दोनों ग्रन्थ चौखम्बा से प्रकाशित हैं। कविराज यामिनीभूषण राय ने कुमारतन्त्र कलकत्ता से १९२० में प्रकाशित किया था। तिलक आयुर्वेद महाविद्यालय, पूना में प्रसूतितंत्र विभाग की अध्यक्षा श्रीमती निर्मला राजवाडे ने इस पर अच्छा ग्रन्थ मराठी में प्रस्तुत किया है[3]।

शल्यतन्त्र

वेदों में अश्विनीकुमारों के चामत्कारिक कार्यों से तत्कालीन शल्यतंत्र की विकसित स्थिति का अनुमान होता है[4]। सन्धानकर्म (Plastic Surgery) तथा अंगप्रत्यारोपण (Transplantntion) का भी वहाँ संकेत मिलता है। उपनिषदों की मधुविद्या सन्धानविद्या थी जिसे अश्विनीकुमारों ने दधीची से प्राप्त किया था। कटे

---

१. महाकवि कालिदास ने 'कुमारभृत्याकुशल' वैद्यों का उल्लेख किया है (रघु० ३।१२) विशेष विवरण के लिए देखें मेरा 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज, पृ० ९३-९४ 'आपन्नसत्त्वायां कौमारभृत्यो गर्भकर्मणि प्रजने च वियतेत' (अर्थशास्त्र १।१६।३०) कौटिल्य के इस वचन से पता चलता है कि कुमारभृत्याकुशल वैद्य ही गर्भावस्था तथा प्रसव आदि की देखभाल करते थे अतएव 'प्रसूति' पृथक् अङ्ग न रख कौमारभृत्य के ही अन्तर्गत रक्खा गया।

२. युगवेदरसाकारमिते वर्षे नभे रवौ।
पूर्णिमायां चकारेदं लिलेख च शिवालये॥ १४।३०

३. राजवाडे, आठवले एवं जोशी : कौमारभृत्य (पूना, १९५९)

४. देखें—पृ० १०-११

शिर को जोड़ने की कला प्रवर्ग्यविद्या कहलाती थी। इसी विद्या से अश्विनीकुमारों ने दधीची और घोड़े के शिर को एक दूसरे पर लगाया था।[1] इससे अङ्गसंरक्षण तथा अङ्गप्रत्यारोपण का भी संकेत मिलता है। कौशिकसूत्र में शस्त्र आदि से अभिघात लगने पर, रुधिरप्रवाह या अस्थिभंग हो तो लाक्षाक्वाथ से परिषेक तथा लाक्षायुक्त दुग्धपान का विधान है (२८।५,१४)। जैमिनीय ब्राह्मण (३।९४-९५) में एक आख्यान है कि किसी कुमार का शरीर रथचक्र से छिन्न हो गया था उसे ठीक कर पुनर्जीवित किया गया। वाल्मीकीय रामायण (बाल० ४९।६–१०) में इन्द्र का अण्डकोष गिर जाने पर उनमें भेड़ के अण्डकोश के प्रत्यारोपण का आख्यान है। जैमिनीय ब्राह्मण (२।७७) में भी यह आख्यान है। इसी में (युद्ध० ७४।५२-३३) मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सवर्णकरणी और संधानी महौषधियों का भी उल्लेख है। महाभारत में भी शल्योद्धरणकोविद वैद्यों का निर्देश है।[2] गुप्तकाल में भी शल्यक्रिया समुन्नत थी।[3]

शल्यतंत्र का आकार ग्रन्थ सुश्रुतसंहिता है। इसमें व्रणितागार, व्रण के साठ उपक्रम, दग्ध, अष्टविध शस्त्रकर्म, उपयोगी यन्त्र-शस्त्र, जलौका, सिराव्यध, अग्निकर्म, क्षारकर्म आदि का विस्तृत वर्णन है। अर्श, अश्मरी, भगन्दर आदि के शस्त्रकर्म का विधान वर्णित है। कर्णनासा और खण्डोष्ठ के सन्धान की विधि भी विस्तार से बतलाई गई है। यह सन्धान-कर्म सुश्रुत की मौलिक देन है। आधुनिक शल्यशास्त्र ने सुश्रुत की ही विधि अपनाई है। भारतीय शल्य की क्रिया अरब होते भूमध्य-सागरवर्ती देशों में पहुँची। इटली में १५४५-१५९९ ई० में यह कर्म सफलतापूर्वक होने की सूचना मिलती है। फ्रांस में भी इसका प्रचार हुआ। भारत में १७९२ ई० टीपू सुलतान और अंग्रेजों के बीच जो मैसूरयुद्ध हुआ उसमें अंग्रेजों के पक्ष के कोवासजी नामक एक गाड़ीवान तथा चार सिपाही टीपू सुलतान के सैनिकों द्वारा बन्दी बना लिये गये और उनके नाक काट दिये गये। किसी मराठी सर्जन ने इसका संधान कर ठीक कर दिया। यह शस्त्रकर्म पूना के पास हुआ था जिसे दो ब्रिटिश डाक्टरों, टॉमस क्रुसो और जेम्स फिन्डले ने देखा था। इस पर एक सचित्र लेख मद्रास गजट में और फिर लन्दन के 'जेन्टलमैन्स मैगजीन (अक्टूबर, १७९४) में छपा था। इससे प्रोत्साहित होकर सर्जन जे० सी० कार्पु ने लन्दन में २३ अक्टूबर, १८१४ को प्रथम नासासंधानीय शल्यकर्म सफलतापूर्वक किया। इसके बाद जर्मनी तथा अन्य देशों में इसका प्रचार हुआ।[4]

१. प्रियव्रत शर्मा : मधुविद्या और प्रवर्ग्यविद्या, आयुर्वेद विकास, मार्च, १९६५

२. उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः—भीष्मपर्व, १२०।५५

३. P. V. Sharma : Indian Medicine in the Classical Age, P. 74-78.

४. Iqbal Kaul : Nose and Lips to order, Sunday World, Vol. II, No. 46. (26 Nov. 1972)

दण्डस्वरूप नाक-कान काटने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही थी जो मुगलकाल तक चलने का प्रमाण मिलता है।[1] ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि इसके सम्बन्ध में वैद्यजगत् में खोज होती। ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाओं तथा युद्धों में आघात एवं अङ्गभङ्ग की स्थिति के निराकरण के लिए ही विशेष रूप से शल्यतंत्र को आगे आना पड़ा।

काशी प्राचीन काल में शल्यतन्त्र का प्रधान केन्द्र रही है। दिवोदास धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को यहीं शल्य की शिक्षा दी थी। तक्षशिला में भी शल्यतंत्र की उत्तम शिक्षण-व्यवस्था थी। प्रसिद्ध शल्यविद् जीवक वहीं का स्नातक था जो सफलतापूर्वक उदर और मस्तिष्क के कठिन शल्यकर्म करता था। राजाओं के सैन्य में संभवतः शल्यचिकित्सक अवश्य ही रहते होंगे। किन्तु शनैः शनैः इसका ह्रास होने लगा और मध्यकाल तक इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया। गाँवों में हिन्दू नापित और मुसलमान जर्राह घाव का चीरफाड़ करते थे और जोंक आदि लगा कर रक्त भी निकालते थे। वैद्य चिकित्सा मात्र से ही संतुष्ट था। फिर भी अस्पतालों में एक शल्यचिकित्सक रहता था।[2]

शल्यतंत्र के ह्रास के निम्नांकित कारण हो सकते हैं:—

१. संज्ञाहरण उपायों का अभाव होने के कारण बड़े-बड़े शल्यकर्म संभव नहीं थे। पहले रोगी को मद्य पिलाकर यह कार्य किया जाता था उस पर भी ८-१० बलवान पुरुष उसे दबाये रहते थे। यह क्रूर कर्म लोक द्वारा और फिर राज्य द्वारा तिरस्कृत होने लगा। यह आसुरी चिकित्सा कहलाने लगी।

---

१. पुर्त्तगाली व्यापारी दण्डस्वरूप अरबी व्यापारियों के नाक कान काट लेते थे। देखें डैन्वर्सकृत पोर्चुगीज इन इण्डिया, पृ० १७५। तुजुक-ए-जहाँगीरी (पृ० ४३२) में भी चोरी के दण्ड में नाक-कान काटने का उल्लेख है।

२. देखें अष्टम अध्याय, आतुरालय-प्रकरण

सोमेश्वरकृत मानसोल्लास (१२वीं शती) में भी शस्त्र और शास्त्र में कुशल वैद्यों का उल्लेख किया है—

शस्त्रशास्त्रविदो वैद्यानभ्यासनिपुणानपि।
ऊहापोहविवेकज्ञान् सुधाहस्तान् प्रियंवदान्॥'—१।१९।१२९

डा० बुकनन (१८१० ई०) ने अपनी पूर्णिया जिले की यात्रा के विवरण में लिखा है:—

राजधानी में और आसपास ६२ जर्राह घावों का इलाज करते हैं। वे शल्यकर्म नहीं करते केवल तैलों का प्रयोग करते हैं। नाथपुर की एक बुढ़िया प्राचीन विधि से बस्ति से अश्मरी निकालने के लिए प्रसिद्ध है।

(पृ० १८४-१८७)

कुछ लोग बौद्ध धर्म की अहिंसा को इसकी अवनति का प्रमुख कारण मानते हैं किन्तु वस्तुतः इस कार्य में तो हिंसा है ही नहीं यह तो लोकोपकार का कार्य है। उपर्युक्त स्थिति में बौद्धों की करुणा का उपयोग चाहें तो कर सकते हैं किन्तु यह तो मानवहृदय की प्राकृत संपदा है।

२. शक्तिशाली जन्तुघ्न या प्रतिजैवी द्रव्यों की कमी के कारण प्रायः रोगी की स्वाभाविक रोगक्षमता ही आधार थी। इसकी कमी से अधिकांश शल्यकर्म असफल हो जाते थे, अनेक उपद्रवों से आक्रान्त होकर रोगी मर जाते थे।

३. शवच्छेद न होने के कारण शारीरज्ञान की अविकसित स्थिति भी शल्यतंत्र के विकास में बाधक थी। आधुनिक काल में शरीररचना का विशद ज्ञान होने पर ही शल्यतंत्र का विकास संभव हुआ।

आयुर्वेद का आधुनिक पाठ्यक्रम प्रवर्तित होने पर आधुनिक शल्यविद् इस विषय के लिए रक्खे गये जिनके माध्यम से कुछ वैद्यों ने भी शल्यकर्म में दक्षता प्राप्त की किन्तु यह आयुर्वेदीय शल्य नहीं है। इसके पूर्व भी कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में कुछ व्यक्तियों ने अभ्यास द्वारा कौशल प्राप्त किया। अनेक व्यक्ति यत्र-तत्र अस्थि-संधान में अपूर्व कौशल से कार्य करते हैं। दक्षिण भारत में मर्म-चिकित्सा के नाम पर इसी का अभ्यास होता है। कलकत्ता के हाराणचन्द्र चक्रवर्ती सुश्रुत का भाष्यकार होने के साथ-साथ सुश्रुतोक्त शल्यकर्मों में भी कुशल थे। इस सम्बन्ध में अनेक बार उनकी टक्कर ब्रिटिश सर्जनों से हुआ करती थी। आप आनन्दचन्द्र के पुत्र तथा कविराज गंगाधर राय के शिष्य थे। इसी प्रकार गया (बिहार) में पं० मुरलीधर वैद्य[1] थे जो कठिनतम शस्त्रकर्म सफलतापूर्वक करते थे।

क्षार का चिकित्सा और शल्य में व्यापक प्रयोग होने के कारण इसका एक विभाग 'क्षारतन्त्र'[2] के नाम से पृथक् विकसित हो गया था जिसके अन्तर्गत विभिन्न वनस्पतियों, क्षारनिर्माणविधि तथा उनके आमयिक प्रयोगों का अध्ययन होता था। शस्त्रकर्म में जब मन्दता आई तब स्वभावतः उसके विकल्प के रूप में क्षारकर्म, अग्निकर्म और रक्तमोक्षण आदि कर्मों को लोग अपनाने लगे। अर्श और भगन्दर में क्षारसूत्र का प्रयोग चिरकाल से आ रहा है। वृन्दमाधव में इसका विधान है। धीरे-धीरे इसका विकास होता गया। आधुनिक काल में चौंदसी वैद्यों ने इसे आगे बढ़ाया। इनकी शाखायें भारत में सभी छोटे-बड़े नगरों में हैं। ये पारम्परिक रीति से क्षारसूत्र द्वारा भगन्दर और अर्श की चिकित्सा करते हैं। संप्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा देश के कुछ अन्य आयुर्वेदीय संस्थानों में इस दिशा में कार्य हो

१. स्व० पं० कृष्णमोहन मिश्र, प्राध्यापक, भागलपुर आयुर्वेदिक कालेज के पिता।
२. क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम्—च० चि० ५।६४

रहा है। इसी प्रकार अग्निकर्म का भी गृध्रसी, सन्धिवात, आन्त्रवृद्धि आदि विकारों में वैद्यगण करते आ रहे हैं। रक्तमोक्षण जलौका तथा सिराव्यध द्वारा किया जाता था। मध्यकाल में यूनानी हकीमों ने इसे विशेष प्रश्रय दिया।[1]

सुश्रुतसंहिता के अतिरिक्त, निम्नांकित तन्त्र शल्यसम्बन्धी थे—जो सम्प्रति उद्धरणमात्र में उपलब्ध हैं :—

१. औपधेनवतन्त्र
२. औरभ्रतन्त्र
३. पौष्कलावतन्त्र
४. वैतरणतन्त्र
५. वृद्धभोजतन्त्र
६. कृतवीर्यतन्त्र
७. भोजतन्त्र
८. करवीर्यतन्त्र
९. गोपुररक्षिततन्त्र
१०. भालुकितन्त्र
११. कपिलतन्त्र
१२. गौतमतन्त्र

१९२९ में पटना राजकीय आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक पं० वामदेवमिश्र ने शल्यतन्त्रसमुच्चय लिखकर स्वयं प्रकाशित किया। इसमें मुख्यतः सुश्रुत से विषय संकलित किये गये हैं और यन्त्र-शस्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं। ग्रन्थ में कुल ५० अध्याय हैं। सम्प्रति रमानाथ द्विवेदीकृत सौश्रुती अधिक प्रचलित है। (चौखम्बा, १९६८ तृ० सं०)। अनन्तरामशर्माकृत शल्यसमन्वय दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है (हरिद्वार, १९६३-६५)। मराठी में जोशी, आठवले एवं राजवाडेकृत शल्यशालाक्य-तंत्र दो खण्डों में है (पूना, १९६०)। पहला खण्ड शल्य और दूसरा शालाक्य पर है। केवल आधुनिक शल्यतन्त्र के अनुवादरूप भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें प्रमुख हैं मुकुन्दस्वरूप वर्माकृत संक्षिप्त शल्यविज्ञान, (वाराणसी, १९३१), शल्यप्रदीपिका आदि। अभी हाल में (१९७४) क० न० उडुपकृत अंगरेजी ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर 'शल्यचिकित्सा के सिद्धान्त' आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी, लखनऊ द्वारा प्रकाशित हुआ है। शल्यसम्बन्धी सद्वृत्त पर दामोदरशर्मा गौड़ और जी० डी० सिंघल का 'सर्जिकल इथिक्स इन आयुर्वेद' है (चौखम्बा, १९६३)।

शालाक्यतन्त्र

सुश्रुतसंहिता में तो शालाक्य का वर्णन है ही, इसकी स्वतन्त्र संहितायें भी अनेक थीं[2]। इस सम्प्रदाय में अनेक आचार्य हुये हैं[3] जिन्होंने अपनी-अपनी विशिष्ट

---

१. जहाँगीर सिराव्यध द्वारा रक्त निकलवाया करता था। वह इसकी तारीफ करता है। मुकर्रब खाँ और उसका भतीजा इस कला में दक्ष थे।
देखें—तुजुक ए-जहाँगीरी, पृ० २२६; भाग २, २२७
बर्नियर भी लिखता है कि वैद्यों की अपेक्षा हकीमों में इसका विशेष प्रचार था।
(यात्रा विवरण, पृ० ३३८-३३९)

२. देखें पृ० १५५

३. ज्योतिर्मित्रः शालाक्यतन्त्र के आचार्य, आयुर्वेदविकास, दिसम्बर १९६८

परम्परा का प्रवर्तन किया है। इन परम्पराओं में सबकी अपनी मौलिक विशेषता थी। वैदिक वाङ्मय में शालाक्यतन्त्र की प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है[1]। ब्राह्मण ग्रन्थों में चक्षुष्य तथा कार्णश्रवण सामों का वर्णन है। कौशिकसूत्र (३०।१-२) में 'अक्षिरोगे भैषज्य' दिया है। अश्विनीकुमारों ने भी शालाक्यसम्बन्धी अनेक चमत्कार किये थे[2]। नेत्रशारीर का सूक्ष्म अध्ययन कर उसके विभिन्न अवयवों के विकारों और उनके निवारण का उपाय बतलाया गया है। लिंगनाश के शस्त्रकर्म का भी वर्णन है। सेक, बिडालक, पूरण, अञ्जन, वर्ति आदि विविध औषधप्रयोग-पद्धतियों की खोज की गई थी। नेत्ररोगों के प्रतिषेध के उपाय भी बतलाये गये[3]। इसी प्रकार कर्ण, नासा, मुख, गल आदि के रोगों का वर्णन किया गया है। नेत्ररोगों के लिए अनेक अञ्जन, वर्तियाँ निकाली गईं। अभी भी पारम्परिक नेत्रचिकित्सिक जहाँ-तहाँ कार्य कर रहे हैं। बिहार और उत्तरप्रदेश में इनकी संख्या अधिक है और इनका संगठन भी है। निमि और जनक शालाक्यतन्त्र के प्रवर्तक कहे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि विदेह (मिथिला) शालाक्यतन्त्र की जन्मभूमि है जहाँ विदेहाधिपतियों के संरक्षण में उसका पालन-पोषण हुआ। काशी यदि शल्य का केन्द्र रहा है तो मिथिला शालाक्य का। यह स्मरणीय है कि आद्यकाल से इन दोनों प्रदेशों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि शल्य के साथ स्वभावतः शालाक्य का नाम आ जाता है[4]। दन्तविद्या भी प्राचीनकाल में समुन्नत थी[5]।

आधुनिक काल में कुछ शिक्षणसंस्थाओं में प्राचीन शालाक्य को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास हुआ। इस दिशा में पटना आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक पं० वामदेव मिश्र का प्रयत्न श्लाघनीय रहा। आयुर्वेदीय विधि से वह अनेक शालाक्य विकारों की सफल चिकित्सा करते थे।

ग्रन्थों में सम्प्रति रमानाथ द्विवेदीकृत शालाक्यतन्त्र (चौखम्बा, १९७१, द्वि० सं०) प्रचलित है। डा० मुञ्जे ने नेत्ररोग पर अच्छा ग्रन्थ लिखा है। विश्वनाथ द्विवेदी का भी अभिनव नेत्ररोगचिकित्साविज्ञान है (लखनऊ, १९५४)।

---

१. प्रियव्रतशर्मा—वैदिकवाङ्मये शालाक्यविषयाः, शालाक्यपरिषद् स्मारिका, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७१

२. देखें पृ० १०–११; १९-२०

३. R. Mishra : Preventive Opthalmology in Indian Medicine, सचित्र आयुर्वेद, अक्तूबर, १९...

४. देखें मेरा 'इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज, पृ० ७८-८१

५. देखें—Vaidya Baldeo Prasad H. Pamnara : Dentistry in Ancient India, सचित्र आयुर्वेद, मार्च, १९...

सैन्य-चिकित्सा

सामान्य नागरिक कर्तव्यों के अतिरिक्त, सैन्य चिकित्सा में वैद्य का क्या कर्त्तव्य था, तथा इस चिकित्साविज्ञान की क्या स्थिति थी इस पर विचार करना आवश्यक है। वैदिक काल से ही युद्ध के समय चिकित्सकों की उपस्थिति आवश्यक समझी गई है। अश्विनीकुमारों ने युद्ध में आहत अनेक सैनिकों को स्वस्थ बनाकर पुनः संग्रामयोग्य बना दिया था। राजा खेल की कन्या विशाला की जाँघें टूट गई थीं, वहाँ धातु की जाँघ लगाकर उसे पुनः युद्धभूमि में जाने योग्य बना दिया[1]। ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनसे वैदिक काल में समुन्नत सैन्य-चिकित्साविज्ञान का अनुमान होता है। सुश्रुत का युक्तसेनीय अध्याय (सू० ३४) तो उसका स्पष्टतः उद्घोष करता है। सैन्यचिकित्सा में मुख्यतः शल्यापहरण, शस्त्रकर्म तथा विषापहरण एवं विषप्रतिषेध का कार्य करना होता था। इस प्रकार सैन्यचिकित्सकों में शल्यकोविद तथा अगदज्ञ विशिष्ट स्थान रखते थे। दुन्दुभिस्वनीय अध्याय (क० ६) से भी इसका संकेत मिलता है। अथर्ववेद, कौशिकसूत्र (संग्रामिकविधि), रामायण, महाभारत आदि में इसकी सामग्री दृष्टिगत होती है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में ऐसे चिकित्सकों का उल्लेख है जिनके पास शस्त्र, यन्त्र, अगद, स्नेह, वस्त्र आदि हों। उनके साथ परिचारिकाओं का भी उल्लेख है[2]। यह स्मरणीय है कि सिकन्दर ने जब इस देश पर आक्रमण किया था तब इन चिकित्सकों की योग्यता से अत्यधिक प्रभावित हुआ था और अनेक को अपने साथ ले भी गया था।

स्कन्धावार में राजा के गृह के पास वैद्य का निवास होना चाहिये[3]। वाग्भट ने भी सैन्यस्थल पर वैद्य के शिविर का वर्णन किया है। इसके ऊपर एक ध्वजा होती थी जिससे इसकी पहचान की जाती थी[4] जैसा आजकल रेडक्रास होता है। बाणभट्ट ने हर्षवर्धन की सेना-यात्रा का जो वर्णन किया है उसमें वैद्य का उल्लेख नहीं है सम्भवतः वह राजा के विशिष्ट अधिकारियों के साथ पृथक् चलता था। राजवर्धन जब हूणों के साथ युद्ध कर लौटा तो उसके शरीर पर घावों में पट्टियाँ बँधी थीं। स्पष्टतः यह सैन्यचिकित्सकों द्वारा ही बाँधी गई होंगी[5]। मध्यकाल में भी

---

१. ऋ० १।११२।१०; १।११६।१५; १।११७।११; १।११८।८; १।१८२।१; १०।३९।८; और देखें—ऋ० १।११२।१७; १।११६।२१;

२. चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः, स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः—कौटिल्य १०।३।२०

३. स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम् ।
भवेत् सन्निहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः ॥—सु० सू० ३४।१०

४. अ० सं० सू० ८।६६

५. P. V. Sharma : Indian Medicine in the Classical Age. P. 78

राजाओं की विजययात्रा में चिकित्सक रहते थे। जहाँगीर ने अनेक हकीमों का वर्णन किया है जो विजययात्रा में उसके साथ रहते थे[1]। स्पष्टतः सैन्यचिकित्सकों का कर्तव्य राजा की रक्षा करना तो था ही, घायल सैनिकों की भी चिकित्सा वे अवश्य करते होंगे।

पशुचिकित्सा

पशुओं की चिकित्सा का भी वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। औषधियों से पशुओं के विशेष सम्पर्क का उल्लेख किया जा चुका है (पृ० २३,२७) है। इन पशुओं में हस्ती, अश्व और गौ प्रमुख हैं। हाथी और घोड़ा वाहन के रूप में सामान्यतः नागरिकों द्वारा तथा विशेषतः युद्ध में सैनिकों द्वारा व्यवहृत होते थे। अश्वमेध आदि यज्ञों में इन पशुओं का उपयोग होता था। यदि ये पशु बीमार होते तो उन्हें चिकित्सा द्वारा स्वस्थ बनाकर उपयोग होता था। अतः इनके स्वास्थ्य और विकारनिवारण पर ध्यान जाना स्वाभाविक था। गौ लोकजीवन के लिए सदा महनीया रही है अतः इसके स्वास्थ्य पर भी ध्यान दिया गया और इस प्रकार गजायुर्वेद, अश्वायुर्वेद और गवायुर्वेद की शाखायें विकसित हुईं। कल्पसूत्रों में अश्वशान्ति, गजशान्ति और गोशान्ति का वर्णन मिलता है बौ० गृ० शे० ११४ १९।१-५, २०।८, आप० श्रौ० २०।८।७)। चरकसंहिता के बस्तिप्रकरण (सिद्धि ११।१९-२६) में जो उल्लेख है उससे सिद्ध होता है कि दृढबल के समय (गुप्तकाल) में गज, अश्व, उष्ट्र, गौ, अज और आदि सभी की चिकित्सा का विधान प्रचलित था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में पशु-अध्यक्षों (गोऽध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, गजाध्यक्ष) और चिकित्सकों का वर्णन मिलता है (२।२९, ३०, ३१) मेगास्थनीज ने भी इसका उल्लेख किया है। अशोक ने पशुचिकित्सा के लिए देशव्यापी व्यवस्था की थी जो उसके शिलालेखों से प्रमाणित है[2]। अरबी भाषा में अनेक पशुचिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुवाद मध्यकाल में हुआ। अलबेरुनी ने भी इसका उल्लेख किया है।

अश्वचिकित्सा

इस विषय पर सर्वप्रमुख संहिता शालिहोत्र की है। यह शालातुर (पाणिनि की जन्मभूमि) का निवासी, अश्वघोष का पुत्र तथा सुश्रुत का पिता कहा गया है। कहना कठिन है कि ये अश्वघोष और सुश्रुत वही हैं या भिन्न। सम्भवतः भिन्न ही हैं। महाभारत में शालिहोत्र का अनेक स्थलों पर उल्लेख है[3]।

---

१. देखिये तुजुक-ए-जहाँगीरी

२. अशोक के धर्मलेख (सूचना मन्त्रालय, दिल्ली, १९५७), पृ० २८

३. वन० ७१।२७, ११-१८, २५-२८, ७७।१०-१७, ८३।१०७, विराट् ३।४

अश्वचिकित्सा पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं:—

१. अश्ववैद्यक—जयदत्त
२. अश्वशास्त्र—नकुल (तंजोर, १९५२)
३. अश्ववैद्यक—दीपंकर
४. सिद्धोपदेशसंग्रह-गण
५. शालिहोत्र—भोज (पूना, १९५३)
६. हयलीलावती (मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत)

गजायुर्वेद

जिस प्रकार शालिहोत्र अश्वायुर्वेद का प्रवर्तक है उसी प्रकार गजायुर्वेद का प्रवर्त्तक है पालकाप्य। इसकी दो रचनायें उपलब्ध हैं—हस्त्यायुर्वेद (आनन्दाश्रम, पूना, १८९४) और गजशास्त्रम् (तंजोर, १९५८)। पालकाप्य सामगायन ऋषि के पुत्र थे। वह अंगदेश के राजा रोमपाद द्वारा हाथियों की व्यवस्था के लिए आमंत्रित किये गये थे।

इस विषय पर अन्य प्रमुख ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

१. गजलक्षण—बृहस्पति
२. मातंगलीला—नीलकण्ठ
३. गजदर्पण (हेमाद्रि द्वारा उद्धृत)

इस प्रकार अंगदेश गजायुर्वेद और पश्चिमोत्तरप्रदेश अश्वायुर्वेद का केन्द्र था।

गवायुर्वेद

पाण्डवों में सहदेव गवायुर्वेद के विशेषज्ञ माने जाते हैं। सम्भव है, इनकी कोई रचना रही हो किन्तु सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

इसी प्रकार मृगपक्षिशास्त्र पर किसी जैन पण्डित हंसदेव की रचना है। सोमेश्वर ने मानसोल्लास (२।३।१३८) में नर, गज, अश्व, गौ तथा खग की चिकित्सा के ज्ञाता वैद्यों का उल्लेख किया है[१]।

विविध वाङ्मय

कोष

आयुर्वेद में पर्यायशैली में जो निघण्टु लिखे गये वे कोष ही कहे जाते हैं यथा शिवकोष। किन्तु इसके अतिरिक्त शब्दकोष भी लिखे गये। आधुनिक काल में सर्वप्रसिद्ध कोष उमेशचन्द्रगुप्तकृत वैद्यकशब्दसिन्धु (१९१४) है। वनौषधियों के क्षेत्र में बरालोकपुर (इटावा) के विश्वेश्वरदयालु वैद्यराज ने वैद्यकशब्दकोष निकाला

१. नराणां च गजानां च वाजिनां च गवामपि।
मृगाणां च खगानां च ये जानन्ति चिकित्सितम्॥

(१९२५)। इसी प्रकार रूपनिघण्टुकोष रूपलालवैश्यकृत तथा शालिग्रामौषधशब्दसागर शालिग्रामवैश्यकृत (खेमराज, बम्बई, सं० २०१३) भी हैं। रामजीत सिंह एवं दलजीत सिंह कृत 'आयुर्वेदीय विश्वकोष' के कई भाग प्रकाशित हुये (द्वि० सं० १९३४)। अभी हाल में महाराष्ट्र सरकार ने एक आयुर्वेदीय शब्दकोष (दो खण्डों में) प्रकाशित किया है (बम्बई, १९६८)। इसके सम्पादक वेणीमाधवशास्त्री जोशी तथा नारायणहरी जोशी हैं।

इतिहास

विदेशी विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के जो इतिहास लिखे उनमें आयुर्वेद पर भी प्रकाश डाला। इनमें विण्टरनिज ने विशेष रूप से विचार किया है। कुछ ऐसे विद्वानों ने विशेष रूप से आयुर्वेद का अध्ययन कर इसके इतिहास पर लिखा। इनमें पी० कॉर्डियर, जे० फिलिओजा, जुलियस जॉली, हेनरी आर. जिमर, क्लास वोगल, डॉ० रूडल्फ हार्नले आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कार्डियर ने आयुर्वेद पर अनेक निबन्ध लिखे और भारत से महत्त्वपूर्ण आयुर्वेद ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकागार में संगृहीत की[1]। फिलिओजा पेरिस के कालेज द फ्रांस में प्राध्यापक हैं तथा पौण्डिचेरी में भारतीय विद्यासंस्थान के निदेशक हैं। इनके अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्ध फ्रेञ्च में प्रकाशित हुये हैं। आपकी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्लासिकल डॉक्ट्रिन्स ऑफ इण्डियन मेडिसिन' का अंग्रेजी अनुवाद भारत से प्रकाशित हुआ है (दिल्ली, १९६४)। आयुर्वेदीय विषयों में अनेक शोधछात्र भी आपके निर्देशन में कार्य कर रहे हैं। जुलियस जॉली का 'इंडियन मेडिसिन' पूना से काशीकर[2] द्वारा अंगरेजी में अनूदित होकर प्रकाशित हुआ है (१९५१)। इसमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री संकलित है। जिमर का 'हिन्दू मेडिसिन' (बाल्टीमोर, १९४८) है। क्लास वोगल ने अष्टांगहृदय के तिब्बती संस्करण का जर्मन भाषा में अनुवाद (केवल पाँच अध्यायों का) किया (१९६५) और अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। डा० हार्नले का नाम तो सर्वविदित है ही जिसने कठोर परिश्रम एवं तपश्चर्या से 'बावर पाण्डुलिपियों' का पुनरुद्धार किया; सुश्रुत के कुछ अंशों का अंगरेजी अनुवाद किया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडीज इन दी मेडिसिन आफ ऐन्शियेण्ट इण्डिया' लिखी (ऑक्सफोर्ड, १९०७)। आयुर्वेदीय इतिहास को व्यवस्थित करने में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। सम्प्रति हालैण्ड के डा० जी० जे० म्युलेनबेल्ड आयुर्वेद में घोर परिश्रम कर शास्त्ररत्न का संचय कर रहे हैं। ऐसे कुछ मुक्ता-मणियों का आलोक अपनी सद्यः प्रकाशित रचना के द्वारा संसार में बिखेरा है। उनसे और भी आशायें हैं।

---

१. प्रस्तुत लेखक को १९७२ में वहाँ जाकर यह संग्रह देखने का अवसर प्राप्त हुआ।

२. काशीकर ने इस ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट दिया है। इसके अतिरिक्त इनकी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं।

भारतीय विद्वानों में गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय[1] की रचना 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन' ३ भागों में (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२३–१९२९) सर्वोपरि आती है। परवर्ती लेखकों ने प्रायः इसीका आधार लेकर लिखा है। सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने अपने विश्वविश्रुत ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी' के खण्ड २ में आयुर्वेद का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। प्रफुल्लचन्द्र राय में भी अपने 'हिन्दू रसायनशास्त्र का इतिहास' में ऐतिहासिक विवेचन किया है। अनेक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों की भूमिका में आयुर्वेद के इतिहास पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इनमें काश्यपसंहिता की भूमिका (हेमराजशर्माकृत), रसयोगसागर की भूमिका (हरिप्रपन्नशर्माकृत) और प्रत्यक्षशारीरम् की भूमिका (गणनाथसेनकृत) प्रमुख हैं। आचार्य यादव जी ने भी अपने कुछ विचार स्वसम्पादित चरक आदि संहिताओं के उपोद्घात में दिये हैं।

आयुर्वेदीय इतिहास के ग्रन्थों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

१. Bhagvat Sinhji—History of Aryan Medical Science (Gondal, 1895)

२. P. Kutumbiah : History of Indian Medicine (Orient Longmans, Madras, 1962)

३. दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री : आयुर्वेदनो इतिहास (गु०)

४. सूरमचन्द : आयुर्वेद का इतिहास (शिमला, १९५२)

५. महेन्द्रकुमार शास्त्री : आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास (बम्बई, १९४८)

६. गुरुपद हालदार : वृद्धत्रयी (कलकत्ता, १३६२ बंगाब्द)

७. अत्रिदेव : आयुर्वेद का बृहत् इतिहास (सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, १९६०)

८. वही : आयुर्वेद का इतिहास (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५४)

९. वही : चरकसंहिता का सांस्कृतिक अनुशीलन (वाराणसी, १९६४)

१०. Shiv Sharma : Ayurvedic Medicine Past & Present (C. C. R. I. M. & H, New Delhi, Reproduced From Progress in Drug Research, Vol 15. 1971)

११. प्रियव्रत शर्मा : वाग्भट-विवेचन (चौखम्बा, १९६९)

१२. वही : चरक-चिन्तन (चौखम्बा, १९७०)

१३. Jyotir mitra : History of Indian Medicine from Pre—Mauryan to Kusana Period (वाराणसी, १९७४)

१४. दामोदरप्रसाद शर्मा : महामुनि पतञ्जलि, भ्रांतियाँ और निराकरण (इन्दौर, १९६७)

१५. सोमदेव शर्मा सारस्वत : चरक मुनि (लखनऊ, १९५०)

---

[1] इनकी एक अन्य रचना 'सर्जिकल इन्स्ट्रूमेण्ट्स ऑफ हिन्दूज़' (दो खण्ड) प्रसिद्ध है।

१६. रघुवीरशरण शर्मा : धन्वन्तरि-परिचय (बुलन्दशहर, १९५०)

१७. वही : चरकसंहिता का निर्माणकाल (चौखम्बा, १९५९)

डा० डी० वी० सुब्बारेड्डी विगत चार दशाब्दियों से भारतीय चिकित्सा के इतिहास पर कार्य कर रहे हैं और प्रभूत महत्त्वपूर्ण सामग्री का सृजन किया है। अन्त में आप हैदराबाद के चिकित्सा-इतिहाससंस्थान के मानद निदेशक थे। राजेन्द्रप्रकाश भटनागर (प्राध्यापक, उदयपुर आयुर्वेद महाविद्यालय) के इतिहास-सम्बन्धी कुछ अच्छे लेख इधर पत्रों में प्रकाशित हुये हैं। विश्वविद्यालयों में भी इस पर कुछ कार्य हुआ है। वाग्भट पर दिल्ली विश्वविद्यालय तथा चरक और सुश्रुत पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से शोधप्रबन्ध स्वीकृत हुये हैं।

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य और पी० के० गोडे[1] ने आयुर्वेद के इतिहास पर अपने अनेक लेखों द्वारा महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। कलकत्ता के प्रभाकर चटर्जी ने भी अनेक लेख विशेषतः वंगीय विद्वानों के सम्बन्ध में लिखे हैं।

कुछ ग्रन्थ आयुर्वेदीय विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए लिखे गये। इनमें निम्नांकित ग्रन्थ प्रमुख हैं—

१. रामप्रसाद शर्मा : आयुर्वेदसूत्रम् (वेंकटेश्वर, १९६६)

२. शिव शर्मा : System of Ayurveda.

३. Shrinivasa Murty : The Science and Art of Indian Medicine.

४. Nagendra Nath Sen : Ayurvedic System of Medicine, 3 Vols. (Calcutta, Vol. I, Re. 1909, Vol II. 1906, Vol. III 1914)

५. Chandra Shekhar G. Thakkur : Introduction to Ayurveda (Bombay, 1965)

६. शालग्राम शास्त्री : आयुर्वेदमहत्त्व (लखनऊ, १९२६)

डा० लक्ष्मीपति ने भी कुछ ग्रन्थ इस कोटि के लिखे हैं।

कुछ विदेशी विद्वानों ने आयुर्वेद पर इतिहास के परिचयात्मक ग्रन्थ लिखे जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं[2]—

१. Wilson : on the Medical and Surgical Sciences of the Hindus (Oriental Magazine, 1823). London, 1864.

---

१. देखें—स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री (होशियारपुर. १९६१)
Bibliography of the Published writings (P. K. Gode Commemoration Vodume)

२. विशेष विवरण के लिए देखें—
G. N. Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine, Vol II, Introduction, PP, 81-87

२. Wise : Commentary on the Hindu System of Medicine. Calcutta, 1945, London, 1860 and 1900.

३. Royle : An Essay on the Antiquity of Hindu Medicine, London, 1837, Cassel 1839.

४. Stenzler : Zur Geschicte de Ind. Medicin, Breslau, 1846.

५. Brian : Coup D'oeil sur la Medicine des Anciens Indiens. Paris, 1858

६. Daremberg : Recherches sur l'etat de la Medicine. Ann. Med., Paris, 1867.

७. Lietard : Letters historiques sur L'etat de la Medicine chez les Hindous. Paris, 1863.

८. Mrs. Manning : Ancient and Mediaeval India. London, 1869,

९. Webb : The Historical relations of Ancient Hindu with Greek Medicine, Calcutta, 1850.

१०. Goldstucker : In Mrs. Manning's Ancient and Mediaeval India. London, 1869.

११. Chakraberty : An Interpretation of Ancient Hindu Medicine. Calcutta, 1923.

१२. Mazumdar : Medicinal Science in Ancient India. Calcutta Review, February, 1925.

भारतीय वाङ्मय में आयुर्वेद

भारतीय वाङ्मय का सर्वेक्षण कर उसमें से आयुर्वेदीय सामग्री संकलित करने का कार्य भी हुआ है, जो इतिहास के निर्माण में सहायक होता है। इस क्षेत्र में निम्नांकित रचनायें उल्लेखनीय हैं—

१. रामगोपाल शास्त्री : वेदों में आयुर्वेद (दिल्ली, १९५६)

२. Karambelkar : The Atharvaveda & The Ayurveda (Nagpur, 1961)

३. अम्बालाल जोशी : वाल्मीकीय रामायण में आयुर्वेद (जोधपुर, १९७३)

४. प्रियव्रत शर्मा : व्याकरण-वाङ्मय में आयुर्वेदीय सामग्री (आयुर्वेदविकास, मार्च-सितम्बर, १९६४)

५. P. V. Sharma : Indian Medicine in the Classical Age (Chowkhamba, 1972)

ज्योतिर्मित्र ने महाभारत, रामायण तथा बौद्ध वाङ्मय से आयुर्वेदीय सामग्री का संकलन किया है। सतीशचन्द्र सांख्यधर (जम्मू) ने 'हिन्दी साहित्य में आयुर्वेद' शीर्षक शोधप्रबन्ध पर पी० एच० डी० किया है। कुछ शोधकर्त्ता 'जैन साहित्य में आयुर्वेद' पर कार्य कर रहे हैं। 'पुराणों में आयुर्वेद' पर पहले कुछ कार्य हुआ है और सम्प्रति कुछ शोधछात्र कार्य कर रहे हैं।

इसी प्रकार के कुछ संकलन-ग्रन्थ 'सुभाषित' नाम से प्रकाशित हुये हैं जिनमें प्राणजीवन मेहताकृत वैद्यकीय सुभाषितावली (चौखम्बा, १९५५) और घाणेकरकृत वैद्यकीय सुभाषितसाहित्यम् (चौखम्बा, १९६८) प्रमुख हैं।

सप्तम अध्याय

शिक्षण
अनुसंधान
पत्र-पत्रिकायें

ज्ञान प्राप्त करना और उसे दूसरे को हस्तान्तरित कर देना ये शिक्षण के दो पक्ष हैं जिन्हें क्रमशः अध्ययन और अध्यापन कहा गया है। अध्यापन भी ज्ञानप्राप्ति का ही एक साधन है अतः अध्ययन की ही एक विकसित स्थिति इसे कह सकते हैं। शिक्षण का सम्बन्ध बुद्धि से है और ऐसा कोई समय सृष्टि में नहीं जब बुद्धि का अभाव हो अतः ज्ञान की परम्परा भी सृष्टि के समान अनादि है। अन्य शास्त्रों के समान आयुर्वेद की शिक्षापरम्परा भी जब ब्रह्मा से प्रवर्त्तित करते हैं तो उसका उद्देश्य शिक्षणक्रम की अनादिता का ही बोध कराना है। जिस क्रम में आद्यगुरु ब्रह्मा और आद्यशिष्य प्रजापति हों उसके प्रारम्भ का पता कौन लगा सकता है?

प्राचीन काल में गुरुमुख से विद्या ग्रहण की जाती थी। सुनकर उसे याद किया जाता था अतः श्रुति और स्मृति इस प्रक्रिया के दो अंग थे यद्यपि ये शब्द बाद में शास्त्रविशेष के लिए रूढ हो गये। प्रारम्भ में एक गुरु का एक ही शिष्य रहा होगा किन्तु आगे चलकर अनेक शिष्य एक गुरु के पास रहकर विद्याध्ययन करने लगे। चरकसंहिता में ही हम देखते हैं कि आत्रेय पुनर्वसु के छः शिष्य हुये और इसी प्रकार काशिराज दिवोदास के और अधिक शिष्य थे।

इसके अनन्तर क्रमशः गुरुकुलों का विकास हुआ होगा जहाँ अनेक गुरु होते थे और सबके ऊपर एक अधिष्ठाता कुलपति होता था। शिष्य विद्या समाप्त कर स्नातक बनता था। गुरुकुल में प्रवेश के पूर्व शिष्य की परीक्षा होती थी। अभीष्टगुणसम्पन्न होने पर ही उसका प्रवेश होता था। तद्विद्यकुलज या तद्विद्यवृत्त को प्राथमिकता दी जाती थी। प्रवेश होने पर छात्र शास्त्र का चुनाव करता था और फिर उस शास्त्र के आचार्य का चुनाव करता था। अमेरिका आदि देशों में आज भी विद्यार्थी अध्यापक का चुनाव करता है उसकी परीक्षा लेकर। आयुर्वेद की शिक्षा का विधान त्रिवर्ण के लिए था। शूद्र को बिना उपनयन और मन्त्र दिये पढ़ाने की व्यवस्था थी। प्रवेश के

बाद शिष्य का उपनयन संस्कार होता था जहाँ अग्नि ब्राह्मणों और वैद्यों को साक्षी बनाकर शिष्य और गुरु दोनों परस्पर निष्ठा और वात्सल्य रखने का संकल्प लेते थे[1]। यह उपनयन विशिष्ट प्रकार का होता था। सामान्य उपनयन के बाद पुरुष 'द्विज' कहलाता था जब कि इस उपनयन के बाद विद्यासमाप्ति कर 'त्रिज' होता था[2] अर्थात् शिक्षा समाप्त कर वह नये मानव के रूप में समाज में पदार्पण करता था। उपनीत शिष्य को आचार एवं अनुशासन का उपदेश किया जाता था जिसका पालन आवश्यक होता था। आचार्य भी शपथ लेता था कि शिष्य के सम्यक् आचरण करने पर भी यदि वह अन्यथा आचरण करे तो पाप का भागी होगा, उसकी विद्या वन्ध्या हो जायगी।

अध्ययनविधि

सर्वप्रथम अध्ययन में ग्रन्थ का अभ्यास किया जाता था। उसका बार-बार वर्णन (अनुवर्णन) और श्रवण (अनुश्रवण) किया जाता था। उसके बाद उसका अर्थ समझ कर पढ़ते थे इसे 'प्रभाषण' कहा गया है। विषय का क्रियात्मक प्रदर्शन 'अभिनिर्देशन' कहा गया है जो आजकल का 'डेमोन्स्ट्रेशन' है। छात्र अपने हाथ से जो कर्माभ्यास करता था वह 'योग्या' कहलाता था। इस प्रकार शास्त्र और कर्म दोनों का सन्तुलित समन्वय आयुर्वेदीय शिक्षा का आदर्श था। इससे वाक्सौष्ठव, अर्थविज्ञान, विषय में प्रौढ़ता और कर्मनैपुण्य प्राप्त होता था। क्रियात्मक शिक्षण के क्रम में वनौषधियों का परिचय, शरीरज्ञान, रोगिपरीक्षा, निदान और चिकित्सा का व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता था। शल्यकर्म के लिए 'योग्या' का विधान था। मृत पशुओं एवं प्रतिकृतियों पर विविध शस्त्रकर्मों का अभ्यास कराया जाता था। यह एक प्रकार की 'ऑपरेटिव सर्जरी' थी (सु० सू० ९)। यहीं पर इस क्रम को छोड़ा नहीं जाता था बल्कि शिष्य कर्म का निरन्तर अभ्यास गुरु के निर्देशन में करता रहता था। इसके बाद अन्तिम अवस्था 'सिद्धि' होती थी जब वह स्वतन्त्रतया कार्य करने में क्षम हो जाता था। इस प्रकार शिक्षा समाप्त कर स्नातक राजाज्ञा लेकर विशिखा (व्यवसाय) में प्रविष्ट होता था। इस रूप में वह एक निर्धारित वैद्यक सद्वृत्त का पालन करता था। अन्य शिक्षाप्रेमी स्नातक गुरुकुल में अध्यापनवृत्ति में लग जाते थे। वस्तुतः अध्ययनकाल में ही उच्च कक्षा के छात्र निम्न कक्षा के छात्रों को पढ़ाते थे।[3] वे अध्यापन और तद्विद्यसंभाषा के द्वारा अपने ज्ञान को विकसित

१. च. वि. ८।१३–१४; सू० ३०।२७
सु० सू० २।२–५

२. विद्यासमाप्तौ भिषजस्तृतीया जातिरुच्यते—च. चि. १।१।५२

३. अलतेकर : प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति, वाराणसी, १९५५, पृ० ३९

करते थे। इससे नये-नये विचार उत्पन्न होते थे जिन्हें निबद्ध कर ग्रन्थ का रूप दिया जाता था जो विद्वानों की सभा में परीक्षित-अनुमोदित होने पर शिक्षाक्रम में सम्मिलित किया जाता था। पाटलिपुत्र और उज्जयिनी में ऐसी शास्त्रकार-परीक्षायें आयोजित होती थीं।[1] अग्निवेश आदि की रचनायें भी ऋषिपरिषद् द्वारा अनुमोदित होने पर ही लोकप्रसिद्ध हुईं। व्यावहारिक क्षेत्र में जो नये-नये अनुभव होते थे उन्हें भी ग्रन्थ में निबद्ध किया जाता था।

ज्ञान की चरितार्थता क्रिया में होती है। पतञ्जलि ने विद्याप्राप्ति की चार अवस्थायें बतलाई हैं---अध्ययन, स्वाध्याय (मनन), व्यवहार और प्रवचन[2]। महाकवि हर्ष ने भी अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण शब्दों से इन्हीं चार दशाओं का अभिधान किया है[3]। 'आचरण' को ही केन्द्र बनाकर 'आचार्य' शब्द बना है। जो स्वयं ज्ञान को अपने जीवन में कार्यान्वित करे और दूसरे में भी करावे वह 'आचार्य' कहलाता है (आचरति आचारयति च आचार्यः)। 'उपाध्याय' शब्द जब कि अध्ययनपरक है 'आचार्य' शब्द आचरणप्रधान है। अत एव उपाध्याय से आचार्य का स्तर ऊँचा होता है। अध्यापक अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ होते थे। धन्वन्तरि-सम्प्रदाय और आत्रेयसम्प्रदाय ये दो वर्ग तो स्पष्ट थे ही। सुश्रुत ने बहुश्रुत होने की सलाह दी है किन्तु यह कहा है कि विषयों का ज्ञान विशेषज्ञों से ही प्राप्त करें[4]। दृढबल पराधिकार में अधिक बोलना पसन्द नहीं करते[5]। एक विषय का विशेषज्ञ दूसरे विषय में टाँग नहीं अड़ाता था।

तद्विद्यसंभाषा

अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसंभाषा ये तीन ज्ञानार्जन के साधन कहे गये हैं[6]। जो लोग अध्यापन करते थे वे तद्विद्यों के साथ संभाषा कर अपने सन्देह का निराकरण करते थे और नवीन जानकारी प्राप्त करते थे। इस प्रकार विषय में प्रौढ़ता उत्पन्न होती थी।

अनेक विद्वानों के साथ विचारविमर्श करने से सन्देह का निराकरण हो जाता

---

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा, अ० १०
२. चतुर्भिश्च प्रकारैः विद्योपयुक्ता भवति-आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति---पातञ्जल महाभाष्य, १।१।१
३. अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः--- नैषधीयचरित, १।४
४. सु० सू० ४।५-६
५. पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिः---शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः---च०चि० २६।३२
अन्यत्र भी चरक ने लिखा---'अत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ'।
६. च० वि० ८।६

है[१] । संभाषा का विस्तृत वर्णन चरकसंहिता में मिलता है[२] । न्यायदर्शन में गौतम ने भी इसके कुछ तथ्यों का वर्णन किया है । कुछ विद्वानों की मान्यता है कि न्यायदर्शन ने चरक को ही आधार लिखा है । ऋषिपरिषदों में तद्विद्यासंभाषा होती थी। ऐसी परिषदों का सजीव चित्र चरकसंहिता में उपलब्ध है[३] जिससे तत्कालीन संभाषाविधि का संकेत प्राप्त होता है । संभाषाविधि के विस्तृत वर्णन तथा ऋषिपरिषदों की योजना से यह स्पष्ट है कि चरककाल में तद्विद्यसंभाषा सन्देह-निराकरण तथा किसी समस्या के समाधान का महत्त्वपूर्ण साधन थी । दृढबल ने भी ऐसी एक परिषद् की कल्पना की है (च० सि० ११) ।

सुश्रुत ने सूत्रस्थान के द्वितीय और चतुर्थ अध्याय में अध्ययनविधि का विशद वर्णन किया है । अनध्याय कब होता था इसका भी उल्लेख है[४] ।

मध्यकाल में व्याकरण, न्याय आदि शास्त्रों में शास्त्रार्थ की परम्परा प्रचलित हुई जिसमें विगृह्यसंभाषा का रूप ही अधिक दृष्टिगत होता था । कई बार हार जाने पर शास्त्रार्थी को विजेता का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता था अतः संवादजयन के लिए अनेक तांत्रिक उपचार भी किये जाते थे[५] । ऐसी परिस्थिति में आयुर्वेद को व्यावसायिक क्षेत्र से उठकर संभाषाक्षेत्र में आना कठिन हो गया । व्यवसाय में भी आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण परस्पर विचार-विमर्श करना कठिन हो गया । इसी कारण भट्टोजिदीक्षित ने 'वैद्या विप्रवदन्ते' उदाहरण दिया है ।[६]

आधुनिक काल में नि० भा० आयुर्वेदमहासम्मेलन की स्थापना होने पर उस मञ्च पर शास्त्रचर्चा होने लगी । देश भर के वैद्य एकत्रित होकर जटिल विषयों पर विचारविमर्श करने लगे । जब इसके अध्यक्ष आचार्य यादव जी हुये तब शास्त्रचर्चा-परिषद् विधिवत् आयोजित होने लगी । इस कार्य में अर्थ एवं व्यवस्था की दृष्टि से श्री वैद्यनाथ आयुर्वेदभवन सहायक हुआ । इसमें निम्नांकित परिषदें हुईं—,

---

१. वैद्यसमूहो निःसंशयकराणाम्—च० सू० २५
२. च० वि० ८
३. च० सू० १, २५, २६
४. धर्मसूत्रों में भी इसका वर्णन है । देखें—बौ० ध० १।२१।६-२३
५. पारस्करगृह्यसूत्र तथा कौशिकसूत्र में भी ऐसे प्रकरण हैं । इससे स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति प्राचीनकाल से चली आ रही है । वैदिक धर्म के विरोधियों को पराजित करने के लिए इस पद्धति का विकास करना पड़ा ।
६. काशिका (१।३।५०) में विप्रवदन्ते सांवत्सराः, विप्रवदन्ते मौहूर्त्ताः है । संभवतः उस काल में इस कला में ज्योतिषी आगे हों या काशिकाकार ने वैद्यों का पक्ष लिया हो ।

१. पञ्चमहाभूत एवं त्रिदोषपरिषद्—पटना, २४-३१ दिसम्बर १९५१, अध्यक्ष आचार्य यादव जी।
२. द्रव्यगुणविज्ञान-परिषद्—हरिद्वार, २०-२७ मई, १९५३ " "
३. शारीर-परिषद्—दिल्ली-रतनगढ़, ५-९ नवम्बर, १९५८ दामोदरशर्मा गौड़
४. कायचिकित्सा-परिषद्—लछमणझूला, ७-१७ जून, १९६८ यदुनन्दन उपाध्याय (महास्रोतोविकार)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान स्थापित होने पर वहाँ वार्षिक वैज्ञानिक गोष्ठियाँ होने लगीं जिसका प्रभाव सारे देश पर पड़ा। विभिन्न संस्थाओं की ओर से ऐसी गोष्ठियाँ आयोजित होने लगीं। इधर कई वर्षों से इन्द्रप्रस्थ आयुर्वेद सम्मेलन की ओर से वार्षिक गोष्ठियाँ दिल्ली में आयोजित हो रहीं हैं। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान परिषद् भी कभी-कभी ऐसे आयोजन करती है। प्राच्यविद् सम्मेलन, भारतीय इतिहास कांग्रेस आदि संगठनों द्वारा आयोजित गोष्ठियों में भी आयुर्वेद के शोधपत्र उपस्थित किये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद् सम्मेलन के पेरिस अधिवेशन (जुलाई १९७३) में 'एशियन चिकित्सा तथा भेषज-संहिता' पर एक सोविस्तार आयोजित हुआ था जिसके एक सत्र की अध्यक्षता प्रस्तुत लेखक ने की थी। इण्डियन फार्मेस्युटिक कांग्रेस असोसियेशन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर जो वैज्ञानिक गोष्ठियाँ होती हैं उनमें एक सत्र आयुर्वेद-यूनानी के लिए निर्धारित रहता है।

आयुर्वेद-शिक्षण के मौलिक तत्त्व

ज्ञान का क्षेत्र अनन्त और अगाध है। इसकी इयत्ता निर्धारित करना असम्भव है। मानव ने जितनी ज्ञानराशि को शब्दों में बांधा है वह भी विशाल है। आचार्य पतंजलि का उपदेश है कि अज्ञात विषय के सम्बन्ध में सहसा कोई निर्णय प्रकट करना दुःसाहस है। ज्ञान की उपलब्धि के लिए निरन्तर यत्न करते रहना होगा[1], समुद्र में गहरे पानी पैठना होगा।

यदि मनुष्य की आयु भी इसी अनुपात में होती तब तो विशेष कठिनाई नहीं

१. "उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महांशब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्र-वर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽऽथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावांशब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमनु-निशम्य "सन्त्यप्रयुक्ता" इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव।"—महाभाष्य १।१।१

थी किन्तु थोड़ी अवधि में ज्ञान को पूर्णतः प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं। अतः "यत्सारभूतं तदुपासनीयम्" की नीति के अनुसार जहाँ तक उपयोगी ज्ञान प्राप्त हो जाय वह बहुत समझना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को इसी ज्ञान से सम्बद्ध बनाना है जिससे वह पदार्थों को यथावत् देख सके, समझ सके और उनका ठीक-ठीक उपयोग अपने और समाज के कल्याण के लिए कर सके। किन्तु एक-एक पदार्थ का पृथक्-पृथक् अध्ययन फिर दुरूह और असम्भव-सा कार्य हो जाता है जिनके माध्यम से पदार्थों का अध्ययन किया जाता है। ज्ञान का एक व्यावहारिक प्रयोजन भी होना चाहिए, क्योंकि निष्प्रयोजन शास्त्र में लोगों की रुचि नहीं होगी। ज्ञान का स्रोत लोक-कल्याण के लिए प्रवाहित हुआ है चाहे वह वाल्मीकि का आदि काव्य हो या आयुर्वेद। आर्त्त जनों के दुःख से द्रवित होकर ही ज्ञान की भागीरथी महर्षियों के तपःपूत हृदय के हिमशैलशिखर से प्रवाहित हुई है।

आयुर्वेदीय शिक्षा का उद्देश्य

आयुर्वेदीय शिक्षा का सामान्य उद्देश्य है—धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति। विशेषतः किसी एक उद्देश्य को लेकर भी इसका अध्ययन किया जा सकता है जैसा कि आचार्य चरक ने कहा है—

'तन्त्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणैः, आत्मरक्षार्थं राजन्यैः,
वृत्त्यर्थं वैश्यैः, सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः॥"—च.सू. ३०।२७

आयुर्वेदीय शिक्षा का स्वरूप

वैद्य की उपर्युक्त योग्यताओं की जननी शिक्षा ही आयुर्वेद की वास्तविक शिक्षा कहला सकती है। सर्वप्रथम, शास्त्र ऐसा हो जिसमें इन गुणों के सम्पादन-योग्य विषय हों, इसलिए शास्त्र की परीक्षा होनी चाहिए। फिर आचार्य की परीक्षा होनी चाहिए, जो शिष्यों में उन गुणों के आधान की क्षमता रखता हो। शिष्य की भी परीक्षा होनी चाहिए, क्योंकि उसमें शास्त्र के ग्रहण की पात्रता होनी चाहिए। शास्त्रगत विषयों का विभाजन भी क्रमबद्ध होना चाहिए जिससे उनके ग्रहण में सुविधा हो। ज्ञानार्जन के तीन उपाय चरक ने बतलाए हैं—अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसंभाषा। अतः इन तीनों की विधि पर भी विचार होना चाहिए। चार प्रकार से विद्या उपयुक्त होती है—अध्ययन, मनन, व्यवहार और प्रचार[1]। सर्वप्रथम गुरु से शास्त्र का अध्ययन करे, पुनः उस पर स्वाध्याय, चिन्तन-मनन करे और इस प्रकार विषयों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे। शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने पर उसे व्यवहार में लावें। यदि विद्या व्यवहार में नहीं आयी, तो वह वन्ध्या या अफला कही जाती है। अन्त में अध्ययन-मनन द्वारा उपार्जित तथा व्यवहार द्वारा संपुष्ट ज्ञान का

१. महाभाष्य १।१।१

प्रचार अध्यापन द्वारा किया जाय। अतः आयुर्वेदिक शिक्षा में इन सब बातों का समावेश होना चाहिए।

शास्त्र

चिकित्सा के अनेक शास्त्र प्रचलित हैं। इनमें जो महापुरुषों से सेवित, अर्थबहुल, आप्तजनपूजित, त्रिविधशिष्य (उत्कृष्ट, मध्य, हीन) बुद्धिहित, अपगतपुनरुक्तदोष, आर्ष, सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रम, स्वाधार, अनवपतितशब्द, अकष्टशब्द, पुष्कलाभिधान, क्रमागतार्थं, अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधान, संगतार्थं, असंकुलप्रकरण, आशुप्रबोधक, लक्षण और उदाहरण से युक्त हो, उसी शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार का शास्त्र प्रखर सूर्य के समान अज्ञानान्धकार को दूर कर सभी पदार्थों को आलोकित करता है।[1] चरक के इस विवरण का यदि परीक्षण किया जाय तो निम्नांकित बातें स्पष्ट होती हैं :—

१. शास्त्र ज्ञान की दृष्टि से प्रामाणिक होना चाहिए। वह क्रान्तदर्शी ऋषियों द्वारा प्रणीत हो और आप्तजनों द्वारा स्वीकृत हो, जिसकी महान परम्परा हो और जिस परम्परा में महान, धीर और यशस्वी वैद्य हों। इससे शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

२. भाषा कठिन और ग्राम्य शब्दों से रहित हो जिससे विषयों के समझने में कठिनाई न हो।

३. शैली स्पष्ट और विशद हो जिससे विषय क्रमशः एक दूसरे के बाद आते जायं।

४. विषय सूत्र, भाष्य और संग्रह-क्रम से क्रमबद्ध हो और निर्णीत तथ्यों और सिद्धान्तों से युक्त हो। लक्षणों और उदाहरणों के द्वारा पदार्थों का प्रतिपादन किया गया हो।

५. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी हो, जिससे सब प्रकार की बुद्धि के लोग अपनी पात्रता के अनुसार उससे लाभ उठा सकें।

आचार्य

आचार्य शास्त्रज्ञ, परिदृष्टकर्मा, दक्ष, दक्षिण, शुचि, जितहस्त, उपकरणवान्, सर्वेन्द्रियोपपन्न, प्रकृतिज्ञ, प्रतिपत्तिज्ञ, बहुश्रुत, अनहंकृत, अनसूयक, अकोपन, क्लेशक्षम, शिष्यवत्सल, अध्यापन और ज्ञापन में समर्थ हो। इन गुणों से युक्त आचार्य सुशिष्य में वैद्य गुणों का सम्पादन करता है, जिस प्रकार बरसात के बादल अच्छे खेत को आबाद करते हैं[2]। चरक के इस विवरण के आधार पर आचार्य में निम्नांकित योग्यता अपेक्षित है—

---

१. च० वि० ८।३

२. वही ८।४

१. अपने शास्त्र में निष्णात हों। इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के भी ज्ञाता हों।
२. क्रियात्मक ज्ञान से युक्त हों तथा कर्माभ्यास द्वारा उसमें कुशलता और यश प्राप्त किये हों।
३. सभी आवश्यक उपकरणों से युक्त हों।
४. सभी इन्द्रियों से पूर्ण हों, जिससे पदार्थों के परीक्षण में कोई कठिनाई न हो।
५. मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति हो, जिससे शिष्यों तथा रोगियों की प्रकृति का ज्ञान समुचित रूप से हो सके और विभिन्न स्थितियों में कार्याकार्य का निर्णय कर सकें।
६. अहंकार, रागद्वेष, क्रोध से रहित तथा क्लेशक्षम हों और शिष्यों के प्रति वात्सल्यभाव रखते हों।
७. विषयों के अध्यापन में समर्थ हों।

शिष्य

शिष्य स्वयं अपने प्रयोजन, देश, काल और सामर्थ्य का विचार कर आयुर्वेद के अध्ययन में प्रवृत्त हों। शास्त्रज्ञान के लिए पात्रता की अपेक्षा होती है अतः शिष्यों की परीक्षा कर उन्हें प्रविष्ट करें। शिष्यों को प्रशान्त, आर्यप्रकृति, अक्षुद्रकर्मा, ऋजुचक्षु-मुखनासावंश, तनुरक्तविशदजिह्व, अविकृतदन्तौष्ठ, अमिन्मिन, धृतिमान, अनहंकृत, मेधावी, वितर्कस्मृतिसम्पन्न, उदारसत्व, तद्विद्यकुलज अथवा तद्विद्यवृत्त, तत्त्वाभिनिवेशी, अव्यंग, अव्यापन्नेन्द्रिय, विनीत, अनुद्धत, अर्थतत्त्वभावक, अकोपन, अव्यसनी, शील, शौच, आचार, अनुराग, दाक्ष्य, और दाक्षिण्य से युक्त, अध्ययनाभिकाम, अर्थविज्ञान और कर्मदर्शन में अनन्यकार्य, अलुब्ध, आलस्यरहित, सर्वभूतहितैषी, आचार्य का आज्ञाकारी और अनुरक्त होना चाहिए[1]।

चरक के इस विवरण के अनुसार शिष्यों की परीक्षा निम्नांकित रूप से हो जिसमें सफल होने पर ही उनका प्रवेश हो :—

१. वैद्यकुल में उत्पन्न हों अथवा उनमें वैद्यक-व्यवसाय के अनुकूल आचरण हों।
२. शारीरिक और मानसिक दृष्टि से वे स्वस्थ, सर्वांगपूर्ण और उत्तम गुणों से युक्त हों।
३. आयुर्वेद के अध्ययन में रुचि और लगन हों।
४. आचार्य के अनुरक्त और उनके उपदेशों का अनुसरण करने वाले तथा अनुशासन मानने वाले हों।
५. प्रकृत्या शान्त, सात्त्विक, धीर, विनम्र, लोभ, आलस्य, क्रोध और व्यसन से रहित, सदाचारी, दयालु और सर्वभूतहितैषी हों।

---

१. च. वि. ८।८

उपर्युक्त योग्यता होने पर भी आचार्य शिष्य के समक्ष अनुशासन के निर्धारित नियम प्रवेश के पूर्व रखता है। यदि वह इन नियमों का पालन करना स्वीकार करता है तभी प्रविष्ट होता है अन्यथा नहीं—

"यथोपदेशं च कुर्वन्नध्याप्यो ज्ञेयः अतोऽन्यथा स्वनध्याप्यः।"

—च. वि ८।१३

ऐसे अध्याप्य शिष्य को शिक्षा देने से अध्यापक शिष्य को श्रेयस्कर गुणों से युक्त करता है और अपने गुणों को भी विकसित करता है।

शिक्षा का क्रम: प्रवेशयोग्यता (Standard of admission)

उपर्युक्त पंक्तियों में तो सामान्यतः शिष्य की शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्थिति का विवरण दिया गया है, किन्तु उसकी प्रवेशयोग्यता क्या हो इस पर भी विचार करना आवश्यक है। प्राचीनकाल में सांगोपांग वेदों का अध्ययन-अध्यापन होता था। मुख्यतः षडंग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष). इनका अध्ययन करने के बाद वेदों का अध्ययन होता था। इन अंगों में भी सर्वप्रथम व्याकरण की शिक्षा होती थी, क्योंकि "मुखं व्याकरणं स्मृतम्"। इस प्रकार व्याकरण तथा अन्य अंगों का ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर ही व्यक्ति वेदों के अध्ययन का अधिकारी होता था। यद्यपि कालान्तर में व्याकरण की पढ़ाई शिथिल हो गयी और लोग बिना व्याकरण पढ़े वेदों का अध्ययन करने लगे, जिससे बड़ी अव्यवस्था फैली और इसे रोकने के लिए शब्दानुशासन का कठोरता से पालन करने पर जोर दिया गया[1]। इतिहास और पुराण, दर्शन और विज्ञान की जानकारी आवश्यक है। शिष्य के लिए बहुश्रुत होना आवश्यक बतलाया गया है, क्योंकि एक शास्त्र का अध्ययन करने से किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन होता है[2]।

शिक्षा के मौलिक तत्व

विषय-विभाग और विशेषज्ञता (Specialisation)

अतिप्राचीन युग में लोग सम्भवतः समस्त आयुर्वेद का अध्ययन करते हों और उसमें निपुणता भी प्राप्त करते हों, क्योंकि उस समय आयुर्वेद का कलेवर ठोस और संक्षिप्त था तथा महर्षिगण अपने साधनाबल से मेधा और आयु में उच्चतम थे, किन्तु आगे चलकर इसका कलेवर बढ़ जाने से तथा मनुष्यों की आयु और मेधा कम होने समस्त आयुर्वेद में निपुणता कठिन हो गयी, अतः इसका विभाजन विषय-क्रम से आठ अंगों में कर दिया गया—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र[3]। इससे यह भी प्रतीत होता

---

१. महाभाष्य १।१।१

२. सु. सू. ४।६

३. च. सू. ३०।२८, सु. सू. १।३

है कि दिव्यकाल में धन्वन्तरि, दिवोदास तथा भरद्वाज के पूर्व यह विभाग नहीं था। उसी काल में यह विभाजन प्रवर्त्तित हुआ। सामान्य रूप से सभी विषयों की जानकारी प्राप्त की जाती थी, किन्तु किसी एक अंग में विशेषता और दक्षता होती थी। यथा आत्रेय-सम्प्रदाय में कायचिकित्सा, धन्वन्तरि-सम्प्रदाय में शल्य, काश्यप-सम्प्रदाय में कौमारभृत्य, निमिसम्प्रदाय में शालाक्य आदि। उन-उन विषयों का व्याख्यान तद्विद्यों से ही सुनने का विधान[1] है तथा चिकित्सा में भी विशेपज्ञों का ही अधिकार माना जाता था। "अत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ" इससे चरक ने शल्य रोगों में धान्वन्तरीय सम्प्रदाय के वैद्यों का अधिकार बतलाया है। राजाओं के व्यक्तिगत चिकित्सक के रूप में तथा सेना में जो वैद्य रहते थे, उनमें विशेषकर अगदतन्त्र और शल्यतन्त्र में निपुणता अपेक्षित थी।[2]

सिद्धान्तनिरूपण (Formulation of Theories)

आयुर्वेद अपार और समुद्र के समान अगाध गंभीर है। इसका पूरा पता पाना कठिन है। रोग भी असंख्य हैं। सबका परीक्षण और वर्णन करना कठिन है। एक-एक करके पृथक्-पृथक् तथ्यों का अध्ययन एवं ज्ञान के लिए समुचित साधन भी नहीं हो सकता और इसमें व्यर्थ समय भी बहुत लगेगा। इसलिए सामान्य-विशेष के आधार पर कुछ सिद्धान्तों का निरूपण करना होगा जिससे असंख्य पदार्थ श्रृंखलाबद्ध होकर ज्ञान के विषय बन जाँय। आचार्य पतंजलि ने ज्ञानोपार्जन की इसी वैज्ञानिक सरणि का उपदेश किया है :—

"अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।
एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययन-कालो, न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे, यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति।"
तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।
कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः। ?
किंचित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन
यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्"—महाभाष्य १।१।१।

यही आधार चरक में लिया गया है और इसी से त्रिदोषसिद्धान्त का निरूपण हुआ है, जो असंख्य प्राकृतिक भावों और विकारों की व्याख्या में समर्थ है[3]।

क्रियात्मक ज्ञान (Practical knowledge)

सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ क्रियात्मक ज्ञान भी आवश्यक है। सिद्धान्त और

---

१. सु. सू. ४।५
२, सु. सू. ३४।५, क. १।४
३. च. वि. ६।५

व्यवहार, शास्त्र और कर्म, पक्षी के दो पक्षों तथा रथ के दो चक्रों के समान हैं, जिनमें एक के भी खण्डित होने पर कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती[1]। शास्त्र में पण्डित और क्रिया में कुशल, उभयज्ञ वैद्य ही कार्यसाधन में समर्थ हो सकता है—

यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा॥ सु. सू. ३।५१
उभयज्ञो हि भिषक् राजार्हो भवति।—सु. सू. ३।४५

इसीलिए वैद्य के गुणों में 'दृष्टकर्मा' और 'अभ्यस्तकर्मा' दिया है।

मनोवैज्ञानिक विकास (Psychological Development)

मनोवैज्ञानिक विकास. विशेषतः तर्कशक्ति का विकास आयुर्वेदीय शिक्षा का प्रमुख तत्त्व है। बिना तर्क के कार्य में सफलता नहीं मिल सकती और न शास्त्र का बोध ही हो सकता।[2] मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति भी विकसित होनी चाहिए, जिससे आतुर और शिष्य के मानसिक भावों का पूर्णतः सम्यक् रूप से आकलन किया जा सके।

वैज्ञानिक वृत्ति का विकास (Development of rational attitude)

प्रत्येक पदार्थ की सांगोपांग प्रमाणों द्वारा परीक्षा करने के बाद कर्तव्य में प्रवृत्त होने का अभ्यास उत्पन्न करना शिक्षा का एक अंग है। क्योंकि परीक्षा करके कार्य में प्रवृत्त होने से ही सफलता मिलती है। ("परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति) विद्या, वितर्क, विज्ञान, स्मृति, तत्परता और क्रिया ये ६ गुण वैद्य के लिए उपादेय बतलाये गये हैं।[3] इनका आधान शिष्यों में होना चाहिए।

वाक्-सौष्ठव (Expression of ideas)

अपने भावों को समुचित रूप से शुद्ध शब्दों में व्यक्त करने की कला में शिष्यों को दक्ष बनाना आवश्यक है, जिससे वे शास्त्र का प्रवचन कुशलता से कर सकें और लोगों में प्रभाव उत्पन्न कर सकें।[4]

सद्वृत्त तथा मानवीय गुणों का विकास (Ethical conduct and development of human qualities)

शिष्यों को गुरुकुल में सद्वृत्त का पालन कराया जाय जिससे वे सदाचारी बनकर समाज का कल्याण कर सकें। इसके साथ-साथ दया, दाक्षिण्य आदि मानवीय गुणों को भी विकसित किया जाय[5]।

---

१. सु. सू. ४।४८
२. च. सू. २।३६
३. च. सू. ९।२१
४. सु. सू. ३।५४
५. च. सू. ८।१८, सु. सू. २।४

लोकसंग्रह (Development of Social ideas)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वैद्य को तो विशेषतः समाज में रह कर उसी की सेवा करनी है। अतः उसकी सामाजिक भावना विकसित हो इस पर ध्यान रखना आवश्यक है (लोकसंग्रहमेवादौ संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि)[1]।

शारीरिक विकास (Physical development)

जब वैद्य स्वयं स्वस्थ और बलिष्ठ न हो तब दूसरों को कैसे बना सकता है! अतः शिष्यों का समुचित शारीरिक विकास भी होना चाहिए[2]।

शिक्षण-विधि

शास्त्रज्ञान के तीन उपाय बतलाए गए हैं—अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसंभाषा[3]।

(१) अध्ययन (Study)—छात्र जब ग्रन्थ का प्रारम्भिक पाठ करता है तब उसे अध्ययन कहते हैं। यह शब्दप्रधान और उत्तान होता है। अध्ययन के बाद शास्त्र का जो चिन्तन-मनन किया जाता है वह स्वाध्याय कहा जाता है। यह अर्थ-प्रधान और गम्भीर होता है।

(२) अध्यापन (Teaching)—इसके तीन भाग हैं—प्रभाषण या प्रवचन (Lectures), अभिनिर्देशन (Demonstration) तथा योग्याकरण (Practical Training)। प्रस्तुत विषय का अर्थतः व्याख्यान या विवेचन प्रभाषण कहलाता है। प्रभाषण तीन प्रकार से होता है—वाक्यशः, वाक्यार्थशः और अर्थावयवशः[4]। इस प्रकार विवेचन क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। ग्रन्थ का केवल अध्ययन बिना प्रभाषण के निरर्थक माना गया है और ऐसा व्यक्ति, जो अर्थ को हृदयंगम किए बिना ग्रन्थ को कण्ठाग्र किये हुए हैं, चन्दनभारवाही गर्दभ के समान माना गया है, जिसे केवल भार की ही अनुभूति होती है, चन्दन की सुगन्ध नहीं मिलती[5]।

पदार्थों को प्रत्यक्षगम्य बना कर छात्रों को दिखलाना अभिनिर्देशन कहा जाता है। शारीर अवयवों के शवच्छेद में दर्शन और अभिनिर्देशन का विधान है[6]। इसी प्रकार औषधद्रव्यों का नामरूपज्ञान के लिए अभिनिर्देशन किया जाता है। चिकित्सा और विकृतिविज्ञान में विकृतिजन्य चिन्हों को दिखलाया जाता है।

---

१. च. शा. ५।८

२. च० सू० १।१५

३. च० वि० ८।६

४. च० सू० ३०।१७

५. सु० सू० ४।२-३

६. च० शा० ७।१६

छात्र जब स्वयं क्रियाओं का अभ्यास मानवेतर पदार्थों और प्राणियों पर करते हैं तब उसे योग्याकरण कहते हैं। सुश्रुत ने एक स्वतन्त्र अध्याय (सू. ९ अ.) में योग्या का वर्णन किया है। विषयों के सम्यक् ज्ञान के लिए यह अत्यावश्यक है। शास्त्रज्ञ होने पर भी यदि योग्या नहीं की तो कर्म में योग्यता नहीं आ सकती—

"सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यः कर्मसु अयोग्यो भवति।"—सु० सू० ९।२

तद्विद्यसंभाषा (Seminars & Discussions)

शास्त्रज्ञों का परस्पर जो शास्त्रीय विचार-विमर्श होता है उसे तद्विद्यसंभाषा कहते हैं। इससे ज्ञान की वृद्धि होती है, सन्देह का निराकरण होता है तथा वाक्शक्ति बढ़ती है। अतः ज्ञानवृद्धि के लिए पाठ्यक्रम में इसे अनिवार्यतः रखना चाहिए। संभाषा दो प्रकार की बतलायी गयी है—संधाय संभाषा और विगृह्य संभाषा। जिज्ञासा-बुद्धि से विषय के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से जो संभाषा होती है वह सन्धाय संभाषा कहलाती है। इसके विपरीत, विपक्ष को पराजित करने के उद्देश्य से जो वाद-विवाद होता है वह विगृह्य संभाषा है[1]। ऐसी अनेक गोष्ठियों का विवरण चरकसंहिता में मिलता है। इस सम्बन्ध में यज्जःपुरुषीय (च० सू० २५), आत्रेय-भद्रकाप्यीय (च. सू. २६) तथा फलमात्रासिद्धि (च. सि. ११) के प्रकरण अवलोकनीय हैं। इससे इन गोष्ठियों की कार्यपद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है।

सारांश में, आयुर्वेदीय शिक्षण-पद्धति में शास्त्र के व्यापक (Extensive) तथा गम्भीर (Intensive) अध्ययन पर जोर दिया जाता है, क्योंकि प्राणियों और द्रव्यों के इतने सूक्ष्म अवान्तर भेद और विशेषताएँ हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमानों के लिए भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है, साधारण जनों की तो बात ही क्या? इसलिए शास्त्र के पूर्ण एवं सूक्ष्म अध्ययन करने का उपदेश किया गया है। इसके लिए तन्त्रयुक्तियों का भी निरूपण किया गया है।

शिक्षा के उपकरण

शिक्षा के उपकरणों में अभिनिर्देशन तथा क्रियात्मक ज्ञान के लिए त्रिविध (औद्भिद, जांगम और पार्थिव) द्रव्यों का संग्रहालय होना चाहिए। वनौषधियों का एक उद्यान तथा औषधियों के लिए निर्माणशाला भी होनी चाहिए। रसशाला का परिचय रसरत्नसमुच्चयकार ने दिया है। सुश्रुत ने शारीरज्ञान के लिए शवच्छेद का विधान किया है। इसके लिए एक शवच्छेदगृह आवश्यक है। आतुरालय के भवन, कर्मचारियों तथा उपकरणों का विवरण चरक (सू० १५) ने विस्तार से दिया है। इसी प्रकार सूतिकागार और कुमारागार के उपकरणों का विधान है।

1. च० वि० ८।१५

शल्य-शालाक्य के लिए आवश्यक उपकरणों का संकेत अग्रोपहरणीय में किया गया है। रसायन के लिए, कुटीप्रावेशिक विधि में कुटी-निर्माण की विधि दी गयी है। अगदतन्त्र में उपकरणीय पशु-पक्षियों और द्रव्यों का वर्णन है। आहार के विविध कल्पों के निर्माण के लिए महानस का विवरण दिया गया है।[1]

परीक्षा

१०० अंकों में ३३ अंकों से उत्तीर्णता प्राप्त करने की प्रणाली उस समय नहीं थी। शिष्य जब शास्त्र और कर्म में पूर्ण निष्णात हो जाता था, तभी स्नातक बनता था। प्रश्नाष्टक (तन्त्र, तन्त्रार्थ, स्थान, स्थानार्थ, अध्याय, अध्यायार्थ, प्रश्न, प्रश्नार्थ) से छात्र की परीक्षा ली जाती थी। आयुर्वेद के विद्वान को इस प्रश्नाष्टक का वाक्यशः, वाक्यार्थशः और अर्थावयवशः व्याख्यान में समर्थ होना चाहिए। इसलिए इस प्रकार का व्याख्यान करने पर ही छात्रों को उपाधि दी जाती थी।[2] तक्षशिला में आचार्य जीवक की परीक्षा लोकविश्रुत है।

आदर्श शिक्षा

उपर्युक्त शास्त्रीय आधार पर विवेचन करने से आयुर्वेद की आदर्श शिक्षा वही होगी जिसमें :—

१. आचार्य, प्रवक्ता और अभिनिर्देशक (Teachers)—अर्थतत्त्वज्ञ, दृष्टकर्मा, अभ्यस्तकर्मा तथा अध्यापनसमर्थ हों। सभी विषयों के लिए तद्विद आचार्य हों।
२. शिष्य (Students)—निर्दिष्ट गुणों से युक्त, सत्पात्र, जिज्ञासु तथा सदाचार और अनुशासन का पालन करने वाले हों। इनका प्रवेश योग्यता-परीक्षा के बाद हो।
३. उपकरण (Equipments)—शिक्षा के सभी उपकरण पर्याप्त हों। भेषज-संग्रहालय, औषधि-उद्यान, रसशाला, शवच्छेदगृह, आतुरालय, सूतिकागार, कुमारागार, शस्त्रकर्मभवन, रसायनकुटी आदि के भवन तथा आवश्यक यन्त्रशस्त्र उपकरणों का संभार हो जिससे क्रियात्मक ज्ञान दिया जा सके।
४. पाठ्यक्रम (Curriculum)—आयुर्वेदीय शिक्षा के मूलभूत तत्त्वों तथा प्रयोजनों को दृष्टि में रखकर पाठ्यक्रम बने जिससे स्नातक शास्त्रज्ञ और क्रिया-कुशल होकर स्वास्थ्यरक्षण (Prevention) और रोगप्रशमन (Cure) सफलतापूर्वक कर सकें तथा विषयों में विशेषज्ञता भी प्राप्त कर सकें।
५. पाठेतर कार्यकलाप (Extracurricular activities)—शारीरिक,

---

१. सु० क० १।१०–११

२. च० सू० ३०।२८

मानसिक तथा सामाजिक विकास के लिए व्यायाम, खेल-कूद, संभाषा आदि की व्यवस्था हो।

६. कर्माभ्यास (Practical Experience)—स्नातकीय तथा स्नातकोत्तर अवधि में कर्माभ्यास की सुविधा मिले।

७. स्नातकोत्तर शिक्षण (Postgraduate Training)—शास्त्र की दृढ़ता और कर्मनैपुण्य के लिए अनुसन्धान और स्नातकोत्तर शिक्षण की व्यवस्था हो।

८. राजसम्मान (Status and opportunities of service) स्नातकों को राजसम्मान मिले तथा राजानुज्ञात होकर उन्हें लोकसेवा का अवसर प्राप्त हो।

प्राचीन विश्वविद्यालय

गुरुकुलों के अतिरिक्त, देश में कुछ ऐसे बड़े केन्द्र भी थे जहाँ देश और विदेश के विद्वान एकत्रित होकर ज्ञानयज्ञ में भाग लेते थे। ये केन्द्र विश्वविद्यालय के नाम से जाने जाते हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश में तक्षशिला विश्वविद्यालय था। पाणिनि (७ वीं शती ई० पू०) ने इसका उल्लेख किया है अतः उस काल में इसकी विकसित स्थिति होगी। इससे अनुमान होता है कि लगभग १००० ई० पू० में तक्षशिला विश्वविद्यालय की स्थापना हुई होगी। यह अस्वाभाविक नहीं कि पुनर्वसु आत्रेय और अग्निवेश का भी सम्पर्क इस विश्वविद्यालय से हो किन्तु तक्षशिला का नाम चरक में नहीं आता अतः सम्भव है, ये उसके कुछ पूर्व हुये हों। किन्तु यह तो विदित है कि जीवक का गुरु भिक्षु आत्रेय ६०० ई० के आसपास इस विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। जीवक ने यहाँ सात वर्षों तक रह कर अध्ययन किया था। संभवतः पूरा पाठ्यक्रम आठ वर्षों का था। इससे स्पष्ट है कि वहाँ आयुर्वेद की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। कायचिकित्सा, शल्य एवं द्रव्यगुण सभी का शिक्षण होता था। यह केन्द्र गुप्तकाल तक समाप्त हो गया[१]। दूसरा विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय (महाविहार) मगध के नालन्दा नामक स्थान में था। इसकी स्थापना कुमारगुप्त प्रथम (४१३-४५५ ई०) के समय में हुई और १२०० ई० तक रहा जब बख्तियार खिलजी के आक्रमण से वह ध्वस्त हुआ। यहाँ आयुर्वेद अनिवार्य पाठ्य विषयों में था[२]। धातु-विद्या की भी शिक्षा वहाँ होती थी जो खुदाई में निकली भट्ठी से सूचित होता है। यहाँ तिब्बत, चीन, कोरिया आदि देशों से भी छात्र आते थे। तीसरा विश्वविद्यालय पाल राजाओं के संरक्षण में विक्रमशिला (आधुनिक पथरहट्टा, भागलपुर, बिहार) में संचालित हो रहा था। यह धर्मपाल द्वारा ८वीं शती में स्थापित हुआ और चार शती तक चलता रहा। यहाँ तन्त्रप्रधान विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। संभवतः

---

१. अलतेकर : प्राचीन भारतीयशिक्षणपद्धति, पृ० ८४-८६

२. A. Ghosh : A Guide to Nalanda (Delhi, 1939), P. 42

रसशास्त्र का यह केन्द्र रहा होगा क्योंकि तन्त्र के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।[1]

इनके अतिरिक्त, काशी में शल्यप्रधान आयुर्वेद विद्यापीठ था जहाँ कभी काशिराज दिवोदास कुलपति थे तो विदेह में निमि के संरक्षण में शालाक्यप्रधान आयुर्वेद की शिक्षा होती थी। दक्षिणभारत में रसशास्त्र और विषविद्या पनप रही थी। शालिहोत्र अश्वशास्त्र का प्रशिक्षण पश्चिमोत्तर भारत में देते थे तो पालकाप्य गजशास्त्र की शिक्षा अङ्गदेश में दे रहे थे। इस प्रकार सारे देश में आयुर्वेद की शिक्षा के लिए स्थान-स्थान पर सामान्य एवं विशिष्ट केन्द्र बने हुये थे।

आयुर्वेदविद्या वंशपरंपरागत भी चलती थी। पुत्र पिता से प्रशिक्षण प्राप्त कर कुलकर्म में लग जाता था। गुप्तकाल में इन्हें 'आप्त' या 'मौल' भिषक् कहा जाता था इनका उस समय विशेष सम्मान था। पिता आवश्यक होने पर अपने पुत्र को दूसरे योग्य वैद्य के पास शिक्षा के लिए भेजता था[2]।

इस प्रकार आयुर्वेद शिक्षण को निम्नांकित भागों या अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है—

१. वंशपरंपरागत
२. गुरुगृहगत
३. गुरुकुलीय
४. विश्वविद्यालयीय

मध्यकाल

मुसलमानों के आक्रमण से १२०० ई० के आसपास सभी प्राचीन विश्वविद्यालय विध्वस्त हो गये। आयुर्वेद की शिक्षा देशी रियासतों और प्रादेशिक हिन्दू राजाओं के संरक्षण में गुरुपरम्परा और छोटे विद्याकेन्द्रों के रूप में चलती रही। कुछ मुसलमान राजा, जो गुणग्राही थे और जिनमें धार्मिक द्वेष नहीं था, वैद्यों को प्रश्रय देते थे। मुगलसाम्राज्य में तो हकीम और वैद्य मिलजुल कर काम करते थे। तब तक अनेक आयुर्वेदिक ग्रन्थ अरबी-फारसी में अनूदित हो चुके थे और यूनानी तिब्ब भी देशी भाषाओं के माध्यम से भारतीय वैद्यों तक पहुँच चुका था। राजकीय यूनानी हकीमों के साहचर्य से यूनानी तिब्ब की अनेक उपयोगी औषधियाँ तथा अन्य उपादेय तथ्य आयुर्वेद में प्रविष्ट हुये और वे आयुर्वेदीय ग्रन्थों में निबद्ध होकर आयुर्वेदीय शिक्षा के अंग बन गये। राजकीय स्तर पर धार्मिक कट्टरता के बावजूद मुसलमान फकीर भारत के धार्मिक वातावरण में घुलमिल गये। हिन्दू तान्त्रिक और मुसलमान

---

१. इस विश्वविद्यालय की खुदाई पुरातत्त्वविभाग द्वारा चल रही है जिससे अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं।
२. पठित वैद्य को केवल परम्परागत वैद्य से पृथक् करने के लिए चरक ने उसे 'त्रिज' कहा है।

फकीर दोनों ने मिलकर मध्यकालीन विशिष्ट विद्याओं—रसशास्त्र और नाड़ीविज्ञान के विकास में योगदान किया। इन विद्याओं के जिज्ञासु बिना धार्मिक भेदभाव के हिन्दू तान्त्रिक और मुसलमान फकीर दोनों से ज्ञान प्राप्त करते थे। मुगलकाल में भी जो शिक्षणपद्धति थी उसमें चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण स्थान था[१]। मुगलशासन के अन्तिम काल में मराठा पेशवाओं ने आयुर्वेद को पूर्ण संरक्षण दिया और इस काल में आयुर्वेदशिक्षा की उन्नति हुई। इन्हीं के काल में दक्षिण भारत में तंजोर का सरस्वती-महल पुस्तकालय स्थापित हुआ और आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ लिखे गये।

आधुनिक काल

भारत में जब १५वीं शती का अन्त होते-होते पुर्तगाली पहुँचे तब उनके साथ वहाँ के डॉक्टर भी आये। डच, फ्रेञ्च और अंगरेजों के साथ भी वही बात हुई। परिणाम यह हुआ कि १६वीं शती के उत्तरार्ध तक भारत में युरोपियन डाक्टर प्रायः सर्वत्र फैल गये। मुगल सम्राटों के दरबार में तो वे पहुँचते ही थे, कठिन बीमारियों में धनी-मानी व्यक्ति भी उनसे परामर्श लेने लगे थे। धीरे-धीरे यह प्रभाव बढ़ता गया।

लार्ड वारन हेस्टिंग्स ने अपनी वैयक्तिक आर्थिक सहायता से १७८१ में कलकत्ता मदरसा और १८१७ में हिन्दू कौलेज स्थापित किया। १९२२ में सरकार ने नेशनल मेडिकल इन्स्टीट्यूशन स्थापित किया जिसके अधीक्षक डा० टिटलर थे। यहाँ बंगाली में शिक्षा दी जाती थी। १ जनवरी १८२४ को कलकत्ता में संस्कृत कोलेज का प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व १८११ में लार्ड मिण्टो ने नदिया और तिरहुत में संस्कृत कॉलेज खोलने के लिए सिफारिश की थी। संस्कृत कालेज की स्थापना का उद्देश्य यह था कि प्राच्यविद्या के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भी प्रचार किया जाय। १८२७ से वहाँ भारतीय और युरोपीय चिकित्सा की कक्षायें प्रारम्भ हुई। डा० टिटलर पाश्चात्य चिकित्सा पढ़ाते थे और आयुर्वेदीय विषयों के लिए अन्य अध्यापक नियुक्त हुये। पण्डित मधुसूदन वहाँ के छात्र थे और बाद में वहीं अध्यापक हुये। यहाँ छात्र अस्थियों के अध्ययन के साथ-साथ पशुओं का छेदन भी करते थे। पाठ्यक्रम दो वर्षों का था। १८३३ में लार्ड विलियम बेंटिक ने एक कमिटी चिकित्सा के शिक्षण के सम्बन्ध में बनाई जिसने यह संस्तुति की कि शिक्षा का माध्यम अंगरेजी हो, मेडिकल कॉलेज की स्थापना की जाय और संस्कृत कॉलेज तथा मदरसा में जो चिकित्सा के पाठ्यक्रम हैं वे बन्द कर दिये जायँ। डा० टिटलर चाहते थे कि क्षेत्रीय भाषा में ही शिक्षा चलती रहे किन्तु लॉर्ड मेकाले की अंगरेजी नीति की विजय हुई। फलतः २० फरवरी १८३५ को कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना हुई और संस्कृत कॉलेज तथा मदरसा में चिकित्सा की शिक्षा समाप्त कर दी गई। पण्डित मधुसूदन

१. आईन-ए-अकबरी, पृ० २८९

मेडिकल कॉलेज में अपने दो सहायकों के साथ स्थानान्तरित हो गये। १० जनवरी १९३६ (या २८ अक्तूबर १९३५) को मधुसूदन के नेतृत्व में चार हिन्दुओं ने शवच्छेद किया जिसके सम्मान में फोर्ट विलियम से तोपों की सलामी दी गई। यह प्राचीन चिकित्सापद्धति पर आधुनिक पद्धति की विजय का शंखनाद था।

मधुसूदन का पुत्र भी मेडिकल कालेज के प्रथम दस छात्रों में था। पहले यहाँ आयुर्वेद और एलोपैथी दोनों की शिक्षा होती थी किन्तु बाद में केवल एलोपैथी पढ़ाई जाने लगी। इसके समानान्तर वर्नाक्युलर मेडिकल स्कूल भी स्थापित किये गये जहाँ का माध्यम हिन्दुस्तानी था। १८३२ में इसमें उर्दू कक्षा और १८५२ में बंगाली कक्षा भी जोड़ी गई। यहाँ के उत्तीर्ण स्नातक होस्पिटल असिस्टेण्ट, वी० एल० एम० एस० या नेटिव डाक्टर कहलाते थे। वस्तुतः अंगरेजों के बच्चों के लिए ही अंगरेजी माध्यम से मेडिकल कॉलेज खोला गया था क्योंकि हिन्दुस्तानी संस्थाओं में वे प्रवेश नहीं लेते थे। मेडिकल कालेज में वे प्रवेश लेने लगे। वर्नाकुलर मेडिकल स्कूल ही धीरे-धीरे बढ़ कर १८७५ में कैम्पबेल मेडिकल स्कूल हो गया। इस प्रकार के मेडिकल कॉलेज और स्कूल अन्य प्रान्तों में भी स्थापित हुये[१]।

ऐसी स्थिति में भी गुरु-परम्परा से आयुर्वेद की शिक्षा चलती रही। टोल जैसे विद्यालय भी यत्र-तत्र थे। मुर्शिदाबाद मुसलमान नवाबों की राजधानी थी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भी प्रमुख केन्द्र था। संयोग से आयुर्वेद की शिक्षा का भी वह एक महान केन्द्र बना। कविराज गंगाधर राय ने एक विशाल शिष्यमण्डली बनाई जिसने सारे देश में आयुर्वेद की शिक्षा का नये तेज के साथ प्रसार किया। इनके प्रमुख शिष्यों में द्वारकानाथ सेन, हाराणचन्द्र चक्रवर्ती, परेशनाथ सेन आदि थे जिन्होंने काशी, बंगाल, हरिद्वार, देहली और जयपुर की परम्परायें प्रवर्तित कीं। (देखें पृ० २२२)।

१८५७ की प्रथम स्वाधीनता क्रान्ति से ही आन्दोलन की लहर देश में फैलने लगी जो शनैः-शनैः बढ़ती ही गई। १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई और प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीयता की लहर जाग उठी। वैद्यवर्ग भी इससे अछूता न रहा। १९०७ में श्री शंकरदाजी शास्त्री पदे के नेतृत्व में अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन की स्थापना हुई जिसका प्रथम अधिवेशन नासिक में हुआ। आयुर्वेदीय शिक्षा को भी देशव्यापी स्तर पर संगठित एवं व्यवस्थित करने के उद्देश्य से महासम्मेलन के अन्तर्गत १९०८ में आयुर्वेद-विद्यापीठ की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत अखिल भारतीय स्तर पर आयुर्वेद की शिक्षा एवं परीक्षा का कार्य प्रारम्भ हुआ। १९१२ में

---

१. Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine : Vol. II Introduction, P. 14–20

इसकी सर्वप्रथम परीक्षा हुई।[1] १९१६ में अहमदनगर में आयुर्वेद कालेज स्थापित हुआ। अप्रिल १९१९ में ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज और २८ मई १९२२ को गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना हुई। कलकत्ता में १९१६ में यामिनीभूषण अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय और १९२१ में श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ स्थापित हुआ। १९२० में पूना का तिलक आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित हुआ। १९२१ में ही १३ फ़रवरी को दिल्ली में तिब्बिया एवं आयुर्वेदिक कालेज का उद्घाटन महात्मा गाँधी ने किया।

सर्जन जनरल पार्डी ल्युकिस, भारतीय चिकित्सासेवाओं के निदेशक तथा भूतपूर्व प्रिंसिपल कलकत्ता मेडिकल कॉलेज आयुर्वेद से अत्यन्त प्रभावित थे। वह कलकत्ता के कविराज विजयरत्न सेन के घनिष्ठ मित्रों में थे। उनके परामर्श से भारत सरकार ने १९१० में (लार्ड हार्डिञ्ज के काल में) आयुर्वेदिक संस्थाओं को प्रोत्साहन देने की नीति स्वीकृत की थी। ल्युकिस ने अपने एक भाषण में कहा था—'यह सोचना गलत होगा कि एलोपैथी में सभी अच्छी चीजें निहित हैं। जितना ही मैं इस देश में रहकर यहाँ के लोगों से मिलता हूँ उतना ही मैं इस बात से विश्वस्त होता हूँ कि वैद्यों और हकीमों की अनेक चिकित्साविधियाँ महत्तम उपयोगिता की हैं और जो आज नवीन आविष्कार के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है उसे इनके पूर्वज बहुत पहले ही जानते थे। यदि मैं बीमार पड़ूँ तो मैं एक अच्छे वैद्य या हकीम से चिकित्सा कराना पसन्द करूँगा न कि एक अयोग्य डाक्टर से। मैं इस बात की घोर निन्दा करता हूँ कि आधुनिक डाक्टर संघबद्ध होकर वैद्यों और हकीमों को अयोग्य और नीमहकीम कहकर नीची नजर से देखते हैं।'

"राजकीय व्यवस्थापिका सभा की पिछली बैठक में भारत के अस्पताल विभाग के इस्पेक्टर जनरल श्रीयुत सर्जन जनरल ल्युकिस ने बम्बई के डाक्टर ट्रूमालजी नारीमन की सलाह का उल्लेख करते हुए कहा था कि भारतीयों को आयुर्वेदविद्यालयों की अधिक संख्या में स्थापना की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।[2]"

मद्रास सरकार ने १७ अक्टूबर १९२१ आदेशसंख्या १३५१ के द्वारा देशी चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार करने के लिए खाँ बहादुर मोहम्मद उसमान की अध्यक्षता में एक कमिटी गठित की। इसने आयुर्वेद को राजकीय साहाय्य देने की अभिसंस्तुति की। रिपोर्ट में यह कहा गया कि भारतीय चिकित्सा पद्धतियाँ वैज्ञानिक हैं, चिकित्सा की दृष्टि से पूर्णक्षम और अल्पव्ययसाध्य हैं, चिकित्सकों का निबन्धन

---

१. Lakshmi Pathi : Ayurveda–siksha : Historical Background, P. 329–330

२. प्रज्ञा, स्वर्णजयन्ती विशेषांक, १९६५, पृ० ३०

किया जाय जिसके लिए एक कौंसिल बनाई जाय और पर्याप्त संख्या में विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित किये जायँ। इन विद्यालयों में भारतीय पद्धति के लोग पाश्चात्य वैज्ञानिक पद्धतियों का परिचय प्राप्त करें और जो अच्छाइयाँ हों उनको ग्रहण करें। इसी प्रकार पाश्चात्य पद्धति के अनुयायी भी भारतीय चिकित्सा से सीखें। वैद्यों को विशेष कर पाश्चात्य शल्यविज्ञान पर ध्यान देना चाहिए। कमिटी के सदस्य के० जी० नटेश शास्त्री ने मिश्रपद्धति के सम्बन्ध में अपनी विरोधात्मक टिप्पणी दी। इस कमिटी के निर्णयानुसार मद्रास में राजकीप स्कूल ऑफ इण्डियन मेडिसिन की स्थापना १९२५ में हुई।

इसी प्रकार का प्रयत्न बिहार में हुआ। १९१४ में पुरी और मुज़फ्फरपुर के संस्कृत कॉलेजों में आयुर्वेद की शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। १९१७ से बिहारोत्कल संस्कृत समिति के अन्तर्गत आयुर्वेद की परीक्षाओं की व्यवस्था की गई। तत्कालीन सरकार की क्या नीति थी वह बिहारप्रान्तीय वैद्यसम्मेलन के प्र० मन्त्री को प्रेषित बिहार सरकार के पत्र (दिनांक ३०।८।१७) से ज्ञात होता है'।

१९१८ में प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन में मुजफ्फरपुर के सिविलसर्जन डा० हैण्डमार्च ने सक्रिय भाग लिया। इसमें यह प्रस्ताव किया गया कि मुजफ्फरपुर कालेज में आयुर्वेद के लिए प्रयोगशाला और चिकित्सालय खोलने के लिए सरकार व्यवस्था करे। इसके अतिरिक्त, शारीर और शल्यतन्त्र में विशिष्ट व्याख्यान कराये जायँ और उनकी क्रियात्मक व्यवस्था मुजफ्फरपुर अस्पताल में की जाय। १९१९ में बिहार-उड़ीसा संस्कृत असोसियेशन के पाठ्यक्रम में स्वास्थ्यविज्ञान का सन्निवेश किया गया। १९२१ में प्राचीन वैद्यों को हैजा, चेचक आदि के सम्बन्ध में प्रशिक्षण देने के लिए पटना में एक सैनिटरी स्कूल खोला गया। प्रान्तीय सम्मेलन (अधिवेशन मुंगेर, १९२५) ने एक सर्वसाधनसम्पन्न अष्टांग आयुर्वेद कालेज स्थापित करने की माँग भी सरकार से की। १९ जुलाइ, १९२१ को बिहार विधायिका परिषद् ने यह प्रस्ताव पारित किया कि आयुर्वेद और तिब्बी की शिक्षा के लिए एक-एक विद्यालय स्थापित किया जाय। १९२६ में पटना में गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक स्कूल की स्थापना हुई। १९४२ में यह स्थायी हुआ और १९४७ में महाविद्यालय में परिणत हुआ। इसके प्रथम प्राचार्य कविराज ज्ञानेन्द्रनाथ सेन थे।

बंगाल सरकार ने आयुर्वेद के सम्बन्ध में एक कमिटी १९२१-२२ में बनाई। १९३१ में विश्वनाथ आयुर्वेद कालेज की स्थापना हुई।

१. "The only System of Medicine officially recognised by the Government is that of Western Science and they regret they are not in a Position to depart from the Principle"

—P. C. Talents, under Secretary to Govt.

राजस्थान में २६ अगस्त १८६५ को महाराजा रामसिंह द्वारा जयपुर में संस्कृत कॉलेज की स्थापना हुई जिसमें आयुर्वेद के शिक्षण की भी व्यवस्था की गई। वहाँ केवल ग्रन्थ पढ़ाया जाता था और क्रियात्मक शिक्षा अध्यापक अपने निजी चिकित्सालयों में देते थे। १९२२ से इसमें प्रयोगशाला और औषधनिर्माणशाला की व्यवस्था हुई। १९३२ से धन्वन्तरि औषधालय में निदानचिकित्सा की व्यावहारिक शिक्षा दी जाने लगी। १ अगस्त १९४६ को माधवविलास प्रसाद में स्वतन्त्र राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना हुई। १९६७ में यह राजस्थान विश्वविद्यालय से संबद्ध हुआ।

संयुक्त प्रांत (अब उत्तरप्रदेश) की लेजिस्लेटिव कौंसिल में १४ दिसम्बर, १९२२ को आयुर्वेद-यूनानी का शिक्षा के लिए एक स्कूल खोलने का प्रस्ताव पारित हुआ। सरकार ने १९२५ में जस्टिस गोकर्णनाथ मिश्र की अध्यक्षता में एक कमिटी गठित की। इसने फरवरी १९२६ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें कालेजों को अनुदान देने तथा भारतीय चिकित्सापरिषद् की स्थापना के लिए संस्तुति की गई थी। तदनुसार १९२६ में भारतीय चिकित्सापरिषद्, उत्तरप्रदेश की लखनऊ में स्थापना हुई। इस सम्बन्ध में विधिवत् इण्डियन मेडिसिन ऐक्ट १९३९ में पारित हुआ। १९५४ में राजकीय आयुर्वेद कालेज, लखनऊ की विधिवत् स्थापना हुई यद्यपि १९४९ से ही मेडिकल कालेज में शिक्षण प्रारम्भ हो गया था।

महामना मदनमोहन मालवीय ने सर्वप्रथम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद को स्थान दिया। उस समय आयुर्वेद की शिक्षा देनेवाला यह अकेला ही विश्वविद्यालय था। यों प्राच्यविद्यासंकाय में आयुर्वेद-शास्त्राचार्य की पढ़ाई पहले से होती थी किन्तु आयुर्वेदिक कालेज विधिवत् १९२७ में प्रारम्भ हुआ[1]।

१९४७ के आसपास या उसके बाद अनेक कालेज स्थापित हुये। गुजरात में जामनगर का आयुर्वेद कॉलेज १९४६ में स्थापित हुआ। उसी वर्ष सूरत में भी आयुर्वेद कालेज की स्थापना हुई। पटियाला में विधिवत् १९५२-५३ में आयुर्वेदिक कालेज बना। गौहाटी में कालेज १९४८ में बना। पुरी का कालेज भी उसी आस-पास का है।

इस प्रकार सारे भारत में विषयप्रधान मिश्रपद्धति का पाठ्यक्रम प्रवर्तित हुआ। गणनाथसेन, आचार्य यादवजी, कैप्टन श्रीनिवासमूर्ति इस पद्धति के समर्थक नेताओं में थे। भारत सरकार द्वारा गठित चोपड़ा समिति ने भी अपने प्रतिवेदन (१९४८) में मिश्रित पाठ्यक्रम की ही सिफारिश की थी। पंडित कमिटी (१९४९) ने इन

---

१. देखें—प्रज्ञा, स्वर्णजयन्ती विशेषांक (१९६५), भाग ११ (२), पृ० २७–३३

कालेजों का स्तर तथा प्रवेशयोग्यता आदि बढ़ाने की सिफारिश की जिससे आयुर्वेदिक कालेजों में इण्टर साइन्स छात्र प्रविष्ट किये जाने लगे तथा क्रमशः इन पाठ्यक्रमों में आधुनिक विज्ञान की मात्रा बढ़ने लगी और आयुर्वेद का स्थान गौण होने लगा। चिकित्सा में भी अधिकांश स्नातक एलोपैथिक औषधों को ही प्रमुखता देने लगे और स्वयं को डाक्टर घोषित करने लगे[1]। इस निमित्त मेडिकल कौंसिल से रजिस्ट्रेशन और वैधानिक अधिकारों की बात उठी जो अस्वीकृत होती रही। परिणामस्वरूप, आयुर्वेदिक कालेजों का वातावरण अशान्त होता रहा। अन्त में इसका कोई समाधान न पाकर संस्थाओं को बन्द करने का निर्णय लिया गया। १९६० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज, जो भारत का प्रथम विश्वविद्यालयीय आयुर्वेदीय संस्था तथा देश का सर्वश्रेष्ठ महाविद्यालय कहा जाता था, बन्द कर दिया गया और उसके स्थान पर कालेज आफ मेडिकल साइन्सेज की स्थापना हुई। मद्रास आयुर्वेदिक कालेज की भी यही स्थिति हुई।

शुद्ध आयुर्वेद

दूसरी ओर, जब भी मिश्रपद्धति प्रचलित करने का निर्णय लिया गया वैद्यों का एक वर्ग इसके विरोध में रहा। उसका यह मत था कि आयुर्वेद की शिक्षा अपने रूप में हो और एलोपैथी मिला कर उसका रूप विकृत न किया जाय। मद्रास की ऐतिहासिक उसमान कमिटी की रिपोर्ट में उसके सदस्य नटेश शास्त्री ने अपनी जो विरोधात्मक टिप्पणी अंकित कराई थी वह ध्यान देने योग्य है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"मेरी सम्मति में पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान से अपरिचित वैद्य अपने शास्त्र को उसकी अपेक्षा, जो एलोपैथिक पद्धति भी जानते हैं, अधिक अच्छी तरह समझ सकता है। आयुर्वेद के सिद्धान्त पाश्चात्य सिद्धान्तों से नितान्त भिन्न हैं अतः आयुर्वेद को पहले स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का अवसर दिया जाय जिससे वह

---

१. अग्निवेश : आयुर्वेदिक डाक्टर, एक मनोविश्लेषण आज, (वाराणसी), ९ सितम्बर, १९७२। जिस प्रकार मिश्रयुग के प्रारम्भ में अनेक डॉक्टर आयुर्वेद में दीक्षित होकर चमत्कार उत्पन्न करने में सफल हुये उसी प्रकार बाद में मिश्रपद्धति के आयुर्वेदीय स्नातकों में आधुनिक चिकित्साविज्ञान में वैशिष्ट्य लाकर लोक को चमत्कृत करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इससे प्रेरित हो अनेक आयुर्वेदीय स्नातक विदेश गये और ऐसी उपाधियाँ प्राप्त कीं। इनमें दो उल्लेखनीय हैं—धर्मानन्द केसरवानी (गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक) और क० न० उडुप (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक)।

अपने पैरों पर खड़ा हो सके और तब दोनों पक्षों के लोग समन्वय का प्रयत्न करें। यदि इसके पूर्व समन्वय या मिश्रण का प्रयत्न होगा तो आयुर्वेद के लिए घातक होगा। शुद्ध वैद्यों (Pure Vaidyas) को मिश्र वैद्यों से हीन न समझा जाय। यह आयुर्वेदज्ञों पर छोड़ दिया जाय कि वे बाह्य जगत् से सम्पर्क करना चाहते हैं या नहीं[1]।"

मिश्रपद्धति के विद्यालय सर्वत्र खुल तो गये किन्तु विद्यापीठ की परीक्षाव्यवस्था भी समानान्तर चलती रही। वैद्यों का एक वर्ग प्राचीन पद्धति का समर्थक था और मिश्रपद्धति को हानिकर मानता था। भीतर-भीतर यह आग सुलगती रही जो १९४० के लगभग सतह के ऊपर आ गई। कलकत्ता के ज्योतिषचन्द्र सरस्वती गणनाथ सेन के विचारों का अवसर मिलने पर खण्डन करते रहते थे किन्तु मणीन्द्रकुमार मुकर्जी ने स्वयंभू वैद्यों की वकालत कर मिश्रपद्धति की संस्थाओं पर प्रहार प्रारम्भ किया[1]। १९४३ से १९४५ तक लगातार वह नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष रहे और उस मंच का उन्होंने इस कार्य में पूरा उपयोग किया।

चोपड़ाकमिटी के समक्ष भी अनेक वैद्यों (और डाक्टरों ने भी) ने मिश्रपद्धति विरोध में विचार व्यक्त किये थे[2]। यह विचारधारा जोर पकड़ती गई और १९५२ में बम्बई सरकार के तत्त्वावधान में वैद्यों ने एक शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया। अनेक संस्थाओं में यह पाठ्यक्रम लागू किया गया। १९५८ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त उडुपसमिति ने भी इसे चालू रखने की संस्तुति की। १९६० में योजना आयोग के द्वारा पैनल आन आयुर्वेद की बैठक १९-२० जुलाई १९६० को योजना मंत्री श्रीगुलजारीलाल नन्दा की अध्यक्षता में हुई। इसने भी शुद्ध आयुर्वेद का चार वर्षों का डिप्लोमा कोर्स चलाने का सुझाव दिया। अन्ततः १९६२ में महाबलेश्वर में सम्पन्न केन्द्रीय स्वास्थ्यपरिषद् ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम लागू करने का निर्णय लिया और तदनुसार १ जनवरी १९६३ को मोहनलाल व्यास (तत्कालीन स्वास्थ्य-मन्त्री, गुजरात) की अध्यक्षता में शुद्ध आयुर्वेद-शिक्षासमिति का गठन किया गया जिसके सचिव पं० शिवशर्मा बनाये गये। समिति ने अपना प्रतिवेदन तथा पाठ्यक्रम भारत सरकार को दे दिया जो स्वीकृत होकर सभी राज्यों में कार्यान्वयन के निमित्त भेज दिया गया। इस मत के समर्थक नेताओं में पण्डित शिवशर्मा, पं० अनन्त त्रिपाठी शर्मा, पं० हरिदत्त शास्त्री आदि प्रमुख रहे। श्री गुलजारीलाल नन्दा, मोरारजी देसाई, मोहनलाल व्यास जैसे राजनीतिक नेताओं का भी इसे समर्थन प्राप्त था।

---

१. Lakshmipathi : Ayurveda Siksha, Vol. I. PP. 336-337

२. चोपड़ाकमिटी रिपोर्ट, भाग १ (१९४८), पृ० ८५

किन्तु 'शुद्ध' का स्वरूप इनके मस्तिष्क में निर्भ्रान्त नहीं था। ये भी आधुनिक तथ्यों को लेने के पक्ष में थे किन्तु उनकी मात्रा कम, रूपान्तरित कर और पाठ्यक्रम के अन्त में लेना चाहते थे किन्तु इस प्रकार की कोई रेखा खींचना व्यावहारिक दृष्टि से कठिन था। संस्थायें अधिकांश साधनहीन थीं और शिक्षण ग्रन्थप्रधान और शास्त्रीय था। व्यावहारिकता की उसमें कमी थी अतः छात्रों में असन्तोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था। वस्तुतः शुद्ध आयुर्वेद का आन्दोलन मिश्रपद्धति की प्रतिक्रिया में प्रादुर्भूत हुआ था, उसके समक्ष भी कोई स्पष्ट लक्ष्य, साधन एवं पद्धति नहीं थी जिसके कारण यह सफल नहीं हो सका। किन्तु मिश्रपद्धति भी इसी प्रकार लड़खड़ा रही थी। १९६० में जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज बन्द किया गया तब एक ओर जहाँ इसका निराशाजनक प्रभाव अन्य मिश्रपद्धति की संस्थाओं पर पड़ा वहाँ दूसरी ओर शुद्ध आयुर्वेद के आन्दोलन को भी इससे बल मिला। इसी प्रकार लखनऊ के पहले दो बैच के छात्र आन्दोलन कर मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार दोनों पद्धतियाँ अतिवादिता के कारण असफल हो गईं और देश को दिशा देने में असमर्थ सिद्ध हुईं। समय-समय पर नियुक्त राजकीय समितियों में कुछ ने मिश्रपद्धति का, कुछ ने दोनों का और कुछ ने शुद्ध पद्धति का समर्थन किया। अतः राजकीय स्तर पर भी किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति बनी रही। ऐसी स्थिति में आयुर्वेद-शिक्षण दिशाहीन होकर लुढ़कता रहा। अपनी भावना के अनुसार कहीं शुद्ध और कहीं मिश्रपद्धति पर संस्थायें चलती रहीं। किन्तु ये प्रयोग किसी अंश में लाभकर भी हुये। मिश्रपद्धति के द्वारा आयुर्वेद का भण्डार भरा जो आगे अनुसन्धान में उपयोगी हुआ और शुद्ध आयुर्वेद ने नई पीढ़ी का ध्यान आयुर्वेद के महत्त्व की ओर आकर्षित किया। आगामी अनुसन्धानकार्य में दोनों ही उपयोगी सिद्ध हुये।

प्रारम्भ से ही कोई कार्यनीति या नियन्त्रण न होने से संस्थाओं के पाठ्यक्रम और उपाधि में एकरूपता नहीं थी यद्यपि अब तक देश के अधिकांश राज्यों में बोर्ड या फैकल्टी के द्वारा आयुर्वेदीय परीक्षाओं की व्यवस्था हो चुकी थी। अनेक विश्वविद्यालयों में भी आयुर्वेद की फैकल्टी स्थापित हो चुकी थी। गुजरात में ५ जनवरी १९६९ को आयुर्वेद का विश्वविद्यालय ही स्थापित हो गया किन्तु एकरूपता की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई थी। वैद्यसमाज इस विषम स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था और समय-समय पर इसके लिए आवाज उठाता था। एक गैर-सरकारी संस्था 'केन्द्रीय भारतीय चिकित्सापरिषद्' स्थापित भी हुई जिसने एक पाठ्यक्रम बनाकर देश में प्रचलित करने के लिए दिया। समय-समय पर भारत सरकार द्वारा नियुक्त समितियों ने भी इसके लिए सिफारिश की थी। फलस्वरूप १९७० में 'इण्डियन मेडिसिन सेण्ट्रल कौन्सिल ऐक्ट' बना जिसे भारतीय चिकित्सा

पद्धतियों में शिक्षा एवं व्यवसाय या नियन्त्रण एवं नियमन का कार्य सौंपा गया। इसके अनुसार १ सितम्बर १९७१ को ७२ मनोनीत सदस्यों की भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् गठित की गई जिसकी पहली बैठक २१-२४ सितम्बर १९७१ को हुई। इसके अन्तर्गत आयुर्वेद, यूनानी और सिद्ध के लिए पृथक्-पृथक् समितियाँ बनाई गई हैं। इन समितियों के अन्तर्गत शिक्षासमिति गठित की गई जो शिक्षा-संबन्धी बातों पर विचार करती है[1]। केन्द्रीय परिषद् के अब तक ५ अधिवेशन हो चुके। गत अधिवेशन १२–१३ अप्रिल १९७५ को संपन्न हुआ। इस परिषद् ने सर्वसम्मति से स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तरों के लिए पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है जो विचारार्थ राज्य सरकारों को प्रसारित किया जा रहा है। अनेक विश्वविद्यालयों में यह लागू भी हो गया है। परिषद् की स्थापना एवं शिक्षानिमित्त एकरूपता के प्रयास से वैद्यजगत् की चिरसंचित आकांक्षा पूर्ण हुई इसमें कोई सन्देह नहीं।

केन्द्रीय परिषद् के प्रथम सभापति पं० शिवशर्मा, आयुर्वेद समिति के प्रथम अध्यक्ष क० आशुतोष मजुमदार तथा परिषद् के प्रथम निबन्धक एवं सचिव श्री शिवकुमार मिश्र[2] हैं।

प्रवृत्तियों की दृष्टि से आधुनिक काल को निम्नांकित भागों में विभाजित कर सकते हैं। यह ध्यातव्य है कि किसी न किसी रूप में इनका सम्पर्क काशी से अवश्य रहा है। इस प्रकार काशी आयुर्वेद की ऐतिहासिक प्रगति का मानमन्दिर रही है जहाँ घड़ी की सुई देखकर कालचक्र की गति का ज्ञान होता रहा।

दार्शनिक युग (१८००-१९०० ई०)

आयुर्वेदीय इतिहास का आधुनिक काल वस्तुतः सन् १८०० से प्रारम्भ होता है जब कविराज गंगाधर राय का जन्म हुआ। कविराज गंगाधर ने अपनी विलक्षण विद्वत्ता, सर्वतोमुखी प्रतिभा और विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण इतिहास को एक नवीन दिशा प्रदान की। आगामी एक शताब्दी तक इन्होंने काल को प्रभावित किया और इन्होंने शास्त्रीय शिक्षा की ऐसी पद्धति प्रचलित की जिसने भारत में सैकड़ों विद्वान् वैद्यों को दीक्षित किया। इनकी शिष्य-परम्परा ने ही आगे चलकर आयुर्वेद की

---

१. शिवकुमार मिश्र : आयुर्वेदीय शिक्षा का क्रमिक विकास, सचित्र आयुर्वेद, दिसम्बर, १९७३

„ „ भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् के कार्यकलाप—सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७४

२. मिश्र जी बेगूसराय आयुर्वेदिक कालेज के स्नातक, जामनगर से एच० पी० ए० तथा भारत सरकार के स्वास्थ्यमन्त्रालय में वरिष्ठ अनुसन्धान पदाधिकारी (आयुर्वेद) हैं।

प्रगति का नेतृत्व किया और आजतक यह परम्परा अक्षुण्ण रूप में वर्तमान है। इसलिए इस युग को 'गंगाधर-युग' कहा जाय तो अधिक संगत होगा। कविराज गंगाधर के प्रमुख शिष्य कविराज परेशनाथ सेन काशी में ही रहे और मुर्शिदाबाद में कविराज गंगाधर के यहाँ जैसे शिष्यमण्डली एकत्रित होती थी वैसी ही काशी में कविराज परेशनाथ के यहाँ होने लगी। जिस प्रकार नव्यन्याय के बंगाल और काशी ये दो प्रधान केन्द्र माने जाते थे उसी प्रकार आयुर्वेद के भी ये दो मुख्य केन्द्र हो रहे थे। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन के पिता विद्याकल्पद्रुम श्री विश्वनाथ कविराज काशी में ही रहे और काशीनरेश के प्रधान चिकित्सक थे।

अष्टांग-युग (१९००-१९२५ ई०)

सन् १९००-१९२५ तक का काल 'अष्टांग-युग' कहा जा सकता है क्योंकि इस युग की सबसे बड़ी विशेषता रही आयुर्वेद की शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन। इसके पूर्व गंगाधर-युग में संहिताक्रम से आयुर्वेद का पठन-पाठन होता था किन्तु इस युग में विषयप्रधान पाठ्यक्रम बनाया गया और आयुर्वेद की परीक्षाएँ विधिवत् प्रारम्भ हुईं। पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में विशेषतः चतुर्थ चरण में आधुनिक युग के अनेक नरपुंगव भारतभूमि में अवतीर्ण हुए जिनमें कविराज धर्मदासजी चरकाचार्य, महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन, आचार्य यादवजी, पण्डित लक्ष्मीराम स्वामी, डॉ० गोपालाचार्लु, कैप्टेन श्रीनिवासमूर्ति आदि प्रमुख हैं। इन्हीं महानुभावों के द्वारा आयुर्वेद के नवीन युग का संस्थापन एवं संचालन होता रहा। देश की राष्ट्रीय जागृति के साथ आयुर्वेदजगत् ने भी संघटन की आवश्यकता का अनुभव किया और १९०७ ई० में आयुर्वेदमहोपाध्याय शंकरदाजी शास्त्री पदे के द्वारा अखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन की स्थापना हुई और उसका अधिवेशन नासिक में हुआ। इसके अन्तर्गत विद्यापीठ की स्थापना भी हुई जिसके द्वारा आयुर्वेद की परीक्षाएँ ली जाने लगी। १९१४ में महासम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन में यह स्वीकृत हुआ कि आयुर्वेद का पाठ्यक्रम ग्रन्थप्रधान न रखकर विषयप्रधान रखा जाय, तदनुसार विषयप्रधान पद्धति चल पड़ी। काशी के ख्यात विद्वान् चिकित्सक कविराज श्री उमाचरण भट्टाचार्य कविरत्न अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के दशम अधिवेशन (दिल्ली, सन् १९१९) के सभापति हुए थे। इसी समय इनके अतिरिक्त काशी में अनेक मूर्धन्य वैद्यों ने आयुर्वेद की पताका फहरायी जिनमें पांचाल-परम्परा के अर्जुन मिश्र तथा राजवैद्य श्री छन्नूलालजी और दाक्षिणात्य सम्प्रदाय के पं० त्र्यम्बकशास्त्री का नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इधर भदैनी (काशी) के पण्डित गोपालदत्त त्रिपाठी की भी बड़ी ख्याति थी। कविराज हरिदास रायचौधरी भी तत्कालीन काशी के अन्यतम कविराज रहे जिन्होंने रामकृष्ण सेवाश्रम की स्थापना में

प्रमुख योग दिया। सन् १८७७ ई० काशी के आयुर्वेदसमाज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष रहा। इसी वर्ष काशी में महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन जी का जन्म हुआ जिन्होंने आगे चलकर अगले युग का नेतृत्व किया तथा इसी साल १५ वर्ष की उम्र में बालक धर्मदास ने काशी आकर आयुर्वेद अध्ययन के लिए अपने मामा तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् कविराज परेशनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। इनके छोटे भाई श्री श्यामादास जी भी यहीं पढ़े। अन्तर इतना रहा कि श्यामादास वाचस्पति ने अपना केन्द्र कलकत्ता को बनाया और वहाँ प्राचीन प्रणाली पर वैद्यशास्त्रपीठ की स्थापना की और इधर धर्मदासजी को नये युग का नेतृत्व ग्रहण करना था अतः यह काशी में ही रहे।

संधि-युग (१९२५-१९३५)

आयुर्वेदीय इतिहास के आधुनिक काल के तृतीय युग को 'धर्मदास-युग' कहा जा सकता है और इसकी सीमा १९२५ से १९३५ ई० तक है। ऊपर कहा जा चुका है कि अखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन ने विषयप्रधान पाठ्यक्रम बनाया जिसमें आगे चलकर यह भी मान लिया गया कि आयुर्वेद के जो विषय लुप्त या विकल हो गये हैं उनकी पूर्ति आधुनिक चिकित्साशास्त्र से की जाय। यह सम्मिश्रण प्राचीन प्रणाली में ही हो गया और आयुर्वेद विद्यालयों में एक-दो डाक्टरों को रखकर यह कार्य सम्पन्न किया जाने लगा। उस समय तक आयुर्वेद के विद्यालय विकसित रूप में नहीं थे। आयुर्वेद की शिक्षा विशेषतः गुरुगृह में होती थी या संस्कृत महाविद्यालयों में आयुर्वेद का विभाग अङ्गभूत था। काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना होने के बाद संस्कृत महाविद्यालय में आयुर्वेद का विभाग स्थापित किया गया। महामना मालवीयजी देश की एक महान् विभूति हो गये हैं। उस गम्भीर दासत्वकाल में भी अपने विश्वविद्यालय में आयुर्वेद को स्थान देकर उन्होने अन्य विश्वविद्यालयों के समक्ष एक अपूर्व आदर्श रखा जिसका अनुकरण अब कुछ विश्वविद्यालयों ने किया है। 'अष्टांगयुग' में वैद्यों ने विषयप्रधान पाठ्यक्रम बनाया किन्तु इसका सुचारु सञ्चालन गुरुगृहों में सम्भव नहीं था अतः वैद्यों ने आधुनिक साधनसम्पन्न आयुर्वेदिक कालेजों की स्थापना की आवश्यकता का अनुभव किया और वैद्यसम्मेलनों ने तदर्थ जोरदार आंदोलन देशभर में किया। फलस्वरूप उसमान कमेटी की सिफारिशों के अनुसार १९२५ में इस प्रकार का प्रथम आयुर्वेदविद्यालय (गवर्नमेंट स्कूल आफ इण्डियन मेडिसिन) मद्रास में स्थापित हुआ जिसके प्रथम प्राचार्य कैप्टेन श्रीनिवासमूर्ति हुए। इसकी हवा समस्त देश में फैली और भारत के अन्य भागों में भी इस प्रकार के विद्यालय खुलने लगे। बिहार सरकार ने १९२६ में पटना में गवर्नमेंट आयुर्वेदिक स्कूल की स्थापना की। उसी वर्ष जयपुर में अखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन का १६ वाँ अधिवेशन महामना मालवीयजी

के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। उसी सम्मेलन में उन्होंने अष्टांग आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना पर ज़ोर दिया और काशी विश्वविद्यालय में ऐसे आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना का भी संकेत किया। फलतः १९२७ में काशी विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना हुई। इसके बाद कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानों में भी ऐसी संस्थाएं स्थापित हुई। इस दृष्टि से १९२५ बड़ा महत्वपूर्ण वर्ष रहा जिसने आयुर्वेद की शिक्षाप्रणाली में आमूल परिवर्तन कर दिया तथा आवश्यक अंशों की पूर्ति के लिए आधुनिक विज्ञान का भी सहारा लिया। महामनाजी का उद्देश्य था कि इन कालेजों के स्नातक अच्छे से अच्छे वैद्य निकलें तथा सर्जरी आदि विषयों में भी डाक्टरों से कम न हों। इसीलिए उन्होंने कालेज का अध्यक्ष कविराज धर्मदास को बनाया जो गंगाधर-युग के अन्तिम स्मारक थे और चरक के अवतार माने जाते थे। यह ध्यान देने की बात है कि कविराज धर्मदास ने मिश्रित प्रणाली के सर्वप्रथम कालेज की अध्यक्षता स्वीकार की और उनके भाई श्री श्यामादास वाचस्पति मिश्रित प्रणाली से असंस्पृष्ट 'वैद्यशास्त्रपीठ' का सञ्चालन कलकत्ते में कर रहे थे। इससे उस युग की प्रवृत्ति का स्पष्ट आभास मिलता है। वर्षों तक यह प्रणाली चलने पर भी आयुर्वेद-एलोपैथी का मिश्रण दूध पानी की तरह एकाकार नहीं हो सका, इसीलिए कविराज धर्मदासजी के शिष्यों में एक ओर जहाँ पण्डित सत्यनारायण शास्त्री, पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री तथा पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री हैं वहाँ दूसरी ओर पण्डित ब्रजमोहन दीक्षित और डाक्टर त्रिवेणीप्रसाद वरनवाल भी हैं। वस्तुतः धर्मदासजी सन्धिस्थल पर खड़े हैं जिन्होंने प्राचीन प्रणाली से शिष्यों को तैयार किया और नवीन मिश्रित प्रणाली के भी अग्रदूत बने, यह उनके हृदय की विशालता और मस्तिष्क की सन्तुलनक्षमता है। यों धर्मदासजी १९२० से ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग में आ गये थे। प्राचीन प्रणाली के इनके शिष्यों में सर्वप्रधान पण्डित सत्यनारायण शास्त्री हुए जिन्होंने कविराज उमाचरण, पण्डित अर्जुन मिश्र, पण्डित त्र्यम्बक शास्त्री तथा कविराज धर्मदास जी इस चतुष्टयी के बाद काशी की परम्परा अक्षुण्ण रखी और समस्त देश को अपने अपूर्व पाण्डित्य और अद्वितीय चिकित्साकौशल से प्रभावित किया। यह भी १९२५ में काशी विश्वविद्यालय में आयुर्वेदाध्यापक के रूप में प्रविष्ट हुए। मिश्रित प्रणाली के स्नातकों का प्रथम दल १९३४ में निकला जिसमें सर्वप्रथम पण्डित ब्रजमोहन दीक्षित रहे और ईश्वर की कृपा ऐसी रही कि आगे चिकित्साकार्य में भी इन्होंने इस मर्यादा का निर्वाह किया। १९२२ में पण्डित अर्जुन मिश्र के देहांत के बाद उनके शिष्य पण्डित लालचन्द्रजी तथा बाबू श्यामसुन्दराचार्य क्षेत्र में आये।

मिश्र-युग (१९३५ से १९४५)

१९३५ जुलाई में कविराज धर्मदासजी के देहावसान के साथ मिश्रित प्रणाली का

आरम्भिक युग समाप्त हो गया। इसकी भूमिका तो १९३३ में ही प्रारम्भ हो गयी थी जब काशी हिन्दू विद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के अन्तिम वर्ष के छात्रों ने असहयोग का आश्रय लिया और विश्वविद्यालय की परीक्षा में सम्मिलित नहीं हुए। कारण यह हुआ कि आयुर्वेद के साथ जिस भावना से एलोपैथी का मिश्रण किया गया वह धीरे-धीरे अनेक जटिलताओं का प्रसार करने लगी। एलोपैथी पढ़ने के बाद छात्रों के लिए वैधानिक अधिकारों की मांग स्वाभाविक थी और इसकी पूर्ति के लिए आधुनिक विज्ञान का अंश पर्याप्त मानदण्ड तक बढ़ाना भी आवश्यक था। छात्रों की वह मांग जोर पकड़ती गयी और बात यहाँ तक आ गयी कि आयुर्वेदिक कालेज में जब दोनों विषयों की शिक्षा होती है तब इसका अध्यक्ष भी वैद्य न होकर उभयज्ञ व्यक्ति हो। मिश्रित प्रणाली का रूप इस युग में स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला गया और महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन और कैप्टेन श्रीनिवासमूर्ति, आयुर्वेदिक छात्रों के आदर्श बने। अतएव मैंने इसे 'गणनाथ-युग' कहा है। यह युग कविराज धर्मदासजी के देहावसान से लेकर कविराज गणनाथ सेन के स्वर्गारोहण (१९३५-१९४५) तक है। १९३५ में नवम्बर मास २ से ८ तारीख तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में महामना मालवीयजी ने पंचमहाभूत-त्रिदोष-संभाषापरिषद् का आयोजन किया जिसके सभापति कविराज गणनाथ सेन तथा मन्त्री आचार्य यादवजी थे। कविराज जी आयुर्वेदिक फैकल्टी के डीन भी बनाये गये और इस काल में हिन्दू विश्वविद्यालय तथा भारत की अन्य आयुर्वेदीय संस्थाओं का नेतृत्व करने का सुअवसर उन्हें प्राप्त हुआ। काशी में इस काल में वैद्यचतुष्टयी के अस्तंगत होने पर पण्डित सत्यनारायण शास्त्री का प्रतिभा-सूर्य बड़ी प्रखरता और तीव्रता से नभोमण्डल में बढ़ने लगा और थोड़े ही समय में वह काशी के सर्वश्रेष्ठ वैद्य स्वीकार कर लिये गये। गंगाधर की परम्परा में इस युग का अकेला विद्वान् वह था जिसके प्रखर ओज के समक्ष भारत का कोई वैद्य आने का साहस नहीं करता। किन्तु काल के प्रभाव को कौन टाल सकता है? धर्मदासयुग की अन्तिम शिला पर खड़े होकर शास्त्रीजी ने अपनी सारी शक्ति से नवीन धारा को नियन्त्रित करना चाहा किन्तु यह धारा वेगवती जो थी तीव्र गति से आगे निकल गयी। इतिहास का चक्र आगे घूम गया। फिर भी शास्त्रीजी ने इस युग को पूर्ण रूप से प्रभावित किया और वह बराबर सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक और विद्वान् माने जाते रहे। यह उन्हीं का व्यक्तित्व था कि सामयिक धारा के विरोध में भी अचल रहा, समुद्र-सा अक्षोभ्य बना रहा। इस अवधि में उनकी विशाल शिष्यमण्डली बनी जो भारत भर में व्याप्त है।

श्री जगन्नाथशर्मा वाजपेयी का देहांत इसी युग में हो गया जिसके कारण काशी की बड़ी क्षति हुई, किन्तु काशी विश्वविद्यालय ने एक और रत्न जनता के

समक्ष रखा। पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री आयुर्वेदशास्त्राचार्य धर्मदासजी के श्रेष्ठ शिष्य तथा विश्वविद्यालय के सर्वोच्च स्नातकों में रहे। महामना मालवीयजी इनकी प्रतिभा और कौशल से बड़े प्रसन्न रहते थे। इनकी नियुक्ति तो आयुर्वेदिक कालेज में प्रारम्भ में ही हो गयी थी, किन्तु इनकी प्रतिभा का विकास वस्तुतः इस युग में वाजपेयीजी के देहान्त के बाद हुआ। इनकी चिकित्सा इतनी द्रुत गति से बढ़ी कि ४–५ वर्षों में ही यह पण्डित सत्यनारायणशास्त्री के बाद मूर्धन्य चिकित्सक गिने जाने लगे। पण्डित राजेश्वरदत्तजी गणनाथ-युग की ही देन है। आपकी रचना 'स्वास्थ्यवृत्तसमुच्चय' गणनाथ शैली का नमूना है। श्री अत्रिदेव गुप्त भी इसी युग के लेखक हैं।

गणनाथ-युग की प्रवृत्ति पूर्णतः अनुकरणात्मक रही है। पाश्चात्य विषयों को ज्यों का त्यों हिन्दी या संस्कृत में कर देना यह इस युग की ग्रन्थशैली है। गणनाथ सेन ने 'प्रत्यक्षशारीर' और 'सिद्धान्तनिदान' तथा पी० एस० वारियर के 'अष्टांगशारीर' और 'बृहच्छारीर' इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। यहाँ तक कि अनेक स्थलों में कसौटी आधुनिक शास्त्र माना गया और जो प्राचीन वचन उसपर खरे न उतरें वे प्रक्षिप्त या अशुद्ध करार दिये गये। गणनाथसेन की कृतियों में ऐसी उग्रता और असहिष्णुता अनेक स्थानों पर देखने में आती हैं। शान्ति और सहिष्णुता से समन्वय की स्थिर प्रवृत्ति का इस युग में अभाव मिलता है। १९४५ में गणनाथ सेन के देहान्त के साथ यह युग समाप्त माना जाय।

समन्वय-युग (१९४५-१९५५)

समन्वय की चेष्टा यादव-युग में पूर्ण रूप से प्रारम्भ हुई जिसका काल १९४५-१९५५ है। कविराज गणनाथ सेन की उग्र प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया १९४० के आसपास ही हो गयी थी। इस काल में दो घटनाएँ महत्त्व की हैं—एक तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में डाक्टर बालकृष्ण अमरजी पाठक का आना और, दूसरी, आयुर्वेदिक कालेज के प्रोफेसर डाक्टर घाणेकर की 'सुश्रुतसंहिता' की टीका का प्रकाशन। ये दोनों महानुभाव यादव-युग की समन्वयात्मक प्रवृत्तियों से प्रेरित आदर्श विद्वान् हुए। डाक्टर घाणेकर ने अपनी टीका में कविराज गणनाथ सेन के 'शारीरे सुश्रुतो नष्टः' इस वाक्य का प्रतिवाद करते हुए यह श्लोक दिया है जो उस युग की प्रवृत्ति का पूर्ण परिचायक है—

'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठो न च नष्टः कथञ्चन।
व्याख्याने तु परं कष्ट इति मे निश्चिता मतिः॥

उसी प्रकार की समन्वयात्मक कृति डाक्टर पाठक का 'मानसरोगविज्ञान' है। यों यादवजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जब आयुर्वेदिक कालेज खुला तब उसके सर्वप्रथम अध्यक्ष बनकर आये, किन्तु थोड़े ही दिन बाद उन्हें छोड़कर जाना पड़ा,

उस युग का नेतृत्व दूसरे के हाथ में था। कविराज गणनाथ सेन के देहान्त के बाद नवीन प्रयास का नेतृत्व आचार्य यादवजी के कंधों पर आया और इसी काल में उनका व्यक्तित्व भी चरम सीमा तक प्रस्फुटित हुआ। दोनों प्रणालियों के समन्वय का नारा इस युग के नेता ने बुलन्द किया। पाठ्यग्रन्थ समन्वयात्मक प्रणाली पर लिखे जाने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया जाने लगा तो चिकित्सकों को भी आधुनिक विज्ञान पर ध्यान देने की सलाह दी जाने लगी। शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में समन्वय का आदर्श सामने आया। इसी आसपास भारत सरकार ने चोपड़ा कमेटी का गठन किया जिसने भी समन्वय पर ही जोर दिया। इस कमेटी में भी आचार्य यादवजी तथा डाक्टर पाठक प्रमुख सदस्य थे। १९४७ में देश की स्वतन्त्रता के बाद समन्वय का स्वर और तीव्र होता गया और दोनों पद्धतियों को मिलाकर एक राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति बनाने की चर्चा भी सुनाई पड़ने लगी। विभिन्न राज्यों में भी आयुर्वेद की विकासयोजनाएँ बनने लगीं और कार्य आगे बढ़ा। इन कार्यों में भी काशी ने अपूर्व योगदान दिया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक और अध्यापक देश भर में फैलकर नवीन युग की प्रगति में सहयोग देने निकल पड़े। यादव-युग के प्रमुख विद्वान, 'रसरत्नसमुच्चयकार' के टीकाकार श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णीजी ने कालेज की प्रोफेसरी छोड़कर उत्तर प्रदेश के आयुर्वेद-विभाग में उपसंचालक का पद ग्रहण किया। विश्वविद्यालय के एक स्नातक श्री एम० एन० के० पिल्लई तिरुवांकुर-कोचीन में आयुर्वेद के निर्देशक बनाये गये। प्रोफेसर कविराज प्रताप सिंह राजस्थान के आयुर्वेद-डाइरेक्टर हुए। इसी प्रकार बंगाल, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान आदि प्रदेशों में यहाँ के स्नातकों ने नेतृत्व संभाला।

यादव-युग ने समन्वयप्रणाली पर अनेक लेखकों को क्षेत्र में ला खड़ा किया और साहित्यनिर्माण का कार्य जितना इस युग में हुआ उतना किसी में नहीं। काशी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बलवन्त सिंह जी के वनौषधिसम्बन्धी अनुशीलनात्मक अनेक ग्रन्थ उन्हींकी प्रेरणा के फल हैं। इसके अतिरिक्त पण्डित दामोदरशर्मा गौड़, पण्डित रमानाथ द्विवेदी, पण्डित रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी प्रभृति विद्वानों ने जो साहित्य प्रस्तुत किया वह आचार्यजी के दिशानिर्देश और युग का ही प्रभाव है। उस काल में काशी में अनेक नवीन स्नातक चिकित्सा क्षेत्र में आये जिन्होंने समन्वयात्मक प्रणाली अपनायी जिनमें पण्डित गंगासहाय पांडेय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काशी के बाहर के विद्वानों में श्री रणजित राय, डाक्टर धीरेन्द्रनाथ बनर्जी, पण्डित रामरक्ष पाठक आदि यादवयुग की ही देन हैं। यह माना जाता है कि आयुर्वेद-वाङ्मय का लगभग तीन-चौथाई काशी में प्रस्तुत हुआ।

शुद्ध-युग (१९५५–६५)

१९५५ तक यादवयुग की प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में शुद्ध आयुर्वेद का आन्दोलन सिर उठा चुका था। १९५६ में आचार्यजी के निधन से उस युग का अन्त हो गया। आचार्यजी के अनेक कट्टर अनुयायी दूसरे खेमे में शामिल हो गये। दूसरी ओर पण्डितकमिटी की सिफारिशों के अनुसार आयुर्वेद कालेजों में आई० एस-सी० प्रवेशयोग्यता रक्खी गई और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ए० बी० एम० एस० का पहला बैच १९५५ के आसपास ही निकला। यह आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते १९६० में आयुर्वेद कौलेज को ही ले डूबी। देश के अनेक भागों में शुद्ध आयुर्वेद की संस्थायें स्थापित हुईं। १९६२ में देश की केन्द्रीय स्वास्थ्य-परिषद् ने शुद्ध आयुर्वेद की नीति स्वीकृत कर ली और १९६३ में व्यासकमिटी ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया। इस प्रकार अत्याधुनिकता एवं अतिप्राचीनता की खींचातानी ऐसी बढ़ी कि आयुर्वेद-शिक्षा आवर्त्त में पड़कर चक्कर काटने लगी।

रचनात्मक युग (१९६५-१९७५)

१९६५ में काशी में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विभाग की स्थापना हुई। इसके पूर्व १९६३ में स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान की स्थापना हो चुकी थी। इसी काल में केन्द्रीय सरकार ने देशी चिकित्सापद्धतियों में अनुसन्धान के लिए केन्द्रीय परिषद् की विधिवत् स्थापना १९६९ में तथा भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् की स्थापना १९७१ में की। स्वायत्त परिषदों की स्थापना से वैद्यों को निर्णयात्मक अधिकार प्राप्त हुए। स्वास्थ्य-सेवाओं में देशी चिकित्सा को सम्मिलित करने के सम्बन्ध में भी सरकार द्वारा महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गये। अनेक राज्यों में स्वतन्त्र निदेशालय स्थापित हुए और देश के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद की शिक्षा को अङ्गीकार किया गया। विदेशों से भी आयुर्वेद के जिज्ञासु भारत की संस्थाओं में आकृष्ट होने लगे।

आधुनिक काल के प्रमुख आयुर्वेद-गुरु

बंगाल

१. कविराज गंगाधर राय—आधुनिक काल में आयुर्वेदीय शिक्षा के निर्माताओं में अग्रणी थे। इन्हें युगप्रवर्त्तक कहा जा सकता है। सारे देश में इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने आपकी परंपरा को प्रसारित किया। (देखें पृ० २२१)

२. कविराज द्वारकानाथ सेन—महामहोपाध्याय कविराज द्वारकानाथ सेन का जन्म बंगाल में फरीदपुर जिले के एक गाँव में १८४३ ई० में हुआ। उनके

पूर्वजों में रामशंकर कविराज रसेन्द्रसारसंग्रह के प्रणेता गोपालभट्ट के समकालीन थे। आचार्य गङ्गाधर राय के प्रमुख शिष्यों में आप थे। आप व्यावसायिक कीर्त्ति में अपने गुरु से भी आगे निकल गये। १८७५ में कलकत्ता में चिकित्सा प्रारंभ की और अल्पकाल में ही देश के मूर्धन्य चिकित्सकों में आपका स्थान हो गया। आपने अनेक शिष्य भी तैयार किये जिनमें काशी के उमाचरण कविराज, जयपुर के स्वामी लक्ष्मीराम और आपके ज्येष्ठ पुत्र योगीन्द्रनाथ सेन (पृ० २२३) प्रमुख थे। १९०६ में आप सरकार द्वारा महामहोपाध्याय पदवी से विभूषित किये गये। यह पदवी प्राप्त करनेवाले वैद्यों में आप सर्वप्रथम थे। ११ फरवरी १९०९ को आपका स्वर्गवास हुआ।

३. कविराज विजयरत्न सेन—बंगाल के विक्रमपुर नामक स्थान में २७ नवम्बर १८५८ को आपका जन्म हुआ। आपके पिता क० जगत् चन्द्र सेन थे। कलकत्ता में आपके मामा कविराज गंगाप्रसाद सेन प्रसिद्ध चिकित्सक थे। इनके साथ चिकित्सा का ज्ञान और क० कालीप्रसाद सेन से शल्य का ज्ञान प्राप्त किया। चिकित्साक्षेत्र में शीघ्र ही आपकी ख्याति देश में ही नहीं विदेश में भी फैल गई। तत्कालीन भारत सरकार के अधिकारियों को आयुर्वेद की ओर उन्मुख करने में आपका विशेष हाथ था। भारत के सर्जन॰ जनरल पार्डी ल्युकिस आपके घनिष्ठ मित्रों में थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी आपका उत्तम योगदान था। अष्टांगहृदय संस्कृतटीका सहित आपने मुद्रित कराया था। कलकत्ते में अस्पताल के साथ सर्वसाधनसम्पन्न आयुर्वेदमहाविद्यालय स्थापित करने के लिए आप प्रयत्नशील थे जिसे आपके शिष्य कविराज यामिनीभूषण ने पूरा किया। आपके शिष्यों में क० यामिनीभूषण राय, पटना आयुर्वेदिक कालेज के अध्यापक क० विधुभूषण सेन, वनौषधिदर्पणकार क० विरजाचरण गुप्त आदि प्रमुख थे। २१ सितम्बर १९११ को आपका स्वर्गवास हुआ।

४. क० यामिनीभूषण राय—आपका जन्म खुलना जिला (बंगाल) के पयोग्राम स्थान में १८७९ ई० में हुआ। आपके पिता कविराज पञ्चानन राय संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् और यशस्वी चिकित्सक थे जो भवानीपुर, कलकत्ता में रहते थे। इन्होंने सैकड़ों शिष्यों को तैयार किया। १९०५ में मेडिकल कालेज से एम० बी० किया और साथ-साथ संस्कृत में एम० ए० किया। अपने पिता से आयुर्वेद का अध्ययन किया और पुनः क० विजयरत्न सेन के साथ रहकर शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। थोड़े ही दिनों में आप कलकत्ता के मूर्धन्य चिकित्सकों में हो गये और आपकी वैद्यराज फार्मेसी की ख्याति सारे देश में फैली। किन्तु इससे आप सन्तुष्ट न थे। आपकी रुचि शिक्षाजगत् में विशेष थी। आपने १९१६ में अष्टांग आयुर्वेद कालेज की स्थापना कर अपने गुरु की आकांक्षा पूर्ण की। इसके वह प्रथम प्राचार्य भी थे। महात्मा गांधी ने ५ मई, १९२५ को कालेज एवं अस्पताल के भवन का शिलान्यास

किया। कविराजजी ने अनेक ग्रन्थों की भी रचना की जिनमें शालाक्यतन्त्र, प्रसूति-तंत्र, विषतंत्र आदि प्रमुख हैं। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के मद्रास अधिवेशन (१९१६) के आप अध्यक्ष थे। आपका स्वर्गवास ४७ वर्ष की आयु में ११ अगस्त १९२५ को हुआ। आपने सारी सम्पत्ति अष्टांग आयुर्वेद कालेज को वसीयत कर दी। आपका नाम कालेज से जुड़ा हुआ है।

५. कविराज श्यामादास वाचस्पति—आपका जन्म १८७६ ई० में बंगाल में नदिया के निकट चूपीग्राम में हुआ। आपके पिता अन्नदाप्रसाददास प्रख्यात चिकित्सक थे। श्यामादासजी ने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर १९२४ में काशी के प्रसिद्ध कविराज परेशनाथजी से आयुर्वेद का अध्ययन किया। व्यवसायार्थ कलकत्ता गये और क० द्वारकानाथ सेन के सम्पर्क में रहे फिर स्वतन्त्र कार्य में लग गये। चिकित्सा के साथ-साथ आप अध्यापन भी करते थे। सारे भारत से छात्र आपके पास आते थे। आपके नाम पर वैद्यशास्त्रपीठ कलकत्ता में स्थापित है जिसका सञ्चालन आपके पुत्र विमलानन्द तर्कतीर्थ कर रहे हैं। आपका स्वर्गवास १८ आषाढ़ १३४१ (बंगाब्द) में हुआ। अनेक शिष्यों में विजयकाली भट्टाचार्य, रामचन्द्र मल्लिक आदि हैं।

६. कविराज गणनाथ सेन—आपने अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से न केवल अपितु समस्त भारत के आयुर्वेदीय शिक्षाजगत् को प्रभावित किया था। कलकत्ता में अपने पिता के नाम पर सञ्चालित विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय के अध्यक्ष तो थे ही, भारत की प्रायः सभी प्रमुख आयुर्वेदीय संस्थाओं से आपका सम्बन्ध था। (देखें पृ० ४८९)।

बिहार

१. व्रजबिहारी चतुर्वेदी—पटना के राजकीय आयुर्वेदीय विद्यालय की स्थापना एवं संचालन में आपका बड़ा योगदान रहा है। आपका जन्म हाजीपुर (मुजफ्फरपुर) में हुआ। आपके पिता पं० मोहनलाल चतुर्वेदी कर्मकाण्ड के अच्छे विद्वान् थे। काशी के जम्मू संस्कृत विद्यालय में आयुर्वेद के विद्वान् पं० सीताराम मिश्र से आयुर्वेद का अध्ययन किया। हाजीपुर में १५ वर्ष चिकित्सा करने के बाद १९१२ में पटना आकर चिकित्सा करने लगे। हाजीपुर में आपने एक संस्कृत विद्यालय स्थापित किया जिसमें आयुर्वेद भी पढ़ाया जाता था। आपके प्रमुख शिष्यों में पं० शिवचन्द्र मिश्र, पं० हरिनन्दन झा आदि थे। आपके पुत्र पं० हरिनारायण चतुर्वेदी वर्षों तक पटना आयुर्वेद विद्यालय के प्रिंसिपल रहे। पं० व्रजबिहारी चतुर्वेदी द्वारा स्थापित आयुर्वेद रत्नाकर औषधालय की अनेक शाखायें बिहार के प्रमुख नगरों में थीं। ज्वरतत्त्वेन्दुशेखर, त्रुटिविवेक, मनोविज्ञान आदि आपकी रचनायें हैं। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन (लखनऊ अधिवेशन, १९४१) के आप अध्यक्ष रहे थे। बिहारप्रांतीय

वैद्यसम्मेलय के षष्ठ अधिवेशन (डाल्टनगंज) के भी आप अध्यक्ष हुये थे। विहार-प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन के सञ्चालन में भी आपका बड़ा योगदान था।

२. पं० शिवचन्द्र मिश्र—आप पं० व्रजविहारी चतुर्वेदी के प्रमुख शिष्यों में थे। संस्कृत, दर्शन आदि के भी आप प्रगाढ़ विद्वान् थे। मुजफ्फरपुर धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय के आयुर्वेदविभाग के वर्षों तक अध्यक्ष रहे थे। आपके अनेक शिष्यों में पं० रामदेव ओझा, पं० कालिकाप्रसाद मिश्र, पं० विन्ध्याचल मिश्र, गोस्वामी भैरवगिरि आदि प्रमुख थे।

इनके अतिरिक्त, विहार के आयुर्वेदीय शिक्षाजगत् में कविराज मन्मथनाथ वन्द्योपाध्याय (यतीन्द्रनारायण वन्द्योपाध्यायके पुत्र, यतीन्द्रनारायण अष्टांग आयुर्वेद कालेज, भागलपुर के संस्थापक), पं० रामदेव ओझा, पं० कालिकाप्रसाद मिश्र, पं० श्रीकृष्णमिश्र, गोस्वामी भैरवगिरि, पं० श्यामनारायण चतुर्वेद, पं० नारायणदत्त मिश्र, पं० गंगाधर शर्मा, क० शारदाचरण सेन, पं० विश्वनाथ झा प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं।

उत्तरप्रदेश

१. कविराज धर्मदास—आपका जन्म १८६२ ई० में नवद्वीप के पास चूपी ग्राम में हुआ। आपके पिता कविराज काशीप्रसन्न सेन थे। व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि का अध्ययन समाप्त कर काशी अपने मामा कविराज परेशनाथ सेन के पास चले आये और उनसे आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। काशी में ही रह कर आयुर्वेद का अध्ययन करने लगे। चरकसंहिता में विशिष्ट वैदुष्य के कारण आप चरकाचार्य कहे जाने लगे। महामना मालवीय के अनुरोध पर १९२० में प्राच्यविद्या-विभाग के अन्तर्गत आयुर्वेद-विभाग के अध्यक्ष हुये और आयुर्वेदिक कालेज स्वतन्त्र होने पर उसके भी प्राचार्य हुये। आपके शिष्यों में प्रमुख पं० सत्यनारायण शास्त्री, पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री, पं० दुर्गादत्त शास्त्री, कविराज व्रजमोहन दीक्षित आदि हैं। आपका स्वर्गवास १९३५ में हुआ।

२. पं० सत्यनारायण शास्त्री—आपका जन्म सं० १९४४ माघकृष्ण चतुर्थी को हुआ। आपके पितामह पं० शिवनन्दन पाण्डेय तथा पिता पं० बलभद्र पाण्डेय थे। आपके नाना वैद्यराज पं० शिवलोक शर्मा काशी के अगस्तकुण्ड मुहल्ले में रहते थे। जब उनके पुत्र अल्पायु हो गये तब शास्त्रीजी के पिता उनके उत्तराधिकारी बनकर वहीं रहने लगे। बालक सत्यनारायण ने अल्प काल में ही अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और इस सम्बन्ध में उसे तत्कालीन अनेक धुरंधर पण्डितों—पं० शिवकुमार शास्त्री, पं० गंगाधर शास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री प्रभृति का सम्पर्क हुआ। आयुर्वेद की शिक्षा कविराज धर्मदास से प्राप्त की और कुछ व्यावहारिक ज्ञान उनके चाचा क० अन्नदाचरणजी से प्राप्त किया। १९०९ ई० से आप चिकित्साकार्य

में लगे। महामना मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद-विभाग में आपको २० अगस्त १९२५ से अध्यापक नियुक्त किया। १९२७ में आप आयुर्वेद विभाग के प्रधान हुये और १९३८ में आयुर्वेदिक कालेज के प्राचार्य हुये। १९५० में वहाँ से विश्राम ग्रहण किया। उसी वर्ष आप राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के वैयक्तिक चिकित्सक नियुक्त हुये। १९५५ में आप पद्मभूषण की उपाधि से सम्मानित हुये। २३ सितम्बर १९६९ को आपका देहावसान हुआ। शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ आप एक उच्चकोटि के विख्यात चिकित्सक थे। आपका नाड़ीज्ञान सर्वत्र प्रशंसित था।

३. पं० अर्जुन मिश्र—होशियारपुर (पंजाब) के एक कसबे में आपका जन्म सं० १९१०, वैशाख शुक्ल ५ को हुआ। आपके पिता पं० भानुदत्तजी थे। पं० बालशास्त्री से व्याकरण तथा पं० दिलाराम जी (राजवैद्य संगरूर रियासत) से आयुर्वेद का अध्ययन किया। काशी में चिकित्सा प्रारम्भ की। अल्पकाल में ही विख्यात हो गये। प्रारंभ से ही अध्यापन करते थे; सन् १९१७ में आयुर्वेदविद्या-प्रबोधिनी पाठशाला' की स्थापना की जिसमें आजीवन लगे रहे। आपने एक बृहन्निघण्टु की रचना की थी जो अप्रकाशित रह गई। आपके अनेक शिष्य हुये जिनमें पं० पुरुषोत्तम उपाध्याय (काशी) पं० अमरनाथ औदीच्य (देहरादून), पं० राधाकृष्ण (काशी रसशाला), श्यामसुन्दराचार्य वैश्य, पं० नानकचन्द्र शर्मा (लाहौर), पं० लालचन्द्र वैद्य (प्रधानाचार्य, अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय, काशी) प्रभृति प्रमुख हैं। आपका स्वर्गवास कार्तिक कृष्ण सप्तमी सं० १९७९ को हुआ। आपने सारी सम्पत्ति विद्यालय को दे दी। बाद में यह संस्था आपके स्मारक रूप में अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय के रूप में प्रसिद्ध हुई।

४. डा० बालकृष्णजी अमरजी पाठक—आप गुजरात के प्रसिद्ध चिकित्सक थे। आधुनिक के साथ आयुर्वेदीय चिकित्साशास्त्र का भी चिन्तन-मनन किया था। १९३९ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कालेज के प्राचार्य बनकर आये और लगभग एकदशक तक इस पद पर रहे। यहीं आपका स्वर्गवास हुआ। शिक्षा-जगत् में आपका अच्छा प्रभाव था। चोपड़ा समिति के आप सक्रिय सदस्यों में थे। आपके निधन से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को अपूरणीय क्षति हुई।

५. राजेश्वरदत्त शास्त्री—आपका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल दशमी सं० १९५७, १५ जून, १९०१) को हुआ था। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आयुर्वेद शास्त्राचार्य कर १९२८ में वहीं आयुर्वेदिक कालेज में गृहचिकित्सक नियुक्त हुये। क्रमशः समुन्नतिपथ पर बढ़ते हुये १९५१ में आयुर्वेदविभाग के अध्यक्ष हुये तथा १९५७ में प्राचार्य हुये। १९५८ में अनुसन्धान के निदेशक भी हुये। १९६२ में विश्राम ग्रहण करने पर स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान में सम्मानित परामर्शदाता के

१. पं० सत्यनारायण शास्त्री—अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० २२५-२३२ (चौखम्बा, १९६१)

व्यवहार; शास्त्र और कर्म, पक्षी के दो पक्षों तथा रथ के दो चक्रों के समान हैं, जिनमें एक के भी खण्डित होने पर कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती[१]। शास्त्र में पण्डित और क्रिया में कुशल, उभयज्ञ वैद्य ही कार्यसाधन में समर्थ हो सकता है :—

यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥ सु. सू. ३।५१
उभयज्ञो हि भिषक् राजार्हो भवति ।—सु. सू. ३।४५

इसलिए वैद्य के गुणों में 'दृष्टकर्मा' और 'अभ्यस्तकर्मा' दिया है ।

मनोवैज्ञानिक विकास (Psychological development)

मनोवैज्ञानिक विकास, विशेषतः तर्कशक्ति का विकास आयुर्वेदीय शिक्षा का प्रमुख तत्त्व है । बिना तर्क के कार्य में सफलता नहीं मिल सकती और न शास्त्र का बोध ही हो सकता ।[२] मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति भी विकसित होनी चाहिए, जिससे आतुर और शिष्य के मानसिक भावों का पूर्णतः सम्यक् रूप से आकलन किया जा सके ।

वैज्ञानिक वृत्ति का विकास (Development of rational attitude)

प्रत्येक पदार्थ की सांगोपांग प्रमाणों द्वारा परीक्षा करने के बाद कर्तव्य में प्रवृत्त होने का अभ्यास उत्पन्न करना शिक्षा का एक अंग है । क्योंकि परीक्षा करके कार्य में प्रवृत्त होने से ही सफलता मिलती है । ("परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति") विद्या, वितर्क, विज्ञान, स्मृति, तत्परता और क्रिया ये ६ गुण वैद्य के लिए उपादेय बतलाये गये हैं ।[३] इनका आधान शिष्यों में होना चाहिए ।

वाक्-सौष्ठव (Expression of ideas)

अपने भावों को समुचित रूप से शुद्ध शब्दों में व्यक्त करने की कला में शिष्यों को दक्ष बनाना आवश्यक है, जिससे वे शास्त्र का प्रवचन कुशलता से कर सकें और लोगों में प्रभाव उत्पन्न कर सकें ।[४]

सद्वृत्त तथा मानवीय गुणों का विकास (Ethical conduct and development of human qualities)

शिष्यों को गुरुकुल में सद्वृत्त का पालन कराया जाय जिससे वे सदाचारी बनकर समाज का कल्याण कर सकें । इसके साथ-साथ दया, दाक्षिण्य आदि मानवीय गुणों को भी विकसित किया जाय[५] ।

---

१. सु. सू. ४।४८
२. च. सू. २।३६
३. च. सू. ९।२१
४. सु. सू. ३।५४
५. च. सू. ८।१८, सु. सू. २।४

लोकसंग्रह (Development of social ideas)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वैद्य को तो विशेषतः समाज में रह कर उसी की सेवा करनी है। अतः उसकी सामाजिक भावना विकसित हो इस पर ध्यान रखना आवश्यक है (लोकसंग्रहमेवादौ संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि)[१]।

शारीरिक विकास (Physical development)

जब वैद्य स्वयं स्वस्थ और वलिष्ठ न हो तब दूसरों को कैसे बना सकता है? अतः शिष्यों का समुचित शारीरिक विकास भी होना चाहिए[२]।

शिक्षण-विधि

शास्त्रज्ञान के तीन उपाय वतलाए गए हैं—अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसंभाषा[३]।

(१) अध्ययन (Study)—छात्र जब ग्रन्थ का प्रारम्भिक पाठ करता है तब उसे अध्ययन कहते हैं। यह शब्दप्रधान और उत्तान होता है। अध्ययन के बाद शास्त्र का जो चिन्तन-मनन किया जाता है वह स्वाध्याय कहा जाता है। यह अर्थ-प्रधान और गम्भीर होता है।

(२) अध्यापन (Teaching)—इसके तीन भाग हैं—प्रभाषण या प्रवचन (Lectures), अभिनिर्देशन (Demonstration) तथा योग्याकरण (Practical Training)। प्रस्तुत बिषय का अर्थतः व्याख्यान या विवेचन प्रभाषण कहलाता है। प्रभाषण तीन प्रकार से होता है—वाक्यशः, वाक्यार्थशः और अर्थावयवशः[४]। इस प्रकार विवेचन क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। ग्रन्थ का केवल अध्ययन बिना प्रभाषण के निरर्थक माना गया है और ऐसा व्यक्ति, जो अर्थ को हृदयंगम किए बिना ग्रन्थ को कण्ठाग्र किये हुए है, चन्दनभारवाही गर्दभ के समान माना गया है जिसे केवल भार की ही अनुभूति होती है, चन्दन की सुगन्ध नहीं मिलती[५]।

पदार्थों को प्रत्यक्षगम्य बना कर छात्रों को दिखलाना अभिनिर्देशन कहा जाता है। शारीर अवयवों के अवच्छेद में दर्शन और अभिनिर्देशन का विधान है[६]।

इसी प्रकार औषधद्रव्यों का नामरूपज्ञान के लिए अभिनिर्देशन किया जाता है। चिकित्सा और विकृतिविज्ञान में विकृतिजन्य चिह्नों को दिखलाया जाता है।

---

१. च. शा. ५।८
२. च. सू. १।१५
३. च. वि. ८।६
४. च. सू. ३०।१७
५. सु. सू. ४।२–३
६. सु. शा. ५।१९

छात्र जब स्वयं क्रियाओं का अभ्यास मानवेतर पदार्थों और प्राणियों पर करते हैं तब उसे योग्याकरण कहते हैं। सुश्रुत ने एक स्वतन्त्र अध्याय (सू. ९ अ.) में योग्या का वर्णन किया है। विषयों के सम्यक् ज्ञान के लिए यह अत्यावश्यक है। शास्त्रज्ञ होने पर भी यदि योग्या नहीं की तो कर्म में योग्यता नहीं आ सकती :—

"सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यः कर्मसु अयोग्यो भवति।"—सु॰ सू॰ ९।२

तद्विद्यसंभाषा (Seminars & Discussions)

शास्त्रज्ञों का परस्पर जो शास्त्रीय विचार-विमर्श होता है उसे तद्विद्यसंभाषा कहते हैं। इससे ज्ञान की वृद्धि होती है, सन्देह का निराकरण होता है तथा वाक्शक्ति बढ़ती है। अतः ज्ञानवृद्धि के लिए पाठ्यक्रम में इसे अनिवार्यतः रखना चाहिए। संभाषा दो प्रकार की बतलायी गयी है–संधाय संभाषा और विगृह्य संभाषा। जिज्ञासा-बुद्धि से विषय के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से जो संभाषा होती है वह सन्धाय संभाषा कहलाती है। इसके विपरीत, विपक्ष को पराजित करने के उद्देश्य से जो वाद-विवाद होता है वह विगृह्य संभाषा है[1]। ऐसे अनेक गोष्ठियों का विवरण चरकसंहिता में मिलता है इस सम्बन्ध में यज्जःपुरुषीय (च॰ सू॰ २५), आत्रेय-भद्रकाप्यीय (च. सू. २६) तथा फलमात्रासिद्धि (च. सि. ११) के प्रकरण अवलोकनीय हैं। इससे इन गोष्ठियों की कार्यपद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है।

सारांश में, आयुर्वेदीय शिक्षण-पद्धति में शास्त्र के व्यापक (Extensive) तथा गम्भीर (Intensive) अध्ययन पर जोर दिया जाता है, क्योंकि प्राणियों और द्रव्यों के इतने सूक्ष्म अवान्तर भेद और विशेषताएँ हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमानों के लिए भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है, साधारण जनों की तो बात ही क्या ? इसलिए शास्त्र के पूर्ण एवं सूक्ष्म अध्ययन करने का उपदेश किया गया है। इसके लिए तन्त्रयुक्तियों का भी निरूपण किया गया है।

शिक्षा के उपकरण

शिक्षा के उपकरणों में अभिनिर्देशन तथा क्रियात्मक ज्ञान के लिए त्रिविध (औद्भिद, जांगम और पार्थिव) द्रव्यों का संग्रहालय होना चाहिए। वनौषधियों का एक उद्यान तथा औषधियों के लिए निर्माणशाला भी होनी चाहिए। रसशाला का परिचय रसरत्नसमुच्चयकार ने दिया है। सुश्रुत ने शरीरज्ञान के लिए शवच्छेद का विधान किया है। इसके लिए एक शवच्छेदगृह आवश्यक है। आतुरालय के भवन, कर्मचारियों तथा उपकरणों का विवरण चरक (सू॰ १५) ने विस्तार से दिया है। इसी प्रकार सूतिकागार और कुमारागार के उपकरणों का विधान है।

१. च॰ वि॰ ८।१६

शल्य-शालाक्य के लिए आवश्यक उपकरणों का संकेत अग्रोपहरणीय में किया गया है। रसायन के लिए कुटीप्रावेशिक विधि में कुटी-निर्माण की विधि दी गयी है। अगदतन्त्र में उपकरणीय पशु-पक्षियों और द्रव्यों का वर्णन है। आहार के विविध कल्पों के निर्माण के लिए महानस का विवरण दिया गया है।[1]

परीक्षा

१०० अंकों में ३३ अंकों से उत्तीर्णता प्राप्त करने की प्रणाली उस समय नहीं थी। शिष्य जब शास्त्र और कर्म में पूर्ण निष्णात हो जाता था, तभी स्नातक बनता था। प्रश्नाष्टक (तन्त्र, तन्त्रार्थ, स्थान, स्थानार्थ, अध्याय, अध्यायार्थ, प्रश्न, प्रश्नार्थ) से छात्र की परीक्षा ली जाती थी। आयुर्वेद के विद्वान को इस प्रश्नाष्टक के वाक्यशः, वाक्यार्थशः और अर्थावयवशः व्याख्यान में समर्थ होना चाहिए। इसलिए इस प्रकार का व्याख्याय करने पर ही छात्रों को उपाधि दी जाती थी।[2] तक्षशिला में आचार्य जीवक की परीक्षा लोकविश्रुत है।

आदर्श शिक्षा

उपर्युक्त शास्त्रीय आधार पर विवेचन करने से आयुर्वेद की आदर्श शिक्षा वही होगी जिसमें :—

१. आचार्य, प्रवक्ता और अभिनिर्देशक (Teachers)—अर्थतत्त्वज्ञ, दृष्टकर्मा, अभ्यस्तकर्मा तथा अध्यापनसमर्थ हों। सभी विषयों के लिए तद्विद आचार्य हों।

२. शिष्य (Students)—निर्दिष्ट गुणों से युक्त, सत्पात्र, जिज्ञासु तथा सदाचार और अनुशासन का पालन करने वाले हों। इनका प्रवेश योग्यता-परीक्षा के बाद हो।

३. उपकरण (Equipments)—शिक्षा के सभी उपकरण पर्याप्त हों। भेषज संग्रहालय, औषधि-उद्यान, रसशाला, शवच्छेदगृह, आतुरालय, सूतिकागार, कुमारागार, शस्त्रकर्मभवन, रसायनकुटी आदि के भवन तथा आवश्यक यन्त्रशास्त्र उपकरणों का संभार हो जिससे क्रियात्मक ज्ञान दिया जा सके।

४. पाठ्यक्रम (Curriculum)—आयुर्वेदीय शिक्षा के मूलभूत तत्त्वों तथा प्रयोजनों को दृष्टि में रखकर पाठ्यक्रम बने जिससे स्नातक शास्त्रज्ञ और क्रियाकुशल होकर स्वास्थ्यरक्षण (Prevention) और रोगप्रशमन (Cure) सफलतापूर्वक कर सकें तथा विषयों में विशेषज्ञता भी प्राप्त कर सकें।

५. पाठेतर कार्यकलाप (Extracurricular activities)—शारीरिक

---

१. सु० क० १।१०-११

२. च० सू० ३०।२८

मानसिक तथा सामाजिक विकास के लिए व्यायाम, खेल-कूद, संभाषा आदि की व्यवस्था हो।

६. कर्माभ्यास (Practical Experience)—स्नातकीय तथा स्नातकोत्तर अवधि में कर्माभ्यास की सुविधा मिले।

७. स्नातकोत्तर शिक्षण (Postgraduate Training)—शास्त्र की दृढ़ता और कर्मनैपुण्य के लिए अनुसन्धान और स्नातकोत्तर शिक्षण की व्यवस्था हो।

८. राजसम्मान (Status and opportunities of service) स्नातकों को राजसम्मान मिले तथा राजानुज्ञात होकर उन्हें लोकसेवा का अवसर प्राप्त हो।

प्राचीन विश्वविद्यालय

गुरुकुलों के अतिरिक्त, देश में कुछ ऐसे बड़े केन्द्र भी थे जहाँ देश और विदेश के विद्वान एकत्रित होकर ज्ञानयज्ञ में भाग लेते थे। ये केन्द्र विश्वविद्यालय के नाम से जाने जाते हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश में तक्षशिला विश्वविद्यालय था। पाणिनि (७ वीं शती ई० पू०) ने इसका उल्लेख किया है अतः उस काल में इसकी विकसित स्थिति होगी। इससे अनुमान होता है कि लगभग १००० ई० पू० में तक्षशिला विश्वविद्यालय की स्थापना हुई होगी। यह अस्वाभाविक नहीं कि पुनर्वसु आत्रेय और अग्निवेश का भी सम्पर्क इस विश्वविद्यालय से हो किन्तु तक्षशिला का नाम चरक में नहीं आता अतः सम्भव है, ये उसके कुछ पूर्व हुये हों। किन्तु यह तो विदित है कि जीवक के गुरु भिक्षु आत्रेय ६०० ई० के आसपास इस विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। जीवक ने यहाँ सात वर्षों तक रह कर अध्ययन किया था। संभवतः पूरा पाठ्यक्रम आठ वर्षों का था। इससे स्पष्ट है कि वहाँ आयुर्वेद की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। कायचिकित्सा, शल्य एवं द्रव्यगुण सभी का शिक्षण होता था। यह केन्द्र गुप्तकाल तक समाप्त हो गया[1]। दूसरा विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय (महाविहार) मगध के नालन्दा नामक स्थान में था। इसकी स्थापना कुमारगुप्त प्रथम (४१३-४५५ ई०) के समय में हुई और १२०० ई० तक रहा जब बख्तियार खिलजी के आक्रमण से वह ध्वस्त हुआ। यहाँ आयुर्वेद अनिवार्य पाठ्य विषयों में था[2]। धातुविद्या की भी शिक्षा वहाँ होती थी जो खुदाई में निकली भट्ठी से सूचित होता है। यहाँ तिब्बत, चीन, कोरिया आदि देशों से भी छात्र आते थे। तीसरा विश्वविद्यालय पाल राजाओं के संरक्षण में विक्रमशिला (आधुनिक पथरघट्टा, भागलपुर, बिहार) में संचालित हो रहा था। यह धर्मपाल द्वारा ८वीं शती में स्थापित हुआ और चार शती तक चलता रहा। यहाँ तन्त्रप्रधान विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। संभवतः

---

१. अलतेकर : प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति, पृ० ८४-८६

२. A. Ghosh : A Guide to Nalanda (Delhi, 1939), P. 42

रसशास्त्र का यह केन्द्र रहा होगा क्योंकि तन्त्र के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।[1]

इनके अतिरिक्त, काशी में शल्यप्रधान आयुर्वेद विद्यापीठ था जहाँ कभी काशिराज दिवोदास कुलपति थे तो विदेह में निमि के संरक्षण में शालाक्यप्रधान आयुर्वेद की शिक्षा होती थी। दक्षिण भारत में रसशास्त्र और विषविद्या पनप रही थी। शालिहोत्र अश्वशास्त्र का प्रशिक्षण पश्चिमोत्तर भारत में देते थे तो पालकाप्य गजशास्त्र की शिक्षा अङ्गदेश में दे रहे थे। इस प्रकार सारे देश में आयुर्वेद की शिक्षा के लिए स्थान-स्थान पर सामान्य एवं विशिष्ट केन्द्र बने हुये थे।

आयुर्वेदविद्या वंशपरंपरागत भी चलती थी। पुत्र पिता से प्रशिक्षण प्राप्त कर कुलकर्म में लग जाता था। गुप्तकाल में इन्हें 'आप्त' या 'मौल' भिषक् कहा जाता था इनका उस समय विशेष सम्मान था। पिता आवश्यक होने पर अपने पुत्र को दूसरे योग्य वैद्य के पास शिक्षा के लिए भेजता था[2]।

इस प्रकार आयुर्वेद शिक्षण को निम्नांकित भागों या अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है—

१. वंशपरंपरागत
२. गुरुगृहगत
३. गुरुकुलीय
४. विश्वविद्यालयीय

मध्यकाल

मुसलमानों के आक्रमण से १२०० ई० के आसपास सभी प्राचीन विश्वविद्यालय विध्वस्त हो गये। आयुर्वेद की शिक्षा देशी रियासतों और प्रादेशिक हिन्दू राजाओं के संरक्षण में गुरुपरम्परा और छोटे विद्याकेन्द्रों के रूप में चलती रही। कुछ मुसलमान राजा जो गुणग्राही थे और जिनमें धार्मिक द्वेष नहीं था वैद्यों को प्रश्रय देते थे। मुगलसाम्राज्य में तो हकीम और वैद्य मिलजुल कर काम करते थे। तब तक अनेक आयुर्वेदिक ग्रन्थ अरबी-फारसी में अनूदित हो चुके थे और यूनानी तिब्ब भी देशी भाषाओं के माध्यम से भारतीय वैद्यों तक पहुँच चुका था। राजकीय यूनानी हकीमों के साहचर्य से यूनानी तिब्ब की अनेक उपयोगी औषधियाँ तथा अन्य उपादेय तथ्य आयुर्वेद में प्रविष्ट हुये और वे आयुर्वेदीय ग्रन्थों में निबद्ध होकर आयुर्वेदीय शिक्षा के अंग बन गये। राजकीय स्तर पर धार्मिक कट्टरता के बावजूद मुसलमान फकीर भारत के धार्मिक वातावरण में घुलमिल गये। हिन्दू तान्त्रिक और मुसलमान

---

१. इस विश्वविद्यालय की खुदाई पुरातत्वविभाग द्वारा चल रही है जिससे अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं।

२. पठित वैद्य को केवल परम्परागत वैद्य से पृथक् करने के लिए चरक ने उसे 'त्रिज' कहा। केवल परम्परागत वैद्य 'वैद्यपुत्र' कहे जाते थे। देखें:— 'हिताय वैद्यपुत्राणां यथावत् सम्प्रकाश्यते।'—(धन्वन्तरिनिघण्टु)

फकीर दोनों ने मिलकर मध्यकालीन विशिष्ट विद्याओं—रसशास्त्र और नाडीविज्ञान के विकास में योगदान किया। इन विद्याओं के जिज्ञासु बिना धार्मिक भेदभाव के हिन्दू तान्त्रिक और मुसलमान फकीर दोनों से ज्ञान प्राप्त करते थे। मुगलकाल में भी जो शिक्षणपद्धति थी उसमें चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण स्थान था[1]। मुगलशासन के अन्तिम काल में मराठा पेशवाओं ने आयुर्वेद को पूर्ण संरक्षण दिया और इस काल में आयुर्वेदशिक्षा की उन्नति हुई। इन्हीं के काल में दक्षिण भारत में तंजोर का सरस्वती-महल पुस्तकालय स्थापित हुआ और आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ लिखे गये।

आधुनिक काल

भारत में जब १५वीं शती का अन्त होते-होते पुर्तगाली पहुँचे तब उनके साथ वहाँ के डॉक्टर भी आये। डच, फ्रेन्च और अंगरेजों के साथ भी वही बात हुई। परिणाम यह हुआ कि १६वीं शती के उत्तरार्ध तक भारत में युरोपियन डॉक्टर प्रायः सर्वत्र फैल गये। मुगल सम्राटों के दरबार में तो वे पहुँचते ही थे, कठिन बीमारियों में धनी-मानी व्यक्ति भी उनसे परामर्श लेने लगे थे। धीरे-धीरे यह प्रभाव बढ़ता गया।

लार्ड वारन हेस्टिंग्स ने अपनी वैयक्तिक आर्थिक सहायता से १७८१ में कलकत्ता मदरसा और १८१७ में हिन्दू कॉलेज स्थापित किया। १६२२ में सरकार ने नेशनल मेडिकल इन्स्टीट्यूशन स्थापित किया जिसके अधीक्षक डॉ० टिटलर थे। यहाँ बंगाली में शिक्षा दी जाती थी। १ जनवरी १८२४ को कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज का प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व १८११ में लार्ड मिण्टो ने नदिया और तिरहुत में संस्कृत कॉलेज खोलने के लिए सिफारिश की थी। संस्कृत कॉलेज की स्थापना का उद्देश्य यह था कि प्राच्यविद्या के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भी प्रचार किया जाय। १८२७ से वहाँ भारतीय और युरोपीय चिकित्सा की कक्षायें प्रारम्भ हुईं। डॉ० टिटलर पाश्चात्य चिकित्सा पढ़ाते थे और आयुर्वेदीय विषयों के लिए अन्य अध्यापक नियुक्त हुये। पण्डित मधुसूदन वहाँ के छात्र थे और बाद में वहीं अध्यापक हुये। यहाँ छात्र अस्थियों के अध्ययन के साथ-साथ पशुओं का छेदन भी करते थे। पाठ्यक्रम दो वर्षों का था। १८३३ में लॉर्ड विलियम बेंटिक ने एक कमिटी चिकित्सा के शिक्षण के सम्बन्ध में बनाई जिसने यह संस्तुति की कि शिक्षा का माध्यम अंगरेजी हो, मेडिकल कॉलेज की स्थापना की जाय और संस्कृत कॉलेज तथा मदरसा में जो चिकित्सा के पाठ्यक्रम हैं वे बन्द कर दिये जायँ। डॉ० टिटलर चाहते थे कि क्षेत्रीय भाषा में ही शिक्षा चलती रहे किन्तु लॉर्ड मेकाले की अंगरेजी नीति की विजय हुई। फलतः २० फरवरी १८३५ को कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना हुई और संस्कृत कॉलेज तथा मदरसा में चिकित्सा की शिक्षा समाप्त कर दी गई। पण्डित मधुसूदन

१. आईन-ए-अकबरी, पृ० २८६

मेडिकल कॉलेज में अपने दो सहायकों के साथ स्थानान्तरित हो गये। १० जनवरी १९३६ (या २८ अक्तूबर १९३५) को मधुसूदन के नेतृत्व में चार हिन्दुओं ने शवच्छेद किया जिसके सम्मान में फोर्ट विलियम से तोपों की सलामी दी गई। यह प्राचीन चिकित्सापद्धति पर आधुनिक पद्धति की विजय का शंखनाद था।

मधुसूदन का पुत्र भी मेडिकल कॉलेज के प्रथम दस छात्रों में था। पहले यहाँ आयुर्वेद और एलोपैथी दोनों की शिक्षा होती थी किन्तु बाद में केवल एलोपैथी पढ़ाई जाने लगी। इसके समानान्तर वर्नाक्युलर मेडिकल स्कूल भी स्थापित किये गये जहाँ का माध्यम हिन्दुस्तानी था। १८३२ में इसमें उर्दू कक्षा और १८५२ में बंगाली कक्षा भी जोड़ी गई। यहाँ के उत्तीर्ण स्नातक होस्पिटल असिस्टेण्ट, वी० एल० एम० एस० या नेटिव डॉक्टर कहलाते थे। वस्तुतः अंगरेजों के बच्चों के लिए ही अंगरेजी माध्यम से मेडिकल कॉलेज खोला गया था क्योंकि हिन्दुस्तानी संस्थाओं में वे प्रवेश नहीं लेते थे। मेडिकल कॉलेज में वे प्रवेश लेने लगे। वर्नाकुलर मेडिकल स्कूल ही धीरे-धीरे बढ़ कर १८७५ में कैम्पवेल मेडिकल स्कूल हो गया। इस प्रकार के मेडिकल कॉलेज और स्कूल अन्य प्रान्तों में भी स्थापित हुये[१]।

ऐसी स्थिति में भी गुरु-परम्परा से आयुर्वेद की शिक्षा चलती रही। टोल जैसे विद्यालय भी यत्र-तत्र थे। मुर्शिदाबाद मुसलमान नवाबों की राजधानी थी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भी प्रमुख केन्द्र था। संयोग से आयुर्वेद की शिक्षा का भी वह एक महान केन्द्र बना। कविराज गंगाधर राय ने एक विशाल शिष्यमण्डली बनायी जिसने सारे देश में आयुर्वेद की शिक्षा का नये तेज के साथ प्रसार किया। इनके प्रमुख शिष्यों में द्वारकानाथ सेन, हाराणचन्द्र चक्रवर्ती, परेशनाथ सेन आदि थे जिन्होंने काशी, बंगाल, हरिद्वार, देहली और जयपुर की परम्परायें प्रवर्तित कीं। (देखें पृ० २२२)।

१८५७ की प्रथम स्वाधीनता क्रान्ति से ही आन्दोलन की लहर देश में फैलने लगी जो शनैः-शनैः बढ़ती ही गई। १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई और प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीयता की लहर जाग उठी। वैद्यवर्ग भी इससे अछूता न रहा। १९०७ में श्री शंकरदाजी शास्त्री पदे के नेतृत्व में अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन की स्थापना हुई जिसका प्रथम अधिवेशन नासिक में हुआ। आयुर्वेदीय शिक्षा को भी देशव्यापी स्तर पर संगठित एवं व्यवस्थित करने के उद्देश्य से महासम्मेलन के अन्तर्गत १९०८ में आयुर्वेद-विद्यापीठ की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत अखिल भारतीय स्तर पर आयुर्वेद की शिक्षा एवं परीक्षा का कार्य प्रारम्भ हुआ। १९१२ में

१. Mukhodaphyaya : History of Indian Medicine : Vol II, Introduction, P. 14–20

इसकी सर्वप्रथम परीक्षा हुई। १९१६ में अहमदनगर में आयुर्वेद कालेज स्थापित हुआ। अप्रिल १९१९ में ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज और २८ मई १९२२ को गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना हुई। कलकत्ता में १९१६ में यामिनीभूषण अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय और १९२१ में श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ स्थापित हुआ। १९२० में पूना का तिलक आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित हुआ। १९२१ में ही १३ फरवरी को दिल्ली में तिब्बिया एवं आयुर्वेदिक कालेज का उद्घाटन महात्मा गाँधी ने किया।

सर्जन जनरल पार्डी ल्युकिस, भारतीय चिकित्सासेवाओं के निदेशक तथा भूतपूर्व प्रिंसिपल कलकत्ता मेडिकल कॉलेज आयुर्वेद से अत्यन्त प्रभावित थे। वह कलकत्ता के कविराज विजयरत्न सेन के घनिष्ठ मित्रों में थे। उनके परामर्श से भारत सरकार ने १९१० में (लॉर्ड हार्डिङ्ग के काल में) आयुर्वेदिक संस्थाओं को प्रोत्साहन देने की नीति स्वीकृत की थी।[१] ल्युकिस ने अपने एक भाषण में कहा था—'यह सोचना गलत होगा कि एलोपैथी में सभी अच्छी चीजें निहित हैं। जितना ही मैं इस देश में रहकर यहाँ के लोगों से मिलता हूँ उतना ही मैं इस बात से विश्वस्त होता हूँ कि वैद्यों और हकीमों की अनेक चिकित्साविधियाँ महत्तम उपयोगिता की हैं और जो आज नवीन आविष्कार के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है उसे इनके पूर्वज बहुत पहले ही जानते थे। यदि मैं बीमार पड़ूँ तो मैं एक अच्छे वैद्य या हकीम से चिकित्सा कराना पसन्द करूँगा न कि एक अयोग्य डॉक्टर से। मैं इस बात की घोर निन्दा करता हूँ कि आधुनिक डॉक्टर संघबद्ध होकर वैद्य और हकीमों को अयोग्य और नीमहकीम कहकर नीची नजर से देखते हैं।'

"राजकीय व्यवस्थापिका सभा की पिछली बैठक में भारत के अस्पताल विभाग के इन्स्पेक्टर जनरल श्रीयुत सर्जन जनरल ल्युकिस ने बम्बई के डॉक्टर ट्रेमालजी नारीमन की सलाह का उल्लेख करते हुए कहा था कि भारतीयों को आयुर्वेद-विद्यालयों की अधिक संख्या में स्थापना की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।[२]"

मद्रास सरकार ने १७ अक्तूबर १९२१ आदेशसंख्या १३५१ के द्वारा देशी चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार करने के लिए खाँ बहादुर मोहम्मद उसमान की अध्यक्षता में एक कमिटी गठित की। इसने आयुर्वेद को राजकीय साहाय्य देने की अभिसंस्तुति की। रिपोर्ट में यह कहा गया कि भारतीय चिकित्सा पद्धतियाँ वैज्ञानिक हैं, चिकित्सा की दृष्टि से पूर्णक्षम और अल्पव्ययसाध्य हैं, चिकित्सकों का निबन्धन

---

१. Lakshmi Pathi : Ayurveda-siksha : Historical Background, P 329–330

२. प्रज्ञा, स्वर्णजयन्ती विशेषांक, १९६५, पृ० ३०

किया जाय जिसके लिए एक कौंसिल बनाई जाय और पर्याप्त संख्या में विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित किये जायँ। इन विद्यालयों में भारतीय पद्धति के लोग पाश्चात्य वैज्ञानिक पद्धतियों का परिचय प्राप्त करें और जो अच्छाइयाँ हों उनको ग्रहण करें। इसी प्रकार पाश्चात्य पद्धति के अनुयायी भी भारतीय चिकित्सा के सीखें। वैद्यों को विशेष कर पाश्चात्य शल्यविज्ञान पर ध्यान देना चाहिए। कमिटी के सदस्य के० जी० नटेश शास्त्री ने मिश्रपद्धति के सम्बन्ध में अपनी विरोधात्मक टिप्पणी दी। इस कमिटी के निर्णयानुसार मद्रास में राजकीय स्कूल ऑफ इण्डियन मेडिसिन की स्थापना १९२५ में हुई।

इसी प्रकार का प्रयत्न बिहार में हुआ। १९१४ में पुरी और मुजफ्फरपुर के संस्कृत कॉलेजों में आयुर्वेद की शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। १९१७ से बिहारोत्कल संस्कृत समिति के अन्तर्गत आयुर्वेद की परीक्षाओं की व्यवस्था की गई। तत्कालीन सरकार की क्या नीति थी वह बिहारप्रान्तीय वैद्यसम्मेलन के प्र० मन्त्री को प्रेषित बिहार सरकार के पत्र (दिनांक ३०।८।१७) से ज्ञात होता है[१]।

१९१८ में प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन में मुजफ्फरपुर के सिविलसर्जन डॉ० हैण्डमार्न ने सक्रिय भाग लिया। इसमें यह प्रस्ताव किया गया कि मुजफ्फरपुर कालेज में आयुर्वेद के लिए प्रयोगशाला और चिकित्सालय खोलने के लिए सरकार व्यवस्था करे। इसके अतिरिक्त, शारीर और शल्यतन्त्र में विशिष्ट व्याख्यान कराये जायें और उनकी क्रियात्मक व्यवस्था मुजफ्फरपुर अस्पताल में की जाय। १९१९ में बिहार-उड़ीसा संस्कृत असोसियेशन के पाठ्यक्रम में स्वास्थ्यविज्ञान का सन्निवेश किया गया। १९२१ में प्राचीन वैद्यों को हैजा, चेचक आदि के सम्बन्ध में प्रशिक्षण देने के लिए पटना में एक सैनिटरी स्कूल खोला गया। प्रान्तीय सम्मेलन (अधिवेशन मुंगेर, १९२५) ने एक सर्वसाधनसम्पन्न अष्टांग आयुर्वेद कालेज स्थापित करने की माँग भी सरकार से की। १९ जुलाई, १९२१ को बिहार विधायिका परिषद् ने यह प्रस्ताव पारित किया कि आयुर्वेद और तिब्बी की शिक्षा के लिए एक-एक विद्यालय स्थापित किया जाय। १९२६ में पटना में गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक स्कूल की स्थापना हुई। १९४२ में यह स्थायी हुआ और १९४७ में महाविद्यालय में परिणत हुआ। इसके प्रथम आचार्य कविराज ज्ञानेन्द्रनाथ सेन थे।

बंगाल सरकार ने आयुर्वेद के सम्बन्ध में एक कमिटी १९२१–२२ में बनाई। १९३१ में विश्वनाथ आयुर्वेद कालेज की स्थापना हुई।

१. "The only system of medicine officially recognised by the Government is that of Western Science and they regret they are not in a position to depart from the principle."
—P. C. Talents, Under Secretary to Govt.

राजस्थान में २६ अगस्त १८६५ को महाराजा रामसिंह द्वारा जयपुर में संस्कृत कॉलेज की स्थापना हुई जिसमें आयुर्वेद के शिक्षण की भी व्यवस्था की गई। वहाँ केवल ग्रन्थ पढ़ाया जाता था और क्रियात्मक शिक्षा अध्यापक अपने निजी चिकित्सालयों में देते थे। १९२२ से इसमें प्रयोगशाला और औषधनिर्माणशाला की व्यवस्था हुई। १९३२ से धन्वन्तरि औषधालय में निदानचिकित्सा की व्यावहारिक शिक्षा दी जाने लगी। १ अगस्त १९४६ को माधवविलास प्रासाद में स्वतन्त्र राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापया हुई। १९६७ में यह राजस्थान् विश्वविद्यालय से संवद्ध हुआ।

संयुक्त प्रांत (अब उत्तरप्रदेश) की लेजिस्लेटिव कौंसिल में १४ दिसम्बर, १९२२ को आयुर्वेद-यूनानी की शिक्षा के लिए एक स्कूल खोलने का प्रस्ताव पारित हुआ। सरकार ने १९२५ में जस्टिस गोकर्णनाथ मिश्र की अध्यक्षता में एक कमिटी गठित की। इसने फरवरी १९२६ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें कालेजों को अनुदान देने तथा भारतीय चिकित्सापरिषद् की स्थापना के लिए संस्तुति की गई थी। तदनुसार १९२६ में भारतीय चिकित्सापरिषद्, उत्तरप्रदेश की लखनऊ में स्थापना हुई। इस सम्बन्ध में विधिवत् इण्डियन मेडिसिन ऐक्ट १९३९ में पारित हुआ। १९५४ में राजकीय आयुर्वेद कालेज, लखनऊ की विधिवत् स्थापना हुई यद्यपि १९४९ से ही मेडिकल कालेज में शिक्षण प्रारम्भ हो गया था।

महामना मदनमोहन मालवीय ने सर्वप्रथम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद को स्थान दिया। उस समय आयुर्वेद की शिक्षा देनेवाला यह अकेला ही विश्वविद्यालय था। यों प्राच्यविद्यासंकाय में आयुर्वेद-शास्त्राचार्य की पढ़ाई पहले से होती थी किन्तु आयुर्वेदिक कालेज विधिवत् १९२७ में प्रारम्भ हुआ[1]।

१९४७ के आसपास या उसके बाद अनेक कालेज स्थापित हुये। गुजरात में जामनगर का आयुर्वेद कॉलेज १९४६ में स्थापित हुआ। उसी वर्ष सूरत में भी आयुर्वेद कालेज की स्थापना हुई। पटियाला में विधिवत् १९५२-५३ में आयुर्वेदिक कालेज बना। गौहाटी में कॉलेज १९४८ में बना। पुरी का कॉलेज भी उसी के आस-पास का है।

इस प्रकार सारे भारत में विषयप्रधान शिक्षापद्धति का पाठचक्रम प्रवर्तित हुआ। गणनाथसेन, आचार्य यादवजी, कैप्टन श्रीनिवासमूर्ति इस पद्धति के समर्थक नेताओं में थे। भारत सरकार द्वारा गठित चोपड़ा समिति ने भी अपने प्रतिवेदन (१९४८) में मिश्रित पाठचक्रम की ही सिफारिश की थी। पंडित कमिटी (१९४९) ने इन

१. देखें—प्रज्ञा, स्वर्णजयन्ती विशेषांक (१९६५), भाग ११ (२), द्व० २७–३३

कॉलेजों का स्तर तथा प्रवेश योग्यता आदि बढ़ाने की सिफारिश की जिससे आयुर्वेदिक कॉलेजों में इण्टर साइन्स छात्र प्रविष्ट किये जाने लगे तथा क्रमशः इन पाठ्यक्रमों में आधुनिक विज्ञान की मात्रा बढ़ने लगी और आयुर्वेद का स्थान गौण होने लगा। चिकित्सा में भी अधिकांश स्नातक एलोपैथिक औषधों को ही प्रमुखता देने लगे और स्वयं को डाक्टर घोषित करने लगे[1]। इस निमित्त मेडिकल कौंसिल से रजिस्ट्रेशन और वैधानिक अधिकारों की बात उठी जो अस्वीकृत होती रही। परिणामस्वरूप, आयुर्वेदिक कॉलेजों का वातावरण अशान्त होता रहा। अन्त में इसका कोई समाधान न पाकर संस्थाओं को बन्द करने का निर्णय लिया गया। १९६० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कॉलेज, जो भारत का प्रथम विश्वविद्यालयीय आयुर्वेदीय संस्था तथा देश का सर्वश्रेष्ठ महाविद्यालय कहा जाता था, बन्द कर दिया गया और उसके स्थान पर कॉलेज आफ मेडिकल साइन्सेज की स्थापना हुई। मद्रास आयुर्वेदिक कॉलेज की भी यही स्थिति हुई।

शुद्ध आयुर्वेद

दूसरी ओर, जब भी मिश्रपद्धति प्रचलित करने का निर्णय लिया गया वैद्यों का एक वर्ग इसके विरोध में रहा। उसका यह मत था कि आयुर्वेद की शिक्षा अपने रूप में हो और एलोपैथी मिला कर उसका रूप विकृत न किया जाय। मद्रास की ऐतिहासिक उसमान कमिटी की रिपोर्ट में उसके सदस्य नटेश शास्त्री ने अपनी जो विरोधात्मक टिप्पणी अंकित कराई थी वह ध्यान देने योग्य है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"मेरी सम्मति में पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान से अपरिचित वैद्य अपने शास्त्र को उसकी अपेक्षा, जो एलोपैथिक पद्धति भी जानते हैं, अधिक अच्छी तरह समझ सकता है। आयुर्वेद के सिद्धान्त पाश्चात्य सिद्धान्तों से नितान्त भिन्न हैं अतः आयुर्वेद को पहले स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का अवसर दिया जाय जिससे यह

---

१. अग्निवेश : आयुर्वेदिक डाक्टर, एक मनोविश्लेषण आज, (वाराणसी), ९ सितम्बर, १९७२। जिस प्रकार मिश्रयुग के प्रारम्भ में अनेक डॉक्टर आयुर्वेद में दीक्षित होकर चमत्कार उत्पन्न करने में सफल हुये उसी प्रकार बाद में मिश्रपद्धति के आयुर्वेदीय स्नातकों में आधुनिक चिकित्साविज्ञान में वैशिष्ट्य लाकर लोक को चमत्कृत करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इससे प्रेरित हो अनेक आयुर्वेदीय स्नातक विदेश गये और ऐसी उपाधियाँ प्राप्त कीं। इनमें दो उल्लेखनीय हैं—धर्मानन्द केसरवानी (गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक) और क० न० उडुप (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक)।

अपने पैरों पर खड़ा हो सके और तब दोनों पक्षों के लोग समन्वय का प्रयत्न करें। यदि इसके पूर्व समन्वय या मिश्रण का प्रयत्न होगा तो आयुर्वेद के लिए घातक होगा। शुद्ध वैद्यों (Pure Vaidyas) को मिश्र वैद्यों से हीन न समझा जाय। यह आयुर्वेदज्ञों पर छोड़ दिया जाय कि वे बाह्य जगत् से सम्पर्क करना चाहते हैं या नहीं[1]।"

मिश्रपद्धति के विद्यालय सर्वत्र खुल तो गले किन्तु विद्यापीठ की परीक्षाव्यवस्था भी समानान्तर चलती रही। वैद्यों का एक वर्ग प्राचीन पद्धति का समर्थक था और मिश्रपद्धति को हानिकर मानता था। भीतर-भीतर यह आग सुलगती रही जो १९४० के लगभग सतह के ऊपर आ गई। कलकत्ता के ज्योतिषचन्द्र सरस्वती गणनाथ सेन के विचारों का अवसर मिलने पर खण्डन करते रहते थे किन्तु मणीन्द्र-कुमार मुकर्जी ने स्वयंभू वैद्यों की वकालत कर मिश्रपद्धति की संस्थाओं पर प्रहार प्रारम्भ किया। १९४३ से १९४५ तक लगातार वह नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष रहे और उस मंच का उन्होंने इस कार्य में पूरा उपयोग किया।

चोपड़ाकमिटी के समक्ष भी अनेक वैद्यों (और डाक्टरों ने भी) ने मिश्रपद्धति के विरोध में विचार व्यक्त किये थे[2]। यह विचारधारा जोर पकड़ती गई और १९५२ में बम्बई सरकार के तत्त्वावधान में वैद्यों ने एक शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया। अनेक संस्थाओं में यह पाठ्यक्रम लागू किया गया। १९५८ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त उडुपसमिति ने भी इसे चालू रखने की संस्तुति की। १९६० में योजना आयोग के द्वारा पैनल आन आयुर्वेद की बैठक १९-२० जुलाई १९६० को योजना मंत्री श्रीगुलजारीलाल नन्दा की अध्यक्षता में हुई। इसने भी शुद्ध आयुर्वेद का चार वर्षों का डिप्लोमा कोर्स चलाने का सुझाव दिया। अन्ततः १९६२ में महाबलेश्वर में सम्पन्न केन्द्रीय स्वास्थ्यपरिषद् ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम लागू करने का निर्णय लिया और तदनुसार १ जनवरी १९६३ को मोहनलाल व्यास (तत्कालीन स्वास्थ्य-मन्त्री, गुजरात) की अध्यक्षता में शुद्ध आयुर्वेद-शिक्षासमिति का गठन किया गया जिसके सचिव पं० शिवशर्मा बनाये गये। समिति ने अपना प्रतिवेदन तथा पाठ्यक्रम भारत सरकार को दे दिया जो स्वीकृत होकर सभी राज्यों में कार्यान्वयन के निमित्त भेज दिया गया। इस मत के समर्थक नेताओं में पण्डित शिवशर्मा, पं० अनन्त त्रिपाठी शर्मा, पं० हरिदत्त शास्त्री आदि प्रमुख रहे। श्री गुलजारीलाल नन्दा, मोरारजी देसाई, मोहनलाल व्यास जैसे राजनीतिक नेताओं का भी इसे समर्थन प्राप्त था।

---

१. Lakshmipathi : Ayurveda Siksha, Vol. I. PP. 336–337

२. चोपड़ाकमिटी रिपोर्ट, भाग १ (१९४८), पृ० ८५

किन्तु 'शुद्ध' का स्वरूप इनके मस्तिष्क में निर्भ्रान्ति नहीं था। ये भी आधुनिक तथ्यों को लेने के पक्ष में थे किन्तु उनकी मात्रा कम, रूपान्तरित कर और पाठ्यक्रम के अन्त में लेना चाहते थे किन्तु इस प्रकार की कोई रेखा खींचना व्यावहारिक दृष्टि से कठिन था। संस्थायें अधिकांश साधनहीन थीं और शिक्षण ग्रन्थप्रधान और शास्त्रीय था। व्यावहारिकता की उसमें कमी थी अतः छात्रों में असन्तोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था। वस्तुतः शुद्ध आयुर्वेद का आन्दोलन मिश्रपद्धति की प्रतिक्रिया में प्रादुर्भूत हुआ था, उसके समक्ष भी कोई स्पष्ट लक्ष्य, साधन एवं पद्धति नहीं थी जिसके कारण यह सफल नहीं हो सका। किन्तु मिश्रपद्धति भी इसी प्रकार लड़खड़ा रही थी। १९६० में जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज बन्द किया गया तब एक ओर जहाँ इसका निराशाजनक प्रभाव अन्य मिश्रपद्धति की संस्थाओं पर पड़ा वहाँ दूसरी ओर शुद्ध आयुर्वेद के आन्दोलन को भी इससे बल मिला। इसी प्रकार लखनऊ के पहले दो बैच के छात्र आन्दोलन कर मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार दोनों पद्धतियाँ अतिवादिता के कारण असफल हो गईं और देश को दिशा देने में असमर्थ सिद्ध हुईं। समय-समय पर नियुक्त राजकीय समितियों में कुछ ने मिश्रपद्धति का, कुछ ने दोनों का और कुछ ने शुद्ध पद्धति का समर्थन किया। अतः राजकीय स्तर पर भी किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति बनी रही। ऐसी स्थिति में आयुर्वेद-शिक्षण दिशाहीन होकर लुढ़कता रहा। अपनी भावना के अनुसार कहीं शुद्ध और कहीं मिश्रपद्धति पर संस्थायें चलती रहीं। किन्तु वे प्रयोग किसी अंश में लाभकर भी हुये। मिश्रपद्धति के द्वारा आयुर्वेद का भण्डार भरा जो आगे अनुसन्धान में उपयोगी हुआ और शुद्ध आयुर्वेद ने नई पीढ़ी का ध्यान आयुर्वेद के महत्त्व की ओर आकर्षित किया। आगामी अनुसन्धानयुग में दोनों ही उपयोगी सिद्ध हुये।

प्रारम्भ से ही कोई कार्यनीति या नियन्त्रण न होने से संस्थाओं के पाठ्यक्रम और उपाधि में एकरूपता नहीं थी यद्यपि अब तक देश के अधिकांश राज्यों में बोर्ड या फैकल्टी के द्वारा आयुर्वेदीय परीक्षाओं की व्यवस्था हो चुकी थी। अनेक विश्वविद्यालयों में भी आयुर्वेद की फैलक्टी स्थापित हो चुकी थी। गुजरात में ५ जनवरी १९६९ को आयुर्वेद का विश्वविद्यालय ही स्थापित हो गया किन्तु एकरूपता की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई थी। वैद्यसमाज इस विषम स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था और समय-समय पर इसके लिए आवाज उठाता था। एक गैर-सरकारी संस्था 'केन्द्रीय भारतीय चिकित्सापरिषद्' स्थापित भी हुई जिसने एक पाठ्यक्रम बनाकर देश में प्रचलित करने के लिए दिया। समय-समय पर भारत सरकार द्वारा नियुक्त समितियों ने भी इसके लिए सिफारिश की थी। फलस्वरूप १९७० में 'इण्डियन मेडिसिन सेण्ट्रल कौन्सिल ऐक्ट' बना जिसे भारतीय चिकित्सा

पद्धतियों में शिक्षा एवं व्यवसाय या नियन्त्रण एवं नियमन का कार्य सौंपा गया। इसके अनुसार १ सितम्बर १९७१ को ७२ मनोनीत सदस्यों की भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् गठित की गई जिसकी पहली बैठक २१–२४ सितम्बर १९७१ को हुई। इसके अन्तर्गत आयुर्वेद, यूनानी और सिद्ध के लिए पृथक्-पृथक् समितियाँ बनाई गई हैं। इन समितियों के अन्तर्गत शिक्षासमिति गठित की गई जो शिक्षा-सम्बन्धी बातों पर विचार करती है[1]। केन्द्रीय परिषद् का प्रतिवर्ष एक अधिवेशन होता है। इस परिषद् ने सर्वसम्मति से स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तरों के लिए पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है जो भारत सरकार द्वारा अनुमोदित भी हो चुका है। अनेक विश्वविद्यालयों में यह लागू भी हो गया है। परिषद् की स्थापना एवं शिक्षानिमित्त एकरूपता के प्रयास से वैद्यजगत् की चिरसंचित आकांक्षा पूर्ण हुई इसमें कोई सन्देह नहीं।

केन्द्रीय परिषद् के प्रथम सभापति पं० शिवशर्मा, आयुर्वेद समिति के प्रथम अध्यक्ष क० आशुतोष मजुमदार तथा परिषद् के प्रथम निबन्धक एवं सचिव श्री शिवकुमार मिश्र[2] हैं।

प्रवृत्तियों की दृष्टि से आधुनिक काल को निम्नांकित भागों में विभाजित कर सकते हैं। यह ध्यातव्य है कि किसी न किसी रूप में इनका सम्पर्क काशी से अवश्य रहा है। इस प्रकार काशी आयुर्वेद की ऐतिहासिक प्रगति का मानमन्दिर रही है जहाँ घड़ी की सुई देखकर कालचक्र की गति का ज्ञान होता रहा।

दार्शनिक युग (१८००-१९०० ई०)

आयुर्वेदीय इतिहास का आधुनिक काल वस्तुतः सन् १८०० से प्रारम्भ होता है जब कविराज गंगाधर राय का जन्म हुआ। कविराज गंगाधर ने अपनी बिलक्षण विद्वत्ता, सर्वतोमुखी प्रतिभा और विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण इतिहास को एक नवीन दिशा प्रदान की। आगामी एक शताब्दी तक इन्होंने काल को प्रभावित किया और इन्होंने शास्त्रीय शिक्षा की ऐसी पद्धति प्रचलित की जिसने भारत में सैकड़ों विद्वान् वैद्यों को दीक्षित किया। इनकी शिष्य-परम्परा ने ही आगे चलकर आयुर्वेद की

---

१. शिवकुमार मिश्र : आयुर्वेदीय शिक्षा का क्रमिक विकास, सचित्र आयुर्वेद, दिसम्बर, १९७२

" " भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् के कार्यकलाप—सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७४

२. मिश्र जी बेगूसराय आयुर्वेदिक कालेज के स्नातक, जामनगर से एच० पी० ए० तथा भारत सरकार के स्वास्थ्यमन्त्रालय में उपसलाहकार (आयुर्वेद) हैं।

प्रगति का नेतृत्व किया और आजतक यह परम्परा अक्षुण्ण रूप में वर्तमान है। इसलिए इस युग को 'गंगाधर युग' कहा जाय तो अधिक संगत होगा। कविराज गगाधर के प्रमुख शिष्य कविराज परेशनाथ सेन काशी में ही रहे और मुर्शिदावाद में कविराज गगाधर के यहाँ जैसे शिष्यमण्डली एकत्रित होती थी वैसी ही काशी में कविराज परेशनाथ के यहाँ होने लगी। जिस प्रकार नव्यन्याय के बंगाल और काशी ये दो प्रधान केन्द्र माने जाते थे उसी प्रकार आयुर्वेद के भी ये दो मुख्य केन्द्र हो रहे थे। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन के पिता विद्याकल्पद्रुम श्री विश्वनाथ कविराज काशी में ही रहे और काशीनरेश के प्रधान चिकित्सक थे।

अष्टांग युग (१९००-१९२५ ई०)

सन् १९००-१९२५ तक का काल 'अष्टांग-युग' कहा जा सकता है क्योंकि इस युग की सबसे बड़ी विशेषता रही आयुर्वेद की शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन। इसके पूर्व गंगाधर-युग में संहिताक्रम से आयुर्वेद का पठन-पाठन होता था किन्तु इस युग में विषयप्रधान पाठ्यक्रम बनाया गया और आयुर्वेद की परीक्षाएँ विधिवत् प्रारम्भ हुई। पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में विशेषतः चतुर्थ चरण में आधुनिक युग के अनेक नरपुंगव भारतभूमि में अवतीर्ण हुए जिनमें कविराज धर्मदासजी चरकाचार्य, महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन, आचार्य यादवजी, पण्डित लक्ष्मीराम स्वामी, डी० गोपालाचार्लु, कैप्टेन श्रीनिवासमूर्ति आदि प्रमुख हैं। इन्हीं महानुभावों के द्वारा आयुर्वेद के नवीन युग का संस्थापन एवं संचालन होता रहा। देश की राष्ट्रीय जागृति के साथ आयुर्वेदजगत् ने भी संघटन की आवश्यकता का अनुभव किया और १९०७ ई० में आयुर्वेदमहोपाध्याय शंकरदाजी शास्त्री पदे के द्वारा अखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन की स्थापना हुई और उसका अधिवेशन नासिक में हुआ। इसके अन्तर्गत विद्यापीठ की स्थापना भी हुई जिसके द्वारा आयुर्वेद की परीक्षाएँ ली जाने लगीं। १९१४ में महासम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन में यह स्वीकृत हुआ कि आयुर्वेद का पाठ्यक्रम ग्रन्थप्रधान न रखकर विषयप्रधान रखा जाय, तदनुसार विषयप्रधान पद्धति चल पड़ी। काशी के प्रख्यात विद्वान् चिकित्सक कविराज श्री उमाचरण भट्टाचार्य कविरत्न अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के दशम अधिवेशन (दिल्ली, सन् १९१९) के सभापति हुए थे। इसी समय इनके अतिरिक्त काशी में अनेक मूर्धन्य वैद्यों ने आयुर्वेद की पताका फहरायी जिनमें पांचाल परम्परा के अर्जुन मिश्र तथा राजवैद्य श्री छन्नूलालजी और दाक्षिणात्य सम्प्रदाय के पं० त्र्यम्बकशास्त्री का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इधर भदैनी (काशी) के पण्डित गोपालदत्त त्रिपाठी की भी बड़ी ख्याति थी। कविराज हरिदास रायचौधरी भी तत्कालीन काशी के अन्यतम कविराज रहे जिन्होंने रामकृष्ण सेवाश्रम की स्थापना में

प्रमुख योग दिया। सन् १८७७ ई० काशी के आयुर्वेदसमाज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष रहा। इसी वर्ष काशी में महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन जी का जन्म हुआ जिन्होंने आगे चलकर अगले युग का नेतृत्व किया तथा इसी साल १५ वर्ष की उम्र में बालक धर्मदास ने काशी आकर आयुर्वेद अध्ययन के लिए अपने मामा तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् कविराज परेशनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। इनके छोटे भाई श्री श्यामादास जी भी यहीं पढ़े। अन्तर इतना रहा कि श्यामादास वाचस्पति ने अपना केन्द्र कलकत्ता को बनाया और वहाँ प्राचीन प्रणाली पर वैद्यशास्त्रपीठ की स्थापना की और इधर धर्मदासजी को नये युग का नेतृत्व ग्रहण करना था अतः यह काशी में ही रहे।

संधि-युग (१९२५-१९३५)

आयुर्वेदीय इतिहास के आधुनिक काल के तृतीय युग को 'धर्मदास-युग' कहा जा सकता है और इसकी सीमा १९२५ से १९३५ ई० तक है। ऊपर कहा जा चुका है कि अखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन ने विषयप्रधान पाठ्यक्रम बनाया जिसमें आगे चलकर यह भी मान लिया गया कि आयुर्वेद के जो विषय लुप्त या विकल हो गये हैं उनकी पूर्ति आधुनिक चिकित्साशास्त्र से की जाय। यह सम्मिश्रण प्राचीन प्रणाली में ही हो गया और आयुर्वेद विद्यालयों में एक-दो डाक्टरों को रखकर यह कार्य सम्पन्न किया जाने लगा। उस समय तक आयुर्वेद के विद्यालय विकसित रूप में नहीं थे। आयुर्वेद की शिक्षा विशेषतः गुरुगृह में होती थी या संस्कृत महाविद्यालयों में आयुर्वेद का विभाग अङ्गभूत था। काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना होने के बाद संस्कृत महाविद्यालय में आयुर्वेद का विभाग स्थापित किया गया। महामना मालवीयजी देश की एक महान् विभूति हो गये हैं। उस गम्भीर दासत्वकाल में भी अपने विश्वविद्यालय में आयुर्वेद को स्थान देकर उन्होंने अन्य विश्वविद्यालयों के समक्ष एक अपूर्व आदर्श रखा जिसका अनुकरण अब कुछ विश्वविद्यालयों ने किया है। 'अष्टांगयुग' में वैद्यों ने विषयप्रधान पाठ्यक्रम बनाया किन्तु इसका सुचारु सञ्चालन गुरुगृहों में सम्भव नहीं था अतः वैद्यों ने आधुनिक साधनसम्पन्न आयुर्वेदिक कॉलेजों की स्थापना की आवश्यकता का अनुभव किया और वैद्यसम्मेलनों ने तदर्थ जोरदार आंदोलन देशभर में किया। फलस्वरूप उसमान कमेटी की सिफारिशों के अनुसार १९२५ में इस प्रकार का प्रथम आयुर्वेदविद्यालय (गवर्नमेंट स्कूल ऑफ इण्डियन मेडिसिन) मद्रास में स्थापित हुआ जिसके प्रथम प्राचार्य कैप्टेन श्रीनिवासमूर्ति हुए। इसकी हवा समस्त देश में फैली और भारत के अन्य भागों में भी इस प्रकार के विद्यालय खुलने लगे। बिहार सरकार ने १९२६ में पटना में गवर्नमेंट आयुर्वेदिक स्कूल की स्थापना की। उसी वर्ष जयपुर में अखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन का १६ वाँ अधिवेशन महामना मालवीयजी

के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। उसी सम्मेलन में उन्होंने अष्टांग आयुर्वेदिक कॉलेज की स्थापना पर जोर दिया और काशी विश्वविद्यालय में ऐसे आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना का भी संकेत किया। फलतः १९२७ में काशी विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना हुई। इसके बाद कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानों में भी ऐसी संस्थाएँ स्थापित हुईं। इस दृष्टि से १९२५ बड़ा महत्त्वपूर्ण वर्ष रहा जिसने आयुर्वेद की शिक्षाप्रणाली में आमूल परिवर्तन कर दिया तथा आवश्यक अंशों की पूर्ति के लिए आधुनिक विज्ञान का भी सहारा लिया। महामनाजी का उद्देश्य था कि इन कालेजों के स्नातक अच्छे से अच्छे वैद्य निकलें तथा सर्जरी आदि विषयों में भी डाक्टरों से कम न हों। इसीलिए उन्होंने कॉलेज का अध्यक्ष कविराज धर्मदास को बनाया जो गंगाधर-युग के अन्तिम स्मारक थे और चरक के अवतार माने जाते थे। यह ध्यान देने की बात है कि कविराज धर्मदास ने मिश्रित प्रणाली के सर्वप्रथम कॉलेज की अध्यक्षता स्वीकार की और उनके भाई श्री श्यामादास वाचस्पति मिश्रित प्रणाली से असंस्पृष्ट 'वैद्यशास्त्रपीठ' का सञ्चालन कलकत्ते में कर रहे थे। इससे उस युग की प्रवृत्ति का स्पष्ट आभास मिलता है। वर्षों तक यह प्रणाली चलने पर भी आयुर्वेद-एलोपैथी का मिश्रण दूध पानी की तरह एकाकार नहीं हो सका, इसीलिए कविराज धर्मदासजी के शिष्यों में एक ओर जहाँ पण्डित सत्यनारायण शास्त्री, पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री तथा पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री हैं वहाँ दूसरी ओर पण्डित ब्रजमोहन दीक्षित और डाक्टर त्रिवेणीप्रसाद बरनवाल भी हैं। वस्तुतः धर्मदासजी सन्धिस्थल पर खड़े हैं जिन्होंने प्राचीन प्रणाली से शिष्यों को तैयार किया और नवीन मिश्रित प्रणाली के भी अग्रदूत बने, यह उनके हृदय की विशालता और मस्तिष्क की सन्तुलनक्षमता है। यों धर्मदासजी १९२० से ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग में आ गये थे। प्राचीन प्रणाली के इनके शिष्यों में सर्वप्रधान पण्डित सत्यनारायण शास्त्री हुए जिन्होंने कविराज उमाचरण, पण्डित अर्जुन मिश्र, पण्डित त्र्यम्बक शास्त्री तथा कविराज धर्मदास जी इस चतुष्टयी के बाद काशी की परम्परा अक्षुण्ण रखी और समस्त देश को अपने अपूर्व पाण्डित्य और अद्वितीय चिकित्साकौशल से प्रभावित किया। यह भी १९२५ में काशी विश्वविद्यालय में आयुर्वेदाध्यापक के रूप में प्रविष्ट हुए। मिश्रित प्रणाली के स्नातकों का प्रथम दल १९३४ में निकला जिसमें सर्वप्रथम पण्डित ब्रजमोहन दीक्षित रहे और ईश्वर की कृपा ऐसी रही कि आगे चिकित्साकार्य में भी इन्होंने इस मर्यादा का निर्वाह किया। १९२२ में पण्डित अर्जुन मिश्र के देहांत के बाद उनके शिष्य पण्डित लालचन्द्रजी तथा बाबू श्यामसुन्दराचार्य क्षेत्र में आये।

मिश्र-युग (१९३५ से १९४५)

१९३५ जुलाई में कविराज धर्मदासजी के देहावसान के साथ मिश्रित प्रणाली का

आरम्भिक युग समाप्त हो गया। इसकी भूमिका तो १९३३ में ही प्रारम्भ हो गयी थी जब काशी हिन्दू विद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के अन्तिम वर्ष के छात्रों ने असहयोग का आश्रय लिया और विश्वविद्यालय की परीक्षा में सम्मिलित नहीं हुए। कारण यह हुआ कि आयुर्वेद के साथ जिस भावना से एलोपैथी का मिश्रण किया गया वह धीरे-धीरे अनेक जटिलताओं का प्रसार करने लगी। एलोपैथी पढ़ने के बाद छात्रों के लिए वैधानिक अधिकारों की माँग स्वाभाविक थी और इसकी पूर्ति के लिए आधुनिक विज्ञान का अंश पर्याप्त मानदण्ड तक बढ़ाना भी आवश्यक था। छात्रों की वह माँग जोर पकड़ती गयी और बात यहाँ तक आ गयी कि आयुर्वेदिक कालेज में जब दोनों विषयों की शिक्षा होती है तब इसका अध्यक्ष भी वैद्य न होकर उभयज्ञ व्यक्ति हो। मिश्रित प्रणाली का रूप इस युग में स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला गया और महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन और कैप्टेन श्रीनिवासमूर्ति, आयुर्वेदिक छात्रों के आदर्श बने। अतएव मैंने इसे 'गणनाथ-युग' कहा है। यह युग कविराज धर्मदासजी के देहावसान से लेकर कविराज गणनाथ सेन के स्वर्गारोहण (१९३५-१९४५) तक है। १९३५ में नवम्बर मास २ से ८ तारीख तक काशी हिन्दू विश्वविद्यासय में महामना मालवीयजी ने पंचमहाभूत-त्रिदोष-संभाषापरिषद् का आयोजन किया जिसके सभापति कविराज गणनाथ सेन तथा मन्त्री आचार्य यादवजी थे। कविराज जी आयुर्वेदिक फैकल्टी के डीन भी बनाये गये और इस काल में हिन्दू विश्वविद्यालय तथा भारत की अन्य आयुर्वेदीय संस्थाओं का नेतृत्व करने का सुअवसर उन्हें प्राप्त हुआ। काशी में इस काल में वैद्यचतुष्टयी के अस्तंगत होने पर पण्डित सत्यनारायण शास्त्री का प्रतिभा-सूर्य बड़ी प्रखरता और तीव्रता से नभोमण्डल में बढ़ने लगा और थोड़े ही समय में वह काशी के सर्वश्रेष्ठ वैद्य स्वीकार कर लिये गये। गंगाधर की परम्परा में इस युग का अकेला विद्वान् वह था जिसके प्रखर ओज के समक्ष भारत का कोई वैद्य आने का साहस नहीं करता। किन्तु काल के प्रभाव को कौन टाल सकता है? धर्मदासयुग की अन्तिम शिला पर खड़े होकर शास्त्रीजी ने अपनी सारी शक्ति से नवीन धारा को नियन्त्रित करना चाहा किन्तु यह धारा वेगवती जो थी तीव्र गति से आगे निकल गयी। इतिहास का चक्र आगे घूम गया। फिर भी शास्त्रीजी ने इस युग को पूर्ण रूप से प्रभावित किया और वह बराबर सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक और विद्वान् माने जाते रहे। यह उन्हीं का व्यक्तित्व था कि सामयिक धारा के विरोध में भी अचल रहा; समुद्र-सा अक्षोभ्य बना रहा। इस अवधि में उनकी विशाल शिष्यमण्डली बनी जो भारत भर में व्याप्त है।

श्री जगन्नाथशर्मा वाजपेयी का देहांत इसी युग में हो गया जिसके कारण काशी की बड़ी क्षति हुई किन्तु काशी विश्वविद्यालय ने एक और रत्न जनता के

समक्ष रखा। पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री आयुर्वेदशास्त्राचार्य धर्मदासजी के श्रेष्ठ शिष्य तथा विश्वविद्यालय के सर्वोच्च स्नातकों में रहे। महामना मालवीयजी इनकी प्रतिभा और कौशल से बड़े प्रसन्न रहते थे। इनकी नियुक्ति तो आयुर्वेदिक कालेज में प्रारम्भ में ही हो गयी थी, किन्तु इनकी प्रतिभा का विकास वस्तुतः इस युग में वाजपेयीजी के देहान्त के बाद हुआ। इनकी चिकित्सा इतनी द्रुत गति से बढ़ी कि ४-५ वर्षों में ही यह पण्डित सत्यनारायणशास्त्री के बाद मूर्धन्य चिकित्सक गिने जाने लगे। पण्डित राजेश्वरदत्तजी गणनाथ-युग की ही देन हैं। आपकी रचना 'स्वस्थवृत्तसमुच्चय' गणनाथ शैली का नमूना है। श्री अत्रिदेव गुप्त भी इसी युग के लेखक हैं।

गणनाथ-युग की प्रवृत्ति पूर्णतः अनुकरणात्मक रही है। पाश्चात्य विषयों को ज्यों का त्यों हिन्दी या संस्कृत में कर देना यह इस युग की ग्रन्थशैली है। गणनाथ सेन ने 'प्रत्यक्षशारीर' और 'सिद्धान्तनिदान' तथा पी० एस० वारियर के 'अष्टांगशारीर' और 'बृहच्छारीर' इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। यहाँ तक कि अनेक स्थलों में कसौटी आधुनिक शास्त्र माना गया और जो प्राचीन वचन उसपर खरे न उतरें वे प्रक्षिप्त या अशुद्ध करार दिये गये। गणनाथसेन की कृतियों में ऐसी उग्रता और असहिष्णुता अनेक स्थानों पर देखते में आती है। शान्ति और सहिष्णुता से समन्वय की स्थिर प्रवृत्ति का इस युग में अभाव मिलता है। १९४५ में गणनाथ सेन के देहान्त के साथ यह युग समाप्त माना जाय।

समन्वय-युग (१९४५-१९५५)

समन्वय की चेष्टा यादव-युग में पूर्ण रूप से प्रारम्भ हुई जिसका काल १९४५-१९५५ है। कविराज गणनाथ सेन की उग्र प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया १९४० के आसपास ही हो गयी थी। इस काल में दो घटनाएँ महत्त्व की हैं—एक तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में डॉक्टर बालकृष्ण अमरजी पाठक का आना और दूसरी ओर आयुर्वेदिक कालेज के प्रोफेसर डॉक्टर घाणेकर की 'सुश्रुतसंहिता' की टीका का प्रकाशन। ये दोनों महानुभाव यादव-युग की समन्वयात्मक प्रवृत्तियों से प्रेरित आदर्श विद्वान् हुए। डॉक्टर घाणेकर ने अपनी टीका में कविराज गणनाथ सेन के 'शारीरे सुश्रुतो नष्टः' इस वाक्य का प्रतिवाद करते हुए यह श्लोक दिया है जो उस युग की प्रवृत्ति का पूर्ण परिचायक है—

'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठो न च नष्टः कथञ्चन।
व्याख्याने तु परं कष्ट इति मे निश्चिता मतिः॥'

उसी प्रकार की समन्वयात्मक कृति डॉक्टर पाठक का 'मानसरोगविज्ञान' है। यों यादवजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जब आयुर्वेदिक कालेज खुला तब उसके सर्वप्रथम अध्यक्ष बनकर आये, किन्तु थोड़े ही दिन बाद उन्हें छोड़कर जाना पड़ा,

उस युग का नेतृत्व दूसरे के हाथ में था। कविराज गणनाथ सेन के देहान्त से बाद नवीन प्रयास का नेतृत्व आचार्य यादवजी के कंधों पर आया और इसी काल में उनका व्यक्तित्व भी चरम सीमा तक प्रस्फुटित हुआ। दोनों प्रणालियों के समन्वय का नारा इस युग के नेता ने बुलन्द किया। पाठ्यग्रन्थ समन्वयात्मक प्रणाली पर लिखे जाने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया जाने लगा तो चिकित्सकों को भी आधुनिक विज्ञान पर ध्यान देने की सलाह दी जाने लगी। शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में समन्वय का आदर्श सामने आया। इसी आसपास भारत सरकार ने चोपड़ा कमेटी का गठन किया जिसने भी समन्वय पर ही जोर दिया। इस कमेटी में भी आचार्य यादवजी तथा डॉक्टर पाठक प्रमुख सदस्य थे। १९४७ में देश की स्वतन्त्रता के बाद समन्वय का स्वर और तीव्र होता गया और दोनों पद्धतियों को मिलाकर एक राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति बनाने की चर्चा भी सुनाई पड़ने लगी। विभिन्न राज्यों में भी आयुर्वेद की विकासयोजनाएँ बनने लगीं और कार्य आगे बढ़ा। इन कार्यों में भी काशी ने अपूर्व योगदान दिया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक और अध्यापक देश भर में फैलकर नवीन युग की प्रगति में सहयोग देने निकल पड़े। यादव-युग के प्रमुख विद्वान, 'रसरत्नसमुच्चयकार' के टीकाकार श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णीजी ने कालेज की प्रोफेसरी छोड़कर उत्तर प्रदेश के आयुर्वेदविभाग में उपसंचालक का पद ग्रहण किया। विश्वविद्यालय के एक स्नातक श्री एम० एन० के० पिल्लई तिरुवांकुर-कोचीन में आयुर्वेद के निर्देशक बनाये गये। प्रोफेसर कविराज प्रताप सिंह राजस्थान के आयुर्वेद-डाइरेक्टर हुए। इसी प्रकार बंगाल, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान आदि प्रदेशों में वहाँ के स्नातकों ने नेतृत्व सँभाला।

यादव-युग ने समन्वयप्रणाली पर अनेक लेखकों को क्षेत्र में ला खड़ा किया और साहित्यनिर्माण का कार्य जितना इस युग में हुआ उतना किसी में नहीं। काशी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बलवन्त सिंह जी के वनौषधिसम्बन्धी अनुशीलनात्मक अनेक ग्रन्थ उन्हीं की प्रेरणा के फल हैं। इसके अतिरिक्त पण्डित दामोदरशर्मा गौड़, पण्डित रमानाथ द्विवेदी, पण्डित रघुवीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने जो साहित्य प्रस्तुत किया वह आचार्यजी के दिशानिर्देश और युग का ही प्रभाव है। उस काल में काशी में अनेक नवीन स्नातक चिकित्सा क्षेत्र में आये जिन्होंने समन्वयात्मक प्रणाली अपनायी जिनमें पण्डित गंगासहाय पाण्डेय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काशी के बाहर के विद्वानों में श्री रणजित राय, डॉक्टर धीरेन्द्र बनर्जी, पण्डित रामरक्ष पाठक आदि यादवयुग की ही देन हैं। यह माना जाता है कि आयुर्वेद-वाङ्मय का लगभग तीन-चौथाई काशी में प्रस्तुत हुआ।

शुद्ध-युग (१९५५-६५)

१९५५ तक यादवयुग की प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में शुद्ध आयुर्वेद का आन्दोलन सिर उठा चुका था। १९५६ में आचार्यजी के निधन से उस युग का अन्त हो गया। आचार्यजी के अनेक कट्टर अनुयायी दूसरे खेमे में शामिल हो गये। दूसरी ओर पण्डितकमिटी की सिफारिशों के अनुसार आयुर्वेद कालेजों में आई० एस-सी० प्रवेशयोग्यता रक्खी गई और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० बी० एम० एस० का पहला बैच १९५५ के आसपास ही निकला। यह आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते १९६० में आयुर्वेद कॉलेज को ही ले डूबी। देश के अनेक भागों में शुद्ध आयुर्वेद की संस्थायें स्थापित हुईं। १९६२ में देश की केन्द्रीय स्वास्थ्य-परिषद् ने शुद्ध आयुर्वेद की नीति स्वीकृत कर ली और १९६३ में व्यासकमिटी ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठचक्रम प्रस्तुत किया। इस प्रकार अत्याधुनिकता एवं अतिप्राचीनता की खींचातानी ऐसी बढ़ी कि आयुर्वेद-शिक्षा आवर्त्त में पड़कर चक्कर काटने लगी।

विकास-युग (१९६५–१९७५)

१९६५ में काशी में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्याद्यय में आयुर्वेद विभाग की स्थापना हुई। इसके पूर्व १९६३ में स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान की स्थापना हो चुकी थी। इसी काल में केन्द्रीय सरकार ने देशी चिकित्सापद्धतियों में अनुसन्धान के लिए केन्द्रीय परिषद् की विधिवत् स्थापना १९६९ में तथा भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् की स्थापना १९७१ में की। स्वायत्त परिषदों की स्थापना से वैद्यों को निर्णयात्मक अधिकार प्राप्त हुए। स्वास्थ्य-सेवाओं में देशी चिकित्सा को सम्मिलित करने के सम्बन्ध में भी सरकार द्वारा महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गये। अनेक राज्यों में स्वतन्त्र निदेशालय स्थापित हुए और देश के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद की शिक्षा को अङ्गीकार किया गया। विदेशों से भी आयुर्वेद के जिज्ञासु भारत की संस्थाओं में आकृष्ट होने लगे। इस प्रकार इस अवधि में आयुर्वेद के विभिन्न पक्षों का पर्याप्त विस्तार हुआ।

संहनन-युग—(१९७५······)

विगत वर्षों में जो विकास हुआ उसे संघटित रूप देने का प्रयास इस काल में प्रारम्भ हुआ। विभिन्न शिक्षणसंस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त पाठचक्रम एवं उपाधि में बहुत वैभिन्य था जिसके कारण स्नातकों की मर्यादा के सम्बन्ध में निरर्थक भ्रम फैला था। अतः पाठचक्रम एवं उपाधि में एकरूपता अत्यन्त आवश्यक थी। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के द्वारा यह कार्य पूरा हुआ और समस्त देश में एक पाठचक्रम तथा एक उपाधि के सम्बन्ध में भारत सरकार का परिपत्र जारी हो चुका है जो अधिकांश संस्थाओं में लागू भी हो गया है।

शिक्षण एवं अनुसन्धान के द्वारा उपलब्ध ज्ञान की सार्थकता समस्त मानव की सेवा करने में ही है। भारत की जनता गाँवों में बसती है किन्तु अब तक वह उपेक्षित रही और डॉक्टरवर्ग नगरों में सीमित रहने लगे। इस असन्तुलन के कारण स्वास्थ्यसमस्या के समाधान में भी व्याघात उपस्थित हुआ। परिणामतः विश्व-स्वास्थ्यसंघटन ने १९७६ में इस स्थिति का गम्भीरता से अनुमान किया तथा यह निर्णय लिया कि विकासशील देशों की स्वास्थ्यसेवाओं की सफलता के लिए पारम्परिक चिकित्सापद्धतियों का सक्रिय सहयोग अत्यावश्यक है। इस ऐतिहासिक निर्णय से सारा तन्त्र ग्रामोन्मुख एवं परम्परोन्मुख हो गया जो इसके पूर्व नितान्त विपरीत दिशा में प्रवाहित हो रहा था।

तदनुसार भारत सरकार ने ग्रामीण स्वास्थ्यसेवा का व्यापक कार्यक्रम बनाया और तदर्थ कर्मचारियों की नियुक्ति की गई। चिकित्सा-महाविद्यालयों में शिक्षण-पद्धति में भी ऐसा परिवर्त्तन प्रस्तावित है जिससे स्नातक ग्रामीण जनता की सेवा में प्रवृत्त हो सके। इस प्रकार शिक्षण की एकरूपता तथा ग्रामोन्मुखी प्रवृत्ति इस युग की विशेषता है।

आधुनिक काल के प्रमुख आयुर्वेद-गुरु

बंगाल

१. **कविराज गंगाधर राय**—आधुनिक काल में आयुर्वेदीय शिक्षा के निर्माताओं में अग्रणी थे। इन्हें युगप्रवर्त्तक कहा जा सकता है। सारे देश में इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने आपकी परंपरा को प्रसारित किया। (देखें पृ० २२१)

२. **कविराज द्वारकानाथ सेन**—महामहोपाध्याय कविराज द्वारकानाथ सेन का जन्म बंगाल में फरीदपुर जिले के एक गाँव में १८४३ ई० में हुआ। उनके पूर्वजों में रामशंकर कविराज रसेन्द्रसारसंग्रह के प्रणेता गोपालभट्ट के समकालीन थे। आचार्य गङ्गाधर राय के प्रमुख शिष्यों में आप थे। आप व्यावसायिक कीर्त्ति में अपने गुरु से भी आगे निकल गये। १८७५ में कलकत्ता में चिकित्सा प्रारंभ की और अल्पकाल में ही देश के मूर्धन्य चिकित्सकों में आपका स्थान हो गया। आपने अनेक शिष्य भी तैयार किये जिनमें काशी के उमाचरण कविराज, जयपुर के स्वामी लक्ष्मीराम और आपके ज्येष्ठ पुत्र योगीन्द्रनाथ सेन प्रमुख थे। १९०६ में आप सरकार द्वारा महामहोपाध्याय पदवी से विभूषित किये गये। यह पदवी प्राप्त करनेवाले वैद्यों में आप सर्वप्रथम थे। ११ फरवरी १९०९ को आपका स्वर्गवास हुआ।

३. **कविराज विजयरत्न सेन**—बंगाल के विक्रमपुर नामक स्थान में २७ नवम्बर १८५८ को आपका जन्म हुआ। आपके पिता क० जगत् चन्द्र सेन थे। कलकत्ता

में आपके मामा कविराज गंगाप्रसाद सेन प्रसिद्ध चिकित्सक थे। इनके साथ चिकित्सा का ज्ञान और क० कालीप्रसाद सेन से शल्य का ज्ञान प्राप्त किया। चिकित्साक्षेत्र में शीघ्र ही आपकी ख्याति देश में ही नहीं विदेश में भी फैल गई। तत्कालीन भारत सरकार के अधिकारियों को आयुर्वेद की ओर उन्मुख करने में आपका विशेष हाथ था। भारत के सर्जन जनरल पार्डी ल्युकिस आपके घनिष्ठ मित्रों में थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी आपका उत्तम योगदान था। अष्टांगहृदय संस्कृतटीका सहित आपने मुद्रित कराया था। कलकत्ते में अस्पताल के साथ सर्वसाधनसम्पन्न आयुर्वेदमहाविद्यालय स्थापित करने के लिए आप प्रयत्नशील थे जिसे आपके शिष्य कविराज यामिनीभूषण ने पूरा किया। आपके शिष्यों में क० यामिनीभूषण राय, पटना आयुर्वेदिक कॉलेज के प्राध्यापक क० विधुभूषण सेन, वनौषधिदर्पणकार क० विरजाचरण गुप्त आदि प्रमुख थे। २१ सितम्बर १९११ को आपका स्वर्गवास हुआ।

४. क० यामिनीभूषण राय—आपका जन्म खुलना जिला (बंगाल) के पयोग्राम स्थान में १८७९ ई० में हुआ। आपके पिता कविराज पञ्चानन राय संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् और यशस्वी चिकित्सक थे जो भवानीपुर, कलकत्ता में रहते थे। इन्होंने सैकड़ों शिष्यों को तैयार किया। १९०५ में मेडिकल कालेज से एम० बी० किया और साथ-साथ संस्कृत में एम० ए० किया। अपने पिता से आयुर्वेद का अध्ययन किया और पुनः क० विजयरत्न सेन के साथ रहकर शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। थोड़े ही दिनों में आप कलकत्ता के मूर्धन्य चिकित्सकों में हो गये और आपकी वैद्यराज फार्मेसी की ख्याति सारे देश में फैली। किन्तु इससे आप सन्तुष्ट न थे। आपकी रुचि शिक्षाजगत् में विशेष थी। आपने १९१६ में अष्टांग आयुर्वेद कालेज की स्थापना कर अपने गुरु की आकांक्षा पूर्ण की। इसके वह प्रथम प्राचार्य भी थे। महात्मा गांधी ने ५ मई, १९२५ को कॉलेज एवं अस्पताल के भवन का शिलान्यास किया। कविराजजी ने अनेक ग्रन्थों की भी रचना की जिनमें शालाक्यतन्त्र, प्रसूतितंत्र, विषतंत्र आदि प्रमुख हैं। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के मद्रास अधिवेशन (१९१६) के आप अध्यक्ष थे। आपका स्वर्गवास ४७ वर्ष की आयु में ११ अगस्त १९२५ को हुआ। आपने सारी सम्पत्ति अष्टांग आयुर्वेद कॉलेज को वसीयत कर दी।

५. कविराज श्यामादास वाचस्पति—आपका जन्म १८७६ ई० में बंगाल में नदिया के निकट चूपीग्राम में हुआ। आपके पिता जगन्नाथप्रसाददास प्रख्यात चिकित्सक थे। श्यामादासजी ने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर १९२४ में काशी के प्रसिद्ध कविराज परेशनाथजी से आयुर्वेद का अध्ययन किया। व्यवसायार्थ कलकत्ता गये और क० द्वारकानाथ सेन के सम्पर्क में रहे फिर स्वतन्त्र कार्य में लग गये। चिकित्सा के साथ-साथ आप अध्यापन भी करते थे। सारे भारत से छात्र आपके पास आते थे। आपके नाम पर वैद्यशास्त्रपीठ कलकत्ता में स्थापित है। जिसे अब राज्यसरकार

लेकर उस भवन में कायचिकित्सा का स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चला रही है। आपका स्वर्गवास १८ आषाढ़ १३४१ (बंगाब्द) में हुआ। अनेक शिष्यों में विजयकाली भट्टाचार्य, रामचन्द्र मल्लिक आदि हैं।

६. **कविराज गणनाथ सेन**—आपने अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से न केवल बंगाल अपितु समस्त भारत के आयुर्वेदीय शिक्षाजगत् को प्रभावित किया था। कलकत्ता में अपने पिता के नाम पर सञ्चालित विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय[1] के अध्यक्ष तो थे ही, भारत की प्रायः सभी प्रमुख आयुर्वेदीय संस्थाओं से आपका सम्बन्ध था।

बिहार

१. **व्रजबिहारी चतुर्वेदी**—पटना के राजकीय आयुर्वेदीय विद्यालय की स्थापना एवं संचालन में आपका बड़ा योगदान रहा है। आपका जन्म हाजीपुर (मुजफ्फरपुर) में हुआ। आपके पिता पं० मोहनलाल चतुर्वेदी कर्मकाण्ड के अच्छे विद्वान थे। काशी के जम्मू संस्कृत विद्यालय में आयुर्वेद के विद्वान् पं० सीताराम मिश्र से आयुर्वेद का अध्ययन किया। हाजीपुर में १५ वर्ष चिकित्सा करने के बाद १९१२ में पटना आकर चिकित्सा करने लगे। हाजीपुर में आपने एक संस्कृत विद्यालय स्थापित किया जिसमें आयुर्वेद भी पढ़ाया जाता था। आपके प्रमुख शिष्यों में पं० शिवचन्द्र मिश्र, पं० हरिचन्दन झा आदि थे। आपके पुत्र पं० हरिनारायण चतुर्वेदी वर्षों तक पटना आयुर्वेद विद्यालय के प्रिंसिपल रहे। पं० व्रजबिहारी चतुर्वेदी द्वारा स्थापित आयुर्वेद रत्नाकर औषधालय की अनेक शाखायें बिहार के प्रमुख नगरों में थीं। शास्त्रतत्त्वेन्दु-शेखर, त्रुटिविवेक, मनोविज्ञान, आदि आपकी रचनायें हैं। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन (लखनऊ अधिवेशन, १९४१) के आप अध्यक्ष रहे थे। बिहारप्रांतीय वैद्यसम्मेलन के षष्ठ अधिवेशन (डाल्टनगंज) के भी आप अध्यक्ष हुए थे। बिहार-प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन के सञ्चालन में भी आपका बड़ा योगदान था।

२. **पं० शिवचन्द्र मिश्र**—आप पं० व्रजबिहारी चतुर्वेदी के प्रमुख शिष्यों में थे। संस्कृत, दर्शन आदि के भी आप प्रगाढ़ विद्वान थे। मुजफ्फरपुर धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय के आयुर्वेदविभाग के वर्षों तक अध्यक्ष रहे थे। आपके अनेक शिष्यों में पं० रामदेव ओझा, पं० कालिकाप्रसाद मिश्र, पं० विन्ध्याचल मिश्र, गोस्वामी भैरवगिरि आदि प्रमुख थे।

इनके अतिरिक्त, बिहार के आयुर्वेदीय शिक्षाजगत् में कविराज मन्मथनाथ वन्द्योपाध्याय (यतीन्द्रनारायण वन्द्योपाध्याय के पुत्र, यतीन्द्रनारायण अष्टांग आयुर्वेद कालेज, भागलपुर के संस्थापक), पं० रामदेव ओझा, पं० कालिकाप्रसाद मिश्र, पं० श्रीकृष्णमिश्र, गोस्वामी भैरवगिरि, पं० श्यामनारायण चतुर्वेद, पं०

१. आजकल इसमें आयुर्वेद का फार्मासिष्ट कोर्स चल रहा है।

नारायणदत्त मिश्र, पं० गंगाधर शर्मा, क० शारदाचरण सेन, पं० विश्वनाथ प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं।

उत्तरप्रदेश

१. कविराज धर्मदास—आपका जन्म १८६२ ई० में नवद्वीप के पास चूपी ग्राम में हुआ। आपके पिता कविराज काशीप्रसन्न सेन थे। व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि का अध्ययन समाप्त कर काशी अपने मामा कविराज परेशनाथ सेन के पास चले आये और उनसे आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। काशी में ही रह कर आयुर्वेद का अध्ययन करने लगे। चरकसंहिता में विशिष्ट वैदुष्य के कारण आप चरकाचार्य कहे जाने लगे। महामना मालवीय के अनुरोध पर १९२० में प्राच्यविद्या-विभाग के अन्तर्गत आयुर्वेद-विभाग के अध्यक्ष हुये और आयुर्वेदिक कालेज स्वतन्त्र होने पर उसके भी प्राचार्य हुये। आपके शिष्यों में प्रमुख पं० सत्यनारायण शास्त्री, पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री, पं० दुर्गादत्त शास्त्री, कविराज व्रजमोहन दीक्षित आदि हैं। आपका स्वर्गवास १९३५ में हुआ।

२. पं० सत्यनारायण शास्त्री—आपका जन्म सं० १९४४ माघकृष्ण चतुर्थी को हुआ। आपके पितामह पं० शिवनन्दन पाण्डेय तथा पिता पं० बलभद्र पाण्डेय थे। आपके नाना वैद्यराज पं० शिवलोक शर्मा काशी के अगस्तकुण्ड मुहल्ले में रहते थे। जब उनके पुत्र अल्पायु हो गये तब शास्त्रीजी के पिता उनके उत्तराधिकारी बनकर वहीं रहने लगे। बालक सत्यनारायण ने अल्प काल में ही अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और इस सम्बन्ध में उसे तत्कालीन अनेक धुरंधर पण्डितों—पं० शिवकुमार शास्त्री, पं० गंगाधर शास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री प्रभृति का सम्पर्क हुआ। आयुर्वेद की शिक्षा कविराज धर्मदास से प्राप्त की और कुछ व्यावहारिक ज्ञान उनके चाचा क० अन्नदाचरणजी से प्राप्त किया। १९०९ ई० से आप चिकित्साकार्य में लगे। महामना मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद-विभाग में आपको २० अगस्त १९२५ से अध्यापक नियुक्त किया। १९२७ में आप आयुर्वेद विभाग के प्रधान हुये और १९३८ में आयुर्वेदिक कालेज के प्राचार्य हुये। १९५० में वहाँ से विश्राम ग्रहण किया। उसी वर्ष आप राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के वैयक्तिक चिकित्सक नियुक्त हुये। १९५५ में आप पद्मभूषण की उपाधि से सम्मानित हुये।[1] २३ सितम्बर १९६९ को आपका देहावसान हुआ। शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ आप एक उच्चकोटि के विख्यात चिकित्सक थे। आपका नाड़ीज्ञान सर्वत्र प्रशंसित था।

---

१. पं० सत्यनारायण शास्त्री—अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० २२५–२३२ (चौखम्बा, १९६१)

३. पं० अर्जुन मिश्र—होशियारपुर (पंजाब) के एक कसबे में आपका जन्म सं० १९१०, वैशाख शुक्ल ५ को हुआ। आपके पिता पं० भानुदत्तजी थे। पं० बालशास्त्री से व्याकरण तथा पं० दिलाराम जी (राजवैद्य संगरूर रियासत) से आयुर्वेद का अध्ययन किया। काशी में चिकित्सा प्रारम्भ की। अल्पकाल में ही विख्यात हो गये। प्रारम्भ से ही अध्यापन करते थे; सन् १९१७ में आयुर्वेदविद्याप्रबोधिनी पाठशाला की स्थापना की जिसमें आजीवन लगे रहे। आपने एक वृहन्निघण्टु की रचना की थी जो अप्रकाशित रह गई। आपके अनेक शिष्य हुये जिनमें पं० पुरुषोत्तम उपाध्याय (काशी), पं० अमरनाथ औदीच्य (देहरादून), पं० राधाकृष्ण (काशी रसशाला), श्यामसुन्दराचार्य वैश्य, पं० नानकचन्द्र शर्मा (लाहौर), पं० लालचन्द्र वैद्य (प्रधानाचार्य, अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय, काशी) प्रभृति प्रमुख हैं। आपका स्वर्गवास कार्त्तिक कृष्ण सप्तमी सं० १९७९ को हुआ। आपने सारी सम्पत्ति विद्यालय को दे दी। बाद में यह संस्था आपके स्मारक रूप में अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय के रूप में प्रसिद्ध हुई।

४. डॉ० बालकृष्णजी अमरजी पाठक—आप गुजरात के प्रसिद्ध चिकित्सक थे। आधुनिक के साथ आयुर्वेदीय चिकित्साशास्त्र का भी चिन्तन-मनन किया था। १९३९ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कालेज के प्राचार्य बनकर आये और लगभग एक दशक तक इस पद पर रहे। यहीं आपका स्वर्गवास हुआ। शिक्षा-जगत् में आपका अच्छा प्रभाव था। चोपड़ा समिति के आप सक्रिय सदस्यों में थे। आपके निधन से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को अपूरणीय क्षति हुई।

५. राजेश्वरदत्त शास्त्री—आपका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल दशमी सं० १९५७, १५ जून, १९०१) को हुआ था। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आयुर्वेद शास्त्राचार्य कर १९२८ में वहीं आयुर्वेदिक कालेज में गृहचिकित्सक नियुक्त हुये। क्रमशः समुन्नति पथ पर बढ़ते हुये १९५१ में आयुर्वेदविभाग के अध्यक्ष हुये तथा १९५७ में प्राचार्य हुये। १९५९ में अनुसन्धान के निदेशक भी हुये। १९६२ में विश्राम ग्रहण करने पर स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान में सम्मानित परामर्शदाता के रूप में अन्त तक रहे। अनेक सम्मानों से आप विभूषित किये गये। स्वस्थवृत्त-समुच्चय तथा चिकित्सादर्श आपकी दो प्रसिद्ध रचनायें हैं। भैषज्यरत्नावली का भी आपने सम्पादन किया है। शास्त्रज्ञ और चिकित्सक के साथ-साथ आप एक सफल एवं लोकप्रिय अध्यापक थे। आतुरालय में रोगियों पर आपके जो क्रियात्मक व्याख्यान होते थे उन्हें आज भी उनके सहस्राधिक शिष्य श्लाघा और गर्व के साथ स्मरण करते हैं। उनका स्वर्गवास काशी में १२ जून १९६९ को हुआ।

६. कविराज ज्ञानेन्द्रनाथ सेन—कविराज द्वारकानाथ सेन के भ्रातृज एवं शिष्य थे। १९२६ में पटना में राजकीय आयुर्वेदिक स्कूल खुलने पर उसके प्रथम

प्राचार्य नियुक्त हुये किन्तु वहाँ अधिक दिनों तक न रह सके। १९२१ में हरद्वार ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज के प्राचार्य बन कर गये और वहाँ यावज्जीवन रहे। आपके अनेक शिष्य इस अवधि में हुये।

दिल्ली

१. कविराज हरिरञ्जन मजुमदार—आप काशी के प्रसिद्ध विद्वान चिकित्सक कविराज उमाचरण भट्टाचार्य के शिष्य थे। आपका जन्म १८६५ में कश्मीर में हुआ। आपके पिता षष्ठीचरण मजुमदार कश्मीर के महाराजा रणजीतसिंह और प्रतापसिंह के राजवैद्य थे। षष्ठीचरणजी उमाचरण भट्टाचार्य के गुरु थे। हरिरञ्जनजी दिल्ली आयुर्वेदिक एवं तिब्बी कालेज के वर्षों प्राचार्य रहे। वहाँ के प्रख्यात चिकित्सक भी थे। नि० भा० आयुर्वेदमहासम्मेलन के अध्यक्ष भी चुने गये (बड़ौदा, १९४१)। कविराज आशुतोष मजुमदार आपके पुत्र हैं।

२. कविराज उपेन्द्रनाथदास—आप भी उपर्युक्त संस्था से संबद्ध थे। आपने अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं। विशेष परिचय पृ० ४८४ पर देखें।

३. वैद्य मनोहरलाल जी—आप दिल्ली के बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय में प्रधानाध्यापक थे। आपका जन्म सं० १९३६ में हुआ था।

राजस्थान

१—पं० लक्ष्मीराम स्वामी—आपका जन्म जयपुर राज्य में सांगानेर कसबे के पास एक ग्राम में गौडब्राह्मण परिवार में श्रावण कृ० ६ सं० १९३० को हुआ। ६ वर्ष की आयु में ही जयपुर के यशस्वी वैद्य स्वामी चन्दनदासजी (अपने पितृव्य) के शिष्य हो गये। सं० १९५२ में जयपुर राजकीय संस्कृत विद्यालय से आयुर्वेदाचार्य किया। उन दिनों वहाँ श्रीकृष्णराम भट्टजी पढ़ाते थे। उनके देहावसान के बाद आप उनके स्थान पर आयुर्वेद-विभाग के अध्यक्ष हुये। पुनः कलकत्ता में कविराज द्वारकानाथ सेन के साथ रहकर ज्ञान प्राप्त किया। आपने ३६ वर्षों तक जयपुर आयुर्वेदविभाग में अध्यापन किया और सारे देश में ख्याति अर्जित की। आपके अनेक शिष्य हुये जिनमें पं० ठाकुरदत्त मुलतानी, मणिराम शर्मा, स्वामी जयरामदास आदि प्रमुख हैं। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन (कलकत्ता, १९१७) के आप अध्यक्ष भी चुने गये थे। आपके देहावसान के बाद आपकी परम्परा में स्वामी जयरामदास और संप्रति स्वामी रामप्रकाश जी हैं।

२—पं० नन्दकिशोर शर्मा—राजस्थान में आयुर्वेद-शिक्षा को विकसित करने में आपका बड़ा योगदान रहा है। आपके पिता राजवैद्य श्यामलाल जी थे। आपने जयपुर से आयुर्वेदशास्त्राचार्य किया। कुछ समय आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रहे। पुनः जयपुर आयुर्वेद विभाग में अध्यापक और फिर स्वामी लक्ष्मीरामजी के

विश्राम ग्रहण करने पर प्रधानाध्यापक हुये । राजस्थान के आयुर्वेदनिदेशक भी कुछ समय रहे ।

३—पं० मणिराम शर्मा—आपका जन्म आश्विन शुक्ल त्रयोदशी सं० १९४३ को जम्मू (कश्मीर) के रायपुर ग्राम में हुआ । आपके पिता पं० सन्तरामजी ननोतरा थे । प्रारम्भिक शिक्षा के बाद आपने आयुर्वेद का अध्ययन बनवारीलाल विद्यालय दिल्ली में वैद्य मनोहरलालजी से और फिर जयपुर में स्वामी लक्ष्मीरामजी से किया । १९१७ से हरनन्दराय रुइया कालेज में आयुर्वेदविभाग के प्रधान बीस वर्षों तक रहे । फिर हनुमान आयुर्वेद विद्यालय, रतनगढ़ के प्राचार्य रहे जहाँ निरन्तर पचीस वर्षों तक विद्यादान कर अनेक शिष्य तैयार किये । १९५८ में धन्वन्तरिमन्दिर चिकित्सान्वेषण केन्द्र की स्थापना की । रसेन्द्रचिन्तामणि की आपने टीका की । ६ अगस्त १९७३ को आपका स्वर्गवास हुआ ।

महाराष्ट्र

१. शंकरदाजी शास्त्री पदे—महाराष्ट्र में आयुर्वेद के प्रचार एवं पुनर्जागरण में आपका विशिष्ट योगदान है । आपकी प्रेरणा से बम्बई में वैद्यराज प्रभुरामजी के सहयोग से १८९६ में आयुर्वेद विद्यालय (प्रभुराम जीवनराम आयुर्वेद कालेज) स्थापित किया गया । पुनः आप नासिक आकर वहाँ कार्य करने लगे । नागपुर में भी आपने एक विद्यालय खोला । आपका विशेष परिचय अगले अध्याय में नि० भा० आयुर्वेदमहासम्मेलन की स्थापना के प्रसंग में देखें ।

२. गोवर्धन शर्मा छांगाणी—आपका जन्म विजयादशमी सं० १९३३ को जोधपुर के पास पोकरण नगर में हुआ । शिक्षा के सम्बन्ध में आपने लगभग सारे देश का भ्रमण किया । नागपुर में वैद्यक महाविद्यालय के आप प्रथम प्राचार्य थे । पुनः श्री धन्वन्तरि आयुर्वेदमहाविद्यालय की स्थापना की और उसे विद्यापीठ से सम्बद्ध कराया । इसके अतिरिक्त, अन्य आयुर्वेदीय संस्थाओं को आगे बढ़ाने में भी आपका सक्रिय सहयोग रहा । नि० भा० आयुर्वेदमहासम्मेलन (अहमदाबाद, १९३५) के अध्यक्ष भी थे । बसवराजीयम् का सम्पादन-प्रकाशन किया है तथा अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान की टीका की है (चौखम्बा, १९५४) ।

३. पुरुषोत्तम शास्त्री हिर्लेकर—यह अमरावती में श्री भारतायुर्वेद विद्यालय के संस्थापक थे । शारीर और द्रव्यगुण पर आपकी रचनायें प्रकाशित हैं ।

४. पं० गंगाधरशास्त्री गुणे—आप अहमदनगर आयुर्वेदमहाविद्यालय के प्राचार्य थे । आपने अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं ।

५. आचार्य यादवजी त्रिकमजी—शिक्षा-जगत् में आपका नाम चिरस्मरणीय है । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कॉलेज स्थापित होने पर आप प्राचार्य

होकर आये थे किन्तु थोड़े ही दिन रहे । स्नातकोत्तर प्रशिक्षणकेन्द्र जामनगर के आप प्रथम प्राचार्य नियुक्त हुये थे । आयुर्वेदीय शिक्षा की नीति निर्धारित करने में आपका बड़ा योगदान था । आप समन्वयवादी थे ।

६. भास्कर विश्वनाथ गोखले—तिलक आयुर्वेद महाविद्यालय पूना के आप प्राचार्य थे । जामनगर स्नातकोत्तर प्रशिक्षणकेन्द्र के आप प्राचार्य हुये थे । आयुर्वेद-शिक्षा में आपके मौलिक अवदान हैं ।

इनके अतिरिक्त, पं० कृष्णशास्त्री देवधर (नासिक), पं० कृष्णशास्त्री कवड़े, पं० त्र्यम्बक शास्त्री आप्टे (पूना) प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं ।

पंजाब

१. पं० रामप्रसाद शर्मा—आपका जन्म पटियाला स्टेट के टकसा नामक ग्राम में सं० १९३९ में हुआ । आपके पिता द्वारकादास उपाध्याय थे । आप पटियाला के राजवैद्य थे और आयुर्वेद विद्यालय भी सञ्चालित करते थे । आपके अनेक शिष्य इस विद्यालय से निकले हैं । १९२३ में सरकार द्वारा वैद्यरत्न की पदवी से सम्मानित किये गये । नि० भा० वैद्यसम्मेलन (कराची, १९३०) के अध्यक्ष थे । आपने आयुर्वेदसूत्र लिखा है तथा अनेक ग्रन्थों का सम्पादन एवं व्याख्या की है । शिक्षा के साथ-साथ ग्रन्थों के पुनरुद्धार में आपके सराहनीय कार्य हैं (देखें पृ० २२३)।

२. आचार्य सुरेन्द्रमोहन—आप दयानन्द आयुर्वेद कॉलेज, लाहौर के प्राचार्य थे । आपने कैयदेवनिघण्टु का संपादन प्रकाशन किया है ।

३. पं० मस्तराम शास्त्री—आप रावलपिण्डी के प्रख्यात वैद्य थे । शास्त्रीय कार्यों में आपकी बड़ी रुचि थी । आपने भट्टारहरिचन्द की चरकन्यास व्याख्या तथा स्वामिकुमार की चरकपंजिका का संपादन-प्रकाशन किया था ।

४. पं० दुर्गादत्तजी—आप सनातनधर्म प्रेमगिरि आयुर्वेदिक कॉलेज, लाहौर के प्राचार्य थे ।

५. पं० हरिदत्त शास्त्री—आपका जन्म जालंधर जिले में जदाला नामक स्थान में २६ दिसम्बर, १९०३ को हुआ । आपने लाहौर की शास्त्री परीक्षा पास कर विद्यापीठ से आयुर्वेदाचार्य किया । आप सनातनधर्म प्रेमगिरि आयुर्वेद कालेज, लाहौर में अध्यापक रहें । १९५५ में आप महाराष्ट्र के आयुर्वेदनिदेशक हुये और १९६१ तक इस पद पर रहे । १९६७ से आप दिल्ली में मूलचन्द खैरातीराम अस्पताल के निदेशक हैं । आपने अपने ग्रन्थों का पुनरुद्धार किया है । चरक की जेज्जटव्याख्या का आपने सम्पादन किया है । शास्त्रीय अनुसन्धान में आपकी प्रगाढ़ रुचि है ।

गुजरात

१. **वैद्य अमृतलाल प्राणशंकर पट्टणी**—आप पाटन आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रथम प्राचार्य थे। गुजरात में आयुर्वेदीय शिक्षा को बढ़ाने में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। आपके शिष्यों ने आयुर्वेद की बड़ी सेवा की है। वैद्य बापालाल आप ही के शिष्य हैं।

२. **वैद्य जीवराम कालिदास शास्त्री**—(संप्रति श्रीचरणतीर्थजी)—आप गोंडल (सौराष्ट्र) के निवासी हैं। आपका जन्म माघ शुक्ल दशमी सं० १९३९ को हुआ। गिरनार में श्री अच्युतानन्द ब्रह्मचारी से संस्कृत, आयुर्वेद, मंत्रशास्त्र, योग आदि विशेषतः रसशास्त्र का अध्ययन किया। रसशाला औषधाश्रम की स्थापना सं० १९६६ में की। सं० १९७२ में गोंडल नरेश के राजवैद्य हुये। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। रसोद्धारतन्त्र नामक ग्रन्थ का प्रचार खूब हुआ। आयुर्वेद-रहस्यार्क और पारद नामक मासिक पत्रों का भी आप प्रकाशन करते थे। अनेक आयुर्वेदजिज्ञासु विशेषतः रसशास्त्र पढ़ने आपके पास आते थे। आपका ग्रन्थों का संग्रह विशाल था जो आजकल जामनगर आयुर्वेद विश्वविद्यालय में है।

३. **वैद्य वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी**—आपने अनेक वर्षों तक जामनगर स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्र में रसशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में कार्य किया है। आपने पारदविज्ञानीयम् ग्रन्थ भी लिखा है।

४. **वैद्य सुन्दरलाल नाथभाई जोशी**—आप नडियाद आयुर्वेदमहाविद्यालय के प्रथम प्राचार्य थे।

इनके अतिरिक्त, इस क्षेत्र में वैद्य नागरलाल पाठक, शास्त्री लक्ष्मीशंकर रामकृष्ण (दोनों पाटन आयुर्वेद कालेज के प्राचार्य) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं[१]।

दक्षिण भारत

१. **डी० गोपालाचार्लु**—आपका जन्म मद्रास प्रान्त के मसलीपट्टन में हुआ। आपके पिता वैद्यराज रामकृष्णमाचार्लु थे। अपने पिता से आयुर्वेद पढ़ने के बाद मैसूर राजकीय आयुर्वेद कलाशाला में प्रविष्ट हो वहाँ के अध्यापक श्री पुट्टस्वामीशास्त्री के पास अध्ययन किया। इसके बाद भारत के अनेक नगरों का भ्रमण कर महान् वैद्यों के संपर्क में आये। लौटने पर बंगलोर की आयुर्वेद-वैद्यशाला के प्रधान

---

१. गुजरात के वैद्यों का विवरण वैद्य बापालालजी से प्राप्त सूचना के आधार पर दिया गया है। इसके लिए लेखक उनका आभारी है।
सूरत तथा जामनगर का गुलाब कुंवरबा आयुर्वेद महाविद्यालय एक ही समय (१९४६) में प्रारम्भ हुआ।

चिकित्सक हुये। पुनः मद्रास में आयुर्वेद धर्मवैद्यशाला के प्रधान वैद्य हुये। अल्प काल में आप विख्यात एवं लोकप्रिय हो गये। कुछ समय बाद शिक्षण के लिए आयुर्वेद-कलाशाला की भी वहीं स्थापना हुई जहाँ दूर-दूर से छात्र आयुर्वेद पढ़ने आते थे। पुनः स्वयं मद्रास आयुर्वेद कलाशाला की स्थापना कर उसका सञ्चालन किया। १९१३ में आप भारत सरकार की ओर से वैद्यरत्न पदवी से सम्मानित हुये। नि० भा० वैद्यसम्मेलन (लाहौर, १९१८) के अध्यक्ष थे। अनेक ग्रन्थों की भी रचना की। आन्ध्रभाषा में आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ लिखे तथा प्राचीन ग्रन्थों से आन्ध्रटीका की। आपका स्वर्गवास २८ सितम्बर १९२० को हुआ। आपके अनेक शिष्य हुये। वस्तुतः आप दक्षिणभारत में आधुनिक युग के प्रवर्त्तक हैं।

२. जी०श्रीनिवासमूर्त्ति—मैसूरप्रान्त के गोरूर ग्राम में आपका जन्म १८८७ ई० में हुआ। बी० ए० पास कर मद्रास मेडिकल कॉलेज के स्नातक बने और बी० एल० भी किया। शिक्षा समाप्त कर मद्रास मेडिकल सर्विस में प्रविष्ट हुये और तंजोर मेडिकल स्कूल के लेक्चरर बने। १९१७ में विश्वयुद्ध के दौरान सेना में डॉक्टर नियुक्त हुये और कैप्टन बने। पुनः रायपुरम मेडिकल स्कूल में सर्जरी के लेक्चरर नियुक्त हुये। इसी समय मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त उसमान कमिटी के सचिव का भी कार्य किया। इस अवसर का उपयोग कर इन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन किया और 'साइन्स ऐण्ड आर्ट ऑफ इण्डियन मेडिसिन' नामक ग्रन्थ लिखा। जब ६ जनवरी १९२५ से मद्रास में स्कूल ऑफ इण्डियन मेडिसिन खुला तब आप उसके प्रथम प्राचार्य हुये। १९३२ में सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ इण्डियन मेडिसिन मद्रास के प्रथम अध्यक्ष हुये। भारतीय चिकित्सा के राजकीय परामर्शदाता और विभागाध्यक्ष भी थे। नि० भा० वैद्यसम्मेलन (नासिक, १९२९) के आप अध्यक्ष थे। १९३२ में आप सरकार द्वारा वैद्यरत्न उपाधि से सम्मानित हुये। बाद में थियोसोफिकल सोसाइटी की ओर आपका झुकाव हुआ और सारा जीवन उसमें अर्पित कर दिया। आपके अनेक योग्य शिष्य हुये।

३. नोरी राम शास्त्री—आप वैद्य गोपालाचालु के शिष्य थे और विजयवाड़ा में चिकित्सा एवं अध्यापन करते थे। अब आपके नाम पर वह महाविद्यालय राज्य सरकार संचालित कर रही है। आपके पुत्र नोरी वेंकटेश्वर शास्त्री उसके प्राचार्य थे, सेवानिवृत्त हो चुके हैं।

४. डॉ०ए० लक्ष्मीपति—आप भी गोपालाचालु जी के शिष्य थे। दक्षिणभारत में आयुर्वेद की शिक्षा के प्रचार-प्रसार में आपका बड़ा योगदान रहा है। 'आयुर्वेद-शिक्षा' ग्रन्थमाला में आपने अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये। आपका विशेष परिचय षष्ठ अध्याय (पृ० ५०१) में देखें।

आयुर्वेदिक महाविद्यालय

इस समय भारत में लगभग १०५ आयुर्वेद के महाविद्यालय सञ्चालित हो रहे हैं जिनमें आयुर्वेद का स्नातकीय शिक्षण दिया जाता है। लगभग ५० विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद का संकाय/विभाग स्थापित है। इनसे लगभग ३००० स्नातक प्रतिवर्ष निकलते हैं।

स्नातकोत्तर शिक्षण

प्राचीनकाल में स्नातकोत्तर शिक्षण का स्वरूप कैसा था यह कहना कठिन है। स्नातकीय पाठ्यक्रम में प्रायः सभी व्यावहारिक बातों का ज्ञान करा दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लिए कोई पृथक् पाठ्यक्रम नहीं था। अध्यापन और तद्विद्यसंभाषा के द्वारा स्नातक अपने ज्ञान को परिमार्जित एवं विकसित करते थे। चरक ने ज्ञानार्जन के जो तीन उपाय बतलाये हैं इनमें अध्ययन तो स्नातक स्तर पर होता था और अध्यापन और तद्विद्यसंभाषा ये दो स्नातकोत्तर शिक्षण के अङ्ग थे। आज भी स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्रों को स्नातकीय स्तर में अध्यापन का अवसर देकर तथा सेमिनार आदि के द्वारा विषय में प्रौढ़ि प्राप्त कराई जाती है। विशेषता का उस काल में क्या स्वरूप था और स्नातकोत्तर शिक्षण में उसका क्या स्थान था यह भी कहना कठिन है तथापि यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद के आठ अंग विभाजित थे और वैद्य सामान्यतः आयुर्वेद में शिक्षित होने पर भी इच्छानुसार या परम्परानुसार किसी एक अंग के विशेषज्ञ होते थे। यह स्वाभाविक है कि स्नातकीय पाठ्यक्रम समाप्त करने पर वैद्य विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए विशिष्ट केन्द्रों में जाते हों। ऐसे विशिष्ट शिक्षाकेन्द्र देश के विभिन्न अञ्चलों में स्थापित थे यथा पश्चिमोत्तर प्रदेश में कायचिकित्सा, मध्यप्रदेश में शल्यतन्त्र, विदेह (मिथिला) में शालाक्य, पूर्वदेश में पशुचिकित्सा, भूतविद्या; दक्षिण प्रदेश अगदतंत्र और रसशास्त्र के लिए प्रसिद्ध था। नालन्दा विश्वविद्यालय मुख्यतः स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसन्धान के लिए बना था। यहाँ तद्विद्यसंभाषा पर अधिक बल दिया जाता था। ह्वेनसांग और इत्सिंग के यात्राविवरणों से इसकी संपुष्टि होती है[१]।

मध्यकाल में प्राचीन आर्ष पद्धति यद्यपि मन्द पड़ गई तथापि बिलकुल समाप्त नहीं हुई। अध्ययन समाप्त कर परम्परा के अनुसार स्नातक अध्यापन में लग जाता था और शास्त्रार्थों में भी भाग लेता था। राजाओं द्वारा विद्वानों की ऐसी सभायें आयोजित होती थीं। जो लोग अध्यापन में नहीं जाना चाहते थे वे सीधे अध्ययन के बाद व्यवसाय में प्रविष्ट हो जाते थे।

१. R. K. Mukerji; Glimpses of Ancient India, (Bombay 1961), P. 82-83.

शोधकर्ता, चिकित्सक तथा अध्यापक तैयार करने के लिए स्नातकोत्तर शिक्षण आवश्यक है।[1] आधुनिक काल में चोपड़ा कमिटी ने सर्वप्रथम इस ओर ध्यान दिलाया। तदनुसार जामनगर में पहला आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र १९५६ में स्थापित हुआ। आचार्य यादव जी इसके प्रथम प्राचार्य नियुक्त हुये किन्तु अकस्मात् देहावसान हो जाने के कारण वह कार्यभार सँभाल न सके। यह भार फिर वैद्य भास्कर विश्वनाथ गोखले पर आया।

१५ अगस्त १९६३ को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान का उद्‌घाटन हुआ। इसका अध्यक्ष एवं निदेशक प्रस्तुत लेखक रहा।

संप्रति उपर्युक्त दोनों संस्थायें क्रमशः गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय तथा चिकित्सा विज्ञान संस्थान (का० हि० वि०) में विलीन हैं। भारत सरकार इसके बाद कोई स्वतंत्र स्नातकोत्तर संस्था खड़ी न कर आयुर्वेदमहाविद्यालयों में ही किसी विभाग को प्रोन्नत कर स्नातकोत्तर प्रशिक्षण के लिए सुविधा देती है। तदनुसार देश में १५ स्नातकोत्तर विभाग स्थापित हुए हैं। भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् ने एक पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है जिससे इस स्तर पर भी एकरूपता स्थापित होने की आशा है।

१९७५ में लिये गये भारत सरकार के निर्णयानुसार जयपुर में राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान की स्थापना हुई जिसमें स्नातकीय एवं स्नातकोत्तर शिक्षण तथा अनुसन्धान की इकाइयाँ समाविष्ट हैं।

अनुसन्धान

अनुसन्धान उस प्रक्रिया का नाम है जो विभिन्न भावों के बीच विद्यमान कार्यकारणभाव की शृंखला की खोज करती है। प्राचीन काल से मानव इसमें लगा हुआ है और नये-नये तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करता रहा है। आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) में तो कार्यकारणभाव और अनुसन्धान प्रक्रिया का वर्णन है ही, आयुर्वेदीय संहिताओं में भी इसका पर्याप्त विवेचन है।[2] कारणत्व निर्धारित करने के लिए अन्वय, व्यतिरेक सादृश्य आदि विधियों का निरूपण किया गया है। प्रमाणों का भी उपयोग इस निमित्त किया गया है। चरकसंहिता में युक्ति प्रमाण विशिष्ट माना है। यह ध्यान देने की बात है कि चरक ने प्रमाणों के लिए अनेक स्थलों पर 'परीक्षा' शब्द का प्रयोग किया है[3] जो उनके अन्वेषणात्मक दृष्टिकोण का द्योतक है। इस प्रकार

---

१. प्रियव्रत शर्मा : आयुर्वेद में स्नातकोत्तर शिक्षण, लक्ष्य, मार्ग एवं कार्यक्रम— इन्द्रप्रस्थीय आयुर्वेद सम्मेलन पत्रिका, सितम्बर, १९७३।

२. देखें लेखक का दोषकारणत्व-विवेचन (चौखम्बा, १९५५)

३. च० सू० ११

आयुर्वेद में वैज्ञानिक अनुसन्धान की पृष्ठभूमि अत्यन्त सुदृढ़ है।[1] 'आप्त' का जो स्वरूप चरक ने निर्धारित किया है[2] वह वस्तुतः एक अन्वेषणशील तपस्वी वैज्ञानिक का है जो रागद्वेष से रहित होकर वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा त्रैकालिक सत्य सिद्धान्तों की स्थापना करता है। इसके लक्षण में 'आप्त' 'शिष्ट' और 'विबुद्ध' शब्द क्रमशः पूर्ववर्ती ज्ञान की उपलब्धि, वैज्ञानिक विधियों में प्रशिक्षण और उनके द्वारा अन्ततः त्रैकालिक सत्य का ज्ञान इस सोपानत्रय के बोधक हैं।

जान्तव प्रयोग (Animal experiments)

प्राचीन काल में आयुर्वेदीय आचार्यों के पास परीक्षण का साधन क्या था यह विचारणीय विषय है। रोगपरीक्षण के विषय में तो सन्देह नहीं है, किन्तु जान्तव-प्रयोग, जो आधुनिक विज्ञान में प्राकृत एवं वैकृत अवस्थाओं के ज्ञान के लिए व्यवहृत होते हैं, उस काल में थे या नहीं यह विचार का विषय है। पुरुष की जो कल्पना (पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः) आयुर्वेद में है वह इतनी व्यापक है कि प्राणिमात्र उसमें समाविष्ट हो जाता है। अतः चेतन शरीर की क्रियाओं की व्याख्या के लिए एक प्राणि-शरीर के अध्ययन का उपयोग दूसरे प्राणि-शरीर के ज्ञान के लिए करना अस्वाभाविक नहीं है। मानव शरीर सर्वोच्च और सर्वप्रमुख होने के कारण प्रधान और अन्य प्राणी उसके उपकरण माने गये हैं:—

"तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः संस्वेदजजरायुजाण्डजोद्भिज्जसंज्ञः, तत्र पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्।"—सु० सू० १

"यद्यप्यत्र पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति सामान्येन पुरुषशब्देन पश्वादिरपि वाच्यः, तथापि मनुष्यजातिरेवात्र पुरुषशब्देनोच्यते तस्योपकार्यत्वात् इतरस्य चाप्राधान्यम् उपकरणत्वात्"—सु० सू० १ (डल्हण)

प्राचीन महर्षि उन्मुक्त प्रकृति में पशु-पक्षियों के बीच रहने के कारण निरन्तर साहचर्य से तथा क्रान्तदर्शिनी पर्यवेक्षण-शक्ति से उनके प्राकृत एवं वैकृत कार्यकलापों का अवश्यमेव अध्ययन करते होंगे और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान का उपयोग मानव-शरीर की व्याख्या में होता होगा। कीड़े-मकोड़ों, पशुओं और पक्षियों का विस्तृत

---

१. देखें, प्रियव्रत शर्मा : आयुर्वेद की वैज्ञानिक श्रेष्ठता, सुधानिधि, मई १९४७ से अगस्त १९४७।

२. रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते, तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥—च० सू० ११।१८-१९

विवरण आयुर्वेदीय संहिताओं में मिलता है। सुश्रुतसंहिता कल्पस्थान ८ अध्याय (कीटकल्प) में कीटों का विस्तृत वर्णन है। विशेषता यह है कि सामान्य वर्णन के अतिरिक्त कीटों को वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक इन तीन वर्गों में विभाजित किया गया है जिससे मानव-शरीर के सम्बन्ध से इनका अध्ययन सुगम हो जाता है और इनका प्रायोगिक पक्ष भी स्पष्ट हो जाता है। हस्त्यायुर्वेद (पालकाप्य) तथा अश्वायुर्वेद (शालहोत्र) में हाथी और घोड़े की प्राकृतिक एवं वैकृत स्थितियों का विवरण है। चरक संहिता ने चटक, हाथी तथा अश्व इनकी काम-शक्ति का तुलनात्मक वर्णन किया है। चटक छोटे होने पर भी काम-शक्ति में अधिक समर्थ होते हैं जब कि हाथी बृहत्शरीर होने पर भी शीघ्र च्युत हो जाते हैं। इस दृष्टि से अश्व को उन्होंने आदर्श माना है और इसी आधार पर आयुर्वेद के उस अंग का नाम वाजीकरण रखा गया है।

"नराश्चटकवत् केचिद् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम्।
गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः॥"
"येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत्॥"—च० चि० २

विभिन्न विकारों के स्वरूप के निर्धारण के लिए मनुष्य के साथ-साथ वन्य पशुपक्षियों में प्रादुर्भूत वैकारिक लक्षणों का अध्ययन किया गया है। उदाहरणार्थ, ज्वर का प्रत्यात्मलक्षण (सन्ताप) सभी प्राणियों में ज्वर का परीक्षण करने के बाद निर्धारित किया गया है। चरक ने लिखा है कि ज्वर का प्रत्यात्मलक्षण शारीरिक और मानसिक सन्ताप है, क्योंकि ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो ज्वर के आक्रमण से सन्तप्त नहीं होता है :—

"ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः।
ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते॥—च० चि० ३

स्पष्टतः ऐसी उक्ति समस्त प्राणियों के परीक्षण का संकेत करती है। इसका स्पष्टीकरण माधवनिदान की टीका में उद्धृत पालकाप्य के सूत्रों में किया गया है जिसमें हाथी, घोड़ा, गौ, बकरी, भेंड़, भैंस, पक्षी, मछली, सर्प तथा कीट-पतंगों के ज्वर का उल्लेख हुआ है। निश्चय ही पालकाप्य का यह वचन उपर्युक्त प्राणियों के सर्वेक्षण पर आधारित है।

"उक्तं च पालकाप्ये :—
पालकः स तु नागानामभितापर्स्तु वाजिनाम्।" इत्यादि—मधुकोश

पशु-पक्षी रुग्ण होने पर कुछ लक्षणों से पीड़ित होते होंगे और उनसे मुक्त होने के लिए जंगल में किसी वनौषधि का उपयोग करते होंगे। सर्प के साथ द्वन्द्व-युद्ध के

बाद विष को दूर करने के लिए नकुल जिस वनौषधि का व्यवहार करते थे वह नाकुली के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसीलिए शास्त्रकारों ने उपदेश दिया है कि औषधों के सम्बन्ध में जानकारी वनवासियों से प्राप्त होती है। आज भी ऐसी जानकारी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। अनेक रोगों और उनके औषधों का ज्ञान इस प्रकार हुआ होगा, किन्तु अनेक स्थलों में जन्तुओं पर प्रयोग कर औषधों का परीक्षण भी हुआ है। रोगों के निदान में वैकृत द्रव्यों के परीक्षण के लिए जन्तुओं का उपयोग किया गया है। रक्तपित्त में रोगी के मुख से जो रक्त आता है वह रक्तपित्त है या जीवरक्त है इसके निर्णय के लिए उसे कुत्ते और कौवे को खिलाने का विधान है। यदि वह खा ले तो जीवरक्त अन्यथा रक्तपित्त समझना चाहिए।

"लोहितपित्तसन्देहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद् धारि-लोहितमभक्षणात् लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्— —च० वि० ४

"तेनान्नं मिश्रितं दद्यात् वायसाय शुनेऽपि वा।
भुङ्क्ते तच्चेद वदेज्जीवं भुङ्क्ते पित्तमादिशेत्॥"—च० सि० ६

राजवैद्य की प्रयोगशाला में चकोर, कोकिल, मयूर, शुक, हंस, हरिण, बन्दर आदि पशु-पक्षी निरन्तर रखे जाते थे जिन पर राजा के भोजन का परीक्षण किया जाता था। विषाक्त भोजन होने से इन प्राणियों में विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं।

"नृपभक्ताद् वलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः॥"
"सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राज्ञस्तान् मृगपक्षिणः।
वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा॥"—सु० क० १

इसके अतिरिक्त, पुरुषों, पशुओं और पक्षियों में विष के वेगों का निरूपण किया गया है। पुरुषों में ८ विषवेग, पशुओं में ४ तथा पक्षियों में तीन बतलाये हैं। इन वेगों में होने वाले लक्षणों का क्रमबद्ध विवरण दिया गया है:—

"चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः पक्षिणां त्रिविधः।
सीदत्याद्ये भ्रमति च चतुष्पदो वेपते ततः शूनः।
मन्दाहारो म्रियते श्वासेन चतुर्थवेगे तु॥
ध्यायति विहगः प्रथमे वेगे प्रभ्राम्यति द्वितीये तु।
स्रस्तांगश्च तृतीये विषवेगे याति प्रश्वत्वम्॥"

विष की अवस्थाओं का ऐसा सटीक और विशद वर्णन बिना जान्तव-प्रयोग के कैसे सम्भव है?

पौराणिक कथा के अनुसार गणेश का सिर कट जाने पर हाथी का सिर उस पर जोड़ा गया। इन्द्र का अण्डकोष गल कर गिर जाने पर बन्दर का अण्डकोष लगाया

गया। वाजीकरण-प्रसंग में कितने पशु-पक्षियों के अण्डकोष के उपयोग का विधान है। यह क्या उनके प्रायोगिक परीक्षण के विना कथमपि सम्भव था ?

कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी अनेक प्रायोगिक विधियों का वर्णन मिलता है[1]।

सुश्रुत ने योग्यासूत्रीय प्रकरण में कुछ कर्मों का उल्लेख किया है, उनसे भी प्रायोगिक परीक्षण का संकेत मिलता है। किसी कर्म की सिद्धि के लिए उसके पूर्व तत्सदृश कर्म का जो अभ्यास किया जाता है उसे 'योग्या' कहा जाता है।

"कर्तव्यकर्मणः सम्यग्योगाय तत्सदृशकर्माभ्यासो योगः तस्मै प्रभवति इति योग्या ॥"

—सु० सू० ९ (चक्र०)

यद्यपि उस श्रृंखला का पता लगाना अब कठिन है, फिर भी इतने स्पष्ट प्रमाण हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि चिकित्सा-विज्ञान के तथ्यों की अवतारणा के क्रम में प्राचीन महर्षियों ने जान्तव-प्रयोग भी बहुलता से किये थे। आज यदि अनुसन्धान की प्राचीन विधियों (पर्यवेक्षण और प्रयोग जो अर्वाचीनसम्मत भी हैं) को आधुनिक तकनीक (Modern Technique) से समन्वित कर शोध-कार्य को अग्रसर किया जाय तो आश्चर्यजनक सफलता मिल सकती है।

यह बात सही है कि जन्तु और मनुष्य की प्रकृति में महान् अन्तर है अतः द्रव्य के प्रभाव का सूक्ष्म परिज्ञान इससे नहीं हो सकता किन्तु, इसका एक दूसरा पक्ष यह है कि जन्तु भी 'पञ्चमहाभूत-शरीरिसमवाय पुरुष' है और उसमें भी त्रिदोष वर्तमान हैं। अतः द्रव्य के प्रभाव से त्रिदोष में तथा अन्य अवयवों में जो परिवर्तन होंगे उनसे द्रव्य के गुणकर्म का कुछ संकेत तो मिलेगा ही जिसकी संपुष्टि मनुष्य पर परीक्षण कर की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, विषाक्त द्रव्यों का परीक्षण मनुष्य पर संभव नहीं होगा तथा मात्रा आदि के निर्धारण के लिए भी जितनी सुविधा जन्तुओं पर होगी इतनी मनुष्यों पर नहीं। अतः अनुसन्धान कार्य में जन्तुओं का उपयोग आयुर्वेदसम्मत है और आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग किया जा सकता है यद्यपि प्रयोग की सम्पुष्टि मनुष्य पर परीक्षण के बाद ही होगी। अनुसन्धान की सार्थकता भी तो तभी है जब वह रुग्ण मानव के लिए लाभकर हो। उस प्रयोग से क्या लाभ जो जन्तुओं के लिए तो लाभकर है किन्तु मनुष्य के लिए अकिंचित्कर या हानिकर हो ?

एक सुधार अवश्य करना होगा कि जन्तुओं में रोगों को उत्पन्न करने की जो आधुनिक विधियाँ हैं उनके स्थान पर आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति के अनुसार विधियाँ आविष्कृत करनी होंगी। उदाहरण के लिए, ज्वर उत्पन्न करने के लिए प्रतिक्रिया-

---

१. देखें—Jyotirmitra : Methodology for Experimental Research in Ancient India, I. J. H. S. Vol. 5. No. 1, 1970

जनक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु उस पर आयुर्वेदीय ज्वरघ्न द्रव्यों का परीक्षण सम्भव न होगा, कारण कि उनका आधार ही भिन्न है। अतः मिथ्या आहार-विहार द्वारा उत्पन्न ज्वर में ही उनका परीक्षण करना उचित होगा। इस दृष्टि से जन्तुओं में भिन्न प्रायोगिक प्रतिकृतियाँ (Experimental models) प्रस्तुत करनी होंगी जो आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति के आधार पर निर्मित होंगी। सारांश यह कि आधुनिक विधियों को आँख मूँद कर न अपना उन्हें अपनी आवश्यकता के अनुसार संशोधित रूप में लेना होगा।

इन्हीं विधियों से वैद्यसमाज अपने ज्ञान को विकसित करता रहा है। वाह्य जगत् से जो नई वस्तु प्राप्त हुई उसका भी परीक्षण कर आत्मसात् कर लिया गया। इस प्रकार आयुर्वेद का भंडार वढ़ता रहा। मध्यकाल में रसशास्त्र का आविष्कार एक चमत्कारिक घटना है। मध्य युग में, जब युरोप में रसायनशास्त्र इतना विकसित नहीं था, भारत में पारद तथा अन्य खनिजों के सम्बन्ध में अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं का अन्वेषण किया गया और इसके द्वारा अनेक उपयोगी औषध कल्पों का आविष्कार हुआ। यह उसी प्रकार की युगान्तरकारी घटना थी जैसी आधुनिक काल में ऐण्टीबायटिक के आविष्कार की। रसौषधियाँ ऐण्टीबायटिक के समान ही आयुर्वेदजगत् में प्रविष्ट हुई थीं। अनेक बाहरी औषधद्रव्य भी आयुर्वेदीय भेषजसंहिता में मिला लिये गये। आयुर्वेद के अनेक द्रव्य और चिकित्साविधियाँ विदेशियों ने अपनाई। इस प्रकार पारस्परिक विनिमय के द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण पनपता रहा यद्यपि मध्यकाल में सैद्धान्तिक प्रौढ़ता उतनी नहीं रही। भावमिश्र (१६वीं शती) तक यह क्रम चलता रहा किन्तु उसके बाद जब युरोप से आधुनिक विज्ञान का प्रबल आक्रमण प्रारम्भ हुआ तो आयुर्वेद उससे स्तब्ध होकर अपनी रक्षा में लग गया; उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई। ऐसी स्थिति में आधुनिक विज्ञान में दीक्षित देशी तथा विदेशी विद्वानों ने आयुर्वेद की अपार संपदा की ओर आकृष्ट होकर अनुसंधान कार्य प्रारम्भ किया। मेडिकल कॉलेजों में फार्माकोलोजी विभाग मुख्यतः इसी कार्य के लिए स्थापित हुये थे। अनेक प्रयोगशालाओं में भी यह कार्य होने लगा। कलकत्ता के ट्रोपिकल स्कूल ऑफ मेडिसिन ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि वैद्यसमाज इससे विलकुल अछूता रहा। गुणग्राही वैद्यों ने पाश्चात्य आधुनिक निदान एवं चिकित्सा की विधियों और औषधों को अपनाया और आयुर्वेदीय शिक्षा में भी उसका समावेश हुआ जिससे नवीन स्नातक आधुनिक वैज्ञानिक विधियों से परिचित होने लगे और अनुसन्धान कार्यों से भी उनका संपर्क बढ़ा। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि आयुर्वेद में मिश्र प्रणाली की शिक्षा असफल रही किन्तु मेरा मत है कि इसीने बीसवीं शती के उत्तरार्ध में आने वाले अनुसन्धान-युग की भूमिका प्रस्तुत की।

चोपड़ा कमिटी (१९४८) ने अनुसन्धान कार्य अग्रसर करने के लिए अनुसंधान संस्थाओं की स्थापना के लिए सिफारिश की थी। पंडित कमिटी (१९४९) ने तदनुसार इस पर विचार कर जामनगर में ऐसे केन्द्र की स्थापना का सुझाव दिया। फलतः वहाँ 'सेण्ट्रल इन्स्टीट्यूट आँफ रिसर्च इन इण्डिजिनस सिस्टम्स आँफ मेडिसिन' की स्थापना हुई। इसका कार्य १९५३ में प्रारम्भ हुआ। इसके प्रथम निदेशक डॉ० प्राणजीवन मेहता नियुक्त हुये।

डॉ० प्राणजीवन मानेकचन्द मेहता का जन्म २८ जुलाई १८९५ को गुजरात में हुआ। इन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय तथा अमेरिका से आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में उच्चतम उपाधियाँ प्राप्त की। चिकित्सा और शल्य दोनों में कुशलता अर्जित की। साथ-साथ रश्मिचिकित्सा तथा आयुर्वेद का भी अध्ययन किया। राजकीय सेवा में कुछ वर्ष व्यतीत करने के बाद आप बम्बई में स्वतंत्र चिकित्साकार्य करने लगे। पुनः नावानगर स्टेट में मुख्य चिकित्साधिकारी नियुक्त हुये। इस अवधि में आपका संपर्क आयुर्वेद से बढ़ा। १९४७ से १९५२ तक आप जामनगर, आयुर्वेद विद्यालय के डीन हुये और १९५२ में जब वहाँ केन्द्रीय आयुर्वेद-शोध संस्थान स्थापित हुआ तो उसके निदेशक हुये और १९५८ तक उस पद पर कार्य किया। इन संस्थाओं की स्थापना में आपकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। चोपड़ा कमिटी के आप सदस्य तथा दवे कमिटी के सचिव भी थे। इसके अतिरिक्त अनेक कमिटियों में आप सदस्य थे और सारे देश में आप आयुर्वेद के विकास तथा अनुसंधान के संचालन के लिए परामर्श देते थे। आपके अनेक ग्रन्थ तथा लेख प्रकाशित हैं। आपकी अमरकीर्ति है जामनगर गुलाब कुंवरबा आयुर्वेद सोसाइटी से चरकसंहिता का छः खण्डों में अनेक भाषाओं में अनुवाद और टिप्पणियों के साथ प्रकाशन (१९४९)। डॉ० मेहता का स्वर्गवास १५ मार्च १९७९ को हुआ।

योजना आयोग के तत्वावधान में जून १९५७ में वैद्यों की एक बैठक हुई जिसमें यह सिफारिश की गई कि १५ सदस्यीय एक केन्द्रीय आयुर्वेद-अनुसन्धान परिषद् का गठन किया जाय। उडुप-समिति ने भी इसके लिए सिफारिश की। फलतः केन्द्रीय स्वास्थ्यमंत्री की अध्यक्षता में ११ सदस्यीय केन्द्रीय आयुर्वेद अनुसन्धान-परिषद् की स्थापना अक्तूबर १९५९ में की गई। १९६३ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान स्थापित होने पर वहाँ स्नातकोत्तर शिक्षण के साथ-साथ अनुसंधानकार्य पर भी बल दिया गया। २२-५-१९६९ को जब विधानतः स्वायत्त संस्था के रूप में 'सेण्ट्रल कौन्सिल फार रिसर्च इन इण्डियन मेडिसिन ऐण्ड होम्योपैथी' की स्थापना हुई और राजकीय अर्थसाहाय्य भी तदर्थ प्राप्त हुआ तब अनुसन्धानकार्यों में विशेष प्रगति आई। देशभर में अनेक शोधकेन्द्र

स्थापित हुये और आयुर्वेद-वाङ्मय, वनौषधि-सर्वेक्षण, चिकित्सा, औषधद्रव्य; परिवारनियोजन चल इकाई आदि विषयों पर शोधकार्य अग्रसर हुये। इस अनुसन्धान परिषद् के प्रथम निदेशक पी० एन० वी० कुरुप (भारत सरकार में देशी चिकित्सा सलाहकार) हैं। अब यह कौंसिल चतुर्धा विभक्त होकर आयुर्वेद-सिद्ध, यूनानी, योग-प्राकृतिक चिकित्सा तथा होम्योपैथी इन चारों पृथक्-पृथक् परिषदों में परिणत हो गई। आयुर्वेद रिसर्च कौंसिल के अन्तर्गत इस समय देश भर में २ केन्द्रीय शोधसंस्थान, १५ क्षेत्रीय शोधसंस्थान तथा लगभग १०० अन्य शोध-प्रयोजन चल रहे हैं।[३]

अनुसंधान का स्वरूप

आयुर्वेदीय अनुसन्धान का स्वरूप एवं क्षेत्र क्या हो इस सम्बन्ध में समय-समय पर मनीषियों तथा राज्य द्वारा नियुक्त समितियों ने अपने विचार दिये हैं। चोपड़ा कमिटी (१९४६) ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किये हैं :—

१. अनुसन्धान के दो उद्देश्य होने चाहिए—

(i) भारतीय चिकित्साशास्त्र को शताब्दियों के विकृतिपुञ्ज से जिनकी उपयोगिता संदिग्ध है निर्मुक्त करना और इसके विज्ञान तथा कला को वर्तमान युग के लोगों को बुद्धिगम्य बनाना।

(ii) भारतीय तथा पश्चिमी चिकित्सा का समन्वय करना जिससे एक सम्मिलित चिकित्सा सहायता व शिक्षा का प्रादुर्भाव हो जो कि भारतीय जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल हो।

२. अनुसन्धान के निम्न विभाग (Categories) होने चाहिए—

(i) आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों में अनुसंधान।

(ii) साहित्यिक अनुसंधान

(iii) चिकित्सासम्बन्धी अनुसंधान

(iv) औषध-अनुसंधान

(v) पोषणविज्ञान तथा आहारविज्ञान-अनुसंधान

(vi) मनोवैज्ञानिक अनुसंधान

३. एक सेन्ट्रल कौंसिल ऑफ रिसर्च इन इण्डियन मेडिसिन का तुरन्त निर्माण होना चाहिए जिसका कार्य सेण्ट्रल मेडिकल रिसर्च औरगनीजेशन के सदृश होगा। इसमें निम्न व्यक्ति होंगे : (i) भारतीय पद्धति के प्रसिद्ध चिकित्सक, (ii) भारतीय चिकित्सा से सम्बन्धित वैज्ञानिक संस्थाओं के प्रतिनिधि, (iii) भारतीय चिकित्सा में अनुसन्धान करने वाले शिक्षणालयों के प्रतिनिधि। यह समिति प्रारम्भ में सरकार की ओर से नियुक्त होनी चाहिए।

४. अनुसन्धानसमिति के निम्न कार्य होंगे—

(i) भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान-नीति की आयोजना।

(ii) चिकित्सा तथा अन्य अनुसन्धान-नीतियों का संश्लेषण।

(iii) प्रस्तुत सेंट्रल रिसर्च इन्स्टीट्यूट इन इण्डियन मेडिसिन का संगठन, निरीक्षण तथा नियन्त्रण।

(iv) भारतीय विश्वविद्यालयों तथा शिक्षणालयों में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना।

(v) संचालक तथा उच्च अधिकारियों की नियुक्ति के नियम बनाना।

(vi) कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति।

(vii) विशेष विषयों में अनुसन्धान के लिये परामर्शदात्री समिति का आयोजन।

(viii) सेण्ट्रल रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा अन्य केन्द्रों में अनुसन्धान के लिए धनराशि तथा आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था करना।

प्रस्तुत अनुसन्धानशाला एकप्रयोजनीय श्रेणी की होगी।

६. केन्द्रीय अनुसन्धानशाला के निम्न विभाग होने चाहिए—

(i) चिकित्साविभाग जिसमें कम से कम १०० आतुरशय्यायें हों जो आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित हों।

(ii) प्रयोगशालाविभाग जिसमें आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित प्रयोगशालायें हों जिनमें चिकित्सा से सम्बन्धित सब विषयों में अनुसन्धान हो सके।

(iii) भेषजकल्पना विभाग जिसमें प्राणिज, वानस्पतिक एवं खनिज औषधों की निर्माणविधि तथा सिद्ध द्रव्यों के संघटन का अध्ययन तथा परीक्षण किया जा सके।

(iv) केन्द्रीय अनुसन्धान पुस्तकालय।

(v) सांख्यिकी विभाग अनुसन्धान कार्य की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए हो जिससे उनके परिणामों की गणनात्मक तुलना हो सके।

(iv) औषध संग्रहालय तथा वनौषधिउद्यान जिसमें औषधियों के प्राकृतिक व सुरक्षित नमूने रखे जा सकें।

७. अनुसंधानशाला का संचालन तथा नियंत्रण संचालक द्वारा होगा। चूंकि अनुसन्धानशाला की सफलता संचालक की योग्यता तथा आचरण पर निर्भर है इसलिए वह एक उच्च वैज्ञानिक योग्यता का व्यक्ति, अनुसन्धानकार्य विशेषतया भारतीय चिकित्सा अनुसंधान में दक्ष तथा संगठन कार्य में प्रवीण होना चाहिए।

८. भिन्न-भिन्न विभागाध्यक्ष विज्ञान तथा भारतीय एवं पश्चिमी चिकित्साशास्त्र में पारंगत होने चाहिए।

९. चूँकि अनुसन्धानशालाओं के कार्यकर्त्ताओं को अनुसन्धानकार्य तथा स्नातकोत्तर अध्यापन कार्य के लिए कठोर परिश्रम करना होगा इसलिए उनको स्वतन्त्र चिकित्सा की अनुमति न दी जाय। उनका वेतन भत्ता आदि अन्य समकक्ष अनुसंधान शालाओं के तुल्य होना चाहिए।

१०. भिन्न-भिन्न विभागों के कार्य की प्रगति अनुसंधानशाला की पत्रिका में छपनी चाहिए जिसका नाम हो आर्काइव्ज ऑफ इण्डियन मेडिसिन।

११. सेण्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट तथा अन्य अनुसंधानशालाएँ स्थापित करने की आयोजना हो। अथवा इसे किसी प्रान्त या रियासत में स्थापित किया जाय जहाँ अनुसंधानोपयोगी वातावरण तथा अन्य तत्सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध हों यथा बंगलोर अथवा बनारस।

१२. प्रत्येक शिक्षणालय के संबद्ध आतुरालय में अनुसंधानकार्य का आयोजन होना चाहिए।

१३. सेंट्रल रिसर्च इंस्टीच्यूट में स्नातकोत्तर पाठचक्रम व अनुसंधान कार्यकर्त्ताओं के शिक्षण का प्रबन्ध होना चाहिए। १५०) मासिक की अनुसन्धान-छात्रवृत्ति प्रथम अवस्था में तीन वर्ष तक तथा विशेष अवस्थाओं में पाँच वर्षों तक उपलब्ध होनी चाहिए।

१४. भारतीय चिकित्सा के प्रयोग में आनेवाली बहुत सी औषधियों के शुद्ध परिचय में बहुत कठिनता है। इनके परिचय का कार्य सब प्रांतीय तथा प्रादेशिक केन्द्रों में होना चाहिए और इस कार्य का समन्वय प्रस्तावित केन्द्रीय अनुसन्धान-शालाओं द्वारा होना चाहिये।

१५. औषधियों के परिचय में बहुत सुगमता होगी यदि सेण्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट में एक वनौषधि-उद्यान हो जिसमें भली-भाँति परिचित व निश्चित तथा सुरक्षित औषधियों के नमूने रखे जायें। फारेस्ट रिसर्च इंस्टीच्यूट देहरादून, स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन कलकत्ता तथा ड्रग रिसर्च लेबोरेटरी काश्मीर में इन औषधियों के संग्रह विद्यमान हैं।

१६. चिकित्सा-सहायता को वैज्ञानिक ढंग पर लाने के लिए न केवल औषधियों का अध्ययन करना आवश्यक है अपितु उनका उत्पादन भी होना चाहिए जिससे सही औषधियाँ ठीक मात्रा में प्राप्त हो सकें। इसको सफलता से करने के लिए आवश्यक है कि औषधियों का समीचीन सर्वेक्षण किया जाय। इससे उनके उत्पादन के लिए उपयुक्त प्रदेशों को निर्धारित करने में भी सहायता मिलेगी।

१७. औषधियों के सर्वेक्षण तथा उत्पादन का कार्यक्रम केन्द्रीय अनुसंधानशाला प्रान्तों व रियासतों के वन एवं कृषि विभागों के प्रतिनिधियों व वनस्पति-शास्त्रियों के सहयोग से बनावे।

१८. चूँकि वर्तमान उपलब्ध साहित्य बिखरा हुआ है और छात्रों तथा चिकित्सकों को सुलभ नहीं है, निघण्टु की एक पाठ्यपुस्तक तैयार होनी चाहिए जिसमें तद्विषयक समस्त सूचना का संग्रह व विवेचन करके भिन्न-भिन्न औषधियों के आवश्यक ज्ञेयांश का निर्देश होना चाहिए।

१९. यह संभव नहीं है कि वर्तमान में कोई आयुर्वेदिक भैषज्यसंहिता (फार्माकोपिया) पश्चिमीय फार्माकोपिया के ढंग पर तैयार किया जा सके चूँकि वर्तमान में उक्त कार्य के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

२०. सेण्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट को विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त करनी चाहिए जो कि आवश्यक सामग्री प्रदान कर दो सूचियाँ तैयार करे—एक उपयोगी एकल औषधियों की और दूसरी प्रसिद्ध योगों की। यह भारतीय सिद्धौषधसंग्रह—फार्माकोपिया का आधार होगा और इससे उनके गुण, निर्माणविधि, मात्रा, सेवन-विधि, अनुपान आदि के विषय में सब सूचना मिलेगी।

२१. चूँकि विशुद्ध औषध निर्माण के लिए औषधियाँ प्राप्त करने में अत्यन्त कठिनता होती है यह आवश्यक है कि (क) जड़ी-बूटियों का संग्रह तथा वितरण राज्य के आज्ञापत्र (लाइसेन्स) द्वारा होना चाहिए (ख) बाजार में औषधि-विक्रेताओं पर भी नियन्त्रण होना चाहिए और उनको भी आज्ञापत्र लेना चाहिए।

२२. एक छोटी समिति जिसमें उद्योग, वैद्य, हकीम, तथा आधुनिक रसशालाओं के प्रतिनिधि हों, देश के लिए आवश्यक औषधि व सिद्धौषधों की जांच करे और इस बात का परामर्श दे कि उन पर नियंत्रण का सर्वोत्तम उपाय क्या है ?

२३. कुछ आवश्यक न्यूनतम मानदण्ड निर्धारित होना चाहिए कि व्यापारिक रसशालाओं को सुचारु रूप से संचालन करने के लिए कितने न्यूनतम कार्यकर्त्ता, उपकरण व स्थान आवश्यक हैं।

२४. अहिफेन, गाँजा, सुरा, संखिया आदि विष एवं आबकारी विभाग के अन्तर्गत द्रव्यों को प्राप्त करने के लिए भारतीय रसशालाओं को वही सुविधा उपलब्ध होनी चाहिए जो कि आधुनिक रसशालाओं को प्राप्त है।

२५. जनता को विश्वस्त औषध प्राप्त कराने के लिए सुशिक्षित औषधि-निर्माताओं की आवश्यकता है और उपर्युक्त प्रस्तावित समिति इसके लिए उपयुक्त क्रम चलाने के लिए भिन्न उपायों का निर्देश करे।

२६. देशी औषधिनिर्माताओं के व्यवसाय पर नियन्त्रण रजिस्ट्रेशन द्वारा होना चाहिए जैसा कि राजकीय नियम आधुनिक रसशालाओं के व्यवसाय के लिए बनाये गये हैं।

पंडित कमेटी (१९४९) ने भी इस पर विचार कर अपने सुझाव दिये हैं। इसकी मान्यता है कि आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का वैज्ञानिक रूप से विशदीकरण,

जिससे वह विश्व भर में वैज्ञानिक जगत् द्वारा अंगीकृत हो सके, चिकित्सा-अनुसंधान के द्वारा ही संभव है अतः सभी प्रकार के अनुसंधानों को इसी में केन्द्रित करने की आवश्यकता है और इसी के आधार पर सबका अपेक्षित विकास होगा। उदाहरणार्थ वाङ्मय-अनुसन्धान के अन्तर्गत रोगों के स्वरूप का अध्ययन कर उसका व्यावहारिक अध्ययन चिकित्सा-अनुसंधान के अन्तर्गत करना होगा । पथ्यापथ्य का अध्ययन भी चिकित्सा के सिलसिले में करते जाना होगा। चिकित्सा में प्रयुक्त द्रव्यों का अध्ययन तो होगा ही। इस प्रकार सभी अनुसंधानकार्यों का केन्द्र चिकित्सा-अनुसंधान को बनाकर सबको स्वतन्त्र रूप से विकसित करना होगा।

चिकित्सा-अनुसंधान में प्राचीन प्रक्रियाओं के साथ पूरक रूप में आधुनिक विज्ञान द्वारा विकसित वैज्ञानिक प्रक्रियाओं और साधनों का उपयोग आवश्यक है। इस प्रकार इस कार्य में आयुर्वेदिक तथा आधुनिक दोनों प्रकार के चिकित्सक तथा अन्य वैज्ञानिक रहें जिससे अध्ययन के द्वारा प्राचीन विज्ञान का सार विश्वजनीन हित के लिए प्रकाशित किया जा सके । सुनियोजित कार्यक्रम के अनुसार आयुर्वेदिक चिकित्सक यह निर्णय करेंगे कि कौन सा रोग समस्या के रूप में अनुसंधान के लिए लिया जाय । इसमें एक परामर्शदात्री परिषद् की सलाह लेना भी श्रेयस्कर होगा। समस्या का अध्ययन रोगी को आतुरालय में प्रविष्ट कर किया जाना चाहिए किन्तु बहिरंग विभाग का भी पूरा उपयोग अनुसंधान में किया जाना आवश्यक है। रोगी का प्रवेश होने पर आयुर्वेदिक दल रोग का निदान शास्त्रीय विधि से उसी आधार पर युक्तिपूर्वक करेगा इसके बाद शास्त्रीय विधि से उसकी चिकित्सा किसी एकाकी द्रव्य से प्रारम्भ की जाय, बाद में साधारण योग दिये जाँय और अन्त में बृहद् योगों का प्रयोग हो। द्रव्य का चुनाव करने के पूर्व कभी-कभी उसका रासायनिक विश्लेषण करने की भी आवश्यकता पड़ सकती है जिससे उसके अध्ययन में सुविधा हो। चिकित्सा के क्रम में औषधि तथा पथ्य की व्यवस्था चलेगी उसका पूरा अभिलेख तैयार करना होगा तथा दैनन्दिन प्रगति का विवरण भी रखना होगा जिससे चिकित्सा का मूल्यांकन ठीक-ठीक किया जा सके। आयुर्वेदिक विधि से निदान करने के बाद आधुनिक दल विविध वैज्ञानिक साधनों से रोगी की परीक्षा करेगा और अपने ढंग से उसका निदान करेगा। चिकित्सा के क्रम में भी आधुनिक दल रोग का पूरा विवरण रखेगा जब तक कि रोगी आतुरालय से मुक्त न हो जाय। रोगी को रोगमुक्ति या लाभ अथवा अन्य स्थिति का प्रमाणपत्र देने के समय आयुर्वेदिक तथा आधुनिक दोनों दलो की सम्मति होनी चाहिए। चिकित्सा-परिणाम का विश्लेषणात्मक विवरण बनाने के लिए एक सांख्यिकीविद् की सहायता लेना भी आवश्यक है। इस प्रकार समस्त अध्ययन का विवरण संकलित कर पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जा सकता है।

आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से न केवल चिकित्सा बल्कि नैदानिक पक्ष का उद्घाटन भी आवश्यक है। रोगी-परीक्षाविधि में दर्शन आदि पंचेन्द्रिय-परीक्षा तथा प्रश्न एवं अष्टस्थानपरीक्षा (नाड़ी, मूत्र, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, नेत्र, आकृति) की व्यावहारिकता का अध्ययन करना चाहिए। रोगी-परीक्षा में शास्त्र में वर्णित निदान-पंचक (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति) का प्रायोगिक अध्ययन करना भी अपेक्षित है विशेषतः सूत्ररूप में वर्णित सम्प्राप्ति का विशदीकरण आवश्यक है। सम्प्राप्ति के प्रसंग में दोष, दूष्य (धातु, मल) अग्नि, स्रोत तथा अधिष्ठान का विस्तृत विचार होना चाहिए। इसके अतिरिक्त विकल्प, प्राधान्य, बल, काल और विधि तथा संकोच, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद इन छः अवस्थाओं का सूक्ष्म अध्ययन होना चाहिए। ऐसी भी विचारधारा है कि केवल आयुर्वेदिक चिकित्सा का ही मूल्यांकन और अध्ययन आधुनिक पद्धति के आधार पर न हो बल्कि आधुनिक पद्धति का भी अध्ययन और मूल्यांकन आयुर्वेदिक पद्धति पर किया जाय। इस पारस्परिक सामंजस्य को ध्यान में रखते हुए उडुपकमिटी (१९५८) ने एक नया सुझाव उपस्थित किया है कि—

१. निदान आधुनिक पद्धति से चिकित्सा आयुर्वेदिक पद्धति से।
२. निदान आयुर्वेदिक पद्धति से चिकित्सा आधुनिक पद्धति से।
३. निदान और चिकित्सा दोनों आयुर्वेदिक पद्धति से।
४. निदान और चिकित्सा दोनों आधुनिक पद्धति से।

जामनगर के केन्द्रीय अनुसन्धान संस्थान में पंडितकमिटी द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार कार्य होता था। आयुर्वेदिक और आधुनिक चिकित्सकों के दो स्वतंत्र दल थे। व्यवहारतः यह पूर्ण सफल नहीं हुआ क्योंकि दोनों दलों में प्रायः एकवाक्यता स्थापित नहीं हो पाती थी अतः किसी बात का निर्णय कठिन हो जाता था। उडुपकमिटी द्वारा निर्धारित चतुर्मुखी प्रक्रिया भी ग्राह्य नहीं हुई। वाराणसी आयुर्वेद-संस्थान ने एक तीसरा ही मार्ग अपनाया है। यहाँ शोधकर्त्ता आयुर्वेद के अतिरिक्त आधुनिक विधियों में भी प्रशिक्षित होकर स्वयं सब कार्य करता है, पृथक् आधुनिक चिकित्सक की अपेक्षा नहीं होती। फिर भी केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद् द्वारा संचालित कम्पोजिट ड्रग रिसर्च स्कीम के अन्तर्गत चिकित्सा-अनुसन्धान में पंडितकमिटी के सुझावों का अनुसरण कर आयुर्वेदिक और आधुनिक चिकित्सक के दो दल रहते हैं।

कुछ वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में जैसे शुद्ध आयुर्वेद की चर्चा उठी वैसे ही अनुसंधान के क्षेत्र में भी 'आयुर्वेदीय अनुसन्धान' की आवाज उठने लगी। शुद्ध आयुर्वेद-वादियों का यह कथन है कि अनुसन्धान आयुर्वेदीय पद्धति से होना चाहिए किन्तु यह पद्धति

क्या है इसका स्पष्टीकरण नहीं होता। संभवतः उनका अभिप्राय है कि आयुर्वेदिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर आयुर्वेद के उपबृंहण के लिए वैद्यों द्वारा जो अनुसन्धान होगा वह आयुर्वेदिक कहा जायगा भले ही उसमें आधुनिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी विधियों का उपयोग क्यों न हो।[1]

पत्र-पत्रिकायें

हिन्दी का सर्वप्रथम मासिक पत्र 'आरोग्यसुधानिधि' पं० श्रीनारायण शर्मा राजवैद्य के संपादकत्व में कलकत्ता से १९०१ में प्रकाशित हुआ। लगभग इसी समय फर्रूखनगर निवासी पं० मुरलीधर शर्मा के संपादकत्व में 'आरोग्यसुधाकर' पत्र निकला था।[2]

कुछ प्रमुख पत्रों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है :—

१. सद्वैद्यकौस्तुभ—शंकरदाजी शास्त्री पदे ने १९०५ में यह पत्र हिन्दी में निकाला जो उनकी मृत्यु (१९०९) के बाद बन्द हो गया।[3]

२. सुधानिधि—पं० वैद्यनाथ शर्मा राजवैद्य ने प्रयाग से १९०७ में इसका प्रकाशन प्रारंभ किया था जो कुछ ही अंक के बाद बन्द हो गया। पुनः इसी नाम से एक मासिक पत्र पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ने प्रयाग से ही १९०९ में निकालना प्रारम्भ किया। शुक्लजी ने जीवनपर्यन्त इसे निबाहा। इस प्रकार लगभग ५० वर्षों से अधिक इनकी आयु रही। ऐसा दीर्घजीवी लोकप्रिय और प्रभावशाली आयुर्वेद जगत् में दूसरा पत्र नहीं हुआ। प्रारम्भ से ही अधिकांश पत्र आयुर्वेदिक फार्मेसियों की ओर से प्रकाशित होते रहे। एक वैद्य द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होने वाला पत्र यही था। शुक्लजी के स्वर्गवास के बाद तथा धन्वन्तरि-परिवार में विभाजन के बाद विजयगढ़ (अलीगढ़) से इसी नाम का मासिक पत्र जनवरी १९७३ से प्रारंभ हुआ जिसके संपादक देवीशरण गर्ग (अब स्वर्गीय) तथा विशिष्ट संपादक पं० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी हैं।

---

१. इस सम्बन्ध में मेरे निम्नांकित लेख देखें :—

स्नातकोत्तर शिक्षण और अनुसन्धान—धन्वन्तरि, नवम्बर, १९६६

आयुर्वेदीय अनुसन्धान की दिशा एवं क्षेत्र—सचित्र आयुर्वेद, जुलाई-अगस्त, १९६९

आयुर्वेद में अनुसन्धान का लक्ष्य—आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका, मार्च, १९७४

आयुर्वेदीय अनुसंधान-सिंहावलोकन—इन्द्रप्रस्थीय आयुर्वेद सम्मेलन पत्रिका, अप्रैल, १९७४

२. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल : आयुर्वेदिक पत्रों का इतिहास, प्रयाग, १९५३ (द्वि०सं०)

३. रजतजयन्ती-ग्रन्थ, भाग २, पृ० ४८१

३. धन्वन्तरि—जनवरी १९२४ से वैद्य बाँकेलाल गुप्त के संपादकत्व में इसका प्रकाशन विजयगढ़ (अलीगढ़) से प्रारंभ हुआ। बाद में श्री देवीशरण गर्ग और ज्वालाप्रसाद अग्रवाल चलाने लगे। अब अलीगढ़ से ज्वालाप्रसाद अग्रवाल निकाल रहे हैं। इसके अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित हुये हैं।

४. प्राणाचार्य—वैद्य बाँकेलाल गुप्त ने विजयगढ़ (अलीगढ़) से १९४८ में इसे प्रकाशित किया था। कुछ वर्षों तक चलने के बाद बन्द हो गया। इसके पूर्व इसी नाम का पत्र कानपुर से रामनारायण वैद्य शास्त्री ने १९२८ में निकाला था।

५. अनुभूतयोगमाला—वैद्यराज विश्वेश्वरदयालु जी बरालोकपुर (इटावा) से यह पत्रिका जनवरी १९२३ से प्रकाशित कर रहे थे। पहले यह पाक्षिक थी, फिर मासिक हो गई।

६. आयुर्वेदविज्ञान—पञ्जाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर, के संचालक वैद्य स्वामी हरिशरणानन्द ने इसका प्रकाशन १९२७ से प्रारंभ किया था। बाद में यह विज्ञान में सम्मिलित कर दिया गया। पुनः जनवरी १९५४ से अमृतसर से निकलने लगा था।

७. आयुर्वेद—नागपुर से पं० गोवर्धन शर्मा छांगाणी और उनके पुत्र पं० शिवकरण शर्मा छांगाणी ने १९५२ से निकाला था। बाद में इसे साप्ताहिक कर दिया था।

८. स्वास्थ्य—कृष्णगोपाल आयुर्वेद भवन, कालेड़ा (अजमेर) से यह सितम्बर १९५३ से प्रकाशित हो रहा है। प्रारम्भ में इसके संपादक डॉ० बलदेव शर्मा थे। अब पं० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी हैं।

इसी नाम का एक पत्र मथुरा से गोपालप्रसाद शर्मा कौशिक के संपादकत्व में निकलता था।

९. सचित्र आयुर्वेद—श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता की ओर से यह पत्र जुलाई १९४८ से प्रारंभ किया गया। इधर पटना से प्रकाशित हो रहा है। संप्रति आयुर्वेद के प्रमुख पत्रों में है। इसमें अंग्रेजी भाषा में भी लेख प्रकाशित होते हैं। अभी इसके संपादक श्रीकान्त शास्त्री हैं, इसके पूर्व बहुत दिनों तक पं० सभाकान्त झा थे।

१०. आयुर्वेद विकास—डाबर (डॉ० एस० के० बर्मन प्रा० लि०) कलकत्ता की ओर से १९५२ से प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक श्री शम्भुनाथ बलियासे मुकुल हैं। सम्प्रति दिल्ली से प्रकाशित हो रहा है।

११. वैद्यसम्मेलन पत्रिका—मई १९२८ से इसका प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादकों में आचार्य यादवजी, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं० जगन्नाथ शर्मा

वाजपेयी प्रभृति विद्वान रह चुके हैं। संम्प्रति आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका का १९७९ दिसंबर में ६६वाँ वर्ष पूरा हुआ।

प्रान्तीय वैद्यसम्मेलनों द्वारा भी पत्रिकायें प्रकाशित होती रहीं। बिहार भारतीय वैद्यसम्मेलन पत्रिका कार्त्तिक सं० १९९० से प्रकाशित होने लगी थी। कुछ वर्षों तक निकलने के बाद बन्द हो गई।

संप्रति इन्द्रप्रस्थीय वैद्यसम्मेलन पत्रिका दिल्ली से कई वर्षों से प्रकाशित हो रही है।

१२. **आरोग्यदर्पण**—भिषग्रत्न वैद्य गोपीनाथ गुप्त के संपादकत्व में ऊंझा फार्मेसी, अहमदाबाद से रसवैद्य शाह उत्तम चन्द जीवनदास के द्वारा प्रकाशित होता रहा।

१३. **चिकित्सक**—पं० किशोरीदत्त शास्त्री नयागंज, कानपुर से इसका प्रकाशन अप्रिल १९१८ से कर रहे थे।

१४. **राकेश**—पं० रामकुमार द्विवेदी एवं पं० रूपेन्द्रनाथ शास्त्री के सम्पादकत्व में जनवरी १९२९ से इसका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। भागवत आयुर्वेदिक फार्मेसी, बरालोकपुर (इटावा) से यह निकलता था।

१५. **स्त्रीचिकित्सक**—श्रीमती यशोदादेवी ने इलाहाबाद से इसका प्रकाशन जनवरी, १९२३ से प्रारम्भ किया था। लगभग १९४० तक चला। इसमें स्त्रीरोग तथा कौमारभृत्य की सामग्री रहती थी।

१६. **बूटीदर्पण**—यह लाहौर से मई १९२४ से निकला। इसके सम्पादक थे श्रीसरस्वतीप्रसाद त्रिपाठी वैद्य और स० सम्पादक थे रूपलाल वैश्य। इसमें वनौषधियों के सचित्र विवरण रहते थे।

१७. **आयुर्वेद**—पं० बाबूराम शर्मा, मेरठ ने १९१९ से इस पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया था।

१८. **आयुर्वेदप्रदीप**—मुजफ्फरपुर संस्कृत कालेज में आयुर्वेदविभागाध्यक्ष पं० शिवचन्द्र मिश्र ने अगस्त १९२१ में इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। यह अधिक दिनों तक न चल सका।

१९. **भिषक्**—यह मुंगेर (बिहार) से निकला था।

२०. **स्वास्थ्यसन्देश**—जनवरी १९४१ से पं० कपिलदेव त्रिपाठी वैद्य ने आयुर्वेद कार्यालय, विक्रम (पटना) से इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इसके सम्पादक पं० शुकदेव शर्मा[1] थे। लगभग एक दशक तक किसी प्रकार चलता रहा।

---

१. भोजपुर (बिहार) में जनमे, पटना आयुर्वेद कालेज के स्नातक, साहित्य-सांख्ययोगाचार्य, पीलीभीत आयुर्वेद कालेज में उपप्राचार्य, इन्दौर, बेगूसराय, रायपुर आयुर्वेद कालेजों के प्राचार्य।

२१. आयुर्वेदसन्देश—पं० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित लखनऊ से जनवरी १९५५ से पाक्षिक रूप में इसका प्रकाशन कर रहे हैं। आयुर्वेदीय पत्रकारिता को संगठित कर एक दिशा देने में दीक्षितजी का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

२२. आयुर्वेदवाणी—जौनपुर से मार्च १९५५ से वासुदेव मिश्र वैद्य द्वारा सम्पादित-प्रकाशित। सहायक सम्पादक श्री राजकिशोर सिंह वैद्य।

२३. आरोग्यसिन्धु—यह अलीगढ़ से वैद्य राधावल्लभ जी के सम्पादकत्व में १९१३ में प्रारम्भ हुआ था।

२४. जीवनविज्ञान—इसके संपादक विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी अस्पताल कलकत्ता के प्रधान वैद्य पं० हरिवक्ष जोशी थे। इसका प्रकाशन कलकत्ता से आश्विन सं० १९९४ से प्रारम्भ हुआ था।

२५. आयुर्वेदसंसार—यह प्रताप आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर से जून १९३६ में प्रारम्भ हुआ था। इसके संपादक राजवैद्य श्रीकृष्णदयाल वैद्यशास्त्री एवं डॉ० रमाशंकर मिश्र थे।

२६. जीवनसुधा—यह बृहत् आयुर्वेदीय औषधिभण्डार, चाँदनी चौक, देहली से यशपाल जैन एवं गणेशदत्त सारस्वत के सम्पादकत्व में निकलता था।

२७. वनौषधि—यह चरक अनुसंधानभवन, काशी द्वारा फरवरी १९३४ से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक श्रीकेदारनाथ शर्मा तथा स० सम्पादक चन्द्रशेखर त्रिवेदी, ए० एम० एस० थे। इसके कुछ ही अंक निकल सके।

२८. रसायन—देहली रसायन फार्मेसी के गणपति सिंह वर्मा ने इसे जनवरी १९४८ से प्रारम्भ किया था।

२९. आयुर्वेदगौरव—प्रधान संपादक—श्रीप्रकाशचन्द्र गुप्त

स० संपादक—श्रीमदनगोपाल बासोतिया

कलकत्ता से अक्टूबर १९५२ से प्रकाशित होने लगा। कुछ ही अंक निकले। एक आयुर्वेदगौरव १९३६ में अजमेर से निकला था।

३०. वैद्य—मुरादाबाद से वैद्य शंकरलाल हरिशंकरजी ने इसे निकाला था।

३१. अश्विनीकुमार—यह लाहौर से ८ वर्षों तक निकला था।

३२. कल्याणयोगमाला—आगरा से ४ वर्षों तक प्रकाशित हुआ।

३३. आयुर्वेदकेसरी—लखनऊ में पं० शिवराम द्विवेदी एम० एल० ए० ने १९४० में 'आयुर्वेदकेसरी' निकाला। एक आयुर्वेदकेसरी १९२५ में कानपुर से पं० रामेश्वर मिश्र वैद्यशास्त्री ने प्रकाशित किया था।

३४. कल्पवृक्ष—अध्यात्ममंदिर उज्जैन से प्रकाशित; अध्यात्मविद्या तथा मानसशास्त्र से सम्बन्धित।

३५. भारतीय चिकित्सा—लाहौर से १९४१ से निकलना प्रारम्भ हुआ था।

३६. आरोग्यमित्र—ग्वालियर से १९३० से प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था।

३७. हिन्दी देशोपकारक—लाहौर के पं० ठाकुरदत्त शर्मा (अमृतधारा) ने १९११ में इसे पाक्षिक रूप में प्रारम्भ किया। ९ वर्षों के बाद बन्द हो गया। इसमें आयुर्वेद के साथ अन्य चिकित्सापद्धतियों की चर्चा भी रहती थी।

३८. वैद्यभूषण—लाहौर के वैद्यराज धर्मदेव कविभूषण द्वारा १९१४ में प्रकाशित।

३९. वनौषधिप्रकाश—पं० बाबूराम शर्मा ने मेरठ से इसे १९१३ में प्रकाशित किया था।

४०. आरोग्यविज्ञान—इन्दौर के राजवैद्य ख्यालीराम द्विवेदी ने यह मासिक पत्र निकाला था किन्तु लगभग दो वर्ष ही चल सका।

४१. आयुर्वेदमार्त्तण्ड—बम्बई से पं० किशोरीवल्लभ शर्मा ने १९१२ में प्रारम्भ किया।

४२. वैद्यामृत—लाहौर से पं० ठाकुरदत्त शर्मा ने इसे १९१३ में निकाला। दस वर्ष चलने के बाद बन्द हो गया।

४३. रत्नाकर—वैद्यराज छोटेलाल जैन इटावा से दिसम्बर १९३० से निकालते थे। विज्ञापन-प्रधान पत्र था।

४४. संजीवन—आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने दिल्ली से १९२५ में इसे निकाली था।

४५. चिकित्साचमत्कार—कलकत्ता के डॉ० भोलानाथ टण्डन के सम्पादकत्व में यह १९२८ में निकला था। लगभग ६ वर्षों तक चला।

४६. वैद्यराज—मेरठ से वैद्य पं० नारायणदत्त शर्मा इसे निकालते थे। फिर आगरा वैद्यमण्डल की ओर से इसी नाम का पत्र १९३९ से निकला।

४७. इञ्जेक्शन विज्ञान—झाँसी के डॉ० राधागोविन्द मिश्र ने इसे त्रैमासिक रूप में प्रारम्भ किया था।

४८. आयुर्वेद—काशी रसायनशाला से श्री गौरीशंकर गुप्त द्वारा प्रकाशित।

४९. जय आयुर्वेद—जोधपुर से प्रकाशित।

आयुर्वेदिक कालेजों से भी पत्रिकायें निकलने लगीं। डी० ए० वी० कालेज लाहौर से आयुर्वेदसन्देश' निकलता था। बेगूसराय आयुर्वेदिक कालेज से सुधांशु १९४९ से तथा पटना आयुर्वेदकालेज की पत्रिका १९५८ से निकलने लगी। आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'ऐमको मैगेजीन' १९५३ में निकला था। इसी प्रकार अन्य आयुर्वेद-महाविद्यालयों से भी पत्रिकायें निकलीं।

अधिकांश वार्षिक निकलती हैं। आजकल इन्दौर, रायपुर, जयपुर, लखनऊ आदि कालेजों से पत्रिकायें निकलती हैं।

अन्य भाषाओं के पत्रों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

१. नागार्जुन (अंगरेजी)—यह सितम्बर १९५७ से कलकत्ता से श्री लक्ष्मीकान्त पाण्डेय द्वारा सम्पादित-प्रकाशित है। बीच में कुछ अवरोध उपस्थित हो गया था, पुनः निकलने लगा है।

२. जर्नल ऑफ नेशनल इण्टीग्रेटेड मेडिकल एसोसियेशन (अं०)—यह मैसूर से जनवरी १९५९ से प्रतिमास प्रकाशित हो रहा है।

३. जर्नल ऑफ आयुर्वेद (अं०)—यह पत्र अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के तत्त्वावधान में जनवरी १९४९ से नई दिल्ली से प्रारम्भ हुआ। कविराज आशुतोष मजुमदार इसके प्रवन्ध-सम्पादक थे। वहुत पहले इसी नाम का पत्र कविराज ए० सी० विशारद कलकत्ता से निकालते थे। वह 'इण्डियन मैडिकल रेकार्ड' भी प्रकाशित करते थे।

४. हर्बल क्योर (अं०)—यह हैदराबाद से प्रकाशित पाक्षिक पत्र है। यह इसका तीसरा वर्ष है। इसके संपादक डॉ० अहमद रसूल हैं।

५. आयुर्वेदपत्रिका (बंगाली)—यह व्राह्मण आयुर्वेदसभा कलकत्ता का मुखपत्र था। इसके सम्पादक-प्रकाशक कविराज दीननाथ कविरत्न शास्त्री थे। बं० सं० १३१९ आषाढ़ से इसका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था।

६. आयुर्वेद-संजीवनी (बं०)—यह मासिक पत्र क० भगवतीप्रसन्न सेन एवं क० हरिप्रसन्न सेन द्वारा सम्पादित था।

७. आयुर्वेद (बं०)—यह पश्चिमवंगीय आयुर्वेद फैकल्टी एवं कौन्सिल की ओर से सितम्बर १९५२ में निकला था। इसके सम्पादक क० इन्दुभूषण सेन थे।

८. आयुर्वेद सम्मेलनी (वं०)—यह कलकत्ता से वंगाब्द १३३८ से प्रकाशित होने लगी। इसके सम्पादक क० इन्दुभूषण सेन थे।

९. स्वास्थ्य-समाचार (बं०)

१०. आयुर्वेद-विकास (बं०)—यह ढाका से १९१३ में निकला।

११. आयुर्वेद-जगत् (वं०)—क० विजयकाली भट्टाचार्य इसे निकालते थे।

१२. कल्पद्रुम—यह मद्रास से अंग्रेजी और संस्कृत में प्रकाशित हुआ था, थोड़े ही दिन चला।

१३. आर्यभिषक् (मराठी)—पं० शंकरदाजी शास्त्री पदे ने इसे १८८९ में निकाला और आजीवन चलाया। उनकी मृत्यु के बाद भी लगभग दो वर्षों तक चला। गुजराती आर्यभिषक् भी चलाया।

१४. भिषग्विलास (म०)—यह शोलापुर से १८९३ में निकला।

१५. आरोग्यमित्र (म०)—बम्बई से सं० २०१० में निकली।

१६. वैद्यकपूनापक्ष (म०)—१९०२ में निकला और कुछ वर्षों तक चला।

१७. आर्यवैद्य (म०)—पूना से वैद्य गणेशशास्त्री जोशी ने निकाला था।

१८. आयुर्वेद (म०)—वैद्य आप्पा शास्त्री साठे ने इसे बम्बई से प्रकाशित किया था। अनेक दशकों तक चला।

१९. आयुर्वेदपत्रिका (म०)—यह पाक्षिक पत्र वैद्य विन्दुमाधव पण्डित के सम्पादकत्व में नासिक से निकला।

२०. वैद्यकल्पतरु (गुजराती)—गुजराती आर्यभिषक् के बाद अहमदाबाद के पं० जटाशंकर लीलाधर द्विवेदी ने १८९४ में यह पत्र निकाला। उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र रविशंकर ज० त्रिवेदी ने इसका संचालन किया। संप्रति गुजरात आयुर्वेदिक फार्मेसी अहमदाबाद से वैद्य प्रवीणचन्द्र रविशंकर त्रिवेदी इसे निकाल रहे हैं।

२१. धन्वन्तरि (गु०)—१९०७ में वीसनगर से प्रकाशित हुआ।

२२. आयुर्वेदविज्ञान (गु०)—दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री इसे बम्बई से निकालते थे।

२३. आरोग्यसिन्धु (गु०)—वैद्य गोपाल जी कुँवर जी ठक्कुर द्वारा संपादित पाटनगर, करांची से और फिर बम्बई से निकलने लगा। संप्रति चन्द्रशेखर गोपालजी इसका संचालन कर रहे हैं।

२४. आयुर्वेदजगत् (गु०)—वैद्य प्रतापकुमार पोपटभाई के द्वारा यह बम्बई से १९४२ में निकला।

२५. पारद (गु०) और आयुर्वेदरहस्यार्क (गु०)—ये दोनों पत्र वैद्य जीवराम कालीदास शास्त्री गोंडल से निकालते थे।

२६. निरामय (गु०)—इसके संपादक श्री मोहनलाल व्यास हैं। इसका प्रकाशन आरोग्य सहायक निधि, अहमदाबाद से गत छः वर्षों से होता है।

२७. चरक (गु०)—राजवैद्य रसिकलाल पारीख इसके सम्पादक हैं। यह संजीवनी औषधालय, अहमदाबाद से विगत २७ वर्षों से प्रकाशित हो रहा है।

२८. सुश्रुत (गु०)—यह अपोलो फार्मेसी, बड़ौदा से पिछले २० वर्षों से निकल रहा है। इसके सम्पादक फार्मेसी के संचालक श्री रमण भाई त्रिवेदी हैं।[1]

२९. वैद्यसिन्धु (गु०)—यह अंग्रेजी और कन्नड़ भाषाओं में बंगलोर से वैद्य वी० डी० पण्डित के सम्पादकत्व में १९०५ में निकला।

1. वैद्य बापालाल जी द्वारा प्रदत्त सूचना के आधार पर साभार।

३०. आयुर्वेदकलानिधि (तमिल)—यह मासिक पत्र वैद्यरत्न पं० दुरैस्वामी अयंगार द्वारा प्रकाशित हुआ।

जर्नल ऑफ रिसर्च इन इण्डियन मेडिसिन (आयुर्वेद-अनुसन्धान पत्रिका) केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान परिषद् के तत्त्वावधान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान की ओर से जुलाई १९६६ से प्रवर्तित हुआ। प्रारम्भ में यह अर्धवार्षिक था, अब त्रैमासिक हो गया है। इसके मुख्य सम्पादक क० न० उडुप हैं। अब यह दिल्ली स्थानान्तरित हो गया है।

जामनगर से आयुर्वेदालोक का प्रकाशन होता है।

प्रकाशक

आयुर्वेदीय क्षेत्र के प्रकाशकों में खेमराज श्रीकृष्णदास तथा गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास बम्बई का नाम सर्वप्रथम आता है। इन्होंने अनेक दुर्लभ ग्रन्थों का सटीक प्रकाशन कर आयुर्वेद-जगत् का बड़ा उपकार किया तथा परवर्ती प्रकाशकों का पथप्रदर्शन भी किया। काशी के चौखम्बा संस्कृत सीरीज ने बाद में आयुर्वेद का प्रकाशन प्रारम्भ किया और संप्रति सर्वाधिक ग्रन्थों के प्रकाशक ये ही हैं। मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास लाहौर तथा मोतीलाल बनारसीदास ने भी अनेक प्रकाशन किये हैं। लखनऊ के मुंशी नवलकिशोर ने भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये। औषधनिर्माताओं ने भी प्रकाशन का कार्य हाथ में लिया। इसमें सुखसंचारक कं० मथुरा; श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, डाबर आदि प्रमुख हैं। स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर से भी उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से विशेषकर संहिताओं के प्रामाणिक संस्करण निकले हैं। आनन्दाश्रम (पूना) और जीवानन्द विद्यासागर (कलकत्ता), बरहमपुर (उड़ीसा), आर्यवैद्यशाला (कोट्टकल) से भी अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं। कृष्णगोपाल आयुर्वेद भवन, कालेड़ा (अजमेर) के भी प्रकाशन उल्लेखनीय हैं।

अनेक आयुर्वेदमहारथियों ने भी आयुर्वेद के ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का पुण्यकार्य किया। इनमें आचार्य यादवजी का नाम सर्वोपरि है। इन्होंने आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित किया। इसी प्रकार जीवराम कालीदास शास्त्री (गोंडल), डॉ० लक्ष्मीपति (आन्ध्र), कविराज गणनाथसेन, कलकत्ता, वैद्य आठवले एवं उनके सहयोगी (पूना) आदि के प्रकाशन उल्लेखनीय हैं।

अष्टम अध्याय

व्यवसाय
मान्यता
संगठन

वैद्य—भिषक् पुराकालीन मन्त्रविद् पारंपरिक चिकित्सक था जब कि आयुर्वेद-विद्या में पारंगत चिकित्सक वैद्य कहलाता था[1]। सद्वैद्य का स्थान समाज में सम्माननीय होता था जब कि कुवैद्य की निन्दा होती थी। जब लोभवश वैद्यों ने अर्थप्रधान वृत्ति अपना ली और चिकित्सा को जनकल्याण के बदले अर्थोपार्जन का साधन बना लिया तब समाज में उनका तिरस्कार होने लगा। और लोग ऐसे लोभी वैद्यों से घृणा करने लगे। वराहमिहिर ने बाजारू वैद्यों को 'पण्यभिषक्' कहा है (बृ० सं० ७।६) खून, पीब आदि में लिप्त रहने के कारण शल्यचिकित्सक को भी लोग अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे, उनके साथ भोजन करने में वे हिचकते थे[2]। समाज चिकित्सकों को हेय दृष्टि से देखने के अनेक कारण थे :—

१. प्राचीनकाल में 'वैद्य' विद्वान् का सूचक था (आ० गृ० ४।६।१४)। महाभारत और रामायण में 'वैद्य' शब्द 'विद्वान' और चिकित्सक दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इससे भी सिद्ध है कि विद्वान 'चिकित्सक' ही 'वैद्य' कहलाने का अधिकारी था। देखें—डॉ० ज्योतिर्मित्र का 'महाभारतकालीन' वैद्यसमाज की स्थिति, आयुर्वेद विकास, फरवरी १९६२; प्रज्ञा (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय); मार्च १९७०)। सोमेश्वरकृत मानसोल्लास (२।३।१३४५) में वैद्य को अष्टांग आयुर्वेद में पारंगत होना लिखा है।

२. विष्णुधर्मोत्तर १।४३।४७,१७; २।७३।१०; ३।२२९।२
वायु० १।३२, ६३।१६०
मनु० ४।२१२; ४।२२० (पूयं चिकित्सकस्यान्नम्)
भिषक् अभोज्यान्न :—आप० ध० १।६।१८।२१;
चिकित्सकस्य'''शल्यकृन्तस्य'''अन्नमनाद्यम्—वही, १।६।१९।१४
ऐसा तिरस्कार पेशेवर वैद्यों के लिए था, धर्मार्थ चिकित्सकों के लिए नहीं—
'भिषक् भैषज्यवृत्तिः, धर्मार्थं तु ये सर्पदष्टादींश्चिकित्सन्ति ते भोज्यान्ना एव-वृत्ति

१. व्यवसाय के द्वारा वे समाज का शोषण करते थे, निर्धन व्यक्तियों को भी उत्पीडन देते थे। दुखी और आर्त्त व्यक्ति की विपन्नावस्था से लाभ उठाकर अपनी जीविका चलाना धर्मप्रमाण भारत के लिए कैसे सह्य होता ?

२. धार्मिक दृष्टि से अभक्ष्य पदार्थों, लशुन-गृञ्जन आदि का भी चिकित्सक प्रयोग करते थे (येनेच्छेत्तेन चिकित्सेत्—बौ० ध० २।१।२५; 'यत् प्रतिषिद्धं लशुनगृञ्जनादि तेनापि चिकित्सा कार्या—वृ०)।

३. हीन जाति के एवं वर्णसंकर इस व्यवसाय में अधिक आने लगे। ब्राह्मण से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न व्यक्ति का व्यवसाय आथर्वण या आयुर्वेद बतलाया है (वै० धर्मप्रश्न, ३।१२।४–६)। दूसरी ओर, ब्राह्मण और क्षत्रिय के व्यवसायों में आयुर्वेद का उल्लेख नहीं है (देखें शंखलिखित धर्मसूत्र)। बाद में बौद्ध आदि नास्तिक भी इसमें आ गये होंगे।

गुप्तकाल एवं उत्तरगुप्तकाल में परंपरागत वैद्यों को प्रमुखता दी जाती थी। इन्हें आप्त या मौलभिषक् कहते थे। परंपरागत वैद्यों में कुछ अशिक्षित तथा कुछ कृतविद्य होते थे। बाणभट्ट के साथियों में भिषक्पुत्र मन्दारक प्रथम श्रेणी का और अष्टांग आयुर्वेद में निष्णात रसायन नामक वैद्यकुमार द्वितीय कोटि में था जो राजा प्रभाकरवर्धन के साथ रहता था[1]। इतिहास के अगले काल में भी परम्परागत वैद्यों ने अपनी कुलपरंपरा के द्वारा आयुर्वेद को सुरक्षित रखा और उसके द्वारा जनता की सेवा करते रहे। बिहार के शाकद्वीपीय ब्राह्मण और बंगाल की वैद्यजाति परंपरया आयुर्वेद का कार्य करते आ रहे हैं। डॉ० बुकनन ने अपनी विहारयात्रा के विवरण में लिखा है—

"आयुर्वेद के अध्यापकों के अतिरिक्त, लगभग ७०० ब्राह्मण परिवार, प्रायः सभी शाकद्वीपीय, चिकित्साकार्य करते हैं। वैद्यों में ये ही ऐसे हैं जो शास्त्र जानते हैं। इनके अतिरिक्त, बंगाल के वैद्य भी जो पटना में बस गये हैं, अच्छे हैं[2]।

इसी प्रकार से अन्य प्रान्तों में भी आयुर्वेदविद्या परंपरागत चलती रही। पुत्र पिता से व्यावसायिक शिक्षा लेकर चिकित्साकर्म में प्रवृत्त हो जाता था। यदि

---

१. हर्षचरित, पृ० २७५

२. G. N. Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine, vol II, Introduction, P. 14.

बुकनन ने अपने पूर्णिया जिला के विवरण (पटना, १९२८) में लिखा है कि वहाँ उस समय (१८१० ई०) में तीन वर्ग के चिकित्सक थे—१. बंगाली २. शाकद्वीपी और ३. ग्रामीण (पृ० १८४)

आवश्यक होता तो वह किसी अन्य गुरु से भी अपेक्षित शिक्षण प्राप्त करता। किन्तु प्रवृत्ति यही रहती कि वैद्य का पुत्र वैद्य ही बने। प्रत्येक कुल में चिकित्सा के सम्बन्ध में कुछ विशेषतायें और अनुभूत योग होते थे, जो पिता अपने पुत्र के अतिरिक्त किसी को नहीं बतलाता था। विशिष्ट रोगों की चिकित्सा के लिए भी कुलविशेष प्रसिद्ध था। गोपनीयता की प्रवृत्ति भी ज्ञान को विशिष्ट परम्पराओं में सीमित रखने में सहायक हुई। ज्ञातधर्मकथाङ्गसूत्र (अ० १३) में जो चिकित्सा-शास्त्र का वर्णन है उसमें वैद्यों के साथ वैद्यपुत्रों का भी उल्लेख है। (बहवो वैद्या वैद्यपुत्राश्च[1])।

कार्य के अनुसार वैद्यों की चार श्रेणियाँ की जा सकती हैं :—

१. स्वतंत्र चिकित्सक—स्वतन्त्र रूप से चिकित्सा करने वाले वैद्य रोगियों से फीस और दवाओं का मूल्य लेते थे। गुप्तकाल में यह चिकित्सा काफी महँगी थी। बड़े-बड़े चिकित्सकों के यहाँ पहुँचना सर्वसाधारण के लिए कठिन था। चीनी यात्री इत्सिंग (६७५ ई०) ने इसका स्पष्ट चित्रण अपने यात्राविवरण में किया है[2]। ऐसे प्रसिद्ध चिकित्सक बड़े-बड़े नगरों में रहते थे।

२. औषधालय के चिकित्सक—राज्य में धनी सज्जनों द्वारा स्थापित औषधालयों के चिकित्सक धर्मार्थ औषधवितरण करते थे। इन्हें पूरा वेतन मिलता था।

३. राजवैद्य—ये राजा के स्वास्थ्य की देखभाल और रोगों की चिकित्सा करते थे। वैद्यों में योग्यतम, अष्टांग आयुर्वेद में निष्णात, कुलीन और अनाहार्य प्राणाचार्य की नियुक्ति इस पद पर होती थी। प्रायः यह पारंपरिक होता था[3]। राजा की दिनचर्या का प्रारंभ चिकित्सक के दर्शन से होता था[4]। राजवैद्य महानस का भी अध्यक्ष होता था और विष से राजा की रक्षा करता था। उसका निवास राजमहल के समीप ही रहता था[5]। राजवैद्य को राजा की ओर से भूमि मिलती थी[6] और

---

१. P. M. Mehta : Hospital and Rehabilitation Home in India in 6 th Cent. B. C., Nagarjuna, August, 1965

२. Itsing : A Record of Buddhist Practices in India, P. 29, 33

३. विष्णुधर्मोत्तरपुराण—२।२४।३३–३४
V. S. Agrawal ; Matsya Purana—A Study, pp. 294–295

४. चिकित्सकमाहानसिकमौहूर्तिकांश्च पश्येत्—अर्थशास्त्र १।१८।३, याज्ञ० आचार; ३३३

५. अर्थशास्त्र १।१६।५. बृ० सं० ५३।१०

६. अर्थशास्त्र २।१।५

राजमहल में वह बेरोकटोक जा सकता था[१]।

४. सैन्य चिकित्सक—ये सेना की सहायता के लिए युद्ध में जाते थे। ये अगदतन्त्र, शल्यतन्त्र और कायचिकित्सा में निष्णात होते थे[२]।

वैद्यक-व्यवसाय

प्राणिमात्र के कल्याण एवं दुःखनिवारण के लिए आयुर्वेद का अवतरण हुआ। रोगी को अपने पुत्र के समान समझ कर उसके हित में प्रवृत्त होने का उपदेश है। अतः भूतदया को लक्ष्य में रखकर वैद्य को चिकित्साकर्म में प्रवृत्त होना चाहिए, अर्थ और काम के लिए नहीं। जो वैद्य चिकित्सा का बाजार में बैठकर विक्रय करते हैं वह मानों सोने की ढेर में लात मारकर धूल का संग्रह करते हैं[३]। चरक के इस कथन में आदर्श और यथार्थ दोनों की सूचना है। उस काल में भी शुल्क लेकर लोग चिकित्सा करते थे यद्यपि आदर्श धर्मार्थ सेवा का था। जो लोग नि-शुल्क सेवा करते थे वे समाज के आदरणीय होते थे। आयुर्वेद का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति है[४] किन्तु इन सब में धर्म का महत्त्व सर्वाधिक है।

आयुर्वेद की शिक्षा समाप्त होने पर राजा की अनुज्ञा प्राप्त कर व्यवसाय में वैद्य प्रवृत्त होता था।[५] साथ-साथ उसे वैद्यकीय सद्वृत्त[६] का भी पालन करना होता था। इस मामले में राज्य की ओर से पूरी कड़ाई बरती जाती थी। जब कभी इसमें शिथिलता होती थी तब कुवैद्य देश में स्वच्छन्दतापूर्वक अपना धन्धा फैला देते थे।[७] यदि वैद्य अपने कर्त्तव्य में लापरवाही[१] करे तो उसके लिए दण्ड का विधान था।

प्रच्छन्न व्रण की चिकित्सा कराने वाले तथा अपथ्यकारी रोगी के संबन्ध में गृहस्वामी गोप और स्थानिक को सूचना अवश्य देता था अन्यथा दंडित होता था।

---

१. वही, २।३६।२३
२. विषवैद्याः शल्यवैद्यास्तथा कायचिकित्सकाः—विष्णुधर्मोत्तर १।२०३।६
३. च० चि १।४।५६-५९
४. वही, श्लो० ५७, सू० ३०।२७
५. अधिगततन्त्रेण उपासिततन्त्रार्थेण दृष्टकर्मणा शास्त्रार्थं निगदता राजानुज्ञातेन विशिखा अनुप्रवेष्टव्या—सु. सू. १०।२
६. च० सू० ८।१९-३०; च० वि० ८।११-१३; सु. चि. २४।८७-९८
७. कण्टकभूता लोकस्य प्रतिरूपकसधर्माणो राज्ञां प्रमादाच्चरन्ति राष्ट्राणि —च० सू० ३०।८

वैद्य भी इस सम्बन्ध में सतर्कता बरतता था।[1] आत्ययिक स्थितियों में रोगी तथा राजा को सूचित कर चिकित्सा प्रारम्भ की जाती थी। अन्यथा वैद्य को साहस (दुःसाहस के लिए) दण्ड दिया जाता था।[2] वैद्य यदि समुचित उपचार न करे या इससे बीमारी बढ़ जाय तो वैद्य को इस मिथ्या आचरण के लिए दण्ड मिलता था।[3] धर्मशास्त्रों में इसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है।[4]

उस काल में भी नीम हकीम (कुवैद्य) थे। चरक ने दो प्रकार के वैद्य बतलाये हैं एक प्राणाभिसर और दूसरा रोगाभिसर। रोगाभिसर में भिषक्छद्मचर और सिद्धसाधित आते हैं। योग्य कर्मकुशल वैद्य प्राणाभिसर कहलाते हैं जो स्वास्थ्य को बढ़ाते हैं और रोगों का नाश करते हैं। इसके विपरीत, रोगाभिसर रोगों की वृद्धि करते हैं और जनता का स्वास्थ्य नष्ट करते हैं। प्राणाभिसर वैद्यसमाज के आदरणीय होते हैं जबकि अज्ञ वैद्यों से औषध लेना निषिद्ध किया है भले ही मृत्यु का वरण करना पड़े।[5]

वैद्यों की फीस—सुश्रुत ने प्राणयात्रा और वृत्ति के लिए आयुर्वेद का अध्ययन विहित किया है।[6] इससे स्पष्ट है कि उस काल में आयुर्वेद वृत्ति का एक माध्यम था। चरक में यह लिखा है कि शरणागत रोगी से अन्नपान या धन नहीं लेना चाहिए[7] किन्तु यह भी स्पष्ट लिखा है कि यदि रोगी अच्छा होने पर चिकित्सक का

---

१. चिकित्सकः प्रच्छन्नव्रणप्रतीकारकारयितारमपथ्यकारिणं च गृहस्वामी च निवेद्य गोपस्थानिकयोर्मुच्यते—अर्थशास्त्र० २।३६।६

२. भिषजः प्राणाबाधिकमनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्वः साहसदण्डः।
—अर्थशास्त्र ४।१।३०

तस्मादधिपतिमापृच्छ्य···उपक्रमेत्—सु. चि. १५।१

३. अर्थशास्त्र २।३०।२७

४. चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्यापचरतां दमः—मनु ९।२८४; और देखें या० स्मृ० २।२४२, वि० स्मृ० ५।१७५-१७७.
विशेष विवरण के लिए देखें :—
L Sternbach : Juridical Studies in Ancient Indian Law, (Motilal Banarasi Das, 1965) I, PP. 288-320

५. च० सू० २९।५-१२; बाणभट्ट ने (हर्षचरित पृ० ३५४) रोगाभिसर वैद्यों को 'वैद्यव्यञ्जन' कहा है।

६. सु० सू० १।२,१५

७. च० सू० १।१२९—१३०

कुछ उपकार नहीं करता तो उसका कल्याण नहीं।[1] फिर भी यह नहीं पता चलता कि इसका उपकार का स्वरूप क्या था। संभवतः प्राचीन काल में ब्राह्मण वैद्य के साथ-साथ पुरोहित और ज्योतिषी भी होता था। अतः दक्षिणा के रूप में प्रभूत अन्न, सुवर्ण आदि पारिश्रमिक रूप में उसे प्राप्त होता होगा। मध्यकाल में रुद्रभाग और धन्वन्तरिभाग वैद्य लोग लेने लगे। कच्ची दवाओं में से द्रव्य और सिद्ध औषधों में से नियत भाग वैद्य लेता था,[2] यह उसका मुनाफा था। राजाओं की ओर से भी वैद्य के भरणपोषण के लिए पर्याप्त व्यवस्था रहती थी[3] अतः वह फीस की उतनी चिन्ता नहीं करते थे। गरीबों की चिकित्सा तो निःशुल्क करते ही थे। धनी व्यक्तियों से शुल्क लिया जाता था इसका प्रमाण गुप्तकालीन वाङ्मय से मिलता है। धनी सेठ जो बौद्ध विहार बनवाते थे उनमें भी भिक्षुओं के लिए चिकित्सा-व्यवस्था रहती थी। वहाँ की व्यवस्था का आर्थिक भार सेठ वहन करता था। आगे भी इसी प्रकार चलता रहा। धनी व्यक्तियों से शुल्क लेना और निर्धन रोगियों की निःशुल्क सेवा करना वैद्यों की परंपरा रही है। यह परंपरा आज तक चल रही है। यह भी भारत में वैद्य की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण है क्योंकि डाक्टरों के शोषण की तुलना में वैद्यों की सहानुभूति और दयालुता जनता को अधिक आकर्षित करती है। आज भी ऐसे सन्त वैद्य जो केवल धर्मार्थ औषध वितरण करते हैं समाज में देवतुल्य पूजे जाते हैं।

नियन्त्रण—व्यवसाय पर नियन्त्रण प्राचीन काल में था, यह हम देख चुके हैं। राजा की अनुज्ञा (लाइसेन्स) लेकर वैद्य चिकित्साकार्य प्रारंभ करता था। मध्यकाल में भी ऐसी कोई व्यवस्था रही होगी जिसकी स्पष्ट श्रृंखला नहीं मिलती।

---

१. च० चि० १।४।५१। इस श्लोक में 'संश्रुत्य' और 'असंश्रुत्य' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। इसका अर्थ यह है कि पहले तय करके जो न दे या बिना तय किये भी जो स्वतः कुछ बदले में न दे तो वह उऋण नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि रोगी चिकित्सा प्रारम्भ होने के पूर्व वादा करता था कि अच्छा होने पर इतना देंगे यह एक प्रकार का कण्ट्रैक्ट या संकल्प था। कुछ मामलों में ऐसा संकल्प नहीं होता था फिर भी रोगी यथाशक्ति वैद्य को कुछ देता था। यह कहना कठिन है कि यह संकल्प वैद्य की माँग के आधार पर होता था या रोगी स्वतः संकल्प लेता था। अधिक सम्भावना प्रथम विकल्प की है।

२. रसरत्नसमुच्चय, ८।२-३

३. वेतन के अतिरिक्त भूमि भी मिलती थी। देखें :—
Aparna Chattopadhyaya : The Remuneration of a Physician in Ancient India—A Note, Nagarjun, January, 1970.

आधुनिक काल में प्रदेशों में भारतीय चिकित्सा के बोर्ड या स्टेट कौंसिल की विधानतः स्थापना के बाद वैद्यों का निबन्धन प्रारम्भ हुआ। जो वैद्य इसमें नहीं आ सके उनकी पृथक् सूची बनाई गई। सरकारी विवरण के अनुसार संप्रति देश में ४ लाख वैद्य हैं जिनमें १,५६,००० निबन्धित हैं। वास्तविकता यह है कि इससे बहुत अधिक संख्या ऐसे वैद्यों की है जो आज भी गाँवों में मौन सेवा कर रहे हैं। किन्तु अभी भी भिषक्छद्मचरों पर रोक लगाने की कोई व्यवस्था नहीं है जिसके कारण अनेक अयोग्य व्यक्ति व्यवसाय में प्रविष्ट हो जाते हैं। जो व्यवस्था है भी वह संप्रति प्रादेशिक स्तर पर है जिसके कारण एक प्रदेश के चिकित्सक को दूसरे प्रदेश में जाने पर कठिनाई उपस्थित होती है। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-परिषद् की स्थापना होने से अब यह कठिनाई दूर होनी चाहिए क्योंकि परिषद् अखिल भारतीय स्तर वैद्यों की पञ्जिका प्रस्तुत रखेगी जिससे व्यावसायिक स्तर में भी एकरूपता स्थापित होगी।

भारत के विशिष्ट वैद्य

बंगाल—वंगप्रदेश के कविराजों का प्रभाव एक समय सारे देश पर छाया हुआ था। आधुनिक काल में कविराज द्वारकानाथ सेन, विजयरत्न सेन, गणनाथसेन आदि की ख्याति सारे देश में थी और दूर-दूर रियासतों में उनकी बुलाहट चिकित्सा के लिए होती। कविराज विजयरत्न सेन का प्रभाव देशी जनता एवं सामन्तों के अतिरिक्त विदेशी अधिकारियों पर भी था। अनेक अंग्रेज डाक्टर आपके घनिष्ठ मित्रों में थे और अनेक ब्रिटिश अधिकारी आपकी चिकित्सा में रहते थे। आपका यश विदेश तक फैला था। कविराज श्यामादास के शिष्य कविराज रामचन्द्र मल्लिक भी अच्छे प्रभावशाली चिकित्सक थे। कविराज प्रभाकर चट्टोपाध्याय भी अच्छे चिकित्सक एवं लेखक थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे हैं।

बिहार—बिहार के वैद्यों में पं० व्रजबिहारी चतुर्वेदी ने सुव्यवस्थित रूप से पटना में औषधालय का संचालन किया। इनके रत्नाकर औषधालय की शाखायें भागलपुर, छपरा, मुजफ्फरपुर आदि नगरों में थीं। निदान और चिकित्सा में पीयूषपाणिता की दृष्टि से मुस्तफापुर के पं० रामावतार मिश्र उच्चकोटि के वैद्य थे। ग्रामीण परिवेष में रहकर आजीवन लोकसेवा करते रहे। पटना में पं० महादेव मिश्र, कविराज विधुभूषणसेन आदि विख्यात वैद्य थे। संप्रति पं० सिद्धेश्वरनाथ उपाध्याय आदि वैद्य हैं। इनके अतिरिक्त, पं० गंगाधर शर्मा (गया), पं० नारायणदत्त मिश्र (आरा), नित्यगोपाल वन्द्योपाध्याय (मुंगेर), पं० शिवचन्द्र मिश्र, पं० रामदेव ओझा, पं० वैद्यनाथ मिश्र (मुजफ्फरपुर), पं० कालिकाप्रसाद मिश्र (सीतामढ़ी); पं० श्रीधर मिश्र (दरभंगा), क० मन्मथनाथ वन्द्योपाध्याय (भागलपुर) आदि उल्लेखनीय हैं।

उत्तरप्रदेश—लखनऊ के वैद्यों में पं० रामनारायण मिश्र, पं० ज्ञानेन्द्रदत्त त्रिपाठी, पं० शिवराम द्विवेदी आदि प्रमुख थे। कानपुर में पं० किशोरीदत्त शास्त्री, पं० रामेश्वर मिश्र, पं० रघुवरदयालु भट्ट, पं० बदरीविशाल शुक्ल प्रभृति वैद्य अग्रगण्य थे।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी काशी का स्थान विशिष्ट रहा और इसने प्रायः सारे देश का प्रतिनिधित्व किया। काशी में चिकित्सकों की चार परम्परायें रही हैं—वंगीय, पंचनदीय, दाक्षिणात्य तथा मध्यदेशीय।

वंगीय परम्परा

इस परम्परा में तीन प्रमुख शाखायें हैं :—

(१) धर्मदास-शाखा—कविराज धर्मदास अपने मामा, कविराज गंगाधर के शिष्य कविराज परेशनाथ के अन्तेवासी थे। चरक की शैली के विशेषज्ञ होने के कारण यह चरकाचार्य की उपाधि से प्रसिद्ध थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जब आयुर्वेद महाविद्यालय प्रवर्तित हुआ तो उसमें आप प्रधानाचार्य हुये और भगभग ८ वर्षों तक उस पद पर रहे। उनके शिष्यों में पं० सत्यनारायण शास्त्री, पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री, पं० दुर्गादत्त शास्त्री, कविराज व्रजमोहन दीक्षित प्रभृति हैं। पद्मभूषण पं० सत्यनारायण शास्त्री तथा पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री सूर्यचन्द्रवत् काशी में स्थित होकर भी सारे देश को आलोकित करते रहे तथा इनसे शिष्य-प्रशिष्य सारे देश में फैलकर सेवा कर रहे हैं। काशी में सम्प्रनि पण्डित यदुनन्दन उपाध्याय, पं० गंगासहाय पाण्डेय, पण्डित काशीनाथ शास्त्री, पण्डित वामाचरण पाण्डेय इसी परम्परा के हैं।

(२) उमाचरण-शाखा—कविराज उमाचरण भट्टाचार्य कविराज द्वारकानाथ सेन के शिष्य थे। यह सिद्धहस्त चिकित्सक तथा आयुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनके शिष्यों में कविराज हरिरञ्जन मजुमदार, कविराज उपेन्द्रनाथदास प्रमुख हैं जिन्होंने भारत की राजधानी देहली को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। कविराज उमाचरण ने अपने भवन के द्वार पर यह श्लोक अंकित कराया है :—उमाचरणचित्तेन उमाचरणशर्मणा। यदुमाचरणादाप्तं तदुमाचरणेर्पितम्॥ इससे उनकी त्यागवृत्ति एवं धार्मिकता लक्षित होती है।

(३) ईश्वरचन्द्र-शाखा—कविराज गंगाधर राय के अन्यतम शिष्य कविराज ईश्वरचन्द्रसेन की परम्परा में कविराज हरिदास रायचौधरी तथा उनके पुत्र कविराज हाराणचन्द्र चौधरी हुए। आप गरीब जनता की सेवा के लिए प्रख्यात थे तथा काशीस्थ रामकृष्ण सेवाश्रम की स्थापना में आपका बड़ा योगदान है।

पञ्चनदीय परम्परा

पंजाब के संगरूर रियासत के राजवैद्य पण्डित दिलाराम जी इनके मूल स्रोत हैं। इनके शिष्य पण्डित अर्जुन मिश्र हुए जिन्होंने काशी में रह कर चिकित्सा तथा

शिक्षण दोनों क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त की। अपने आयुर्वेद-प्रबोधिनी पाठशाला की स्थापना की तथा उसके लिए एक ट्रस्ट बनाया। बाद में आपकी स्मृति में अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय बहुत दिनों तक चलता रहा। आपके शिष्यों में पण्डित लालचन्द्र जी वैद्य अनेक वर्षों तक अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय के प्रधानाचार्य रहे जिसके स्नातकों में संप्रति पंडित ताराशंकर वैद्य मूर्धन्य हैं। पण्डित अर्जुन जी के अन्य शिष्यों में श्यामसुन्दराचार्य, पुरुषोत्तम उपाध्याय, पण्डित अमरनाथ औदीच्य, पण्डित राधाकृष्ण जी (काशी रसशाला के संस्थापक) प्रमुख थे।

पं० दिलाराम जी के दूसरे शिष्य पण्डित छन्नूलाल जी भी अपने समय के अद्भुत विद्वान एवं चिकित्सक थे। इसकी परम्परा में इनके दौहित्र पण्डित हनुमान प्रसाद शास्त्री हुए।

दक्षिणात्य परम्परा

इस परम्परा के प्रवर्त्तक पण्डित त्र्यम्बक शास्त्री हैं। इनके पिता पण्डित अमृत शास्त्री थे। यह पेशवाओं के साथ महाराष्ट्र से काशी आये थे। शास्त्री जी सिद्धहस्त चिकित्सक एवं आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान थे। आपके शिष्यों में पण्डित श्रीनिवास शास्त्री, रामशंकर भट्ट, हरिदत्त शास्त्री प्रभृति हैं।

मध्यदेशीय परम्परा

मध्यदेशीय परम्परा में पं० गोपालदत्त त्रिपाठी, पण्डित गणेशदत्त त्रिपाठी, पं० जगन्नाथ शर्मा वाजपेयी प्रभृति रहे हैं। इस प्रकार अन्य क्षेत्रों की भाँति चिकित्सा में भी सारे देश की धारायें काशी में केन्द्रित हुईं (तालिका—१)।

तालिका—१

काशी की चिकित्सक-परम्परा

वंगीय परम्परा

- कविराज धर्मदास
  - पं० सत्यनारायण शास्त्री
    - पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री
      - पं० गंगासहाय पाण्डेय
      - पं० वामाचरण पाण्डेय प्रभृति
  - क० व्रजमोहन दीक्षित प्रभृति
- कविराज उमाचरण भट्टाचार्य
  - क० हरिरंजन मजुमदार
  - क० उपेन्द्रनाथ दास प्रभृति
- कविराज हरिदास राय चौधरी
  - क० हाराणचन्द्र चौधरी

दक्षिणापत्य-परम्परा

- पं० त्र्यम्बक शास्त्री
  - पं० श्रीनिवास शास्त्री
    - पं० कृष्णचन्द्र चुनेकर प्रभृति
  - पं० रामशंकर भट्ट
    - पं० शिवकुमार शास्त्री

पंचनदीय परम्परा

- पं० अर्जुन मिश्र
  - पं० लालचन्द्र वैद्य
    - पं० ताराशंकर वैद्य इत्यादि
  - पं० श्यामसुन्दराचार्य
    पं० पुरुषोत्तमोपाध्याय
    पं० राधाकृष्ण
    पं० अमरनाथ औदीच्य प्रभृति
- पं० छन्नूलाल जी
  - पं० हनुमान प्रसाद शास्त्री

मध्यदेशीय परम्परा

- पं० गोपालदत्त त्रिपाठी
  - पं० गणेशदत्त त्रिपाठी
- पं० जगन्नाथ शर्मा वाजपेयी
  - पं० उमाशंकर वाजपेयी
    पं० विनोदशंकर वाजपेयी प्रभृति

दिल्ली—कविराज हरिरञ्जन मजुमदार, मनोहरलाल जी प्रभृति यशस्वी चिकित्सकों ने देश की राजधानी में आयुर्वेद को प्रतिष्ठित किया। संप्रति पं० ओंकार प्रसाद शर्मा, क० आशुतोष मजुमदार, पं० बृहस्पति देव त्रिगुणा, पं० गौरीलाल चानना, क० ओमप्रकाश, वैद्य भुवनचन्द्र जोशी, वैद्य केशव प्रसाद आत्रेय, पं० जगदीश प्रसाद शर्मा प्रभृति वैद्य चिकित्साक्षेत्र में प्रसिद्ध हैं।

पञ्जाब—लाहोर के क० नरेन्द्रनाथ मित्र (जन्म—१८७४ ई०) और पं० ठाकुरदत्त मुलतानी प्रसिद्ध वैद्य थे। मुलतानी जी पंजाब प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन के तृतीय अधिवेशन (मोगा, १९३०) के अध्यक्ष भी रहे थे। दूसरे पं० ठाकुरदत्त शर्मा १९०१ में अमृतधारा का आविष्कार कर प्रसिद्ध हुये। आप भी प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन के अध्यक्ष हुये थे (रावलपिण्डी, १९१९)। पटियाला के राजवैद्य पं० रामप्रसाद शर्मा तो मूर्धन्य थे ही। रावलपिण्डी के पं० मस्तराम शास्त्री भी कुशल चिकित्सक थे।

राजस्थान—राजस्थान की भट्टपरंपरा विख्यात रही है। जयपुर के पं० गंगाधर भट्ट, पं० कृष्णराम भट्ट आदि पाण्डित्य एवं चिकित्साकौशल दोनों से संपन्न थे। इसी परम्परा में स्वामी लक्ष्मीराम जी, पं० नन्दकिशोर शर्मा आदि मूर्धन्य वैद्य हुये। संप्रति स्वामी रामप्रकाश जी, मोहनलाल भार्गव, पं० प्रभुदत्त शास्त्री प्रभृति इस परंपरा का संचालन कर रहे हैं।

मध्यप्रदेश—इन्दौर के पं० ख्यालीराम द्विवेदी (जन्म—सं० १९४५) आधुनिक युग के प्रसिद्ध वैद्य हुये। चिकित्सा के अतिरिक्त शिक्षा, संगठन, आदि कार्यों में भी आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्दौर में नि० भा० वैद्यसम्मेलन का अधिवेशन (१९२०) आपके ही प्रयत्नों से हुआ था। ग्वालियर के पं० रामेश्वर शास्त्री भी प्रसिद्ध हैं। संप्रति इन्दौर में पं० रामनारायण शास्त्री (भू० पू० अध्यक्ष, नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन), पं० सीताराम अजमेरा प्रमुख हैं।

महाराष्ट्र—बम्बई में आचार्य यादवजी त्रिकमजी तथा पं० हरिप्रपन्न शर्मा अन्य कार्यों के अतिरिक्त कुशल चिकित्सक भी थे। इसी प्रकार पूना में पुरुषोत्तम शास्त्री नानल थे। संप्रति उनके पुत्र बी० पी० नानल हैं। तिल आयुर्वेद महाविद्यालय पूना की भी अपनी विशिष्ट परंपरा रही है। वैद्य भास्कर विश्वनाथ गोखले ने इसका समुचित प्रतिनिधित्व एवं प्रचार-प्रसार किया। नागपुर में पं० गोवर्धन शर्मा छांगाणी प्रमुख वैद्य थे। संप्रति पं० शिवशर्मा, पं० रामगोपाल शास्त्री, पं० कन्हैयालाल भेड़ा बम्बई के मूर्धन्य चिकित्सकों में हैं।

गुजरात—गुजरात में नारायणशंकर देवशंकर, जटाशंकर लीलाधर त्रिवेदी, गोपालजी कुंवरजी ठक्कर प्रभृति चिकित्सक हो गये हैं। संप्रति अहमदाबाद में वैद्य गोविन्दप्रसाद जी आयुर्वेद के मूर्धन्य चिकित्सक हैं। वैद्य हरीदास श्रीधर कस्तूरे (अहमदाबाद), वैद्य बापालाल जी (सूरत), वैद्य चन्द्रकान्त शुक्ल (जामनगर) प्रभृति चिकित्सक प्रसिद्ध हैं।

कराँची—वैद्य सुखरामदास टी० ओझा (जन्म सं० १९२८) करांची के प्रसिद्ध वैद्य थे।

उत्कल—पूर्णचन्द्र रथ अच्छे चिकित्सक हुये। ब्रह्मपुर के पं० अनन्त त्रिपाठी शर्मा संस्कृत के साथ-साथ आयुर्वेदीय कार्यों में भी पर्याप्त रुचि लेते हैं। आप १९५७ से १९६५ तक नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष रहे। लोकसभा के भी सदस्य वर्षों तक रहे।

दक्षिण भारत—डी० गोपालाचार्लु की परम्परा में दक्षिण भारत में आयुर्वेदीय चिकित्सा पल्लवित पुष्पित हुई है। पं० एम० दुरैस्वामी अयंगार (मद्रास), वैद्य नोरी राम शास्त्री (विजयवाड़ा), कालादि के० परमेश्वरन् पिलाई (त्रिवेन्द्रम)

इस क्षेत्र के प्रमुख वैद्य रहे हैं। कालादि का स्वर्गवास हाल ही में १६-१०-७४ को हुआ। आप राष्ट्रपति के चिकित्सक तथा केन्द्रीय आयुर्वेदीय अनुसंधान परिषद् के सदस्य थे। भारत सरकार द्वारा नियुक्त उडुपसमिति के भी सदस्य थे।

मान्यता

आयुर्वेद की मान्यता लोक में तो रही ही, राजमान्यता का भी इसकी मर्यादा एवं स्थिति से घनिष्ठ संबन्ध रहा। चिकित्साशास्त्र जनसेवा का एक प्रमुख साधन है। अतः सभी राज्य जनसेवा के माध्यम के रूप में इसे अपनाते रहे हैं। उस काल में भी चिकित्सा के अनेक शास्त्र (पद्धतियाँ) प्रचलित थे जिनमें सर्वोत्तम का चुनाव राज्य द्वारा होता था यद्यपि अन्य पद्धतियाँ भी साथ-साथ चलती रहती थीं।

राजा के वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा का भार राजवैद्य पर होता था। वह प्रातःकाल राजा के स्वास्थ्य की परीक्षा करता था और उसके अनुसार आहार-विहार का विधान करता था। राजा के महानस का अधीक्षक भी वैद्य ही होता था। वह अन्न की विधिवत् परीक्षा कर निर्विष एवं स्वास्थ्यकर आहार राजा को दिलवाता था। सैन्यभूमि या विजय-यात्रा में भी वैद्य का स्थान राजा की बगल में ही होता था। इस प्रकार वैद्य एक ऐसा विश्वासपात्र पदाधिकारी था जिससे ऊपर राजा का जीवन समर्पित होता था। इसी कारण वैद्य की नियुक्ति में मौल या आप्त (वंश परम्परागत) कुलीन व्यक्ति को प्राथमिकता दी जाती थी।

मध्यकाल में शासन छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण आयुर्वेद की राजमान्यता में भी अन्तर आया। मुसलमानी शासकों ने अरबी हकीमों को प्रश्रय दिया अतः यूनानी तिब्ब को राजा की ओर से प्राथमिकता मिली किन्तु आयुर्वेद भी बना रहा। अनेक गुणग्राही राजा योग्य वैद्यों को भी अपने साथ रखते थे या आवश्यकता पड़ने पर बुलाते थे[1]। हिन्दू रियासतों में विशेष रूप से आयुर्वेद का पालन-पोषण होता रहा। अधिकांश जनता आयुर्वेद की ही चिकित्सा कराती रही।

---

१. बर्नियर अपने यात्राविवरण (१६५६-१६६८) में लिखता है कि चिकित्सक अपने पुत्र को चिकित्सा ही पढ़ाता है (पृ० २५९)। वह यह भी सूचना देता है कि दानिशमंद खाँ (बर्नियर का आतिथेय) ने एक पंडित और वैद्य को नियुक्त किया था जो बर्नियर को पढ़ाते थे (पृ० ३२०)। जहाँगीर काशी के रुद्र भट्टाचार्य की प्रशंसा करता है जो पारम्परिक विज्ञान के प्रौढ़ विद्वान थे। वह हिन्दू और मुसलमान दोनों चिकित्सकों की सहायता लेता था (तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० १३०; भाग २, पृ० २०४)। नूरजहाँ की चिकित्सा दोनों ने की थी (वही, भाग २, पृ० ५३)।

आधुनिक काल में ब्रिटिश सरकार ने एलोपैथी का जाल सारे देश पर बिछाने का उपक्रम किया। राजकीय चिकित्सा एलोपैथी हुई और आयुर्वेद के भाग्य में कोई परिवर्त्तन न हुआ। किन्तु जनता और देशी रियासतों के सहारे आयुर्वेद अभी भी प्राणवान् था। संस्कृत कॉलेजों में जहाँ-तहाँ आयुर्वेद के शिक्षण की व्यवस्था भी की गई। किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी इससे संतुष्ट न थी और एक कमिटी की सलाह पर १८३३ में इस पद्धति को समाप्त कर मेडिकल कालेज खोलने का निर्णय लिया गया। राष्ट्रीयता की लहर उठने पर भारतीय चिकित्सापद्धतियों के पुनरुत्थान का भी आन्दोलन उठा। १९२० में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने नागपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया कि भारत की देशी चिकित्सापद्धतियों को प्रोत्साहित किया जाय। सरकार ने समय-समय पर इस बात की जांच के लिए कमिटियों का गठन किया। इनका इतिहास भी कम रोचक नहीं, अतः इसका एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

सरकारी कमिटियाँ

प्रान्तीय—आयुर्वेद के सम्बन्ध में सरकारी कमिटियों का प्रारम्भ प्रान्तीय स्तर पर हुआ। बंगाल (१९२१), मद्रास (१९२१), उत्तरप्रदेश (१९२५), सिंहल (१९२६), वर्मा (१९२८), मध्यप्रदेश (१९३७), पंजाब (१९३८), मैसूर (१९४२), उत्कल (१९४६), बम्बई (१९४७), आसाम, (१९४७) में आयुर्वेद-यूनानी पद्धतियों की उपादेयता की जाँच के लिए कमिटियाँ बनाई गईं। इन कमिटियों ने देशी चिकित्सापद्धतियों को राजमान्यता देने की सिफारिश की। यह भी संस्तुति की गई कि इन पद्धतियों के व्यवसाय-नियंत्रण के लिए निबन्धन की व्यवस्था, शिक्षण के लिए विद्यालय तथा लोकसेवा के लिए औषधालय-अस्पताल आदि की स्थापना हो।

इन सिफारिशों के अनुसार स्कूल-कालेजों की स्थापना होने लगी, औषधालय स्थापित होने लगे। शिक्षण एवं व्यावसायिक व्यवस्था के लिए राज्य सरकारों द्वारा विधानतः भारतीय चिकित्सा के बोर्ड या स्टेट कौंसिल भी स्थापित होने लगे।

उत्तरप्रदेश में जस्टिस गोकर्णनाथ कमिटी (१९२५)[1] की रिपोर्ट के अनुसार १९२६ में बोर्ड ऑफ इण्डियन मेडिसिन स्थापित हो गया किन्तु इण्डियन मेडिसिन ऐक्ट १९३९ में पारित हुआ और इसके अनुसार प्रथम बोर्ड १९४७ में गठित हुआ। १९५६ में ऐक्ट में संशोधन कर बोर्ड के अन्तर्गत फैकल्टी की स्थापना की गई। १९५८ में संपूर्णानन्द कमिटी बनी जिसने आयुर्वेदप्रधान पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया।

---

१. चोपड़ाकमिटी रिपोर्ट, भाग १, पृ० २४-२५

बिहार में 'बिहार डेवलपमेण्ट ऑफ आयुर्वेदिक ऐण्ड यूनानी सिस्टम्स ऑफ मेडिसिन ऐक्ट' १९५१ में पारित हुआ तदनुसार वहाँ 'स्टेट कौंसिल ऑफ आयुर्वेदिक ऐण्ड यूनानी मेडिसिन' १७-१-५२ को और फिर तदन्तर्गत 'स्टेट फैकल्टी' का गठन हुआ।

इसी प्रकार आसाम (१९४९), आन्ध्र (१९५४), बम्बई (१९४०), केरल (१९५३), मद्रास (१९३२), पंजाब (१९५०), राजस्थान (१९५४), बंगाल (१९०७), दिल्ली (१९५१) प्रभृति राज्यों में बोर्ड का गठन हुआ[1]।

राज्यों में आयुर्वेद के स्वतन्त्र निदेशालय स्थापित हों इसकी माँग भी उठने लगी। दवे कमिटी (१९५५) ने यह सिफारिश की कि केन्द्र तथा राज्यों में आयुर्वेद के स्वतन्त्र निदेशालय स्थापित किये जाँय। १९५८ तक बम्बई, केरल, राजस्थान और पंजाब में आयुर्वेद के निदेशालय स्थापित हो चुके थे। अब बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, गुजरात आदि राज्यों में भी आयुर्वेद के निदेशालय स्थापित हो चुके हैं।

केन्द्रीय भोर कमिटी—भारत सरकार ने १९४५ में डॉ० भोर की अध्यक्षता में 'हेल्थ सर्वे ऐण्ड डेवलपमेंट कमिटी' (भोर कमिटी) गठित की जिसने देशी चिकित्सा-पद्धतियों का भाग्य अन्य राज्य सरकारों पर छोड़ दिया। कमिटी की इस उपेक्षावृत्ति से लोकमानस को बड़ा आघात पहुँचा, फलतः इसकी तीव्र आलोचना हुई। परिणाम-स्वरूप अक्तूबर १९४६ में स्वास्थ्यमन्त्रियों का जो अधिवेशन दिल्ली में हुआ उसमें मद्रास की स्वास्थ्यमंत्रिणी श्रीमती ए० रुक्मिणी लक्ष्मीपति (डॉ० लक्ष्मीपति की धर्मपत्नी) की सलाह पर निम्नांकित निर्णय लिये गये—

१. राष्ट्रीय योजनासमिति की सिफारिशों के अनुसार केन्द्र तथा राज्यों में आयुर्वेद-यूनानी में अनुसन्धान, शिक्षण की व्यवस्था की जाय तथा पाश्चात्य चिकित्सापद्धति के स्नातकों के लिए देशी चिकित्सापद्धति में स्नातकोत्तर शिक्षण की व्यवस्था हो।

२. आयुर्वेद के चिकित्सकों को राजकीय स्वास्थ्य-सेवा में लिया जाये और यदि आवश्यक हो तो कुछ प्रशिक्षण भी दिया जाय।

३. विभिन्न केन्द्रीय एवं राज्य समितियों में देशी चिकित्सकों को समुचित प्रतिनिधित्व दिया जाय।

चोपड़ा कमिटी—

इसी पृष्ठभूमि में १९ दिसम्बर १९४६ को भारत सरकार ने एक और कमिटी नियुक्त की जिसके अध्यक्ष कर्नल सर रामनाथ चोपड़ा हुये। यह कमिटी चोपड़ाकमिटी

---

१. उडुपकमिटी रिपोर्ट, पृ० १४९।

के नाम से प्रसिद्ध है। इसके सदस्यों में डॉ० लक्ष्मीपति, डॉ० बी० सी० लागु, डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक और तीन हकीम थे। बाद में डॉ० एम० एच० शाह और डॉ० बी० एन० घोष भी सम्मिलित किये गये। प्राचीन वैद्यों का कोई प्रतिनिधित्व इसमें नहीं था। इस माँग के बाद आचार्य यादव जी भी इसमें समाविष्ट किये गये। २२ मार्च १९४७ को इसकी प्रथम बैठक हुई। इसमें एक साइण्टिफिक मेमोरेण्ड। सब-कमिटी गठित करने का निर्णय लिया गया। इस सबैकमिटी की बैठक पूना में १५ से २२ दिसम्बर १९४७ को हुई जिसमें भारत के मूर्धन्य शास्त्रज्ञों ने भाग लिया। इसमें पञ्चमहाभूत, त्रिदोष तथा रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव के सिद्धान्तों पर विचारविमर्श हुआ[१]। चोपड़ाकमिटी के सचिव डॉ० च० द्वारकानाथ थे। कमिटी की अन्तिम बैठक २०–२८ जुलाई १९४८ को हुई जिसमें प्रतिवेदन का प्रारूप अनुमोदित हुआ। यह रिपोर्ट दो खण्डों में प्रकाशित होकर १९४८ में आ गयी। इसकी अभिसंस्तुतियों का सारांश निम्नांकित है :—

१. देशी चिकित्सापद्धति की प्रगति रुक जाने पर भी यह भारत में अधिकतर प्रचलित हैं। भारतीय जनता की विभिन्न श्रेणियाँ इसी की माँग करती हैं। आयुर्वेद केवल मूल चिकित्साविज्ञान ही नहीं है अपितु चिकित्सा के गूढ़तम सिद्धान्तों का समृद्ध कोष भी है, जो कि साधारणतया आधुनिक विज्ञान के लिए तथा विशेषतया चिकित्साशास्त्र के लिए बहुमूल्य हो सकते हैं। यूनानी चिकित्सा भी इस विषय में आयुर्वेद के समकक्ष है। इस समिति का विश्वास नहीं है कि पाश्चात्य तथा भारतीय चिकित्सा पद्धति भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। विज्ञान सार्वभौमिक है और चिकित्साशास्त्र इस नियम का कोई अपवाद नहीं। नानापन्थी चिकित्सापद्धतियों में तो वही लोग विश्वास करते हैं तथा उन्हें प्रोत्साहित करते हैं जिन्होंने भारतीय प्राचीन आचार्यों के तथा पश्चिमी चिकित्सा के विज्ञान के पण्डितों के महान उद्देश्यों को नहीं समझा। भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ चिकित्साशास्त्र के भिन्न-भिन्न मार्ग व रूप हैं जो कि भिन्न-भिन्न युगों में व भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित रहे हैं। उन चिकित्सापद्धतियों का उद्देश्य स्वास्थ्य की रक्षा, रोग का प्रतिरोध तथा निवारण है। इन चिकित्सापद्धतियों में जो सत्यांश है उसको सूत्रबद्ध हो जाना चाहिए जो कि मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए बिना किसी भेदभाव के उपयुक्त हो सके।

२. यद्यपि केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित यह पहली ही समिति है तथापि प्रान्तीय तथा रियासती सरकारों द्वारा समय-समय पर भारतीय चिकित्सा की समस्याओं को सुलझाने के लिए समितियाँ बनाई गयी हैं। इन समितियों ने अपने परामर्श प्रदान किये हैं जो कि उन-उन प्रान्तों में लागू हो सकते हैं। इन समितियों के

---

१. इसके निर्णय चोपड़ाकमिटी, भाग २, पृ० १८३–१९२ पर देखें।

परामर्शों पर प्रान्तीय सरकारों ने कुछ कारवाई भी की है परन्तु उन के अधिकांश परामर्श क्रियान्वित नहीं हो सके। हमारी सम्मति है कि प्रान्तीय तथा रियासत की सरकारें यथाशीघ्र उन्हें क्रियान्वित करें तथा साथ-साथ हमारा परामर्श दृष्टि में रखते हुए उनका ऐसा सामंजस्य करें कि सब प्रान्तों का एक समान स्तर हो जाय।

३. जनता का स्वास्थ्य उनकी आर्थिक, शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा सामाजिक अवस्थाओं पर निर्भर करता है इसलिए राज्य का कर्त्तव्य है कि उन साधनों को उच्चतर बनाने के लिए उचित कारवाई करे और शिक्षा द्वारा उन में स्वास्थ्य-चेतना पैदा करे।

४. चिकित्सा-सेवा के अन्तर्गत स्वास्थ्यकर्मचारी तथा चिकित्सा-शिक्षाकेन्द्र हैं। इस समय देश में दो चिकित्सापद्धतियाँ प्रचलित हैं—पश्चिमी तथा देशी। चिकित्सा-शिक्षाकेन्द्रों तथा चिकित्सालयों में इन दोनों पद्धतियों के समन्वय तथा एकीकरण के लिये प्रत्येक उपाय का अवलम्बन होना चाहिए।

समन्वय

५. भारत के शिक्षणालयों में गत बीस वर्षों में देशी तथा पश्चिमी चिकित्सा पद्धतियों के सम्बन्ध के लिये जो योजनाएँ बनाई गई हैं और जो क्रियात्मक कार्य हुए हैं उनको दृष्टिगत रखते हुए हमारी यह निश्चित सम्मति है कि समन्वय सम्भव ही नहीं अपितु व्यवहार्य भी है यद्यपि इसमें समय लगेगा तथा अनेक बाधाएं मार्ग में हैं।

६. हमारा विश्वास है कि जैसे देशी चिकित्साशास्त्र पश्चिमी चिकित्साशास्त्र के क्रियात्मक महत्त्व की बहुत सी बातें ग्रहण कर सकता है वैसे ही पश्चिमी चिकित्सासास्त्र भी भारतीय चिकित्साशास्त्र की दार्शनिक पृष्ठभूमि, व्यापकता, क्षेत्र-महत्त्व, आहारविधि की महत्ता, सिद्धान्तों का सूत्रीकरण तथा अतीन्द्रिय अनुभूति द्वारा उपलब्ध ज्ञान से बहुत कुछ सीख सकता है।

७. पश्चिमी और भारतीय चिकित्साशास्त्र के पण्डित तथा जनता के विशिष्ट जनों का बहुमत ऐसे सम्बन्ध के पक्ष में है और हमारा मत है कि इस दिशा में तत्काल कदम उठाना चाहिए।

८. इस दिशा में पहला कदम यह होगा कि पाठ्यपुस्तकों का एकीकरण किया जाय और पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाया जाय कि एक पद्धति की दुर्बलता को दूसरी पद्धति या पद्धतियों के गुणों द्वारा सबल और पूर्ण किया जा सके।

९. दूसरा कदम यह होगा कि एक विषय को बजाय अलग शिक्षकों के जैसा कि आजकल होता है एक ही शिक्षक पढ़ाये और वह विद्यार्थियों के सम्मुख पश्चिमी

तथा देशी चिकित्साशास्त्र के दृष्टिकोण का सामंजस्य रख सकें। इस प्रकार विद्यार्थी उस ज्ञान को प्राप्त करेंगे जो आधुनिक विज्ञान से भली भाँति संपुष्ट तथा भारतीय चिकित्साशास्त्र की आत्मा से युक्त एक संश्लिष्ट ज्ञान होगा।

१०. अन्तिम कदम अनुसंधानशाला में लिया जायगा वहाँ पश्चिमी और भारतीय चिकित्सा के पण्डित साथ-साथ काम करेंगे और विभिन्न विचारों की विवेचना करेंगे जिससे वह उनका समाधान या निराकरण कर सकें। यदि विचार ऐसे हों जिनका समाधान या निराकरण न हो सके तो उनके समानान्तर मान्यता प्रस्तुत की जायँ।

११. जबकि भारतीय चिकित्सा के शिक्षणालयों में पश्चिमी चिकित्सा के अध्यापन का प्रबन्ध है, पश्चिमी चिकित्सा-शिक्षालयों में भी भारतीय चिकित्सा के अध्यापन का प्रबन्ध होना चाहिए जिससे कि विद्यार्थी भारतीय चिकित्सा के सिद्धान्तों को समझ सके। अनुसंधान से जैसे-जैसे क्रियात्मक ज्ञान का समावेश होगा, अध्ययन कार्य केवल ऐतिहासिक उपयोगिता का ही न रह कर सत्यांश को दूसरी पद्धति में समाविष्ट कर सकेगा।

१२. अध्यापन तथा अध्ययन के एकीकरण को सुगम करने के लिए निम्न कदम साथ ही साथ उठाने चाहिए—(i) प्रवेशार्थी की प्रवेशयोग्यता में वृद्धि, (ii) पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण जिनमें पश्चिमी तथा देशी पद्धतियों का समन्वय हो, (iii) समन्वित पाठ्यक्रम के लिए अध्यापकों का शिक्षण।

१३. आयुर्वेद के विद्यार्थियों को संस्कृत तथा यूनानी के विद्यार्थियों को अरबी तथा फारसी का कामचलाऊ ज्ञान होना चाहिए तथा साथ में आंग्ल-भाषा तथा मौलिक विज्ञान यथा रसायन, भौतिक विज्ञान तथा जन्तु एवं वनस्पति शास्त्र की अच्छी योग्यता होनी चाहिए।

१४. पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाना चाहिए जिससे पश्चिमी चिकित्सा के आवश्यक तथ्यों के साथ भारतीय चिकित्सा का भी पर्याप्त ज्ञान हो विशेषकर उन में जिनमें भारतीय चिकित्सा अपूर्ण है जिससे कि वह वर्तमान चिकित्सा की आवश्यकताओं के लिए अधिक सुसज्जित हो सके।

१५. पाठ्यक्रम पंचवर्षीय होना चाहिए। अन्तरिम काल के लिए—एक त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम होना चाहिये जब तक कि ग्रामीण अंचल के लिए पर्याप्त चिकित्सक न उपलब्ध हों। विद्यार्थी को अपनी शिक्षा पूर्ण करने के लिए आवश्यक है कि (i) विद्यार्थी की मूल शिक्षा का स्तर ऊँचा हो, (ii) अध्यापनविधि समुन्नत हो, (iii) अनावश्यक विस्तार छोड़ दिये जायँ, (v) शिक्षा का माध्यम राष्ट्रीय, प्रान्तीय या प्रादेशिक भाषा हो।

१६. भारत के सब प्रान्तों के लिए एक समान यह पाठ्यक्रम तैयार हो गया है और पाठ्यविधि निश्चित हो गई है।

१७. राज्य का कर्तव्य है कि पुरातन पुस्तकों के सम्पादन तथा प्रकाशन के लिये तथा उचित पाठ्य पुस्तकों के निर्माण के लिये एक विशेषज्ञों की समिति नियुक्त करे। इन पाठ्य पुस्तकों में प्राचीन तथा आधुनिक विज्ञान का समन्वय होगा। आयुर्वेद की पुस्तकें प्रथम हिन्दी में व यूनानी की उर्दू में होंगी तथा बाद में इनका अनुवाद प्रान्तीय तथा प्रादेशिक भाषा में होगा।

१८. राज्य को चाहिये कि शिक्षणालयों को पर्याप्त आर्थिक सहायता दें तथा उनका स्तर समुन्नत रखें।

१९. प्रत्येक प्रान्त तथा रियासत में एक या अनेक उपकरणसम्पन्न तथा योग्य शिक्षकवर्ग से युक्त शिक्षणालय होने चाहिए। शिक्षकों का वेतन पर्याप्त होना चाहिए तथा उनको स्वतन्त्र चिकित्सा की आज्ञा नहीं होनी चाहिए।

२०. जो शिक्षणालय निश्चित स्तर से निम्न हों उनको शिक्षण कार्य की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए। ऐसी संस्थाओं को दूसरी बड़ी संस्थाओं में, यदि सम्भव हो, सम्मिलित कर देना चाहिए या उनको चिकित्सा-सहायता के लिए उपयोग में लाना चाहिए।

२१. सब शिक्षाकेन्द्रों में अनुसंधान का प्रबन्ध होना चाहिए जिनमें शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों भाग ले सकें।

२२. शिक्षित चिकित्सकों की संख्यावृद्धि कालापेक्षी है, और यदि वह निकट भविष्य में उपलब्ध हो भी सकें तो भी वह नगरों में ही रहना पसन्द करेंगे यद्यपि ग्रामों में रहने के लिए उनको आर्थिक प्रलोभन दिना जाय फिर भी अत्यावश्यक ग्रामीण चिकित्सासेवा की समस्या सुलझ न सकेगी इसलिए हमारा परामर्श है कि देशी चिकित्सकों को सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा अन्य उपयोगी विषयों में आवश्यक शिक्षा देकर उन्हें इस काम के लिए उपयोग में लाया जाय।

चिकित्सा-सेवा

२३. उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार देश में २,००,००० देशी चिकित्सक हैं जिसमें से, आशा है, पाँच साल में २५,००० इस पाठ्यक्रम के लिए आगे आयेंगे। इसके अतिरिक्त लगभग ४,००० ऐसे हैं जो शिक्षणालयों में विधिपूर्वक शिक्षित हैं। यह संख्या आवश्यक प्राथमिक ग्रामीण औषधालयों को चलाने के लिये पर्याप्त होगी।

२४. निम्न सुझाव उपस्थित किए गये हैं :—(1) सार्वजनिक स्वास्थ्य, सामान्य शल्यक्रिया तथा प्रसूतिविज्ञान में उनको ६ मास की शिक्षा दी जाय।

(ii) रजिस्टर्ड चिकित्सक, जो यह पाठ्यक्रम लेना चाहें, उन्हें ३०) मासिक छात्रवृत्ति दी जाय।

(iii) देशी चिकित्सा के शिक्षणालयों के स्नातक जो इस योजना में भाग लेना चाहें परीक्षाओं में बैठ सकते हैं परन्तु उन्हें पाठ्यक्रम में सम्मिलित होना आवश्यक नहीं।

(iv) जो विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण हों उनको ग्रामीण चिकित्सा-सेवा में सम्मिलित किया जाय।

२५. स्वास्थ्य-कार्यकर्ताओं के लिए एक अखिल भारतीय व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षण का मानदण्ड होना चाहिए तथा राज्य की निश्चित एवं दीर्घकालीन स्वास्थ्यनीति भी होनी चाहिए।

२६. ग्रामीण चिकित्सासेवा को शीघ्र कार्यान्वित करने के लिए विशेषज्ञों द्वारा उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें तैयार करायी जायें। यह पुस्तकें सब प्रान्तीय-प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध होनी चाहिये।

२७. उपर्युक्त योजना के अनुसार शिक्षित चिकित्सक को ग्रामीण चिकित्सालय का अध्यक्ष बनाना चाहिये जिसके अन्तर्गत ३०००० से ३५००० तक जनसंख्या हो और यह हमारी ग्राम-चिकित्सासेवा की प्राथमिक इकाई होगी।

२८. द्वितीय इकाई शिक्षणालयों द्वारा शिक्षित चिकित्सक की अध्यक्षता में होगी जिसका मुख्यालय किसी बड़े ग्राम में होगा और १०,००० जनसंख्या को चिकित्सा-सहायता देगा। यह इकाई प्राथमिक इकाइयों का निरीक्षण भी करेगी।

२९. पंचायत इकाई के अन्तर्गत एक भ्रमणशील इकाई (Mobile Unit) होगी जिसमें आत्ययिक कर्म सम्बन्धी उपकरण तथा परिचारकवर्ग होंगे। ये चिकित्सक अपने इलाकों के अन्य ग्रामों का भ्रमण करेंगे और ग्रामीण चिकित्सकों को उचित सहायता देंगे। यह ५०,००० जनसंख्या की चिकित्सा-सहायता करेंगे।

३०. तालुक, जिलों तथा प्रेसीडेंसी नगरों के आतुरालयों में रोगियों के निवास का पूरा प्रबन्ध होना चाहिये। इन आतुरालयों में चिकित्सा के समस्त अंगों की सहायता का प्रबन्ध होना चाहिये और यह देशी तथा पश्चिमी पद्धति के चिकित्सकों से युक्त होने चाहिये। देशी चिकित्सक रोगोपचार करें तथा पश्चिमी पद्धति के चिकित्सक शल्यचिकित्सा तथा स्त्रीचिकित्सा करें। यह द्विमुखी प्रबन्ध अल्पकालीन ही है— जब तक कि समन्वय नहीं होता और इसमें शिक्षित कार्यकर्त्ता उपलब्ध नहीं होते।

राज्य-नियन्त्रण

३१. हमारा मत है कि अब समय आ गया है जबकि राज्य को देशी चिकित्सा के व्यवसाय तथा शिक्षा में व्यापक विधि से नियंत्रण करना चाहिए और राज्य को एक

विशेषज्ञ समिति नियुक्त करनी चाहिये जो नियन्त्रण तथा रजिस्ट्रेशन की समस्या का अध्ययन करे और एक अखिल भारतीय नियन्त्रण की व्यवस्था हो सके। और यदि सम्भव हो सब मान्य चिकित्सापद्धतियों का एक ही रजिस्टर हो जिसका आधार केन्द्रीय सरकार का एक ऐक्ट हो।

३२. यदि सरकार को स्वास्थ्य तथा चिकित्सा-सेवा की समस्याओं को राष्ट्रव्यापी ढंग से सुलझाना हो तो सरकार को देश की सब मान्य पद्धतियों को दृष्टि में रखते हुए एक व्यापक अधिनियम बनाना होगा बजाय इसके कि प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा अधिनियम बनाये जायँ।

३३. मान्य चिकित्सापद्धतियों के नियंत्रणविषयक अधिनियम बनाते समय निम्न मूल सिद्धान्तों का ध्यान रखना होगा :—

(i) सब मान्य पद्धतियों के शिक्षाकेन्द्रों तथा चिकित्सालयों के निरीक्षण का प्रबन्ध।

(ii) मान्य पद्धतियों के चिकित्सकों का रजिस्ट्रेशन।

(iii) चिकित्साव्यवसाय पर नियन्त्रण।

(iv) सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा चिकित्सा-सहायता पर एक परामर्शदात्री समिति।

३४. उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक राज्यसम्मत समिति हो जिसका नाम हो नेशनल मेडिकल बोर्ड। इस समिति के दो स्वतंत्र विभाग होने चाहिए एक इंडियन मेडिकल कौंसिल; दूसरी कौंसिल आफ इण्डियन मेडिसिन। पहली का उद्देश्य पश्चिमी पद्धति के लिए कार्य करना तथा दूसरी का भारतीय के लिए। प्रान्तीय तथा प्रादेशिक शाखायें इस समिति से सम्बद्ध होनी चाहिए तथा प्रान्तीय शाखायें जिन चिकित्सकों या संस्थाओं पर अनुशासनिक कारवाई करें उनकी अपील सुनने की अधिकारी हों। कौंसिल आफ इण्डियन मेडिसिन में शिक्षाप्राप्त चिकित्सकों का अनुपात अशिक्षित चिकित्सकों से अधिक होना चाहिए।

३५. सब चिकित्सकों—पश्चिमी तथा देशी—का रजिस्ट्रेशन अनिवार्य होना चाहिए।

३६. वर्तमान में देशी चिकित्सकों का रजिस्टर पश्चिमी चिकित्सकों से भिन्न होना चाहिए। बाद में जबकि देशी चिकित्सा के कालेजों में शिक्षा का स्तर ऊंचा हो जाय और अशिक्षित चिकित्सक समाप्त हो जायँ तब इस प्रश्न पर पुनर्विचार किया जाय और एक रजिस्टर रखने की आवश्यकता पर ध्यान दिया जाय।

३७. चिकित्सकों के अन्तर्गत प्रसिद्ध वैद्य तथा हकीम भी हैं। रजिस्टर में विधिवत् शिक्षाप्राप्त चिकित्सकों से इनका कोई भेद नहीं होना चाहिए। तथापि समिति में प्रतिनिधित्व के लिए इनका अलग-अलग निर्वाचन होना चाहिए।

अनुसन्धान

३८. चिकित्सापद्धति में अनुसन्धान आरम्भ करने की नितान्त आवश्यकता जिससे यह चिकित्सा विज्ञान तथा कला के कलेवर को समृद्ध करने में सहायक होगा। भारतीय चिकित्साशास्त्र जो शताब्दियों से स्थावर हो गया है, इस प्रकार अनुसन्धान द्वारा फिर से देश तथा विश्व के कल्याण में भाग लेगा।

३९. अनुसन्धान के दो उद्देश्य होने चाहिए :—

(i) भारतीय चिकित्साशास्त्र को शताब्दियों के विकृतिपुंज, जिनकी उपयोगिता संदिग्ध है, से निर्मुक्त करने के लिए और इसके विज्ञान तथा कला को वर्त्तमान युग के लोगों को बुद्धिगम्य बनाने के लिए।

(ii) भारतीय तथा पश्चिमी चिकित्सा के समन्वय के लिए जिससे कि एक समन्वित चिकित्सासेवा एवं शिक्षा का प्रादुर्भाव हो जो कि भारतीय जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल हो सके।

४०. अनुसन्धान के निम्न विभाग (Categories) होने चाहिए :—

(i) आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों में अनुसंधान।

(ii) वाङ्मय-अनुसन्धान।

(iii) चिकित्सा-सम्बन्धी अनुसन्धान।

(iv) औषध-अनुसन्धान।

(v) पोषण-विज्ञान तथा आहार-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धान।

(vi) मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान।

४१. एक सेंट्रल कौंसिल आफ रिसर्च इन इण्डियन मेडिसन का तुरन्त निर्माण होना चाहिए जिसका कार्य सेंट्रल मेडिकल रिसर्च ऑर्गनीजेशन के सदृश होगा। इसमें निम्न व्यक्ति होंगे—(i) भारतीय पद्धति के प्रसिद्ध चिकित्सक, (ii) भारतीय चिकित्सक से सम्बन्धित वैज्ञानिक संस्थानों के प्रतिनिधि, (iii) भारतीय चिकित्सा में अनुसन्धान करने वाले शिक्षणालयों के प्रतिनिधि। यह समिति प्रारम्भ में सरकार की ओर से मनोनीत होनी चाहिए।

४२. अनुसन्धानसमिति के निम्न कार्य होंगे—

(i) भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान-नीति की आयोजना।

(ii) चिकित्सा तथा अन्य अनुसन्धान नीतियों का संश्लेषण।

(iii) प्रस्तुत सेंट्रल रिसर्च इन्स्टीट्यूट इन इण्डियन मेडिसन का संगठन, निरीक्षण तथा नियन्त्रण।

(iv) भारतीय विश्वविद्यालयों तथा शिक्षणालयों में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना।

(५) संचालक तथा उच्च अधिकारियों की नियुक्ति के नियम बनाना।

(vi) कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति।

(vii) विशेष विषयों में अनुसन्धान के लिये परामर्शदात्री समिति का आयोजन।

(viii) सेंट्रल रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा अन्य केन्द्रों में अनुसन्धान के लिए धनराशि तथा आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था करना।

४३. अनुसन्धान-शालायें दो प्रकार होती हैं :—

(i) बहुप्रयोजनीय जो अनेक विषयों का अनुशीलन करती हैं।

(ii) एकप्रयोजनीय जो सम्बद्ध विषयों का ही अनुशीलन करती हैं। प्रस्तुत अनुसन्धान शाला द्वितीय श्रेणी की ही होगी।

४४. केन्द्रीय अनुसन्धानशाला के निम्न विभाग होने चाहिए :—

(i) चिकित्साविभाग—जिसमें कम से कम १०० आतुरशय्यायें हों और जो आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित हों।

(ii) प्रयोगशाला विभाग—जिसमें आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित प्रयोगशालायें हों जिनमें चिकित्सा से सम्बन्धित सब विषयों में अनुसन्धान हो सकें।

(iii) भेषजकल्पनाविभाग—जिससे प्राणिज, वानस्पतिक व खनिज औषधों की निर्माणविधि तथा सिद्ध द्रव्यों के संघटन का अध्ययन तथा परीक्षण किया जा सके।

(vi) केन्द्रीय पुस्तकालय—वाङ्मय अनुसन्धान के लिए।

(v) सांख्यिकी विभाग—अनुसन्धानकार्य की रूपरेखा निर्धारित करने तथा परिणामों के मूल्यांकन के लिए।

(lv) औषधसंग्रहालय तथा वनौषधि उद्यान—जिसमें औषधियों के प्राकृतिक व सुरक्षित नमूने रखे जा सकें।

४५. अनुसन्धानशाला का संचालन तथा नियंत्रण संचालक द्वारा होगा। चूंकि अनुसन्धानशाला की सफलता संचालक की योग्यता तथा आचरण पर निर्भर है अतः वह एक उच्च वैज्ञानिक योग्यता का व्यक्ति, अनुसंधानकार्य विशेषतया भारतीय चिकित्सा असुसन्धान में दक्ष तथा संगठन कार्य में प्रवीण होना चाहिए।

४६. भिन्न २ विभागाध्यक्ष विज्ञान तथा भारतीय एवं पश्चिमी चिकित्साशास्त्र में पारंगत होने चाहिए।

४७. चूंकि अनुसन्धानशालाओं के कार्यकर्त्ताओं को अनुसन्धानकार्य तथा स्नातकोत्तर अध्यापनकार्य के लिए कठिन परिश्रम करना होगा उनको स्वतन्त्र चिकित्सा की अनुमति न दी जावे। उनके वेतन, भत्ता आदि तथा भावी उन्नति अन्य समकक्ष अनुसंधानशालाओं के तुल्य होनी चाहिए।

४८. भिन्न २ विभागों के कार्य की प्रगति अनुसन्धानशाला की पत्रिका में छपनी चाहिये जिसका नाम हो आर्काइव्ज ऑफ इंडियन मेडिसिन।

४८. सेंट्रल रिसर्च इंस्टीच्यूट तथा अन्य अनुसन्धानशालाएँ स्थापित करने की आयोजना हो। अथवा इसे किसी प्रान्त या रियासत में स्थापित किया जावे जहाँ कि अनुसंधानोपयोगी वातावरण तथा अन्य तत्संवन्धी सुविधाएँ उपलब्ध हों यथा बंगलोर या बनारस।

४९. प्रत्येक शिक्षणालय के संबद्ध आतुरालय में अनुसंधानकार्य का आयोजन होना चाहिए।

५०. सेंट्रल रिसर्च इंस्टीच्यूट में स्नातकोत्तर पाठचक्रम एवं अनुसंधान-कार्यकर्त्ताओं के शिक्षण का प्रबन्ध होना चाहिए। १५०) मासिक की अनुसंधान छात्रवृत्ति प्रथम अवस्था में तीन वर्ष तक तथा विशेष अवस्थाओं में पाँच वर्ष तक उपलब्ध होनी चाहिए।

औषधद्रव्य एवं भेषजकल्प

५१. भारतीय चिकित्सा के प्रयोग में आनेवाली अनेक ओषधियों के परिचय में बहुत कठिनता है। इनके परिचय का कार्य सब प्रांतीय तथा प्रादेशिक केन्द्रों में होना चाहिए और इस कार्य का समन्वय प्रस्तावित केन्द्रीय अनुसन्धानशालाओं के संचालन में होना चाहिये।

५२. ओषधियों के परिचय में बहुत सुगमता होगी यदि सेंट्रल रिसर्च इंस्टीच्यूट में एक वनौषधि-उद्यान हो जिसमें भली-भाँति परिचित, निश्चित तथा सुरक्षित ओषधियों के नमूने रखे जायँ। फारेस्ट रिसर्च इंस्टीच्यूट देहरादून, स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसिन कलकत्ता तथा ड्रग रिसर्च लेबोरेटरी, काश्मीर में इन ओषधियों के संग्रह विद्यमान हैं।

५३. चिकित्सासेवा को वैज्ञानिक ढंग पर लाने के लिए न केवल ओषधियों का अध्ययन करना आवश्यक है अपितु उनका उत्पादन भी होना चाहिए जिससे सही ओषधियाँ ठीक मात्रा में प्राप्त हो सकें। इसको सफलता से करने के लिए आवश्यक है कि ओषधियों का समीचीन सर्वेक्षण किया जावे। इससे उनके उत्पादन के उपयुक्त प्रदेशों को निश्चित करने में भी सहायता मिलेगी।

५४. ओषधियों के सर्वेक्षण तथा उत्पादन का कार्यक्रम केन्द्रीय अनुसंधानशाला को प्रान्तों एवं रियासतों के वन एवं कृषिविभागों के प्रतिनिधियों तथा वनस्पति शास्त्रियों के सहयोग से बनना चाहिए।

५५. चूंकि वर्तमान उपलब्ध वाङ्मय बिखरा हुआ है और विद्यार्थी तथा चिकित्सकों के लिए सुबोध नहीं है, निघण्टु की एक पाठ्यपुस्तक तैयार होनी चाहिए जिसमें तद्विषयक समस्त सूचना का संग्रह एवं विवेचन के साथ-साथ भिन्न-भिन्न ओषधियों के आवश्यक प्रयोज्यांग का निर्देश हो।

५६. यह संभव नहीं है कि संप्रति कोई आयुर्वेदिक भेषजसंहिता (फार्माकोपिया)

पश्चिमी फार्माकोपिया के ढंग पर तैयार किया जा सके चूंकि वर्तमान में उक्त कार्य के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

५७. सेंट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट को विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त करनी चाहिए जो कि आवश्यक सामग्री प्रदान कर दो सूचियाँ तैयार करे—एक उपयोगी एकल ओषधियों की, दूसरी प्रसिद्ध योगों की। यह भारतीय भेषजसंहिता (फार्माकोपिया) का आधार होगा और इससे उनके गुण, निर्माणविधि, मात्रा, सेवनविधि, अनुपान आदि के विषय में सब सूचना मिलेगी।

५८. चूंकि विशुद्ध औषधनिर्माण के लिए ओषधियां प्राप्त करने में अत्यन्त कठिनता होती है, यह आवश्यक है कि (क) जड़ी-बूटियों का संग्रह तथा वितरण राज्य के आज्ञापत्र (लाइसेन्स) द्वारा होना चाहिए, (ख) बाजार में ओषधिविक्रेताओं पर भी नियन्त्रण होना चाहिए और उनको भी आज्ञापत्र (लाइसेन्स) लेना चाहिए।

५९. एक छोटी समिति जिसमें उद्योग, वैद्य, हकीम, तथा आधुनिक ओषधि निर्माणशालाओं के प्रतिनिधि हों, देश के लिए आवश्यक ओषधि एवं सिद्धौषधों की जांच करे और इस बात का परामर्श दे कि उन पर नियंत्रण का सर्वोत्तम उपाय क्या है।

६०. कुछ आवश्यक न्यूनतम मापदण्ड निर्धारित होना चाहिए कि व्यापारिक निर्माणशालाओं का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए कितने न्यूनतम कार्यकर्ता उपकरण तथा स्थान आवश्यक हैं।

६१. अहिफेन, गांजा, सुरा, संखिया आदि विष तथा आबकारी सम्बन्धी द्रव्यों को प्राप्त करने के लिए भारतीय निर्माणशालाओं को वही सुविधा उपलब्ध होनी चाहिए जो कि पश्चिमी निर्माणशालाओं को प्राप्त है।

६२. जनता को विश्वस्त औषध प्राप्त कराने के लिए सुशिक्षित भेषजशास्त्रियों की आवश्यकता है और पैरा ५९ में प्रस्तावित समिति भेषजशास्त्रियों के लिए उपयुक्त क्रम चलाने के आवश्यक उपायों का निर्देश करे।

६३. देशी भेषजशास्त्रियों के व्यवसाय पर नियन्त्रण रजिस्ट्रेशन द्वारा होना चाहिए जैसा कि अधिनियम पश्चिमी निर्माणशालाओं के व्यवसाय के लिए बनाया गया है।

अर्थव्यवस्था

६४. चिकित्सा-शिक्षण, चिकित्सा-सेवा तथा अनुसंधान की योजना को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों तथा रियासतों को व्यय में विशेष वृद्धि करनी होगी। उनका अनुरोध है कि भारत के ग्रामों में स्वास्थ्य की

वर्तमान अवस्था को दृष्टि में रखते हुए प्रांतीय बजटों में चिकित्सासेवा को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

६५. चुने हुए वर्तमान शिक्षणालयों को स्थान तथा कार्यकर्त्ता उपलब्ध करने के लिए राज्य की ओर से प्रचुर धनराशि मिलनी चाहिए। इस राशि से २॥ लाख रुपया एककालिक व्यय तथा १ से १॥ लाख रुपया पुनरावर्तक व्यय के लिए प्रत्येक चुनी हुई संस्था को मिलना चाहिए। इसका चुनाव एतदर्थ नियोजित समिति द्वारा होना चाहिए। कुल खर्च २० से २५ लाख रुपया तक वार्षिक होगा जो कि समान भाव से सब प्रान्तों एवं रियासतों में बँट जायगा।

६६. ग्रामीण चिकित्सायोजना के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी को ३०) मासिक छात्रवृत्ति के हिसाब से प्रत्येक प्रान्तीय सरकार को ६०० चिकित्सक शिक्षित करने के लिए १,२०,०००) वार्षिक व्यय करना होगा।

६७. प्रस्तावित अनुसंधानशाला के कार्यकर्त्ता तथा उनके वेतन का हिसाब लगा लिया गया है। स्थान तथा उपकरणों के लिए एककालिक व्यय ५ लाख रुपया होगा और पुनरावर्त्तक व्यय २॥ लाख रुपया वार्षिक होगा। प्रारम्भ में पुनरावर्त्तक व्यय कम होगा क्योंकि आदि में एक या दो अनुसंधानविभाग यथा वाङ्मय और आतुरीय आरम्भ किये जायँगे। दूसरे विभाग पांच साल में पूर्ण होंगे।

६८. भारतीय चिकित्साविभाग का अध्यक्ष डिपुटी डाइरेक्टर जनरल आँफ हेल्थ सर्विसेज, स्वास्थ्य मंत्री के अधीन होना चाहिए। वह समिति के परामर्शों को कार्यान्वित करने तथा प्रान्तों में कार्य को एक सूत्र में संगठित करने के लिए उत्तरदायी होगा।

चोपड़ा कमिटी की सिफारिशों पर भारत सरकार ने विचार किया और निम्नांकित निष्कर्ष पर पहुँची :—

१. चोपड़ा कमिटी द्वारा प्रस्तावित समन्वय अव्यावहारिक है क्योंकि आधुनिक चिकित्सा के सिद्धान्त आयुर्वेद और यूनानी के सिद्धान्तों से नितान्त भिन्न हैं। अनुसन्धान के बाद ही इस पर पुनर्विचार किया जा सकता है।

२. केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें यह निश्चय करें कि आधुनिक चिकित्सा ही देश की राष्ट्रीय स्वास्थ्यसेवाओं का आधार बना रहे।

३. आयुर्वेद-यूनानी में अनुसंधान के लिए कमिटी द्वारा सुझायी व्यापक व्यवस्था की जाय जिससे इन पद्धतियों की समृद्धि तो हो ही, अन्त में एक राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के विकास की भी संभावना हो। इस निमित्त एक कमिटी गठित की जाय।

४. तब तक मेडिकल कालेजों के अन्तिम वर्ष में आयुर्वेद-यूनानी या अन्य

पद्धतियों का पाठ्यक्रम रख दिया जाय या इन्हें स्नातकोत्तर स्तर का विषय बना दिया जाय ।

५. वैद्यों हकीमों के निबन्धन के लिए एक अखिल भारतीय अधिनियम बनाया जाय और इसके बाद अनिबन्धित व्यक्तियों की चिकित्सा पर रोक लगा दी जाय।

६. मिश्रित पाठ्यक्रम के स्नातकों को कुछ प्रशिक्षण देकर स्वास्थ्यसेवाओं में समाविष्ट किया जाय ।

पंडित कमिटी (१९४९)

उपर्युक्त कण्डिका सं० ३ के निर्णयानुसार एक कमिटी डा० सी० जी० पण्डित की अध्यक्षता में बनाई गई । इसने निम्नांकित सिफारिशें कीं :—

१. जामनगर में एक केन्द्रीय अनुसन्धानकेन्द्र स्थापित हो ।

२. मेडिकल कालेजों में स्नातकीय या स्नातकोत्तर स्तर पर आयुर्वेद-यूनानी की शिक्षा संभव नहीं है ।

३. विश्वविद्यालयों में चिकित्साशास्त्र के इतिहास के पीठ (Chairs) स्थापित किये जायँ ।

४. आयुर्वेदिक कालेजों की प्रवेशयोग्यता इन्टर साइन्स कर दी जाय और पाठ्यक्रम पाँच वर्षों का हो ।

इसके निर्णयानुसार जामनगर में अनुसन्धानकेन्द्र की स्थापना १९५२ में हुई।

दवे कमिटी

सेण्ट्रल कौन्सिल ऑफ हेल्थ (त्रिवेन्द्रम, १९५४) में पारित प्रस्ताव के अनुसार श्री दयाशंकर त्रिकमजी दवे की अध्यक्षता में दवे कमिटी १९५५ में गठित हुई।

वैद्यकव्यवसाय के सम्बन्ध में कमिटी की सिफारिशें ये थीं :—

१. विधिवत् शिक्षाप्राप्त तथा परंपरागत वैद्यों-हकीमों का रजिस्ट्रेशन किया जाय ।

२. प्रत्येक राज्य में व्यवसाय और शिक्षा के नियन्त्रण के लिए एक बोर्ड की स्थापना हो ।

३. वैद्य-हकीमों के अधिकार आधुनिक चिकित्सकों के समान हों ।

शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नांकित सिफारिशें की :—

१. एकरूप शिक्षाक्रम ५½ वर्षों का हो ।

२. प्रारम्भिक योग्यता इण्टर साइन्स हो, साथ-साथ संस्कृत का भी ज्ञान हो ।

३. इण्डियन मेडिकल कौंसिल के समान एक कौन्सिल हो जो शिक्षा को नियंत्रित करे ।

४. फार्माकोपिया और आयुर्वेदकोष तैयार किये जायँ ।

५. कालेजों के आतुरालयों में प्रतिछात्र ५ शय्यायें हों ।

६. केन्द्र और राज्यों में स्वतंत्र निदेशालय स्थापित हों।

७. दो वर्षों का स्नातकोत्तर शिक्षण तथा अनुसन्धान की सुविधा उपयुक्त स्थानों पर दी जाय।

इस कमिटी की सिफारिशों पर सरकार ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

जून १९५७ में आयुर्वेद-विशेषज्ञों की एक बैठक योजना आयोग द्वारा बुलाई गई जिसमें यह सिफारिश की गई कि एक १५ सदस्यीय केन्द्रीय आयुर्वेद-अनुसन्धान परिषद् गठित की जाय।

उडुप कमिटी

जुलाई १९५८ में भारत सरकार ने एक और कमिटी डॉ० के० एन० उडुप[1] की अध्यक्षता में बनाई। इनकी सिफारिशों में निम्नांकित प्रमुख हैं :—

शिक्षा

१. आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सासेवा का अंग माना जाय। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें इसे पूर्ण मान्यता दें।

२. केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् की स्थापना हो।

३. मिश्रित और शुद्ध दोनों पाठ्यक्रम साथ-साथ चलें।

४. सभी आयुर्वेदिक विद्यालय विश्वविद्यालयों से संबद्ध हों जिनमें आयुर्वेद की फैकल्टी पृथक् हो।

५. अन्तिम लक्ष्य एकरूप आयुर्वेदीय शिक्षणपद्धति का विकास होगा जिसमें आधुनिक विज्ञान आयुर्वेद के पूरक रूप में होगा।

६. योग्य अध्यापक तैयार करने के लिए वाराणसी, पूना और त्रिवेन्द्रम में स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्र स्थापित किये जायें जिनमें तीन वर्षों का पाठ्यक्रम हो। प्रत्येक संस्था या कम से कम प्रत्येक राज्य में एक संस्था में स्नातकोत्तर शिक्षण की व्यवस्था हो। अनुसन्धान शिक्षण का ही एक अंग हो।

७. मेडिकल कॉलेजों में आयुर्वेद के पीठ (Chairs) हों तथा उनके अस्पतालों में एक आयुर्वेदिक वार्ड हो।

८. भेषजकल्पना और चिकित्सा के कार्य पृथक् कर दिये जायें। आयुर्वेद में बी० फार्म० का पाठ्यक्रम चलायी जाय।

अनुसन्धान

१. जामनगर में मॉडर्न टीम और आयुर्वेदिक टीम वाली पद्धति सफल नहीं

---

१. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ए० एम०, अमेरिका से एम० एस०; कनाडा से एफ० आर० सी० एस०, सर्जिकल स्पेशलिष्ट, हिमाचल प्रदेश; निदेशक, चिकित्साविज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; संप्रति रेक्टर, का० हि० वि० वि०।

हुई। इस पर पुनर्विचार करना चाहिए। संस्था को पुनः संगठित करने की आवश्यकता है।

२. केन्द्रीय आयुर्वेद-अनुसन्धानपरिग्रद् की शीघ्र स्थापना की जाय। राज्यों में भी ऐसे बोर्ड बनें।

३. आयुर्वेदीय अयुसन्धान निम्नांकित सात वर्गों में हो :—

१. चिकित्सा-संबन्धी

२. वाङ्मयात्मक

३. रासायनिक

४. वानस्पतिक

५. वनस्पतिपरिचयात्मक

६. भेषजगुणकर्मात्मक

७. मौलिक सिद्धान्त-संबन्धी।

इसमें सर्वप्रथम चिकित्सा पर अनुसन्धान होना चाहिए।

४. वाराणसी, पूना और त्रिवेन्द्रम में स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्र स्थापित किये जायें। इनके साथ अनुसन्धानकेन्द्र भी हों।

५. चिकित्सा-अनुसन्धान में चतुर्मुखी पद्धति अपनाई जाय।

६. वाङ्मय-अनुसंधान प्रारम्भ किया जाय जिसमें पाण्डुलिपियों का संपादन, पाठ्यग्रन्थों का निर्माण हो। एक अखिल भारतीय पत्रिका का भी प्रकाशन किया जाय।

६. वानस्पतिक सर्वेक्षण की व्यवस्था हो।

७. गुणकर्मात्मक अनुसन्धान के लिए एक दर्जन से अधिक केन्द्र स्थापित किये जायें।

८. केन्द्रीय अनुसन्धानपरिषद् पारंपरिक विशेषताओं यथा पञ्चकर्म, मर्मचिकित्सा, विषचिकित्सा, नेत्ररोग, मानसरोग, योग आदि पर अनुसन्धान की योजना प्रस्तुत करे।

भेषजकल्प

१. भेषज-क्षेत्र (ड्रग फार्म) तथा संग्रहालय स्थापित किये जायें।

२. औषधद्रव्यों के समुचित संग्रह एवं संरक्षण की व्ययस्था हो।

३. कच्ची ओषधियों, निर्माणप्रक्रिया तथा सिद्ध औषधों का मानकीकरण आवश्यक है।

४. भेषजसंहिता का निर्माण हों।

५. सरकार प्राविधिक सलाहकार तथा सलाहकार समितियाँ नियुक्त करें जो इन सिफारिशों को कार्यान्वित करें।

व्यवसाय एवं स्वास्थ्यसेवा

१. प्रत्येक राज्य में स्वतंत्र आयुर्वेद-निदेशालय हों।

२. आयुर्वेदीय स्नातकों को प्राथमिक स्वास्थ्यकेन्द्रों का प्रभारी बनाया जाय।

३. वैद्यों का वेतनक्रम आधुनिक चिकित्सकों के समकक्ष हो।

४. सरकार अधिक संख्या में आयुर्वेदिक अस्पताल और औषधालय राज्य; जिला तथा तहसील स्तरों पर खोले।

५. वैद्यों के लिए रिफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था हो।

६. योग्य स्नातकों पर शल्यकर्म, प्रसूति या न्यायवैद्यक कर्म में कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

७. पारद, वंशलोचन आदि घटक द्रव्यों को सुलभ करने के लिए सरकार व्यवस्था करे।

८. भारतीय चिकित्सापरिषद् शेष राज्यों में स्थापित हों जो व्यवसाय पर नियन्त्रण रक्खें।

९. आयुर्वेदीय चिकित्सकों का निबन्धन सभी राज्यों में पूर्ण रूप से हो। असद्वृत्त की स्थिति में चिकित्सक का नाम सूची से हटा दिया जाय।

१०. आयुर्वेद के आठों अंगों की चिकित्सा को प्रोत्साहित किया जाय और उन्हें स्नातकोत्तर शिक्षण का विषय बनाया जाय।

११. अनुभूत योगों का परीक्षण किया जाय।

१२. अखिल भारतीय स्तर पर वैद्यों का संगठन हो।

१९५९ में केन्द्रीय आयुर्वेद-अनुसन्धान-परिषद् का गठन हुआ। केन्द्र में १९५९ में देशी चिकित्सा के सलाहकार पद पर डा० च० द्वारकानाथ की नियुक्ति हुई। यों अवैतनिक रूप में १९५७ में कविराज प्रतापसिंह इस पद पर नियुक्त हुये थे। भारत सरकार ने देशी चिकित्सा के सम्बन्ध में उडुप कमिटी की सिफारिशों पर ही अमल किया है। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्, स्नातकोत्तर शिक्षण केन्द्रों की स्थापना, भेषजसंहिता, अनुसंधान कार्यक्रम आदि इसी के अनुसार हुये हैं। भारत सरकार ने देशी चिकित्सा को राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का अंगभूत भी मान लिया है। इस प्रकार स्वतन्त्र भारत में अनेक वर्षों बाद आयुर्वेद को राजमान्यता प्राप्त हुई है किन्तु यह किस प्रकार कार्यान्वित होता है इस पर आयुर्वेद का भविष्य निर्भर करता है।

व्यास कमिटी

शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम बनाने तथा अन्य संबद्ध विषयों पर विचार करने के लिए श्री मोहनलाल व्यास, स्वास्थ्य मंत्री, गुजरात की अध्यक्षता में एक कमिटी गठित हुई थी जिसने ऐसा एक पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया।

स्वास्थ्यसेवा

आतुरालय—वैयक्तिक सेवा के अतिरिक्त, लोक की सामूहिक रूप से सेवा के लिए आतुरालयों की स्थापना होती है। सर्वप्रथम आतुरालय कब और कैसा बना कहना कठिन है। बौद्ध विहारों में धर्मसाधना के अतिरिक्त रुग्ण व्यक्तियों की चिकित्सा का भी प्रवन्ध होता था[1]। भगवान् बुद्ध के भक्त और चिकित्सक जीवक का ऐसा ही एक विहार राजगृह में था जिसके भग्नावशेष आज भी उपलब्ध हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में भी भारतीय चिकित्सकों की योग्यता प्रसिद्ध थी। सिकन्दर अपने साथ अनेक चिकित्सकों को ले गया था। अशोक के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसने पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सा की व्यवस्था सारे देश में की। संभवतः सर्वप्रथम आतुरालयों की सार्वजनिक रूप से स्थापना सम्राट् अशोक के द्वारा हुई। चरकसंहिता में आतुरालय का विशद वर्णन मिलता है[2]। सुश्रुतसंहिता में भी व्रणितागार का वर्णन है[3]। सम्भव है, यह अशोककालीन आतुरालयों का ही स्वरूप हो। कनिष्क के काल में राज्य की सीमा बढ़ी और मध्य एशिया होकर चीन तक सम्पर्क हुआ। बौद्ध भिक्षुओं का आवागमन होने लगा। ऐसे ही काल में मध्य एशिया में भी विहार बने होंगे जहाँ रोगियों की चिकित्सा होती होगी। चीनी तुर्किस्तान में प्राप्त ईसा की दूसरी शती में लिखित 'नावनीतक' नामक वैद्यक ग्रन्थ सम्भवतः वहाँ की भेषजसंहिता के समान रहा हो।

ऐसे बिहार राज्य के अतिरिक्त धनी-मानी सेठों और सामन्तों द्वारा भी संचालित होते थे। चीनी यात्री फाहियान, जो पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के राज्यकाल में आया था, ने अपने यात्राविवरण में पाटलिपुत्र में ऐसे अनेक आतुरालयों का वर्णन किया है[4]। पाटलिपुत्र (कुम्रहार) उत्खनन में 'आरोग्य विहार' के प्रमाण भी मिले हैं। ऐसे आतुरालय जनपद के अन्य भागों में भी होंगे। इस प्रकार सारे देश में औषधालयों और आतुरालयों की शृंखला होगी। सिनचिउ

---

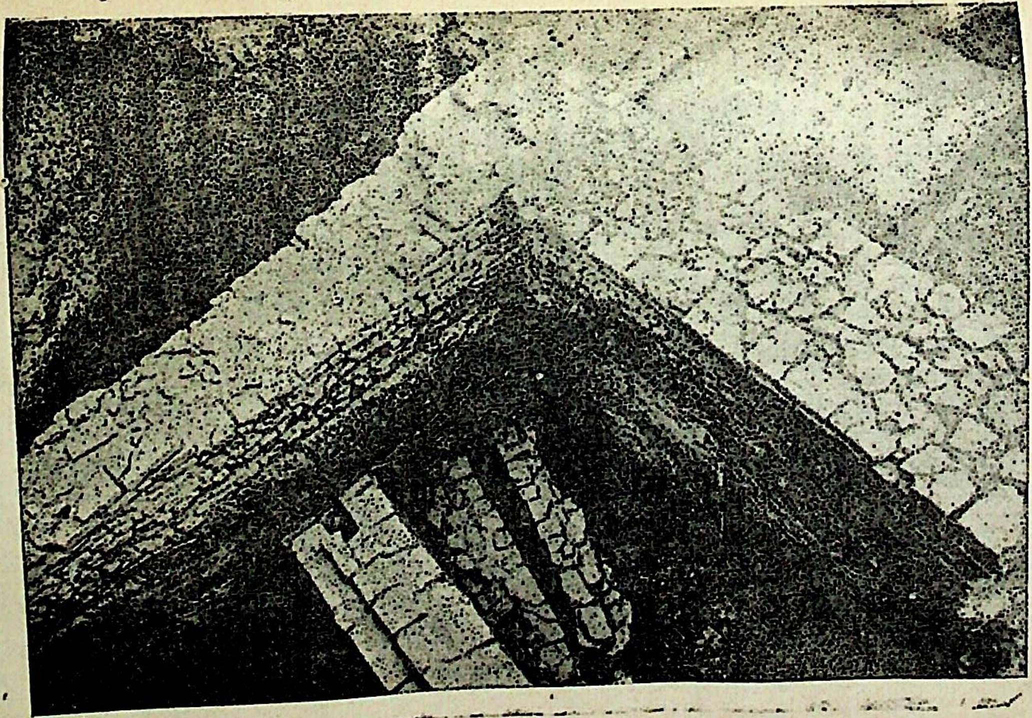
१. भैषज्यदानविधिना प्रीणयन्ति संघम्—रत्नकरण्डकसूत्र १५।८४

२. देखें पृ० ९२

३. सु० सू० १९

४. जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में आतुरालय स्थापित करते हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसन्तान, लूले, लँगड़े और रोगी इस स्थान पर जाते हैं, उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है, वैद्य उनकी चिकित्सा करते हैं, वे अनुकूल पथ्य और औषध पाते हैं, अच्छे होते हैं तब जाते हैं।
—Semuel Beal : Buddhist Records of the Western World, In. T. P. LVII, Ch. XXVII;
'दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि'—मालविकाग्निमित्र, २८७.

चित्र सं० ११



पाटलिपुत्रस्थ आरोग्यविहार का अवशेष (कुम्रहार, पटना)
(पटना संग्रहालय से साभार)

नामक चीनी यात्री चीन देश से पंजाब में आया। इसने अपना नाम चरितवर्मा रक्खा। वहाँ के चिची नामक विहार में रहता था। इसी संघाराम में इसने अपने व्यय से रोगियों के लिए एक गृह बनवाया था[1]। कौटिल्य ने चिकित्सकों का वेतन परम्परा या योग्यता के अनुसार कुशल व्यक्तियों द्वारा निर्धारित करने का विधान किया है। पदाधिकारियों की चार श्रेणियाँ थीं उनमें प्रथम और द्वितीय वर्ग में मन्त्री तथा उच्च प्रशासनिक पदाधिकारी आते थे। तृतीय वर्ग में वैद्य तथा चतुर्थ वर्ग में पुरोहित और ज्योतिषी आते थे। इन चारों वर्गों के कर्मचारियों का वेतन क्रमशः आठ, चार, दो और एक हजार पण वार्षिक था। इससे स्पष्ट है कि ये वेतनभोगी वैद्य संभवतः औषधालयों में कार्य करते थे। यदि इन वैद्यों का वेतन न दिया जाय तो दसवाँ हिस्सा या छः पण दण्ड का विधान है। इससे भी पता चलता है कि राज्य के अतिरिक्त अन्य धनी-मानी सज्जन धर्मार्थ औषधालय चलाते थे।[2] हर्षवर्धन भी बड़ा उदार, दानी और धर्मात्मा था और विहारों तथा मन्दिरों के संचालन के लिए पूरी सहायता करता था।

शक-कुषाणकाल के बाद बौद्ध विहारों के समानान्तर मन्दिरों की स्थापना होने लगी। इनमें सूर्यमन्दिर का महत्त्व चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। जिस प्रकार बौद्ध विहारों में औषधवितरण किया जाता था उसी प्रकार सूर्यमन्दिरों में भी होने लगा। 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' यह नारा बुलन्द हुआ। हर्ष के शासनकाल में जब ह्वेनसांग (६२९–६४५ ई०) नामक चीनी यात्री आया तो उसने मुलतान में एक भव्य सूर्यमन्दिर देखा। यहाँ सोने की रत्नजटित सूर्यमूर्त्ति थी। इसकी अद्‌भुत शक्ति चारो ओर दूर-दूर तक फैली थी और झुंड के झुंड नर-नारी दर्शनार्थ आते थे। राजा और धनी-मानी सज्जनों ने यहाँ धर्मशालायें और औषधालय स्थापित किये थे जहाँ रोगियों को औषध दी जाती थी। आज तक भी यह परम्परा चली आ रही है और कुष्ठ आदि जीर्ण व्याधियों के रोगी सूर्य की आराधना करते हैं, सूर्यषष्ठीव्रत का पालन करते हैं और सूर्यमन्दिरों का आश्रय लेते हैं[3]। सूर्यमन्दिरों के प्रांगण में या आसपास ऐसे रोगियों के निवास की व्यवस्था भी रहती थी। देव (बिहार), कोणार्क (उड़ीसा) आदि के सूर्यमन्दिर प्रसिद्ध हैं। हर्ष का पिता प्रभाकरवर्धन सूर्यभक्त था और उस काल में उज्जयिनी में अनेक सूर्यमन्दिर थे। मध्यकाल में देशी नरेशों ने इन मन्दिरों की शृङ्खला बढ़ाई। इस परंपरा के प्रभाव से मुसलमान भी अछूते न रहे। मुगलसम्राट् अकबर सूर्य का

---

१. यात्राविवरण, फाहियान, पृ० ११६ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वि० सं०, सं० २०१८),

२. अर्थशास्त्र—३।१३।१७; ५।३।७

३. देखें रविकल्प-प्रकरण—अग्निवेश्यगृह्यसूत्र

पूजक था और रविवार को व्रत रहता था। सूर्य-पर्वों—संक्रान्ति, ग्रहण आदि पर प्रभूत दान करता था।

ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन के काल में आरोग्यशालाओं की स्थापना का विवरण दिया है जिनमें योग्य चिकित्सक रहते थे, खानपान का प्रबन्ध रहता था और बिना किसी भेदभाव के रोगियों की चिकित्सा होती थी। स्कन्दपुराण तथा नन्दिपुराण में आरोग्यशाला की स्थापना का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। जैन ग्रन्थ ज्ञातधर्मःकथांगसूत्र में भी चिकित्साशाला का वर्णन है जिसमें अनेक वैद्य पुत्रसहित नियुक्त थे; उन्हें भोजन, निवास और वेतन दिया जाता था।[1]

८वीं शती तक भारत में आतुरालय एवं औषधालय सर्वत्र व्यवस्थित हो गये थे। इनके कार्य से प्रभावित होकर भारतीय वैद्यों को अरब वहाँ के अस्पतालों के संचालन के लिए बुलाया गया। मध्यकाल में मुसलमानी शासकों ने हकीमों को विशेष प्रश्रय राजकार्य में दिया किन्तु जनता में आयुर्वेद ही प्रचलित रहा। अतः लोकप्रिय औषधालयों को राजकीय सहायता मिलती रही और योग्य वैद्य भी संमानित होते रहे। शिवदाससेन का पिता बंगाल के नबाव बार्वक शाह का अन्तरंग था, रामसेन मीरजाफर का राजवैद्य था, वाचस्पति का अग्रज राजशर्मा मुहम्मद तुगलक के साथ था। मुगल सम्राटों के दरबार में भी वैद्य संमान पाते थे।[2] किन्तु अधिकांश औषधालय देशी रियासतों की सहायता से संचालित होते रहे। औषधालयों के संचालन के लिए अनेक दानपत्र के विवरण उपलब्ध होते हैं। दक्षिणभारत में इनकी संख्या अधिक थी। चोल राजा वीर राजेन्द्र देव के शिलालेख (१०६७ ई०) में 'श्री वीर चोलेश्वर आरोग्यशाला' का विवरण मिलता है। इसमें मन्दिर के अतिरिक्त आरोग्यशाला के लिए व्यय की व्यवस्था की गई है। इस आरोग्यशाला में १५ शय्यायें तथा कर्मचारियों में एक चिकित्सक, एक शल्यविद्, दो परिचारक, दो परिचारिकायें, एक द्वारपाल, एक कुम्हार और एक धोबी था। परिचारक जड़ी-बूटियाँ लाकर दवा बनाते थे। परिचारिकायें भोजन बनातीं, रोगियों को भोजन करातीं और दवा पिलाती थीं। कुम्हार उपयोगी बर्तन तैयार करता और धोबी कपड़े धोता था। लंका और थाइलैण्ड में भी ऐसे आतुरालय थे।[3] मलकापुरम् (गुण्टुर) और श्रीरंगम्

---

१. P. M Mehta : Hospitals in Ancient India, सचित्र आयुर्वेद, जून १९६६
२. और देखें :—S. P. Askari : Medicines and Hopitals in Muslim India, J. B. R. S., Patna, 1957, XLIII, PP. 7–12
S. L. Bhatia : Greek Medicine in Asia, Indian Institute of World Culture, Basavangudi, Bangalore, 1958, Page 5
३. वही

में भी ऐसे लेख मिलते हैं।[1] मद्रास इपिग्राफी रिपोर्ट (१९१५) लेख सं० १८२ में एक वैश्य दासा का विवरण है जिसने एक विद्यालय, एक छात्रावास तथा एक अस्पताल स्थापित एवं संचालित करने के लिए दान दिया था। अस्पताल में १५ शय्यायें थीं और कर्मचारियों में एक चिकित्सक, एक शल्यविद्, दो भृत्य, दो परिचारिकायें और एक अन्य भृत्य। इसके अतिरिक्त वहाँ एक भेषजागार भी था। १९१७ के इसी रिपोर्ट में अस्पताल तथा मातृगृह की स्थापना के लिए दान का उल्लेख है।[2]

मध्यकालीन राजाओं के चिकित्सक अन्तरंग कहलाते थे। गौडाधिपति महीपाल प्रथम (९८८–१०३८) के अन्तरंग पद पर गयदास थे। चक्रपाणिदत्त के अग्रज भानुदत्त नयपाल (१०३८-१०५५) के अन्तरंग थे। राजा रामपाल (१०७८-११२०) की राजधानी में एक आरोग्यशाला का उल्लेख है। विजयरक्षित भी आरोग्यशालीय वैद्यपति कहे गये हैं[3]। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि पाल राजाओं के संरक्षण में आरोग्यशालाओं की परंपरा संचालित हो रही थी।

ब्रिटिशकाल में १९२० के आसपास देशी चिकित्सापद्धतियों के उपयोग के सम्बन्ध में जो कमिटियाँ विभिन्न प्रान्तों में बनीं उनकी सिफारिश के अनुसार नगरनिकायों और जिलापरिषदों के अधीन आयुर्वेदिक औषधालय स्थापित होने लगे। बिहार की विधानपरिषद् में १९-७-२१ को इस आशय का एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसके अनुसार सर्वप्रथम औषधालय १९२३ में समस्तीपुर नगरनिकाय में स्थापित हुआ; इसी के बाद क्रमशः पूरे प्रान्त में औषधालय स्थापित हुये। राजकीय औषधालयों की स्थापना १९३५ के बाद ही हुई। उत्तरप्रदेश में १९३९ में १९२ आयुर्वेदिक-यूनानी औषधालयों की स्थापना हुई। अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार आयुर्वेदिक औषधालय खुले। स्वाधीनता के बाद इनकी संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। इन औषधालयों में काम करने वाले वैद्यों का वेतनमान भी बढ़ा। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में औषधालय के वैद्यों का वेतनमान एलोपैथिक डॉक्टरों के समकक्ष कर दिया गया। इस दृष्टि से गुजरात राज्य अग्रणी कहा जा सकता है। राजस्थान और उत्तरप्रदेश में भी औषधालयों की संख्या काफी बढ़ी है। केन्द्रीय

---

१. Lakshmipathi : Ayurveda Siksha, Vol V, Sec I, P. 327

२. R. K. Mookerji : Glimpses of Ancient India, PP. 122–23
डॉ० डी. वी. सुब्बारेड्डी ने इस विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। देखें बुलेटिन ऑफ हिष्ट्री ऑफ मेडिसिन, हैदराबाद, १९४१, ९, पृ. ३८५–४००

३. "कामरूपदेशीयभूपालप्रवेशाय धवलगृहपर्यन्तमुपगम्य आगच्छद्भिरारोग्यशाला-भिषङ् महासत्रमण्डपे''' तिष्ठद्भिः''', रामपालदेवैः"
"इतिश्रीमदारोग्यशालीयवैद्यपतिविरचितो व्याख्यामधुकोषः समाप्तः"
D. C. Bhattacharya : New Light on Vaidyaka literature, I. H. Q., Vol. XXIII, No. I (March 1947)

सरकार की ओर से अनेक विभागों में औषधालय चल रहे हैं। C. G. H. S. योजना के अन्तर्गत सारे देश में आयुर्वेदिक औषधालय स्थापित हुये हैं। सारे देश में इस समय लगभग १४००० औषधालय तथा २१५ आतुरालय हैं। भारत की स्वास्थ्यसेवा की दृष्टि से विभिन्न चिकित्सापद्धतियों के औषधालयों में सामञ्जस्य किस प्रकार स्थापित किया जाय यह भविष्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है।

रोगी-परिचर्या—चरक ने वैद्य के साथ चिकित्सा-चतुष्पाद में परिचारक का उल्लेख किया है[1]। सुश्रुत ने भी ऐसे कर्मचारियों का उल्लेख किया है। प्रश्न है कि प्राचीनकाल में स्त्री परिचारिकाओं की प्रथा थी या नहीं? चरक के काल में नहीं थी ऐसा स्पष्ट कहा जा सकता है क्योंकि 'उपस्थाता' शब्द सदा पुंल्लिङ्ग में ही व्यवहृत है, स्त्रीलिंग में नहीं। सुश्रुत ने भी स्त्रियों का दर्शन, संभाषण आदि रोगियों के लिए दूरतः परिवर्जित बतलाया है[2]। ऐसी स्थिति में उनके काल में भी परिचारिकाओं की कल्पना कैसे की जा सकती है। बच्चों को दूध पिलाने के लिए धात्री का वर्णन इन संहिताओं में अवश्य मिलता है किन्तु वह परिचारिका से भिन्न थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में यन्त्र-शस्त्र और औषध हाथ में लिये चिकित्सक के पीछे खड़ी स्त्रियों का उल्लेख पहली बार हुआ है[3]। संभव है, गुप्तकाल में ऐसी परंपरा चली हो और धीरे-धीरे विकसित होकर अद्यतन नर्स-प्रणाली तक पहुँची हो। संप्रति अनेक राज्यों में कल्पदों और परिचारिकाओं के लिए पाठ्यक्रम विहित है और तदनुसार प्रशिक्षण की व्यवस्था है।

राजसंमानित वैद्य

वैद्यों के द्वारा की जाने वाली लोकसेवा और उसके कारण उनकी प्रसिद्धि से सरकार भी उनकी ओर आकर्षित हुई और उन्हें 'वैद्यरत्न' की उपाधि से संमानित किया। सर्वप्रथम वैद्यरत्न महामहोपाध्याय कविराज द्वारकानाथ सेन हुये। पं० डी० गोपालाचार्लु, कैप्टन जी० श्रीनिवास मूर्त्ति, पं० दुरैस्वामी अयंगार, श्री मांगुनी मिश्र (पुरी), पं० रामप्रसाद शर्मा, कविराज कालिदास सेन, कविराज योगीन्द्रनाथ सेन, पं० रामरतन जी वैद्यराज (स्यालकोट), पं० टी० परमेश्वरन् मूस, पं० व्रजविहारी चतुर्वेदी, पी० एस० वारियर, पं० त्र्यम्बक शास्त्री प्रभृति वैद्य वैद्यरत्न की उपाधि से संमानित किये गये। द्वारकानाथ सेन, विजयरत्न सेन, गणनाथ सेन प्रभृति कुछ वैद्यों ने महामहोपाध्याय की पदवी भी प्राप्त की।

---

१. भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्—च. सू. ९।३

२. सु. सू. १९।१२-१३

स्त्री परिचारिकाओं की उपस्थिति प्रसवकाल में बतलाई गई है—

चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्त्तितनखाः परिचरेयुः

—सु० शा० १०।५

३. अर्थशास्त्र १९।३।२०

चित्र सं० १२



आयुर्वेद महामहोपाध्याय प० शंकरदाजी शास्त्री पदे
निखिल भारतवर्षीय वैद्यसम्मेलन के संस्थापक
(रजतजयन्ती-ग्रन्थ से साभार)

स्वाधीन भारत में पद्मभूषण की उपाधि से पं० सत्यनारायण शास्त्री और पं० शिव शर्मा सम्मानित हुये। कविराज आशुतोष मजुमदार तथा क० न० उडुप पद्मश्री हुये। पहले तीनों राष्ट्रपति के वैयक्तिक चिकित्सक भी रहे।

वैद्य-संगठन

१९वीं शती के अन्त में राष्ट्रीयता की जो लहर देश में उठी उससे आयुर्वेद भी अछूता न रहा। समस्त भारत के वैद्यों को एक मञ्च पर लाकर आयुर्वेदीय पुनरुत्थान के लिए प्रयास करने की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा। यह कार्य किया बम्बई के वैद्य पं० शंकरदाजी शास्त्री पदे ने। इनके नेतृत्व में निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन की स्थापना १९०७ में हुई जिसका प्रथम अधिवेशन नासिक में हुआ। १९०९ ई० में जब पदे जी का स्वर्गवास हो गया तब यह भार आ पड़ा प्रयाग के पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल पर जिन्होंने इसका निर्वाह कुशलतापूर्वक आजीवन किया। थोड़े ही समय में वैद्यों का संगठन भारतव्यापी हो गया और आयुर्वेद के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए प्रयत्न होने लगे। संगठन को दृढ़ बनाने के अतिरिक्त, जनसेवा तथा शास्त्र-चर्चा का भी कार्य इस माध्यम से होता था। सम्मेलन में वैद्यगण अपने-अपने चिकित्सानुभव सुनाते थे, सैद्धान्तिक विचारविमर्श होता था तथा सन्दिग्ध वनौषधियों पर विवेचन होता था। अत्यन्त सद्भावपूर्ण तथा रचनात्मक वातावरण था। स्वाधीनता के बाद शास्त्रीय चर्चा का वातावरण कम हो गया और कुछ विषमता भी उपस्थित हुई किन्तु अब पुनः महासम्मेलन शान्तभाव से चल रहा है। एक त्रुटि अवश्य रही कि पुरानी पीढ़ी के लोग नई पीढ़ी के स्नातकों से समझौता नहीं कर सके फलतः महासम्मेलन के मञ्च पर अभी भी वही व्यक्ति दृष्टिगोचर हो रहे हैं जो चालीस-पचास वर्ष पूर्व थे, नये स्नातक उसमें प्रविष्ट नहीं हो सके। मिश्र पद्धति के नवीन स्नातकों ने अपनी एक पृथक् संस्था 'नेशनल मेडिकल एसोसियेशन' नाम से स्थापित कर ली। इसी प्रकार महासम्मेलन जब शुद्ध आयुर्वेदवाद से ग्रस्त हो गया तब समन्वयवादी वैद्यों ने एक पृथक् संस्था 'सेण्ट्रल कौंसिल ऑफ इण्डियन मेडिसिन' नाम से १४ दिसम्बर १९५२ को स्थापित की जो बाद में 'कौंसिल ऑफ स्टेट बोर्डस ऐण्ड फैकल्टीज' हो गई। इसने मिश्र पाठ्यक्रम का एक प्रारूप प्रस्तुत किया। इसके भी अनेक अधिवेशन अब तक हो चुके हैं। १२वां अधिवेशन १९७१ में नैनीताल में हुआ था। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् की स्थापना के बाद इसका कार्य मन्द हो गया, संभवतः इसका उद्देश्य सिद्ध हो गया। इस प्रकार नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन जो प्रारम्भ में वस्तुतः अखिल भारतीय संघटन था अब वैद्यों के कई वर्गों में विभाजित हो जाने से उसकी वैसी व्यापकता नहीं रही। अब तक के इसके अधिवेशनों का विवरण इस प्रकार है :—

अधिवेशन	वर्ष	अध्यक्ष	स्थान
१	१९०७	श्री कुँवर सूर्यप्रसाद सिंह बहादुर, इलाहाबाद	नासिक
२	१९०८	आयुर्वेदनिधि श्री गंगाधर भट्ट राजवैद्य, जयपुर	पनवेल-कोलाबा
३	१९११	महामहोपाध्याय क० गणनाथ सेन सरस्वती, विद्यासागर, एम० ए०, एल० एम० एस०, कलकत्ता।	इलाहाबाद
४	१९१२	वैद्यरत्न कविराज श्री योगीन्द्रनाथ सेन, एम० ए०, वैद्यभूषण, कलकत्ता	मथुरा
५	१९१३	लेफ्टिनेंट कर्नल, ए० आर० कीर्तिकर, आई० एम० एस०, बम्बई	कलकत्ता
६	१९१४	आयुर्वेदमार्तण्ड श्री पं० लक्ष्मीराम स्वामी, आयुर्वेदाचार्य, जयपुर	मद्रास
७	१९१५	कविराज श्री यामिनीभूषण राय, एम० ए०, एम० बी०, कलकत्ता	पूना
८	१९१६	हिज़ हाइनेस दी महाराजा श्री राम वर्मा, कोचीन	लाहौर
९	१९१८	वैद्यरत्न श्री पं० गोपालाचार्लु,	दिल्ली
१०	१९१९	कविराज श्री उमाचरण भट्टाचार्य, बनारस	इन्दौर
११	१९२०	महामहोपाध्याय क० गणनाथ सेन सरस्वती, विद्यासागर एम० ए०, एल० एम० एस०, कलकत्ता	बम्बई
१२	१९२१	कविराज हाराणचन्द्र चक्रवर्ती, राजशाही (बंगाल)	राजमहेन्द्री
१३	१९२२	श्री पं० कृष्णशास्त्री कवड़े, बी० ए०, पूना	कोलम्बो (लंका)
१४	१९२३	वैद्यरत्न श्री योगेन्द्रनाथ सेन, एम० ए०, वैद्यभूषण, कलकत्ता	हरद्वार
१५	१९२५	आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई	जयपुर
१६	१९२६	महामना श्री पं० मदनमोहन मालवीय, कुलपति और संस्थापक, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	पटना
१७	१९२७	आयुर्वेद-पंचानन श्री पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, प्रयाग	फतेहपुर (शेखावटी)
१८	१९२८	पं० कृष्णशास्त्री देवधर, नासिक	नासिक
१९	१९२९	वैद्यरत्न कैप्टेन जी० श्रीनिवासमूर्ति, बी० ए०, एम० बी० एण्ड सी० एम०, मद्रास	कराची
२०	१९३०	वैद्यरत्न पं० रामप्रसाद शर्मा राजवैद्य, पटियाला	मैसूर
२१	१९३१	महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन, सरस्वती, विद्यासागर, कलकत्ता	ग्वालियर,
२२	१९३२	आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई	

२३	१९३३	श्री डॉ० ए० लक्ष्मीपति, बी० ए० एम० बी० एण्ड सी० एम०, भिषग्रत्न, मद्रास	बीकानेर
२४	१९३४	भिषङ्मणि कविराज प्रताप सिंह, रसायनाचार्य, बनारस	शिकारपुर (सिन्ध)
२५	१९३५	वैद्यशास्त्री प्राणाचार्य श्री नारायणशंकर देवशंकर, अहमदाबाद	बनारस
२६	१९३६	वैद्यभूषण पं० गोवर्धन शर्मा छांगाणी, भिषक्केसरी, नागपुर	अहमदाबाद
२७	१९३७	वैद्यपंचानन श्री पं० गंगाधर शास्त्री पुणे, अहमदाबाद	नागपुर
२८	१९३८	वैद्यरत्न पं० शिवशर्मा आयुर्वेदाचार्य, लाहौर	लाहौर
२९	१९३९	,, ,, ,, ,,	जोधपुर
३०	१९४१	वैद्यरत्न श्री पं० व्रजविहारी चतुर्वेदी, बाँकीपुर, पटना	लखनऊ
३१	१९४२	राजवैद्य पं० जीवराम कालिदास शास्त्री, गोंडल	लाहौर
३२	१९४३	राजवैद्य कविराज मणीन्द्रकुमार मुखोपाध्याय, बी० ए० प्राणाचार्य, कलकत्ता	राजकोट
३३	१९४४	,, ,, ,,	विजयवाड़ा
३४	१९४५	,, ,, ,,	मणिपाल द० कनारा
३५	१९४७	श्री डॉ० ए० लक्ष्मीपति, बी० ए०, एम० बी० एण्ड सी० एम० भिषग्रत्न, मद्रास	सरसोल, और हरद्वार
३६	१९४९	कविराज हरिरंजन मजुमदार, बी० ए०, वाराणसी	बड़ौदा
३७	१९५०	आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य, बम्बई	दिल्ली
३८	१९५२	वैद्यरत्न श्री पं० शिवशर्मा, बम्बई	इन्दौर
३९	१९५४	,, ,, ,,	कोट्टकल
४०	१९५५	,, ,, (अधिवेशनावसर पर)	(द० मलाबार)
		वैद्य श्री वाई. पार्थनारायण पण्डित बैंगलोर अधिवेशनोपरान्त	त्रिवेन्द्रम्
४१	१९५६	श्री वाई पार्थनारायण पण्डित, बैंगलोर	कुरनूर
४२	१९५७	वैद्य श्री अनन्त त्रिपाठी शर्मा, ब्रह्मपुर (उत्कल)	बैंगलोर
४३	१९६१	,, ,, ,,	दिल्ली
४४	१९६५	वैद्यरत्न श्री पं० शिवशर्मा, बम्बई	कानपुर
४५	१९६७	,, ,, (अधिवेशनावसर पर)	मोझरी (अमरावती)
		वैद्यराज श्रीरामनारायण शर्मा शास्त्री, इन्दौर (अधिवेशनोपरान्त)	
४६	१९६९	,, ,, ,,	पटियाला

४७	१९७२	वैद्य श्रीधर्मदत्त	आगरा
४८	१९७५	वैद्य लालचन्द्र प्रार्थी	पाण्डिचेरी
४९	१९७८	वैद्य गोविन्दप्रसाद	शिमला

प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन

नि० भा० वैद्यसम्मेलन की स्थापना १९०७ में होने पर विभिन्न प्रान्तों में भी वैद्यों के संगठन बनने लगे। सर्वप्रथम ऐसा संगठन बिहार में बना। बिहार के यशस्वी चिकित्सक पं० रामावतार मिश्र वैद्यभूषण नि० भा० वैद्य सम्मेलन के पञ्चम अधिवेशन (मथुरा, १९१२) में सम्मिलित हुये थे। वहीं उनके मन में प्रान्तीय सम्मेलन संगठित करने की कल्पना जागी। फलतः ११ मई १९१४ को उन्होंने अपने निवासस्थान (ग्राम मुस्तफापुर, पो० खगौल, जि० पटना) पर बिहार प्रांतीय वैद्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन आयोजित किया जिसकी अध्यक्षता पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ने की।[1] उसका संचालन भी प्रधानमंत्री के रूप में वर्षों तक करते रहे। आपके बाद पं० श्रीकान्त शर्मा[2] इसके प्रधान मन्त्री रहे। पं० व्रजविहारी चतुर्वेदी, पं० शिवचन्द्र मिश्र, क० यतीन्द्रनारायण वन्द्योपाध्याय आदि विद्वानों ने इसके अधिवेशनों की अध्यक्षता की।

गुजरात प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन अहमदाबाद में १९२५ में डॉ० पोपट प्रभुराम की अध्यक्षता में हुआ। युक्तप्रान्तीय वैद्यसम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में मूर्धन्य वैद्य पं० गणेशदत्त त्रिपाठी की अध्यक्षता में कानपुर में १९१८ में हुआ। अगले अधिवेशनों के अध्यक्ष पं० रामनारायण मिश्र, पं० किशोरीदत्त शास्त्री, पं० जगन्नाथ शर्मा बाजपेयी प्रभृति विद्वान हुये। पंजाव प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन लाहौर में १९२८ में पं० रामप्रसाद शर्मा राजवैद्य पटियाला की अध्यक्षता में हुआ। आगामी अधिवेशनों में पं० मस्तराम शास्त्री, पं० ठाकुरदत्त मुलतानी, पं० नरेन्द्रनाथ मित्र, पं० मनोहरलाल जी आदि विद्वान हुये। संप्रति प्रायः सभी प्रदेशों में प्रदेशीय वैद्यसम्मेलन कार्य कर रहे हैं।

संगठन के कर्णधार

पं० शंकरदाजी शास्त्री पदे—आपका जन्म ३० मार्च १८६७ ई० को बम्बई में हुआ। संस्कृत व्याकरण, दर्शन आदि की शिक्षा के बाद भानुवैद्य कुलकर्णी

---

१. इस युग के उत्थान उद्योग में सबसे पहले स्वर्गीय पण्डित रामावतार शर्मा ने कार्यारम्भ किया और प्रान्तीय सम्मेलन का आरंभ अन्य प्रान्तों से पहले किया। स्व० पं० व्रजविहारी चतुर्वेदी का मेरा परिचय पं० रामावतार जी के ही द्वारा प्रथम वैद्यसम्मेलन में हुआ।

—पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, सुधानिधि, वर्ष ३९ अंक १

२. जन्म सं० १९४१; दौलतपुर (गया), अमावा के राजवैद्य, बि० प्रा० वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष (विक्रम, १९३७)

से आयुर्वेद पढ़ा और कर्माभ्यास सीखा। संगठन कार्य में आपकी बड़ी लगन थी। १९०७ में आपने नि० भा० वैद्यसम्मेलन की स्थापना नासिक में की। फिर १९०९ में प्रयाग आकर पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल को भार सौंप कर स्वर्गस्थ हो गये। सं० १९६६ रामनवमी को आपका स्वर्गवास हुआ। सङ्गठन के अतिरिक्त, आयुर्वेद की शिक्षा के लिय आप विद्यालय का सञ्चालन भी करते थे। बम्बई में वैद्य प्रभुराम जी के सहयोग से एक आयुर्वेदविद्यालय स्थापित कराया। पुनः नासिक में एक विद्यालय स्थापित कर उसका सञ्चालनभार पं० लक्ष्मणराव फणशीकर को सौंपा। आयुर्वेदप्रचार के निमित्त राजवैद्य, आर्यभिषक्, सद्वैद्यकौस्तुभ आदि पत्र चलाये। आयुर्वेद के अतिरिक्त, सनातनधर्म, राष्ट्रभाषा और जनसेवा के कार्यों में भी आपकी रुचि थी। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन और विद्यापीठ आपका सर्वोत्तम स्मारक है।

पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल—आपका जन्म फतेहपुर जिले के एकडला ग्राम में सं० १९३६ भाद्रशुक्ल अष्टमी सोमवार को हुआ। आपके पिता पं० गयाप्रसाद शुक्ल तथा पितामह पं० रामकृष्ण शुक्ल थे। आपकी प्रारंभिक शिक्षा मध्यप्रदेश में हुई। १९०१ में आप 'प्रयाग-समाचार' के संपादक होकर आये। यह पत्र राजवैद्य पं० जगन्नाथ शर्मा का था। पुनः 'वेंकटेश्वर-समाचार' के संपादक होकर बम्बई गये, वहाँ श्री शंकरदाजी शास्त्री पदे से सम्पर्क हुआ। 'हिन्दी केसरी' के संपादक होकर नागपुर गये वहाँ भी शंकरदाजी शास्त्री का कार्यालय था। शास्त्री जी के आग्रह से आप पूरे समय के लिए आयुर्वेद में आ गये और प्रयाग को अपना केन्द्र बनाया। १९०९ में यह घटना हुई और उसी वर्ष यह सब भार देकर शास्त्री जी स्वर्गीय हो गये। आयुर्वेदोन्नति का यह भार शुक्ल जी ने कुशलतापूर्वक आजीवन वहन किया। प्रयाग में नि० भा० वैद्यसम्मेलन का तृतीय अधिवेशन आयोजित किया और वैद्यसम्मेलन के प्रधानमंत्री रहे। १९२७ में पटना अधिवेशन के सभापति भी हुये। भारत के वैद्यों को प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन संगठित करने के लिए प्रोत्साहित किया। सं० १९६७ में 'सुधानिधि' मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। आयुर्वेद के प्रचार और वैद्यसम्मेलनों के संगठन में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। १९६७ ई० में आपका देहावसान हुआ।

पं० रामावतार मिश्र वैद्यभूषण—बिहार प्रान्त में आयुर्वेद का पुनरुद्धार तथा वैद्यसमाज को संगठित करने वाले कर्णधारों में आप अग्रगण्य थे। आपका जन्म बिहार प्रान्त के ग्राम मुस्तफापुर (पोस्ट-खगौल, जि० पटना) में एक प्रसिद्ध शाकद्वीपीय ब्राह्मणपरिवार में श्रावणशुक्ल अष्टमी सं० १९३६ को हुआ। आपके पिता ऋषिकल्प पं० प्रभुनाथ मिश्र थे। चिकित्सा आपके कुल की पारंपरिक विद्या थी। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर, आप

इटावा के प्रसिद्ध विद्वान पं० भीमसेन शर्मा के पास गये और उनसे संस्कृत विशेषतः वैदिक वाङ्मय का अध्ययन किया। पुनः मिर्जापुर में पं० घनश्याम मिश्र से व्याकरण की शिक्षा प्राप्त की। आयुर्वेद का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान अपने अग्रज पं० शिवनन्दन मिश्र से प्राप्त किया। कुछ समय तक चिकित्सा करने के बाद विशेष ज्ञान के लिए पं० जगन्नाथ शर्मा राजवैद्य के पास प्रयाग गये। वहाँ से लौटकर १९०१ ई० में घर पर ही चिकित्साकार्य प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में आपकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। नाड़ीज्ञान और चिकित्साकौशल आपका अद्भुत था। बिहार के मूर्धन्य वैद्यों में आपका स्थान था। १९०७ में मथुरा में सम्पन्न नि० भा० वैद्यसम्मेलन के पंचम अधिवेशन में आप सम्मिलित हुये और वहाँ से प्रेरणा प्राप्त कर १९१४ ई० (ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया सं० १९७१) में वि० प्रा० वैद्यसम्मेलन की स्थापना की। इसका प्रथम अधिवेशन वेदरत्न विद्यालय मुस्तफापुर में पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। १९२७ ई० में नि० भा० वैद्यसम्मेलन का जो सप्तदश अधिवेशन पटना में हुआ वह अधिकांश आपके ही प्रयत्नों का फल था। आप उसके स्वागतमन्त्री थे। वैद्यसम्मेलन से मतभद होने पर १९३० में आपने वि० प्रा० आयुर्वेदोपकारिणी महासभा ही स्थापना की जिसके कई अधिवेशन सफलतापूर्वक हुये। आजीवन आप आयुर्वेद और उसके द्वारा जनता की सेवा करते रहे। आपका स्वर्गवास २१ जून १९४७ को हुआ। प्रस्तुत लेखक आपका कनिष्ठ पुत्र है। ज्येष्ठ पुत्र पं० सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' भागलपुर कालेज में संस्कृतविभागाध्यक्ष और फिर बिहार सरकार में राजभाषाविभाग के निदेशक थे (सम्प्रति सेवानिवृत्त)।

पं० शिवशर्मा—आपका जन्म १२ मार्च १९०६ को पटियाला में हुआ। आपके पिता पं० रामप्रसाद शर्मा, पटियाला में राजवैद्य थे। वहीं आपकी आयुर्वेदीय शिक्षा हुई। १९२७-२८ में दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, लाहौर में प्रोफेसर नियुक्त हुये। पाकिस्तान बनने के बाद आप बम्बई आ गए। आप एक सफल चिकित्सक, कुशल वक्ता एवं दक्ष संगठनकर्त्ता हैं। वर्षों से नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन पर आपका प्रभाव है। सरकार की नीतियों को भी आप प्रभावित करते रहे हैं। शुद्ध आयुर्वेद को अग्रसर करने में आपका बड़ा योगदान रहा। सरकार ने वैद्यरत्न और पद्मभूषण की उपाधियों से आपको सम्मानित किया। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के आठ बार अध्यक्ष रह चुके हैं। १९५१ से प्रायः लगातार १९५६ तक आप इसके अध्यक्ष रहे। यही शुद्ध आयुर्वेद के आन्दोलन का प्रौढ़िकाल था। लोकसभा के भी आप सदस्य रह चुके हैं। आयुर्वेदसंबंधी विधेयकों को लोकसभा से पारित कराने में आपका सक्रिय योगदान रहा है। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के अध्यक्ष तथा केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान परिषद् की

वैज्ञानिक सलाहकार समिति के भी अध्यक्ष थे। आपने कई पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें 'सिस्टम ऑफ आयुर्वेद', 'भावप्रकाशनिघटु टीका' आदि प्रमुख हैं। आपका देहावसान बम्बई में २० मई १९८० को हुआ।

कविराज आशुतोष मजुमदार—आपका जन्म वाराणसी में १३ जनवरी १९१६ को हुआ। आपके पिता विख्यात वैद्य कविराज हरिरञ्जन मजुमदार थे। आपने दिल्ली के तिब्बिया एवं आयुर्वेदिक कालेज में आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की और १९३६ में भिषगाचार्य धन्वन्तरि की उपाधि प्राप्त की। अनेक वर्षों तक दिल्ली में अध्यापन किया। अनेक पत्रों का संपादन भी किया। अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के सचिव भी रहे। १९५२ में केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् (अब कौंसिल ऑफ स्टेट बोर्ड्स ऐण्ड फैकल्टीज ऑफ इण्डियन मेडिसिन) की स्थापना की और १९६५ तक उसके सचिव रहे। १९६५ और १९६६ में इसके अध्यक्ष रहे। संप्रति 'एम० एम० एल० सेण्टर फार रूमेटिक डिजीजेज' के मानित निदेशक हैं और केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के उपाध्यक्ष एवं उसकी आयुर्वेद समिति के अध्यक्ष हैं। आप अनेक बार विदेश भी हो आये हैं। दिल्ली के अग्रणी चिकित्सकों में आप हैं। आयुर्वेद समाज के संघटनात्मक पक्ष में आपकी रुचि प्रारम्भ से रही है और इस दिशा में आपका उल्लेखनीय योगदान है।

स्वातन्त्र्योत्तर-काल में आयुर्वेद

स्वातंत्र्य-सूर्योदय के पूर्व जब भारत के आकाश में अरुणिमा फैल रही थी तभी आयुर्वेद के सम्बन्ध में उल्लेखनीय चोपड़ा कमेटी का (डाक्टर रामनाथ चोपड़ा की अध्यक्षता में) गठन भारत सरकार ने किया था। इसकी रिपोर्ट जब प्रकाशित हुई तब तक सूरज निकल चुका था। जनवरी १९४७ में यह समिति गठित हुई और जुलाई १९४८ में इसने प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया। आयुर्वेद को समन्वयात्मक ढंग से विकसित करने का सुझाव उस कमेटी ने दिया तथा गाँवों से लेकर शहरों तक विभिन्न राजकीय स्तरों पर आयुर्वेदीय सेवा की भूमिका प्रस्तुत की। सारे विषय को बड़े ही विद्वत्तापूर्ण तथा प्रभावशाली ढंग से उपस्थित किया गया था। आयुर्वेद के क्षेत्र में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण तथा अनुसंधान की भी अभिसंस्तुति उस कमेटी ने की।

स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान—चोपड़ा कमेटी के सुझावों के अनुसार आयुर्वेद के स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान का वातावरण बनने लगा। इसे ठोस रूप देने के लिए भारत सरकार ने भारतीय चिकित्सा-अनुसंधान-परिषद् के निदेशक डाक्टर सी० जी० पण्डित की अध्यक्षता में समिति गठित की जो पण्डित कमेटी के नाम से प्रसिद्ध है। इसने जामनगर में केन्द्रीय देशी चिकित्सा-अनुसंधान केन्द्र की स्थापना का सुझाव दिया। फलस्वरूप १९५२ में

जामनगर में इस केन्द्र की स्थापना हुई जिसके निदेशक डाक्टर प्राणजीवन मा० मेहता नियुक्त हुए। डाक्टर मेहता पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के पण्डित होने के साथ-साथ आयुर्वेद में भी गहरी रुचि रखते थे और ग्रन्थों का अवलोकन-चिन्तन करके अनुसंधान की समस्याओं पर विचार करते थे। कहना न होगा कि चोपड़ा कमेटी के सुझाव के अनुसार कार्य का आधार समन्वयात्मक था। कार्यकर्ताओं के दो दल थे—एक आयुर्वेदिक तथा दूसरा आधुनिक। आयुर्वेदिक दल में अपनी परम्परा के अनुसार समस्या का आधार एवं निदान-चिकित्सा प्रस्तुत करता था और डाक्टरी दल विविध आधुनिक परीक्षण कर उसका मूल्यांकन करता था। समन्वयात्मक वातावरण होने के कारण उस काल में अनेक डाक्टर आयुर्वेद में दीक्षित हो गये थे जिनमें डाक्टर मेहता, डाक्टर बी० ए० पाठक, डाक्टर डी० ए० बनर्जी आदि प्रमुख थे। डाक्टर पाठक तब तक स्वर्गीय हो चुके थे, तथापि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कालेज की लगभग एक दशक तक अध्यक्षता करने के कारण आपका नाम आयुर्वेद-जगत् में विख्यात हो चुका था। लोगों की ऐसी धारणा है कि यदि वह जीवित रहते तो आगे का इतिहास कुछ और ही होता तथा उपर्युक्त केन्द्र जामनगर में स्थापित न होकर शायद वाराणसी में होता। डाक्टर पाठक का न रहना वाराणसी में आयुर्वेद के भविष्य के लिये घातक सिद्ध हुआ।

किन्तु इन सब महापुरुषों को प्रेरणा एवं दिशा देनेवाला जो विभूतिमान सत्त्व था वह पृष्ठभूमि में कार्यशील था जिसे सभी लोग आचार्य यादवजी विक्रमजी के नाम से जानते हैं और श्रद्धापूर्वक 'आचार्यजी' कहते थे। वस्तुतः यह 'गुरूणां गुरुः' थे। तत्कालीन वातावरण उनसे पूर्णतः प्रभावित था। प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे वह शिक्षण हो या लेखन, शास्त्रचर्चा हो या चिकित्सा, औषधिनिर्माण हो या प्रशासन, उनके आदर्श एवं उदार व्यक्तित्व की छाप थी। शताब्दी के चतुर्थ दशक के बाद जब कविराज गणनाथ सेन रंगमंच से उतर गये तब आयुर्वेद-जगत् का नेतृत्व आचार्यजी ने संभाला। प्राच्य तथा पाश्चात्य चिकित्साशास्त्रों के समन्वय का जो बीज कविराजजी ने लगाया था वह आचार्यजी के वैदुष्य से सिंचित होकर पुष्पित एवं फलित होने लगा। उसी का फल जामनगर का केन्द्रीय अनुसन्धान केन्द्र था।

आयुर्वेद-विटप में दूसरा सुमधुर फल लगा जुलाई १९५६ में जब जामनगर में आयुर्वेद का प्रथम स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्र स्थापित हुआ। इसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि आचार्यजी स्वयं इसके प्राचार्य नियुक्त हुए और बम्बई में अपना सब कुछ त्यागकर जामनगर को अपना साधना-स्थल बनाया। चूँकि यह देश का पहला और अकेला स्नातकोत्तर केन्द्र था, यह स्वाभाविक था कि सारे देश से जिज्ञासु छात्र एवं अध्यापक यहाँ आने लगे। क्रमशः वह आयुर्वेद-तीर्थ के रूप में परिणत हो गया।

स्नातकोत्तर शिक्षण तथा अनुसन्धान का प्रारम्भ स्वातन्त्र्योत्तरकालीन आयुर्वेद की प्रमुख विशेषता रही। इस दृष्टि से १९५० से १९६० तक का काल महत्त्वपूर्ण रहा जिसने इसकी नींव मजबूत की और भविष्य के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

१९५५ में दवे समिति गठित हुई जिसने आयुर्वेदीय शिक्षा आदि के सम्बन्ध में विचार किये। जुलाई १९५८ में देश में आयुर्वेद की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए डाक्टर क० न० उडुप की अध्यक्षता में समिति भारत सरकार द्वारा गठित हुई जिसने सारे देश में घूमकर संस्थाओं का अवलोकन किया और विद्वत्तापूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसने सिफारिस की कि जामनगर के अतिरिक्त वाराणसी, पूना और त्रिवेन्द्रम इन तीन स्थानों में आयुर्वेद के स्नातकोत्तर एवं अनुसन्धान केन्द्र स्थापित हों। इसके अनुसार १९६३ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसन्धान केन्द्र स्थापित हुआ। वस्तुतः यह जामनगर-प्रणाली का ही विकसित रूप था। उडुप-समिति की अभिसंस्तुति के अनुसार केन्द्र में एक केन्द्रीय आयुर्वेदीय अनुसन्धान परिषद् की स्थापना हुई। वाद में यह परिषद् स्वायत्त संस्था के रूप में परिणत हुई जिससे इसके कार्यकलाप का अभूतपूर्व विकास एवं विस्तार हुआ। देश के अनेक भागों में स्नाकोत्तर शिक्षण की व्यवस्था हुई तथा आयुर्वेद के विविध पक्षों पर कार्य करने के उद्देश्य से अनुसन्धान केन्द्रों की स्थापना हुई। सम्प्रति देश भर में ऐसे केन्द्रों की संख्या शताधिक है, जिनमें मुख्यतः द्रव्य-अनुसन्धान, चिकित्सा-अनुसन्धान, तथा वाङ्मयात्मक अनुसन्धान हो रहे हैं। विभिन्न क्षेत्रों में वनौषधियों के सर्वेक्षण का कार्य हो रहा है तथा चिकित्सा-अनुसन्धान के लिए चल इकाइयाँ विभिन्न अंचलों में स्थापित हुई हैं। औषधों के मानकीकरण की दिशा में भी कदम उठाये गये हैं।

शास्त्रचर्चा एवं शास्त्रीय विकास—आचार्य यादवजी के प्रयत्नों से तथा निदेशन में शास्त्रचर्चा का क्रम प्रारम्भ हुआ जिसमें श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक वैद्य रामनारायण शर्मा का बहुमूल्य योगदान रहा। ऐसी अनेक शास्त्रचर्चा-परिषदों के आयोजन आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त, द्रव्यगुण, चिकित्सा आदि विविध पक्षों पर विचारविमर्श के लिए देश के विभिन्न स्थानों में भवन द्वारा किये गये जिनमें आयुर्वेद के प्रमुख विद्वानों ने भाग लिये। यह परिषद् वस्तुतः चरककालीन परिषदों का स्मरण दिलाती है।

आचार्यजी ने देश में जो शास्त्रीय चिन्तन का वातावरण बनाया उससे आयुर्वेद के शास्त्रीय स्वरूप में प्रेरणाप्रद निखार आया। मध्यकाल में आयुर्वेद की जो कला क्षीण हो गयी थी वह उपबृंहित होने लगी और उसका चतुर्दिक विकास होने लगा। आचार्यजी ने स्वयं तो सक्रिय योगदान किया ही, अनेक कल्पनाशील सर्जक प्रवृत्ति के लेखकों को भी क्षेत्र में अवतीर्ण किया जिन्होंने आयुर्वेद वाङ्मय की महती अभिवृद्धि

की। आयुर्वेद के वाङ्मय का ऐसा वैभव कभी देखने में नहीं आया था। इससे एक ओर पाठ्यग्रन्थों का अभाव दूर हुआ तो दूसरी ओर विवेचनात्मक अध्ययन को बल मिला। इसका प्रभाव शास्त्र तक ही सीमित न रहा। शास्त्रचर्चा, स्नातकोत्तर शिक्षण तथा अनुसन्धान के क्रम में जो शास्त्रीय मन्थन हुआ उससे दोष, प्रकृति, अग्नि, स्रोत आदि के विचार पुनरुज्जीवित और प्रकाशमान हुए जिससे चिकित्सा-प्रणाली को भी वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय रूप मिला।

प्रशासन एवं लोकसेवा—स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद केन्द्र तथा विभिन्न राज्यों में आयुर्वेद को निदेशालयों में स्थान मिला। केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय में ऐसी चिकित्सा के लिए परामर्शदाता का एक पद बना। अधिकांश राज्यों में आयुर्वेद के स्वतन्त्र निदेशालय स्थापित हुए। राजस्थान ने आयुर्वेद का एक मन्त्री नियुक्त कर देश में एक नया आदर्श उपस्थित किया तो गुजरात ने आयुर्वेद विश्वविद्यालय की स्थापना कर नवीन कीर्त्तिमान स्थापित किया। गुजरात ने आयुर्वेद की सर्वतोमुखी मर्यादावृद्धि के लिए अप्रतिम पग उठाये।

अनेक पंचवर्षीय योजनाओं में आयुर्वेद के लिए जो धनराशि उपलब्ध हुई उससे आयुर्वेद के कार्यों का विस्तार हुआ तथा वेतनमान आदि में भी वृद्धि हुई। लोकसेवा के कार्यों को विशेष प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप आयुर्वेदीय औषधालयों की संख्या काफी बढ़ी। एलोपैथी के जिन अस्पतालों में डाक्टर नहीं थे उनमें भी वैद्यों को स्थान मिलने लगा। उत्तर प्रदेश में ऐसे सैकड़ों औषधालयों में आयुर्वेदीय स्नातक कार्य कर रहे हैं। इतना होने पर भी वैद्यों और डाक्टरों की मर्यादा में पर्याप्त अन्तर रखा गया। इधर केन्द्रीय सरकार ने वैद्यों और डाक्टरों की स्थिति में समानता लाने का सराहनीय प्रयत्न किया है। सबसे उल्लेखनीय कार्य केन्द्रीय स्तर पर यह हुआ है कि स्वास्थ्य-सेवाओं के लिए आयुर्वेद की भी उपादेयता स्वीकार की गयी और उसे राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवा का अंग माना गया। इसी आधार पर चीन तथा रूस के समान इस देश में ग्रामीण स्तर पर ढाई लाख वैद्यों की प्रशिक्षित सेना का संघटन करने का निर्णय लिया गया था जो कार्यान्वित न हो सका।

स्नातकीय शिक्षण—विगत पाँचवर्षीय योजनाओं में राज्य के अन्तर्गत आयुर्वेदीय महाविद्यालयों का पर्याप्त विकास हुआ। विश्वविद्यालयों से उनका सम्बन्ध होने लगा, भवन-निर्माण में अधिक रकम लगायी गयी, अध्यापकों का वेतनस्तर बढ़ाने की ओर ध्यान कम दिया गया। परिणामतः आज भी आयुर्वेद महाविद्यालयों के अध्यापक हीनता से ग्रस्त निस्तेज दिखाई पड़ते हैं। उत्तर प्रदेश के राजकीय आयुर्वेदिक कालेज के प्रोफेसरों का वह वेतनमान रखा गया है जो अन्य विश्वविद्यालयों में लगभग लेक्चरर का है।

इस क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण घटनायें हुईं जिन्होंने आयुर्वेद के भविष्य को बहुत

दूर तक प्रभावित किया। ये हैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा मद्रास के आयुर्वेद कालेजों का तिरोभाव तथा शुद्ध आयुर्वेद के आन्दोलन का प्रादुर्भाव। ये दोनों वस्तुतः एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। हुआ यह कि आचार्य यादवजी के अन्तिम काल में समन्वय-पद्धति का विरोध प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे शुद्ध आयुर्वेद के आन्दोलन ने जोर पकड़ा। आचार्यजी ने आयुर्वेद-गंगा की धारा को जो दिशा दी थी उसे मोड़ने का प्रयत्न होने लगा। केन्द्र द्वारा व्याससमिति नियुक्त हुई जिसने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम बनाया। उडुप-समिति ने शिक्षा के संबंध में द्वैध विचार उपस्थित किया था उसका भी उपयोग इन लोगों ने किया। मोहनलाल व्यास से गुजरात के स्वास्थ्य मन्त्री के रूप में शुद्ध आयुर्वेद का नेतृत्व किया और राजकीय स्तर पर आयुर्वेद विश्वविद्यालय बनाने में सफल हो गये। एलोपैथी के समकक्ष आयुर्वेद को लाने में भी वह बहुत हद तक सफल हुए। कुछ वर्ष पूर्व जिस प्रकार आचार्य यादवजी वातावरण को प्रभावित कर रहे थे उसी प्रकार इस समय सारे वातावरण को प्रभावित करनेवाला व्यक्तित्व था पण्डित शिवशर्मा। केन्द्रीय सरकार तथा अनेक राज्य सरकारों को भी उन्होंने अपने व्यक्तित्व से प्रभावित किया। कुछ वर्ष पूर्व आयुर्वेदीय शिक्षण तथा व्यवसाय के मानकीकरण के लिये केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-परिषद् की स्थापना हुई। इसके अध्यक्ष भी पण्डित शिव शर्मा थे। राजकीय स्तर पर भी परिषदों आदि की स्थापना में पण्डित शिव शर्मा के तेजस्वी व्यक्तित्व का योगदान ऐतिहासिक है, उसे भुलाया नहीं जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार

विगत शताब्दियों में आधुनिक चिकित्सा के अधिकतम विकास के लिए सारे साधन जुटाने पर भी शासन तथा समाज की सम्भावनायें उससे पूरी नहीं हुईं। उसमें दीक्षित डाक्टर निर्धन एवं ग्रामीण जनता से विमुख रहे तथा धनी एवं नागरिक वर्ग भी एलोपैथिक औषधियों के विषाक्त प्रभाव से त्रस्त हो गया। परिणामतः विश्व-स्वास्थ्यसंघटन ने यह महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया कि पारम्परिक चिकित्सा-पद्धतियों के सक्रिय सहयोग के बिना विकासशील देशों की स्वास्थ्य समस्या का सफल समाधान सम्भव नहीं है। इस ऐतिहासिक निर्णय से सारा तन्त्र ग्रामोन्मुख एवं परम्परोन्मुख हो गया जब कि इसके पूर्व नितान्त विपरीत दिशा में वह जा रहा था। शासनतन्त्र के अतिरिक्त विश्व के प्रबुद्ध एवं जिज्ञासु वर्ग का भी आकर्षण आयुर्वेद के शाश्वत सिद्धान्तों तथा क्रियाक्रमों की ओर हुआ जिससे आयुर्वेद के निमित्त भारत आने वाले विदेशी छात्रों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। इस बढ़ती माँग को देख कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चिकित्सा विज्ञान संस्थान ने एलोपैथिक स्नातकों के लिए एक नवमासीय सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया है।

विगत वर्षों में न केवल विदेशियों से आयुर्वेदाध्यायी विद्वानों की संख्या बढ़ी है अपि तु भारत के वैद्य भी विदेशों की यात्रा में अधिक प्रवृत्त हुये। उक्त अवधि में अनेक वैद्य यूरोप, अमेरिका, रूस, आस्ट्रेलिया, चीन, जापान, थाईलैण्ड, बर्मा आदि देशों में गये और आयुर्वेद पर व्याख्यान दिये। इस प्रकार वर्तमान युग में आयुर्वेद राष्ट्रीय मञ्च से आगे बढ़ कर अन्तर्राष्ट्रीय मञ्च पर पहुँच गया जहाँ से वह पुनः सारे विश्व को अवलोकित एवं आलोकित कर रहा है।

अक्टूबर १९७५ में सिनोल (कोरिया) में सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यचिकित्सा-सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन से इसका द्वार उद्घाटित हुआ और सितम्बर १९७९ में कैनबरा (आस्ट्रेलिया) में आयुर्वेद तथा अन्य पारम्परिक चिकित्सापद्धतियों के एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना से इस प्रक्रिया को और बल एवं वेग प्राप्त हुआ।

भविष्य

जहाँ तक आयुर्वेद की उपयोगिता का प्रश्न है, यह भारतीय स्वास्थ्यसेवा का अंग स्वीकृत किया जा चुका है और यह निर्विवाद है कि भारत की यदि कोई राष्ट्रीय चिकित्सापद्धति विकसित होगी तो आयुर्वेद का उसमें प्रमुख भाग होगा। आयुर्वेद के बिना भारतीय स्वास्थ्य-सेवा की कल्पना नहीं की जा सकती। यह शुभ लक्षण है कि विश्व-स्वास्थ्य-संगठन भी इसका अनुभव एवं समर्थन अब करने लगा है।

आधुनिक चिकित्साविज्ञान की अद्भुत प्रगति के बावजूद आयुर्वेद का स्थान इस देश में अक्षुण्ण है, आज भी बहुसंख्यक रोगी आधुनिक औषधों की विषाक्तता तथा निदानपद्धति की जटिलता से त्रस्त होकर आयुर्वेद की शरण में आकर शान्ति पाते हैं। भारतीय जनता आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त का पालन कर जितना स्वस्थ रह सकती है उतना कृत्रिम उपायों के अवलम्बन से नहीं।

वस्तुतः महाकवि कालिदास का 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' यह आदर्श ही भारतीय संस्कृति का आधार रहा है। आयुर्वेद का भी आदर्श उसके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। प्राचीन और नवीन के समुचित समन्वय से ही आयुर्वेद की वास्तविक प्रगति सम्भव है।

भारत ही नहीं, समस्त विश्व को आयुर्वेद से सुख-शान्ति प्राप्त होगी।

नवम अध्याय

सार्वभौम आयुर्वेद

विश्व की प्राचीन चिकित्सापद्धतियाँ

आयुर्वेद के सार्वभौम स्वरूप को समझने के पूर्व विश्व की प्राचीन चिकित्सा-पद्धतियों पर विचार करना आवश्यक है। भारत के समान चीन, सुमेर, बैबिलोन, असीरिया, मिस्र आदि देशों में प्राचीन काल में चिकित्सापद्धतियों के अस्तित्व का संकेत मिलता है। आधुनिक चिकित्सासंबंधी इतिहास के ग्रन्थों में भारतीय आयुर्वेद की उपेक्षा कर अन्य देशों की चिकित्सापद्धतियों की प्राचीनता प्रदर्शित की जाती है। अतः सत्य की खोज के लिए इनका विशद विश्लेषण आवश्यक है जिससे भारतीय आयुर्वेद और इनका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके[1]।

आदिम युग—नवपाषाण-युग० (लगभग ६००० ई० पू०) में आदिम मानव अपने तथा अपने साथियों के रोगनिवारण के लिए विविध उपचार काम में लाता था। कपालवेधन (Trephination) किया जाता था। यह क्रिया प्रारम्भ में आथर्वणों द्वारा सम्भवतः शिर के भीतर स्थित शूलजनक भूतों को बाहर निकालने के लिए किया जाता था। बाद में यह एक विशिष्ट शल्यकर्म बना। बुद्धकाल में जीवक भी इस शस्त्रकर्म में निपुण था। पशुपक्षियों के क्रियाकलाप देखकर उनसे अनेक

१. विस्तृत विवरण के लिए निम्नांकित ग्रन्थ देखें :—

Jurgen Thorwald : Science and Secrets of Early Medicine, New york, 1963

Roberto Margotta : The Story of Medicine, New york, 1967

John A. Hayward : the Romance of Medicine, London, 1945 (2nd ed)

Singer and Underwood : A Short History of Medicine, Oxford, 1962 (2nd ed)

Henry E. Sigerist : A History of Medicine, Oxford, 1961 (Vol II)

उपचारों का ज्ञान प्राप्त किया था। सम्भवतः हिपोपोटेमस प्राणी का अनुकरण कर रक्तमोक्षण की विधि प्रारंभ की हो। यह प्राणी शरीर में भारीपन होने पर कुशाग्र तृण से जानु के पास सिरा को विद्ध कर रक्त निकाल देता था और रक्त निकल जाने पर कीचड़ में पैर डाल देता था जिससे रक्तस्राव रुक जाता था।

सुमेर—सुमेर या मेसोपोटामिया की सभ्यता प्राचीनतम मानी जाती है। सर लियोनार्ड वुले १९२९ में उर नामक स्थान पर खुदाई कर इस सभ्यता को प्रकाश में लाये जो ४००० ई० पू० की कही जाती है। अतः चिकित्सा की दृष्टि से भी यह आदिम मानी जाती है।

सुमेरी चिकित्सापद्धति ज्योतिष पर आधारित थी। वहाँ के निवासी नक्षत्रों का प्रभाव ऋतुओं पर तथा ऋतुओं का शरीर पर देखते थे। इस प्रकार शरीरगत परिवर्तनों का सम्बन्ध परंपरया नक्षत्रों से स्थापित किया गया। आगे चलकर ग्रहस्थिति के आधार पर मनुष्य का भाग्यफल भी कहा जाने लगा।

वहाँ वैद्यकविद्या पुरोहितों के हाथ में थी। सुमेर में पुस्तकाकार मृत्तिकाफलकों पर विशिष्ट लिपि में ज्ञान लेखबद्ध किया जाता था। चिकित्सा के ग्रन्थ भी ऐसे ही फलकों पर लिखे गये थे जो बड़ी संख्या में पाये गये हैं। पुस्तकालयों में इन फलकों का संग्रह किया जाता था।

इनमें उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर रक्त जीवन का आधार तथा यकृत् उसका तथा प्राण का अधिष्ठान माना जाता था। यकृत् का इतना महत्त्व था कि रोग की साध्यासाध्यता की परीक्षा पशुओं के यकृत् की स्थिति देख कर (Hepatoscopy) उसके आधार पर की जाती थी। यकृत् के आधार पर ही शुभ एवं अशुभ शकुनों का निर्णय किया जाता था। साध्यासाध्यता एवं अरिष्टविज्ञान में स्वप्नों का भी विशेष महत्त्व था क्योंकि उनका विश्वास था कि स्वप्नों का सम्बन्ध रक्त की स्थिति से है अतः स्वप्न रक्त फलतः प्राण की स्थिति का बोध कराते हैं। साधारण जन जो पशुओं की बलि की व्यवस्था में असमर्थ थे उनके लिए तैलबिन्दु परीक्षा थी। पानी के ऊपर तैल की एक बूंद डाली जाती थी यदि वह डूब कर फिर उतरा जाती तो असाध्यतासूचक और यदि वह पूर्वदिशा में जाकर मुद्रिकाकार रचना बनाती तो साध्यतासूचक होती। इस प्रकार का दैवज्ञकर्म बारू नामक पुरोहित करते थे जो अरिष्टज्ञान में अत्यन्त कुशल होते थे। कुछ अशिपु नामक पुरोहित थे जो आथर्वण क्रियायें करते थे। युक्तिव्यपाश्रयी चिकित्सक 'असु' कहलाते थे।

मेसोपोटामिया में अत्यन्त प्राचीनकाल से चिकित्सा का सम्बन्ध नाग से जोड़ा जाता है। वह आख्यान इस प्रकार है कि गिलगमेश का एक मित्र एनकिदु देवताओं के शापवश मरने को था। इसके निवारण के लिए गिलगमेश ने संजीवनी की खोज में समुद्र में गोता लगाया और ओषधि लेकर अपने स्थान को लौटा। रास्ते में तीक्ष्ण

धूप से व्याकुल होकर ओषधि को तालाव के किनारे रख कर नहाने लगा। इसी बीच एक नाग आकर उसे खा गया। खाते ही साँप की पुरानी केंचुल निकल गई और वह युवा होकर दौड़ने लगा। उधर गिल्गमेश संजीवनी ओषधि खो जाने से मृत्यु का निवारण नहीं कर सका। इसी कारण मनुष्य रोगपीड़ित होकर मरता है और इसके निवारण के लिए संजीवनीयुक्त नाग की प्रार्थना करता है। तभी से नाग आयुर्विज्ञान का प्रतीक बना[1]।

२३५० ई० पू० में अक्कद के सर्गन ने सुमेर जीत लिया और अपनी राजधानी अक्कद में बनाई। ये सूर्यदेव 'शमश' और चन्द्रदेव 'सिन' की पूजा करते थे[2]। सुमेरियन इनाना के समान उनकी आराध्य देवी इशतार थी।

२०० वर्षों के बाद अक्कदी साम्राज्य समाप्त हो गया और सुमेरियन साम्राज्य का पुनरुत्थान २०६५ से १९५५ ई० पू० तक हुआ।

बाबुल (बैबिलोन)—सुमेर-सभ्यता २००० ई० पू० के लगभग क्षीण होने लगी और बाबुल का प्रभुत्व बढ़ने लगा। बाबुल युफ्रेट्स नदी के तट पर एक साधारण नगर था जहाँ हम्मूराबी वंश ने अपने साम्राज्य की नींव डाली। इस वंश के छठे प्रतापी राजा हम्मूराबी (१७९८-१६८६ ई० पू०) ने अपने साम्राज्य का विस्तार असुर तक किया। अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ जहाँ नगरदेवता मर्दुक की पूजा होती थी। ये विद्या और सभ्यता के केन्द्र भी थे। इसी काल में 'गिल्गमेश' महाकाव्य की रचना हुई जिसने शतियों तक सभ्यता को प्रभावित किया। सुमेर के समान अब बाबुल का नाम चतुर्दिक् फैल गया और इसके वैभव और ज्ञान से आकृष्ट होकर लोग यहाँ आने लगे। असुर राजा तिगलत पिलसर प्रथम (१११६-१०७८ ई० पू०) ने बाबुल को जीतकर अपने अधीन कर लिया।

बाबुल सभ्यता में देवी-देवताओं की संख्या में वृद्धि हुई। चन्द्रमा ओषधीश माने जाते थे[3] तथा राक्षसों को नष्ट करने में समर्थ थे। बाद में मर्दुक रोगनाशक देवता माने जाने लगे और चिकित्सा के अधिपति हुये। कुछ समय बाद विशेषज्ञता का

---

१. भारत में भी नाग का सम्बन्ध सामान्यतः विद्या और विशेषतः चिकित्सा से रहा है। पतञ्जलि नाग के अवतार कहे जाते हैं और पतञ्जलि तथा चरक अभिन्न माने जाते हैं। अभी भी नागपञ्चमी का पर्व भारत में धूमधाम से मनाया जाता है। काशी में पतञ्जलि-जयन्ती के रूप में इसे मनाते हैं।

२. सूर्य और चन्द्र की पूजा ऋग्वेद के काल से भारत में चली आ रही है। आरोग्य से सूर्य का विशेष संबन्ध स्थापित किया गया है और चन्द्रमा 'ओषधीश' माने गये हैं।

३. आयुर्वेद में भी चन्द्रमा ओषधीश माने जाते हैं।

प्रारंभ हुआ और आठ अंगों के आठ देवता माने गये[1] जिनकी अधिष्ठात्री निन्युरसाग थी। अनेक राक्षसों की कल्पना की गई थी जो भूमि, जल और वायु में निवास करते थे। जिन पुरुषों का मृत्यूत्तर संस्कार नहीं होता था वे भी भूतयोनि में चले जाते थे। भूत-प्रेत और राक्षसों में अत्यधिक विश्वास था। राक्षसों का देवता नरगल था जो अनेक रोगजनक राक्षसों से सेवित था। अक्साक्सुजु कामला का और असुक्कु राजयक्ष्मा का जनक था। बाबुली चिकित्सा में संख्या का विचार विशेषरूप से होता था।[2]

इन रोगों के अतिरिक्त, ज्वर, मूर्च्छा, प्लेग, कुष्ठ, आमवात, रतिज रोग, हृद्रोग तथा नेत्र, कर्ण और त्वचा के रोगों का भी उन्हें ज्ञान था। चिकित्सा मुख्यतः दैवव्यपाश्रय थी जो पुरोहितों के हाथ में थी किन्तु शल्यचिकित्सा पर राज्य का नियंत्रण था। हम्मूराबी (१९४८-१९०५ ई० पू०) ने शल्यकर्म में असावधानी के लिए चिकित्सक के लिए दण्ड का विधान किया था।[3] यदि शस्त्रकर्म के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती या आँख खराब हो जाती तो चिकित्सक के हाथ काट लिये जाते। किन्तु यदि वह अपने कर्म में सफल होता तो रोगी अपनी स्थिति के अनुसार उसे पुरस्कार देता। सम्भवतः व्रण, अस्थिभग्न, अश्मरी आदि में शस्त्रकर्म होते थे। लिंगनाश का भी शस्त्रकर्म होता था[4]। वैद्य की फीस भी नियत कर दी गई थी।

बाबुल के चिकित्सक वनस्पतियों के फल, फूल, पत्ती, छाल और जड़ का प्रयोग करते थे। कमल और जैतून का प्रयोग अधिक था। इसके अतिरिक्त जान्तव द्रव्यों का भी प्रयोग होता था जिनमें विभिन्न प्राणियों के अंग तथा मूत्र-पुरीष आदि प्रमुख थे। खनिज द्रव्यों में लौह, ताम्र और अलुमुनियम का प्रयोग था। बाबुली चिकित्सकों का नाम दूर-दूर तक फैला था। ये मिस्र तक जाते थे। वे लगभग २५० वनस्पतियों और १२० खनिज द्रव्यों का प्रयोग करते थे।[5]

असुर—असुर-साम्राज्य लगभग १२वीं शती ई० पू० में प्रकाश में आया। असुर बनियाल (६६८-६२६ ई० पू०) इसका सबसे प्रतापी सम्राट् हुआ। इसकी राजधानी निनेवे में सबसे बड़ा पुस्तकालय था जिसमें बीस हजार फलक सुरक्षित

---

१. तु० अष्टांग आयुर्वेद।
२. आयुर्वेदीय संप्राप्ति में संख्या सर्वप्रथम है—संख्याविकल्पाप्राधान्यबलकालविशेषतः। सा भिद्यते।
३. सुश्रुत में भी राजा की अनुज्ञा लेकर ही शस्त्रकर्म में प्रवृत्त होने का विधान है। मिथ्याचरण के लिए दण्ड का विधान स्मृतियों में भी है।
४. ये शस्त्रकर्म सुश्रुत में भी हैं।
५. इसमें अनेक भारतीय औषधद्रव्य हैं।

रूप में प्राप्त हुये हैं। ५३६ ई० पू० में असुर साम्राज्य फारस साम्राज्य में विलीन हो गया।

आसुरी चिकित्सा पद्धति में भी यद्यपि जादू-टोने की प्रमुखता थी तथापि चिकित्सक अनेक औषधों का प्रयोग वटी, चूर्ण, बस्ति एवं वर्त्ति के रूप में करते थे। चिकित्सक अपने पास एक थैला रखते थे जिसमें औषधियाँ, मलहम-पट्टी तथा यन्त्र-शस्त्र होते थे। चिकित्सक अपने अनुभवों को मृत्फलक पर लिपिबद्ध कर देते थे जिसमें रोग के लक्षणों एवं चिकित्सा का विवरण होता था। ऐसे ही एक फलक पर राजयक्ष्मा के लक्षणों का विशद वर्णन है।

असुर सम्राट् असरद्दन (६८०–६६६ ई० पू०) ने अपनी नई राजधानी निनेवे और असुर के बीच काला में बनाई। यह बड़ा शक्तिशाली सम्राट् था जिसने मिस्र का भी कुछ भाग छीन लिया था। इसका चिकित्सक अरदनाना था जिसने उसे आमवात की कठिन पीड़ा से मुक्त किया था। अरदनाना राजधानी में नहीं रहता था अतः बीच-बीच में राजा को देखने आता तथा व्यवस्था के लिए समुचित निर्देश लिख देता। ये निर्देश मृत्फलकों पर लिपिबद्ध हैं तथा असुर बनिपाल के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इनसे तत्कालीन चिकित्सा की स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उसने इस रोग में मधुयष्टी[1] का प्रयोग किया था, साथ-साथ स्नेहन-स्वेदन लेप भी चलता था। शोथ का संबंध उसने दाँत से स्थापित किया था और दाँत उखड़वाने की सलाह दी थी। असरद्दन की माँ ने अरदनाना के अतिरिक्त नबू नासीर को भी अपना चिकित्सक नियुक्त किया था। इसने असरद्दन के दो लड़कों को भी रोगमुक्त किया था।

निनेवे की खुदाई में अनेक यन्त्र-शस्त्र निकले हैं, कपालभेदन का शस्त्र भी मिला है जिससे शल्यकर्म होने का संकेत मिलता है।

फिरंगरोग का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता किन्तु पूयमेह का वर्णन मृत्फलक में लिपिबद्ध मिलता है। टॉमसन ने अनेक दशकों तक परिश्रम कर असीरियन चिकित्साग्रन्थों पर प्रकाश डाला है जिसमें ६६० मृत्फलकों का अनुवाद भी है। १९२४ में उसने 'असीरियन हर्बल' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें तत्स्थानीय औषधद्रव्यों का उल्लेख है जिनकी संख्या लगभग २५० है। इनमें अहिफेन (?), पारसीक यवानी, माई, कमल, वेतस, शहतूत, बोल, मुस्तक, कुङ्कुम, वन्ययवानी, हपुषा, इन्द्रायण, रसोन, पलाण्डु, मन्द्रागोरा, कृष्णजीरक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त जान्तव तथा खनिज द्रव्यों का भी प्रयोग होता था। इनमें स्फटिका, गंधक,

१. मधुयष्टी का प्रयोग आयुर्वेद में चिरकाल से है।

ताम्र, लवण आदि प्रमुख थे। ऐट्रोपा वेलाडोना तथा भाँग का[1] भी प्रयोग होता था। अधिकांश द्रव्य मिस्रदेशीय भेषजसंहिता के थे। दासों और वन्दियों पर नई औषधों का परीक्षण किया जाता था। टॉमसन ने अनेक व्यवस्थापत्रों पर भी प्रकाश डाला है यथा अश्मरी में चूना, सोरा और तारपीन तैल का प्रयोग; न्यूमोनिया में तीसी से स्वेदन, शूल में मधुयष्टी।

मिस्र—लगभग ३००० ई० पू० से मिस्र की सभ्यता के प्रमाण मिलते हैं। जोसर नामक राजा की मूर्त्ति मिली है जो लगभग २७७३ ई० पू० में मेम्फिस में गद्दी पर बैठा। भौगोलिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर अत्यन्त प्राचीन काल में ही मिस्रदेशवासियों ने कलेण्डर, अंकगणित, ज्यामिति, सिंचाई, लेखनकला और कागज का आविष्कार कर लिया था। वे लोग उस देश में होनेवाले पैपिरस रीड (वंशजातीय वनस्पति) के तने से कागज वनाते थे और इसी पर पुस्तक लिखते थे। उन्हीं की लिपि विकसित होते होते आधुनिक अंग्रेजी लिपि में परिणत हुई है। कागज के लिए प्रचलित 'पेपर' शब्द भी 'पैपिरस' से ही निष्पन्न है। इस प्रकार आधुनिक सभ्यता पर मिस्र की गहरी छाप स्पष्ट है।

मिस्र के राजा देवतुल्य समझे जाते थे। उनका विश्वास था कि मृत्यु के वाद भी उनकी शक्ति वनी रहती है और किसी अनुकूल स्थिति में शरीर के साथ पुनः संयुक्त हो सकती है। इस कारण पुरोहितों की सलाह पर लेपन (Embalming) की पद्धति से शव को सुरक्षित रखने की परम्परा चल पड़ी। शव को कब्र में रखकर उसके ऊपर स्तूप वना दिये जाते थे। राजा के साथ दास-दासियाँ भी दफना दी जाती थीं तथा और भी सब सामान रख दिये जाते थे जिससे ये सब पुनर्जाग्रत होने पर उसे प्राप्त हो सकें। धीरे-धीरे राजा के साथ देवत्व की भावना समाप्त हो गई और उपर्युक्त सुविधा अन्य सभी लोगों को प्राप्त होने लगी। पुरोहितों का प्राधान्य भी बढ़ने लगा। राजा अखेनेतन (१३७२-१३५४ ई० पू०) ने बहुदेववाद के स्थान पर एक देव सूर्य की पूजा प्रचलित की। अन्य मन्दिरों को वन्द करा दिया। उसने एक नई राजधानी (अखेत-अतन) बना कर सूर्यदेव को समर्पित की। किन्तु यह उसकी मृत्यु के बाद ही समाप्त हो गया। लोग रे (रवि), ओसिरिस, इसिस, थौट, अमन आदि देवों की पूजा करने लगे। अमन और रे का संयुक्त रूप 'अमन-रे' १५०० ई० पू० के लगभग मिस्र का सर्वाधिक शक्तिशाली देवता था। इसके साथ-साथ पुरोहितों का महत्त्व भी समाज में बढ़ता गया।

हेरोडोटस (४५० ई० पू०) ने सर्वप्रथम मिस्र की चिकित्सापद्धति के विषय में जानकारी दी। उसने लिखा है कि मिस्र में एक-एक रोग की चिकित्सा करने वाले

१. मिस्र देश में इसके प्रयोग का प्रमाण नहीं मिला। असुरदेश में इसका नाम 'कूनवु' था जो 'कैनविस' शब्द का मूल है।

चिकित्सक हैं अतः देश चिकित्सकों से भरा है। कोई आँख का इलाज करता है तो कोई दाँत का[1]। हेरोडोटस मिस्री चिकित्सा के अन्तिम काल का चित्रण कर रहा है अतः यह कहना कठिन है कि पूर्वकाल में ऐसी ही स्थिति थी या भिन्न ? एक कब्र (२७२३-२५६३ ई० पू०) में आइरी नामक राजवैद्य का उल्लेख एक पाषाणखण्ड पर मिला है जो आँख और उदर का विशिष्ट चिकित्सक था। इसी प्रकार सेखतेन-आंख नामक चिकित्सक राजा सहूरे (२५५० ई० पू०) का नासावैद्य था।

ऐसा संकेत मिलता है कि मिस्र के मन्दिरों में चिकित्साशास्त्र का शिक्षण होता था जहाँ चिकित्सा के साथ-साथ शल्य की भी शिक्षा दी जाती थी।

लेपनपद्धति के द्वारा शव को सुरक्षित रखने का काम विशेषज्ञ पुरोहितों द्वारा किया जाता था। कोमल अंग स्रोतों द्वारा तथा छेदन कर निकाल लिये जाते थे। फिर प्रक्षालन और धूपन के बाद शव के चारों ओर कपड़ा लपेट दिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि यह पद्धति हजारों वर्ष के प्रयोग एवं परीक्षण के बाद विकसित हुई होगी। इस कार्य में लगे लोगों को शारीरशास्त्र का भी ज्ञान हो जाता था। शुष्क शवों (Mummies) की क्ष-किरण आदि विविध परीक्षाओं से उनमें विद्यमान अनेक रोगों का पता लगा है। इस क्रम में आमवात, दन्तरोग, शीतला, क्रिमि, प्लेग, न्यूमोनिया, राजयक्ष्मा, यकृद्दाल्युदर, महास्रोतोगत रोग, वातरक्त, धमनीकाठिन्य, विबन्ध, पोलियोमाइलाइटिस, अपेण्डिसाइटिस, गलगण्ड, अस्थ्यर्बुद आदि रोगों की जानकारी प्राप्त हुई है।

पैपिरस (एबर्स पैपिरस, बर्लिन पैपिरस और लन्दन पैपिरस आदि) जिसका काल लगभग १५०० ई० पू० माना जाता है, तत्कालीन चिकित्सा की स्थिति को जानने का प्रामाणिक साधन है। इसमें दैवव्यपाश्रय चिकित्सा की प्रधानता है। राक्षसों और देवताओं पर प्रबल विश्वास था। रे (रवि) सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक माने जाते थे। दैवव्यपाश्रय विधियों के साथ-साथ अनेक औषधों का भी उल्लेख किया गया है। स्मिथ पैपिरस में शिश्नचर्म के छेदन (Circumcision) का विधान है जो आज तक कुछ संप्रदायों में चला आ रहा है। भग्नसंधान, उदरपाटन आदि भी किये जाते थे[2]। व्रण को संक्रमण और शोथ से बचाने के लिए भी उपाय काम में लाये जाते थे। हृदय और धमनी की परीक्षा की जाती थी, नाडीपरीक्षण[3] भी था।

पैपिरस में अनेक औषधों का भी उल्लेख है जिससे तत्कालीन प्रचलित औषध-द्रव्यों का ज्ञान होता है। इनमें हाऊबेर, इन्द्रायण, अनार, अलसी, सौंफ, इलायची,

---

१. आयुर्वेद में भी विशेषज्ञता के आधार पर अनेक संप्रदाय थे।
२. सुश्रुत में भग्नसंधान एवं उदरपाटन का वर्णन है।
३. आयुर्वेद में नाडीपरीक्षण पहले नहीं था।

कृष्णजीरक, रसोन, सरल, सनाय, एरण्ड, वनयवानी, अजमोदा, माई, कमल, कु आदि प्रमुख हैं। मक्षिकाविट् का भी प्रयोग है[1]। अहिफेन, पारसीक यवानी, मन्द्रा-गोरा (लक्ष्मणा ?), धत्तूर का भी व्यवहार होता था। खनिज द्रव्यों में अञ्जन, सिन्दूर, तुत्थ, मैगनीशियम, ऐण्टीमनी, गन्धक, सोरा प्रमुख थे। जो द्रव्य मिस्र में उपलब्ध न थे वे बाहर से मँगाये जाते थे। एण्टीमनी दक्षिण पूर्वी अफ्रीका से आता था। खर्गा ओयसिस और लेक चाद जिले के मध्यवर्त्ती रेगिस्तानी क्षेत्र से पीत गैरिक, बबूलगोंद तथा अमीमेजस प्राप्त होते थे। दक्षिणवर्त्ती इथियोपिया के क्षेत्र से फिटकिरी, सोडा, बोल आदि आते थे। नुबिया से कुन्दुरु और लाल चन्दन आते थे। किन्तु अनेक महत्त्वपूर्ण द्रव्य मिस्र के मन्दिरों में और चिकित्सकों के पास भारत चीन और लंका से आते थे, इनमें दालचीनी, पीपर और सोंठ प्रमुख हैं। अरब रेगिस्तान के दक्षिण पश्चिमी भाग (साबा) के निवासी औषधों के व्यवसाय में पूरी तरह से लगे थे। उन्होंने कुछ सिंचाई की व्यवस्था कर शल्लकी, बोल, तुरुष्क आदि सुगन्धित द्रव्यों के वृक्ष लगाये थे। मिस्र में इन गंधद्रव्यों को माँग बहुत थी अतः वहाँ के मन्दिरों और महलों में इनकी आपूर्त्ति इन व्यापारियों द्वारा की जाती थी। १२०० ई० पू० के लगभग केवल एक मन्दिर में २१८९ घड़ा और ३०४,०९३ बुशल धूप जलाया गया। इन धूपों और गंधद्रव्यों की तलाश में साबी व्यापारी समुद्रमार्ग से भारत तक पहुँचे। भारत की ओर से भी जहाज फारस की खाड़ी में पहुँचने लगे जो अन्य सामग्रियों के अतिरिक्त औषधद्रव्य भूमध्यसागरवर्त्ती क्षेत्र में पहुँचाते थे। मिस्रवासी २५०० ई० पू० के लगभग जहाज के द्वारा दक्षिणपूर्वी अफ्रीका तथा भूमध्यसागरीय क्षेत्र में पहुँचने लगे थे। उन्हें आइबेरियन टिन तथा इंजियन ताम्र की खोज थी। कुंकुम (केशर) क्रीट से मिस्र में आता था। वहीं से मेंहदी भी आती थी।

लगभग १४वीं शती ई० पू० में पुटी नामक एक राजचिकित्सक था जो अनेक वानस्पतिक, खनिज तथा अन्य द्रव्यों का प्रयोग औषध में करता था।

शवच्छेद की प्रथा नहीं थी किन्तु पशुओं की बलि तथा शवों की लेपनप्रक्रिया के क्रम में शरीर का ज्ञान हो जाता था। सारे शरीर में वे स्रोतों की स्थिति मानते थे जिनका सम्बन्ध हृदय से था। स्रोतों को 'पेतु' कहते थे। इन स्रोतों में अवरोध होने से तथा वहेदु (आमविष) के प्रविष्ट होने से रोगों की उत्पत्ति मानी जाती थी[2]। मिस्री वैद्यों ने बस्तिकर्म आइबिस नामक पक्षी में सीखा। इस पक्षी की चोंच लंबी नलिकाकार होती है जिसे गुदा में प्रविष्ट कर वह मल का शोधन करता है।

---

१. तु०—'छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्ठा मक्षिकैव तु वामयेत्'—च० चि० ३०।३२६

२. देखें चरकसंहिता का स्रोतोविज्ञान-प्रकरण (वि० अ० ५)

इस प्रकार चिकित्सा में दोषों के निर्हरण तथा रक्तमोक्षण का महत्त्व बढ़ा[1]। जलौका द्वारा रक्तनिर्हरण का सर्वप्रथम उल्लेख १३१ ई० पू० के लगभग एक यूनानी ने किया है।

शुष्क शवों में अर्धावभेदक, मलेरिया, हर्निया, प्लेग, कुष्ठ के प्रमाण मिले हैं। फिरंग का संकेत नहीं मिलता किन्तु पूयमेह था। औषधों में मूत्र, पुरीष, मिट्टी, पित्त, यकृत् आदि का भी प्रयोग था[2]। हिरोडोटस ने मूली, लशुन और प्याज के सेवन का उल्लेख किया है।

मिस्रवासियों को प्राकृत प्रसव में गर्भ के आसन एवं स्थिति का ज्ञान था। मिस्री स्त्रियाँ उत्कटुकासन में प्रसव करती थीं। गर्भनिरोधक योगों का भी व्यवहार प्रचलित था। इसके लिए बबूलपुष्प, खजूर और मधु के साथ पीसकर कपड़े में वर्त्ति बना कर योनि में रखने का विधान था। ऐसे और भी योग थे। गर्भिणी को पुरुष सन्तान होगी या स्त्री इसके लिए उसके मूत्र के द्वारा परीक्षा की जाती थी। एक कपड़े के थैले में गेहूँ और यव रख दिये जाते थे जिस पर गर्भिणी नित्य मूत्रत्याग करती थी। यदि पहले गेहूँ अंकुरित होता तो पुत्र और यदि यव अंकुरित होता तो पुत्री के आगमन की सूचना होती।

औषधप्रयोग के अतिरिक्त रोगी देवपूजन भी करते थे। राजाओं ने मन्दिरों और पुरोहितों को समय-समय पर प्रभूत धन दिया। रोगी जब यहाँ देवाराधन के लिए आते तो स्वभावतः कुछ चढ़ाते किन्तु धीरे-धीरे पुरोहितों में व्यावसायिक प्रवृत्ति बढ़ने से अधिक अर्थदोहन होने लगा। इन्हीं मन्दिरों की शैली पर बाद में यूनान में इस्कुलेपियस के मन्दिर बने जहाँ रोगी उपचार के लिए पहुँचते थे। मिस्र की चिकित्सा पर धार्मिकता का गहरा प्रभाव था। चिकित्सा से सम्बद्ध अनेक देवता थे। मुख्य देवता 'तौट' (त्वष्टा ?) था। आइसिस आश्चर्यजनक उपचारों की देवी थी। उसने अपने पुत्र होरस को शिक्षित किया। एक देवता 'इम्होटेप' (अंशुदेव ?) ऐतिहासिक पुरुष माने जाते हैं जो लगभग २७०० ई० पू० में हुये और राजा जोसर के राजवैद्य थे। कालान्तर में इन्हें देवत्व की उपलब्धि हुई[4]।

---

१. आयुर्वेद में बहुत पहले से 'बस्तिर्वातहराणाम्' करके बस्ति तथा अन्य संशोधन कर्मों का महत्त्व स्वीकृत है। रक्तमोक्षण भी धान्वन्तर संप्रदाय में होता आ रहा है।

२. इनका प्रयोग आयुर्वेद में भी है।

३. आयुर्वेद में भी ज्वर आदि रोगों में विष्णु, शिव आदि देवताओं की पूजा तथा विष्णुसहस्रनाम आदि स्तोत्रों के जप का विधान है।

४. तु०—काशिराज धन्वन्तरि।

मेक्सिको—यहाँ ऐजटक और मय सभ्यताओं के अवशेष मिले हैं जिनके आधार पर इनकी प्राचीनता का पता चलता है। मेक्सिको में नरबलि की प्रथा थी। वहाँ पर बड़े-बड़े पिरामिड और मन्दिर थे। अनेक नगर भी बसे थे। श्लीपद, शोष, फिरंग आदि रोगों के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। उदरपाटन (Caesarian Section) भी प्रचलित था। डा० निकोलस मोनार्डिस ने मेक्सिको की चिकित्सा-पद्धति पर अनेक दशकों तक अध्ययन कर १५६५ ई० में एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें सैकड़ों द्रव्यों का वर्णन है। उनमें अनेक पर उसने स्वयं प्रयोग किया और उन्हें सफल पाया। राजकीय स्पेनी चिकित्सक डा० हर्नाण्डीज ने इससे भी अधिक कार्य किया। राजादेश से उसने एक विशाल ग्रन्थ लिखा जिसमें १२०० द्रव्यों तथा अनेक औषधयोगों का विवरण है जो ऐजटेक परंपरा में प्रयुक्त होते थे। यह रचना १६२८ ई० में संक्षिप्त रूप में प्रकाशित हुई। मेक्सिको में प्रयुक्त औषधियों में सार्सापरिला, पियोट, नैनाकैट्ल (छत्रकविशेष), कोलोरीन (रक्तशिम्बीबीज), कैमोटल, तम्बाकू, रबर, कोको आदि प्रमुख हैं।

पेरू—यहाँ अनेक मन्दिर और धर्मशालायें थीं। इनके राजाओं ने नगरों, नहरों, सड़कों और मंदिरों का निर्माण कराया था। रज्जुग्रन्थियों के सहारे वे गिनती गिनते थे और बातों को स्मृति में सुरक्षित रखते थे। लेक टिटिकाका के दक्षिण में १३००० फीट की ऊँचाई पर सूर्यद्वार निकला है। कुछ अन्य प्रमाण भी मिले हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि पेरूवासी नक्षत्रविद्या में रुचि रखते थे। पिरामिड के भी कुछ अवशेष मिले हैं जो सूर्य और चन्द्र को समर्पित थे। इन सब तथ्यों से वहाँ सूर्यपूजा के अस्तित्व का अनुमान होता है। रोगों में, वहाँ मलेरिया, आमवात, अतिसार, वातरक्त, कुष्ठ, शोथ, वातविकार आदि के प्रमाण मिलते हैं। पाप के कारण रोगों की उत्पत्ति मानी जाती थी[1]। अतः उपचार में प्रार्थना, बलि, प्रायश्चित आदि का अवलम्बन किया जाता था। नरबलि भी थी किन्तु मेक्सिको से कम। धनी लोग पुत्र के स्थान पर उसकी स्वर्णप्रतिकृति बनाकर बलि करते थे। पुरोहित रोग की साध्यासाध्यता बतलाता था जिसमें स्वप्नों का भी आधार लिया जाता था[2]। फिर भी जादू-टोने के साथ-साथ औषधचिकित्सा भी थी। चिकित्सक 'सर्काक' कहलाते थे। ये अत्यन्त कुशलतापूर्वक जनता की सेवा करते थे। जब स्पेननिवासी १६वीं शती में पेरू पहुँचे तब इनकी कुशलता देखकर अपने देश के सम्राट् को लिखा कि यहाँ स्पेनी डाक्टरों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि एतद्देशीय चिकित्सक उनसे अच्छा कार्य कर रहे हैं। इनके साम्राज्य में राज्य द्वारा नियुक्त औषधसंग्राहक थे। कुछ भ्रमणशील भिषक् भी थे जो आवश्यक औषधें लेकर घूमते थे। इनकी औषधियों में

१. आयुर्वेद में भी कुष्ठ आदि रोग पापज माने जाते हैं।
२. आयुर्वेद में भी इसका वर्णन है।

संशोधन, स्तम्भन के अतिरिक्त, कृमिघ्न और मूत्रल भी थे। कच्चे मक्के के बालों का प्रयोग बस्तिरोगों में मूत्रल कर्म के लिए होता था। पपीता, गन्धक, तूतिया का प्रयोग चर्मरोगों में था। विषाक्त आर्सेनिक सलफाइड (शंखिया) का भी व्यवहार होता था। कोका (कोकेन का स्रोत) का पौधा वहीं होता था। वे शल्यकर्म भी करते थे। रक्तस्राव रोकने के लिए अग्निकर्म का प्रयोग करते थे। विकृत अंग को काट कर निकाल भी देते थे। कपालवेधन के प्रमाण भी मिले हैं। मिस्र के समान पेरू में भी शुष्क शव मिले हैं जिन पर रोगों का अध्ययन किया गया है।

चीन—प्राचीन चीन का इतिहास पंचनृपों से प्रारम्भ होता है जिनका काल २८५२–२२०५ ई० पू० माना जाता है। शांग राजाओं (१७६६-११२२ ई० पू०) के काल में पर्याप्त प्रगति हुई। उन्हीं के काल में चीन का प्रथम नगर अनयांग बसा; अनेक महल बने, उद्योग-धन्धे तथा सभ्यता-संस्कृति का विकास हुआ। वे अनेक देवताओं की पूजा करते थे जिनमें शांग ती (प्रजापति) प्रमुख थे। उनका विश्वास था कि शांग ती ने शी (देवी) के साथ मिलकर सृष्टि की रचना की। राक्षसों में भी उनका विश्वास था। पितरों की भी पूजा वे करते थे। विश्वशक्ति के दो भाग माने जाते हैं यिन (प्रकृति) और यांग (पुरुष) जिनसे सारे पिण्ड और ब्रह्माण्ड का सञ्चालन होता है। शांग के बाद चाऊ साम्राज्य २२१ ई० पू० तक रहा। इसी अवधि में कन्फ्युशियस (५५१–५७९ ई०) हुये जो लगभग भारत में बुद्ध के समकालीन थे। कन्फ्युशियस ने नैतिक आचारपद्धति पर बल दिया। हान साम्राज्य (२०६ ई० पू० से २२० ई०) से चीन के प्राचीन काल का अन्त होता है।

चीन के जीवन में जादू-टोने और अन्धविश्वास का अस्तित्व होने पर भी चिकित्साशास्त्र पर्याप्त समुन्नत एवं तार्किक धरातल पर आसीन रहा है। १५९७ ई० में चीन में एक ग्रन्थ (पेन साओ कांग मु) छपा है जिसमें चीन के परम्परागत औषधों का विवरण है। ग्रन्थ ५२ खण्डों में पूर्ण है और इसमें १८९२ द्रव्य और योग हैं। यह ग्रन्थ सम्भवतः चाऊ काल में विरचित हुआ था। इसका एक खण्ड 'शेन नंग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार हुआंग ती के नाम से भी एक ग्रन्थ है जो राजा और मन्त्री के प्रश्नोत्तर के रूप में है और जिसमें शरीरक्रिया, निदान एवं चिकित्सा का विवरण है। २री शती ई० पू० में शांग पुरोहित मृत व्यक्तियों की अस्थि पर भी देवताओं को सम्बोधित कर आत्मा की शान्ति के लिए कुछ लिखते थे। इन पुरोहितों ने अनेक रोगों का ज्ञान प्राप्त किया था जिनमें मलेरिया, यक्ष्मा, कुष्ठ, टायफायड, विसूचिका और प्लेग प्रमुख थे।

चिकित्सक राजदरबार से भी संबद्ध थे। सर्वप्रथम चाऊ साम्राज्य में राज-चिकित्सकों तथा भेषज-अधिकारियों के होने का उल्लेख मिलता है। हान काल में ताइ-लिंग मुख्य चिकित्सक था। इसे वेतन के रूप में चावल की एक नियत मात्रा

(६००–१००० आर) वर्ष में दी जाती थी। जो चिकित्सक असफल होते थे उन्हें दण्डित किया जाता था।

शवच्छेद प्राचीन काल में नहीं होता था (११४५ ई० के पूर्व शवच्छेद का संकेत नहीं मिलता)। अतः शरीररचना का ज्ञान स्थूल तक ही सीमित था किन्तु शरीरक्रिया पर पर्याप्त चिन्तन हुआ था। चूँकि सृष्टि पाँच तत्त्वों[1] से बनी है अतः शरीर के भी प्रमुख पाँच अंग हैं—हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, यकृत् और प्लीहा जिनके सहायक अंग हैं स्थूलान्त्र, क्षुद्रान्त, पित्ताशय, आमाशय और बस्ति। विभिन्न अंगों में पञ्चतत्त्वों का न्यूनाधिक्य रहता है यथा वृक्क में जलतत्त्व प्रधान है तो हृदय में अग्नितत्त्व। प्रत्येक अंग का सम्बन्ध विशिष्ट ऋतु तथा नक्षत्र से है। प्राण (Tao) की पुं (यांग) एवं स्त्री (यिन) शक्तियों का सन्तुलन वैषम्य होने से रोग उत्पन्न होते हैं। यिन और यांग के आधार पर अंगों का भी विभाजन है यथा पृष्ठ यांग है और आमाशय, पित्ताशय, आन्त्र और बस्ति यिन हैं।

पिन-चिओ (५वीं शती ई० पू०) ने एक ग्रन्थ लिखा था जिसमें तत्कालीन चिकित्सापद्धति का चित्रण है। रोगनिदान में नाड़ीपरीक्षा की जाती थी।[2] मणिबन्ध के अतिरिक्त, शिर और पैर की नाड़ियाँ भी देखी जाती थीं। नाड़ीपरीक्षा से रोगों के अतिरिक्त, पुरुष की आभ्यन्तर स्थिति का परिज्ञान होता था। इसी प्रकार चिकित्सा में एक्युपंक्चर (सूचीवेध) का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से होता आ रहा है।

चीन के औषधद्रव्यों में सोम (इफेड्रा) का प्रयोग कास-श्वास में, डाइक्रोआ फेब्रिफ्युज का मलेरिया में, चालमोगरा तैल[3] का कुष्ठ में, रक्त और यकृत् का पाण्डु में, जिन-सेंग (लक्ष्मणा ?) का रसायन में प्रचलित था। पारद का प्रयोग व्रणों में २००० ई० पू० में प्रारम्भ हो गया था। गंधक का रक्तशोधन के लिए तथा तुत्थ का नेत्ररोगों में प्रयोग होता था। शीतला के लिए छापने की प्रथा तो नहीं थी किन्तु शीतला के विस्फोटकों के सूखने पर उनके चूर्ण का नस्य दिया जाता था।[4]

३री शती के पूर्व चीन में शल्यकर्म का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता[5]। हुआ-तो (१९०–२६५ ई०) नामक सर्जन का उल्लेख मिलता है जिसने साओ-साओ नामक राजकुमार के शिरःशूल को कपालभेदन के द्वारा अच्छा करना चाहा

१. Wood, Fire, Earth, Metal, Water.
२. आयुर्वेद में नाड़ीपरीक्षा का प्रचलन मध्यकाल में हुआ। इत्सिंग (७वीं शती) के काल में यह नहीं था (देखें उसका यात्राविवरण)।
३. तुवरक का विशद वर्णन नैमित्तिक कल्प के रूप में सुश्रुत में है।
४. इसका वर्णन आयुर्वेद में नहीं है।
५. आयुर्वेद में शल्यतन्त्र अत्यन्त प्राचीन है।

था किन्तु अविश्वास के कारण यह काम बीच में ही रुक गया और उसे प्राणदण्ड दे दिया गया। संभवतः यह शल्यविद् भारत से बौद्ध भिक्षुओं के साथ आया था।

प्राचीन फारस—छठी शती ई० पू० में फारस एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उदित हुआ जिसका साम्राज्य यूनान और मिस्र से सिन्ध तक फैला था। साइरस ५२९ ई० पू० में मर गया, उसके बाद उसके उत्तराधिकारी कैम्बिसस द्वितीय तथा दारा ने इसे आगे बढ़ाया, किन्तु यह साम्राज्य दो शतियों से अधिक न ठहर सका। सिकन्दर ने इसे ध्वस्त कर दिया।

छठी शती के पूर्व फारस के निवासी प्राकृतिक देवताओं की पूजा करते थे। मागी उनके पुरोहित थे। देवताओं में मित्र (सूर्य) प्रमुख थे[1]। पशुओं की बलि देवताओं को चढ़ाई जाती थी। शवों को खुले मैदान में छोड़ देते थे, गाड़ते नहीं थे। छठी शती में जरथुस्त्र नामक एक सन्त हुये जिन्होंने एक नये रूपान्तरित धर्म का प्रचार किया। पारम्परिक देवताओं के वह विरोधी थे। वह क्रान्तिकारी विचार के थे और निम्न वर्ग के उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहते थे। सम्राट् दारा जब इस धर्म में दीक्षित हुआ तब से इसमें विशेष प्रगति आई और लोक में इसका प्रसार हुआ।

इस नये धर्म के सूत्र अवेस्ता में संगृहीत हैं। इसका एक भाग विदेववाद (वैद्यवाद) कहलाता है जिसमें स्वस्थवृत्त-सम्बन्धी विचार तथा चिकित्सकों और उनके शिक्षण एवं व्यवसाय के सम्बन्ध में सूचनायें दी गई हैं। इसकी रचना २५० ई० पूर्व और २२४ ई० के बीच हुई। वह स्मृति के समान है जिसमें विधि, निषेध और दण्ड के विधान हैं। इसमें स्वच्छता पर विशेष बल दिया गया है, अशौच में संस्कारों का विधान है।[2]

फारस के सम्राटों के दरबार में मिस्री चिकित्सक भी रहते थे क्योंकि फारसी चिकित्सक अधिकांश दैवव्यपाश्रय चिकित्सा ही करते थे। यह कार्य पुरोहित करते थे जिनकी शिक्षा मन्दिरों में होती थी। तीन प्रकार के चिकित्सक होते थे :—

१. शल्यविद्, २. भेषजविद् और ३. मन्त्रविद्। इस प्रकार का विभाजन प्रायः सभी प्राचीन चिकित्सापद्धतियों में मिलता है।[3] चिकित्सा के लिए कोई अनुज्ञापत्र का प्रावधान नहीं था, जो चाहे चिकित्सक बन सकता था किन्तु शस्त्रकर्म के लिए

---

१. कुछ विद्वान् कहते हैं कि ये मागी पुराणोक्त 'मग' (शाकद्वीपीय ब्राह्मण) हैं जो सूर्यपूजक होते हैं। वराहमिहिर ने भी मगों का उल्लेख किया है।

२. भारतीय धर्मसूत्रों का इस पर प्रभाव स्पष्ट है।

३. इन तीन वर्गों के चिकित्सक भारत में भी थे। शल्यविद् और भेषजविद् क्रमशः धान्वन्तर और आत्रेय संप्रदायों में आते हैं। मन्त्रविद् दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करते थे और विशेषतः अगदतन्त्र और भूतविद्या से संबद्ध थे।

अनुज्ञा लेनी पड़ती थी।[1] दुर्जनों पर शस्त्रकर्म करने पर यदि तीन बार लगातार असफलता मिले तो सज्जनों पर शस्त्रकर्म का अवसर उसे नहीं दिया जाता था। यदि वह तीनों बार सफल होता तभी उसे अनुज्ञा मिलती थी। चिकित्सक घूम-घूम कर जनसेवा करते थे। चिकित्सकों की फीस भी नियत थी। पशु-चिकित्सकों का भी उल्लेख मिलता है। रोगों में चर्मरोग, कुष्ठ, ज्वर, मानसरोग, अपस्मार आदि का मुख्यतः उल्लेख है। चिकित्सा के विकास में प्राचीन फारस का कोई विशेष योगदान नहीं रहा।

यूनान—यूनान के निवासी स्वस्थ एवं बलिष्ठ होते थे। ये मेसोपोटामिया के तूफानों और मिस्र के जलप्लावन से बचे थे। समुद्रवर्त्ती होने के कारण इनका साहस और कुतूहल अदम्य रहा जिससे इनका सम्पर्क सारे विश्व से हो गया।

क्रीट मिस्र और मेसोपोटामिया के समान २००० ई० पू० के लगभग अपनी चरम उन्नति पर पहुँचा था। यह पूर्णतः सुरक्षित स्थान था और यहाँ के निवासी युद्ध की अशान्ति से व्यग्र न होकर आमोद-प्रमोद में अपना समय व्यतीत करते थे। ये न भूतप्रेतों से डरते थे और न देवताओं से अभिभूत थे। माइसिनियन युग जो १६००-१२०० ई० पू० तक रहा वस्तुतः क्रीट की सभ्यता से ही प्रभावित था। १२००-६०० ई० पू० में बार्बरिक युग आया जब यूनानियों ने फिनिशियन वर्णमाला को लेखन में अपनाया। होमर (८शती ई० पू०) ने अपने काव्य, इलियड और ओदिसी में तत्कालीन वातावरण का कुछ चित्रण किया है जिससे चिकित्सा पर धार्मिकता की छाप स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है। देवता क्रुद्ध होकर दण्डस्वरूप रोग से पीड़ित करते हैं अतः पूजा-अर्चना द्वारा उन्हें प्रसन्न करना उपचार के लिए आवश्यक था। मंत्रों के द्वारा रोगनिवारण की पद्धति भी थी। रक्तस्राव को रोकने के लिए मंत्रविधान यूरोप से भारत तक पाया जाता है। अतः यह अत्यन्त प्राचीन विधि रही होगी। मणियों और यन्त्रों का धारण भी प्रचलित था। निमित्त और शकुन पर भी लोगों का विश्वास था[2]। फिर भी जादू-टोने का प्रयोग कम ही था।

शरीर के विभिन्न अवयवों में लगे क्षत के वर्णनक्रम में अनेक शारीर अवयवों के नाम परिगणित हुये हैं। मर्मस्थानों का भी निर्देश है "जहाँ आघात लगने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है[3]। क्षतों की चिकित्सा शल्यनिर्हरण, प्रक्षालन तथा औषधप्रयोग द्वारा की जाती थी। ऐस्क्लपियस के पुत्र, मकाओन और पोदेलिरियस

---

१. सुश्रुत संहिता में स्पष्ट उल्लेख है कि राजानुज्ञात होने पर ही व्यवसाय में प्रवृत्त होना चाहिए।

२. यह सब उपाय आयुर्वेद में भी प्रचलित रहे हैं।

३. देखें चरकसंहिता के त्रिमर्मीयचिकित्सा और त्रिमर्मीयसिद्धिप्रकरण तथा सुश्रुतसंहिता का मर्मविवरण (शा० अ० ६)।

शल्यचिकित्सा में निपुण थे। ये जलौकाप्रयोग में भी शिक्षित थे[1]। युद्ध में ये सैनिकों की चिकित्सा-सहायता करते थे। चिकित्सकों की संख्या सम्भवतः अधिक नहीं थी और वे घूम-घूम कर लोगों की सेवा करते थे। परिचारिकायें रोगियों की परिचर्या करती थीं[2]।

शरीरक्रिया की व्याख्या पिण्डब्रह्माण्डन्याय के आधार पर की जाती थी। ब्रह्माण्ड के धारण के लिए जैसे वायु, अन्न और जल (रस) है वैसे ही पुरुषशरीर का धारण भी इनसे होता है[3]।

यूनान में भी चिकित्सा पर धर्म का प्रभाव पड़ा और ऐस्क्लिपियस-सम्प्रदाय अपने मंदिरों का निर्माण करने लगा जिनमें रोगियों की चिकित्सा होती थी और चिकित्सकों को शिक्षा भी दी जाती थी। सम्भवतः इन मन्दिरों के पुजारी चिकित्सक भी होते थे[4]। संगीत और कविता का प्रयोग भी रोगोपचार में किया जाता था[5]। देवताओं में ऐस्क्लिपियस के अतिरिक्त, पियोन, हिफिस्टस आदि प्रमुख थे। कैस्टर और पोलुक्स, जियस और लेदा के युग्मपुत्र थे जो श्वेत घोड़ों पर सवार होकर आर्त्त पुरुषों की रक्षा में व्यस्त रहते थे। वैदिक अश्विनौ से इनकी तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार देवियाँ स्त्रियों की रक्षा करती थीं। इनमें हिरा, इलीथिया, आर्टिमिस, ऐथिना, हाइजिया प्रमुख हैं[6]। यूनान में वीरों और अर्धदेवों की भी पूजा प्रचलित थी। ऐस्क्लिपियस सम्प्रदाय का प्रभाव कोस द्वीप में विलम्ब से पहुँचा। हिपोक्रेटिस के समय वहाँ कोई ऐसा मन्दिर न था और वह क्षेत्र युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के लिए प्रख्यात था। लगभग ४थी ई० पू० में वहाँ इस सम्प्रदाय का प्रभाव जमा। उस समय इपिडोरस, कॉस और परगेमम ऐस्क्लिपियस-सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र थे। २९१ ई० पू० में इसका प्रवेश रोम में हुआ। ये केन्द्र वस्तुतः भारत के तीर्थों के समान थे जो शान्त, प्राकृतिक स्थलों में बनाये जाते थे जहाँ

---

१. जलौकाप्रयोग सुश्रुत में भी है।

२. चरक सुश्रुत में स्त्री परिचारिकाओं का उल्लेख नहीं है, कौटिल्य में सर्वप्रथम मिलता है।

३. तु०—'पुरुषोऽयं लोकसंमितः'—च० शा० ५।३

४. बौद्धविहारों में रोगीपरिचर्या होती थी और सम्भवतः भिक्षुओं को चिकित्सा की शिक्षा भी दी जाती थी। बाद में सूर्य के मन्दिरों एवं मठों में चिकित्सा और शिक्षा की व्यवस्था हुई।

५. चरक ने आतुरालय में गीतवादित्रकुशलों की नियुक्ति का विधान किया है। (च० सू० १५।७)

६. आयुर्वेद में इतनी देवियाँ नहीं थीं। इस दृष्टि से आयुर्वेदीय चिकित्सा अधिक वैज्ञानिक तथा धार्मिकता से कम दबी थी।

पर्वतमालायें, झरने, तालाब, वनस्पतियाँ आदि होती थीं। यहाँ कुछ दिन रह कर लोग स्वास्थ्यलाभ करते थे। इन स्थानों की सफाई पर पूरा ध्यान रखा जाता था। राजाओं की सहायता तथा रोगियों और भक्तों के चढ़ावे से इनका सञ्चालन होता था। इन केन्द्रों में अनेक रोगियों के चमत्कारिक उपचार का उल्लेख मिलता है। इन केन्द्रों में मन्दिरों से लगे आवासगृह होते थे जहाँ रोगी रहते थे।[1] ये आधुनिक अस्पतालों के प्राचीन रूप हैं।

हिपोक्रेटिस के समय में (५वीं शती ई० पू०) चिकित्सा की शिक्षा कुलक्रमागत थी जो मौखिक और व्यावहारिक विधियों से पिता पुत्र को तथा गुरु शिष्य[2] को देता था। चिकित्सक घूम-घूम कर रोगियों की सेवा करते थे[3]। होमर और हिपोक्रेटिस के बीच के काल में क्या स्थिति थी इस पर विचार करना आवश्यक है जिससे युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा की पृष्ठभूमि का ज्ञान हो सके। वस्तुतः छठी शती ई० पू० में चिकित्सा को दार्शनिक आधार मिला और वह वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित हुई। प्रायः सारा वाङ्मय आयोनियन ग्रीकों द्वारा प्रस्तुत हुआ जो एशिया माइनर के किनारे प्राच्य संस्कृति के सम्पर्क में थे। मिलेटस यूनानी दर्शन का प्रमुख केन्द्र था जहाँ टेल्स, अनाक्सिमेण्डर और अनाक्सिमिनस जैसे उच्च कोटि के दार्शनिक हुये जिन्होंने भूगोल, ज्योतिष और सृष्टिविज्ञान पर अपने महान् विचार दिये। टेल्स ५८५ ई० पू० में हुआ था जिसे अरस्तू यूनान का प्रथम दार्शनिक मानता था और जिसकी गणना सप्तर्षियों में की जाती थी। वह जल को सृष्टि का मूल तत्त्व मानता था।[4] वह मिस्र में रहा था और जल के महत्त्वपूर्ण प्रभाव को देख चुका था। अनाक्सिमेण्डर (५६० ई० पू०) ने इस विचार में सहमति नहीं दी। उसका मत था कि चारो भूत[5] (जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु) तथा उनके गुण (स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, शीत) एक ही अनिर्वचनीय सत्ता से प्रादुर्भूत हुये हैं। इस मूल सत्ता से तत्त्वों के दो जोड़े, विपरीतगुणयुक्त उत्पन्न होते हैं जो समुचित सन्तुलन में रहते हैं। इसके शिष्य अनाक्सिमिनस (५४६ ई० पू०) ने वायु को सबका मूल कारण माना[6]। इसी के परिणमन से अन्य तीन तत्त्व उत्पन्न होते हैं।

---

१. भारत में प्राचीन सूर्यमन्दिरों में भी ऐसी व्यवस्था थी। कोणार्क के सूर्यमन्दिर से लगा ऐसा एक आवासगृह था।
२. आयुर्वेद में भी ऐसा ही था।
३. 'चरक' संज्ञा इसका प्रतीक है।
४. वेदों में भी ऐसी ही मान्यता है।
५. तु०—भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैः—च. शा. २।३१
६. तु०—वातकलाकलीय अध्याय (च. सू. १२)

एफिसस का निवासी हिरोक्लिटस (५०० ई० पू०) क्षणभंगवाद मानता था[1]। उसका कथन था कि प्रतिदिन नया सूर्य उगता है। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। परिणमन में सर्वाधिक शक्तिशाली तत्त्व अग्नि को वह मूलतत्त्व मानता था[2]।

चिकित्सा पर सर्वाधिक प्रभाव पाइथेगोरस के दर्शन का पड़ा। वह सैमोस का निवासी था। ५३० ई० पू० के लगभग वह वहाँ से हट कर अपने अनुयायियों के साथ इटली के क्रॉटन द्वीप में चला गया। वहाँ उसने एक संस्था की स्थापना की। इसका सम्प्रदाय धर्मप्रधान था जो आत्मा के मोक्ष के लिए प्रयत्नशील था। इसके लिए एक आचारपद्धति विकसित की गई जो पाइथेगोरियन जीवनपद्धति कहलाई। योग्यता की परीक्षा के बाद इसमें लोग प्रविष्ट होते थे। सदस्यों की गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती थी। पाइथेगोरस ने कुछ लिखा नहीं किन्तु उसकी मृत्यु के बाद लगभग ५वीं शती ई० पू० के मध्य में उसके सम्प्रदाय तथा उपदेशों पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे।

उपर्युक्त आचारपद्धति में लोग साधु एवं सरल जीवन व्यतीत करते थे। उनका आहार भी निरामिष एवं सरल था। जीवहत्या निषिद्ध थी। वे योग और समाधि के द्वारा चित्तवृत्तियों के निरोध का प्रयत्न करते थे। शारीर रोगों के निवारण के लिए औषध तथा मानसविकारों के निराकरण के लिए संगीत का विधान था। इसी कारण चिकित्सा और संगीत दोनों का विकास इस संप्रदाय में हुआ। पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने सृष्टि के जड़ तत्त्वों पर विचार किया किन्तु पाइथेगोरस ने आत्मा पर अपनी बुद्धि केन्द्रित की। पाइथेगोरस बुद्ध का समकालीन था और स्पष्टतः उसका दर्शन भारत से प्रभावित था।

इन्होंने सृष्टि का भी अन्वेषण किया। ये गणितज्ञ थे अतः संख्या पर इन्होंने विशेष बल दिया[3]। संख्या ही मूल तत्त्व है यह इनका मत था। पूर्ण सन्तुलन और साम्य इनके जीवनदर्शन तथा स्वास्थ्यविज्ञान का आधार था। संस्थाओं में भी 'चार' संख्या महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि विपरीतगुणयुक्त दो जोड़े तत्त्वों से आदर्श संतुलन स्थापित हो सकता था। इसने चिकित्सासिद्धान्त को प्रभावित किया। अरस्तू कहता है कि कुछ अनुयायी ऐसे दस जोड़े मानते हैं जो बाबुलीय सिद्धान्त से प्रभावित हो सकते हैं[4]। ५०० ई० पू० के लगभग पाइथेगोरस का देहान्त हो

---

१. तु० बौद्धों का क्षणभंगवाद और चरक का स्वभावोपरमवाद।

२. आयुर्वेद में भी परिणमन के लिए अग्नि प्रमुख तत्त्व है। इससे अन्नपाचन और धातुपाक की क्रियायें होती हैं।

३. तु—संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः। स भिद्यते—(मा० नि०)

४. आयुर्वेद में भी गुर्वादिगुण दस युग्मों में व्यवस्थित हैं।

गया। पाइथेगोरस के दर्शन ने चिकित्साशास्त्र पर गंभीर प्रभाव डाला। स्वास्थ्य की सन्तुलनरूपता, संख्या का महत्त्व तथा सद्वृत्त के विकास में पाइथेगोरस की अमूल्य देन है।

डेमोसीडस (छठीं शती ई० पू०) यूनान का एक प्रख्यात चिकित्सक था जो ५२२ ई०पू० में वन्दी बनाकर फारस लाया गया। वहाँ उसने फारस सम्राट् दारा के गुल्फ-विश्लेष की चिकित्सा की तथा रानी अतोषा की स्तनविद्रधि का उपचार किया। इस काल में यूनान में चारो ओर चिकित्साकेन्द्र स्थापित हो चुके थे विशेषतः क्राटन, साइरन, सिसिली, रोडस, निडस और कौस के केन्द्र प्रख्यात थे। इसी समय वेतनभोगी चिकित्सकों के अस्तित्व का भी पता चलता है। इनका वेतन पंचायत या नगरसभा द्वारा दिया जाता था और वह जनता की सेवा करते थे।

अल्कमियन (४५० ई० पू०) शरीरक्रिया में रुचि रखता था। उसने पशुओं का छेदन किया तथा अन्य प्रयोग किये। इसने नेत्र का छेदन कर उसके शारीर का अध्ययन किया। अल्कमियन ने अपने परवर्त्ती एम्पीडोकल्स, डेमोक्रिटस आदि दार्शनिक चिकित्साशास्त्रियों को पूर्णतः प्रभावित किया। एम्पिडोकल्स (५वीं शती ई० पू० मध्य) ने चतुर्भूत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु सृष्टि के मूल तत्त्व हैं, इनके संयोग से जीवन और विभाग से मृत्यु होती है। डेमोक्रेटिस (५वीं शती ई० पू० मध्य) ने परमाणुवाद[१] की स्थापना की।

५वीं शती ई० पू० यूनानी संस्कृति का स्वर्णयुग माना जाता है जब ऐसे क्रान्तिकारी विचारों की उद्भावना हुई जो शतियों तक स्थिर रहकर विचारकों का पथप्रदर्शन करते रहे। इस सांस्कृतिक विकास में एथेन्स नगर का महत्त्वपूर्ण योग-दान था जहाँ सुकरात जैसा दार्शनिक हुआ जिसने सृष्टि के अतिरिक्त पुरुष, नैतिकता एवं आचारपद्धति का अध्ययन किया। संभाषापद्धति का प्रारंभ भी इसीने किया। सुकरात का शिष्य प्लेटो यहीं हुआ। किन्तु चिकित्साशास्त्र एथेन्स की बाह्य परिधि में एशिया माइनर से उत्तरी अफ्रीका, सिसिली और उत्तरी इटली में पनप रहा था जहाँ तत्कालीन महान चिकित्साकेन्द्र और चिकित्सक थे। वहीं कौस नामक द्वीप में हिपोक्रेटिस का जन्म ४६० ई० पू० हुआ। इसके जीवन के संबन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं अतः किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। सोरेनस के अनुसार इसके पिता हिरेक्लिडस और माँ फिनारेट थीं। प्लेटो की रचनाओं में इसका निर्देश है अतः यह उसका समकालीन या कुछ पूर्ववर्त्ती होगा ऐसा निश्चय है। हिपोक्रेटिस आधुनिक चिकित्सा का जनक कहा जाता है। वह महान् चिकित्सक, कुशल अध्यापक एवं सूक्ष्म निरीक्षक था। उसने प्राचीन धार्मिकता एवं अदृष्टवाद को हटाकर चिकित्साशास्त्र को नवीन दार्शनिक एवं तार्किक

१. तु०—शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येयाः—च० शा० ७।१७

आधार पर प्रतिष्ठित किया जिससे युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का वैज्ञानिक स्वरूप सामने आया। हिपोक्रेटिस-संहिता (Corpus Hippocraticus) में अनेक विषयों पर उसके विचार निबद्ध हैं किन्तु ये सभी उसकी मृत्यु के बाद पांचवीं या चौथी शती ई० पू० में निबद्ध हुये अतः यह कहना कठिन है कि इनमें से कितनी रचनायें वस्तुतः हिपोक्रेटिस की हैं ? विद्वानों के विचार इस सम्बन्ध में नितान्त भिन्न हैं। इन रचनाओं की संख्या ५३ से ७२ तक कही जाती हैं। मध्यम मार्ग अपनाया जाय तो इनकी संख्या ६० मानी जा सकती है। इन रचनाओं में चतुर्दोष, वायु-जल-भूमि, अरिष्टविज्ञान, पथ्यापथ्य, आदि पर विचार किया गया है। शल्य के क्षेत्र में भग्न, विश्लेष, व्रण, अर्श और भगन्दर पर रचनायें हैं। कौमारभृत्य और प्रसूति-स्त्रीरोग पर भी कुछ ग्रन्थ हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है सद्वृत्त (Hippocratic oath) जो आज भी वैद्यकीय आचार के लिए आदर्श माना जाता है। हिपोक्रेटिस के सूत्र (Aphorisms) भी महत्त्वपूर्ण हैं जो सात भागों में थे, आठवाँ भाग बाद में जोड़ा गया।[१]

हिपोक्रेटिस पूर्ववर्त्ती पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर 'ऑन ऐन्शियण्ट मेडिसिन' में चार दोषों (Humours) को मानता है—कफ (Phlegm), रक्त (Blood), पित्त (Bile) और जल (Water) जिनका क्रमशः शिर, हृदय, पित्ताशय और प्लीहा से सम्बन्ध है। दोषों का साम्य रहने पर पुरुष स्वस्थ रहता है अन्यथा दोष प्रकुपित होकर किसी अंग में अधिष्ठित हो रोग उत्पन्न करते हैं। अजीर्ण से आमदोष उत्पन्न होकर भी विकार का कारण होता है। किन्तु 'दी नेचर ऑफ मैन' नामक ग्रन्थ में जल के स्थान पर कृष्ण पित्त (Black Bile) को स्वीकृत किया गया है। आगे चलकर कफ, रक्त, पित्त और कृष्णपित्त (वात) ये ही चार दोष माने गये। इनके गुण क्रमशः स्निग्ध (Moist), उष्ण (hot), रूक्ष (Dry) और शीत (Cold) माने गये। धातुओं से भी इनका संबन्ध स्थापित किया गया।[२] इन्हीं दोषों के आधार पर पुरुष की प्रकृति के वर्गीकरण का प्रयत्न भी किया गया[३]। थियोफ्रेस्टस ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बाद में इनका संबन्ध नक्षत्रों से भी स्थापित किया गया। दोषों को नियन्त्रित करने के लिए 'आभ्यन्तर ऊष्मा' (ओज ?) की कल्पना की गई जिसका अधिष्ठान हृदय माना गया।[४] इसके कारण पुरुष की स्वाभाविक शक्ति, रोगक्षमता पर ध्यान गया जिस पर स्वास्थ्य निर्भर होता है औषधियाँ सहायक

---

१. देखें—Francis Adams : The Genuine Works of Hippocrates, Baltimore, 1939
२. देखें मेरा चरक-चिन्तन, पृ० ६१-६४
३. तु०—चरक और सुश्रुत के प्रकृतिसम्बन्धी विचार
४. तु०—चरकोक्त ओज का वर्णन

मात्र होती हैं। आम दोषों के पाचन (Pepsis or coction) का सिद्धान्त भी था।

हिपोक्रेटिस की मृत्यु के बाद ही उसका प्रभाव कम होने लगा। अरस्तू (३८४ ई० पू०) सिकन्दर का गुरु था। अरस्तू ने शरीररचना और शरीरक्रिया के अध्ययन पर विशेष बल दिया जो हिपोक्रेटिस के काल में प्रायः उपेक्षित था। सिकन्दर ने सिकन्दरिया (अलक्जेण्ड्रिया) नामक नगर की स्थापना की जो उसकी मृत्यु के बाद वैज्ञानिक अध्ययन एवं अनुसंधान का महान केन्द्र बना। अरस्तू का शिष्य थियोफ्रेस्टस था। कहा जाता है कि उसके २००० शिष्य थे, मिनेण्डर (मिलिन्द) भी उनमें था। वह अपने समय का महान वनस्पतिशास्त्री था जिसने वनस्पतियों और अनेक चिकित्सीय उपयोगों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ[1] लिखे। सिकन्दर के प्रधान सेनापति टालेमी ने सिकन्दरिया में एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना की जहाँ हिपोक्रेटिस-संहिता के अतिरिक्त दस हजार ग्रन्थ एकत्रित किये गये। अब कॉस और निडस के स्थान पर सिकंदरिया चिकित्साविज्ञान का प्रमुख केन्द्र बन गया। हिरोफिलस (३०० ई० पूर्व०) प्रैक्सागोरस का शिष्य था जिसने मस्तिष्क और सुषुम्ना के शारीर का अध्ययन किया तथा नाडियों को कण्डराओं और रक्तवाहिनियों से पृथक् दिखलाया। गैलन के अनुसार मनुष्य पर शवच्छेद करने वाला वह प्रथम व्यक्ति था[2] और सेलसस के अनुसार वह जीवित शरीर का छेदन भी करता था। एरासिस्ट्रेटस हिरोफिलस का कनीय सहयोगी था। उसने दोषों के सिद्धान्त का खण्डन किया और शरीर के लिए रक्त तथा दो प्रकार के वायु (प्राण-अपान) का महत्त्व प्रतिपादित किया[3]। उसने इस अध्ययन में प्रायोगिक विधियों का भी प्रयोग किया।

रोम—रोम का इतिहास ७५३ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। ७५३ से ५१० ई० पू० तक का काल एट्रुस्कन काल कहा जाता है। एट्रुस्कन पुरोहित चिकित्सा एवं अरिष्टविज्ञान में कुशल थे। यकृत् देखकर रोग के सम्बन्ध में अरिष्ट बतलाते थे। यकृत् की अनेक मृत्तिका-प्रतिकृतियाँ पाई गई हैं। जलशोधन तथा जनस्वास्थ्य के कार्यक्रम पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। चिकित्सा में जादू-टोना तथा देवाराधन का विशिष्ट स्थान था। वे शल्य एवं दन्तविद्या में भी कुशल थे। असावधानी के कारण यदि रोगी की मृत्यु हो जाती तो चिकित्सक दण्ड का भागी होता[4]। प्रसवकाल में स्त्री की मृत्यु होने पर कुक्षिपाटन के द्वारा गर्भ को निकाल

१. History of Plants, Causes of Plants.
२. सुश्रुत ने इसके बहुत पूर्व शवच्छेद किया था।
३. तु०—प्राणापानौ निमेषाद्याः जीवनं मनसो गतिः—च० शा० १।७०
४. भारतीय स्मृतियों में भी ऐसा विधान है।

लेने का विधान था[1]। बाद में यूनान के समुन्नत चिकित्साविज्ञान से प्रभावितकरह रोम ने उसका अनुसरण प्रारम्भ किया। अलेक्जेण्ड्रिया से अनेक चिकित्सक रोम आये। इनमें ऐस्क्लिपियेडिस प्रमुख था जो ६३ ई० पू० में रोम पहुँचा। वह अधिकतर पथ्य, व्यायाम, स्नान, अभ्यंग आदि प्राकृतिक विधियों का आश्रय लेता था। वह शरीर को अतीन्द्रिय परमाणुओं से निर्मित मानता था[2]। स्रोतोरोध विकारोत्पत्ति का मुख्य कारण था। यह अवरोध स्रोतों के संकोच, विस्तार या परमाणुओं की विषम गति से हो सकता है[3]। इस कारण संशोधन में अवगाहन-स्वेदन तथा संशमन में कषाय एवं बाष्प प्रयोग किये जाते थे। ऐस्क्लिपियेडस के शिष्यों में ऐण्टोनी मूसा भी था जो रोमसम्राट् ऑगस्टस का चिकित्सक था। लुक्रेटियस (९५–५५ ई० पू०) यद्यपि डॉक्टर नहीं था तथापि प्राकृतिक विधियों पर उसने अच्छा प्रकाश डाला है।

सेलसस ईसा शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। उसने एक विश्वकोश प्रस्तुत किया जिसमें तत्कालीन समस्त ज्ञान संकलित हैं। इसके एक अंश 'डि ए मेडिका' में चिकित्सासंबंधी सूचनायें हैं। इसमें वृष्य बस्तियों[4] का वर्णन है। नासा, ओष्ठ और कर्ण के सन्धान-शल्य[5] का वर्णन है। रक्तस्राव को रोकने की विधि, व्रणशोथ के चार प्रमुख लक्षण तथा अस्थिभग्नचिकित्सा का भी प्रतिपादन किया है। अनेक यन्त्रशस्त्र भी प्रयुक्त होते थे जो खुदाई में मिले हैं।

प्लिनी (२३-७९ ई०) सेलसिस के समान ही विश्वकोशीय प्रतिभा का वैज्ञानिक था। उसकी विशाल कृति 'नेचुरल हिस्ट्री' ३७ खंडों में पूर्ण हुई है। उसने औषधद्रव्यों का विशेष रूप से वर्णन किया है। इसी प्रकार सोरेनस (१ शती) प्रसूति एवं स्त्रीरोगों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करने के कारण 'प्रसूतिशास्त्र का जनक' कहा जाता है। रजोविकार, मूढगर्भ, प्रसवोत्तर उपचार आदि के सम्बन्ध में उसने मौलिक विचार दिये[6]। गर्भनिरोधक योगों का भी प्रयोग बतलाया। द्रव्यगुण के क्षेत्र में इसी प्रकार डायोस्कोरिडस (४० ई०) ने युगान्तरकारी कार्य किया। उसने पाँच खण्डों में मेटीरिया मेडिका लिखा जिसमें तत्कालीन द्रव्यों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी दी गई। इसके लिए उसने अनेक क्षेत्रों का भ्रमण किया था। रोम-

१. भारतीय धर्मसूत्रों में ऐसी व्यवस्था है।
२. तु०—च० शा० ७।१६,
३. देखें चरक का स्रोतोविमान-प्रकरण
४. तु०—चरकसंहिता (सि० अ० १२) वर्णित वृष्यबस्ति-प्रकरण
५. स्पष्टतः इस पर सुश्रुत का प्रभाव है।
६. आयुर्वेद में इनका विशद वर्णन है।

साम्राज्य में सैनिक चिकित्सा की भी विशेष उन्नति हुई। खुदाई में सैनिक आतुरालयों के अवशेष निकले हैं। इसके अतिरिक्त नागरिकों के लिए भी आतुरालय थे। चिकित्सकों की अनेक श्रेणियाँ थीं यथा दासचिकित्सक, मल्लचिकित्सक, राजचिकित्सक, नगरचिकित्सक एवं स्वतन्त्र चिकित्सक। स्वतन्त्र चिकित्सक रोगियों से फीस लेकर उनकी चिकित्सा करते थे। रोम में डाक्टरों की सामाजिक मर्यादा बहुत बड़ी थी, राजनीति में भी वे शक्तिशाली थे और राजदरवार में भी उनका अच्छा प्रभाव था।

रोमन डॉक्टरों ने सार्वजनिक स्वास्थ्य को नियंत्रित एवं विकसित करने के लिए अनेक कानून बनाये थे। पानी के निकास, खाद्यपदार्थों का विक्रय, शव-अन्त्येष्टि आदि के सम्बन्ध में कठोर नियम बने थे। योग्य डॉक्टरों के साथ-साथ छद्मचर डॉक्टर भी थे जिनका मजाक उड़ाया गया है[1]।

गैलन हिपोक्रेटिस के बाद सर्वाधिक प्रख्यात चिकित्साशास्त्री हुआ। उसका जन्म १३० ई० में पर्गमन में हुआ। चिकित्सा की शिक्षा उसने सिकन्दरिया में प्राप्त की और वहाँ से लौटकर पर्गमन में मल्लचिकित्सक नियुक्त हुआ। उसने एक विशाल ग्रन्थ (Editio Princeps) की रचना की जो २२ खंडों में पूर्ण है। १६२ ई० में वह रोम गया और वहाँ शीघ्र ही एक प्रख्यात चिकित्सक हो गया। दो रोमन सम्राटों का चिकित्सक भी रहा। गैलन का शास्त्रीय ज्ञान पशु-शारीर पर आधारित था क्योंकि उस काल में मनुष्य का शवच्छेद निषिद्ध था। शरीरक्रियासम्बन्धी भी अनेक प्रयोग उसने पशुओं पर किये थे। उसके मत में, जीवन का मूल तत्त्व प्राणवायु (Pneuma) था[2]। रक्तसंवहन के विषय में भी उसकी धारणा निश्चित थी कि शुद्ध और अशुद्ध रक्त पृथक्-पृथक् रहता है। शरीररचना के आधार पर उसका रोगविज्ञान भी परिष्कृत हो गया था। चिकित्सा में वह 'विपरीत-सिद्धान्त' का ही उपयोग करता था। साथ-साथ स्नेहन-स्वेदन आदि बाह्य उपचार भी होते थे। गैलन की मृत्यु २०३ ई० में हुई। एकेश्वरवाद में आस्था होने के कारण वह अरबों, ईसाइयों और यहूदियों में समान रूप से लोकप्रिय हुआ।

गैलन के बाद चिकित्साविज्ञान की अवनति होने लगी। प्लेग और महामारियों ने साम्राज्य को विध्वस्त कर दिया जिसे डॉक्टर असहाय होकर देखते रहे जिससे जनता की आस्था चिकित्साशास्त्र से उखड़ गई और धर्म की ओर मुड़ी। ईसाई धर्म ने इसे और प्रोत्साहित किया। औषध के बदले लोग देवाराधन और सन्तों की सेवा में लग गये। किन्तु ईसाइयों ने चिकित्सासेवा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य

१. तु०—चरक का संबद्ध प्रकरण
२. यह चरक के वातकलाकलीय से प्रभावित था।

किया। उन्होंने अनेक अस्पताल बनवाये। ३७० ई० में पहला बड़ा अस्पताल सिजेरिया में बना। इसमें एक कुष्ठाश्रम भी था। रोम में पहला अस्पताल ४०० ई० के लगभग एक महिला के दान से बना। सम्राट् कुस्तुन्तुनिया (३२६ ई०) ने ईसाई धर्म अपनाया और अपनी राजधानी रोम से हटाकर बिजेण्टियम ले गया। वहाँ पर ऑरिबेसियस (३२५–४०३ ई०), अलेक्जेण्डर ऑफ ट्रेलिस (५२५–६०५ ई०) और पॉल ऑफ इजिना (६२५–६९० ई०) प्रख्यात चिकित्साशास्त्री हुये। ऑरिबेसियस ने चिकित्सकों पर वृत्तात्मक विवरण लिखा, अलेक्जेण्डर ने 'चिकित्सा के बारह ग्रन्थ' लिखे जो ग्रीक से लैटिन और अरबी में अनूदित हुये। पॉल ने एक चिकित्सा का विश्वकोष लिखा जो अरबी में अनूदित हुआ, इसमें शल्यकर्म पर विशेष जानकारी दी गई है। फिर चर्च के बढ़ते प्रभाव के कारण चिकित्सकों का प्रभाव धीरे-धीरे घटता चला गया।[1]

मध्यकालीन यूरोप में चिकित्सा धार्मिकता के कञ्चुक से आवृत रही। चर्च के मिशनरी और पादरी चिकित्सासेवा का आयोजन करते रहे। विश्वविद्यालयों की स्थापना भी मध्यकाल की प्रमुख घटना है। मठों के अन्तर्गत भी आतुरालय चलते थे। नापित शल्यकर्म, रक्तमोक्षण आदि करते थे। चिकित्सा में रक्तमोक्षण, वमन, विरेचन, बस्ति और अग्निकर्म का प्रयोग होता था। लगभग १३०० ई० के आस-पास बोलोना में मनुष्य के शव का छेदन प्रारम्भ हुआ। इस काल में अरब एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विश्व के क्षितिज पर उदित हुआ और सारे संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। देश और काल दोनों दृष्टियों से मध्यवर्त्ती के रूप में अरब ने पूर्व और पश्चिम के बीच ज्ञानसेतु का कार्य किया।

अरब

अरबों ने विजित देशों की संस्कृति से शिक्षा ग्रहण की और प्राचीन संस्कृति को सुरक्षित रखा। अरबों ने मध्यपूर्व, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन तक जीतकर फ्रांस पर भी धावा बोल दिया था। अरब-संस्कृति की विशेष प्रगति अरबवासी खलीफाओं के काल में हुई।[2] इनमें से प्रथम हारून-अल-रशीद (६६३-८०९ ई०)

---

१. किन्तु भारत में आयुर्वेद निरन्तर विकसित होता गया जो इसकी वाङ्मय-वृद्धि एवं चिकित्साकौशल से प्रमाणित होता है। देशकाल के अनुसार इसका परिमार्जन-परिष्कार होता रहा और इसे युगानुरूप रखने की चेष्टा बराबर होती रही।

२. फारस सम्राट् खुशरो नौशेरवाँ (५३१ ई०) का चिकित्सक बुर्जुया भी भारत आया था जो वापसी अपने साथ अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थ और चिकित्सकों को लेता गया। —A. L. Basham

हुआ जिसने बगदाद में पहला अस्पताल बनवाया, जहाँ भारत और यूनान के चिकित्सक रखे गये। भारतीय चिकित्सकों में एक 'मङ्ख' था जिसने हारून की चिकित्सा की थी। इसी प्रकार भारत और यूनान से चिकित्साग्रन्थ मंगवा कर वहाँ एक पुस्तकालय खड़ा किया गया जहाँ इन ग्रन्थों का अरबी अनुवाद करने के लिए एक केन्द्र संगठित हुआ। यहाँ चरक, सुश्रुत वाग्भट, माधवनिदान आदि १५ आयुर्वेदीय ग्रन्थों के साथ साथ हिपोक्रेटिस, गैलन, ओरिबेसियस, पाल और डायोस्कोरिडस की रचनाओं का अनुवाद प्रस्तुत हुआ।

अरब चिकित्साशास्त्रियों में रेजस और अविसिना मूर्धन्य हैं। रेजस (८६५-९६५ ई०) फारस का निवासी था और बगदाद में चिकित्सा की शिक्षा ली थी। वाद में वह बगदाद का सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक हुआ। चिकित्सा के अतिरिक्त वह गणित, ज्योतिष, धर्मशास्त्र और दर्शन का भी पण्डित था। उसकी कुल रचनाओं की संख्या २३७ हैं जिनमें आधी चिकित्साविषयक हैं। इसमें एक चिकित्सा का विश्वकोषात्मक ग्रन्थ भी है। शीतला और मसूरिका पर भी एक ग्रन्थ है जिसमें इनका विशद विवरण है।

अविसिना (९८०-१०३७ ई०) का जन्म फारस में बुखारा के पास हुआ था। उसकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी। १२ वर्ष की उम्र में उसे संपूर्ण कुरान कंठस्थ था। १८ वर्ष की उम्र में वह अपनी सारी शिक्षा समाप्त कर चुका था। उसकी प्रतिभा वहुमुखी थी अतः अनेक विषयों पर वह लिखता था यथा गणित, भौतिक-विज्ञान, रसायनविज्ञान, धर्मशास्त्र, दर्शन और काव्य। उसकी प्रसिद्ध रचना है अल-कानून (Canon) जो बहुत समय तक पाश्चात्य जगत् की चिकित्सासंस्थाओं में पाठ्यग्रन्थ था। इसका लैटिन अनुवाद १२वीं शती में हुआ। गैलन के साथ अविसिना की रचनाओं ने मध्ययुग को सर्वाधिक प्रभावित किया। किन्तु १५२७ ई० में पैरासेल्सस ने सरेआम इन दोनों को जला दिया।

इस समय स्पेन में कार्डोवा का सम्प्रदाय प्रगति पर था। खलीफा अब्द-अल-रहमान-तृतीय (९१२-९६१ ई०) के संरक्षण में कार्डोवा नगर यूरोप का अग्रणी सांस्कृतिक केन्द्र बना जहाँ अनेक डॉक्टरों के अतिरिक्त ५२ अस्पताल थे। उन्हीं डाक्टरों में महानतम इस्लामी सर्जन अबुल कासिम (अलवुकासिस) भी था। इसने एक विशाल ग्रन्थ लिखा जिसमें सैकड़ों यन्त्र-शस्त्रों के चित्र दिये गये हैं। उदरगत शल्यकर्म में क्षत के सीवन के लिए पिपीलिकाओं के उपयोग की सलाह उसने दी है।

एवेनजोआर (१२वीं शती प्रारम्भ) एक उत्तम विद्वान और चिकित्सक था। शास्त्र से अधिक कर्म पर उसका ध्यान था। उसका देहान्त ११६२ ई० में हुआ।

एवेरोअस (११२६-११९८ ई०) चिकित्सक के साथ-साथ दार्शनिक था।

इसने भी एक विशाल ग्रन्थ लिखा। इसका शिष्य मैमोनाइडिस यहूदी था। धार्मिक कारणों से वह वहाँ से निकाल दिया गया और मिस्र में आकर शरण ली जहाँ १२०८ ई० में उसका देहान्त हुआ।

इसके बाद यूरोप से मुसलमानों का प्रभाव हटने लगा। १२३६ ई० में फर्नाण्डिस द्वितीय ने कार्डोवा पर अधिकार कर लिया। १२५८ ई० में मंगोलों ने बगदाद को विध्वस्त कर दिया और इस प्रकार पाँच शताब्दियों के बाद अरब साम्राज्य समाप्त हो गया।

आयुर्वेद का सार्वभौम प्रभाव

विश्व की अन्य चिकित्सापद्धतियों से आयुर्वेद का क्या सम्बन्ध रहा है यह विचारणीय है। कुछ तथ्य ऐसे हैं जो सामान्य रूप से सभी प्राचीन चिकित्सापद्धतियों में मिलते हैं। उदाहरणार्थ, विश्व के सभी देशों में पहले दैवव्यपाश्रय और उसके बाद युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का विकास हुआ। देवताओं और भूतों पर विश्वास तथा रोगोत्पत्ति में इनकी कारणता का सम्बन्ध होने के कारण चिकित्सा में स्वभावतः इनका प्रभाव रहा। किन्तु कालक्रम से जब मनुष्य ने प्रयोग और अनुभवों से ओषधियों का ज्ञान प्राप्त किया तब युक्तिव्यपाश्रय विधियों का प्रादुर्भाव हुआ।

अन्य देशों की चिकित्सापद्धतियों से आयुर्वेद की तुलना करने पर अनेक साम्यदर्शक तथ्य सामने आते हैं। जिस प्रकार सुमेरी चिकित्सा में ज्योतिष का प्रभाव था वैसा ही आयुर्वेद में भी है। तैलविन्दुपरीक्षा दोनों में समान है। दोनों रक्त को जीवन का आधार मानते हैं और यकृत् का महत्त्व भी, क्योंकि यकृत् रक्तवह स्रोतों का मूल कहा गया है। बाबुली चिकित्सा में चन्द्रमा ओषधीश माने जाते थे तो आयुर्वेद भी वैसा ही मानता है। आयुर्वेद जिस प्रकार अष्टांग है वैसा ही बाबुली चिकित्सा के भी आठ अंग आठ देवताओं के संरक्षण में थे। आयुर्वेदीय चिकित्सकों के समान ये चिकित्सक भी मुख्यतः वनस्पतियों का प्रयोग करते थे और साथ-साथ जान्तव और खनिज द्रव्यों का भी। अश्मरी, लिंगनाश आदि के शल्यकर्म दोनों में पाये जाते हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सकों के समान असीरियन चिकित्सक भी बटी, चूर्ण, बस्ति, वर्ति आदि का प्रयोग करते थे। शल्यकर्म भी होता था। वातव्याधि में स्नेहन, स्वेदन और लेप किया जाता था। मिस्री चिकित्सा से भी आयुर्वेद का साम्य है। शवों को सुरक्षित रखने की जो प्रथा वहाँ प्रचलित थी वह किंचित् रूपान्तर से भारत में भी थी। यहाँ तैलद्रोणी में शव को रखते थे। सूर्य की पूजा मिस्र और भारत दोनों देशों में है। विशेषज्ञों की बात भी दोनों में है। मिस्र में भी विशिष्ट अङ्गों के विशेषज्ञ चिकित्सक थे। शरीरस्थ स्रोतों की धारणा दोनों में समान है। इसी प्रकार संशोधन चिकित्सा का महत्त्व भी दोनों ही में है। मिस्र के इम्होटेप और आयुर्वेद के धन्वन्तरि प्रायः समान हैं। पेरू में सूर्यपूजा, स्वप्नारिष्ट आदि

विचार आयुर्वेद के समान ही हैं। चीन के यिन और यांग का सिद्धांत भारतीय दर्शन के प्रकृति-पुरुष के सिद्धान्त से मिलता है। कनफ्युशियस की विचारपद्धति बौद्ध धर्म से मिलती है। चीन में भी आयुर्वेद के समान पाँच तत्त्वों का सिद्धान्त मान्य है यद्यपि इसमें थोड़ा नामभेद है। वहाँ भी दोषवैषम्य से रोगोत्पत्ति मानी गई है। हुआंग ती नामक ग्रन्थ चरकसंहिता के समान प्रश्नोत्तरशैली में है। चीन में शल्यकर्म भारत के बहुत बाद प्रारम्भ हुआ। प्राचीन फारसी चिकित्सा में प्राकृतिक देवताओं की पूजा थी, सूर्य प्रमुख देवता थे। मागी उनके पुरोहित थे जिन्हें कुछ ऐतिहासिक पुराणोक्त मग ब्राह्मण मानते हैं। अवेस्ता और वेद के तथ्यों में वर्तमान समानता तो सर्वविदित है ही। अवेस्ता में तीन प्रकार के चिकित्सकों का उल्लेख है शल्यविद्, भेषजविद् और मन्त्रविद्। आयुर्वेद में भी यही श्रेणियाँ थीं। रसशास्त्र के काल में भी त्रिविध चिकित्सा कही गई है केवल मन्त्र के स्थान पर 'रस' कर दिया गया। इन्हें क्रमशः आसुरी, मानुषी और दैवी कहा गया है। शल्यकर्म में कुशलता सिद्ध करने पर ही उस कर्म में प्रवृत्त होने के लिए अनुज्ञा मिलती थी जैसा कि सुश्रुत में है।

यूनान और भारत की चिकित्सापद्धतियों में अत्यधिक समानता है। दोष-सिद्धान्त, रोगविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, अरिष्टविज्ञान, सद्वृत्त आदि एक-सा प्रतीत होता है[१]।

ग्रीक (यूनानी) चिकित्सा आधुनिक चिकित्साविज्ञान का मूल मानी जाती है अतः आयुर्वेद से इसके साम्यनिदर्शक स्थलों पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य अवलोकनीय हैं :—

१. मौलिक सिद्धान्त :—तत्कालीन यूनानी दार्शनिक चतुर्भूत—जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु—का सिद्धान्त मानते थे। आयुर्वेद में पञ्चमहाभूत का सिद्धान्त मान्य है। वस्तुतः पाँच महाभूतों में आकाश व्यापक होने के कारण शेष चार में ही

---

१. जॉली ने अपने ग्रन्थ में इन समानताओं का विस्तार से वर्णन किया है, वहीं देखें। इसके अतिरिक्त उसने निम्नांकित ग्रन्थ उद्धृत किया है :—

A. Webb : Historical Relations of Ancient Hindu with Greek Medicine, Calcutta, 1950

और देखें :—

J. Filliozat : The Classical Doctrine of Indian Medicine, ch. 7, 8 and Appendix.

Claus Vogel : On the Ancient Indian and Greek Systems of Medicine, Poona Orientalist, Vol, 24, No. 1/2, 1959

Theodor Comperz : Greek Thinkers, Vol. I–IV

परिणमन या गत्यात्मक व्यापार की प्रतीति होती है अत एव प्रारम्भ में यूनानियों ने चार ही तत्त्व माने। प्लेटो के बाद आकाश तत्त्व को भी स्वीकार कर पञ्च तत्त्व स्वीकार किया गया। आयुर्वेद में भी चतुर्भूत का सिद्धान्त प्रतिपादित है संभवतः इसी से प्रभावित होकर उन लोगों ने ऐसा विचार बनाया हो। चारों भूतों के गुण क्रमशः शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष माने गये।

पाइथेगोरस चेतनाधातु पर बल देने लगा था यह पूर्णतः आयुर्वेदीय प्रभाव था क्योंकि आयुर्वेद में षड्धात्वात्मक कर्मपुरुष की जो धारणा है उसमें भूतों के साथ-साथ चेतनाधातु भी है। बिना चेतना के पुरुष का अस्तित्व ही कहाँ ?

चतुर्भूत के समान चतुर्दोष का सिद्धान्त यूनानी मानते थे। उनके मत में, कफ (Phlegm), रक्त (Blood), पित्त (Yellow bile) और वात (Black bile) ये चार दोष थे। आयुर्वेद में भी विशेषतः शल्यसंप्रदाय में रक्त को चतुर्थ दोष मानने की परंपरा थी।

इन दोषों के साम्य से स्वास्थ्य तथा वैषम्य से रोग होते हैं यह भी माना जाता था। यह आयुर्वेद के सिद्धान्त से बिलकुल मिलता है।

अरस्तू ने पदार्थों तथा वादमार्ग का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है जो चरकोक्त विवेचन की अनुकृति है।

२. विकृतिविज्ञान में दोषों के अतिरिक्त आमदोष को महत्त्व दिया गया। ज्वर में आमावस्था, पच्यमानावस्था और पक्वावस्था मानी गई जो आयुर्वेदीय धारणा ही है।

३. रोगीपरीक्षा में आकृति, प्रकृति, देश, काल आदि के ज्ञान का महत्त्व आयुर्वेद के समान ही है।

४. ऋतुओं तथा नक्षत्रों का मनुष्य के स्वास्थ्य और रोगों से संबन्ध भी दोनों में समान हैं।

५. वात, जल तथा देश की दुष्टि पर हिपोक्रेटिस ने विशेष रूप से विचार किया है। आयुर्वेद में जनपदोद्ध्वंस-प्रकरण में इनका विशद विवेचन है।

६. अरिष्टविज्ञान पर दोनों का विवरण समान है।

७. मलेरिया के अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक प्रकार, क्षय, पाण्डु में मृद्भक्षण आदि दोनों के समान हैं।

८. मद्य की प्रशंसा दोनों ने की है।

९. चिकित्सा में लंघन, संशोधन और संशमन को दोनों ने अपनाया है।

१०. हिपोक्रेटिस द्वारा प्रस्तुत आचारविधान (Oath) आयुर्वेदोक्त सद्वृत्त के आधार पर ही है। अन्तर केवल यह है कि यूनान में उस काल में प्रचलित पुंमैथुन का उल्लेख हिपोक्रेटिस ने किया है जो आयुर्वेद में नहीं है।

११. गर्भ के अंगों की एककालिक निर्वृत्ति, शुक्र के विभाजन से युग्म उत्पत्ति, दक्षिणभाग से पुंसन्तति का संबन्ध, अष्टमी मास में गर्भ का ओजोवैषम्य मूढगर्भनिर्हरण, मृतगर्भनिर्हरण आदि विषय दोनों में समान हैं।

१२. जलोदर में उदर विद्ध कर जल निकालने का विधान दोनों में है।

१३. शल्य में, अश्मरी-शल्यकर्म दोनों में समान है। इसके अतिरिक्त, अग्निकर्म, अर्श, अर्बुद आदि के शस्त्रकर्म; रक्तमोक्षण, जलौका आदि का भी वर्णन है। अनेक यन्त्र-शस्त्रों का भी उल्लेख आयुर्वेद में समान है। लिंगनाश का शस्त्रकर्म भी दोनों में समान है।

अब यह विचारणीय है कि किसने किसको प्रभावित किया। कुछ विद्वानों का कथन है कि विश्व के विभिन्न भागों में उस प्रकार के विचार समानान्तर प्रादुर्भूत होना सम्भव है अतः कोई किसी से प्रभावित हो इस पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए। यह कथन उस स्थिति में पूर्णतः स्वीकार्य होता यदि सभी देश एक दूसरे से पूर्णतः विच्छिन्न, असंबद्ध एवं पृथक् होते किन्तु ऐसी बात है नहीं। अत्यन्त प्राचीन काल से विभिन्न देशों में यातायात के कारण परस्पर वस्तुओं का ही नहीं विचारों का भी विनिमय होता रहा है।

सुमेर की सभ्यता प्राचीनतम लगभग ३–४ सहस्र ई० पू० मानी जाती है किन्तु ऋग्वेद की सभ्यता इससे भी कुछ पूर्व की ही होगी। सिन्धुघाटी सभ्यता के पूर्व लगभग ४००० ई० पू० की सभ्यता के अवशेष बलूचिस्तान और सिन्ध में मिले हैं जो पार्श्ववर्त्ती पश्चिमी एशिया की कांस्ययुगीन संस्कृति से सादृश्य रखते हैं। इस काल में बलूचिस्तान और सिन्ध में परस्पर व्यापारिक संबन्ध तो था ही ईरान और ईराक से भी संपर्क था। बलूचिस्तान के व्यापारी समुद्री मार्ग से जाकर सुमेर में भी बस गये। सिन्धुघाटी-सभ्यता काल में भी मेसोपोटामिया और भारत का व्यापाफिक सम्बन्ध था।[1] लगभग २८०० ई० पू० में दक्षिण बलूचिस्तान और सुमेरु के बीच व्यापारिक संबन्ध जलमार्ग से था और सिन्ध का संपर्क बलूचिस्तान से था किन्तु लगभग २३०० ई० पू० में सिन्ध का सीधा संपर्क मेसोपोटामिया से हो गया।[2] बावेरुजातक से भारत और बाबुल के बीच व्यापारिक संबन्ध का पता

१. S. Piggot : Prehistoric India, London, 1961, P. 117–118.

२. मोतीचन्द : सार्थवाह, पृ० ३१

"Just as there is ample reason to think that communication between Egypt and India existed in early times, with the Egyptians and Indians sharing their pharmacological knowledge, so many scholars believe that as early as the third millineum B. C. there were relations between India and

चलता है। मिस्र तक भी ये यात्री पहुँचते थे। हेरोडोटस के अनुसार सिन्धु नामक कपड़ा मिस्र और वावुल में प्रचलित था। यह कपड़ा सिन्ध में बनता था। लोकमान्य तिलक ने अलगी-विलगी, उरुगुला आदि कुछ शब्दों को वावुली भाषा से कहा है जो वेद में घुस आये हैं। वावुल में दक्षिण भारतीयों की अपनी वस्ती थी जिस संपर्क से अनेक दक्षिण भारतीय शब्द यूनानी भाषा में आ गये यथा अरसि (चावल), करुर (दालचीनी), इंजिबेर (सोंठ), पिप्पी (पीपल), वैडूर्य (विल्लौर) आदि। ई० पू० ९वीं शती में भारतीय हाथी असीरिया जाते थे। इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुयें भी वहाँ पहुँचती थीं।[१] असीरिया और भारत के औषधद्रव्यों में भी बहुत समानता है जिसकी एक विस्तृत सूची शिवकोष की भूमिका में दी गई है।[२]

मिस्र से भी भारत का प्राचीन संवन्ध रहा है। सावी व्यापारियों के माध्यम से भारतीय माल मिस्र पहुँचता रहा है। अनेक भारतीय व्यापारी भी वहाँ पहुँच कर बस गये थे। उनकी वस्ती का नाम 'इण्डिया' पड़ गया था। भारत से मिस्र पहुँचने वाली वस्तुओं में हाथीदाँत, सोना, रत्न, चन्दन, मोर और वन्दर प्रमुख थे। मिस्र के कब्रों में नील, इमली की लकड़ी आदि अनेक भारतीय द्रव्य पाये गये हैं। लेसन के अनुसार मिस्री पुरोहित कपड़े नील में रंगते थे और शवों को भारतीय मलमल में लपेटते थे। वाइवल में भी ऐसा उल्लेख है कि ई० पू० १५०० के लगभग मिस्र और भारत के बीच काफी व्यापार होता था।[३] पैपिरस में दालचीनी, पीपल और सोंठ का उल्लेख है जो संभवतः भारत से वहाँ जाते थे।[४]

यूनान से भारत का संपर्क अकमीनी फारस साम्राज्य के काल में हुआ। फारस ने यूनानियों को पराजित कर अपने अधीन कर लिया था अतः वहुत संख्या में यूनानी फारससम्राट् के दरबार और विभिन्न सेवाओं में थे। साइरस (५५८-

---

Mesopotamia. Caravans travelled by roads which ran parallel to the Elburz mountains in Northern Iran and thence southward through Baluchistan. Probably there were also ships plying by way of the Persian Gulf back and forth between the Indus and the Tigris."

Jurgen Thorwald : Science and Secrets of Early Medicine, New york, 1963, P. 169

१. सार्थवाह पृ० ४३–४४
२. Harshe : Sivakosa, Poona, 1952.
३. R. K. Mookerji : Glimpses of Ancient India, P. 28
४. Thorwald : op cit,, P. 69

५३० ई० पू०) के काल में फारस से भारत का एक अंश (गान्धार) सर्वप्रथम संबद्ध हुआ। उसके बाद कैम्बिसस (५५०-५२२ ई० पू०), दारा प्रथम (५२२-४८६ ई० पू०) और जर्जस (४८६-४६५ ई० पू०) राजा हुये जिनके काल में यह संबन्ध और निकटतर हुआ। इन राजाओं के दरबार और सेना में यूनानी और भारतीय दोनों थे अतः दोनों में परस्पर संपर्क अनिवार्य था। सिकन्दर के आक्रमण-काल में भी इनका संपर्क हुआ। कहते हैं, सिकन्दर भारतीय वैद्यों की योग्यता और कुशलता से बड़ा प्रभावित था और अनेक को उसने अपने यहाँ नियुक्त कर लिया था और कुछ को साथ लेता भी गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपना साम्राज्य सीरिया और फारस तक फैला लिया था। अशोक ने अपने शिलालेख में सीरिया के राजा अन्तियोक को अपना निकट पड़ोसी कहा है। इस काल में ईरान से भी भारत का विशेष संपर्क हुआ। सौराष्ट्र के राज्यपाल पद पर यवन राजा तुषाष्प नियुक्त था।[1]

कैम्बिसस ने सिन्ध के पूर्व मिस्र को अधिकार में कर लिया था। अतः फारस के माध्यम से मिस्र से भी भारत का सम्पर्क हुआ। फारसी सम्राटों के दरबार में अनेक यूनानी तथा भारतीय चिकित्सक थे। भारतीय और यूनानी विद्वान् एक दूसरे के देश में जाया करते थे इसके प्रमाण भी मिले हैं। स्थलमार्ग से एशिया मानइर और फिर यूनान का सम्पर्क था। ई० पू० छठी शती में यह सम्पर्क काफी आगे बढ़ चुका था। अतः यह स्वाभाविक है कि भारतीय विचारों ने वहाँ के दार्शनिक और चिकित्सकों को प्रभावित किया। हिपोक्रेटिस भी भारतीय विचारों से प्रभावित था। फिलिओजा ने भी यही सिद्ध किया है कि अकमीनी फारसी राज्यकाल में ही यूनानी और भारतीय विचारों का परस्पर सम्पर्क और विनिमय हुआ[2]।

मनु के काल में भारत जगद्गुरु था। विश्व के सभी देशों से लोग यहाँ पहुँच कर शिक्षा ग्रहण करते थे और भारत से भी विद्वान बाहर जाकर ज्ञानविज्ञान का प्रसार करते थे[3]। बौद्धजातकों से पता चलता है कि भारतीय व्यापारी अरब, लालसागर और भूमध्यसागर तक के समुद्री मार्ग से परिचित थे। कुछ लोग सिकन्दरिया भी पहुँच जाते थे[4]। अर्थशास्त्र में सिकन्दरिया से आये मोती के लिए 'अलसन्दक' शब्द है।[5] मिलिन्दपञ्ह में भी अलसन्दक द्वीप का उल्लेख है।

१. सार्थवाह, पृ० २१—२३
२. Filliozat : The Classical Doctrine of Indian Medicine, Ch. 9
३. एकद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
४. मोतीचन्द : सार्थवाह, पृ० ३१
५. वही, पृ० ७८

रोम के साथ भारत का घनिष्ठ सम्पर्क ई० की प्रथम तीन शताब्दियों में रहा। गुप्तकाल में इसका प्रभाव हम देखते हैं। वराहमिहिर ने लिखा है 'यवन म्लेच्छ हैं' किन्तु उनके पास यह शास्त्र (ज्योतिष) व्यवस्थित रूप में है अतः वे ऋषियों के समान पूजित होते हैं[1]। यवनाचार्य का उल्लेख भी जहाँ-तहाँ है। पञ्चसिद्धान्तों में रोमश और पौलिश सिद्धान्त विदेशी ही प्रतीत होते हैं। केन्द्र; होरा आदि अनेक यूनानी शब्द भारतीय ज्योतिष में आ गये हैं। किन्तु चिकित्साशास्त्र में ऐसी बात दृष्टिगत नहीं होती। आयुर्वेद की किसी संहिता या ग्रंथ में यवनाचार्य या किसी विदेशी आचार्य के सिद्धान्त का ग्रहण नहीं किया है। केवल कांकायन वाह्लीक-भिषक् का उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः भारतीय परम्परा का ही शिष्य रहा होगा। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि ज्योतिष में भारत ने यूनानियों से ग्रहण किया तथापि आयुर्वेद के क्षेत्र में यूनानियों को बहुत कुछ दिया। दालचीनी, पीपल, सोंठ आदि अनेक औषधद्रव्य यूनानियों की भेषजसंहिता में मिलते हैं जो पूर्णतः भारतीय हैं और भारत से ही उनके प्रयोग का ज्ञान वहाँ गया होगा।

हिपोक्रेटिस ने यद्यपि कायचिकित्सा पर लिखा किन्तु शल्य के क्षेत्र में उनका कोई अवदान नहीं। दोनों दृष्टियों से भारतीय आयुर्वेद पाश्चात्य चिकित्सा से बहुत आगे था। अतः उसका कोई ऋण आयुर्वेद पर हो ऐसा सम्भव नहीं दीखता[2]। मेक्सिको की चिकित्सा में अनेक समान तथ्यों के मिलने से विद्वानों की यह धारणा है कि पूर्वी एशिया से अमेरिका का कोई सम्बन्ध प्राचीनकाल में रहा होगा[3]।

चीन के साथ भारत का सम्पर्क प्राचीन काल से रहा। वाह्लीक उस समय का एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था जहाँ भारत, चीन और पश्चिम एशिया के व्यापारी एकत्रित होकर विनिमय करते थे। कुषाणसाम्राज्य में चीन से लेकर कैस्पियन सागर तक का पथ व्यापार के लिए प्रशस्त हो गया। रोम जाने का भी एक मार्ग हो गया। रोम के बाद कुस्तुन्तुनिया जब व्यापार का अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र बना तब वहाँ भी इसी मार्ग से व्यापारी पहुँचने लगे। गुप्तयुग में चीन और भारत का सम्बन्ध और दृढ़ हुआ। ६१ ई० में हान राजा मिंग ने भारत से बौद्ध भिक्षु बुलाने के लिए दूत भेजे। धर्मरक्षित और कश्यप मातंग भारत से अनेक ग्रन्थों के साथ वहाँ गये और चीन में प्रथम विहार बना। उसके बाद तो उनका ताँता लगा और अनेक कश्मीरी और

---

१. म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥ बृ० सं०

२. Kutumbiah : Ancient Indian Medicine, General Introduction, P. XXXVii—KLiv.

३. Thorwald : op. cit, P. 261

मध्यदेशीय पण्डित वहाँ पहुँचे। यह सर्वविदित है कि नालन्दा विश्वविद्यालय में अनेक चीनी छात्र थे। यात्रियों में भी फाहियान, ह्वेनसांग और इत्सिंग चीनी ही थी। बौद्धभिक्षुओं द्वारा आयुर्वेद सुदूर देशों में पहुँचा। इस प्रकार सैकड़ों आयुर्वेद के ग्रन्थ चीन पहुँचे जहाँ चीनी भाषा में उनका अनुवाद हुआ।

प्राचीन काल में तो आयुर्वेद का प्रसार यूरोप और एशिया में हुआ ही, मध्यकाल में अरब के माध्यम से इसका पुनः प्रवेश हुआ। अरबी चिकित्सकों ने आयुर्वेद और यूनानी दोनों पद्धतियों को मिलाकर एक नया रूप दिया जो आगे चलकर आधुनिक चिकित्साविज्ञान का जनक हुआ। इस प्रकार आधुनिक चिकित्साविज्ञान पर आयुर्वेद का दोहरा ऋण है—एक प्रारम्भिक काल में सैद्धान्तिक और नैतिक आधार देकर और मध्यकाल में उस ज्ञान को उपबृंहित कर।

इस प्रकार समस्त विश्व की चिकित्सापद्धतियों पर आयुर्वेद का प्रभाव व्याप्त था। सुमेरी, बाबुली और आसुरी चिकित्सा पर तो उसकी छाप थी ही, यूनानी दर्शन और चिकित्सा दोनों को प्रभावित कर उसने आधुनिक चिकित्सा की नई नींव डाली। मध्यकाल में अरब के माध्यम से आयुर्वेद की धारा ने इसे पुनः उपबृंहित किया। इससे एक ओर आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान का पथ प्रशस्त हुआ और दूसरी ओर यूनानी तिब (हकीमी) का जन्म हुआ। इन दोनों धाराओं का मूल स्रोत आयुर्वेद ही है। मुसलमानी राज्य में भारत के निरन्तर संपर्क से हकीमों ने अपनी पद्धति को और परिष्कृत एवं परिवर्धित किया तो अंग्रेजी राज में आधुनिक चिकित्सा ने भी आयुर्वेद से अपने कलेवर को पुनः सँवारा[1]।

दक्षिण भारत में आयुर्वेद

दक्षिण भारत उत्तर भारत से विन्ध्यपर्वत द्वारा पृथक्कृत था जिसे ऋषि अगस्त्य ने लाँघकर पार किया। सिद्ध संप्रदाय के प्रवर्त्तक अगस्त्य माने जाते हैं। सिद्धों की संख्या १८ या २२ है। इसके दो भेद आगे चलकर हो गये एक बड़ संप्रदाय और दूसरा तेन संप्रदाय। संस्कृतानुयायी बड़ सम्प्रदाय है और तामिल का अनुयायी तेन संप्रदाय।

सिद्ध संप्रदाय में रसकर्म का विशेष प्रतिपादन है। उत्तर भारत के सिद्धों से इन सिद्धों में कुछ अन्तर था। 'वसवराजीयम्' में अनेक नई प्रक्रियायें और योग मिलते हैं। द्रविड भाषा के पुराने ग्रन्थों में नाडीपरीक्षाविधि और मूत्रपरीक्षा

---

१. इस सम्बन्ध में और देखें :—
Bhagavat Sinh Jee : History of Aryan Medical Science, P. 189-200
हेमराज शर्मा : काश्यपसंहिता, उपोद्घात (हिन्दी), पृ० ७३-११५

विधि मिलती है इन ग्रन्थों का कालनिर्णय कठिन है। अतः यह कहना संभव नहीं कि नाडीपरीक्षा दक्षिणभारत में विकसित होकर उत्तरभारत में गई। दक्षिणभारत से आयुर्वेद सिंहल तक पहुँचा। आनन्दकन्द ग्रन्थ का कर्त्ता मन्थानभैरव सिंहल का राजवैद्य कहा जाता है। रसकर्म के गुरु नागार्जुन का स्थान नागार्जुनकोंडा और श्रीपर्वत दक्षिणभारत में ही हैं। अतः रसशास्त्र के विकास में दक्षिणभारत की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके अतिरिक्त देवगिरि के यादव राजाओं विशेषतः सिंघण के संरक्षण में रसशास्त्र खूब फूला-फला। दक्षिण भारत में वाग्भटकृत अष्टांग-हृदय का विशेष प्रचार रहा है।

केरल में अष्टवैद्यों की परंपरा है। इनके मूल पुरुष परशुराम कहे जाते हैं। आयुर्वेद के अष्टांग के आधार पर अष्टवैद्य हुए। पञ्चकर्म, धाराकल्प तथा स्नेहन-स्वेदन का विशेष प्रचार है। अभ्यंग के द्वारा अनेक रोगों का निवारण किया जाता है।

रसवैशेषिकसूत्र का कर्त्ता भदन्त नागार्जुन तथा उसका भाष्यकार नरसिंह केरलवासी कहा जाता है। रसोपनिषद् भी इसी परंपरा का है। वैद्यमनोरमा, धाराकल्प, सहस्रयोग आदि ग्रन्थ केरलीय परंपरा में प्रचलित हैं।

कर्णाटक में जैन आचार्य का पूज्यपादीय संस्कृत ग्रन्थ प्राचीन माना जाता है। उग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कन्नड़ भाषा में भी खगेन्द्रमणिदर्पण, गोवैद्य, हयशास्त्र, बालग्रहचिकित्सा, वैद्यकनिघण्टु आदि ग्रन्थ लिखे गये। आन्ध्र में वैद्यचिन्तामणि और वसवराजीयम् ये दो ग्रन्थ विशेष प्रचलित है। इन्हें पं० गोवर्धन शर्मा छांगाणी ने प्रकाशित किया है।

दक्षिणभारत की भौगलिक विशेषता के कारण भारत के इतिहास में भी उसका विशिष्ट स्थान रहा है। इसमें निम्नांकित दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं :—

१. काली मिर्च, दालचीनी, तेजपात आदि द्रव्य दक्षिण भारत में ही होते हैं। इन द्रव्यों का प्रयोग औषध रूप में प्राचीनतम काल से होता रहा है। इनकी माँग भी सारे विश्व में थी। मिस्र में भी इन औषधों का प्रयोग हम देखते हैं।

२. दक्षिणभारत के पूर्व और पश्चिम दोनों ओर विस्तृत समुद्रतट है जिसके द्वारा समुद्री मार्ग से इसका संपर्क प्राचीन काल से ही सुदूर देशों से रहा है। द्रविड़ भाषा के अनेक शब्द पाश्चात्य ग्रीक आदि भाषाओं में प्रविष्ट हो गये हैं।

इस प्रकार विदेशों में आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार में दक्षिणभारत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उत्तरभारत के ऋषियों ने आश्रमों में सिद्धान्तों का चिन्तन-मनन किया तो दक्षिणभारत के साहसी व्यापारियों ने औषधद्रव्यों को सुदूर देशों में पहुँचाया। इस प्रकार इनके द्वारा आयुर्वेद के सिद्धान्त और द्रव्य विदेशों में पहुँचे।

आधुनिक काल में मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त उसमान कमिटी के निर्णयों ने सारे देश का ध्यान आकृष्ट किया। मिश्रपद्धति का सर्वप्रथम आयुर्वेद विद्यालय मद्रास में १९२५ में स्थापित हुआ जिसका अनुगमन देश के अन्य भागों ने किया।

दक्षिणभारत के आयुर्वेदीय महापुरुषों में वैद्य डी० गोपालाचार्लु, वैद्यरत्न पी० एस० वारियर, डा० लक्ष्मीपति, वैद्य नोरी रामशास्त्री, वैद्य कालादि परमेश्वरन पिलाई, डा० वी० नारायण स्वामी, डा० सी० द्वारकानाथ, डा० पी० एन० वी० कुरुप प्रभृति प्रमुख हैं।

संप्रति दक्षिणभारत के विभिन्न राज्यों में आयुर्वेद की अनेक राजकीय तथा लोकसंचालित संस्थायें कार्य कर रही हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में भी आयुर्वेद के संकाय बन चुके हैं। स्वतंत्र संस्थाओं में डा० एन० हनुमन्तराव द्वारा संचालित एकेडमी ऑफ आयुर्वेद (विजयवाड़ा) उल्लेखनीय है। इसी प्रकार औषधनिर्माणशालाओं में मद्रास की 'इण्डियन मेडिकल प्रैक्टिशनर्स कोआपरेटिव फार्मेसी ऐण्ड स्टोर्स प्रा० लि०' एक अग्रणी संस्था है।

श्रीलंका

सिंहलद्वीप प्राचीनकाल में 'रत्नद्वीप' कहा जाता था और विविध रत्नों के लिए प्रसिद्ध था। भारत से व्यापारी ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से नौका में सवार होकर सिंहल की यात्रा करते थे। ताम्रलिप्ति का सम्बन्ध गंगानदी के द्वारा चम्पा (भागलपुर) होते पाटलिपुत्र से था जहाँ से उत्तरपथ तक्षशिला तक चला गया था। इस प्रकार तत्कालीन उत्तर-पूर्व भारत का यह एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था। सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भेजा था। गुप्तकाल में भी धार्मिक एवं व्यापारिक प्रयोजनों से भारतीयों का लंका में आना-जाना बना रहा। इसी प्रकार दक्षिण भारत का सम्बन्ध भी लंका से प्राचीनकाल से चला रहा है। चोलनरेश राजराज प्रथम (९८५-१०१४ ई०) ने लंका पर अधिकार कर लिया था जो काफी दिनों तक रहा। एक प्रमुख व्यापारिक स्रोत होने के कारण अरबी और पुर्तगाली व्यापारी भी वहाँ पहुँचते रहे। बाद में अंगरेजों के प्रभुत्व के बाद भारत के साथ लंका और बर्मा को मिलाकर एक इकाई बना दी गई थी।

भारत के सम्पर्क के कारण लंका में आयुर्वेद का प्रचार प्राचीन काल से रहा। ४४७ ई० पू० में वहाँ अस्पताल बने थे इसका पता चलता है[1]। दुष्टग्रामणी राजा (२६१-१३७ ई० पू०) के काल में भी अनेक आतुरालय स्थापित हुये। गुप्तकालीन राजा बुद्धदास (३३७-५३५ ई०) बौद्धधर्मानुयायी तथा स्वयं चिकित्सक था। उसने एक चिकित्साग्रन्थ भी लिखा था। वह जहाँ भी जाता अपने साथ औषधि-पेटिका में

1. Thorwald : op cit, P. 217

औषधियाँ और यन्त्रशस्त्र ले जाता जिनसे रुग्ण जनता की सेवा करता। वह शूद्रों और पशुओं की भी चिकित्सा प्रेम से करता। उसने एक वैद्यशाला की स्थापना की थी और दस गाँव पर एक वैद्य की नियुक्ति की थी। अश्व तथा हाथी के चिकित्सकों को भी नियुक्त किया था। लंका के आयुर्वेदीय इतिहास में उसने अभूतपूर्व कार्य किया।

श्रीलंका में बौद्ध विहारों के द्वारा आयुर्वेद का संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार होता रहा है। अनेक बौद्ध भिक्षु आयुर्वेद के विद्वान एवं कुशल चिकित्सक होते थे। लंकावासी अपनी चिकित्सा को 'सिंहल वेदराल' कहते हैं। इनके अपने ग्रन्थ हैं जो मुख्यतः चरक का अनुसरण करते हैं। औषधों में वानस्पतिक द्रव्यों के क्वाथ, चूर्ण आसव-अरिष्ट का प्रयोग अधिक है। आयुर्वेद के साथ-साथ यूनानी, सिद्ध का भी वहाँ प्रचार है।

आधुनिक काल में श्री के० बालसिंहन्, लंका देशी चिकित्सापरिषद् के अध्यक्ष का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्हीं के प्रयास से कोलम्बो में कॉलेज ऑफ इण्डिजिनस मेडिसिन १९२९ में स्थापित हुआ। यहाँ मिश्रपद्धति से आयुर्वेद, यूनानी और सिद्ध की शिक्षा दी जाने लगी। जफना में एक कालेज १९३५ में सिद्ध चिकित्सापद्धति की शिक्षा के लिए स्थापित हुआ। सिंहली चिकित्सक आयुर्वेद और तामिल चिकित्सक सिद्ध पद्धति का प्रयोग विशेष करते हैं। लंका का देशीचिकित्सक बोर्ड १९२८ सितम्बर में स्थापित हुआ था। सिंहली और तामिल चिकित्सकों के पृथक्-देशव्यापी संगठन भी हैं। निखिल लंका आयुर्वेद सम्मेलम १९२८ में स्थापित हुआ। इसका सम्बन्ध नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन से था। १९२३ में नि० भा० आयुर्वेदमहासम्मेलन का अधिवेशन कोलम्बो में वैद्यरत्न क० योगेन्द्रनाथ सेन की अध्यक्षता में हुआ था। लंका के प्राचीन चिकित्सक वेदराल औषधियों के ज्ञाता होते थे और उनके द्वारा रोगियों की चिकित्सा करते थे। मर्मचिकित्सा और विषचिकित्सा में वे विशेष कुशल थ। विषचिकित्सा का एक विद्यालय भी है।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त गम्पहा में १९२९ से एक शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय चल रहा है। लंका में भी शुद्ध और मिश्र का विवाद है। शुद्धवादियों के प्रभाव के कारण पं० शिवशर्मा लंका सरकार के आयुर्वेद सलाहकार बने। वहाँ १९६४ में बन्दारनायक स्मारक आयुर्वेद शोधसंस्थान बना जिसके निदेशक रूप में पं० रामरक्ष पाठक गये।

लंका के प्रमुख चिकित्सकों में आर० वी० लेनोरा (कोलम्बो), गोब्रियल परेरा विक्रमाराच्छी (गम्पहा), आर० बुद्धदास (कोलम्बो), वैद्य जयसिंह (कैण्डी) आदि हैं।[1]

---

१. A. L. Basham : Toward the Comparative Study of Asian Medical Systems, New York, 1971

सिंहलपरंपरागत आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुये यथा योगपिटक, सिद्ध-भैषज्यमंजूषा-सिंहलव्याख्या, द्रव्यगुणदीपनी, योगमाला, औषधमुक्ताहार, क्वाथमणिमाला, सारस्वतनिघंटु, सिद्धौषधनिघण्टु, लंकाभैषज्यमणिमाला, महौषधनिघण्टु (आर्यदासकुमारसिंहकृत, चौखम्बा, १९७१) प्रभृति[1]। सारथ्थसंग्रह और योगार्णव (१३वीं शती) प्राचीनतम ग्रन्थ हैं।

बर्मा

बर्मा में अशोक के काल में बौद्ध विहार बनना प्रारम्भ हुआ और उन्हीं के द्वारा आयुर्वेद का भी प्रवेश हुआ। इसका भारतीय नाम सुवर्णभूमि तथा इसका दक्षिणी भाग श्रीक्षेत्र कहलाता था। बर्मा से भारत का सांस्कृतिक सम्पर्क बराबर बना रहा। आधुनिक काल में १८वीं शती में सुश्रुत, द्रव्यगुण आदि ग्रन्थों के बर्मी अनुवाद हुये।

नेपाल

हिन्दुओं का एक प्राचीन तीर्थ होने के कारण भारतीय संस्कृति से वह ओतप्रोत रहा है। वहाँ प्राचीनकाल से ही आयुर्वेद के द्वारा जनता की सेवा होती आ रही है। कायचिकित्सा, शल्य, विष आदि के विशेषज्ञ चिकित्सक भी होते थे। सिंहदरबार का वैद्यखाना अत्यन्त प्राचीन औषधालय कहा जाता है। औषधनिर्माणशाला में अनेक विशिष्ट रसयोगों का निर्माण हुआ है। सं० १९८४ तक आयुर्वेद की शिक्षा गुरुपरंपरा से थी। उसके बाद सं० १९८५ में आयुर्वेद विद्यालय की स्थापना हुई जिसके अध्यक्ष राजगुरु पं० हेमराज शर्मा थे। पं० हेमराज शर्मा की शिक्षा काशी में हुई थी। यह प्रौढ़ शास्त्रज्ञ एवं विचारक थे। इनका विशाल पुस्तकालय इनके अध्यवसाय एवं शास्त्रव्यसन का प्रमाण था। काश्यपसंहिता की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर आप आयुर्वेदजगत् में अमर हो गये। अब आयुर्वेद की शिक्षा त्रिभुवन विश्वविद्यालय के अन्तर्गत चली गई है। नरदेवी, काठमांडू का आयुर्वेद विद्यालय राजसंचालित है।

तिब्बत

तिब्बत भारत का त्रिविष्टप (स्वर्ग) रहा है। यहाँ से होकर चीन को रास्ता जाता था जिससे व्यापारिक वस्तुओं के अतिरिक्त सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता था। तिब्बत के राजा ने ८वीं शती में नालन्दा के प्रमुख विद्वान शान्तरक्षित को बुलाया और फिर वहाँ कमलशील भी गये। शान्तरक्षित वहाँ के प्रमुख धर्माधिकारी बने और लामावंश की स्थापना की। ९वीं शती में रल्पचन राजा ने पुनः अनेक बौद्ध भिक्षुओं को नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों से बुलाया तथा अनेक तिब्बतियों को वहाँ

१. आर्यदासकुमारसिंह : सिंहलेष्वायुर्वेदस्य प्रसारप्रचारौ, सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७४, पृ० १११-११४

अध्ययन के लिए भेजा। जब धर्म के सञ्चालन में त्रुटि होने लगी तब बड़े अनुरोध से विक्रमशिला के प्रधान अतीश (दीपंकर श्रीज्ञान) वहाँ गये और १३ वर्ष रहकर बौद्धधर्म को पुनरुज्जीवित किया, पचीसों ग्रन्थ लिखे और सैकड़ों प्रवचन किये।

८वीं शती से संस्कृत ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद होने लगे। उपर्युक्त विद्वानों के साथ आयुर्वेद के ग्रन्थ भी तिब्बत पहुँचे और उनका अनुवाद हुआ। तिब्बती कंजूर और तेंजूर में अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अनुवाद हैं जिनमें अष्टांगहृदय का वाग्भटकृत वैडूर्यक भाष्य प्रमुख है। नागार्जुन के भी कई ग्रन्थ हैं तथा रसशास्त्र की अन्य भी कई रचनायें हैं। अनेक तिब्बती ग्रन्थों का मंगोली भाषा में अनुवाद हुआ जिसके माध्यम से आयुर्वेद और ऊपर फैला[1]।

सुदूरपूर्व तथा दक्षिणपूर्व एशिया में आयुर्वेद

कम्बुज, चम्पा, थाइलैंड, मलयेशिया, इण्डोनेशिया, मारिशस आदि देशों में भी भारत से आयुर्वेद गया है। इनकी भाषा में संस्कृत के अनेक शब्द ज्यों के त्यों हैं तथा आयुर्वेदीय ग्रन्थों के भाषान्तर भी हुए हैं। कम्बुज के राजा जयवर्मन् द्वितीय (११८१ ई०) ने अनेक आरोग्यशालाओं का निर्माण कराया था। इन आरोग्यशालाओं की संख्या पूरे राज्य में १०२ थी[2]। कम्बुज देश में भारतीय मान द्रोण, प्रस्थ, कुडव आदि प्रचलित थे[3]। गन्धर्वविद्या, होराशास्त्र आदि के साथ चिकित्साशास्त्र की शिक्षा का भी प्रबन्ध था[4]। जावा के केन्द्रीय शासन में एक स्वास्थ्यविभाग था जो जनता के स्वास्थ्य की देखभाल करता था[5]। थाइलैंड के वैद्य अपनी परम्परा का प्रवर्त्तक कुमारभट्ट को मानते हैं। सम्भवतः यह कुमारभच्च है जो जीवक का दूसरा नाम था। वाट पो, राजगुरु तथा चीनी वैद्य तन-भो-सिन के संग्रहों में अनेक महत्त्वपूर्ण आयुर्वेदीय ग्रन्थ हैं। थाई नरेश राम पंचम ने विद्वत्परिषद् आयोजित कर एक संग्रहग्रन्थ 'वैद्यशास्त्र-संग्रह' प्रस्तुत कराया जो आज तत्स्थानीय वैद्यों का आधारभूत ग्रन्थ है। द्रव्यगुण, मर्मविज्ञान आदि पर अनेक सचित्र ग्रन्थ हैं। 'द्रव्यगुणविज्ञान' का खंडशः प्रकाशन प्रारम्भ भी हुआ है। चिकित्सा की एक पत्रिका वैद्यकर्मसन्देश थाई भाषा में निकलती है। इस प्रकार थाई वैद्यकपरंपरा मूलतः आयुर्वेदीय ही है[6]।

---

१. डा० भगवान दाश, उपसलाहकार, देशी चिकित्सा, भारत सरकार (नई दिल्ली) तिब्बती भाषा में विद्यमान आयुर्वेदीय ग्रन्थों पर कार्य कर रहे हैं।
२. बैजनाथ पुरी : सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, लखनऊ, १९६५ (द्वि० सं०), पृ० २५८
३. वही, पृ० २८९
४. वही, पृ० २९५
५. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, वाराणसी, १९६८ (द्वि० सं०), पृ० ४५८
६. श्रीनारायण शास्त्री : सुदूरपूर्व के देशों में आयुर्वेद, सचित्र आयुर्वेद, जुलाई, १९६८

मध्यएशिया

मध्य एशिया में भी बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव होने के कारण वहाँ अनेक बौद्ध विहार बने थे। जैसा पहले कहा जा चुका है, इन विहारों द्वारा रोगियों की चिकित्सा भी होती थी। अनेक बौद्ध भिक्षु इस कार्य में निष्णात होते थे। ये भिक्षु भारत से अनेक आयुर्वेदीय ग्रंथ और औषधद्रव्य अपने साथ वहाँ ले जाते थे। खोतान और कूची के राज्य में ऐसे अनेक विहार थे जहाँ हजारों भिक्षु रहते थे। कूची का प्रदेश बुद्धस्वामी और उनके शिष्य कुमारजीव के चरणों एवं आचरणों से पवित्र हो उठा था। वहाँ भारतीय धर्म सजीव था। बावर पाण्डुलिपियाँ (नावनीतक आदि ग्रन्थ) कूची के निकट ही उपलब्ध हुई थीं[1]। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद का वहाँ प्रबल प्रभाव था। कूच भाषा में विद्यमान आयुर्वेद के अनेक शब्द भी इस प्रभाव की संपुष्टि करते हैं[2]।

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, १९६९, पृ० ३९४-३९५

२. देखें हिन्दी उपोद्घात; काश्यपसंहिता, पृ० ७८

सन्दर्भ-सूची

अग्रवाल, वासुदेवशरण : कादम्बरी-एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्बा, वाराणसी १९५८

वही : हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६४ (द्वि० सं०)

वही : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

अत्रिदेव : आयुर्वेद का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५४

वही : आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, लखनऊ, १९६०

वही : चरकसंहिता का अनुशीलन, वाराणसी, १९५५

अथर्ववेदसंहिता (मूल), पारडी, १९५७ (तृ० सं०)

अथर्ववेद (सायणभाष्यसहित), होशियारपुर, १९६०

अलतेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति, वाराणसी, १९५५

आपस्तम्ब धर्मसूत्र, चौखम्बा, १९३२

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, भाग १-२, मैसूर, १९४४, १९५४

आर्यशूर : जातकमाला, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९

आश्वलायन गृह्यसूत्र, आनन्दाश्रम, पूना, १९३६

आश्वलायन श्रौतसूत्र, वही, १९१७

ईश्वरीप्रसाद : भारतवर्ष का इतिहास, इलाहाबाद, १९६३

उपनिषद् संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०

उपाध्याय, बलदेव : संस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी, १९६१ (षष्ठ सं०)

वही : संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, वाराणसी, १९६९

उपाध्याय, भगवत शरण : कालिदास का भारत, १-२ भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९६३-६४ (तृ० सं०)

वही : गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, १९६९

ऋग्वेदसंहिता, सायणभाष्यसहित, पूना, १९३३

ऋग्वेदसंहिता, मैक्समूलर संपादित, चौखम्बा, वाराणसी, १९६६

ऐतरेय ब्राह्मण, निर्णयसागर, बम्बई, १९२५

कर, माधव : माधवनिदान, निर्णयसागर, बम्बई, १९२८ (द्वि० सं०)

काणे, पा० वा० : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १-५, लखनऊ, १९६४-७२

काले, त्र्यम्बक गुरुनाथ : भूमिका, रसहृदयतंत्र, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९२७

कात्यायन श्रौतसूत्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९२७

कश्यप : काश्यपसंहिता, चौखम्बा, वाराणसी, १९५३

कीथ, ए० बी० : संस्कृत साहित्य का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, १९६०
कौटिलीय अर्थशास्त्र, चौखम्बा, १९६२
खन्ना, के० सी० : भारत में विदेशी यात्री, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, १९७१
गंगल, बी० डी० : हर्ष, वही, १९६८
गुप्त, उमेशचन्द्र : भूमिका, वैद्यकशब्दसिन्धु, कलकत्ता, १९१४
गुप्त, निरंजनप्रसाद : भूमिका, पारदसंहिता, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९१६
गुप्त, विरजाचरण : वनौषधिदर्पण, भाग १–२, कलकत्ता, १९०८–९
चक्रपाणिदत्त : चरकसंहिता–व्याख्या (आयुर्वेददीपिका), निर्णयसागर, बम्बई, १९४१ (तृ० सं०)
वही : सुश्रुतसं–व्याख्या (भानुमती) स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, १९३९
चट्टोपाध्याय, प्रभाकर : आयुर्वेद का इतिहास, आयुर्वेद विकास, जनवरी, १९६५
चतुर्वेदी, सीताराम : कालिदास–ग्रन्थावली, अलीगढ़, सं० २०१९ (तृ० सं०)
चरक : चरकसंहिता, चौखम्बा, बनारस, १९३८
जैमिनीय ब्राह्मण, नागपुर, १९५५
ठाकुर, जयकृष्ण इन्द्रजी : वनस्पतिशास्त्र, पोरबन्दर, १९१०
डल्हण : सुश्रुतसंहिता–व्याख्या (निबन्धसंग्रह) निर्णयसागर, बम्बई, १९१६
तर्टे, गणेश शास्त्री : उपोद्घात, अष्टाङ्गसंग्रह, बम्बई, १८८८
तीसटाचार्य : चिकित्साकलिका, लाहौर, १९२६
दातार, वामन शास्त्री : भूमिका, रसरत्नसमुच्चय, आनन्दाश्रम, पूना, १९४१
दीपङ्कर : कौटल्यकालीन भारत, १९६८
देसाई, वामन गणेश : ओषधिसंग्रह, बम्बई, १९२७
द्विवेदी, विश्वनाथ : आयुर्वेद की औषधियाँ व उनका वर्गीकरण, जामनगर, १९६६
वही : औषधिविज्ञान शास्त्र, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, नागपुर, १९७०
धर्मदत्त : औषधिविज्ञान, भाग १–२, इटावा, १९३४–१९३८
: नेपालराजकीयवीरपुस्तकालयस्य पुस्तकानां बृहत्सूचीपत्रम्, आयुर्वेदविषयकः पञ्चमो भागः, सं० २०२१
पतञ्जलि : महाभाष्य, १–६ खण्ड, गुरुकुल झज्जर, १९६१–६२
पदे, शंकरदाजी शास्त्री : वनौषधिगुणादर्श (म०), भाग १–७, पूना, १९०९–१३ (द्वि० तृ० सं०)
पाठक, जगन्नाथ (सं०) : मिलिन्दपञ्हो, वाराणसी
पाण्डेय, राजबली : प्राचीन भारत, वाराणसी, १९६८ (द्वि० सं०)
पालकाप्य : हस्त्यायुर्वेद, महादेवचिमनजी आप्टे संपादित, आनन्दाश्रम, पूना, १८९४
पुरी, बैजनाथ : सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, लखनऊ, १९६५ (द्वि० सं०)
पुरुषोत्तम : त्रिकाण्डशेष, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९१६
प्रबन्धकोश, सिन्धी जैन ज्ञानपीठ, १९३५

बल्लाल पण्डित : भोजप्रबन्ध, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० २००९
बाणभट्ट : कादम्बरी, चौखम्बा, १९६१ (द्वि० सं०)
वही : हर्षचरित, वही, १९६४ (द्वि० सं०)
बापालाल वैद्य : निघण्टु आदर्श (गु०) भाग १–२, लेखक द्वारा प्रकाशित, १९२७–२८
वही : निघण्टु आदर्श, भाग १ (हिन्दी), चौखम्बा, १९६८
वही : संस्कृत साहित्य में वनस्पतियाँ (गु०) अहमदाबाद, १९५३
वही : निघण्टुसंग्रह, स्वाध्याय, भाग ८, अंक १
बुद्धघोष : विसुद्धिमग्ग (वारेन एवं कोशाम्बी संपादित) हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, खण्ड ४१, लन्दन, १९५०
ब्लूमफील्ड, एम० : अथर्ववेद एवं गोपथब्राह्मण, चौखम्बा, १९६४
भट्ट, जनार्दन : अशोक के धर्मलेख, दिल्ली, १९५७
भट्ट, श्रीकृष्णराम शास्त्री: सिद्धभेषजमणिमाला, जयपुर, १९६८ (पंचम सं०)
भट्टोजिदीक्षित : वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, खेमराज श्रीकृष्णदास; बम्बई, १९२६
भण्डारी, चन्द्रराज : वनौषधिचन्द्रोदय, भाग १–१०, भानपुरा (इन्दौर), १९३८–४४
भानुजी दीक्षित : रामाश्रमी (व्याख्यासुधा) व्याख्या, अमरकोष, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०
भावमिश्र : भावप्रकाश, कृष्णचन्द्र चुनेकरकृत टीकासहित, चौखम्बा, १९६९ (च० सं०)
भेल : भेलसंहिता, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२१
वही : वही, श्रीगिरिजादयालु शुक्ल संपादित, चौखम्बा, वाराणसी, १९५९
मनुस्मृति, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०
महाभारत, खण्ड १–४, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३–१५
महेन्द्र भोगिक : धन्वन्तरिनिघण्टु, आनन्दाश्रम, पूना, १९२५ (द्वि० सं०)
महेश्वर सूरि : विश्वप्रकाश, चौखम्बा, बनारस, १९११
माघ : शिशुपालवध, चौखम्बा, वाराणसी, १९६१ (द्वि० सं०)
मार्कण्डेयपुराण, बरेली, १९६७
मूर्ति, के० सच्चिदानन्द : नागार्जुन, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, १९७१
मूस, वयस्कर नारायणशंकर : उपोद्घात, अष्टाङ्गहृदय (परमेश्वरकृत वाक्यप्रदीपिकासहित) कोट्टयम्, १९५०
मेरुतुङ्गाचार्य : प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, सं० १९८९
मोतीचन्द्र : सार्थवाह, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५३
वही : चतुर्भाणी, बम्बई, १९५९
यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता), बम्बई, १९५७ (द्वि० सं०)
याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरासहित), चौखम्बा, वाराणसी, १९६७
यात्रा-विवरण, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१९ (द्वि० सं०)

यादवजी त्रिकमजी : द्रव्यगुणविज्ञानम्, भाग २, वम्बई, १९५०
राजशेखर : काव्यमीमांसा, चौखम्बा, वाराणसी, १९५९ (द्वि० सं०)
राय गोविन्दचन्द्र : विश्वसभ्यताओं का इतिहास, वाराणसी, १९६७
राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास, भाग १–२, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५६–५७
रुद्रपारशव, टी० : उपोद्धात, अष्टांगसंग्रह (इन्दुकृतव्याख्यासहित), त्रिचुर, १९१३
ललितविस्तर, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८
वन्यघटीय सर्वानन्द [illegible]कोपोद्धाटन व्याख्या, त्रिवेन्द्रम्, १९१४
वर्धमान : गणरत्नमहोदधि, मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली, १९६३
वाग्भट : अष्टांगसंग्रह (अत्रिदेवकृत टीका सहित) प्रथम भाग, निर्णयसागर, वम्बई, १९५१
वही : अष्टांगहृदय (सर्वाङ्गसुन्दरा व्याख्यासहित) विजयरत्नसेन संपादित, कलकत्ता, १८८६
वही : अष्टांगहृदय (अरुणदत्त–हेमाद्रिकृतव्याख्यासहित) निर्णयसागर, वम्बई, १९२५
वही : अष्टांगहृदय (टीकात्रयसहित), वेंकटेश्वर प्रेस, वम्बई, १९२८
वात्स्यायन : कामसूत्र, चौखम्भा, वाराणसी, १९६४
वामन, जयादित्य : काशिका, चौखम्भा १९५२ (तृ० सं०)
वायुपुराण, वरेली, १९६७
वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१७
विष्णुपुराण, वरेली, १९६६
वही, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२६
विष्णुधर्मोत्तर पुराण, खेमराज श्रीकृष्णदास, वम्बई, सं० १९६९
वेवर (सं०) : शतपथब्राह्मण, चौखम्भा, १९६४
वैद्य रामनारायण (सं०) : यादवस्मृति–ग्रन्थ, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता ; सं० २०१८
वैश्य, रूपलाल : अभिनव वूटीदर्पण, चौखम्वा, भाग १–२, १९४०
वैश्य, शालिग्राम : भूमिका, रसरत्नाकर, खेमराज श्रीकृष्णदास, वम्बई, सं० १९५४
वही : शालिग्राम–निघण्टुभूषण, खेमराज श्रीकृष्णदास वम्बई, १९५३
शर्मा, दिनेशचन्द्र : वेदों में द्रव्यगुणशास्त्र, जामनगर, १९६८–६९
शर्मा, प्रियव्रत : द्रव्यगुण विज्ञान, भाग १–३, चौखम्वा, वाराणसी, १९५५–५६
वही : आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें, चौखम्भा, वाराणसी, १९६२
वही : वाग्भट–विवेचन, चौखम्भा, वाराणसी, १९६८
वही (सं०) : हृदयदीपक, J. R. I. M., Vol. 3. No. 2, १९६९
वही : चरकचिन्तन, चौखम्भा, वाराणसी, १९७०
वही : आयुर्वेद का वाङ्मय, J. R. I. M, Vol. 4, No. 3, १९७१
वही (सं०) : माधव–द्रव्यगुण, चौखम्भा, वाराणसी, १९७३

शर्मा, प्रियव्रत : वैदिक वाङ्मय में वनौषधियाँ (चौखम्बा, वाराणसी में प्रकाशनाधीन)
शर्मा, रघुवीरशरण : धन्वन्तरि-परिचय, बुलन्दशहर, १९५०
वही : चरकसंहिता का निर्माणकाल, चौखम्बा, वाराणसी, १९५२
शर्मा, सदानन्द घिल्डियाल : भूमिका, रसकौमुदी, लाहौर, १९२३
शर्मा, हरिप्रपन्न : उपोद्घात, रसयोगसागर, प्रथम भाग, बम्बई, १९२७
शर्मा, हेमराज : उपोद्घात, काश्यपसंहिता, चौखम्बा, वाराणसी, १९५३
शान्तिदेव : बोधिचर्यावतार, लखनऊ, १९५५
शार्ङ्गदेव : संगीतरत्नाकर, भाग १, अडियार पुस्तकालय, मद्रास, १९४३
शार्ङ्गधर : शार्ङ्गधरसंहिता (दीपिका-गूढार्थदीपिका व्याख्यासहित) निर्णयसागर, बम्बई, १९३१ (द्वि० सं०)
शास्त्री, महेन्द्रकुमार : आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९४८
शास्त्री, रामगोपाल : वेदों में आयुर्वेद, दिल्ली, १९५६
शास्त्री, हरिदत्त : उपोद्घात, चरकसंहिता (जेज्जटकृतव्याख्यासहित), मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९४१ (द्वि० सं०)
श्रीकण्ठदत्त : व्याख्याकुसुमावली (वृन्दमाधव-व्याख्या), आनन्दाश्रम, पूना, १९४३ (द्वि० सं०)

सत्यनारायणशास्त्री-अभिनन्दनग्रन्थ, चौखम्बा, वाराणसी, १९६१
सद्धर्मपुण्डरीक, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०

सातवेलकर, श्रीपाद दामोदर : दैवतसंहिता, पारडी, १९६४
सिद्ध सरहपा : दोहाकोश, राहुल सांकृत्यायन संपादित, बिहार, राष्ट्रभाषापरिषद्, पटना, १९५७
सिंह, प्रताप (सं०) : आयुर्वेदमहामण्डल-रजतजयन्तीग्रन्थ, भाग १-२, पूना, १९३५-३६
वही : आयुर्वेदीय खनिज विज्ञान, प्रकाश आयुर्वेदीय औषधालय, कानपुर, १९३१
सारस्वत, सोमदेव शर्मा : भूमिका, अभिनव रसशास्त्र, पीलीभीत, १९७०
वही : चरकमुनि, लखनऊ, १९५०
सुश्रुत : सुश्रुतसंहिता, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९३३ (द्वि० सं०)
सेन, गणनाथ : उपोद्घात, प्रत्यक्षशारीरम्, प्रथम भाग, कलकत्ता, १९२४ (तृ० सं०)
वही : उपोद्घात, सुश्रुतसंहिता (भानुमती व्याख्या-सहित), जयपुर, १९३९
सेनगुप्त, विनोदलाल : आयुर्वेदविज्ञानम्, भाग १-२, कलकत्ता, १८८७
सोमेश्वर : मानसोल्लास, भाग १-३, बड़ौदा, १९२५, १९३९, १९६१
हर्ष : नैषधीयचरितम्, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९२७

हारीतसंहिता, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९२७

हालदार, गुरुपद : वृद्धत्रयी, कलकत्ता, १३६२ (बंगाब्द)
हेमचन्द्र : निघण्टुशेष, अहमदाबाद, १९६८

Adams, Francis : The Genuine Works of Hippocrates, Balitmore, 1939.

Agrawala, V. S. : Matsya Purana, A study, Varanasi, 1963.

Alphabetical list of Manuscripts in Oriental Institute, Baroda, Vol. II, 1950.

Amarakosa with commentaries of Ksiraswami and Sarvananda, Trivandrum Sanskrit Series, 1915-17.

Amber, R. B. & Babey Brooke, A. M. : The Pulse in Occident and Orient, New York, 1966.

Aśwaghoṣa : Saundaranandam, ed. E. H. Johnston, Lahore, 1928.

Idem ; Buddhacaritam, ed. H. Johnston, Lahore, 1935.

Auboyer J. : Daily life in Ancient India, London, 1965.

Banerjee, G.N. : Hellenism in Ancient India, Delhi, 1961. (3rd. ed.)

Banerjee, J.N. : The Development of Hindu Iconography, Calcutta University, 1956.

Banerjee S. C. : Kālidāsa-Koṣa, Chawkhamba, Varanasi, 1968.

Basham, A. L. : The Wonder that was India, Fontana, 1971.

Idem : The Practice of Medicine in Ancient and Medieval India. New York, 1971.

B. C. Law Volume, Pt. I-II, Calcutta, 1945-46.

Beal, Samuel : Buddhist Records of the Western World, Delhi, 1969. (Rep.)

Bernier, Francois : Travels in the Mogul Empire (A. D. 1656-1668), Delhi, 1968 (2nd Ed.)

Beveridge, A. S. : Baburnāmā (Eng. Tr.) Delhi, 1970 (Rep.)

Bhatia, S. L. : Greek Medicine in Asia, The Aryan Path, Bangalore, Feb., 1959.

Bhattacharya, B. T. : Indian Buddhist Iconography, Oxford, 1924.

Idem : Sādhana-Mālā, Baroda. 1925.

Bhattacharya, D. C. : New Light on Vaidyaka Literature, I. H. Q., Vol. XXIII, No. 1. March 1947.

Bibliotheque Nationale, Catalogue Summaire Des Manuscripts Sanscrits et Paris, 1907.

Blockmann, H. : The Ain-e-Akabari (Eng. Tr.) Delhi, 1965 (2nd ed.)

Bloomfield, M. (ed.) : The Kausika Sutra of Atharvaveda, New Haven, 1889; Motilal Banarsidass, 1972.

Bolling, G. M, & Negolein, J. V. : The Pariśiṣṭas of the Atharva veda, Leipzig, 1909.

Buchanan. Francis : An Account of the District of Purnea in 1809-10 B. O. R. S., 1928.

Idem : An Account of the District of Bhagalpur, B. O. R. S., 1930.

Bussagli, Mario : Recent Research in Ancient Indian Medicine, East & West, Year 11, No. 31, Octaber, 1951.

Caland, W. (ed.) : Jaimini Grhyasutras, Lahore, 1922.

Idem (ed.) : The Baudhāyana Śrauta Sutra, Vol. I & II, Calcutta, 1904-13.

Candolle, A.D. : Origin of Cultivated Plants, New York, 1959 (Rep.)

Castiglioni, A. : A History of Medicine, New York, 1941.

Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Library of India Office, Vol. II, 1935.

Chakravarty, Chandra : A Comparative Hindu Materia Medica, Calcutta, 1923.

Idem : An interpretation of Ancient Hindu Medicine, Calcutta, 1923.

Charaka-Samhita, Introductian, Vol. I. Jamnagar, 1949.

Chatterjee, Prabhakar : Mahamahopadhyaya Kaviraj Bijoy Ratna Sen, Nagarjuna, February, 1967.

Idem : A Note on Ayurvedic Nighantus, Nagarjuna, June. 1966.

Chattopadhyaya, Sudhakar : Śakas in India, Santiniketan, 1955.

Chaudhary, B. : Vegetables, National Book Trust, New Delhi, 1967.

Chaudhary, Tarapada (ed.) : Paryāyaratnamālā, Patna University Journal, Vol. II. 1946

A Check-list of Sanskrit Medical Manuscripts in India, C. C. R. I. M. & H., New Delhi, 1972.

Chintamani, T. R. (ed.) : Raushitaka Grhyasutra, Madras, 1944

Chopra, R. N. et al. : Indigenous Drugs of India, Calcutta, 1958 (2nd ed.)

Chopra Committee's (Committee on Indigenous Systems of Medicine) Report, Vol. I & II. New Delhi, 1948.

Clyde, Paul H. & Bears, Burton F. : The Far East, New Delhi, 1948.

Cumston, Charles Greene : An Introduction to the History of Medicine, New York, 1926.

Dales, G. F. : The decline of Harappans, American Review, October, 1966.

Danverse, F.C. : The Portuguese in India, London, 1874.

Das Gupta, S. N. : A History of Indian Philosophy, Vol. II, Cambridge, 1961.

Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Government Manuscripts Library, Vol. XVI, Part-I, B.O.R.I., Poona, 1939.

A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts, Vol. XII, Saraswati Bhavan, Varanasi, 1965.

A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras, Vol. XXIII.

A descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in Saraswati Mahal Library, Tanjore, Vol. XVI, Srirangam, 1933.

Deshpande, P.J. : Critical Study and Evaluation of Sushruta's Surgical Contributions, Sachitra Ayurveda, August, 1971.

Dutt, U. C. : The Materia Medical of the Hindus. Calcutta, 1922, (2nd ed.)

Dwarkanath, C. : Use of Opium and Cannabis in the traditional systems of Medicine in India, Bulletin on Narcotics, Vol. XVII, No, 1, w. H. O. Geneva, Jan.-March, 1965.

Filliozat. J. : The Classical Doctrine of Indian Medicine, Delhi, 1964

Garbe. Richard (ed.) : Śrauta Sūtra of Āpastamba, Vol. II-III Calcutta 1885, 1903.

Ghosh, A. : A Guide to Nālandā, Delhi, 1939.

Gibb, H. A.R. : The Travels of Ibn-Batuta (A. D. 1325-1354), Cambridge, 1971.

Gode. P. K. : Introduction, Astanga Hrdaya, Nirnaya-sagar, Bombay, 1939 (6th ed.)

Idem : Kaiyadeva and a Medical or Botanical Glossary Ascribed to Him-Before A.D. 1450, A.B.O.R.I., Poona, Vol. XIX, 1938–39.

Idem : Studies in Indian Cultural History- Vol, I., Hoshiarpur 1971.

Goodman, L.S. & Gillman A, : The Pharmacological basis of Therapeutics, New York, 1970 (4th ed.)

Gopal, Lallanji : Date of Sukraniti, Modern Review, May-June, 1963.

Griffith : Atharvaveda (Eng. tr.), Master Khelarilal & sons, : Varanasi, 1962 (3rd ed.).

Gupta, Kaviraj Birajacharan : An account of the Principal works of the Atreya School of Medicine with their Chronology, Calcutta, 1917,

Gupta, U. G. : The Atreya School ofMedicine, Calcutta, 1917.

Hall & Hall : A Brief History of Science, New York, 1964.

Harshe, R. G. (ed.) : The Sivakoṣa of Sivadatta Misra, Poona, 1952.

Hayward, John. A. : The Romance of Medicine, London, 1945 (2nd ed.)

The History and Culture of the Indian People, Vol. III (Classical Age), Vol. V. (Struggle for Empire), Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1962, 1966 (2nd ed.)

Hitti, Phillip K. : History of the Arabs, London, 1964 (8th ed.)

Hobson, Geoffrey : The Seven Human Temperaments, Adyar, Madras, 1956.

Hornle, A. F. R. (ed.) : The Bower Manuscripts, Pt. I & II, Archaeological Survey of India, New Imperial Series, Vol. 22, Calcutta, 1893–1912.

Idem : Studies in Medicine of Ancient India, Pt. 1–Osteology, Oxford, 1907.

Itsing : A Record of Buddhist Practices in India and the Malay Archipelago (A. D. 671–695) Oxford, 1896, Delhi, 1966 (Rep.)

Jayne, W. A. : The Healing gods of Ancient civilisation, New Haven, 1925.

Jolly, Julius : Indian Medicine (Translated in English by C. G. Kashikar), Poona, 1951.

Idem (ed.) : Viṣṇu Smṛti, Chowkhamba, Varanasi, 1962.

Joshi, Nirmala: Ayurvedic Concept in Gynecology, Poona, 1955

Jyotirmitra : History of Indian Medicine from Pre-Mauryan to Kuṣāna period, Varanasi, 1974.

Kane, P. V. (ed.) : The Dharmasutra of Sankha-Likhita, Poona, 1926

Karambelkar, V. W. : Atharvaveda & The Ayurveda, Nagpur, 1961

Keith, A. B. : A History of Sanskrit Literature, Oxford, 1953.

Krantz & Carr : Pharmacologic Principles of Medical Practice, Calcutta, 1969 (2nd ed.)
Kutumbiah, P. : Ancient Indian Medicine, Orient Longmans, Madras, 1962
Lakshmi Pathi, A. : A Textbook of Ayurveda, Vol. I, Sec. I, Historical Background, Bezwada, 1944 (2nd ed.)
Law, B. C. : Ancient Indian Flora, Indian Culture, Vol. XV, Nos. 1-4, July 1948—June 1949,
Lele, B. C. : Some Atharvanic Portions in the Grhyasutras, Bonn, 1927.
Levi, Sylwan : Notes on Indoscythians, I. A., Vol. II, 1873.
Macdonell, A.A. & Keith, A. B. : Vedic Index of Names and subjects, Motilal Banarasi Das, 1958.
Majumdar, G. P. : Vanaspati, Calcutta University, 1927.
Idem : Vedic Plants, B. C. Law, Vol., Pt. I, P. 645-666.
Majumdar, R. C. : The History of Bengal, Vol. I. Dacca University, 1943.
Idem : The Age of Imperial Kanauj, Bombay, 1955
Mrs. Manning : Ancient & Medieval India, London, 1869.
Manson-Bahr : Manson's Tropical Diseases, London, 1966.
Margotta, Roberto : The Study of Medicine, New York, 1968.
Mehta, P. M. : Hospitals in Ancient India, Sachitra Ayurveda, June, 1966.
Idem : History of Medicine, Nagarjun, December, 1962.
Meulenbeld. Gerrit Jan. : The Mādhavanidāna and its Chief commentary, E. J. Brill, Leiden, 1974.
Mishra, B. B. : Caste System in the Kasyapa Samhita, J. B. R. S., Vol. LV, Pts. I & IV, Jan-Dec., 1969.
Idem : Human Anatomy According to the Agni Purāna I. J. H. S., Vol. 5, No. 1, 1970.
Mitra, R. L. : Notices of Samskrit Manuscripts, Vol. I-XI, 1871-1985.
Mitra & Cowel : The Twelve Principal Upanisadas, Vol, III, Adyar, Madras, 1932.
Mithal, B. M. : Textbook of Forensic Pharmacy, Calcutta, 1968, (3rd ed.)
Mookerji Radha Kumud : Ancient India, Allahabad, 1956.
Idem : Glimpses of Ancient India, Bombay, 1961.

Idem : Ancient Indian Education, Motilal Banarsidas, 1960, (3rd ed.)

Mukhopadhyaya, G. N. : The Surgical Instruments of the Hindus, Vol. I & II, Calcutta, 1909.

Idem : History of Indian Medicine, Vol. I-III, Calcutta, 1923-26, New Delhi, 1974 (Rep.)

Murti, G. Srinivas : Presidential Address on Medical Education & Medical Relief in India at the Inaugural Meeting of the Academy of Indian Medicine, Madras, 1944.

Murthy, K.R. Srikant : Luminaries of Indian Medicine, Mysore, 1968

Nariman, G. K. : Literary History of Sanskrit Buddhism, Bombay, 1920.

Pandeya, Raj Bali. : Historical and Literary Inscriptions, Chowkhamba; Varanasi. 1962.

Pargiter, F. E. (ed.) : Mārkandeya Purāna, Varanasi, 1969.

Patkar, M. M. : Introduction, Śāradīyākhya Nāmamālā, Poona, 1951.

Patna Museum Catalogue-Antiquities, 1965.

Pharmacopoea of India, Delhi, 1966. (2nd ed.)

Piggot, Stuart. : Prehistoric India, London, 1950.

Raghavan, V. : New Catalogus Catalogorum, Vol. I–V, Madras University, 1968–69.

Idem : Two Ayurvedic Anecdotes, I. J. H. M., Vol. I, No. 2 Dec. 1956.

Raja C. Kunhan : Survey of Sanskrit Literature, Bombay, 1962.

Ram Gopal : India of Vedic Kalpasutra, Delhi, 1959.

Rapson, E. J. : The Cambridge History of India, Cambridge, 1922.

The Rauwolfia story, CIBA Pharma, Bombay, 1945.

Ray, H. C. : The Dynastic History of Northern India, Vol. II, Delhi, 1973. (2nd ed.)

Ray, P. : History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Calcutta, 1956.

Ray, P. & Gupta, H. N, : Caraka Samhita (A scientific synopsis), New Delhi, 1965.

Report of the Committee to assess and evaluate the present status of Ayurvedic system of medicine, Ministry of Health, Govt.of India, 1958.

Report of the meeting of the Panel on Ayurveda, Planning Commission, Govt. of India, 1960.

Roer, E. : The Twelve Principal Upanisads, Vol. II, Adyar, Madras, 1931.

Rogers, Alexander : Tuzuk-i-Jehangiri (Eng. Tr.), Vol. I & II, Delhi, 1968 (2nd ed.)

Royle, J. F. : An Essay on Antiquity of Hindu Medicine, London 1837.

Sachau, Edward C. : Alberuni's India, Delhi, 1964. (Rep.)

Satya Prakash : Founders of Sciences in Ancient India, New Delhi, 1965

Seal, B. N. : Positive Sciences of the Ancient Hindus, Motilal Banarasidas, 1958.

Sen, Gan Math : The Medical Science in Ancient India, Calcutta, 1908

Idem : The Science of Ayurveda, Calcutta, 1925.

Sengupta, Padmini : Everyday life in Ancient India, Bombay, 1957.

Sengupta, S. S. : R. Ghosh's Pharmacology, Calcutta, 1969.

Sharma, P. D. & Sardesai : Introduction, Amarakosa (with Ksira-swami's commentary) Oriental Book Agency, Poona, 1941.

Sharma, P. V. : Aswins and their Miracles, Nagarjun, Dec., 1964.

Idem : The Authorship and date of Yogaratnakara, Sachitra Ayurveda, April, 1971.

Idem : Son's Commentary on Father's work, I. J. R. I. M., Vol. VI, No. 3, 1971.

Idem : Indian Medicine in the Classical Age, Chowkhamba Varanasi, 1972.

Idem : The Nighantu of Sodhala, A. B. O. R. I., Vol. LII, Poona, 1972.

Idem : The Astanga Nighantu of Acarya Vahata, Madras, 1973.

Sharma, Ramawatar : Introduction, Kalpadrukosa, Vol. I, Baroda, 1928.

Sharma, Umashankar : Pillar Edicts of Asoka, Patna, 1960.

Shastri, Ajayamitra ; India As seen in the Brhat Samhita of Varahamihira, Motilal Banarasidas, 1969.

Shastri, M. K. : Antiquity and originality of Hindu Medicine, Journal of the Indian Medicine Profession, Vol. 12, No. 7, October, 1965.

Shastri, T. Ganapati (Ed.) : Vaikhānasa Dharma Praśna, Trivandrum, 1913.

Shastri, Shama : Kautilya's Arthashastra, Mysore, 1960 (6th ed.)

Shrivastava, G. P. : History of India Pharmacy, Vol. I, Calcutta, 1954. (2nd ed.)

Sigerist, Henry E. : A History of Medicine, Vol, II, New York, 1961.

Singer, Charles and Underwood E, A. : A Short History of Medicine, Oxford, 1962, (2nd ed,)

Singh, B. & Chunekar. K. C. : Glossary of vegetable Drugs in Brhattrayi, Chowkhamba, Varanasi, 1972.

Singh, Ranjit : Fruits, National Book Trust. New Delhi, 1969.

Sinhjee, Bhagavat : A Short History of Aryan Medical Science, New York, 1896; Gondal, 1927 (2nd ed.)

Smith, Vincent A : The Oxford History of India, Oxford, 1964. (3rd ed.)

Sodhala : Guna Samgraha, Ms., B. O. R. I., Poona.

Stenzler, A. F. (Ed.) Pāraskar Grhyasutra, Leipzig, 1876.

Thorwald, Jurgen : Science and Secrets of Early Medicine, New York, 1963.

The Travels of Marco Polo (1255-1295), Orion Press, New York.

Tripathi, R. S. : Descriptive Catalogue of Manuscripts in Libraries of Banaras Hindu Universtty, B. H, U. Varanasi, 1971.

Varahamihira : Brhajjatakam, ed. Subrahmanyam Shastri, Mysore, 1929.

Idem : Brhat Samhita, ed. Subrahmanyam Shastri & Ramkrisna Bhat, Mysore, 1946.

Varma, L. A. Ravi : Āgniveśya Grhyasutra, University of Travancore, 1940.

Vogel, Claus : On the Ancient Indian and Greek Systems of Medicine, the Poona Orientalist, Vol. 24, No. 1/2, 1959.

Idem : Introduction, Astanga Hrdaya (Eng, Tr.) Weisbaden. 1965.

Wealth of India, C. S. I. R., Vol. I-IX, New Delhi, 1948-1972.

Watt, George : Dictionary of Economic Products of India, London, 1889-1893, Rep. Delhi, 1972.

Webb : The Historical Relations of Ancient Hindus with Greek Medicine, Calcutta, 1950.
Wheeler : Indus Civilization, Cambridge, 1953,
Whitney, W.D. : Atharvaveda Samhita (Eng. Tr.), Motilal Banarasidas, 1962.
Wilson : On the Medical and Surgical Sciences of Hindus, Oriental Magazine, 1823.
Idem (ed,) : The Viṣṇu Purāṇa, Calcutta, 1961.
H. H. Wilson's Works, Vol. III. London, 1864.
Winternitz, M, : History of Ancient Indian Literature, Vol. III, Pt. I & II, Motilal Banarasidas, 1963-1967.
Idem (Ed.) : Āpastombliya Gṛhyasutra, Vienna, 1887.
Wise, Thomas A. : Commentary on Hindu System of Medicine, Calcutta, 1845.
Idem : Review of the History of Medicine, London, 1867.
Yazdani, G. : The Early History of the Deccan, Pts. VII-XI, London, 1960.
Zimmer, Henry R. : Hindu Medicine, Baltimore, 1948.

लेखक के संबंध में

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य प्रियव्रत शर्मा का जन्म १ नवम्बर १९२० को बिहार प्रदेश के मुस्तफापुर ग्राम (पो० खगौल, जिला—पटना) में हुआ। आपके पिता वैद्यभूषण पं० रामावतार मिश्र बिहार के एक मूर्धन्य यशस्वी चिकित्सक थे जिन्होंने बिहार प्रांतीय वैद्यसम्मेलन तथा वि० प्रा० आयुर्वेदोपकारिणी महासभा की स्थापना की थी।

स्थानीय वेदरत्न विद्यालय में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के वाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज में प्रविष्ट हुये और १९४० में वहाँ से स्नातक उपाधि (ए० एम० एस०) प्राप्त की। स्वतंत्र रूप से अध्ययन करते हुये वाद में संस्कृत और हिन्दी में एम० ए० (क्रमशः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और पटना विश्वविद्यालय से, दोनों प्रथम श्रेणी) तथा विहार संस्कृत समिति से साहित्याचार्य किया।

कई वर्षों तक स्वतन्त्र चिकित्साकार्य करने के वाद १९४६ में बेगूसराय आयुर्वेदिक कालेज में प्रोफेसर नियुक्त हुये और फिर उपप्राचार्य हुये। १९५३ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेदाध्यापक नियुक्त हुये और द्रव्यगुण के प्रधान रहे। नवम्बर, १९५६ में राजकीय आयुर्वेद कालेज, पटना के प्राचार्य और साथ साथ अधीक्षक, देशी चिकित्सा, बिहार के पद पर नियुक्त हुये। १९६० में वहीं बिहार सरकार के उपनिदेशक, स्वास्थ्यसेवा (देशी चिकित्सा) पद का भार ग्रहण किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान स्थापित होने पर, १९६३ सितम्बर में यहाँ द्रव्यगुण—प्रोफेसर होकर आ गये। द्रव्यगुण विभाग के अध्यक्ष के साथ साथ संस्थान के अध्यक्ष तथा वाद में निदेशक रहे। संस्थान में स्थापित चिकित्सा-इतिहास-परिषद् के अध्यक्ष भी मनोनीत हुये थे। विश्वविद्यालय में भारतीय चिकित्सा का संकाय वनने पर आप उसके प्रथम संकाय प्रमुख नियुक्त हुये।

कृतियाँ

(१) ग्रन्थ

१ अभिनव शरीरक्रियाविज्ञान : चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी
१९५४ प्र. सं.
१९७५ तृ. सं.
,, ,, १९५५ प्र. सं.
२ द्रव्यगुणविज्ञान, भाग १ १९७६ तृ. सं.
,, ,, १९५७ प्र. सं.
३ द्रव्यगुणविज्ञान, भाग २ १९७८ च. सं.
,, ,, १९७९
३ द्रव्यगुणविज्ञान, भाग ३

४ द्रव्यगुणविज्ञान, भाग ४ चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी १९७७
५ द्रव्यगुणविज्ञान, भाग ५ " " १९८१ प्र. सं.
६ दोषकारणत्वमीमांसा " " १९५५
७ रोगि-परीक्षाविधि " " १९५० प्र. सं.
८ आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें " " १९६६
१९७६ द्वि. सं.
९ वाग्भट-विवेचन " " १९६८
१० चरक-चिन्तन " " १९७०
११ Indian Medicine in the Classical Age : Chowkhamba Amarbharati, Varanasi १९७२
१२ आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, चौ० ओरि०, वाराणसी १९७५
१३ आयुर्वेदीय अनुसन्धान-पद्धति " " १९७६
१४ Introduction to Dravyaguṇa, " " 1976
१५ Caraka-Saṁhitā : with Englih Translation 1981

(२) संपादित पाण्डुलिपियाँ

१ अष्टाङ्गनिघण्टु : कुप्पुस्वामी शास्त्री शोध संस्थान, मद्रास १९७३
२ माधवद्रव्यगुण : चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी १९७३
३ हृदयदीपक तथा सिद्धमन्त्रप्रकाश, चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९७७
४ सोढलनिघण्टु : गायकवाड प्राच्य शोध संस्थान, बड़ौदा १९७८
५ कैयदेवनिघण्टु : चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी १९७९
६ अभिधानरत्नमाला " " १९७७
७ योगरत्नमालाः " " १९७७
८ धन्वन्तरि निघण्टु " " १९८१

(३) लेख एवं शोधपत्र[1]

(४) निर्देशित शोधप्रबन्ध

१ Effect of certain Indigenous drugs on uterine acivitities : (Premvati Tiwari) 1970

२ पाषाणभेद एवं उसके कतिपय प्रतिनिधिद्रव्यों का अध्ययन : (झारखण्डे ओझा) १९७१

---

१. इनकी विस्तृत सूची के लिए देखें—डॉ० गुरुप्रसाद शर्मा कृत 'आचार्य प्रियव्रत शर्मा-रचनावलि' (चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी)

३ Studies on Anabolic effect of Rasa and Vipaka of certain indigenous drugs, (चन्दन चतुर्वेदी) 1973

४ मूर्वा के संवन्ध में सन्दिग्धता का अध्ययन एवं निराकरण : (मृगुनाथ सिंह) १९७३

५ आसवारिष्टों का मानकीकरण : (त्र्यम्बकनाथ शर्मा) १९७३

६ Pharmaceutical and Pharmacothrapeutic studies on "Abhraka–Bhasma" with special reference to Amlapitta : (दामोदर जोशी) 1973

७ रास्ना की सन्दिग्धता पर अध्ययन : (गुरुप्रसाद शर्मा) १९७४

८. Pharmacognostical studies on some Medicinal Plants (K. C. Chunekar), 1975

९. A study on Krimighna Dravyas with special reference to Ankylostomiasis (N. G. Bandyopadhyaya), 1976

१०. Clinical and Experimental study on Phakka Roga (B. S. Dixit), 1978

११. Study on Hypoglycaemic effect of clerodendrum infortunatum (Bhāṇḍīra) V. K. Joshi, 1978

D. Ay. M. (Doctor of Ayurvedic Medicine)

१ A Study on Bhallataka as Rasayana–Haematological and Biochemical approach (N. G. Bandyopadyaya) 1966

२ A study on some aspects of Tinospora cordifolia Miers (Guduchi) (K. Raghunathan) 1968

३ Effect of Bhallataka (Semercapus anacardium) on liver functions (Krishna Kumar) 1968

४ A study on Amālaki and its use in Paittika disorders with special reference to Amlapitta (B. N. Singh) 1969

५ Studies on the efficacy of Dugdhika in Bronchial Asthma (G. P. sharma) 1970

६ Studies on Murva (Marsdenia tenacissima W. & A.) with special reference to Pharmacology and clinical studies (D. S. Lucas) 1971

७ स्निग्ध एवं रूक्ष गुणों का अध्ययन (सत्यनारायण 'सुमन') १९७१

८ गर्भनिरोधक द्रव्यों का अध्ययन (लालबहादुर पाण्डेय) १९७१

९ श्योनाक का गुणकर्मात्मक अध्ययन (अनिरुद्ध मिश्र) १९७२

१० अरलु का गुणकर्मात्मक अध्ययन (नागेश्वर मिश्र) १९७३

११ A study on Hypoglycaemic and Hypocholesterolemic effect of the Bark of Pterocarpus marsupium Roxb. (M. C. Pandeya) 1974

१२ परिणामशूल पर यष्टीमधु के प्रभाव का अध्ययन (कृष्णप्रसाद मिश्र) १९७५

१३ Study on Arjaka (orthosiphon pallidus Royle) (P. K. Mukherjee) 1976

१४ अङ्कुश-क्रिमि पर कम्पिल्लक के प्रभाव का अध्ययन (अजयनारायण पाण्डेय) १९७६

लेखक एवं व्यक्ति विविध अनुक्रमणिका

घ

ज्ञ

म

य

र

INDEX